



# अथर्ववेद

चतुर्थ भाग

(अथर्ववेदके काण्ड ११ से १८ तक)

[ मूल मंत्र, अर्थ, स्पष्टीकरण और सुभाषितोंका संग्रह  
और उनके उपयोग करनेकी विधि के साथ ]

लेखक

पं. भीषाद दामोदर सातवटेकर

धारवाड़-स्थापना मण्डल, भादिल्ल-पाचरवनि, गीतानगर

स्वा स्वा य म ण्ड ल, पा र दी

\*

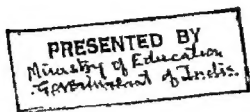
मुद्र १०) रु.

प्रकाशक :

वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,

स्वाध्याय मंडळ,

पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडळ (पारधी)' पारधी [ जि. सुरत ]



सं. २०१५ : भा. १८८८ : स. १९५८



नृतीय बार

मुद्रक :

वसन्त श्रीपाद सातवलेकर, बी. ए.,

भारत-मुद्रणालय, स्वाध्याय मंडळ,

पोस्ट- 'स्वाध्याय मंडळ (पारधी)' पारधी [ जि. सुरत ]



# अथर्ववेदके सुभाषित

## सूक्ति-संग्रह

विभाग ४, काण्ड ११ से १८ तक

इस चतुर्थ भागमें काण्ड ११ से १८ तकके सुभाषितोंका संग्रह है। इसमें कुछ प्रकरण हैं। वस्तुतः इस विभागमें प्रकरण विभागसे ही काण्ड विभाग हैं। इसलिये सुभाषित भी प्रायः उसी क्रमसे दिये हैं। कुछ सुभाषित उनके अर्थोंके अनुसार ऊपर उधर किये हैं। शेष काण्ड विभागके अनुसार ही रखे हैं। प्रथम ईश्वर विषयके सुभाषित देखो—

ईश्वर

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वे भूतं समाहितं  
( ११/१२ )— ईश्वरमें घृ, पृथिवी तथा ओ बना है यह सब विश्व रहा है।

मकसाम यजुश्छिष्टे ( ११/१५ )— ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद इस ईश्वरमें रहे हैं।

नय भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽपि श्रिता दिवाः  
( ११/१७ )— नी भूमियां, सब समुद्र ईश्वरके आधारसे रहे हैं।

कृतं सत्यं तपो राष्ट्रं धर्मो धर्मश्च कर्म च। भूतं भविष्यदुच्छिष्टे धीर्यं लक्ष्मीर्यलं यले  
( ११/१७ )— सत्य, ऋत, तप, राष्ट्र, धर्म, धर्म, कर्म, भूत, भविष्य, धीर्य, लक्ष्मी, बलिष्ठता वरु यह सब परमेश्वरके आधारसे रहा है।

यद्य प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा। उच्छिष्टा-  
ज्जगिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रिताः  
( ११/२१ )— जो प्राणसे जीवित है, जो आँखसे देखता है, जो श्रुतीकर्म वा अन्यत्र देख है ये सब परमेश्वरसे उत्पन्न हुए हैं।

१ [ अथर्व. प. भा. ४ ]

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।  
उच्छिष्टाज्जगिरे सर्वे ( ११/२४ )— ऋग्वेद, सामवेद, छन्द, यजुर्वेदके साथ पुराण ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

प्राणापानो चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या।  
उच्छिष्टाज्जगिरे सर्वे ( ११/२५ )— प्राण, अपान, मांस, कान, भौतिक तथा अभासिक वदार्थ ये सब परमेश्वरसे बने हैं।

आनन्दो मोदाः प्रसुदोऽमीमोदमुदश्च ये। उच्छिष्टा-  
ज्जगिरे सर्वे ( ११/२६ )— आनन्द, मोद, विषेय आनन्द, प्रत्यक्ष आनन्द, सुख ये सब परमेश्वरसे ही बने हैं।

देवाः पितरो मनुष्या मन्धर्वास्तरसश्च ये। उच्छिष्टा-  
ज्जगिरे सर्वे ( ११/२७ )— देव, पितर, मनुष्य, मन्धर्व, भूतप्रेत ये सब परमेश्वरसे बनी हैं।

यो रोहितो विश्वमिदं जजान, स त्या राष्ट्राय सुभृतं  
विभर्तुं ( ११/३१ )— जिन देवने यह सब उत्पन्न किया वह गुप्ते इस राष्ट्रके लिये उत्तम मरण-पोषण-पूर्वक पारण करे।

द्यावापृथिवी जनयन् देव यतः ( ११/३६ )— घृ और पृथिवीका बनानेवाला एक देव है।

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रावि कृत्या भुय-  
नानि यस्ते ( ११/३७ )— जो घृ और पृथिवीको उत्पन्न करता है और जो सब भुवनको अपना भोका बनाकर पकता है।

यो मारयति प्राणयति, यस्मात् प्राणति भुवनानि  
विभ्या ( ११/३९ )— जो जीवित रगता है और मारता है, जिससे सब भुवन जीवित रहते हैं।

य इदं विश्वं भुवनं जजान ( १३।१।१५ )— जिसने यह सब भुवन बनाया है ।

य आत्मदा यलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिष्य यस्य देवाः ( १३।१।२४ )— जो आत्मबल देता है और जो बल देता है, सब देव जिसकी आज्ञा मानते हैं ।

कीर्तिश्च यशश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चाध्यायं च, य एतं देवं एकवृत्तं वेद ( १३।५।१४ )— कीर्ति, यश, अवकाश, ब्रह्मतेज, अन्न, खानपान यह सब उसको मिलता है जो इस एक देवको जानता है ।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ( १३।५।१६ )— वह दूसरा, तीसरा, चौथा नहीं है ।

स एष एक एकवृदेक एव ( १३।५।२० )— वह देव एक है, एकमात्र है, केवल एक ही है ।

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृत्तो भवन्ति ( १३।५।२१ )— इसमें सब देव एकरूप होते हैं ।

महस्पृत्रासो असुरस्य वीरा दियो धर्तार उर्विया परि ययन् ( १८।१।१२ )— बड़े ईश्वरके पुत्रोंका धारण करनेवाले वीर पुत्र पृथ्वीपर ऐसे कुलबंधका निषेध करते हैं ।

स्तुति धृतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहन्तु-  
मुग्रम् ( १८।१।१० )— रथमें बैठनेवाले भयकर उग्र शत्रुको समीपसे मारनेवाले लोगोंके राजाकी स्तुति करो— रुद्रदेवकी स्तुति करो ।

मृदा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि यपन्तु  
सेन्यम् ( १८।१।१० )— हे रुद्र ! स्तुति करनेपर स्तुति करनेवालेको सुखी कर, हमसे मित्र दूसरे पर तेरा सैन्य हमला करे ।

धन

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं पकं क्षेत्रात् कामदुषा म  
एषा । इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेणु, कृण्वे पन्थां  
पितृषु यः स्वर्गः ( ११।१।२८ )— यह मेरा पवित्र तेजस्वी सुवर्ण है, यह मेरी कामधेनु है, यह धन मैं ब्राह्मणोंमें बाँटता हूँ । यह पितरोंमें स्वर्गीय मार्ग मैं करता हूँ ।

एतं शुभ्रम गृधराजस्य भार्ग ( ११।१।२९ )— यह श्रेष्ठ घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं ।

अथो विश्वं निर्ऋतेर्भागधेयम्— और यह विपत्तिका मार्ग है ऐसा जानते हैं ।

घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृद्दिह ( ११।१।३१ )— घीसे सब गात्र शुद्ध कर ।

विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पकं ( ११।१।३३ )— सब देव पके अन्नका रक्षण करें ।

धेनुं सदनं रयीणां ( ११।१।३४ )— गौ धनोंका घर है । प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायुः रायश्च पौषैरुप त्वा सदेम ( ११।१।३४ )— संतान, अमरत्व, दीर्घ आयु, धन, पोषणके साधनोंके साथ तेरे पास आते हैं ।

इयं दधानो, वहमानो अश्वैः, आ स धुमां अमवान् भूपति धून् ( १८।१।२४ )— अन्नका धारण करने-वाला, घोड़ोंके वाहनसे जानेवाला, तेजस्वी और बलवान् दिनोंको ( अपने व्यवहारसे ) सुशोभित करता है ।

पत्नी

एषा अगुर्यापितः शुभ्रमनाः ( ११।१।१४ )— ये स्त्रियां सुशोभित होकर आ गई हैं ।

उत्तिष्ठ नारि तवस रभस्व— स्त्री उठ, बलसे भर ।

सुपत्नी पत्या— पतिके साथ रहकर उत्तम पत्नी बन ।

प्रजया प्रजावती— संतानसे सतानवाली हो ।

अयं यज्ञो गातुवित् नाथवित्, प्रजाविदुग्रः पशुविदु वीरविदु यो अस्तु— ( ११।१।१५ )— यह यज्ञ आपके लिये मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजा देने-वाला, पशु देनेवाला, उग्रता देनेवाला, वीर पुत्र-पौत्र देनेवाला हो ।

शुद्धाः पूता योपितो यक्षिया इमाः ( ११।१।१० )— ये स्त्रियां शुद्ध, पवित्र और पूजनीय हैं ।

अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः—हमें संतान और बहुत पशु दे दें ।

महणा शुद्धा, उत पूता घृतेन सोमस्यांशयः तण्डुला यक्षिया इमे ( ११।१।१८ )— ज्ञानसे पवित्र, घीसे शुद्ध, सोमके अंश ये चावल वृक्षके लिये योग्य हैं ।

उदेहि वेदिं प्रजया चर्धयैतां ( ११।१।२१ )— हे वेदि ! इसको वृद्धत कर, प्रजासे इस स्त्रीको बढाओ ।

नुदस्य रक्षः— शत्रुओंको दूर कर ।



प्रतरं घेहोनाम्— इन स्त्रीको विशेष उच्चर कर ।  
धिया समानानति सर्वांस्स्याम्— संपत्तिसे हम सब  
समानोंसे विशेष हों ।

अघस्पदं द्विपत्स्याद्यामि— द्वेप करनेवालोंको नीचे  
गिराते हैं ।

मा त्वा प्रापत् छपथो मामिचारः ( ११।१।२२ )—  
तुझे शाप प्राप्त न हो और वध भी तेरे पास न आवे ।

अभ्यावर्तस्य पशुभिः सहैनाम् ( ११।१।२३ )— इस  
पत्नीको पशुओंके साथ प्राप्त हो ।

स्वे क्षेत्रे अनमीचा वि राज— अपने क्षेत्रमें नीरोग  
होकर बिराजो ।

असंर्द्रां शुखामुप घेहि नारि, तत्रौदनं सादय दैवा-  
नाम् ( ११।१।२३ )— शुद्ध न दूरी धात्रीको, दे  
छी । चूल्पर रख, उसमें देवोंके किये अन्न पकाओ ।

ते मा रिपन् प्राशितारः ( ११।१।२४ )— उस अन्नको  
पीनेवाले नष्ट न हों । ( अन्नमें दोष न हो । )

### दयाशील स्त्री

अहं पचामि, अहं ददामि, ममेदु कमन् कण्ठोऽधि  
जाया, कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रोऽग्वार-  
मेथां घप उत्तरावत् ( १२।३।४७ )— मैं पकाता  
हूँ, मैं देता हूँ, मेरी पत्नी दयाके कर्ममें यत्न करती  
है, हमें कुमार पुत्र उत्पन्न हुआ है । उषा अवस्था  
प्राप्त करता हुआ उत्तम जीवन व्यतीत करे ।

### दान

ददामात्येव ध्यात् ( १२।४।१ )— देता हूँ देता ही  
कहना आदिधे ।

### पापसे बचाव

ते नो मुञ्चन्त्यहसः ( ११।१।१-२२ )— वे हमें पापसे  
बचावें ।

न यपुरा चरुमा कन्द नूनमृतं पदन्तो अमृतं रयेम  
( १८।१।४ )— जो पहिले किया नहीं वह अन्न  
केसा करे, मरत बोलनेवाले अमृत कार्य कैसे करे ?  
न तिष्ठन्ति न नि मियमयेते देवानां स्पन्त इद ये  
परगति ( १८।१।९ )— देवोंके पास नहीं जो चढ़ते  
हैं, वे न उड़ते हैं न जलें बंद करते हैं ( वे पानीको  
पकड़ते ही हैं । )

पापमाहुयः स्वसारं निगच्छात् ( १८।१।१४ )— बहि-  
नके पास जाना पाप कहलाता है ।

### पुत्रकामना

ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ( ११।१।१ )— पुत्रकी इच्छा  
करनेवाली माता ज्ञान बढ़ानेवाली अन्न पकाती है ।

अद्रोघाविता चाचमच्छ ( ११।१।२ )— द्रोह न करने-  
वालीकी रक्षा करनेकी भाषा बोल ।

पृतनापाद् सुवीरो येन देवा असहन्तः शत्रून्  
( ११।१।२ )— सेनाका पराभव करनेवाला उत्तम  
वीर है, इससे देव शत्रुओंका पराभव करते हैं ।

अजनिष्टा महते वीर्याय ( ११।१।३ )— बड़े पराक्रम  
करनेके लिये जन्म लो ।

अस्मै रयिं सर्ववीरं ति यच्छ— सब पुत्रपौत्रोंके साथ  
रहनेवाला चन इसको दो ।

विद्वान् देवान् यज्ञियां एह यज्ञः ( ११।१।४ )— वृ-  
विद्वान् पूजनीय देवोंको यहाँ ले जा ।

गुण्य द्विपतः सपत्नान् ( ११।१।५ )— द्वेप करनेवाले  
सपत्नोंको दूर कर ।

सज्जातांस्ते बलिहृतः कृणोतु ( ११।१।६ )— स्वनाति-  
योंको कर देनेवाले करे ।

उदुञ्जैर्ना महते वीर्याय ( ११।१।७ )— महान् परा-  
क्रम करनेके लिये ऊँची प्रेरणा कर ।

गच्छेम सुकृतस्य लोकं ( ११।१।८ )— पुण्यकर्म करने-  
वालेके लोकको हम जाय ।

ऊर्ध्वं प्रजानुद्धरन्मुदूह ( ११।१।९ )— प्रजाका उद्धार  
करनेके लिये ऊपर उठावो ।

धिया समानानति सर्वांस् स्याम् ( ११।१।१२ )—  
धनसे हम सब समानोंसे आगे रहेंगे ।

अघस्पदं द्विपत्स्याद्यामि— शत्रुको नीचे गिरा  
देते हैं ।

### पशु पालन

मा नो हिसिष्टं द्विपदो मा यनुष्यदा ( ११।१।१ )—  
हमारे द्विपाद, यनुष्योंकी हिमा न करो ।

### प्राण

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं पदो ( ११।१।१ )— जिसके  
अधीन सब है उस प्राणके लिये नमस्कार करना है ।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम्—  
प्राण सवका ईश्वर है और उसमें सब रहा है ।

यद् भेषजं तव तस्य नो घेहि जीवसे ( ११४१९ )—  
हे प्राण ! जो तेरे अन्दर औपच है वह दीर्घ जीवनके  
लिये मुझे दो ।

प्राणी ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न  
( ११४१० )— जो जीवित है और जो अचेतन है,  
उस सबका प्राण ही ईश्वर है ।

प्राणो मृत्युः प्राणस्तन्मा प्राणं देवा उपासते  
( ११४११ )— प्राण मृत्यु है, प्राण शक्ति है, इस  
लिये सब देव प्राणकी उपासना करते हैं ।

प्राणमाहुः प्रजापतिम् ( ११४१२ )— प्राण ही प्रजा-  
पालक है ।

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ( ११४१३ )—  
आपमा गर्भमें प्राण और अपानके कार्य करता है ।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ( ११४  
१५ )— प्राणमें भूत, भविष्य सर्व प्राणमें रहता है ।

आथर्वणासाहिरसीर्द्वीर्मनुष्यजा उत । ओपधयः  
प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ( ११४१६ )  
— आपधवी, आरिरी, देवी और मानवी ये  
औपधियाँ तब कार्य करती हैं जब प्राण प्रेरणा देता है ।

एकं पादं नोत्तिष्ठति सालिलाक्षस उच्चरन् । यदङ्ग  
स नमुत्तिष्ठेत् नैवाद्य न श्वः स्यात्, न रात्रौ  
नराहः स्यात्, न व्युच्छेत्कदाचन ( ११४१७ )—  
हंस अलसे ऊपर उठता हुआ एक पाँव अंदर रखता  
है, यदि वह दूसरा पाँव भी ऊपर उठावेगा तो आङ्ग-  
क्य, रात्रिदिन कुछ भी नहीं होगा । अघोरा भी नहीं  
होगा ।

प्राण मा मत् पर्याप्तो न मदन्यो मधिप्यसि  
( ११४१८ )— हे प्राण ! तू मुझसे अधिक न हो,  
मुझमें दूर न जा ।

### ब्रह्मचर्य

ब्रह्मचारीणन् चरति रोदन्वी उभे तस्मिन् देवाः  
ममनसो भवन्ति ( ११५११ )— ब्रह्मचारी  
वक्रिणी इच्छा करता हुआ दोनों ओरोंमें चलता  
है, हमसे बिना सब देव अनुकूल मनसे साथ महा-  
बल होने हैं ।

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति  
सर्वे ( ११५१२ )— ब्रह्मचारीके अनुकूल पितर,  
देवजन, देव ये सब रहते हैं ।

त्रयस्त्रिंशत् त्रिंशताः पद सहस्राः । सर्वान् स  
देवान् तपसा पिपति— तैतीस, तीन सौ, छः  
हजार इन सब देवोंको वह अपने तपसे प्रसन्न  
करता है ।

आचार्य उपतयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः  
( ११५१३ )— आचार्य उपतयन करके ब्रह्मचारीको  
अपने ( विद्यामाताके ) गर्भमें रखता है ।

तं रात्रौत्तिष्ठ उदरे विमर्ति तं जातं द्रुपुमभिसंयन्ति  
देवा— उस ब्रह्मचारीको वह आचार्य तीन रात्रि-  
तक अपने उदरमें रखता है । जब वह बाहर आता  
है तब उसको सब देव देखनेके लिये आते हैं ।

ब्रह्मचारी.....लोकांस्तपसा पिपति ( ११५१४ )—  
ब्रह्मचारी.....लोकोको अपने तपसे पूर्ण करता है ।

स सद्य एति पूर्वसाधुत्तर समुद्रं लोकान् संगृह्य  
मुद्रात्पारिकत् ( ११५१५ )— वह ब्रह्मचारी पूर्व  
समुद्रसे उत्तर समुद्रतक लोकसंग्रह करता है और  
उनको सदाचारका उपदेश देता है ।

तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ( ११५१६ )— वह  
जानी केवल ज्ञानका प्रचार करता है ।

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ( ११५१७ )  
— शिक्षक ब्रह्मचारी हों, और प्रजापालक ब्रह्म-  
चारी हों ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ( ११५१८ )  
— ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्रकी सुरक्षा करता है ।

आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते— आचार्य  
ब्रह्मचर्यसे ब्रह्मचारीको इच्छा करता है ।

ब्रह्मचर्येण कन्या युयानं विन्दते पति ( ११५१९ )  
— ब्रह्मचर्य पाठन करके कन्या युवा पतिको प्राप्त  
होती है ।

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाप्नन् ( ११५२० )—  
ब्रह्मचर्यरूप तपसे देवोंने मृत्युको दूर किया ।

तान् सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभूतम्  
( ११५२१ )— ब्रह्मचारीने धारण किया ब्रह्म  
उन सबको रक्षा करता है ।

## मातृभूमि

सत्यं बृहद्वत्सुप्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ( १२।१।१ )— सत्य, बृहत् क्रतु, उग्र-वीरता, दीक्षा, तप, ज्ञान और यज्ञ ये गुण मातृभूमिका रक्षण करते हैं ।

सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्नी उरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु— वह भूत और भविष्यकी पालन करने-वाली मातृभूमि हमारे किये विशेष विस्तृत कार्य-क्षेत्र देवे ।

असंवाघं वध्यतो मानवानां यस्या उद्धतः प्रवतः समं वहु ( १२।१।२ )— जिस मातृभूमिके मान-वोंमें ऊंचा-नीचा होनेपर भी समानता बहुत है इस कारण हावें नहीं हैं ।

पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः— हमारी मातृभूमि हमारे पक्षकी बुद्धि करे ।

यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूतुः ( १२।१।३ )— जिस मातृभूमिके किसान मिलकर खेती करके अन्न उपजते हैं ।

सा नो भूमिः पूर्वपथे दधातु— वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व पथ देवे ।

सा नो भूमिर्गोवप्यन्ने दधातु ( १२।१।४ )— वह हमारी मातृभूमि हमें गौवों और अन्यमें धारण करे ।

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचक्रिरे ( १२।१।५ )— जिस मातृभूमिके प्राचीन पूर्वजोंने बहुत पराक्रम किये थे ।

यस्यां देवा असुरानश्नवर्तयन्— जिस मातृभूमिके देवोंने असुरोंका पराभव किया था ।

गवामश्वानां चयसश्च विष्टा भगं चर्च। पृथिवी नो दधातु— गौवें, घोड़ों, और पक्षियोंका जो स्थान है वह मातृभूमि हमें देखभाल और तेज देवे ।

यां रक्षन्त्यस्त्रमा विश्वदानां देवा भूमिं पृथिवी मप्रमादम् ( १२।१।६ )— जिस मातृभूमिका संरक्षण देव प्रसाद न करते हुए सदा करते रहते हैं ।

ना नो मधु प्रियं दुहामयो उक्षतु चर्चसा— वह मातृभूमि हमें मिय मधुर रस देवे, और तेजसे पुष्ट करे ।

यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः ( १२।१।७ )— जिस मातृभूमिकी कौशलव्यपुष्ट कर्मोंसे बुद्धिमान लोग सेवा करते हैं ।

सा नो भूमिस्त्विपिं वलं राष्ट्रे दधातूच्चमे— वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेज और बल धारण करे ।

विष्णुर्यस्यां विचक्रमे ( १२।१।१० )— विष्णु जिस मातृभूमिके पराक्रम करता रहा ।

इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः— शक्तिसे स्वामी इन्द्रने जिस मातृभूमिकी शत्रुनाश किया ।

अर्जीतोऽहता अक्षतोऽध्यष्टां पृथिवीमहम् ( १२।१।११ )— अग्रजित, अहत और अक्षत होकर मैं इस मातृभूमिका अभ्यक्ष होऊंगा ।

माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः ( १२।१।१२ )— मेरी माता, भूमि और मैं इस मातृभूमिका पुत्र हूँ ।

सा नो भूमिर्वर्चयद् वर्धमाना ( १२।१।१३ )— वह हमारी मातृभूमि बड़ाई जानेपर हमारा संवर्धन करे ।

यो नो द्वेपत् पृथिवि, यः पृतन्यात्, योऽभिदासा-ग्न्यस्ता, यो वधेन । तं नो भूमे रन्धय पूर्व-कृत्वरि ( १२।१।१४ )— हे मातृभूमे ! जो हमारा द्वेप करता है, जो हमपर सैन्य भेजता है, जो मनसे हमें दास बनाता चाहता है, जो वध करता है, हे शत्रुनाश करनेवाली ! उसका नाश कर ।

त्यज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्याः त्वं विमर्षि द्विपदस्य चतुष्पदः ( १२।१।१५ )— तूसे चारपद हुए मानव तेरे ऊपर संसार करते हैं । तू द्विपद और चतुष्पादोंका धारण करती है ।

तवेमे पृथिवि पञ्च मानवाः— ये शकों प्रकारके मानव तेरे ही पुत्र हैं ।

ध्रुवां भूमिं पृथिवीं चर्मणां ध्रुतां । शिवां स्पोता-मनु चरेम विश्वहा ( १२।१।१६ )— चर्मसे धारण की हुई शुभकल्याणकारिणी मातृभूमिकी हम सबका सेवा करे ।

मा नो द्विष्टत कञ्चन ( १२।१।१७ )— हमारा कोई द्वेष न करे ।

त्वियीमन्तं संशितं मा कृणोतु ( १२।१।२१ )— मातृभूमि मुझे तेजस्वी और दीप्त करे ।

मृत्यां मनुष्या जीयन्ति स्वधयाग्नेन मर्त्याः ( १२।१।२२ )— भूमिके मर्त्य मनुष्य धार्मिक जीवनसे जीवित रहते हैं ।

सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी  
कृणोतु— वह हमारी मातृभूमि भेद अन्दर प्राण  
और दीर्घ आयु धारण करे और मुझे वृद्धावस्था तक  
जीवित रहनेवाला करे ।

तेन मा सुरभिं कृणु ( १२।१।२३ )— मातृभूमि उस  
सुवाससे मुझे सुगन्धयुक्त करे ।

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरन्म- ( १२।१।२६ )—  
उस सुवर्ण अपने अन्दर धारण करनेवाले मातृभूमिके  
लिये मैं नमन करता हू ।

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु ( १२।१।३० )— शुद्ध जल  
हमारे शरीरके लिये बहे ।

यो न सेदुराग्रिये तं नि दध्म— जो दुष्ट है उसको  
अग्रिय अवस्थामें रखते हैं ।

पवित्रेण पृथिवि मात् पुनामि— हे पृथिवी ! पवित्रसे  
मैं अपने आपको पवित्र करता हू ।

स्योनास्ता मष्ट चरते भयन्तु, मा नि पत भुवने  
शिथिप्राण ( १२।१।३१ )— सब दिशाओं घूमने  
वाले मुझे सुखदायक हो, भूमिपर रहनेवाले मुझे  
कोई न गिरावे ।

स्यस्ति नो भूमे भव ( १२।१।३२ )— हे मातृभूमि ! तू  
हमारे लिये कल्याण करनेवाली हो ।

मा चिदन् परिपन्थिन— शत्रु हमें न जाने ।

परीया यावया यधम्— शत्रु हमसे दूर जाय ।

मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरी  
( १२।१।३४ )— सबको आश्रय देनेवाली मातृ  
भूमि ! मेरी हिंसा न कर ।

यस्या पूर्वे भूतवृत्त जपयो मा उदान्नुः ( १२।१।३९ )—  
माघोनकाका इतिहास बनानेवाले ऋषियोंन वाणीसे  
मेरी स्तुति गावी ।

सानो भूमिरा दिशानु पदनं कामयामहे ( १२।१।४० )—  
वह भूमि हमें वह धन देवे जो हम चाहत हैं ।

यस्या गायन्ति नृत्यन्ति भूम्या मर्त्या द्यौलया  
( १२।१।४१ )— विशेष प्रेरित हुए वीर जिस  
भूमिमें जान-दसे गाते और नाचत हैं ।

युष्मन्ने यस्यामामभ्दो यस्यां यदति दुन्दुभि—  
जिन मातृभूमिमें पुत्र किये जाते हैं, और जिनमें  
दुन्दुभि वज्राण है ।

सा नो भूमिः प्र णुदता सप्तनान्— वह मातृभूमि  
हमारे शत्रुओंको दूर करे ।

असपत्नं मा पृथिवि कृणोतु— मातृभूमि मुझे शत्रु  
रहित बनावे ।

यस्याः पुरो देवकृत क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ( १२।१।४३ )—  
जिस मातृभूमिके नगर देवोंके बनाये हैं, जिसके  
क्षेत्रमें मनुष्य नाना कार्य करते हैं ।

प्रजापति पृथिवीं विश्वगर्भमाश्रमाणा रण्या न-  
कृणोतु— प्रजापालक सब पदार्थोंको अपनेमें धारण  
करनेवाली हमारी मातृभूमिको प्रत्येक दिशामें रम  
णीय बनावे ।

निधिं विश्वती यहुधा शुद्धा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी  
ददातु मे ( १२।१।४४ )— अनेक प्रकारका धनका  
खजाना धारण करनेवाली हमारी मातृभूमि हमें रत्न  
और सुवर्ण देवे ।

यस्मि नो यमुदा रासमाना देवी दधातु सुमन-  
स्यमाना— धन देनेवाली प्रकाशमान देवी मातृ-  
भूमि प्रसन्नचित्तसे हमें धन देवे ।

जन विश्वती यहुधा यिञाचस नानाधर्माणं पृथिवी  
ययौकस ( १२।१।४५ )— अनेक भाषा बोलने-  
वाला, नाना धर्मोंवाले लोगोंको जो एक घरमें रहने  
वालोंके समान धारण करती है ।

सहस्र घारा द्रविणस्य मे दुहा भुवेय घेनुरनपस्कु  
रन्ती ( १२।१।४५ )—बढ़ हमारी मातृभूमि, न  
हिलनेवाली गाँके समान, हमें धनकी सहस्रों  
धाराएं देवे ।

यच्छिद्य तेन नो मूड ( १२।१।४६ )— जो कल्याण  
करनेवाला है उससे हमें सुख दे ।

ये ते पन्थानो यह्यो जनायना रथस्य चत्मानसश्च  
यातवे । ये संचरन्ति उभये भद्रपापाः त  
पथान जयेम अनमित्रमतस्कर ( १२।१।४७ )—  
जो बहुतसे मार्ग जाने-आनेके और रखे हैं जिनपर  
सज्जन और दुर्जन जाते हैं, वे मार्ग शत्रुरहित और  
खोरहित हों ।

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्या । अमीपाड-  
स्मि यिथ्यापाडाशां आशा विपासहिः  
( १२।१।५४ )— मैं विजयी और जपनी मातृ-

भूमिपर ग्रेष्ट हूँ । सब प्रकारका पराक्रम करनेवाला,  
प्रलेख दिशामें विजयी हूँ ।

ये ग्रामा यदरण्य याः सभा अधि भूयाम् । ये  
संग्रामाः समितयस्तेषु चारु यदामि ते  
( १२।१।५६ )— जो ग्राम हैं, जो अरण्य हैं, जो  
सभाएँ और समितियाँ होती हैं, जो युद्ध होते हैं  
उनमें मैं हे मातृभूमि ! तेरे विषयमें उत्तम मात्र  
रखनेवाला मापण करूँगा ।

यद्वदामि मधुमत्तद्वदामि ( १२।१।५८ )— जो बोलूँगा  
वह मोठा ही बोलूँगा ।

त्विवीरमानसि जूतिमान् अवान्प्यान् हन्मि दोधतः—  
मैं तेजस्वी हूँ, और प्रगति करनेवाला हूँ । जो हमारी  
भूमिको दुष्ट छेते हैं उन शत्रुओंको मैं मारता हूँ ।

यत्त ऊनं तत्त आ पुरयाति प्रजापतिः प्रथमजा  
क्रतस्य ( १२।१।६१ )— हे मातृभूमि ! जो तेरे  
मन्दर न्यून है उसकी परिपूर्णता सर्वका प्रथम प्रव-  
र्तक प्रजापति करता है ।

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा असभ्यं सन्तु पृथिवि  
प्रस्ताः ( १२।१।६२ )— हे मातृभूमि ! तुम्हारे  
अन्दर रहनेवाले लोग नीरोग रहें और तुम्हारी सेवा  
करनेके लिये तुम्हारे पास उपस्थित रहें ।

दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमानाः— हम जानी हैं और  
हमारी आयु दीर्घ हो ।

ययं तुभ्य बलिहृतः स्याम— हम तुम्हारे लिये अपना  
बली देनेवाले हों ।

भूमे मातर्नि घेहि मां मद्रया सुप्रतिष्ठितम् ( १२।१।६३ )  
— हे मातृभूमि ! मुझे कल्याणसे समुक्त कर ।

संविदाना दिया कवे धियां मा घेहि भूयाम्—  
प्रतिदिन जाननेवाली होकर तुमसे पृथिवीमें सप-  
त्तिमें रख ( मरपूर सपत्ति दो । )

युद्ध

ये बाहवो या इषवो धन्वनां धीर्याणि च । असान्  
परशूनायुध चित्ताकृतं च यद्वदि । सर्वे तद-  
युदे त्वमभिन्नेभ्यो दशे कुरु उदारार्थं प्र दर्शय  
( ११।१।१ )— जो वीरोंके बाहु, बाण, धनुष्य,  
पराक्रम, तलवार, काशिपा, आयुध, हृदयमें जो

विचार हैं, हे सेनापते ! तू यह सब शत्रुओंको  
दिखाओ और स्फोटक घम भी दिखाओ । ( जो देख-  
कर शत्रु घबरा जाय और युद्धसे पराङ्मुख हो । )

उत्तिष्ठत सं नद्याध्वं ( ११।१।२ )— उठो, तैयार हो  
जाओ ।

संहृष्टा गुमा चः सन्तु या नो मित्राणि— जो हमारे  
मित्र हों वे उत्तम रीतिसे देखे और सुरक्षित हों ।

उत्तिष्ठतमा रमेथामादानसंदानाभ्यां, अमित्राणां  
सेना अभि धत्तं ( ११।१।३ )— उठो, आदान  
सदान करके युद्ध शुरू करो और शत्रुकी सेनाको  
पकड़ो ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनायुदे सेनया सह । भजन्मित्राणां  
सेनां भोगेभिः परि वारय ॥ ( ११।१।५ )— हे  
देवजन सेनापते ! तू सेनाके साथ उठो । शत्रुकी  
सेनाको अपनी पकड़ोसे पकड़कर नष्ट कर ।

उत्तिष्ठ सेनया ( ११।१।६ )— सेनासे उठो ।

प्रतिप्रानाधुमुखी रुधुकर्णी च क्रोशतु । धिकेक्षी  
पुरपे हते ( ११।१।७ )— छाती पीटती, नाखोंमें  
लथ्वावाली, कानमें माथपण न हों ऐसी, पुरुष मरने-  
पर बिल्लरे बाहवाली शत्रु की आक्रोश करें ।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका कृप्यतु किमिः । पौलये-  
येऽपि कुणपे रदिते अयुदे तव ( ११।१।१० )—  
हे सेनापते, तेरा आक्रमण होनेपर जो प्रेत रणक्षेत्रसे  
पढ़ेगे उनपर सब पशु, मच्छियाँ, किमी वृत्त होते  
रहें ।

मुह्यन्स्वेष्टां बाहवः चित्ताकृतं च यद्वदि । नैप-  
मुच्छेपि कश्चन रदिते अयुदे तव ( ११।१।१५ )  
— हे सेनापति ! तेरा आक्रमण होनेपर शत्रुमेंसे  
कोई न रहे, उनके बाहु मोहित हों, उनके मनमें  
जो हो वह भी भ्रान्त यने ।

उद्वेपय त्वमयुदेऽमित्राणाममूः सिव । जयांश्च जिप्सु-  
श्चामित्रां जयतां ( ११।१।१८ )— शत्रुके सेना-  
समूहोंको कपायमान् करो, शत्रुकी जीतो, अपने वीर  
विजयी हों ।

तयायुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वर वर ( ११।१।२० )—  
मेरित हुए शत्रुसेनाके मुख्य मुख्य वीरकी मारो ।

अमित्रान् नो विविध्यतां ( ११।१।२३ )— शत्रुओंको  
बीँधो ।

तेषां सर्वपापीनाम्ना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं ( ११।१।२४ )  
— उन शत्रुओंके तुम स्वामी हो, उठो, तैयार हो  
जाओ ।

इमं संप्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम्—इस  
संप्रामको जोतकर अपने स्थानपर जाकर सुखसे रहो ।

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं उदारः केतुभिः सह सर्पा  
इतरजना रक्षांस्यनु धावत । ( ११।१।२५ )—  
बर्षा, अपने ध्वजोंसे तैयार हो जाओ, हे सर्पों और  
इतर जनों ! साधुओंपर हमला चढ़ाओ ।

उत्तिष्ठ त्वं देवजनायुदे सैनया सह ( ११।१।२६ )—  
हे देवजन सेनापते ! तू उठ, सेनाके साथ चढ़ाई कर ।

जयामित्रान् प्र पथस्य ( ११।१।२७ )— शत्रुको जीत  
और अपने अधीन कर ।

तमसा त्वममित्रान् परिवारय ( ११।१।२८ )— तू  
तमसाध्वसे शत्रुका निवारण कर ।

मामीषां मोक्षि कश्चन—उन शत्रुओंमेंसे किसीको न  
छोड़ ।

शितिपदी सं पतत्वमित्राणां भूमः सिचः ( ११।१।२९ )  
—इन शत्रुओंके सेनासमूहपर घेत पाँड़वाली शक्ति  
मिरे ।

मुह्यन्त्यधामः सेना अमित्राणां—शत्रुकी सेनायें  
भोहित हों ।

मृदा अमित्रा भ्ययुदे जघोषां वरं वरं ( ११।१।३० )—  
हे सेनापते ! शत्रुसेना मृद बनी है, इनके मुखिया  
बीरोंको मार ।

धनया यदि सैनया—इस सेनासे जीतो ।

यथा कथन्यो यथा कथन्योऽमित्रो यथाऽग्निनि । ज्या-  
पादाः कथयपादौः अग्निना अमिहतः शयाम्  
( ११।१।३१ )— जो शत्रु कथयपादी है, जो  
कथयसे इति है, जो रथपर बैठा है, वह शत्रु उवा-  
पाओंसे, कथयपादोंसे तथा रथके आवाजसे मरा  
होवा नो जाय ।

ये यमिणां यदपमिणां अमित्रा ये च यमिणाः ।  
सर्वास्तानयुदे हतान् भयान्ऽहन्तु भूम्याम्  
( ११।१।३२ )— जो कथयपादी अथवा कथयके

बिना शत्रु हैं, ये सब युद्धमें मरें और भूमिमें पड़े ।  
इनके प्रेत कुत्ते खावें ।

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः । सर्वा-  
नहन्तु तान् हतान् गृध्राः श्वेनाः पतत्रिणः  
( ११।१।३३ )— जो रथी, जो रथके बिना, जो  
घोड़ोंवाले अथवा जो घोड़ोंके बिना शत्रु हैं, उन  
सबको युद्धमें मरनेपर गोध, श्वेन आदि पक्षी खावें ।  
सहचक्रुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानां ।  
विविधा ककजाकृता ( ११।१।३४ )— युद्धमें  
मारी गयी, शस्त्रोंसे बीँधी और विहृत आकारवाली  
होकर शत्रुसेना सहजों प्रेतोंमें युद्धभूमिपर शयन  
करे ।

### शरीर

इन्द्रादिन्द्रः सोमात्सोमो अग्नेरग्निरजायत । त्वष्टा  
ह जघे त्वष्टृर्धातुर्धाताऽजायत ( ११।२।१ )—  
इन्द्रसे इन्द्र, सोमसे सोम, अग्निसे अग्नि, त्वष्टासे  
त्वष्टा और धावासे धाता हुआ । ( ये देव पुत्र  
शरीरमें आकर रहे हैं । )

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा । पुत्रेभ्यो  
लोकं दत्त्वा कसिंस्ते लोक आसते ( ११।२।२ )  
—पूर्व समयमें दस देवोंसे दस पुत्र देव उत्पन्न  
हुए । पुत्रोंको उन्होंने स्थान दिया और वे किस  
लोकमें मला रहने लगे हैं ?

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्सममरन् । सर्वं  
संसिच्ये मर्त्ये देवाः पुरुषमाविशन् ( ११।२।३ )  
—सिंचन करनेवाले वे देव हैं जिन्होंने सब संभार  
इकट्ठा किया । सब मर्त्यको जीवनरससे सिंचित  
करके ये सब देव शरीरमें आकर रहे हैं ।

गृहं कृत्वा मर्त्ये देवाः पुरुषमाविशन् ( ११।२।४ )—  
मर्त्य घर करके सब देवपुरुष शरीरमें आकर रहे हैं ।  
विषाद्य पाऽविद्याद्य यच्चान्यदुपदेश्यम् । शरीरं  
ग्रह्ण प्राविशद्यः सामाथो यजुः ( ११।२।५ )  
—विषा, अविद्या ( विज्ञान ), और जो उपदेश  
करने योग्य है, वह सब ज्ञान शरीरमें प्रविष्ट हुआ,  
वही ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेद हैं ।

रेताः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ( ११।२।६ )—  
रेता यी बनाकर देव पुरुषमें प्रविष्ट हुए हैं ।

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषं इदं ब्रह्मेति मन्यते ( ११।८।३२ )  
—इसकिये ज्ञानी इस पुरुषको यह ब्रह्म है ऐसा  
मानता है ।

सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते—सब  
देवताएं यहां, गोशाला में जैसी गाँव रहती हैं, वैसी  
रहती हैं ।

### रोग-निवारण

इदं सीसं भागधेयं त एहि ( १२।२।१ )—यह सीस  
तेरा भाग्य है ।

यो गोपु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराद्  
परोहि—जो क्षयरोग गोशाला में और पुरुषों में होगा,  
उसको तुम दूर कर ।

यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि  
( १२।२।२ )—क्षयरोगको और मृत्युको दूर करता हूँ ।

निरितो मृत्युं निर्वर्ति निरयार्ति अजामसि ( १२।२।३ )  
—हम मृत्यु, दुःख और मृत्युको दूर करावे हैं ।

यो नो द्वेष्टि तमस्मि अग्ने—जो हमारा द्वेष करता है, दे  
अग्ने ! उसे का ।

त्वा ब्रह्मणस्पतिराघाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय  
( १२।२।४ )—शान पति तुझे सौ वर्षकी दीर्घायु  
देवे ।

ते ते यक्ष्मं स वेदसो दूराद्दूरमनीतशन् ( १२।२।५ )  
—वे देव तेरे क्षयरोगको दूरसे दूर करके नष्ट करें ।

शुद्धा भवत यक्षियाः ( १२।२।६ )—शुद्ध और पूज-  
नीय बनो ।

इहेमे वीरा बहवो भयन्तु ( १२।२।७ )—यहाँवे वीर  
बहुत हों ।

अभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अथ ( १२।२।८ )—हमारी  
ईश प्रार्थना आज कल्याणकारीणी हो गयी है ।

प्राञ्चो अगाम नृतये हस्ताय ( १२।२।९ )—वाघने  
और हस्तके लिये हम आगे बढ़ें ।

सुधीरासो विदधमा वदेम—उत्तम वीर बनकर युद्धका  
विचार करेंगे ।

हमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैपां शु गादपरो  
अर्थमेतं ( १२।२।१० )—मानवजातियोंके लिये  
यह आयुर्मर्यादा मैंने दी है, नीच बनकर इस आयु-  
रूपी धनका कीट नाश न करे ।

शतं जीवन्तः शरदः पुरुषोत्तिरो मृत्युं दधतां  
पर्वतेन—सौ वर्षोंका दीर्घकाल लोग जीवित रहें  
और पर्वतके द्वारा ( पीठकी रीढ़के द्वारा ) मृत्युको  
दूर रखे ।

आ रोहत आयुर्जरसं घृणाना अनुपूर्वं यतमाना  
यति स्थ ( १२।२।११ )—वृद्ध अवस्थाका स्वीकार  
करते हुए दीर्घायुको प्राप्त करो, एकके पीछे दूसरे  
सिद्धितक यत्न करो ।

तान् वः त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु  
जीवनाय—उत्तम जन्मवाला उत्पाही त्वष्टा आप  
सबको दीर्घ जीवनके लिये पूर्ण आयुतक ले जावे ।

यथा न पुन्यं अपरो जहाति, धातरायूपि कल्पयैषां  
( १२।२।१२ )—जिस तरह पूर्व जन्मके पूर्व पश्चात्  
जन्मा न मरे इस तरह दे धाता ! इनकी आयुकी  
योजना कर ।

अदमन्यतो रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता  
सखायाः ( १२।२।१३ )—पत्थरोंवाली नदी बेगसे  
चल रही है, हे मित्रो ! संभालो और वीरता धारण  
करो ।

अत्रा जहीत ये असन् दुरेया अनमीवानुत्तरेमाभि  
याजान्—जो दुःखदायी पदार्थ हैं उनको यहीं  
छोड़ दो, हम पार होनेपर रोगरहित अन्न प्राप्त करेंगे ।

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽदमन्यतो नदी स्पन्दत  
इयं ( १२।२।१४ )—उठो और तैरो ! हे मित्रो !  
यह पत्थरोंवाली नदी बेगसे बह रही है ।

अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्स्पोनानुत्तरे-  
माभि याजान्—जो बुरे पदार्थ हैं उनको यहीं  
छोड़ दो, जब हम पार हो जायेंगे तब सुखकारक  
भोगोंको प्राप्त करेंगे ।

वैश्वदेवीं यत्वं स आ रभध्वं, शुद्धा भवन्तः शुचयः  
पावकाः ( १२।२।१५ )—सब देवोंकी उपासना  
अपना तेज बढ़ानेके लिये प्रारंभ करो, तुम शुद्ध,  
शुचि और मजबूत बनो ।

अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा  
मदेम—पापके स्थानोंको दूर करते हुए सब वीरोंके  
समेत सौ वर्षतक आनन्दसे रहेंगे ।

मृत्युं प्रत्याहन् पदयापनेन ( १२।१।२९ )— अपने  
बाधरणसे मृत्युको दूर करते हैं ।

मृत्योः पदं योषयन्त पत द्राघीय आयुः प्रतरं  
दधानाः ( १२।२।३० )— मृत्युके पांवको दूर करके,  
दीर्घ आयुको अति दीर्घ करके धारण करके लगे ।

आसीना मृत्युं मुदता सवस्थेऽथ जीवासीविद-  
धमा घदेम— आसनादि करके मृत्युको दूर करो,  
और यदि जीवेंगे, उसमें पक्षकी बात करेंगे ।

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराज्ञेन संपिपा सं स्पृ-  
शन्तां । अनश्रवो अनमीचाः सुरता आरोहन्तु  
जनयो योनिमग्रे ( १२।३।३१ )— ये स्त्रियां उत्तम  
पत्नीवा हों, विधवा न हों, अन्न और धी लवावें,  
रोगरहित, अश्रुहित, उत्तम रत्न धारण करनेवाली  
स्त्रियां प्रथम अपने घरमें ऊंचे स्थानपर चढ़ें ।

क्षीर्षेणायुषा समिमान् स्त्रुजामि ( १२।३।३२ )—  
इनको क्षीर्षावृत्ते पुष्क करता हूँ ।

प्राशाः गृहाः सं स्त्रुजन्ते स्त्रिया यन् प्रियते पतिः  
( १२।३।३९ )— जब कीका पति मरता है तब घर-  
पीछानोंसे पुष्क होते हैं ।

जीधानामायुः प्र तिह ( १२।३।४५ )— जीवितोंकी आयु  
दीर्घ कर ।

पपां ऊर्जे रयि वस्रास्तु घेदि ( १२।३।४६ )— इनका  
बल और धन हमें दे ।

क्षीर्षेणायुषा समिमांस्त्रुजामि ( १२।३।५५ )— मैं  
इनको क्षीर्षावृत्ते पुष्क करता हूँ ।

इमं जीर्घ जीयघन्याः समेत्य तासां सजघ्यममृत्  
यमाहुः ( १२।३।४ )— जीवनको धन्य करनेवाली !  
इस जीवन्ताको प्राप्त होकर वहाँका भूत प्राप्त करो ।

उसरं राट्यं प्रजयोत्तरायत् ( १२।३।१० )— अहं राष्ट्र  
मुवज्जते अधिक धेठ होता है ।

पनरपतिः सह देवेनं आगन् रक्षः पिशाचानपयाघ-  
मानः ( १२।३।१५ )— राजा और पिशाचोंकी  
दूर करता हुआ यह वनरपति दिव्यशक्तियोंसे हमसे  
पाप आधा है ।

तेन गोबान्निम सर्वांन् जपेम— उससे सब कोकीको  
कीर्ते ।

## विवाह

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतां असिन् गृहे गार्ह-  
पत्याय जागृहि ( १३।१।२१ )— यहाँ तेरी प्रजाके  
छिपे समृद्धि प्राप्त हो, इस घरमें गृहकी पालक बन-  
कर जागती रहे ।

एना पत्या तन्वं सं स्पशस्य— इस पतिके साथ अपने  
शरीरका स्पर्श कर ।

इहैव स्तं, मा वि यौष्टे, विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ( १३।  
१।२२ )— यहीं रहो, मत पृथक् होओ, सब आयु  
होनेतक मिलकर रहो ।

प्रौढन्तौ पुत्रेनपुत्रिभिर्मौदमानौ स्वस्तकौ— पुत्रों और  
पुत्रियोंके साथ छेड़ते हुए अपने घरमें आनन्दसे रहो ।

अनुभूरा क्रजयः सन्तु पश्यान्तो येभिः सखायो  
यन्ति नो परेयम् ( १३।१।३४ )— काँटोंसे रहित  
सरक मार्ग हों जिनसे हमारे मित्र कन्याके घर  
जाते हैं ।

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिं । पत्युर-  
नुयता भूया सं नष्टस्य अमृताय कम्  
( १३।१।४२ )— उत्तम मन, सतान और सौभा-  
ग्यकी आशा करनेवाली तू पतिके अनुकूल आचरण  
करनेवाली होकर अनमराव प्राप्तिके लिये तू सिद्ध हो ।

एवा त्व सप्राश्येधि पत्युरस्ते परेत्य ( १३।१।४३ )—  
वैसीतू पतिके घर पहुँचकर वहाँ सप्राज्ञी होकर रह ।

सप्राश्येधि श्यशुरेपु सप्राश्युत देवेषु । ननान्दुः  
सप्राश्येधि सप्राश्युत श्वश्रवाः ( १३।१।४४ )—  
अश्वर, देव, वनर, सास इत्यादि साथ सप्राज्ञी  
होकर रह ।

दीर्घं त आयुः सविता कुणोतु ( १३।१।४५ )—  
बलिया तेरी दीर्घ आयु करे ।

तेन गृहामि ते हस्तं, मा व्यथिष्ठा, मया सह प्रजया  
च धनेन च ( १३।१।४६ )— तेरा हाथ मैं ग्रहण  
करता हूँ, मत घबरा, मेरे साथ प्रजा और धनके  
साथ रह ।

गृहामि ते सौमगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदधि-  
र्ययासः ( १३।१।५० )— मैं तेरा हाथ पकड़ता  
हूँ, श्रुत पतिके साथ वृद्धावस्थातक रह ।



पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ( १४।१।५१ )—  
तू मेरी धर्मसे पत्नी है, मैं तेरा गृहपति हूँ ।

ममेयमस्तु पोष्या, मह्यं त्वादाद्गृहपतिः । मया पत्या  
प्रजायति सं जीव शरदः शतम् ( १४।१।५२ )  
— यह स्त्री मेरे द्वारा पोषण करने योग्य हो, बृहस्प-  
तिने तुझे सुख दिया है । मेरे साथ रहकर, प्रजावाली  
हो और सौ वर्ष जीवित रह ।

शिवा स्योना पतिलोके विराज ( १४।१।६४ )—  
कल्याण करनेवाली सुखदायिनी होकर पति के घर  
विराज ।

दीर्घायुरस्याः यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्  
( १४।२।२ )— इसका पति दीर्घायु होकर सौ वर्ष  
जीवित रहता है ।

रपि च पुत्राश्चादादग्निर्ममयो इमाम् ( १४।२।४ )  
— धन और पुत्रों को तथा इस स्त्री को अग्निने सुख  
दिया ।

या ओषधयो या नद्यो यानि क्षेत्राणि या वना ।  
सारत्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षकः  
( १४।२।७ )— औषधियाँ, नदियाँ, क्षेत्र और जो  
वन हैं, वे सब पति के लिये प्रजावाली तुझे राक्षसों से  
सुरक्षित रखें ।

यस्मिन्वीरो न रिभ्यति, अन्येषां विन्दते वसु  
( १४।२।८ )— वीर पुत्रका नाश नहीं होता और  
अन्यो की अपेक्षा अधिक धन मिलता है ।

स्योनास्ते अस्मै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुष्ण  
मानम् ( १४।२।९ )— इस वधु के लिये सब पदार्थ  
सुखदायी हो, कोई क्षीया जानेवाले इस रक्का नाश  
न करे ।

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदग्नि दम्पती ।  
सुगेन दुर्गममार्ता अप द्रान्वयरातयः ( १४।२।  
११ )— जो शत्रु समीप प्राप्त होने से इस दम्पती को  
न जाने, ये वधुवर सुख से दुर्गम प्रसंगों के पार जाय,  
और इनसे शत्रु दूर हों ।

संकाशयामि वहतु ब्रह्मणा गृहैरघोरिण वक्षुषामि-  
त्रियेण ( १४।२।१२ )— मैं पुकारकर कहता हूँ कि  
वधु के देह को शत्रुपक्ष मित्रकी रक्षित देखें ।

पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता  
तत्कृणोतु ( १४।२।१२ )— जो कुछ अनेक रंग-  
रूपवाला यहाँ इसमें बधा है वह पति के लिये सुख-  
कर हो ऐसा सविता करे ।

शिवा नारीयमस्तमागन् ( १४।२।१३ )— यह कल्याणी  
नारी अपने घर की जा रही है ।

प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु— प्रजापति प्रजा से इसको  
वर्धवे ।

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन्, तस्यां नरो वपत  
वीजमस्याम् । सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो  
विभ्रतो दुग्धं वृषभस्य रेतः ॥ ( १४।२।१४ )—  
यह नारी आत्मन्वत्से युक्त, प्रजा उत्पन्न करनेवाली  
है, इसमें पुरुष बीज बोधे, वह जाप के लिये सत्तान  
अवने गर्भाशय से उत्पन्न करे, दूध और गीर्वाण  
पुरुषका रेत धारण करे ।

अघोरस्वधुरपतिप्री स्योना शम्भा सुशोभा सुयमा  
गृहेभ्यः । वीरचूदैवृकामा सं त्वयेधिपीमहि  
सुमनस्यमाना । ( १४।२।१७ )— प्रेमपूर्ण दृष्टि-  
वाली, पति का घात न करनेवाली, सुख देनेवाली,  
सुन्दर, सेवा उत्तम करनेवाली, धार्मिक लिये सुख-  
दायक, वीर पुत्र उत्पन्न करनेवाली, पति को भाई  
रहे ऐसी इच्छावाली, उत्तम मनवाली ऐसी स्त्री से  
हम संपन्न हों ।

अदेवृषी अपतिप्रीदैधि शिवा पशुभ्यः सुयमा  
सुवर्चाः । प्रजावती वीरचूदैवृकामा स्योने-  
ममशि गार्हपत्यं स्वर्प्य । ( १४।२।१८ )— देवका  
नाश न करनेवाली, पति का घात न करनेवाली,  
पशुओं का दिन करनेवाली, उत्तम नियम से चलने-  
वाली, तेजस्विनी, सत्तानवाली, वीर पुत्र उत्पन्न  
करनेवाली, घर में देवर रहे ऐसी इच्छावाली, कल्याण  
करनेवाली तू अग्नि की पूजा घर में कर ।

उत्तिष्ठ, इतः किमिच्छन्तीदमागाः, अहं त्वेडे  
अभिभूः स्वाद् गृहात् ( १४।२।१९ )— हे दुर्गति ।  
तू यहाँ से उठ, यहाँ क्या चाहती है, यहाँ क्यों आ  
गई है । मैं तेरा परामर्श करूँगी, अपने घर से तुझे  
दूर करूँगी ।

शून्ययी निर्जिते याजगन्धोत्तिष्ठारते प्र पत मेह  
रस्याः— हे हृगति ! तू इस घरको शून्य करना  
चाहती है, पक्षांसे ठह, दूर जा, यहाँ न रहमाण हो ।

देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा ( १४।२।२५ )— अग्नि देव  
सब राक्षसोंको मारता है ।

इह प्रजां जनय पत्ये असौ सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त  
पत्यः— यहाँ सवान उत्पन्न कर, हम एगिके छिये  
यह श्रेष्ठ पुत्र बने ।

सुमगली प्रतरणी गृहाणा सुश्रीरा पत्ये श्वशुराय  
श्वभू । स्योना श्वश्वे प्र गृहान् विशमान्  
( १४।२।२६ )— उत्तम माल कामनावाली, पौँछा  
हुय दूर करनेवाली, पतिकी सेवा उत्तम करनेवाली,  
श्वशुरके छिये सुख देनेवाली, सानसे छिये हितकर  
ऐसी अपने घरमें प्रविष्ट हो ।

स्योना भव इन्द्रशूरस्य स्योना पत्ये गृहेश्वर्यः ।  
स्योनास्य सवैरूपे निशे स्योना पुण्यायान् भव  
( १४।२।२७ )— श्वशुरके छिये, पति और घरके  
कोनोंके छिये, सब प्रजाके छिये सुखकर हो और  
इतका भोग करनेवाली हो ।

सुमगलीरिय घर्मासि समेत वदयत । सोमाग्य  
मस्य देवा दाम्नीयैर्यिपरेतन । ( १४।२।२८ )  
— यह वच उत्तम कदवाण करनेवाली है, भागो  
और हमें देखो, हमको सौभाग्य देकर दुर्भाग्यको  
दूर करते हुए वापस आओ ।

या दुर्दार्द्रो घृतयो याक्षेह जरतीरपि । घर्षो न्यस्यै  
न दक्षामास्य विपरेतन । ( १४।२।२९ )— जो  
दुष्ट हृदयवाली तथा दृढ़ चिन्ता है, मैं इस वपुषी  
निराशरी होनेका भागीवाँद दूँ और अपने घरको जीव ।

भा राट नन्य मुमनस्यमानट प्रजां जनय पत्ये अरुम  
( १४।२।३१ )— बिनापर यह, उत्तम मनवाली  
हम एगिके छिये सवान उत्पन्न कर ।

गृप्ये नारि विरयकपा मदित्या प्रजापती पत्या नं  
भंपेह ( १४।२।३२ )— हे स्त्री ! तू हम मर्यादे  
पूर्वप्रणालि समाक मनुष्योंके अनेक रक्कड़की श्राव  
होकर भगवान् उत्पन्न करके एगिके साथ कामरने रह ।

मयं इव योषामघिरोहयैनां प्रजां कृषवाथामिह  
पुप्यते रयिम् ( १४।२।३३ )— मरुंके समान  
स्त्रीके साथ रह, प्रजा उत्पन्न कर, और यहाँ धनको  
बढाओ ।

प्रजां कृषवाथामिह मोदमानौ दीर्घ वामायुः सविता  
कृणोतु ( १४।२।३४ )— यहाँ प्रजा उत्पन्न करके  
आनन्दसे रहो, आप दोनोंकी आयु सविता देव लंबी  
करे ।

अदुर्मगली पतिलोकमा विदोमं दां नो भव द्विपदे  
वा चतुष्पदे ( १४।२।३५ )— दुष्ट भाव छोड़कर  
एगिके घरमें प्रवेश कर, द्विपाद और चतुष्पादके छिये  
कदवाण करनेवाली हो ।

स्योनाघोनेरधि बुधमानौ हसामुदे महसा मोद-  
मानौ । सुगु सुपुत्रो सुगृहो तराथो जीयो  
उपसो विभातोः ( १४।२।३६ )— हासविनोद  
करनेवाले, सुखदायी स्थानसे बढनेवाले, उत्तम  
इन्द्रियों और नीरोंसे युक्त उत्तम शालवर्षोंवाले,  
उत्तम घरवाले जोपुत्र ये दो जीव प्रकाशमान  
उप कालके समान प्रकाशते रहें ।

मा पय रिपामः ( १४।२।३७ )— हमारा नाश न हो ।  
उशतोः कन्यला इमाः पितृलोकात् पनि यतीः ।  
अथ दीक्षामसृक्षतः । ( १४।२।३८ )— विवाहके  
घरसे पतिक घर जानेवाली ये कन्याएँ सदिशब्दा धारण  
करें, दक्षतासे रहें ।

इय नार्युप घृते पूत्यानि मायपस्तिका । दीर्घायुरस्तु  
मे पति जीवाति शरदः शतम् ( १४।२।३९ )  
— यह स्त्री धानका हवन करनेसे हुई यह कहती  
है, कि मेरा पति दीर्घायु हो और सौ वर्ष जीव ।

अमयाकेय द्रुपती । प्रजयैती स्वस्तका विभ्यमापुष्यं  
दनुताम् ( १४।२।४० )— अमयाक पक्षीके ओढ़के  
समान ये द्रुपती, ये उत्तम घरवाले प्रजाके साथ  
एवं आयु प्राप्त करें ।

अमूम यक्षियाः शुदाः प्रण नार्युप तारिपत्  
( १४।२।४१ )— हम पूरय और शुद्ध बने और  
हमारी आयु दीर्घ हो ।

अंगादंगाद् वयमस्या अप यक्षं नि दध्मसि  
( १४।१।९ )— इसके अंग-अंगसे हम रोग दूर  
करते हैं ।

अमोऽहमसि सा त्वं सामाहमसि ऋपत्यं, धीरहं  
पृथिवी त्वं । ताविह सं भवाय प्रजामा जन-  
यावहं । ( १४।१।१० )— मैं प्राण हूँ तू शक्ति  
है, गान मैं हूँ और ऋचा तू है, धु मैं हूँ पृथिवी  
तू है, यहाँ हम इच्छे रहें और प्रजा उत्पन्न करें ।

प्र घुषस्व सुयुधा घुष्यमाना दीर्घायुत्वाय शतशार-  
दाय ( १४।१।१० )— उत्तम ज्ञान प्राप्त करके  
घरमें जागती रह, सौ वर्षकी दीर्घायुके लिये पाल  
कर ।

शृद्धान् गच्छ गृहपती यथासौ दीर्घैत आयुः सविता  
कृणोतु— घरमें जा, घरकी स्वामिनी होकर रह,  
सविता वेरी आयु दीर्घ करे ।

### व्रात्य

सोऽवर्धत, स महानभवत्स महादेवोऽभवत्  
( १५।१।१ )— वह बढ़ गया, वह बड़ा हो गया,  
वह महादेव हुआ ।

स देवानामीशां पर्यत् स ईशानोऽभवत् ( १५।१।५ )  
— वह देवोंका अधिष्ठाता हुआ, वह ईश्वर हुआ ।

नीलैर्नैवाम्रियं आतृष्यं प्रोणोति, लोहितेन द्विपत्वं  
विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ( १५।१।८ )—  
नीलेसे वह अम्रिये टुकड़ों घेरता है और लोहितसे  
द्वेषीको बीजता है ऐसा ब्रह्मवादियोंका कहना है ।

### शत्रु दूर करना

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत  
शत्रून् ( १६।१।१ )— हे वज्रवीर मरुतो ! तुम  
भूमिको माता माननेवाले इन्द्रसे युक्त होकर शत्रु-  
ओंका नाश करो ।

सं ते राष्ट्रं अनफतु पयसा घृतेन ( १६।१।८ )—  
वैश राष्ट्र दूध और घीसे भरपूर हो ।

विशि राष्ट्रे जायति ( १६।१।९ )— प्रजामें तथा राष्ट्रमें  
जागते रहो ।

गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ( १६।१।१२ )— श्वे  
गोपालन और वीरपालनका सामर्थ्य दे ।

सर्वा अरातीरवक्रामनेहीदं राष्ट्रमकरः सूनुतावत्  
( १६।१।२० )— सब शत्रुओंपर भाक्रमण कर और  
इस राष्ट्रको आनन्दपूर्ण कर ।

तया चाजान् विश्वरूपां जयेम, तया विश्वा  
पुतना अभि प्याम ( १६।१।२२ )— अनेक प्रका-  
रके अन्न और सब जीतेंगे और हमसे सब सैन्योंका  
परामर्श करेंगे ।

तां रक्षन्ति कवयोऽप्रमादम् ( १६।१।२३ )— कवि  
प्रमाद न करते हुए उस शक्तिका रक्षण करते हैं ।

सप्तनानघरान् पादयस्मत् ( १६।१।२५ )— हमारे  
शत्रुओंको नीचे गिरा दो ।

दुष्कर्म्यं तस्मिन्मलं दुरितानि च मृज्महे  
( १६।१।५८ )— दुष्ट स्वप्न, दुष्ट कल्पना और  
पापोंको हम शुद्ध करते हैं ।

### सुहृद शरीर

सर्वांग एव सर्वपरः सर्वतनुः सं भवति य एवं वेद  
( १६।१।२२ )— सब अंगोंसे युक्त, सब पदोंसे  
युक्त, सब अवयवोंसे युक्त वह होता है जो यह ज्ञान  
आनता है ।

### दुःख दूर करना

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापम, शिवया तन्वोप  
स्पृशत त्वचं मे । मयि क्षत्रं घर्चं वा घत्त  
देवोः ( १६।१।२२-२३ )— हे जलदेवता ! शुभ  
रश्मिसे मुझे देखो, शुभ स्पर्शसे मेरी त्वचाको स्पृश  
को । मुझे तेज और क्षात्रवत् धारण करो ।

निर्दुर्मण्य ऊर्जा मधुमती वाक् ( १६।२।१ )—  
दुर्गति दूर हो, वाणी मीठी हो ।

मधुमती स्थ, मधुमती वाचमुदेयम् ( १६।२।२ )—  
मीठी वाणी हो, मीठी वाणी हम बोलें ।

सुश्रुतौ कर्णौ, भद्रश्रुतौ कर्णौ, भद्रं श्लोकं श्रूयासम्  
( १६।२।४ )— मेरे कान उत्तम ज्ञान सुनें, मेरे  
कान कल्याणवचन सुनें, कल्याणकारक वचन मैं  
सुनूँगा ।

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां, सीपणं चक्षुः,  
वज्रसं ज्योतिः ( १६।२।५ )— उत्तम श्रवण

शक्ति और दूसरे सुननेकी शक्ति मुझे न छोड़ें,  
गदगदके समान दृष्टि और बड़ा तेज मेरे पास रहे ।

मूर्धाहिं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् (१६।३।१)  
धर्नोऽहं दध स्यान् तथा समानोऽसि मे दध वन् ।

रजश्च मा घेनश्च मा हासिष्टां (१६।३।२) — तेज  
और कान्ति मुझे न छोड़े ।

मूर्धां च मा विघमा च मा हासिष्टाम् — दध स्यान्  
और विशेष धर्म मुझे न छोड़े ।

असंतापं मे हृदयं (१६।३।३) — मेरे हृदयको संताप  
न हो ।

प्राणायानी मा मा हासिष्टं, मा जने प्रमेपि (१६।३।४)  
— प्राण, अपान मुझ न छोड़े, मनुष्योंमें मैं घातक  
न बनूं ।

अजैष्माघासनामाघाभूमानागसो घये (१६।३।५) —  
आज हम विजय प्राप्त करेंगे, प्रातःपक्षी प्राप्त किया  
है, हम निष्याप हुए हैं ।

द्विपते तत्परा पद, क्षपते तत्परा पद (१०।६।६) —  
द्वेप करनेवालेकी दूर कर, गाड़ी देनेवालेकी दूर कर ।

यं द्विषो घघ नो द्वेष्टि तस्मा एनद् गमयामः  
(१६।६।७) — जिसका हम सब द्वेष करते हैं  
और जो हमारा द्वेष करता है, उसको भीचे  
पहुँचाते हैं ।

तंऽनुभि परा यदन्तु अरावान् दुर्णासः सद्गन्धाः  
कुम्भीका दूषिकाः पीयकान् (१६।६।८) —  
वे निषेधना, कष्ट, आपत्तिवा, रोग, शोच, विपत्तिवाकी  
दूर के जोय ।

तेननं विष्प्रास्यभूत्येनं विष्पामि निर्भूत्येनं विष्पामि,  
पराभूत्येनं विष्पामि प्रातरेनं विष्पामि तमसरेनं  
विष्पामि (१६।६।९) — हमने हम पायाका बध  
करना है । दुर्गति, शान्ति और रोगसे शत्रुको  
बोधना है । वरामयने और अश्वकारसे शत्रुको  
बोधित करना है ।

जितस्मात् १ इन्द्रिग्राममात् क्षत्रग्रामात् (कैतुशोऽवमात्  
प्रक्षामात् २ मरुग्रामात्, यशोऽवमात् ३ पद्मयोऽ  
वमात् ४ प्रजा अग्रमात् ५ योग अग्रमात् ६  
(१६।६।१०) — हमने विजय, कष्ट, शत्रु, तेज,

ज्ञान, आरमतेज, यश, पशु, प्रजा बीर हों । यह सब  
हमें प्राप्त हों ।

स प्राह्याः पाशान्मा मोधि (१६।६।११) — वह शत्रु  
रोगके पाशोंसे न छूटे ।

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुनिं वेष्टयामि, इदमेन  
मघरांश्च पादयामि (१६।६।१२) — इसके तेज,  
बल, प्राण, आयुको मैं घेरता हूँ । इस शत्रुको नीचे  
गिराता हूँ ।

यत्तुमान् भूयासं वसु मयि धेहि (१६।६।१३) — मैं  
धनवान् होऊँ, धन मेरे पास रख ।

### अभ्युदय

विपासहिं सहमानं वासदानं सहैयासं । सहमानं  
सहोजितं स्वजितं गोजितं संघनाजितं । ईदये  
नाम ह इन्द्रमायुमान् भूयासम् । (१०।१।१)  
— सामर्षवान्, बलवान्, विजयी शत्रुको दबाने-  
वाले, शक्तिमान्, दिग्विजयी, स्वामर्षसे जीतने-  
वाले, भूमिको जीतनेवाले, धन जीतनेवाले प्रशंस-  
नीय शत्रु इन्द्रकी हम भक्ति करते हैं, मैं दीर्घायु  
बनूं ।

प्रियो देवानां भूयासं (१०।१।२) — देवोंकी मैं प्रिय  
बनूं ।

प्रियः प्रजानां भूयासं (१०।१।३) — मैं प्रजानोंको  
प्रिय बनूं ।

प्रियाः पशूनां भूयासं (१०।१।४) — मैं पशुओंको  
प्रिय बनूं ।

प्रियाः समानानां भूयासं (१०।१।५) — मैं समानोंको  
प्रिय बनूं ।

द्विपंश्च मये रूपयतु, मा च्याहं द्विपते रघं (१०।१।६)  
— शत्रुओंको मेरे द्विपके द्विपे पतने करे, परंतु मैं  
कभी शत्रुके अधीन न बनूं ।

शुषायां मा धेहि (१०।१।७) — भूमतमें मुझे रख ।

त नो गृह, शुभतो ते स्याम (१०।१।८) — वह तु  
हमें आनेदेने रख, तेरी उन्नत संमतिमें हम रहें ।

रथमिन्द्रासि विभ्यजिष्व सयंयित् (१०।१।९) —  
हे इन्द्र । तू विजयी जीतनेवाला और सबको ज्ञानने-  
वाला है ।

सपरानां मह्यं रन्धयन् ( १०।१।२४ )— मेरे लिये शत्रुमोंका नाश कर ।

अरदष्टिः कृतवीर्यो विद्यायाः सहस्रायुः सुकृत-  
श्चर्ये ( १०।१।२७ )— बुद्ध अवस्थातक वीर्य-  
वान् होकर विविध कर्मोंको करता हुआ सहस्रायु  
होकर विचरंगा ।

### सरस्वती

सरस्वतीं देयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।  
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वतीं दाशुपे  
घायं दात् ( १०।१।२९ )— देव बननेकी इच्छा  
करनेवाले सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, यज्ञ शुरू  
होनेपर सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, उत्तम कार्य  
करनेवाली सरस्वतीकी प्रार्थना करते हैं, सरस्वती-  
विद्या—धन देगी है ।

अनमीया इष आ घेहस्ते ( १०।१।३२ )— बीरोग  
अच्छ हमें दे ।

सहस्रार्धमिदो अत्र भांगरायस्पोयं यजमानाय घेहि  
( १०।१।३३ )— हजारों प्रकारका अन्नभाग और  
धनके साथ पुष्टि यजमानको दे ।

### पितृमेध

असुं य इयुरवृका कृतज्ञास्ते नोऽयन्तु पितरो हवेयु  
( १०।१।३४ )— जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंने  
प्राणको प्राप्त किया है । अर्थात् जो प्राणकारी पितर  
हैं वे सत्य यज्ञको जाननेवाले पितर बुलानेपर हमारी  
रक्षा करें ।

इदं पितृभ्यो नमो अस्तु अद्य ये पूर्वाहो अपरास्त  
इयुः ( १०।१।३६ )— जो पूर्व और मायुजिक  
पितर हैं उनके लिये नमन करते हैं ।

मा हिंसिष्ट पितरः केन चिप्रो यद्वा आगः पुरुषता  
कराम ( १०।१।५२ )— हमने मनुष्य होनेसे जो  
पाप किया हो उसके लिये, हे पितरों ! हमारी  
हिंसा न करो ।

इदं नमः प्राप्तिभ्यः पूर्वजैभ्यः पूर्वैभ्यः पाथिकृद्भ्यः  
( १०।२।२ )— मार्ग करनेवाले प्राचीन पूर्वज  
ऋषियोंको यह नमन करता हूँ ।

स नो जीवेयथा यमेहीर्घायुः प्र जीवसे ( १०।२।३ )—  
यह यम हमें इस जीवित लोगोंमें जीनेके लिये दीर्घ  
आयु देवे ।

ये शुध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः । ये  
या सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात्  
( १०।२।१० )— जो शूर युद्धमें लड़ते हैं, युद्धोंमें  
जो अपना शरीर त्यागते हैं, तथा जो हजारोंका दान  
करते हैं उनके पास तू जा ।

स्योनास्मै भव पृथिव्यनुक्षरा निवेशनी । यच्छासै  
शर्म सप्रथाः ( १०।२।१९ )— हे पृथिवी ! इसके  
लिये सुख देनेवाली हो, कांटोंसे रहित, रहनेके लिये  
स्थान देनेवाली हो और इसे विस्तृत स्थान और  
सुख दे ।

ये निष्ठाता ये परोता ये दग्धा ये चोद्धिताः । सर्वा  
स्तानश आ यह पितृन् हविषे अत्तवे  
( १०।२।३४ )— जो गाँधे गये, जो बढ़ाये, जो  
जलाये, जो ऊपर हवामें रखे, उन सब पितरोंको हवि  
स्थानके लिये, हे अग्नि ! ले लानो ।

उदन्वतीं चौरघमा, पिलुमतीति मध्यमा । तृतीया ह  
प्रचौरिति यस्यां पितर आसते ( १०।२।४८ )—  
जठवाला शुलोक सबसे नीचे है, मक्षत्र जिसमें है  
वह मध्य स्थानमें है, प्रयु नामक तीसरा शुलोक है  
जिसमें पितर रहते हैं ।

इमौ युनग्निं ते यद्वा अनुनीताय घोढये । ताभ्यां  
यमस्य सादन् समितीश्चाव गच्छतात्  
( १०।२।५६ )— भाग जिसका गया है उसको ले जानेके  
लिये मैं दोबल ( गाड़ीको ) जोड़ता हूँ । उन दोनोंसे  
यमके घर जाते हैं, उनके साथ मंचली भी जाय ।

यो ममार प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयाय प्रथमो लोक-  
मेतम् । वैषम्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं  
हविषा सपर्यत । ( १०।३।१३ )— जो मानवोंमें  
प्रथम मरा, जो इस लोकमें प्रथम गया, उस वैष-  
म्वत यमराजको, जो जनोंका संगमन करता है,  
उसको हवि अर्पण कर ।

कस्यै भृजाना अति यन्ति रिप्तिं, मायुदंधानाः प्रतरं  
नयीयः । आप्यायमानाः प्रजया धनेनाप

स्याम सुरभयो गृहेषु (१८।१।१०)— ज्ञानसे पवित्र होकर नवीन आयु धारण करके रात्रिको दूर करते हैं। प्रजा और धनसे बढ़ते हुए हम घरोंमें सुगंधियुक्त बने।

वि श्लोक पति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृ-  
तास एतत् (१८।१।३९)— जैसा विद्वान् धर्म-  
मार्गसे जाता है वैसा मेरा श्लोक सीधा तुम्हारे पास पहुँचता है। यह सब अमर देव सुने।

रयिं घत्त दाशुपे मर्त्याय (१८।१।४३)— दानी  
मनुष्यके लिये घन दो।

पुत्रेभ्यः पितरः तस्य वसः प्र यच्छत तं इह ऊर्जे  
दधात (१८।१।४३)— हे पितरो ! पुत्रोंके लिये  
उसका धन दो, वे वहाँ अन्न धारण करें।

रयिं च नः सर्वयोरं दधात (१८।१।४४)— सब  
वीर पुत्रोंके साथ हमें धन दो।

ते गृहासो घृतश्रुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः  
सन्ववन् (१८।१।५१)— वे घर सुलदायी, बीसे  
मेरे सर्वदा हमके लिये शरण जाने योग्य हों।

इमे घीरा यहयो भवन्तु भोमदश्ववग्मयस्तु पुष्टम्  
(१८।१।६१)— यहाँ ये वीर पुत्र बहुत हों, घोड़ों  
और घोड़ोंसे युक्त मेरे अन्दर पुष्टि हो।

परैतु मृत्युरमृतं न देतुं (१८।१।६२)— मृत्यु दूर हो,  
अमरत्व हमारे पास आवे।

आ रोह्य दिवसुत्तमामृपयो माविभीतन (१८।१।६४)  
— हे ऋषिभो ! उत्तम शुक्रोंमें चढो, भयभीत न  
होओ।

मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्स-  
वशु (१८।१।६७)— यह मर्त्य मनुष्य, अमरत्व  
प्राप्त करता है, उसके लिये बांधवोंसे युक्त घर करो।

पर्णो राजापिधानं चरुणा ऊर्जो बलं सह ओजो न  
आगन्। आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय  
शतशारदाय (१८।१।५३)— यह राजा पर्ण-  
चरुपर रखनेका दक्कन है। यह तेज, बल, ओजके  
साथ हमारे पास आगया है, यह जीवोंको आयु  
देता है, सौ वर्षोंकी दीर्घायु करता है।

साक्षाः स्वर्गे पितरो मादयध्वम् (१८।१।६७)— अपने  
सब अंगोंके साथ पितर स्वर्गमें जानन्द प्राप्त करें।

जीवेम शरदं शतानि त्वया राजन् गुपिता रक्षमाणाः  
(१८।१।७०)— हम सौ वर्ष जीके, हे राजन्।  
तेरे द्वारा सुरक्षित होंगे।

इस तरह ये सुमापित वसुधै विभागमें हैं। पाठक हनका  
योग्य उपयोग करके अपना लाभ प्राप्त करें।

ॐ

# अथर्ववेद

का

सुबोध मंथन ।

एकादश काण्डम् ।

लेखक

पं० श्रियाल दामोदर सानवलकर,  
साहित्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीताङ्गण  
भाष्यज्ञ-स्वाध्यायमंडल, 'मान्दवीधम' पारटी, ( जि. तूरत )

तृतीय बार

प्रवर २००६, अंक १८७१, अग १९५०

# ब्रह्मचर्यसे मृत्युको दूर करो ।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।  
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥  
ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपासत ।  
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥

(अथर्व० ११।५।१४,—१९)

“ ब्रह्मचर्यरूप तपसे राजा राष्ट्र की रक्षा करता है, ब्रह्मचर्यसे ही आचार्य ब्रह्मचारीको प्राप्त करता है, ब्रह्मचर्यरूप तपसे ही देवोंने मृत्युको दूर किया, और ब्रह्मचर्यसे ही इन्द्रने देवोंमें तेज भर दिया । ”





# अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

## एकादश काण्ड ।

यह शारद्वो काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय विभागका चौथा काण्ड है। इसके अनुवाक, सूक्त, मंत्र और दशति इस प्रकार हैं।

अनुवाक	सूक्त	दशति+मंत्र	मंत्रसंख्या
१	१	३+७	३७
२	२	२+११	३१
	३	(१ पर्याय)	५६
	४	२+६	२६
३	५	२+६	२६
	६	१+१३	२३
४	७	२+७	२७
	८	२+१४	३४
५	९	२+६	२६
	१०	२+७	२७
५	१०		११३ कुल मंत्रसंख्या

अब इस काण्डके सूक्तोंके ऋषि देवता और छन्द देगिये—

### ऋषि—देवता—छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
१	३७	महा	मन्नीदना	श्रिष्टुप्, अनुष्टुप्गर्भाभूरिकर्त्तः २, ५ श्रुती—गर्भावि- राट्, ३ अतुल्यदा काश्रमर्मा जगती, ४, १५—१६ मुरिक्, ६ उर्णिगृ, ८ शिराद् गायत्री; ९ गायरातित्रागमर्मा जगती १० शिराद् पुरोतित्रगती शिराद् जगती; ११ जगती; १७, २१, २४, २६ शिराद् जगती, १८ अतित्रगतीगर्मा पराति- त्रागती शिराद् जगती; २० अतित्र गतगर्मा पराशकृत्, अतु- ल्यदा मुरिजगती; २९, ३१ मुरिक्; २७ अतित्रागमर्मा जगती; ३५ अनुष्टुप् श्रुत्तमनी—जगती; ३६ पुरोशिराद् मन्नीदना; ३७ शिराद् जगती ।

५	२६	प्रज्ञा	प्रज्ञाचारी	त्रिष्टुभ्; १ पुरोतिजागतविराड्गर्भा, २ पंचपदा बृहतीगर्भा विराट् वाक्वरी; ६ वाक्वरगर्भा चतुष्पदा जगती ७ विराट्गर्भा; ८ पुरोतिजागता विराट् जगती ९ बृहती गर्भा; १० श्रुक् ११ जगती, १२ वाक्वरगर्भा चतु- ष्पदा विष्टुतिजगती, १३ जगती; १५ पुरस्ताज्ज्योतिः; १४ १६-२२ अनुष्टुभ्; २३ पुरो बार्हतातिजागतगर्भा; २५ एकावसाना आर्वा उष्णिह्; २६ मध्ये ज्योतिह्णिगर्भा ।
६	२३	शान्तातिः	चन्द्रमाः मन्त्रोक्ताः	अनुष्टुभ्; २३ बृहतीगर्भा ।
७	२७	अथर्वी	अथर्वामं जगिष्ठः	अनुष्टुभ्; ६ पुरोतिजागर्हतपरा; २१ स्वराट्; २२ निराट् पद्या बृहती ।
८	३४	कौशपयिः	अथर्वामं, मन्त्रुः	अनुष्टुभ्; ३३ पद्यापंक्ति ।
९	२६	काकायनः	श्रुतिः	अनुष्टुभ्; १ सप्तपदाविराट् वाक्वरी ज्यवसाना; ३ पुरोतिज ४ ज्यवसाना उष्णिह्बृहतीगर्भा परात्रिष्टुप् चतुष्पदाति जगती; ५ ११, १४, २३, २६ पद्यापंक्ति; १५, २२, २४, २५ ज्यव- साना सप्तपदा वाक्वरी; १६ ज्यव० पंचपदा विराट् उपरिष्ठा- ज्ज्योतिष्टुष्टुभ्; १७ त्रिपदा गायत्री ।
१०	२७	सुखीगाः	निवाधिः	अनुष्टुभ्; १ विराट् पद्या बृहती, २ ज्यव० चतु० त्रिष्टु० गर्भातिजगती, ३ विराट्गर्भापंक्ति; ४ विराट्; ८ विराट् त्रिष्टुभ्; ९ पुरोविराट् पुरस्तज्ज्योतिष्टुष्टुभ्; १६ पंच पदा० पद्यापंक्ति; १३ चतुष्पदा जगती; १६ ज्यव० चतुष्पदा० कुटुम्बल्ल- घुप् त्रिष्टुभ्गर्भा वाक्वरी; १७ पद्यापंक्ति; २१ त्रिपदा गायत्री; २२ विराट् पुरस्ताज्ज्योतिः, २५ प्रमाद पंक्ति ।

इस प्रकार इस दस श्लोकों के कवि देवता और छन्द हैं । इनमें अथर्वाम और सुद्ध ये दो 'चरन' विशेष महत्त्व हैं, अथर्वाम ठीक इसका अधिक मनन करें । इस काण्डके पद्यात् के बारहवें काण्डमें मानुभूमिका वैदिक राष्ट्रगत है और इस प्रकारके काण्डमें उल्लेख पूर्व सुद्धही पैदाया वर्णन है । इस ताह यह कथा मनोऽन्यत्र विषय इस काण्डमें है, इसका योग अन्वय पत्रक ५७ ।



# अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

## एकादशं काण्डम्

ब्रह्मौदन-सूक्त

( १ )

अग्ने जायुस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पंचति पुत्रकामा ।

सप्तश्रुपयो भूतकृतस्ते त्वां मन्थन्तु प्रजया सहैह

॥ १ ॥

कृणुत धूमं धूपणः सखायोऽद्वैद्याविता वाचुमच्छ ।

अयमग्निः पृतनापाद् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून्

॥ २ ॥

अग्नेऽर्जनिष्ठा महते वीर्यापि ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातेवेदः ।

सप्तश्रुपयो भूतकृतस्ते त्वांजीजनक्षस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ

॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! ( जायुस्व ) प्रकट हो । ( इयं आविता अदितिः ) यह आर्यवा करनेवाली अन्नोदना माता ( पुत्र-कामा ब्रह्मौदनं पंचति ) पुत्रोंकी वृद्धा करती हुई ज्ञान बढ़ानेवाला अन्न पकाये दे । ( भूतकृतः सप्त श्रुपया ) भूतोंकी बनायेवाली सप्त श्रुति ( इह एवा प्रजया सह मन्थन्तु ) यहाँ तुम प्रजाके साथ मथन करें ॥ १ ॥

हे ( धूपणः सखायः ) बलवान् मित्रो ! ( धूमं कृणुत ) धूम करो, अग्निको प्रदीप्त करो । ( अद्वैत्याविता वाचुमच्छ ) अद्वैत न करनेवालोंकी रक्षा करनेवाली आधा बोली । ( अयं अग्निः पृतनापाद् सुवीरः ) यह अग्नि दानु-सेनाको पराजित करनेवाला उत्तम वीर है । [ येन देवाः दस्यून् असहन्त ] जिससे देवोंने दानुजोंको पराजित किया ॥ २ ॥

हे अग्नि! हे जातेवेदः ! [ सहाते वीर्याय अजनिताः ] बड़ा पराक्रम करनेके लिये प्रकट हुआ है । [ मह-मोक्षाय पक्ष-वे ] और ज्ञानवर्धक अन्न पकानेके लिये प्रकट हुआ है । ( भूतकृतः सप्त श्रुपयः एवा मन्त्रीजनयः ) भूतोंकी वृद्धि करने-वाले सप्त श्रुतिधर्मे तुम प्रकट किया है । ( अयं सर्ववीरं रयिं नि यच्छ ) इस माताके लिये सब प्रकारका धन प्रदान कर ॥ ३ ॥

आचार्य—माता उत्तम वीर पुत्र होनेके लिये ईश्वरकी आर्यता करे, उसके लिये सुवीर्य अन्न पकाये। अग्निके निर्माण करने-वाले सप्त श्रुति उस माताके पुत्रजा प्रदान करें ॥ १ ॥

बल प्राप्त कर, वृद्ध कर, ईश करनेवाली माता न बोल, मन्त्रही बन, मित्रधर्म समर्पितकी पुत्रपुत्र होगा, जो दानुजोंको दूर भगा देगा ॥ २ ॥

तू बड़ा पराक्रम करनेके लिये उत्पन्न हुआ है । उत्तम अन्न द्वारा पचवृद्ध करके शत्रु नष्ट करे। शत्रुओंको भेद कर पचानेकी वीर आर्यी कुछ दानुज अन्न प्रदान करे और उत्तम धन देवे ॥ ३ ॥

समिद्धो अग्रे समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वंक्षः ।

तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं साकृमर्घं रोहयेमम् ॥ ४ ॥

त्रेधा भागो निहितो यः पुरा यो देवानां पितॄणां मर्त्यानाम् ।

अंशान् जानीध्वं वि भजामि तान् यो यो देवानां स इमां पारयाति ॥ ५ ॥

अग्रे सहैस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युज्ज द्विपतः सपत्नान् ।

इयं मात्रा मीयमाना मिता च सज्जातांस्तं बलिहृतः कृणोत ॥ ६ ॥

साकं संजातैः पर्यसा सहैष्यदुद्वैजैनां महते वीर्यायि ।

ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना । अर्थ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

अर्थ—हे भग्न ! ( समिधा समिद्धः सं हव्यस्व ) समिधासे प्रदीप्त हुआ तू प्रदीप्त हो । [ याज्ञियान् देवान् इह आवक्षः ] पशुके योग्य देवोंको तू यही ले था । हे जातवेद ! ( तेभ्यः हविः श्रपयन् ) उनके लिये हवि पकाता हुआ, [ हम उत्तमं साकं मर्घोदय ] इसको उत्तम रसगोप्य चडा ॥ ४ ॥

[ यः पुरा त्रेधा भागः निहितः ] जो पहले तीन प्रकारका भाग रहा है, वह ( देवानां पितॄणां मर्त्यानां ) देवोंका पितरोंका और मर्त्योंका है । [ अर्धं यः तान् विभजामि ] मैं तुम्हें उन भागोंको पृथक् पृथक् अर्पण करता हूँ । [ अंशान् जानीध्वं ] उन भागोंको समझो । ( यः देवानां सः इमां पारयाति ) जो देवोंका भाग है वह इस धीकी आवपलसे पार करेगा ॥ ५ ॥

हे भग्न ! ( सहैस्वान् अभिभूः इह अभि मसि ) तू बलवान् और शत्रुका पराजय करनेवाला है । भग्नः [ द्विपतः सपत्नान् मीयः न्युज्ज ] द्वेष करनेवाले शत्रुओंको नीचे दबा । [ इयं मात्रा मीयमाना मिता च ] यह परिमाण मात्रा हुआ परिमित प्रमाणमें [ ते सज्जातान् बलिहृतः कृणोत ] तेरे सजातीय बीरोंको हस्त कर देनेवाला बनाये ॥ ६ ॥

[ पर्यसा सजातैः साकं पृथि ] तू पृथके साथ सजातियोंके साथ बध । [ महते वीर्याय यज्ञो उत्तु वृज ] बड़े पराजयके लिये स्वघो सेवार कर । [ ऊर्ध्वं नाकस्य विष्टपं अधि रोह ] ऊँचा शोक स्वर्गके ऊपर चढ । [ यं स्वर्गो लोकः इति वदन्ति ] जिसे स्वर्ग लोक कहते हैं ॥ ७ ॥

[ इयं मही पृथिवी देवी ] यह बही पृथ्वी देवता [ सुमनस्यमाना चर्म प्रति गृह्णातु ] शुभ विचारवाली शोक पर चमेरी फाल जपनी रखनेके लिये लेके । हमने [ अर्थ सुकृतस्य लोकं गच्छेम ] हम पुण्य लोकको प्राप्त हों ॥ ८ ॥

भाषार्थ—अग्नि प्रदीप्त कर, उनमें हविष्ठा हवन कर, इससे उत्तम रसगोप्य प्राप्त होगा ॥ ४ ॥

देव त्रिधा और मर्त्य इन तीनोंका भाग अर्पण होगा है । अन्तः उनको वह भाग अर्पण करना उचित है ॥ ५ ॥

अन्तः और शत्रुका पराजय करनेवाला हो, शत्रुओंको दूर भगा दे और मे सुप्त कर देगे ऐसा पराजय कर ॥ ६ ॥

वही पराजय करनेके लिये सेवार हो, पृथ्वी पर अन्तःपृथ्वीके साथ युद्ध हो । इस प्रकार पराजय करने, स्वर्गके योग्य ॥ ७ ॥

वह पृथ्वी वही देवी 'ई', अग्नि भग्नको हव्यवर्धनपुत्र करने, उसकी रखनेके लिये सेवार वह द्विपते पुण्यप्राप्तका लोक प्राप्त हो ॥ ८ ॥

एतौ प्रावाणौ सयुजा युद्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यन्तु यजमानाय साधु ।

अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्धरन्त्युदह

॥ ९ ॥

गृहाण प्रावाणौ सकृदौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञियां यज्ञमंगु ।

त्रयो वरा यत्तमास्त्वं वृणोषि तास्ते समृद्धीरिह राधयामि

॥ १० ॥ (१)

इयं ते धीतिरिदमु ते जनित्रं गृह्णातु त्वामदितिः शूरपुत्रा ।

परां पुनीहि य इमां पृतन्यग्रेस्यै रुयि सर्ववीरं नि यच्छ

॥ ११ ॥

उपक्षमे द्रुवये सीदता युयं वि विंध्यध्वं यज्ञियासस्तुयैः ।

श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विपुतर्सादयामि

॥ १२ ॥

अर्थ- [ एतौ सयुजौ प्रावाणौ ] ये साथ रहनेवाले दो पत्थर [ चर्मणि युद्धि ] चर्मपर रखी । [ यजमानाय ] श्रेष्ठ  
निर्मिच्छि ] यजमानके लिये मोमरसको कुठकर निकालो । [ ये इमां पृतन्यवः ] जो इस खोपर हमला करते हैं उनको  
[ निजहि ] नाश कर । [ अवघ्नती उद्धरती प्रजा ऊर्ध्वं उद्] कुठती हुई और भरणपोषण करती हुई प्रजाका उद्धार कर  
॥ ९ ॥

हे वीर [ सकृदौ प्रावाणौ हस्ते गृहाण ] उच्च कर्म करनेवाले ये दो पत्थर हाथमें ले । [ यज्ञियाः देवाः ] ते वर  
आओ । [ यय देव तेरे यज्ञमें आज्ञा दें । [ यत्तमास्त्वं वृणोषे ] जो तुम मांगता है वे [ त्रयो वराः ] तीन वर हैं ।  
[ ताः समृद्धीः ] ते हृद राधयामि ] उन संपत्तियोंको तेरे लिये भिन्न करता हूँ ॥ १० ॥

(इयं ते धीतिः) यह तुम्हारा ध्यानदायक है, ओ [ इद उ व जनित्रं ] यह तेरा जन्मस्थान है । [ शूरपुत्रा अदितिः ] वीर  
गृह्णातु ] शूर पुत्रोंवाली अदीन माता तुझे स्वीकार करे । [ ये दृगन्ववः इमां परां पुनीहि ] जो सेनावाले शत्रु हथ छोड़ो  
कष्ट देते हैं उनको दूर कर और [ अस्मै सर्ववीरं रुयि नि यच्छ ] इसको सर्व वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ११ ॥

[ युयं द्रुवये उपक्षमे सीदत ] तुम सब उत्तम जीवनके लिये बैठो । हे [ यज्ञियासः ] पात्रकी । आप [ तुयैः  
विविध्यध्वे ] तुमको द्रुव्य करे। हय [ समानान् सर्वान् श्रिया अति स्याम ] सब समान जनोसे धनसे अष्ट वनेगे । और  
मैं [ द्विपुतः अथः पदं आपादयामि ] शत्रुओंका स्थान नीचे करता हूँ ॥ १२ ॥

भावार्थ- ये सोमदा रथ निधत्तनेवाले पत्थर हैं । इनसे सोमका रथ निकालो । ओ सेना सेकर तुम्हारा नाश करना चाहते  
हैं उनका नाश कर और अपनी प्रजाका उद्धार कर ॥ ९ ॥

यज्ञके लिये जो सोरथ देर है उनको हथ यज्ञमें डुग । जिस विषयमें तुम्हारा प्रयत्न होगा उन वरोंको तुम प्राप्त होत  
और उषसे सप्रेष्ठ समृद्धि मिलेगी ॥ १० ॥

यह जन्मभूमि है, वही यज्ञमें सोमदान होता है, ओ शत्रु तुमपर हमला करते हैं उनको परास्त कर और सर्व वीरोंसे युक्त  
धन तुम्हें प्राप्त हो ॥ ११ ॥

ये सबको दूर कर देते हैं ये सब शत्रुओंको मगा दो, शत्रुत्वियोंको धनधनसे युक्त करो और शत्रुओंको  
दबा दो ॥ १२ ॥

परेहि नारि पुनरेहि क्षिप्रगृणां त्वा गोष्ठोऽव्यरुक्षद् भराय ।  
 तासां गृहीताद् यत्तुमा यज्ञिया असन् विभाज्य धीरीवरा जहीतात् ॥ १३ ॥  
 एमा अंगुयोपितः शुम्भमाना उचिष्ठ नारि त्वसै रमस्य ।  
 सुपत्नी पत्यो प्रजया प्रजावत्या त्वाऽऽगन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ १४ ॥  
 ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिपशिष्टाप आ भरैताः ।  
 अयं यज्ञो गातुविज्ञाथवित् प्रजाविदुग्रः पंगुविद् वीरुविद् चो अस्तु ॥ १५ ॥  
 अग्ने चरुर्ष्वज्ञियुस्त्वाऽव्यरुक्षच्छुचिस्तर्पिष्ठस्तर्पता तपैनम् ।  
 आपुर्याद् देवा अभिसङ्गत्य भागमिमं तर्पिष्ठा ऋतुर्भिस्तपन्तु ॥ १६ ॥

अर्थ—हे नारि ! [परा इहि] दूर आ और [पुनः क्षिप्रं एहि] फिर क्षिप्र आ जा। [अयां गोष्ठः भराय त्वा अग्नि अव-  
 रूक्षत्] जलोका स्थान भरनेके लिये तेरे लिये तैयार है । [तासां यत्तुमाः यज्ञियाः असन्] उनमें जो पूजनीय किंवा यज्ञके  
 लिये योग्य जल हैं, उनका [गृहीताद्] स्वीकार कर और [धीरी इतराः विभाज्य जहीतात्] बुद्धिसे इतरांकी वृथ्वा  
 गयेके छोड़ दे ॥ १३ ॥

[इमाः योपिताः शुम्भमानाः आ अंगुः] ये जियों सुशोभित होकर यहाँ आगई हैं । हे नारि ! [उचिष्ठ त्वसं  
 रमस्य] उठ और बलसे प्राप्त हो । तू [पत्यो सुपत्नी] उत्तम भतिके साथ उत्तम पत्नी हो, [प्रजया प्रजावती] उत्तम  
 सेवामसे प्रजादात्री हो, [यज्ञः त्वा आ अगन्] यज्ञ के पास पहुँचा है, [कुम्भं प्रति गृभाय] यज्ञका प्रदण कर ॥ १४ ॥

हे [आपः] जलो ! [यः वः ऊर्जः भागः पुरा निहितः] जो आपका बलवान् भयन पहिले रखा गया है,  
 [ऋषिपशिष्टाः एता आभर] ऋषियोंकी आज्ञासे इसे भरकर ले आ । [अयं यज्ञः वः] यह यज्ञ आपके लिये [गातु-  
 विद् गायवित् प्रजाविद्] मार्गदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, प्रजाको देनेवाला, [उग्रः पंगुविद् वीरुविद् अस्तु] उत्तम देनेवाला,  
 पशु देनेवाला, और वीर यदनेवाला होवे ॥ १५ ॥

हे अग्ने ! [यज्ञियाः शुचि तर्पिष्ठः चरुः त्वा अग्नि कारुक्षत्] यज्ञके योग्य, पवित्र और तपःसामर्थ्यसे युक्त अन्न  
 गुसे प्राप्त हुआ है, अतः तू [पत्नं तपसा तप] इसकी अपनी उष्णतासे तपा । [आयेंयाः देवाः तर्पिष्ठाः] ऋषियों और  
 देवोंसे उत्पन्न तपसाक्षर्य [इमं भागं अभिसङ्गत्य ऋतुभिः तपन्तु] इस अन्नभागके पास आकर ऋतुओंके अनुकूल  
 तपावे ॥ १६ ॥

मावार्थ—स्त्री अपने चरुकेपास सब और घूँसकर देख । जलछा स्थान जहाँ हो बहसि जल भर लावे । जो जल उत्तम  
 हो वही से लावे । अन्त्य जल दूर रहे ॥ १३ ॥

प्रिया मुँस वस्त्राभूषणोंसे सुशोभन रहे । जिया उत्तम पाते प्राप्त करें, सुगुन उत्पन्न करें, धरका सौंदर्य बढ़ावे और उत्तम  
 प्रत्ये घरे भर रहे ॥ १४ ॥

जो जल उत्तम बल बढनेवाला हो वही लाया जावे । चरु पर्ये यजन होता रहे । यही मागदर्शक, ऐश्वर्यवर्धक, सुप्रजाकी  
 उत्पति करनेवाला, बल बढनेवाला, पशुओंकी पृष्टि करनेवाला, वीरभाव बढानेवाला है ॥ १५ ॥

यह अन्न पवित्र निर्मल और तेजस्विना बढनेवाला है, यह अन्न देवताओंकी अर्पण किया जावे और इससे संगठित होकर  
 अपना तपःप्रमाण बढ़ावे ॥ १६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सपन्तु शुभ्राः ।  
अर्धः प्रजा बहुलान् पशून् नः पुत्तौदुनस्य सुकृतमित् लोकम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्याश्वस्तण्डुला यज्ञिया इमे ।  
अपः प्र विंशत् प्रति गृह्णातु वक्षारिमं पुक्त्वा सुकृतमित् लोकम् ॥ १८ ॥

उरुः प्रथस्व महता मंहिसा सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ।  
पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्यै अस्मि ॥ १९ ॥

सहस्रपृष्ठः श्रुतघारी अर्धितो ब्रह्मोदुनो देवयानः स्वर्गः ।  
अमुंस्तु आ दधामि प्रजया रेपयैनान् बलिहाराय मृदुतान्मर्षमेव ॥ २० ॥ ( २ )

उदेदि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नृदस्वरक्षः प्रतुरं धेक्षन्ताम् ।  
श्रिया संमानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विपुत्रपादयामि ॥ २१ ॥

अर्थ—[इमाः शुद्धाः पूताः यज्ञियाः योषितः] ये शुद्ध पवित्र और पुनीत जिनमें [शुभ्राः भार्या वधु अवयवन्तु] और स्वच्छ जल इत जलके पास आजाये । [ नः प्रजा बहुलान् पशून् अर्धः ] हमें संतान और डतम पशु देवें । [ पुत्तौदुनस्य पक्ता सुकृता लोके पशु ] ब्रह्मावकाशके पुण्यलोकको प्राप्त हो ॥ १७ ॥

[ ब्रह्मणा शुद्धाः उत घृतेन पूताः ] शानसे पवित्र और जलसे वा घीसे पुनीत हुए [ सोमस्य ब्रह्मणः वण्डुलाः ] ये सोमके भाग जैसे आकाश हैं । हे [ अपः ] जलो । [ विंशत् ] तुम अन्दर अग्नि हो जाओ, [ वः पशुः प्रति गृह्णातु ] तुम्हें यह अन्न प्राप्त हो, [ इमं पक्त्वा सुकृता लोके पशु ] इसको पकाकर पुण्यवाँ लोकको जाओ ॥ १८ ॥

[ उरुः सहता मंहिसा प्रपृष्ठः ] बड़ा होकर घड़े सहस्रके साथ फँक जा । [ सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके ] हजारों घोड़ावाला होकर पुण्य लोकमें गिराज । [ पितामहाः पितरः प्रजाः उपजाहः ] पितामह, पिता, संतान और उनकी सगर्भ देता कम चले । [ अहं पक्ता पञ्चदशः अस्मि ] मैं पकानेवाला पञ्चदशों हों ॥ १९ ॥

( सहस्रपृष्ठः श्रुतघाराः बलिहाराः ) हजारों घोड़ावाला सैकड़ों घाँसेवाला अक्षय [ ब्रह्मोदुनः देवयानः स्वर्गः ] शान ब्रह्मदेवाले ब्रह्मसे प्राप्त होनेवाला देवयान स्वर्ग है । [ अमुंस्तु आदधामि ] उसे जिये इनको मैं धारण करता हूँ । [ प्रजया बलिहाराय रेपय ] इनको संतानके साथ कर देनेके लिये सिद्ध कर । ये सब [मर्षं पशु वृक्षान्] मुझे ही सुला करे ॥ २० ॥

[ वेदिं उदेदि ] वेदिको उठानी, [ प्रजा वर्धयै ] इसकी प्रजासे बढ़ति कर । [ प्रतुरं धेक्षन्ताम् ] शत्रुओंको भगा दो, [ पुनां मर्षं वेदि ] इनको विशेष रीतिसे धारण कर । [ समानान् सर्वान् श्रिया मति स्याम ] सब समानोसे धनसे अधिक हम हों । [ द्विपुत्रः अपः पदं पादयामि ] शत्रुओंको दोष गिराता हूँ ॥ २१ ॥

भावार्थ—ये जिनमें शुद्ध और पवित्र संतानके लिये योग्य है, ये सगम अन्न तैला करे । हमें डतम संतान और बहुत पशु प्राप्त हो । उतम अन्नका प्रदाय करनेवाला पुण्यलोक प्राप्त हो ॥ १७ ॥

यह चावल पवित्र और डतम है, जल उनेके साथ मिले । सब मिलकर पक्का जाये । सब लोग हमसे अनंद प्राप्ति करें ॥ १८ ॥  
बड़ा महापुरुष राजा प्राप्त कर और पुण्यलोकमें निराश्रय हो । पितामह, पिता पुत्र, पौत्र, प्रपौत्र आदि सबके अक्षय वंशका विचार होता रहे । हरएकको अपने पक्ष में संतानोंका ज्ञान हो और यह बड़े कि मैं जननिष्ठ पंथवा हूँ ॥ १९ ॥

यह अन्नकी रसने दे देन जलसे इस सबका धारण होना रहे । ये सब शत्रुकी हडि करे और उनकी मृत्युने अर्थोंका कर देनेवाली गति भवे ॥ २० ॥

पशु करो, प्रजाकी हडि करो, शत्रुओंको दूर भगाओ, शत्रुओंको धारण करो, सबके अक्षय करके उनकी भी आभित बन जाओ और शत्रुओंकी दवा हो ॥ २१ ॥



अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङ्गेनां देवताभिः सहैधि ।

॥ २२ ॥

मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज

ऋतेन त्वष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मोदुनस्य विहिता वेदिरग्रे ।

॥ २३ ॥

अमर्द्वां शुद्धाशुपं घेहि नारि तत्रौदुनं सादय देवानाम्

अदिनेहस्तां स्रुचैमेतां द्वितीयां सप्तऋपयो भूतकृतो यामकृण्वन् ।

॥ २४ ॥

सा गात्राणि विदुष्योदुनस्य दर्विवेद्यामध्यैन चिनोतु

श्रुतं त्वा हव्यमुपं सीदन्तु देवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद ।

॥ २५ ॥

सोमैः पृतो जठरं सीद ब्रह्मणामोपेयास्ते मा रिपन् प्राशितारः

सोमं राजन्संज्ञानमा वर्षेभ्यः सुब्राह्मण यतमे त्वोपसीदान् ।

॥ २६ ॥

ऋषीं गोपेयास्तानोऽधि जातान् ब्रह्मोदुने सुदरा जोहवीमि

अर्थ—[एनी पशुभिः सह अभि आवर्तस्व] इन छोको पशुओंके साथ प्राप्त हो। और [एनी देवताभिः सह प्रत्यङ्गुधि] इस छोको देवताओंके साथ प्रत्यङ्ग मिलो। [त्वा शपथः मा प्रापत्] तुझे शपथ न मिले। [माभिचारः सा] वध न प्राप्त हो। [स्वे क्षेत्रे अनमीवा विराज] अपनी भूमिमें नारोग होकर प्रकाशित हो ॥ २२ ॥

[ऋतेन त्वष्टा] सत्यसे बनाई, [मनसा हितै] मनसे रखी, [एषा मर्द्वा—ओदुनस्य वेदि] यह शान बढानेवाले अक्षरी वेदी [अमर्द्वां शुद्धाशुपं घेहि नारि] हे नारि ! [शुद्धां अक्षरी उपवेदि] शुद्ध भाँकोको ऊपर रख, और [तत्र—देवानां ओदुनं सादय] वहाँ देवोंका अन्न तैयार कर ॥ २३ ॥

[भूतकृताः सप्तऋपयः] भूतमात्रको बनानेवाले सात ऋषियोंने [अदिनेः हस्तां यां पृतौ द्वितीयां स्रुचं अकृण्वन्] अदितिमाताका दूसरा हाथ जैसा यह खमम बनाया है। [सा दर्विः ओदुनस्य गात्राणि विदुषी] यह कछड़ी अन्नके भाँकोको जानती हुई [एनं वेद्यां अर्धं चिनोतु] इसको वेदीके मध्यमें रखे ॥ २४ ॥

[त्वा श्रुतं हव्यं देवाः उप सीदन्तु] तैयार हुए अन्नके पात देव आ बैठे। [अग्ने निः सृप्य पुनः पुनान् प्रसीद] अग्निसे घटकर फिर इन देवोंको प्रसन्न कर। [सोमैः पृतः ब्रह्मणां जठरं सीद] सोमसे पवित्र होकर ज्ञानियोंके पेटमें आ, [तं प्राशितारः अर्पेयाः मा रिपन्] तेरा प्राशन करनेवाले ऋषिपुत्र दुःखी न हों ॥ २५ ॥

हे [सोम राजन्] राजा सोम ! [यतमे सुब्राह्मणः त्वा उपसीदन्] जो उत्तम ब्राह्मण तेरे पास आ बैठेगा, [एष्यः संज्ञानं अर्धद] इनको उत्तम ज्ञान दे। [तपसः माभिजातान् गोपेयान् ऋषीन्] तपसे उत्पन्न ऋषिपुत्र ऋषिजनोंको [ब्रह्मोदुने सुदरा जो हवीमि] शन बढानेवाले अन्नमें उत्तम बुझाने योग्योंको भी बुझाता हूँ ॥ २६ ॥

भावार्थ—दत्तन और गी आदि पशुओंके साथ रानीको सुरक्षित रखी, शपथ तुझें कष्ट न दे। वधसे तुझें दुःख न हो, अपनी मातृभूमिमें नारोग होकर विराजते रहें ॥ २२ ॥

सत्यसे निर्मित, मनसे सुरक्षित, यह अन्नका दान है। यह अन्न शुद्ध पात्रमें रख और देवोंको अर्पण कर ॥ २३ ॥ जगत् बत नेशमि सप्त—ऋषियोंमें यह कछड़ी निर्माण की है। इस कछड़ीसे बारंबार अन्न लेकर वेदीपर रख ॥ २४ ॥ अन्न तैयार करके देवताओंको समर्पण कर, वसने में प्रवृत्त हों, घोरमेंके साथ अन्न ब्रह्मण खावें और खानेवाले पुष्ट हों ॥ २५ ॥ जो उत्तम ब्राह्मण हों, उनको भीम और अन्न दिया जावे। तप करनेवाले ऋषियोंका सत्कार उत्तम अन्नसे किया जावे ॥ २६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ।

यत्काम इदमभिपिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे

॥ २७ ॥

इदं मे ज्योतिरमृतं हिरण्यं एकं क्षेत्रात् कामदुघां म एषा ।

इदं धनं नि दधे ब्राह्मणेषु कृष्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः

॥ २८ ॥

अग्नौ तुषाना वर्ष जातवेदसि परः कम्बूक्षौ अपं मृदुद्वि दूरम् ।

एतं जुष्टुम गृह्राजस्य मागं दधुमं विश्वं निर्ऋतेर्माणधेयम्

॥ २९ ॥

श्राम्यंतः पर्वतो विद्धि मुन्वतः पन्थां स्वर्गमर्षि रोहयैनम् ।

येन रोहात् परमापद्य यद् वयं उत्तमं नाकं परमं व्योम

॥ ३० ॥ ( ३ )

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मुद्व्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान् ।

धृतेन गात्रानु सर्वा वि मुद्वि कृष्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः

॥ ३१ ॥

अर्थ— [ इमा शुद्धाः पूताः योषिताः योषिताः ] ये शुद्ध और पवित्र स्त्रियां यज्ञके योग्य हैं । इनको [ ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि ] ब्रह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग अर्पण करता हूँ । [ यत्कामः इदं मे इदं अभिपिञ्चामि ] जिस कामतासे मैं तुम देवताओंके उद्देश्यसे यह देता हूँ, [ मरुत्वान्त्स इन्द्रः मे इदं ददात् ] मरुतोंके साथ रहनेवाला यह इन्द्र मुझे यह देवे ॥ २७ ॥

[ इदं हिरण्यं मे क्षेत्रात् पर्वतं अमृतं ज्योतिः ] यह सुवर्ण मेरे क्षेत्रसे पका हुआ अमृत तेजही है । [ एषा मे कामदुघा ] यह मेरा इच्छाके अनुसार जुड़ी जानेवाली गौ है । [ ब्राह्मणेषु इदं धनं निदधे ] ब्राह्मणोंको यह धन देता हूँ [ यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृष्वे ] जो स्वर्गका मार्ग है उसे मैं पितरोंके लिये बनाता हूँ ॥ २८ ॥

[ जातवेदसि अग्नौ तुषान् आ वर्ष ] जातवेद अग्निसमें तुषोंको बाल, [ कम्बूक्षौ दूरं अपमृद्वि ] छिछकोंको दूर केंक दो, [ एतं गृह्राजस्य मागं दधुमं ] यह धेनु गृह्यके घरका भाग है ऐसा हम सुनते हैं । [ विश्वं निर्ऋतेर्माणधेयं विश्वं ] इससे विपरीत अयोग्यता भाग है ऐसा हम समझते हैं ॥ २९ ॥

[ अश्वतः पर्वतः मुन्वतः विद्धि ] पर्वतही, अश्व पकानेवाले और कोपयितार निकालनेवालोंको मू जान । [ एनं स्वर्गं पन्थां अपिरोहय ] इसको स्वर्गके मार्गपर चलाओ । यह [ येन वयं वयः आपद्य ] जिससे परम आप्तको प्राप्त होकर [ उत्तमं नाकं परमं व्योम रोहय ] उत्तम स्वर्गके परम आकाशपर जा पहुँचे ॥ ३० ॥

हे अश्वर्यु ! [ बभ्रेः पतद् मुखं विमुद्वि ] इस बर्तनका यह मुख स्वच्छ कर । [ प्रविद्वान् जात्र्याय लोकं कृणुहि ] जानता हुआ लोक के लिये स्थान बना । [ धृतेन सर्वा गात्रा विमुद्वि ] धीसे सब गात्र स्वच्छ कर । [ यः स्वर्गः पन्थां पितृषु कृष्वे ] जो स्वर्गका मार्ग है उसको मैं पितरोंके लिये करता हूँ ॥ ३१ ॥

भाषाये—शुद्ध पवित्र संमलयोग्य स्त्रियोंको ब्रह्मणोंके हाथोंमें अलग अलग दिया जाय । अर्थात् एक एक ब्रह्मण एक एक स्त्रीका पालनकरे । जो जिसकी इच्छा हो वह उतनी पूर्ण हो ॥ २७ ॥

यह सुवर्ण है और यह अमृत पका हुआ अमृत है । यह मैं ब्राह्मणोंको देता हूँ । यह स्वर्गवादी मार्ग है ॥ २८ ॥ अभिप्रेत तुषोंको रख और छिछकोंको दूर रेंक । देव तत्तम मान्य घरका भाग है, उतको सुरक्षित रख । अन्यथा विनाशका घमय प्राप्त होगा ॥ २९ ॥

परिधम करो, अश्व पकाओ, और छिछोंका रख निघनो, इससे स्वर्गमुक्त विवेका, आप्त रहेगी और धेनु अनंद प्राप्त होगी ३० बर्तन स्वच्छ करके बधमें धी भरदर रखो । धीसे सब गात्र स्वच्छ होकर उत्तम सुख प्राप्त होगा ॥ ३१ ॥

बभ्रे रक्षः समद्रमा वपैभ्योऽन्नाक्षणा य मे त्वोपसीदन् ।

पुरीणिणः प्रथमानाः पुरस्तादाप्येवास्ते मा रिपन् प्राशितारः

॥ ३२ ॥

आप्येषु नि दध ओदन त्वा नानाप्येवाणामप्यस्त्यत्र ।

अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु एकम्

॥ ३३ ॥

यज्ञं दुहानं सदमित् प्रवीनं पुमानं धेनुं सदनं रयीणाम् ।

॥ ३४ ॥

प्रजामृतत्वमृत दीर्घमायुं रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम

वृषभोऽसि स्वर्गं श्रुतीनाप्येवान् गच्छ । सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम्

॥ ३५ ॥

समाचीनुच्चातुसंप्रयोक्ष्ये पथः कल्पय देवयानान् ।

एतैः सुकृतेरतुं गच्छेम यत् नार्के तितृण्वत्तमार्धं सुसरश्मौ

॥ ३६ ॥

येन देवा ज्योतिषा घामुदायन् ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोके

तेन गोम सुकृतस्य लोके स्वरिरोहन्तो अभि नार्कमुत्तमम्

॥ ३७ ॥ (४)

अर्थ—हे [ बभ्रे ] वरुण ! [ यमं ] ब्राह्मणः । त्वा उपसीदन् [ जो ब्राह्मण तेरे पास आकर बैठते हैं ] [ पश्यः स-मर्द रक्षः ] आवण । इस सबसे घमस्वाले राक्षसोंको भी दूर कर । [ ते प्राशितारः पुरीणिणः ] तेरेमैसे प्राशन करनेवाले अन्नवाले [ प्रथमानाः ] आप्येषाः । पुरस्तात् मा रिपन् [ यदाश्नी ऋषिपुत्र कभी न नष्ट हों ] ॥ ३२ ॥

हे [ ओदन अन्न ] ! [ आप्येषु त्वा निदधे ] ऋषिपुत्रोंमें सुदृढ रखता हूँ । [ अनप्येवाणां अभि अन्न न अस्ति ] को ऋषिसंज्ञान नहीं है उनका भाग नहीं है । [ मे गोप्ता अग्निः ] मेरी रक्षा करनेवाला अग्नि है । [ सर्वे मरुतः विश्वे देवाः ] य पर्व्व अभि रक्षन्तु । सब मरुत और सब देव इस परिवर्णकी रक्षा करें ॥ ३३ ॥

( यज्ञं दुहानं प्रवीनं सदनं हव् ) यज्ञ करनेवाला सदा समृद्धः ( रयीणां सदनं धेनुं ) संपत्तिका घर ऐसी गौ है । ( त्वा पुमानं ) तुम पुरुषके पास ( पोषे प्रजामृतत्वं त्वं दीर्घमायुः ) इतिषोक्ते प्रजाकी पुष्टि और उनकी दीर्घ आयु ( रायः च उप सदेम ) और धनलेकर आते हैं ॥ ३४ ॥

( वृषभः असि ) तू बलवान् है, तू ( स्वर्गः अभि ) सुखदायक है । ( आप्येवान् अग्नीन् गच्छ ) ऋषिपुत्रों और ऋषियोंके पास जा, ( सुकृतां लोके सीद ) पुण्यकार्योंके स्थानमें रह । ( तत्र नौ संस्कृतं ) यह हम दोनोंका सुसंस्कृत कर्म फल रहे ॥ ३५ ॥

हे आने ! ( सं आ निगच्छ ) संगठन कर, ( अनुसंमयाहि ) अनुकूलताके साथ मिलकर जा । ( देवयानान् पथः कल्पय ) देवोंके ज्ञानेयोंके मार्गोंको संवार कर । ( एतैः सुकृतेः सप्तर्षीनां लोके विहस्यं ) इन पुण्यकर्मोंके साथ साथ किरणोंवाले स्वर्गस्थानमें रहनेवाले ( यत् नार्कमुत्तमम् ) यत्ने अनुकूल होकर आयेगें ॥ ३६ ॥

[ येन ज्योतिषा देवाः घामुदायन् ] जिम ज्योतिषे देव स्वर्गको पहुँचे, ( ब्रह्मौदनं पक्त्वा सुकृतस्य लोके ) ज्ञान ब्रह्मनिष्ठा अन्न पकाकर पुण्यलोकको प्राप्त हुए [ तेन हवः नारोहन्तः ] उससे स्वर्गपर चढ़ते हुए ( उत्तमं नार्कं सुकृतस्य लोके ) उत्तम सुखमय पुण्यलोकको ( गोम ) प्राप्त हो ॥ ३७ ॥

भाष्य— जो ब्राह्मण अवेग उनसे अनुमोक्ष दूर भगा दे । उन ब्राह्मणोंको अन्न समर्पण करो, जिससे वे पुष्ट हों ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणोंको अन्न दे, वहाँ दृष्टिोंका काम नहीं है । इससे सबकी रक्षा होगी ॥ ३३ ॥

गौ सब संरक्षितोंका घर है, इससे प्रजारी पुष्टि और दीर्घायु करनी चाहिये ॥ ३४ ॥

वृषभान् वनो, सौं प्राप्त करो, ऋषियोंके पीछे छोड़ो, पुण्यलोक प्राप्त करो और अपने आपको सुसंस्कृत करो ॥ ३५ ॥

संगठन करो, अनुकूल बनो, देवमार्गसे आओ, सुकृत करो, स्वर्गलोकके स्थानमें रहो, पशु करो, वही सुकृतमय मार्ग है ।

उत्तम हवः पुण्यलोक प्राप्त करो, स्वर्गपर चढ़ो, इसीसे उत्तम प्राप्त होगा ॥ ३७ ॥

## ज्ञान बढ़ानेवाला अन्न ।

प्रश्नका अर्थ ज्ञान है और ओदनका अर्थ अन्न है। विशेषतः चावलोंका पका अन्न ओदन है। मनुष्यकी ज्ञानशक्तिकी वृद्धि करनेवाला यह अन्न है, इस कारण इसको प्रसिद्धि दान कहते हैं। चावलोंके साथ उत्तम जल, उत्तम दूध, घीमादि औषधियोंका रस मिश्रित करके यह अन्न बनता है। बुद्धिबर्धक औषधियोंके रस इसमें संमिश्रित होते हैं, इससे ज्ञानकी वृद्धि और दीर्घ आयुकी प्राप्ति होकर पुष्टिभी मिलती है। गृहस्थियोंके लिये यह अन्न अत्यंत उत्तम है, क्योंकि इससे दीर्घकी वृद्धि होनेके कारण गृहस्थसुखकी प्राप्ति करनेवाला यह अन्न है।

गृहस्थियोंकी सुप्रजा निर्माण करनेका मुख्य कार्य होता है। उसके लिये स्त्रियोंकी "पुत्रकामा अदिति" का आदर्श पालन करना चाहिये। सुपुत्र उत्पन्न करनेकी इच्छा धारण करके तदनुसार दीनताके सब भावें इष्टाना चाहिये। परम और अपने राज्यमें असीन होकर विराजित रहना चाहिये। अदितिका आदर्श संपूर्ण आर्य-स्त्रियोंके संमुख है। उसमें केवल सगुणोंकी ही कामना है। उनके कल्याणके लिये जो अन्न खाना चाहिये वही अन्न वह खाती है, वही अन्न पकाती है। अपने पुत्रोंके कल्याणके लिये ही वह सुयोग्य अन्न पकाती है। सुपुत्रोंके ज्ञानकी वृद्धि हो, उनकी बुद्धि विकसित हो पतृदर्य वह पशति परिग्रह करता है। वही आदर्श आर्य-स्त्रियोंके अपने सामने रखना चाहिये।

सात ऋषि इस संपूर्ण विषयकी रचना करते हैं, सात ऋषि आकाशमें हैं, उनमें सात तत्त्व प्रधान हैं, जिनके मेलसे यह जगत् बनता है। सात ऋषि प्राणादि तत्त्वोंके वाचक हैं जो यह विश्वके निर्माता सुप्रसिद्ध हैं। इनकी प्रशस्ततासे संतानकी उत्पत्ति और वृद्धि होती है। यह एक महत्त्वका विशान है। इन सात ऋषियोंका वर्णन इस सूक्तमें अनेक बार आ गया है। अतः इसकी श्रद्धा करके नियम करना चाहिये कि ये विषयकी रचना कैसे करते हैं।

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि यहके लिये अग्नि प्रदीप्त करो, रोहाक्षित मायन करो। यह वातमय है और दूधका दहनकर है। इन दोनों वस्तुओं से मानवोत्पत्ति उत्पत्ति होती है। शीघ्र मचरना

हो बड़ा भारी वस्तु है। इन सब प्रकारके यंत्रोंसे सुपुत्र ऐसे पनेंगे कि जो [पुत्रनापाद सुवीरः] समस्त विजय करनेवाले और उत्तम वीर हों। जो अपने शत्रुओंको परास्त कर सकते हैं।

### शत्रुओंको परास्त करना ।

अपने शत्रुओंको परास्त करना एक महत्त्वपूर्ण कार्य इस संसारमें है। जिसके बिना मनुष्य क्षणमात्र जीवित रह नहीं सकता। मनुष्यके शत्रु आध्यात्मिक, बौद्धिक, मानसिक, शारीरिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्षेत्रोंमें होते हैं। उन सबको परास्त करनेसे ही मनुष्य उन्नत हो सकता है। इसलिये वेद यहाँ शत्रुनेदंलवण इतना जोर दे रहा है। पाठक इसका विचार करें, और शत्रुको परास्त करनेका महत्त्व जानें।

तीसरे मंत्रमें कहा है (महते वीर्याय अन्नमिष्टाः) मनुष्य बड़ा पुरुषार्थ करनेके लिये यहाँ उत्पन्न हुआ है। पुरुषार्थ करने अपने सब शत्रुओंको दूर भगा देवे। और (सर्वदीर्ग रयि) सब प्रकारके वीरताके भावोंसे युक्त धन प्राप्त करे। यहाँ वेदका महत्त्व इस बातमें है कि वह केवल धन कमानेकी नहीं कहता, परंतु धनके साथ वीरताको प्राप्त करनेकी भी कहता है, क्योंकि वीरताके बिना धनकी रक्षा नहीं हो सकती। अतः जिस धनके साथ वीरता न होगी वह धन स्थिर नहीं रह सकता।

आगे चतुर्थ मंत्रमें कहते हैं कि यहके योग्य देवोंको यज्ञमें पुजाओ। यहाँ सहायकोंकी और सम्मान्योंकी सुलाने तथा अपने पास करनेकी सूचना मिलती है। जो सहायता करनेवाले नहीं हैं उनको सुलना नहीं है। अथ (सायतो देवान् मिषेय। अवरं ३। १५। ५) लानका न.च करनेसे देवोंका मिषेय करनेको कहा है। इससे भी सहायकोंकी पास करने और विरोधियोंको दूर करनेकी सूचना मिलती है।

पंचम मंत्रमें कहा है कि अग्निमें देवों, दिव्यों और मानवोंका माग होना है। वह मिश्रका जड़को देना मनुष्यका कर्तव्य है। एकका माग दूसरेको सेना उपस्थित नहीं, वही अग्नि और अन्नमें है। मनुष्य अपने अन्नमें से इनका माग करने देवे और पशुओं के माग करने में भी योग्य करे।

यह मंत्रका कथन है कि मनुष्य (सदस्य नृ) बलवान् बने, सशक्त बने [ अग्निम् ] शत्रुका पराभव करनेवाला बने । और [ पराजितान् नीचः शृणुन् ] शत्रुओंको नीचे दबाकर रखे, उनको उठने न दे, इतनाही नहीं परंतु उनको [ बलिहृत ] करभार देनेवाले बन वे । अर्थात् जो पहिले शत्रुता करते थे वे अब इसको कर देनेवाले बनें । इतनी शक्ति इसको अपने अंदर बढ़ानी चाहिये।

सप्तम मंत्रमें [ महते वीर्येव ] बड़ा पराक्रम करनेके लिये फिर सूचना दी है । तृतीय मंत्रमें यह बात कही थी, वह फिर यहां दुहराई है । क्योंकि मानवी जीवनमें पराक्रमका स्थान बड़ा ही ऊँचा है । [ पयसा ] दूध पीकर बलवान् बनना और बड़ा पराक्रम करना इष्टको उचित है । इसी तरह शारीरिकका मार्ग सुलभ जाता है ।

अग्रे के तीन मंत्रोंमें पशुओंद्वारा सोमस निशालनेका वर्णन है । यह सोमस सब प्रकारमें मनुष्योंका स्वास्थ्य बढ़ानेवाला और उपाय बढानेवाला है । यज्ञाग्निमें इसका हवन करके सब लोग इसका पान करते हैं । यह गन्ध दिया जाता है, दूधके साथ मिलाकर पीते हैं और मुन आटेके माष मिकाकर भी खाते हैं । अनेक रीतिये इस रसका सेवन किया जा सकता है ।

करी करे, क्षिणो मिलकर पानी भरनेके लिये जाय । उत्तम जल घरमें लाना यह ( वः ऊर्ध्वः भागः ) बल देनेवाला भाग है । संतान, पशु आदिके लिये इसकी बड़ी आवश्यकता होती है । यह उपदेश मंत्र १६ तक किया है ।

सोलहवें मंत्रमें ( चहः ) चावल आदि अन्न पकानेकी आयोजना करकेका उत्तम उपदेश है । ( शत्रुभिः ) शत्रुओंके अनुकूल अन्न तैयार किया जाय । जिसका सेवन करके सब आशुके लोग सुख और दीर्घायु बनें ।

सत्रहवें मंत्रमें कहा है कि क्षियां शुद्ध, पवित्र और सुंदर वस्त्र आभूषणादिसे युक्त होकर घरमें पानी लावे और अन्न पकायें, यज्ञमें उपस्थित हों, सबका आतिथ्यसत्कार करें, पशुओं और संतानोंको तृप्त करें और घरकी सब सुव्यवस्था करें । किछी तरह ग्यूनता रहने न दे ।

अठारहवें मंत्रमें चावल, घी, सोमस आदिसे उत्तम पक्का अन्न तैयार करनेका उपदेश है । उसमें अन्न पकाना क्षियोंका मुख्य रहस्य ही है ।

अभीसर्वे मंत्रमें कहा है कि विनामद, विना, पुत्र आदि १५ पुत्र्यौक्त अविरहित वंश हो । घरमें ऐसा स्नानपान रहना चाहिये और ऐसी सुव्यवस्था होनी चाहिये कि, वंश बीचमें न टूटे, पुत्र्य दीर्घायु हों और अटूट वंश हो । पंद्रह पुरुषौक्त कमसे कम वंश अटूट रहे, आगे जितना रहेगा उतना अच्छा ही है, परंतु कमसे कम इतना तो अवश्य रहे । यह सब मन्त्रोदन अर्थात् ज्ञान बढ़ानेवाले अन्न होना है । मन्त्रोदनका अर्थ आग्निबर्चस अन्न है । इससे पुत्र्य वधनी दे और मुदिच्छे यह लोधा मार्ग दीक्षता है । इनमे मनुष्य ( रघुः पुरुरवः ) राजाओंको बुर कर सकता है और अपने आपकी जान बड़ा सकता है ।

पाठकोंको उचित है कि वे अपने इन सब क्षेत्रोंमें स्वास्थ्य रखने का यत्न करें ।

तेईसवें मंत्रमें चावल आदि अन्न तैयार होनेपर उसको पोरालेनी विधि बताया है । चौबीसवें मंत्रमें कंठछोटी उपयोग करके चावलको ठीक करनेको कहा है । पचासवें मंत्रमें कहा है कि—

### प्राशितारः मां रिपन् ।

अन्न भक्षण करनेवाले कुश या रोगी न हों । अन्न ऐसा उत्तम हो कि जिससे खानेवाले मुष्ट होकर पुष्ट होते जाय । पकोने-वालेका यही चातुर्य है कि खानेवाले उसे आनंदसे खाए और हजम करें और पुष्ट हों । ऐसी अन्न पकाकर उत्तम विद्वानोंको खिलाया चाहिये । यह सूचना २६ वें मंत्रमें कही है ।

### विवाह ।

सत्ताईसवें मंत्रमें विवाहका विषय संक्षेपसे कहा है । शिवा (शुद्धाः पूताः घोषिताः यज्ञियाः) शुद्ध, पवित्र और पूज्य हैं, यह वाक्य यहाँ बहुतही महत्त्व रखता है । श्रियाँकी निर्दा नहीं करनी चाहिये, उनकी घर घरमें पूजा होनी चाहिये । जहाँ इनकी पूजा होगी वहाँ पवित्रता रहेगी और पवित्रतासे उच्चता सत्य होगी । यह बर्तन स्त्रियाँका बर्तन समाजमें कैसा उच्च है, इसका स्पष्ट निर्देश कर रहा है ।

इन स्त्रियाँका विवाह शानियोंके साथ करना चाहिये । (य-ह्णां हस्तेषु प्र शृङ्गसादयामि) शानियोंके हाथमें शृङ्गशृङ्ग एक एकके हाथमें, एक-एकछी देना योग्य है । एक पुत्र्य अनेक शिवा न करें, एकछी अनेक पुत्र्योंके साथ संरंघ न करे । एक स्त्री एकही पुत्र्यके साथ समान हो और एक पुत्र्य एकही स्त्रीके साथ आनन्दके साथ रहे । यह आदर्श गृहस्थाश्रमका वर्णन यहाँ अति संक्षेपके साथ किया है । इस मंत्रका 'शृङ्ग' शब्द बर्णमहत्त्व रखे है । इसी शब्दके कारण विवाहका नियम स्पष्ट हो जाता है ।

आगे अठ्ठाईसवें मंत्रमें गृहस्थाश्रममें 'कामधेनु' (काम-धुपा) रखनी चाहिये यह आदेश है । घर घरमें गौका पालन होना चाहिये । कामधेनु यह है कि जो हरका होनेके समय स्वदेती है । घरमें छोटे बालक, बूढ़ और रोगी रहें, उनका पालन इस गौके दूधसे होगा । इस गौपाठाका यह महत्त्व है ।

गृहस्थियोंको तीन बातोंका खयाल करना चाहिये । (उच्योतिः अमृतं हिरण्यं) तेजस्वी जीवन, अमरत्व और सुवर्ण । सुवर्ण अर्थात् सोनेका महत्त्व हरएक जानता है, गृहस्थीके हरएक व्यवहारमें इसका काम पड़ता है । सबही दैनिक और आर्थिकालिक व्यवहार घनसे साध्य होते हैं । अमृत नाम मोक्षदा है, यही अमरत्व है । सब जगत् मृत्युसे घेरा गया है । उस मृत्युके पाशको तोड़कर अमरत्व प्राप्त करना मनुष्यका जीवनोद्देश्य है । सब धर्म कर्म इसी उद्देश्यसे किये जाते हैं । इसी तरह तेजस्वी जीवन यही व्यतीत करना चाहिये । इसी तरह (स्वर्गः पन्थाः शृण्वे) स्वर्गाय मार्ग बनता है । स्वर्ग मार्गके ये तीन पदत्व हैं । घन यहाँके मुक्तके लिये चाहिये, तेजस्वी जीवन यहाँके सम्मानके लिये चाहिये और अमरपन पारमार्थिक जगतके लिये चाहिये । स्वर्गका यह स्वल्प यही पाठक दें ।

### गृहराज ।

उनतीसवें मंत्रमें 'गृहराजस्य भागं' गृहराजके कार्यभागका वर्णन है । गृहराज परका स्वामी है, अथवा घरोंमें जो धेनु घर है उसमें कौनसा कार्य होना चाहिये । सुधी और शिक्षितोंको अलग करके स्वच्छ चावलको अपने पास रखना चाहिये । यही नियम सर्व व्यवहारोंके करनेके समय ध्यानमें रखना चाहिये । छिलछोको दूताना और सारद्वयको अपने पास रखना चाहिये । पाठक जिस व्यवहारमें देखेंगे उस व्यवहारमें उत्तम शिक्षा यही पृथग्भाज नियम है । पठार्थमें भी देखिये श्रवणनको स्वीकारना चाहिये, कच्चे मंत्रोंको दूर दूताना चाहिये । एक भाग निर्मलिका अथवा नासका होता है और दूसरा उत्पलिका होता है । विनाश करनेवाले मानवों दूर दूर और उत्पलिके भागको अपने पास रखो, यही धीमा धादा नियम है । जो इसको पढ़ेंगे वे उत्तम होंगे इसमें संदेहही नहीं है ।

(धम्बतः पचतः सुवतः निद्रे) परिधम करनेवाले, पचनेवाले और रच निद्रास्नेवाले कीन हैं, इसको जानो । परिधम करनेवाली मानवोंकी उन्नति होती है, अन्तः परिधम करनेवाला स्वभाव मनुष्यको आनन्दना चाहिये, परिधम बनाना भी चाहिये । हाएकही परिधम अनाद्य उत्तम होती है, यहाँ प्राप्त करनी चाहिये, तथा रचमन करनेवाला बन करना चाहिये । बनानेमें श्रमभूत रच होना दे, उस श्रमभूत रचका भाग करना चाहिये और अरिष्ट श्रमरहित भागको पैक देना चाहिये । यह उद्देश्य

दृष्टिसे विज्ञेय है। स्वर्गपर चढ़नेके लिये ये तीन उपदेष्टा अव्यक्त महारथके हैं ।

(पूनेन गात्रानु सर्वा विमृष्टे) यीमे सब गात्रोंकी मालिषा करो। शरीरावयवोंकी सुमिश्रितके लिये पोकी मालिषा आवश्यक है। यीकी मालिषा पावोंके तमोपर करनेसे आन्ध्र उत्पन्न अवस्थामें रहते हैं, संक्षिप्तानोपर मालिषा करनेसे संक्षिप्त रोग नहीं होते, विरग मालिषा करनेसे मरिक्क कान्त रहता है और गरमी इतनी है, इसी तरह अन्योन्य अवयवोंपर मालिषा करनेसे अनेक स्थान होते हैं। इसके अतिरिक्त विविध औषधियोंसे भूतको मुक्त करनेसे पीक गुण बढ़ जाते हैं। जैसा माही पून बनानेमें जवकी मस्तकपर मालिषा सुप्तिहावक और गर्मी इतनाबारी होती है इसी तरह आमलक्यादिपूय तथा अन्योन्य पून वेदपत्रमें प्रयुक्त हैं। इनकी शरीरपर मालिषा बड़ी सामान्यक है। यह बात इच्छासे मंत्रमें बही है।

### पोषक अन्न ।

अन्न घर घामे पचाना चाहिये, यह पोषक अन्न होना चाहिये (प्रसिताः सा रिपन्) उम अन्नको कनेवाह कभीदुखी नहीं होने चाहिये, कभीरिक्त नहीं होने चाहिये, कभी क्षीण नहीं होने चाहिये। ऐसा अन्न पृथ्वीके चरमे पकाया जाने पर प्राप्त है।

जो अन्न परिपक्व किया हो वह (अर्धेयु निदधे) यदि प्रसन्नके अनुसर चरमेवालाके शिव मन्त्रित करना चाहिये। यदि (न अन्नं देवता) प्रसन्नकाको अर्धेयुओंको पुष्ट पचाने का काम है। प्रसन्नकाको अर्धेयु रक्षनेके लिये ही इसकाको प्रवक्त करना चाहिये।

### घर फैला हो ।

घर देवा हो दि वही (यज्ञं दुर्गां) घर। यह होने रों, घटका है।

(सदने रयीणां) ऐश्वर्योका स्थान हो, (प्रपीनं चरं) पुष्टि और समृद्धिका केन्द्र हो, (पाषैः प्रजाअमृतत्वं) अनेक पुष्टिके साधनेके साथ प्रजाअनोंकी अमृतत्व देनेवाला हो। यहां (चतुः) गौ होती हो और धनसंपत्तियोंके साथ [दीर्घ आयु] दीर्घायु लोग हों, घर ऐसा हो। घामे ये बतें रहें। घरमें धनकी कमी न हो, ऐश्वर्य की समृद्धि हो, गौमें कूप देनेवाला हो, हर एक दृष्टपुष्ट हो, सरकारसंगतिज्ञानात्मक यज्ञ होता रहे, सब लोग आनंदप्रसन्न रहें, कोई दुखी कष्ट न हो। यह उपदेष्टा मंत्रमें है।

३५ वे मंत्रमें [युष्मा अपि] तु बलवान् है, तु निर्वन् नहीं है, तु (स्वर्गः अस्ति) स्वर्गका अधिकारी है, तु मुख्य मन्त्र स्थानका अधिकारी है। अतः जिस मार्गसे आयेलोग गये और जिस मार्गसे आयेको सुखसे स्थान प्राप्त हुए उस मार्गसे तु जा। बही सुश्रुतियोंका लोक है, वहां जाकर रह, हमारी संरक्षितका बड़ी श्रेय है।

आगेके मंत्रमें कहते हैं कि (देवयानान् पचा कल्पय) देवोंके आनेजानेके मार्गोंको सुरक्षित कर, वे ही मार्ग तुम्हारे लिये आनेजानेके लिये हैं, (एतैः सुहृताः वर्षं अनुगच्छेम) इन पुष्टियोंके साथ हमको दृष्टकी ओर जाना चाहिये। सुश्रुत करते करते आगे चटना चाहिये। सुश्रुत करनेमें पीछे इटना उचित नहीं है। सदा एकमे ही अनुगमनाका मार्गदर्शक हो। अनुगमन चरमे पीछे न रहे।

आज जो स्वर्गमें देव हैं वे हमी मार्गसे तेजस्वी बने हैं। अतः अनुगमकी इसी यज्ञमार्गका अवलंबन करना चाहिये।

इस तरह अनेक प्रकारका उपदेष्टा इस सूत्रमें किया है, विष्टका मनन करनेसे पाठकोको सामान्य सुरक्षित रीतिसे पीछे

# रुद्र-देव ।

[ २ ]

[ श्रुतिः— अथर्वा । देवता-भव-शर्व-रुद्र ]

मवांशर्वौ मूढन् माऽभि यातुं भूतपती पशुपती नमो वाग् ।

प्रतिहितामार्यतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः

॥ १ ॥

शुनं क्रोष्टे मा शरीराणि कर्तृमलिकृन्म्यो गृध्रेभ्यो ये च कृष्णा अविष्पदः ।

मक्षिकास्ते पशुप । वयांसि ते विष्टे मा विदन्त

॥ २ ॥

क्रन्दाय ते प्राणाय चार्थं ते भव रोपयः । नमस्ते रुद्र कृष्णः सहस्राक्षार्यमर्य

॥ ३ ॥

पुरस्तात् ते नमः कृष्ण उत्तरादधरादुत । अभावाद् दिवस्पृन्तारिक्षाय ते नमः

॥ ४ ॥

सुखाय ते पशुपते यानि चक्षुषि ते भव । त्वच रूपाय सृष्टौ प्रतीचीनाय ते नमः

॥ ५ ॥

अङ्गैर्यस्त उदराय जिह्वाया आस्यापि ते । दृज्यो गुन्धाय ते नमः

॥ ६ ॥

अर्थ— हे [ भवांशर्वौ ] भव और शर्व । हे उत्तरादक और संहारक । आप दोनों [ मूढन् ] हम सबको मूढ़ा करें । [ माभि मियातं ] हमपर हमला न करें । आप दोनों [ भूतपती, पशुपती ] भूतोंके पालक और पशुओंके पालक हैं । [ वां नमः ] आप दोनोंको नमस्कार है । [ प्रतिहितां आर्यतां मा वि स्राष्टं ] पशुपर रखे और खींचे गये बाणको हमपर न छोड़ें, [ मा द्विपदः चतुष्पदः मा हिंसिष्टं ] हमारे द्विपद और चतुष्पादोंको हिला न करें ॥ १ ॥

जो [ कृष्णाः अविष्पदः ] काले और हिरण् कृष्ण हैं, उन र धूने कोष्टे ) कुत और मोरखोंके लिये तथा ( अविष्पदेभ्यः गृध्रेभ्यः ) कहर शब्द करनेवाले पक्षियोंके लिये ( शरीराणि मा कर्तं ) शरीरोंको मत कटो । हे [ पशुपते ] पशुओंके पालक ! [ ते मक्षिकाः ते वयांसि ] तेरी मक्षिकाएँ और कौवे ( विष्टे मा विदन्त ) खानेके लिये उन कटे शरीरोंको न प्राप्त करें, अर्थात् आप हमारे शरीरोंका इस तरह नाश न करें ॥ २ ॥

हे ( भव ) सबके संहारकर्ता देव ! [ ते क्रन्दाय प्राणाय ] तेरे संहारकरी प्रलोक लिये नमस्कार हो । [ ते याः रोपयः ] तेरे जो शास्त्रिणाय है, हे [ नमार्थं रुद्र ] भवह रक्षक ! [ सहस्राक्षाय ते नमः कृष्णः ] सहस्र बैरागके गुण देवके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ३ ॥

( ते पुरस्तात् उत्तरात् उध अधरात् नमः कृष्णः ) तुझे आगेसे उत्तरसे और नीचेसे नमस्कार करते हैं । [ नमीवर्गाय दिवः पारि जगत्प्राप्त्य ते नमः ] सब आर्य गुणाक और अन्तरिक्ष मोहकरी तेरे रूपके लिये नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

हे पशुपते ! हे भव ! ( ते गुन्धाय नमः ) तेरे मुखके लिये नमस्कार है । ( यानि ते चक्षुषि ) जो तेरी आंखें हैं, उनको नमस्कार है । तेरे ( त्वच रूपाय सृष्टौ प्रतीचीनाय नमः ) रक्षास्त्र, धनु और तीरुके लिये नमस्कार है ॥ ५ ॥

( ते अंगैर्यः उदराय जिह्वाय आस्यापि ते तेरे अंगों, उदर, जिह्वा और मुखके लिये नमस्कार है, ( ते दृज्यो गुन्धाय नमः ) तेरे शरीरके लिये और गुन्धके लिये नमस्कार है ॥ ६ ॥



अस्मा नीलशिखण्डेन सहस्राक्षेण वाजिनो । रुद्रेणार्धकथातिना तेन मा समरामहि ॥ ७ ॥

स नो भवः परी वृणक्तु विश्वत आप इवामिः परी वृणक्तु नो भवः ।

मा नोऽभि मास्तु नमो अस्त्वस्मै

॥ ८ ॥

चतुर्नमो अष्टकृत्वो भवाय दश कृत्वः पशुपते नमस्ते ।

तवेभे पञ्च पशवो विभक्ता गावो अश्वाः पुंरुषा अजावयः

॥ ९ ॥

तव चतस्रः प्रदिशुस्तव द्यौस्तव पृथिवी तवेदमुग्रोऽन्तरिक्षम् ।

तवेदं सर्वमात्मन्वद् यत् प्राणत् पृथिवीमन्तु

॥ १० ॥ ( ५ )

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विभा भुवनान्यन्तः ।

स नो मृद पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः पुरो यन्त्वघ्रुदो विक्रेदयः ॥ ११ ॥

घनुर्विभापं हरितं हिरण्यं सहस्रमि शतवर्धं शिखण्डिनम् ।

रुद्रस्येपुश्चरति देवहोतितस्तस्यै नमो यतमस्यां विश्वास्तः

॥ १२ ॥

अर्ध(नीलशिखण्डेन वाजिनो वाजा) नील शिखावाले बलवान् अश्वे (सहस्राक्षेण अर्धकथातिना रुद्रेण) हजारों शालों-वाले सबके विनाशक रुद्रे ( मा समरामहि ) हम कभी विरुद्ध न रहें ॥ ७ ॥

( सः भवः विभक्तः नः परिवृणक्तु ) वह उत्पातिकर्ता सब ओरसे हमें भुरखित रखे । ( आप इव अमिः ) जल जैसे अमिरो घेरता है, वैवाही ( भवः नः परिवृणक्तु ) उत्पातिकर्ता हमें घेर रखे । ( नः मा अभि मास्तु ) हमने नष्ट न करें, ( अस्मै नमः अस्तु ) इसको नमस्कार हो ॥ ८ ॥

हे पशुपते ! ( भवाय अष्टः अष्टकृत्वः नमः ) उत्पाति करनेवाले देवको चार चार तथा आठ बार नमस्कार हो । [ ते दशकृत्वः नमः ] तेरे लिये दशवार नमस्कार हो । (हमेपञ्च पशवः तव विभक्ताः) ये पाँच पशु तेरे लिये रखे हैं, (गावः) गोवें, (मश्राः) घोड़े, (पुराः) पुरुष, (अजावयः) बकरियाँ और भेड़ें हैं ॥ ९ ॥

( तव चतस्रः प्रदिशः ) तेरी ये चारों दिशाएँ हैं, ( तव द्यौः, तव पृथिवी ) तेरा सु और पृथ्वी लोक है, ( तव इव दम रुद्र अन्तरिक्ष ) तेरा ही यह बड़ा तेजस्वी अन्तरिक्ष है । ( रुद्रे सर्वे आत्मन्वद् तव ) तेराही यह सब चेतनावाला है, ( यत् प्राणिविभक्तं प्राणत् ) जो पृथिवीपर जीव धारण करता है, वह सब तेरा ही है ॥ १० ॥ ( ५ )

( यस्मिन् इमा विभा भुवनानि अन्तः ) जिसमें ये सब भुवन हैं, वह ( वसुधानः अयं उरुः कोशः ) वसुओंका मिश्ररक्षणरूप यह विश्वकी बड़ा कोश ( तव ) तेराही है । हे ( पशुपते ) पशुपालक ! ( सः नः मृद, ते नमः ) वह तू हमें मृद दे, तेरे लिये नमस्कार हो । ( क्रोष्टारः अभिभाः श्वानः पुरः ) छियार, गीदग, कुत्ते सब दूर हों । ( अघ्रुदः विक्रेदयः ) घुरे खरखे रौनेवाली शालोंकी खोलकर मिश्रविशाली छियो भी दूर हों, अघ्रुद ये शीकके प्रथम रवोरा पशु न आवें ॥ ११ ॥

हे ( विश्वस्मिन् ) चलती धारण करनेवाले ! तू [ सहस्रमि शतवर्धं शिखण्यं हरितं घनुः विभक्तिं ] हजारोंका म.प करनेवाला, सैरकोटा बंध करनेवाला, सुवर्णमय धातुका घनुष्य धारण करता है । ( रुद्रस्य इव देवहोतः चरति ) रुद्रका भाग देवोंका सत्र बिचरता है, वह ( रुद्रः यतमस्यां विधि ) मिश्र दिशायें हो, ( तस्यै नमः ) उसको नमस्कार हो ॥ १२ ॥

युक्तेऽभिधातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षिति । पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्वस्य पदनीरिव ॥१३॥  
 भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभायुग्रौ चरतो धीर्याप । ताम्यां नमो यतमस्यां दिशोऽनुतः ॥१४॥  
 नमस्तेस्त्वायते नमो अस्तु परायते । नमस्ते रुद्र तिष्ठतु आसीनायोत ते नमः ॥१५॥  
 नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा । भवार्यं च शर्वार्यं चोभाभ्यामकरं नमः ॥१६॥  
 सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम् । मोषाराम जिह्वेयमानम् ॥१७॥  
 श्यावाश्वं कृष्णमसितं मुणन्तं भीमं रथं क्रेशिनः पादयन्तम् । पूर्वं प्रतीमो नमो अस्तस्वस्मै ॥१८॥  
 या नोऽभि स्या मृत्युः देवहेति मा नः क्रुधः पशुपते नमस्ते ।  
 अन्यत्रास्मद् दिव्यां शाखां वि धूनु ॥ १९ ॥  
 मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृद्धिं मा क्रुधः । मा त्वया समरामहि ॥२०॥ ( ६ )  
 मा नो गोपु पुरुषेपु मा गृधो नो अजायिषु । अन्यत्राग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥२१॥

अर्थ—हे रुद्र ! ( याः अभिधातः निलयते ) जो हमला होनेपर छिप जाता है और ( त्वां नि चिकीर्षिति ) तुझे मर्ने करना चाहता है, ( विद्वस्य पदनीः इय ) चायलेके पदोपलेके समान ( तं पश्चात् अनु प्रयुङ्क्षे ) उसके पीछेसे लूचकर बदला लेता है ॥ १३ ॥

( भवारुद्रौ सयुजौ संविदानौ ) उरधति करनेवाले और संहार करनेवाले देव मिलकर रहनेवाले शानी हैं । ( उभौ ) उभौ धीर्याप चरतः । ये दोनों तेजस्वी पराक्रमके लिये विचरते हैं । ( इतः यतमस्यां दिशि ) वे यहाँसे जिध दिशामें हों वहाँ ( ताम्यां नमः ) उन दोनोंको नमस्कार हो ॥ १४ ॥

हे रुद्र [ आयते परायते तिष्ठते आसीनाय ] जानेवाले, जानेवाले, ठहरनेवाले और बैठनेवाले [ ते नमः ] तुझे नमस्कार हो ॥ १५ ॥

[ सायं प्रातः रात्र्याः दिवा नमः ] शामको सुबेरे रात्रिके समय और दिनके समय नमस्कार हो [ भवार्यं शर्वार्यं च उभाभ्यां नमः अकरं ] भव और शर्व इन दोनोंको नमस्कार करता हूँ ॥ १६ ॥

[ सहस्राक्षं विपश्चितं बहुधा अत्यन्तं रुद्रं ] सहस्रनेत्र शानी बहुत प्रकारसे शत्रु फैलनेवाले रुद्रको [ पुरस्ताद् अति पश्यं ] आगे देखता हूँ । [ ह्यमानं जिह्वया मा उपाराम ] उब गतिमानको हम अपनी जिह्वासे घर्षित न करें ॥ १७ ॥

[ श्यावाश्वं कृष्णं असितं मुणन्तं ] अश्वयुक्त, आकर्षक, बन्धनरहित, घुसदायी [ भीमं क्रेशिनः रथं पादयन्तं ] धिरोन्मालिके बड़े भारी रथको भी परारल करनेवाले [ पूर्वं प्रतीमः ] पहिले प्राप्त करते हैं और [ अस्मै नमः अस्तु ] इयको नमस्कार हो ॥ १८ ॥

हे पशुपते ! [ मरयं देवदेति नः मा अभिधातः ] जानबूझकर कैसा दुआ देवोंका शत्रु हमारे पाप न आवे । [ नः मा क्रुधः, ते नमः ] हमपर क्रोध न हो, तेरे लिये नमस्कार हो । [ अरमा अन्यत्र दिव्यां शाखां विधूनु ] हमघे रुद्र दिव्य शाखाओं के छेद ॥ १९ ॥

[ नः मा हिंसा ] हमारी हिंसा न कर, [ नः ब्रूहि ] हमें उपदेश कर, [ नः परिहृषि ] हमारी रक्षा कर, मा क्रुधः ] क्रोध न कर, [ त्वया मा समरामहि ] तेरे साथ हम शिरोपन करें ॥ २० ॥ ( ६ )

हे [ तमः ] उपरीर ! [ नः गोपु पुरुषेपु मा गृधः ] हमारी गोरे, मनुष्य, भेड़, बछीरोंके शिकवणें न कर । [ अजाम विवर्तय ] रुद्रे स्थानपर अजको लेना । [ त्रिवारूणां प्रजां जहि ] दिशकोंकी प्रजा नष्ट कर ॥२१॥

यस्य त्वमा कासिका हेतिरेकमर्थस्येव वृषणः क्रन्दु एति ।

अभिपूर्वं निर्णयते नमो अस्त्वस्मै

॥ २२ ॥

योऽत्रेऽन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टाभितोऽयं जनः प्रमृणन् देवपीयून् । तस्मै नमो दशभिः शर्कराभिः २३

तुभ्यमारुण्याः पशवो मृगा वनं हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।

तव पक्ष पशुपते अस्त्वन्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे

॥ २४ ॥

शिशुमारो अजग्राः पुरीकया जपा मत्स्या रज्जुमा येभ्यो अस्पति ।

न ते दूरं न पंगिष्ठास्ति ते भव सुधाः सर्वान् परि

पश्यति भूमिं पूर्वस्माद्वस्त्वृत्तरस्मिन्तस्तमुद्रे

॥ २५ ॥

मा नो रुद्र त्वमना मा विषेण मा नः सं सा दिव्येनाग्निना ।

अन्यथास्मद् विद्युतं पातयेताम्

॥ २६ ॥

भुवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पंप्र उर्वीन्तरिक्षम् ।

तस्मै नमो यतम यां दिनीक्षितः

॥ २७ ॥

अर्थ—[यस्य त्वमा कासिका हेति] जिसके हथियार क्षयज्वर और खोंधी हैं, [ वृषण अथस्य क्रन्दु हव एकं एति ] बज्र-  
पात्र चोदक दिनदिनातेके दहरके समान जे मन्देई एक पुष्पादर जिसका हथियार जाता है, [ अभि पूर्व निर्णयते ] जो पहिलेही  
निर्णय करता है [ अस्मे नम अस्तु ] इसके लिये ममस्कार है ॥ २२ ॥

[ यः अन्तरिक्षे तिष्ठति विष्टाभितोऽयं जनः ] जो अन्तरिक्षमें स्थिर रहता है और [ प्रमृणन् देवपीयून् प्रमृणन् ] पशु न कर  
नेह ले देवोंके देवदोहा नाश करता है, ( तस्मै दशभिः शर्कराभिः नमः ) उसको दश शर्कराभिसे हमारा ममस्कार है ॥ २३ ॥

( आरुण्याः पशवो मृगा वनं हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि इभ्यः ) इस गुरुह शत्रु न और काय परीक्षण ये सब तेरेही हैं । हे पशुपते ! [ तव पक्षे अस्तु अग्राः ]  
तेरा पूज्य आमा जकोके अग्र है, ( इभ्यो दिव्या अपो वृधे क्षामित ) तेरे लिये दिव्य जल बचाईके लिये गिरते हैं ॥ २४ ॥

[ शिशुमारो अजग्राः पुरीकया ] शिशुमार, अजगर, कछुप, ( जपा मत्स्याः रज्जुमा येभ्यः अस्पति )  
मछलिका और जलजन्तु मलिन घाली जिनका लू अपना काष्ठ चेंकता है । इनसे ( न ते दूरं, न ते पंगिष्ठाः ) दूर कोई नही  
है, न कोई तेसे भिन्न स्थानपर है, न तो ( सर्वान् सदा पंगिष्ठरिति ) सबको एकही बार दखता है, और ( पूर्वस्मात् अस्तु  
विद्युतं समुद्रेभ्यो हवि ) पूर्वसे उत्तर समुद्रके व्यापनकी सब भूवत्त आपात करता है ॥ २५ ॥

हे रुद्र ! ( त्वमना मा सत्प्राः ) उससे हमें पीडा न हो, ( विषेण मा ) विषपापान हो, [ दिव्येनाग्निना मा ]  
दिव्य अग्निसे बह न हो । [ अन्यथास्मद् विद्युतं पातयेताम् ] हमसे भिन्न पुनरे स्थानपर इस बिजलीको गिरा ॥ २६ ॥

[ भवो दिवो भव ईशे पृथिव्याः ] भव पुनरे ब्रह्म ईश है, [ भवः पृथिव्याः ] भव पृथिवीका स्वामी है । [ भवः वद अन्तरिक्षे  
अग्राः ] भव वह अन्तरिक्षमें व्यापक है । वह ( इयः वदमस्यां दिशि सरये नमः ) यहासे भिन्न दिशि हो नही हमारा मम-  
स्कार करने लिये है ॥ २७ ॥

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूव ।

यः श्रद्धधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदैऽस्य मृड ॥ २८ ॥

मा नो महान्तमुत मा नो अर्मकं मा नो वहन्तमुत मा नो वक्ष्यतः ।

मा नो हिंसीः पितरं मातरं च स्वां त्वयि रुद्र मा रीरियो नः ॥ २९ ॥

रुद्रस्यैलवकारेभ्योऽसंसृक्तगिलेभ्यः । इदं महास्येभ्यः श्रम्यो अकरं नमः ॥ ३० ॥

नमस्ते घोषिणीभ्यो नमस्ते केशिनीभ्यः । नमो नमस्कृताभ्यो नमः संभुज्जतीभ्यः ॥

नमस्ते देव सेनाभ्यः स्वस्ति नो अमयं च नः ॥ ३१ ॥ (७)

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ-हे [ राजन् भव ] उत्पादक देवराज । [ यजमानाय मृड ] यजमानकी सुखी कर, [ पशूनां पशुपतिः हि बभूव ] पशुओंका स्वामी हो । [ यः श्रद्धधाति ] जो धरदा रखता है, [ सन्ति देवा इति ] देवताएँ हैं ऐसा मानता है, [ अस्य द्विपदे चतुष्पदे मृड ] उसके द्विपाद और चतुष्पदोंको सुखी कर ॥ २८ ॥

[ माः महान्तं मा हिंसीः ] हमारे बड़ोंकी हिंसा न कर, [ माः अर्मकं मा ] हमारे गालकोंकी हिंसा न कर, [ माः वहन्तं मा ] हमारे समर्थ पुष्पकी हिंसा न कर, [ माः वक्ष्यतः मा ] हमारे बलवान बलनेवालोंकी हिंसा न कर । [ माः पितरं मातरं च मा हिंसीः ] हमारे पिता माताकी हिंसा न कर, हे रुद्र [ माः स्वां त्वयि रुद्र मा रीरियोः ] हमारे शरीरोंको दुष्टी न कर ॥ २९ ॥

[ रुद्रस्य ऐलवकारेभ्यः असंसृक्तगिलेभ्यः ] रुद्रके भगलक शब्द करनेवाले अशरद शब्द करनेवाले [ महास्येभ्यः श्रम्य ] बड़े मुखवाले पुर्तोंको [ इदं नमः अकरं ] यह नमस्कार करता हूँ ॥ ३० ॥

हे देव । [ ते घोषिणीभ्यः केशिनीभ्यः ] तेरी बडा शब्दबाद करनेवाली केश रखनेवाली, [ नमस्कृताभ्यः संभुज्जतीभ्यः ] नमस्कृतोंके अश्रुत और उत्तम अलभोग कामेवली । [ ते सेनाभ्यः नमः ] तेरी सेनाओंके लिये नमस्कार हो, [ माः स्वस्ति अमयं च ] हमारा कल्याण हो और हमारे लिये निर्भवता हो ॥ ३१ ॥ ॥ ७ ॥

प्रथम अनुवाक समाप्त ॥ १ ॥

## भव और शर्वके सूक्तका आशय ।

यह सूक्त " भव और शर्व " देवताके वर्णनपर है । कोई यही यह न समझे कि भव और शर्व ये देवताएं परस्पर भिन्न हैं । ' भवामर्त्यो ' ऐसा द्विवचनो प्रयोग है, तथापि एकही देवताके ये दो गुण हैं । सर्व विश्वमें व्यापनेवाली एकही देवता है, यह सृष्टिकी उत्पत्ति करती है इसलिये उसका नाम " भव " है और यह सबका संसार करती है इसलिये उची देवताका नाम " शर्व " है ।

गुणोंमें भी भव और शर्व ये दो नाम एकही रूढ़ देवके हैं, यही बात वेदके इस सूक्तमें है और अग्यत्र भी जहाँ जहाँ भव शर्व आदिनाम आये हैं वहाँ देवताही अर्थात् समस्तता योग्य है । इस सूक्तमें यद, मध, शर्व, पशुपति, आदि शब्द आये हैं, जो सब एकही परमेश्वरके वाचक हैं ।

प्रथम मंत्रमें इस देवताके दो गुणोंका स्मरण कराया है । यही सूचना मिलती है कि यदि दो गुणोंका कारण एकही देवता के दो रूप माने जा सकते हैं, तो अनेक गुणोंके कारण एकही ईश्वरही अनेक देवताएं मानना संभव है । वैदिक धर्ममें अनेक देवताओंकी कल्पना इस प्रकार एकही परमात्मापर अभिहित है । एक ईश्वरके अनेक गुणोंकी अनेक देवताएं मानी गयी हैं ।

ईश्वरके मरक गुणोंका शर्वशब्दके यही कदा है, यह देवता अपना मारण, हिनन अपवना विनाशक कार्य जिन ठाणोंमें करती है उनही गिनती इस सूक्तके अनेक मंत्रोंमें की है — गुणे, गीदव, गिवाग, मरिचयो, कोरे, अय, यय, भयुष्य, बाण भिगुर, भमि, जडर, रुच ये मारणवाचक हैं । मरिचयोको यदके मरक ठाणोंमें रखा है, यह बात पाठक विशेष धनिते स्मरण रखे । मरिचयोके कारण अनेक रोग फैलते हैं और प्राणिविधों पर रोग होता है । अतः रोगोंके बचनेके लिये यारी और सारण-ता करनी जरूरी है जिसे मरिचयो न रोगी, और यदुष्य रोगोंके बने । यही तरह अन्त्यम मारणवाचकके विषयमें कल्पना की गई है । [ मंत्र १ देखो ]

अगे यदुष्य लक्ष रूढ़के अंतर्गतोंको बतलाने कहा है । यह रूढ़ यदुष्य देवताका वरगुणप्रकार है । यदुष्य मंत्रमें इसके विशेष न हो देवी रूढ़ता बतल की है । यही बात अगेके कई

मंत्रोंमें है ( या समरामहि ) यही शब्द अगेके कई मंत्रोंमें बारबार आये हैं ।

नवम मंत्रमें अनेकवार यदुके लिये नमन किया है । इसम मंत्रमें कहा है कि इस यदुदेवताके आधीनही संपूर्ण विश्व है । इसी कथनसे विश्वनिवासक देवही मारकभावके विषये यद नाम से यही कहा है ऐसा स्पष्ट हो जाता है । क्योंकि सब विश्वका नियंता देव एकही है ।

चौदहवें मंत्रमें भव और शर्व ये दो नाम फिर आये हैं । यहाँ द्विवचन देखनेसे य दो देव परस्पर भिन्न हैं । ऐसी कई-योको शंका हो सकती है, परंतु ये दो देव गुणतः भिन्न परंतु स्वरूपतः एक हैं, इसका स्पष्टीकरण इसके पूर्व किया जा चुका है । अगे १९ वें मंत्रतक यददेवको नमनही किया है । अगे तीन मंत्रोंमें शृगु दूर करकेकी प्रार्थना है ।

तेईसवें मंत्रमें यददेव इस अन्तरिक्षमें व्यापता है ऐसा कहकर देवविरोधियोंका नाश करता है, यह भी कहा है । यह शर्वव्यापक देवका ही वर्णन निःसंदेह है । अगेके दो मंत्रोंमें सब प्राणी उसी एक देवके आधारों पर रहते हैं, यह देव सबको समरहीये देवता है और विपातक शत्रुका नाश करता है इत्यादि वर्णन देखनेयोग्य है ।

छताईसवें मंत्रमें यह देव संपूर्ण स्थिरचर जगत्सर्व ईश है यह स्पष्ट शब्दोंसे कहा है । यह मंत्रपद्यों की संपूर्ण विषय एक प्रभु है, इसमें संदेह ही नहीं रह सकता । अगेके मंत्रमें यह देव ( भव ) विश्वका राजा है ऐसा कहा है । इसके अतिरिक्त ( देवाः सन्ति ) देवोंकापि इस अगतमें कार्य कर रहें हैं ऐसा जो ( या अयुष्यति ) अद्वैतक मानता है यही शुद्धी होता है, यह कथन विशेष महत्वका है । इस जगत् का प्रभु एक है और सबकी अनेक शक्तियाँ इस विषयमें कार्य कर रही हैं । यदि यह कल्पना पाठकोंकी रीत तरह हो जायगी, तो यदुष्यके दिव्य बल जगत्में कोई संदेह ही नहीं है ।

अगेके मंत्रोंमें शर्व ठाणपर निर्याताकी प्रार्थना है । इस प्रकार इस सूक्तका आशय है ।

# विराड् अत्र ।

[ ३ ]

( ऋषिः--अथर्व । देवता--ओदनः )

(१) तस्योदनस्य बृहस्पतिः शिरो ब्रह्म मुखम्	॥ १ ॥
द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसश्चक्षिणी सप्तऋषयः प्राणाणानाः	॥ २ ॥
अक्षुर्मुखं कामं उल्लसत्कामं	॥ ३ ॥
दितिः सूर्यमदितिः सूर्यमही वातोऽर्वाभिनक्	॥ ४ ॥
अस्रः कणा मार्गस्तण्डुला मृगशिरस्तुषाः	॥ ५ ॥
कर्म कर्त्तृकर्णाः शरोऽध्रम्	॥ ६ ॥
इषाममघोऽस्य मांसानि लाहिमस्य लंहितम्	॥ ७ ॥
शत्रु मरुत हरिर्गर्गः पुष्कलमस्य मन्त्रः	॥ ८ ॥
खलुः पात्रं स्फपात्रं त्रात्रिणं अनृक्ष्ये	॥ ९ ॥
आन्त्राणि ज्ववो गुदा वरुषाः	॥ १० ॥

अर्थ-- ( तस्य मं बृहस्पतिः बृहस्पतिः शिरोः ) उ० अत्र का बृहस्पति पिर है, [ ब्रह्म मुखं ) प्राणन मुख है ॥ १ ॥  
 ( द्यावापृथिवी श्रोत्रे ) शु और पृथिवी जान है, ( सूर्याचन्द्रमसोऽक्षिणी ) सूर्य और चन्द्र आते हैं, ( मसमघः प्राणाणानाः )  
 सात ऋषि प्राण और आगन है ॥ २ ॥ [ मुखं अक्षुः, उल्लसत् कामः ] मुखन दिति है और उल्लसत् जान है ॥ ३ ॥ ( दितिः सूर्यः ) विमल छात्र है, [ अदितिः सूर्यप्राणी ] अविमलता सूर्यो पण्डनशाली है, [ वातोऽर्वाभिनक् ] वातु दुर्वागे पृथक्  
 कामेवला है ॥ ४ ॥ [ कणाः कणाः ] कण के कण कोट है, [ मृगशिरः मार्गः ] मार्गन गोले है, [ तुषाः मरुषाः ] गुा  
 मरुष मरुषा है, ॥ ५ ॥ [ कर्त्तृकर्णाः कर्म ] कर्म के कर्म कोट है, [ शरोऽध्रः ] शेष ही ऊपरवा गिरफ है ॥ ६ ॥ [ इषामे  
 अघः अघ मीमांसा ] कामा सोहा इषक मास है, [ लाहिमस्य लंहितम् ] लाल लोहा इषका रक्त है ॥ ७ ॥ ( शत्रु मरुत )  
 शीन-रहित इषका मरुत है, ( हरिर्गर्गः ) हरी इषका र्ग है, [ पुष्कलमस्य मन्त्रः ] पुष्कल इषका मन्त्र है ॥ ८ ॥  
 ( खलुः पात्रं ) खल इषका पात्र है, ( स्फपात्रं त्रात्रिणं ) स्फो रफ मरुत वरुषपत्र रंथ है, [ अनृक्ष्ये ] इषा  
 मरुत साधन देवती की दृष्टा है ॥ ९ ॥ [ अन्त्राणि ] अन्त्रा आते हैं और [ ज्ववो गुदाः ] वेल ओदनन चर्म गुदा  
 है ॥ १० ॥

इयमेव पृथिवी कुम्भी भवति राक्ष्यमानस्यौदुनस्य द्यौरपिधानम्	॥ ११ ॥
सीताः पर्याः मिकता उर्वष्यम्	॥ १२ ॥
श्रुतं हस्ताग्नेजं कुल्योपमेचनम्	॥ १३ ॥
श्रुचा कुम्भधिहितादिज्येन प्रेषिता	॥ १४ ॥
प्रक्षणा परिगृहीता सास्त्रा पर्युदा	॥ १५ ॥
पुनदायवनं रथन्तं दग्धिः	॥ १६ ॥
श्रुतवः पुक्तां आर्तवाः समिन्धते	॥ १७ ॥
चुहं पञ्चविलपुखं घृभोऽर्धे	॥ १८ ॥
ओदुनेने यजवचः सर्वे लाकाः समप्याः	॥ १९ ॥
यमिन्समुद्रो द्यौर्भूमिस्त्रयोऽवरपरं श्रिताः	॥ २० ॥
यस्य देवा अकल्पन्तान्निष्ठे पङ्कगीतयः	॥ २१ ॥
सं स्यौदुनस्य पृच्छामि यो अस्या महिमा मुहान्	॥ २२ ॥
स य ओदुनस्य महिमानं विद्यात्	॥ २३ ॥
नाल इति मृयाकानुपसेचन इति नेदं च किं चेति	॥ २४ ॥
यार्थं दाताभिमतस्तेतु तन्नातिं वदेत्	॥ २५ ॥

ब्रह्मणादिनो वदन्ति पराञ्चमोदुनं प्राशीः प्रत्यञ्चाश्मिति ।

॥ २६ ॥

त्वमोदुनं प्राशीःस्त्वामोदुनाः इति

॥ २७ ॥

पराञ्च चेत्तु प्राशीः प्राणास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह

॥ २८ ॥

प्रत्यञ्चं चेत्तु प्राशीरानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह

॥ २९ ॥

नैवाहमोदुनं न मामोदुनः ॥ ३० ॥ ओदुन एवोदुनं प्राशीत्

॥ ३१ ॥ ( ८ )

( २ ) तथैवमन्येन शीर्ष्णा प्राशीयेन चैतं पूर्णं कर्षयः प्राशन्तु ज्येष्ठस्ते प्रजा मारिष्यन्ती-

त्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्च्यं न पराञ्च्यं न प्रत्यञ्च्यम् । बृहस्पतिना शीर्ष्णा ।

तेनैतं प्राशिषु तेनैवमजीगमम् । एष वा ओदुनः सर्वाङ्गः सर्वपदः सर्वतनुः ।

सर्वाङ्ग एव सर्वपदः सर्वतनुः सं भवति य एवं वेदं

॥ ३२ ॥

तथैवमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्षाभ्यां चैतं पूर्णं कर्षयः प्राशन्तु ।

बृधिरौ भविष्यमीत्येनमाह ॥ तं वा० । द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम् ।

ताभ्यामेतं प्राशिषु ताभ्यामेवमजीगमम् । एष वा० ॥ ३३ ॥

अर्थ- [ ब्रह्मणादिनः वदन्ति ] ब्रह्मणो अत्र कहते हैं कि [ पराञ्चं मोदुनं प्राशीः प्रत्यञ्चाश्मिति ] बृहस्पतिना तुमने खाया अथवा समपन्न खाया ? ॥ २६ ॥ [ एवं ओदुनः प्राणाः, त्वां मोदुनः इति ] तुने अन्न को खाया अथवा अन्नन तुने खाया ? ॥ २७ ॥ [ पराञ्चं मोदुनं प्राशीः ] यदि तुने पराञ्च अन्न खाया है तो [ त्वां प्राणाः हास्यन्ति इति एवं आह ] तुमने प्राण छोड़ दिये ऐसा इसे कहता है ॥ २८ ॥

[ प्रत्यञ्चं च एतं प्राशी ] यदि सज्जुक्त वा अन्न है तो [ जपानाः एवा हासयन्ति इति एवं आह ] अपना तुमने छोड़ेंगे ऐसा इसे कह ॥ २९ ॥ [ न एव मर्दं मोदुनं ] नहीं मने अन्न को खाया और [ न मी मोदुनः ] न तुमने अन्नने खाया ॥ ३० ॥ प्राणतु [ ओदुनः एव मोदुनं प्राशीत् ] अन्न ही अन्न को खा दे ॥ ३१ ॥ ( ८ )

[ ततः च एतं अन्वेन शीर्ष्णा प्राशीः ] पश्चात् इसका अन्व विगने तु प्राशन करोगा [ येन च पूर्णं कर्षयः प्राशन्तु ] जिससे पूर्ण कर्षणसे प्राशन किया या उतने में इसका हो [ ज्येष्ठस्ते ते प्रा मारिष्यन्ति इति एवं आह ] ज्येष्ठ को प्राण का के तेरी संताप मर जायगा ऐसा इसे कह । [ तं वा अहं नार्वाञ्च्यं न पराञ्च्यं न प्रत्यञ्च्यम् ] उतना मेने न खाये, उतनी और और प्राण नही किया, मेने [ बृहस्पतिना शीर्ष्णा ] बृहस्पतिना मुखिया बनाकर [ तेन एवमजीगमम् ] उतने इस अन्नप्रा प्राशन किया, [ तेन एतं प्राशीगमं ] उतने इसको प्राण किया । अतः [ एषः ओदुनः सर्वाङ्गः सर्वपदः सर्वतनुः ] यह अन्न परिपूर्ण है [ सर्वपदः सर्वतनुः ] सब अंगों और सब अवयवों में युक्त है । इसका [ च एष वेद मर्षाः सर्वपदः सर्वतनुः मर्षाः ] ऐसा जो जानता है वह सर्वोप और सब अंगों और अवयवों में युक्त होता है ॥ ३२ ॥

[ ताभ्यां च एतं पूर्णं कर्षयः प्राशन्तु ] जिससे इसका प्राशन पूर्णकरियेने किया या उतने [ द्यावापृथिवी श्रोत्राभ्यां ततः एतं प्राशीः ] जिस पूर्ण वालोंने प्राशन किया तो [ बृधिरौ भविष्यन्ति इति एवं आह ] बृधिर हो जायगा, ऐसा इसे को । [ तं वा०... द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्यां ] उतनी मेने... तुमको और बृधिरौ के कर्षण [ ताभ्यां एतं प्राशिषु ] उतने मेने प्राशन किया, [ ताभ्यां एतं अजीगमम् ] उतने इसको प्राण किया ॥ ३३ ॥



ततश्चैनमन्याभ्यामक्षीभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् ।

अधो भविष्यतीत्येनमाह । तं वा० । मूयचिन्द्रमाम्भ्यामक्षीभ्याम् । ताम्भ्यामिदं ०।० ०

॥ ३४ ॥ ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीयेन चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । मुखतस्ते प्रजामरिष्यती-

त्येनमाह । तं वा० । ब्रह्मणा मुखेन । तेनैतं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा० ॥ ३५ ॥

ततश्चैनमन्यया जिह्वा प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह ।

तं वा । अग्नेर्जिह्वायां । तयैतं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा० ॥ ०।०॥ ३६ ॥

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह । तं वा०

श्रुतुभिर्दन्तैः । तेरेन प्राशिषं तेरेनमजीगमम् । एष वा ० । ० ॥ ३७ ॥

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह ।

तं वा ० । समभिभिः प्राणापानैः । तेरेन ०।०० ॥ ३८ ॥

ततश्चैनमन्येन व्यचंसा प्राशीयेन चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । राजयक्षस्तथा हनिष्यतीत्येनमाह

। तं वा ० । अन्तरिक्षेण व्यचंसा । तेनैतं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ॥ ०।०॥ ३९ ॥

ततश्चैनमन्येन पृष्ठेन प्राशीयेन चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । त्रिद्युन् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह ॥

तं वा ० । दिवा पृष्ठेन । तेनैतं ०।०।०॥ ४० ॥

ततश्चैनमन्येनोरमा प्राशीर्येन चैतं पूर्वं क्रययः प्राश्नन् । कृष्या न रातस्यमीत्येनमाह । तं वा०  
पृष्टिच्योरसा ॥ तेनैतं ०।०।० ॥ ४१ ॥

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्वं क्रययः प्राश्नन् । उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह ।  
तं वा० मन्येनोदरेण ॥ तेनैतं ०।०।० ॥ ४२ ॥

ततश्चैनमन्येन वृत्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्वं क्रययः प्राश्नन् । अप्यु मरिष्यमीत्येनमाह ॥ तं वा०  
समुद्रेण वृत्तिना । तेनैतं ०।०।० ॥ ४३ ॥

ततश्चैनमन्येनारम्भ्यां प्राशीर्यारम्भां चैतं पूर्वं क्रययः प्राश्नन् । ऊरू तं मरिष्यन् इत्येनमाह ।  
तं वा० मित्रावरुणयोः ऊरुभ्याम् । तारम्भमिदं प्राशीर्यं तारम्भमिदमजीगमम् ॥ ए०  
वा० ०।०।० ॥ ४४ ॥

ततश्चैनमन्येनारम्भां पृष्ट्यां प्राशीर्यारम्भां चैतं पूर्वं क्रययः प्राश्नन् । तामो मरिष्यमीत्येनमाह ॥  
तं वा० । त्र्यष्ट्यष्ट्यष्ट्याम् ॥ तारम्भमिदं ०।०।० ॥ ४५ ॥

ततश्चैनमन्येनारम्भां पादाभ्यां प्राशीर्यारम्भां चैतं पूर्वं क्रययः प्राश्नन् । पुद्गुचारी मरिष्यमीत्ये-  
नमाह । तं वा० ० । अधिनोः पादाभ्याम् । तारम्भमिदं ०।०।० ॥ ४६ ॥

ततश्चैनमन्येनारम्भां प्रपदाभ्यां प्राशीर्यारम्भां चैतं पूर्वं क्रययः प्राश्नन् । सर्वस्वा हनिष्यतीत्ये-  
नमाह । तं वा० ० । सवित्रुः प्रपदाभ्याम् । तारम्भमिदं ०।०।० ॥ ४७ ॥

अर्थ- जिसने पूर्व क्रियोंने सेवन किया उसने भिक्षा [ अन्धेन उरसा ] छातीसे सेवन कराये तो [ कृष्या न रातस्यसि  
वृत्ति... ] खेतीमें समुद्र न होगा । [ तं वै... पृष्टिच्योरा ०... ] उमें मैं पृष्टिच्योरा कासे सेवन किया ॥ ४१ ॥

जिसका पूर्व क्रियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिक्षा [ अन्धेन उदरेण ] दूसरे पेटमें तुम सेवन कराये तो [ उदर-  
दाराः एवा हनिष्यति इति ] पेटकी काष्ठनजाला अनिभारोण ऐसा नाश करेगा ऐसा इसे कहो । [ तं वा०... मन्येनोदरेण... ]  
'उदरे' मैंने उदरेण पेटका दारा' सेवन किया... ॥ ४२ ॥

पूर्व क्रियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिक्षा [ अन्धेन वृत्तिना ] प्राशीः... ] दूसरी बरेतने तुने सेवन किया तो तु  
[ अप्यु मरिष्यसि ] उतमें मरिष्य । [ तं वै... समुद्रेण वृत्तिना... ] उतका मैंने समुद्रकी वृत्तिसे सेवन किया... ॥ ४३ ॥

जिससे पूर्व क्रियोंने सेवन किया था उससे भिक्षा [ अन्धेनारम्भां पृष्ट्यां प्राशीः ] दूसरी जिससे उतका मैंने सेवन कराये तो  
[ तं वै... त्र्यष्ट्यष्ट्यष्ट्याम् ] तं वै... मित्रावरुणयोः ऊरुभ्यां प्राशीः... ] उतका मैंने मित्रावरुणयोः

ऊरुभ्यां सेवन किया— ॥ ४४ ॥ पूर्व क्रियोंने जिससे सेवन किया था उससे भिक्षा [ अन्धेनारम्भां पादाभ्यां प्राशीः ]  
दूसरी जानू भौम सेवन कराये, तो तु [ तामोः मरिष्यसि ] मरिष्य हो जायगा ऐसा इसे कहो । [ तं वै... पुद्गुचारी मरिष्यसि ]

उतसे मैंने पुद्गुचारी जानू भौम सेवन किया... ॥ ४५ ॥ जिससे पूर्व क्रियोंने सेवन किया था उससे भिक्षा [ अन्धेनारम्भां प्रपदाभ्यां ]  
दूसरी पयोसे सेवन कराये तो [ सवित्रुः प्रपदाभ्यां मरिष्यसि ] तुम्हें बहुत बलना पड़ेगा । [ तं वै... अधिनोः पादाभ्यां... ] उ-

तका मैंने अधिनोके पादोंसे सेवन किया... ॥ ४६ ॥ जिससे पूर्व क्रियोंने सेवन किया था उससे भिक्षा [ अन्धेनारम्भां सर्वस्वा ]  
उतकी [ दूसरे पेटमें तुने सेवन किया तो [ सर्वस्वा हनिष्यति ] छीर हुँसे मारेगा । [ तं वै सवित्रुः प्रपदाभ्यां... ] उतसे  
सवित्रुके पदोंसे मैंने सेवन किया ॥ ४७ ॥

ततश्चैनमुन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राक्षीर्याभ्यां चैवं पूर्णं क्रान्तुः प्राश्नन् । ब्राह्मणं हनिष्यतीत्ये—  
नमाह । तं वा ० । कृतस्य हस्ताभ्याम् । ताम्भानेनं ०।०।० । ४८ ॥

ततश्चैनमन्ययां प्रतिष्ठया प्राक्षीर्यां चैवं पूर्णं क्रान्तुः प्राश्नन् । अतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्य-  
सीत्येनमाह । तं वा अदं नावञ्चिन् न पराञ्चिन् न मन्थञ्चम् । सत्यं प्रतिष्ठय । तथैवं प्रा-  
क्षिप् तथैनमजोगम् । एष वा ओदुनः सर्वाङ्गः सर्वाङ्गः सर्वाङ्गः । सर्वाङ्ग एव सर्वाङ्गः  
सर्वतनुः सं भवति य एवं वेद ॥ ४९ ॥ (९)

[३] एतत् वै ब्रह्मस्य विष्टयं यदौदुनः

॥ ५० ॥

ब्रह्मजोको भवति ब्रह्मस्य विष्टयिं थयते य एवं वेद

॥ ५१ ॥

एतस्माद् वा ओदुनात् त्रयस्त्रिंशत् संक्रान्तिं निरामिणीत प्रजापतिः

॥ ५२ ॥

तेषां ब्रह्मानीय युक्तममृतं

॥ ५३ ॥

स य एवं विष्टुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि

॥ ५४ ॥

न च प्राणं रुणद्धि मरिष्याति जीयते

॥ ५५ ॥

न च मरिष्याति जीयते पुरेनं जुगमे प्राणो जहति ॥ ५६ ॥ ( १० )

## अन्नका महत्त्व ।

अन्नक महत्त्वका वर्णन इस सूत्रमें काव्यरी आलंकारिक भाषामें किया है। यह देखनेसे पता लगता है कि अन्न भी मनुष्यको स्वर्गधामका सुख देनेशाली है। संपूर्ण विश्व ऊद्यमय है। यह जो कुछ है वह सब अन्न ही है। यही अन्न ही विश्वरूप है।

अन्न सेवन करना ही तो जैसा श्रविलोच उल्लेख सेवन किया करते थे वैसा ही करना चाहिये, अन्यथा मनुष्यका मार्ग ही होगा। यह सूचना इस सूत्रमें विशेष महत्त्व की है।

॥ पाठक इस दृष्टिसे इस सूत्रका मनन करें। इस सूत्रके शारंग्ये तत्त्वज्ञानका दृष्टिसे कुछ बातें विचारणीय हैं। २७ वें मंत्रमें एक प्रश्न पड़ा है—

एवं ओदनं प्राचीः एवं ओदनः इति ? ( २७ )

“तुने इस अन्नका प्राशन किया अथवा इस अन्नने मेरा अन्नग किया ?” यह प्रश्न क्या ही विचाराणीय है। हम जो अन्न खा रहे हैं वह हमें खा रहा है अथवा हम उस अन्नको भोग रहे हैं ? हम जो भोग भोग रहे हैं वे भोग हमारा प्रभोग ले रहे हैं अथवा हम उन भोगोंका उपभोग ले रहे हैं ? कितना गंभीर प्रश्न है। हाए मनुष्यको इसका विचार करना चाहिये। क्या हो रहा है ? मनुष्य भोगोंको बढ़ा रहे है। उन भोगोंको बढ़ानेमें कितनी शक्ति व्यय होती है ? इनकी शक्तिका व्यय करके मनुष्य भोगोंको भोग रहे है या वे भोग ही मनुष्य की जीवनको खा रहे हैं इसका कोई विचार नहीं करता। कितना आश्चर्य है।

मनुष्यके अन्न वस्त्र गृह ही राज्य धन ऐश्वर्य ये भोग मनुष्यको ही खा रहे हैं। मनुष्यको चाहिये कि वह इनका भोग बरके आनंद प्राप्त करे। पशु होता है वह कि मनुष्यका दुःख ही बढ़ रहा है। क्यों ऐसा होता है, इसका विचार मनुष्यको करना चाहिये। इस मंत्रके प्रथम यह महत्त्वपूर्ण आशय है। पाठक विचार करें कि वेदने एवम् प्रश्नमें कितनी महत्त्वपूर्ण विचार-पर्याप्तों का लाना ही। जो विचार करेंगे और सोचेंगे उनके सिंगे यह प्रश्न जीवनपरिचरने का मंगलदा है।

इस प्रश्नका उत्तर कैसा होना चाहिये, यह बात इसी सूत्रने बता दी है। मंत्रही उत्तर देता है—

न एव अहं ओदनं न नो ओदनः । ( २७ )

“न मुझे अन्नने लाया, न मैंने अन्नको लाया।” अर्थात् हम दोनो ऐसे परिहार भाग्य एक दुसरेके पास आयाव कि प्रिये

दोनों-से किसी दूसरेका मुझ प्रभाव नहीं हुआ। न मैंने अन्नको खा खाकर कम किया, अर्थात् आवश्यकताही अपेक्षा अधिक नहीं खाया और ना ही अपने पाप मोक्ष वस्तुओंका उपभोग करके दूसरेसे नीचतर रखा। और न ही अन्नने मुझे लाया, अर्थात् न अन्नही मेरे ऊपर सवार होकर मेरा नाश करने लगा। मैं और अन्न आपसपाय रहे, एक दूसरेकी सहायक हुए, एक दूसरेकी प्रतिष्ठा बढ़ाने लगे, एक दूसरेकी महिमा बढ़ाते हुए अन्तर्गत का उपकार करनेमें सहायक हुए।

पाठक इस उदाहरण विचार करें। क्या वह उत्तर पाठकोंके विचार में कार्य हो सकता है ? पाठकोंके जीवनमें यह उत्तर घट रहा है या नहीं, इसका विचार पाठक ही करें। भोग और भोग लेनेवाला एक दुसरेके पास आये, तो पादरके उत्कारक होने चाहिये, यह नियम यहाँ बन गया है, एक दूसरेकी शक्ति घटानेवाले नहीं होने चाहिये कितना उत्तम उपदेश है, इसका मनन पाठक करें। यही इस जीवनके तत्त्वज्ञानकी समाप्ति नहीं हुई। आगे मंत्र सबकी एकता कहता है—

ओदन एव ओदनं प्राचीः । ( २९ )

“अन्नने ही अन्नको लाया है।” अर्थात् भोक्ता और भोग्य एकही तत्त्व है। जैसा अन्नभूनामों कहा है—

प्रश्न वर्णं प्रश्न द्विविद्वाद्वा प्रश्नो ह्यनुत्तमः ( गी० ५।२५ )  
अहं कर्तुं देवता स्ववासिदमहं भोग्यम् ।

अन्नादमहं भोग्यमहमिदं कर्तुम् ॥ ( गी० ५।२६ )

“इसही अर्थवत्त्व है और प्रश्नार्थ अर्थकर्ता है।” यह जो गीतामें कहा वह इसी मंत्रके अर्थपरमे कहा, अथवा हय यों कह सकते हैं, वेदके विचार और गीताके विचार यही समान हैं।

हम जाननेके भी अन्तर्गत हैं और हम जो खाते हैं वह भी अन्तर्गत है। पाठक विचार करें तो उनको यह बात समझने आ सकती है कि मनुष्य भी ऊद्यम ही मनुष्यका ही तत्त्वज्ञान-विषय अन्न तो है ही, पशु उपभोग्य जो पशु मनुष्य ही प्रणी बाहर निकले वह ऊपर बननेवाला पुर हो सकती है। इस तरह यह विचार अनेक शिष्यसे अनुभवमें आसकता है।

उत्तराश्रयका अर्थमय इस तरह की वेदमन्त्र पाठकोंके पास है। अन्ना है इस तरह विचार करके पाठक इस सूत्रसे बंधन होकर रहते हैं।

# प्राणकी विद्या ।

( ४ )

( ऋषिः-- भार्गवो वैदर्भिः । देवता--प्राणः )

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे । यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्गं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥  
 नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्तवै । नमस्ते प्राण गिद्युते नमस्ते प्राण वर्पणे ॥ २ ॥  
 यत् प्राण स्तनयित्तुनामि क्रन्दस्वोपधीः । प्र वर्पन्ते गर्भीन् दध्नेऽधो बृह्मार्तिं जायन्ते ॥ ३ ॥  
 यत्प्राण क्रन्तावापतेऽभि क्रन्दस्वोपधीः । मरि तुदा प्र मोदन्ते यत् किं च भूम्यामग्निं ॥ ४ ॥  
 यदा प्राणो अस्पर्षीद् वर्पणं पृथिवीं महीम् । पृथगुस्तत् प्र मोदन्ते मष्टौ वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥  
 अमिर्मृष्टा ओषधयः प्राणैर्न समसादिरन् । आयुर्वै नः प्रार्थितः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥  
 नमस्ते अस्त्रायुते नमो अस्तु पगयुते । नमस्ते प्राण तिष्ठन् आभीनाद्योत ते नमः ॥ ७ ॥

अर्थ--( परमेश्वर ) जिसके आधान ( हृदय ) यह सब जगत् है उस प्राणाय नमः । प्राणक त्वय मम समक्षार है ( य सर्वस्य ईश्वर ) यह प्राण सबका ईश्वर ( भूतः ) है और ( यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं ) उसमें सब जगत् रहता है ॥ १ ॥  
 हे प्राण ! ( अस्पर्षी ते मम ) गर्भना करनेवाले तुझसे नमस्कार है ( दध्नेऽधो ) मेथेमें साद करनेवाले तुझको नमस्कार है । हे प्राण ! ( गिद्युतं ) समस्त सब तुझको नमस्कार है और हे प्राण ! ( वर्पणं ) पृथिवी परनेवाले तुझको नमस्कार है ॥ २ ॥

हे प्राण ! ( यत् स्तनयित्तुना आभीना कर्तव्यं ) जब तू मेथेके द्वारा ओषधियोंके समुत्पन्न बन्नी गर्भना करता है, तब ओषधियाँ ( प्रसीपन्ते ) लज्जामें होती हैं, ( गर्भीन् दध्ने ) गर्भधारण करती हैं और ( अगो बृहो विशावन्ते ) बहुत प्रशस्ति प्राप्त करनेवाले प्राण होते हैं ॥ ३ ॥

हे प्राण ! ( अमिर्मृष्टा ) नमो अस्तु आने ही जब तू ( अमिर्मृष्टाः ) अमिर्मृष्टाति ( ओषधियोंके ) लोचने गर्भना करने लगता है, ( अमिर्मृष्टाः ) नमो अस्तु अमिर्मृष्टाति ( अमिर्मृष्टाः ) तब सब जगत् भान बन जाता है, जो कुछ इस पृथ्वी पर है ॥ ४ ॥

( यदा प्राणः ) जब प्राण ( वर्पणं महीं पृथिवीं लज्जयन्ते ) पृथिवी पर लज्जित होता है तब पृथिवी ( वर्पणं ) लज्जित होती है [ और समस्तते है कि ] जिसमें सब ( यः वे मम अस्मिन् ) इस सबकी मूर्ति होती है

( अमिर्मृष्टा ओषधयः ) नमो अस्तु ओषधियों पर पृथिवी परनेवाले प्राणोंके समुत्पन्न ( अमिर्मृष्टाः ) प्राणोंके साथ भावण करती हैं कि हे प्राण ! ( य आयुर्वै नः प्रार्थितः ) तूने हमकी आयु बचायी है और हम सबको ( सुरभी ) सुशोभित ( अकः ) विशा है ॥ ६ ॥

( अमिर्मृष्टा ते मम अमिर्मृष्टा ) नमो अस्तु आने ही जब तू मेथेके द्वारा ओषधियोंके समुत्पन्न बन्नी गर्भना करता है, तब ओषधियाँ ( प्रसीपन्ते ) लज्जामें होती हैं, ( गर्भीन् दध्ने ) गर्भधारण करती हैं और ( अगो बृहो विशावन्ते ) बहुत प्रशस्ति प्राप्त करनेवाले प्राण होते हैं ॥ ३ ॥

- ॥ नमस्ते प्राण प्राणते, नमो अस्त्वयानुते ।  
 पराचीनाय ते नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै तं हृदं नमः ॥८॥  
 यां ते प्राण प्रियां तनूयो ते प्राण-प्रयसी । अयो यद् भेषजं तत्र तस्य नो घेहि जीवसे ॥९॥  
 प्राणः प्रजा अनु वेस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् । प्राणो ह सर्वस्थेश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥१०॥  
 प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते । प्राणो ह सत्यवादिर्नष्टुत्तमे लोक आ देधत् ॥११॥  
 प्राणो विराट् प्राणो देष्टी प्राणं सर्वं उपासते । प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥१२॥  
 प्राणापानौ ब्रीहियवायं नड्वान् प्राण उच्यते । यवै ह प्राण आर्हितोऽपानो ब्रीहिरुच्यते ॥१३॥  
 अपानन्ती प्राणानि पुरुषो गर्भे अन्तरा । यदा त्वं प्राण जिन्वस्वपथ स जायते पुनः ॥१४॥  
 प्राणमाहुर्मर्तरिषानं वातो ह प्राण उच्यते । प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥  
 आर्यवेणीराक्षिरमीदं र्भिनुष्यजा उत । ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥

अर्थ- हे प्राण ! ( प्राणत ) जीवनका कार्य करनेवाले तुझे नमस्कार है, ( अपानते ) अपानका कार्य करनेवाले ते लिये नमस्कार है । ( पराचीनाय ) आगे करनेवाले और ( प्रतीचीनाय ) पीछे करनेवाले प्राणने लिये नमस्कार है ( सर्वस्मै तं हृदं नमः ) सब कार्य करनेवाले तेरे लिये यह मेरा नमस्कार है ॥ ८ ॥

हे प्राण [ या ते प्रिया तनूः ] जो मेरा [ प्राणमय ] प्रिय शरीर है, [ या ते प्रेयसी ] और जो तेरे [ प्राणापानरूप ] प्रिय भाग है, तथा [ अयो यद् भेषजं ] जो तेरा भोजन है वह [ अं वसे से घेहि ] हरिश्चन्द्रने लिये हमने दे ॥ ९ ॥

[ विराट् प्रियं पुनं हव ] जिस प्रकार प्रिय पुत्रके साथ पिता रहता है, उस प्रकार [ प्राणः पथा अनुवसे ] मनु प्रजापति के साथ प्राण रहता है [ वत् प्राणति ] जो प्राण धारण करते हैं और [ वत् च न ] जो मरी धारण करते, [ प्राणः सर्वथ ईश्वरः ] उन सबका प्राणही ईश्वर है ॥ १० ॥

[ प्राणः मृत्युः ] प्राण ही मृत्यु है और [ प्राणः तक्मा ] प्राणही जीवनही शक्ति है । हमलिये [ प्राणं देवाः ] अपानने [ प्राणो मृत्युः ] अपानका कार्य करनेवाले प्राणने दे ॥ ११ ॥

[ प्राणं विराट् ] विशेष श्रेष्ठता है, और प्राण ही [ देष्टी ] अर्पण श्रेष्ठ है, इसलिये [ प्राणं सर्वं उपासते ] प्राणकी ही सब उपासना करते हैं । सूर्य, चन्द्रमा और प्रजापति भी [ प्राण माहुः ] प्राणही दे ॥ १२ ॥

[ प्राणापानौ ब्रीहियवौ ] प्राण और अपान ही चावल और जौ हैं । ( नड्वान् ) येन ही [ प्राणः उच्यते ] मुख्य प्राण है । ( यवै ह प्राणः आर्हितः ) जो ये प्राण खाते हैं और [ ब्रीहिः अपानः उच्यते ] चावल अपानको कहते हैं ॥ १३ ॥

[ पुनः गर्भे अन्तरा ] अथ गर्भके अंदर [ प्राणति अपानति ] प्राण और अपानने व्यवहार करता है । हे प्राण ! जब तू [ जिन्वसि ] प्रेणा करता है तब वह [ अय मः पुनः जायते ] और पुनः उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

[ प्राणं मातरिषानं माहुः ] प्राणको मातरिषा कहते हैं, और [ वातो ह प्राणः उच्यते ] पुरुष मायही प्राण है । ( भूतं भव्यं च ह प्राणं ) भूत, भविष्य और सब कुछ सर्वमान्य नामों से है वह सब प्रणमें ( सर्वं प्रतिष्ठितं ) ही रहता है ॥ १५ ॥

हे प्राण !- ( यदा ) जबतक तू [ जिन्वसि ] प्रेणा करता है तबतक ही अपानकी, आतिथी, देवी और मनुष्य- [ ओषधयः ] औषधियाँ [ प्र जायन्ते ] उत्पन्न होती हैं । १६ ॥

यदा प्राणो अम्यवर्षाद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुषः ॥१७॥  
यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिन्वासि प्रतिष्ठितः । सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिन्नोक्त उक्तमे ॥१८॥  
यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः एषा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वां शृणवत् सुश्रवः ॥१९॥  
अन्तर्गर्भेश्वरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः ।  
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा श्रुचीभिः ॥२०॥ [१२]  
एकं पादं नोत्खिंदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।  
यदुङ्ग स तमुत्खिन्दन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न राज्ञी नार्हः स्यान्न व्युच्छेत् कदाचन ॥२१॥  
अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।  
अर्धेन विश्वं ध्रुवेन ज्ञानं यदस्यार्थं कृतमः स केतुः ॥२२॥  
यो अस्य विश्वजन्मन् ईशे विश्वस्य चेष्टतः अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥२३॥

अर्थ[यदा प्राणः महीं पृथिवीं अम्यवर्षात्] जब प्राण इस बड़ी पृथ्वीपर कृष्टि करता है सब [ओषधयः वीरुषः याः काश्च वीरुषः] औषधियाँ और वनस्पतियाँ बढ़ जाती हैं ॥ १७ ॥

हे प्राण ! [ याः ते इदं वेद ] जो मनुष्य तेरी इस शक्तिको जानता है और [ यस्मिन् प्रतिष्ठितः वासि ] जिस मनुष्यमें तू प्रतिष्ठित होता है, [ तस्मै सर्वं बलिं ह १८ ] उस मनुष्यके लिये उस उत्तम लोकमें सबही सरकारका समर्पण करते हैं ॥ १८ ॥

हे प्राण ! [ यथा ] जिन प्रकार ये [ तुभ्यं सर्वाः इमाः प्रजाः बलिहृतः ] सब प्रजाजन्म तेरा सरकार करते हैं कि [ यः ] जो [ सुश्रवः ] उत्तम श्रवणी है और [ श्वः ] तेरा सामर्थ्य [ कृणवन् ] सुनता है [ तस्मै बलिं ह १९ ] उसके लिये भी बली देते हैं ॥ १९ ॥

[ देवतासु जन्मन् ] ईशमादिकोंमें जो व्यपक प्राण है वह ही [ ज्ञातः गर्भः स्वरति ] गर्भके अंदर चलता है । [ यः ] पहेले हुआ था [ सः उ ] वह ही [ पुनः जायते ] फिर उत्पन्न होता है । जो [ भूतः ] पहिले हुआ था [ स ] वह ही [ यद्यं भविष्यत् ] अब होता है और आगे भी होगा । पिता [ श्रुचीभिः ] अपनी रुब शक्तियोंके साथ [ पुत्रं भविष्यत् ] पुत्रमें प्रविष्ट होता है ॥ २० ॥

[ सलिलाद् इंस दद्यान् ] जलसे इंस ऊपर उठता हुआ [ एकं पादं न उच्छेदति ] एक पाँवको उठाता नहीं । [ अंग ] हे शिव [ यत् स र्त्तं सलिलेन ] यदि वह उस पाँवको उठावेगा [ न पुन अयं स्यात्, न श्वः न राज्ञी न अर्हः स्यात्, न व्युच्छेत् कदाचन ] तो आज्ञा, बल, राज्ञी, दिन, प्रकाश और अंधेरा नष्ट भी नहीं होगा ॥ २१ ॥

[ अष्टाचक्रं ] आठ चक्रोंसे युक्त सहस्राक्षं [ एकनेमि वर्तते ] जिसका है, ऐसा यह प्राणचक्र (यस्य नि पद्या) आगे और पीछे चलता है । [ अर्धेन विश्वं ध्रुवेन ज्ञानं ] आधे आगसे सब भुवनोंको उत्पन्न करके (यत् अयं जन्म) यो इसका भाषा आग के पुरा है [ यतमः सः वेद्यः ] वह जिससे विद् है ॥ २२ ॥

हे प्राण ! [ अद्य विश्वजन्मनः ] सबही जन्म देनेवाले और इस सब [ विश्वस्य चेष्टतः ] इसचल करनेवाले ( यः ईशे ) भगवान् जो ईश है, सब ( अन्येषु ) अन्योमें ( द्विष भन्वने जमः ) शीघ्र गतिवाले तेरे लिये नमन है ॥ २३ ॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः । अतन्द्रो मल्लणा धीरः प्राणो माऽनु तिष्ठतु ॥ २४ ॥

ऊर्ध्वः सुषेपु जागार ननु तिर्यक् नि पद्यते । न सुप्तस्य सुषेपुनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यति ।

अर्पा गर्भमिव जीवसे प्राणं ब्रह्मणि त्वा मयि

॥ २६ ॥ ( १३ )

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

अर्थ-(यः अस्य सर्वजन्मनः) जन्म धारण करनेवाले और (अतन्द्रः सर्वस्य) हलचल करनेवाले सबका जा (ईशे) स्वामी है, वह भविष्य प्राण (अतन्द्रः) आलस्यरहित होकर (मल्लणा धीरः) आत्मशक्तिके युक्त होता हुआ प्राण (मा) मेरे पास (अनुतिष्ठतु) सदा रहे ॥ २४ ॥

[ सुषेपु ] सब सो जानेपर भी यह प्राण [ ऊर्ध्वः ] खड़ा रहकर [ जागार ] जागता है [ ननु तिर्यक् निपद्यते ] किसी तिरछा गिरता नहीं । [ सुप्तस्य सुषेपु ] सबके सो जानेपर इसका सोना । [ कश्चन न अनुशुश्राव ] किसीने भी श्रवण नहीं है ॥ २५ ॥

हे प्राण ! [ मत् मा पर्यावृतः ] मेरेवे पूरक न होओ । [ न मन् अन्यः भविष्यति ] मेरेसे दूर न होओ । [ जीवसे जर्पा गर्भे इव ] पानीके गर्भके समान, हे प्राण ! [ जीवसे मयि एव ब्रह्मणि ] जीवनके लिये मेरे अंदर तुमके बसना है ॥ २६ ॥

प्राणसूक्त समाप्त

द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥ २ ॥

--





बोधित होता है। श्रक्तिके शरीरमें प्राणही उत्पत्ती विभूति है। सब जगत्में उसका स्वरूप विद्यमान है प्राणशक्ति ही है। इस व्यापक प्राणशक्तिके आश्रयमें अग्नि, वायु, ईश, सूर्य आदि देवता-गण रहते हैं और अपना कार्य करते हैं। श्रक्तिमें और समष्टिमें एवही नियम कार्य कर रहा है श्रक्तिमें प्राणके साथ ईश्वर रहती है और समष्टिमें व्यापक प्राणशक्तिके साथ अग्नि आदि देव रहते हैं। दोनों स्थानोंमें दोनों प्रकारके देव प्राणही उपासनासे ही अपनी शक्ति प्राप्त करते हैं। तीसरे देव समाज और राष्ट्र-में विद्वान् गुरु आदि प्रकारके हैं, वे सत्यवादी, सत्य निष्ठ, सत्य-परायण और सत्याग्रही बनकर प्राणाध्यामद्वारा प्राणोपासना करते हैं। प्राणही इनकी उत्तम लोकमें पहुँचता है। अर्थात् इनकी भेद्यता है। अर्थात् प्राणोपासनासे सबही भेद्य बनते हैं।

### सत्यसे प्रलप्राप्ति ।

कई लोग यहाँ पहुँचें कि 'सत्यवादिताका प्राण उपासनाके साथ क्या संबंध है?' उत्तरमें निवेदन है कि सत्यसे मन पवित्र होता है और उसकी शक्ति बढ़ती है। प्राणकी शक्तिके साथ मानसिक शक्तिका विशाल होनेसे बड़ा लाभ होता है। प्राणाध्यामसे प्राणही शक्ति बढ़ती है और सत्यनिष्ठाने मनकी शक्ति विकसित होती है। इस प्रकार दोनों शक्तियोंका विकास होनेसे मनुष्यही योग्यता असाधारण हो जाती है।

इन्द्रिय मंत्रणा अब विचार करिये। प्राण विद्युत् तेजस्वी है। जबतक शरीरमें प्राण रहता है, जबतक ही शरीरमें तेज होता है। प्राणके चले जानेसे शरीरका तेज नष्ट होता है। सब शरीरमें प्राणसे ही प्रेरणा होती है। बेलना, हिलना, चलना आदि सब प्राणही प्रेरणसे ही होता है। अर्थात् शरीरमें तेज और प्रेरणा प्राणसे होती है। इसलिये सब प्राणीमात्र प्राणहीही उपासना करते हैं अपना यों समझिए कि जबतक वे प्राणके साथ रहते हैं जबतक ही उनकी स्थिति है तब ही। जब वे प्राणका हाथचुँच छोड़ देते हैं तब उनकी मृत्यु ही होती है। इसलिये न होनेपर भी सब प्राणी प्राणही उपासना कर रहे हैं। यदि मानसिक इन्द्रिय के साथ मनो-उत्थान की जायगी तो निवेदन बड़ा लाभ हो सकता है। जबकि इस जीवनका जो वैभव है, वह प्राणसेही प्राप्त होता है। इसलिये अधिक वैभव प्राप्त करना है, तो प्रत्येक प्राणी ही उपासना करनी चाहिये। प्रत्येक प्राणी ही उपासना करे। इस कारणसे ईश्वर के प्राणोंमें ईश्वरिणीका रूप बनने

प्राण रखा जाता है और चंद्र अपने किरणोंसे औषधियोंमें प्राण रखता है। भेष विद्युत् आदि अपने अपने कार्यद्वारा जगत्को प्राण दे रही रहे हैं। अंतमें प्राणोंका प्राण जो प्रजापति परमात्मा है, यहाँ सच्चा प्राण है, क्योंकि जीवन्की सब प्राणशक्तिका वह एक मात्र जगत्कार है। यही कारण है कि वेदमें प्रजापति परमात्माका नाम प्राणही है। अन्य पदार्थोंमें भी प्राण है उसका वर्णन तेर-हवें मंत्रमें इस प्रकार किया है—

मुख्य प्राण एवही है, उसके बलसे शरीरमें प्राण और अपना कार्य करते हैं। इसी प्रकार खेतोंमें बैलकी शक्ति मुख्य है, उसकी शक्तिके ही चावल और जौ आदि धान्य उत्पन्न होता है। वेदमें 'अनङ्गान्' यह बैलवाचक शब्द प्राणका ही वाचक है। समस्तोंका शरीररूपी खेतमें यह प्राणरूपी बैलही खेती करता है और यहाँका जिसना जीवामा है। शरीर क्षेत्र है, जीवामा क्षेत्रक है, प्राण बैल है और जीवन्प्रवहाराख खेती यहाँ चल रही है। वेदमें अनङ्गान् शब्दका प्राण अर्थ है, यह न समझनेके कारण कईयोंने बड़ा अर्थका अनर्थ किया है।

अनङ्गान् दाधार पृथिवीमुत्तमाम् ॥ (अथर्व, ३।१।११)  
"प्राणका पृथिवी और चुल्होको आधार है," यह वाक्यविषय अर्थ न लेकर, बैलका पृथिवी और चुल्होको आधार है, ऐसा भाव कईयोंने समझा है। यदि पाठक इस अनङ्गान् शब्दका अर्थ इस प्राणशक्तिके अर्थके साथ देखेंगे, तो उनकी स्पष्ट पता लग जायगी कि यहाँ अनङ्गान् अर्थ बैल बैल ही नहीं है, पशुत्वं पशु भी है। इसी कारण इस सूक्तमें प्राणका नाम अनङ्गान् कहा है। यह प्राण है और चावल अन्न है, यह कृषि-न आलंकारिक है। धान्यमें प्राण और अन्न अर्थात् प्राणसे सृष्टि शक्ति का वश है, धान्यका बोध लेवन करनेसे अपने शरीरमें प्राणादिक आते हैं और अपने शरीरके अवयव बनकर कार्य करते हैं।

यहाँके अंदर रहनेवाला जीव भी यहाँ मर्ममें प्राण और अन्न-मके व्यापार करता है। और हृत्पिण्ड यहाँ उत्पन्न जीवन होता है। जब जन्मके समय प्राण जन्म होने योग्य प्रेरणा करता है, तब उसको जन्म प्राप्त होता है। अर्थात् जन्मके अनुकूल प्रेरणा करना प्राणकी ही भाषी है। इस अनुकूल मंत्रमें '१० पुनः जायते' यह वाक्य पुनर्जन्म की व्याख्याका मूल वेदमें बसा रहा है, अथवा पुनः पुनः जन्म प्राप्त करता है, वह सब प्राणही प्रेरणासे होता है, वह भाव इस मंत्रमें स्पष्ट है।

१५ वें मंत्रमें " मातरिषा " शब्दका अर्थ ' माता के अंदर रहनेवाला, माताके गर्भमें रहनेवाला ' है । माताके गर्भमें प्राणरूप अवस्थामें जीव रहता है, इसलिये जीवका नाम ' मातरिषा ' है । गर्भमें इसकी स्थिति प्राणरूप होनेसे इसका नाम ही प्राण होता है । इस कारण प्राण और मातरिषा शब्द समान अर्थ बताते हैं ।

' मातरिषा ' का दूसरा अर्थ वायु है । वायु, वात आदि शब्द भी प्राणवाचक ही हैं । क्योंकि वायुरूप प्राण ही हम अंदर रहते हैं और प्राणधारण कर रहे हैं । प्राण का विचार करनेसे ऐसा पता लगता है कि उसके आधारसे भूत, भविष्य और वर्तमान का सबही जगत् रहता है । प्राणके आधारसे ही सब रहता है । प्राणके बिना जगत्में किसी की भी स्थिति नहीं हो सकती । पूर्व-जन्म, यह जन्म और पुनर्जन्म ये सब प्राणके कारण होते हैं । अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान कालमें जो कर्मके संस्कार प्राणमें संक्षिप्त होते हैं, उसके कारण यथायोग्य रीतिसे पुनर्जन्मादि होते हैं ।

औपधियैश्च सर्वयोग तत्तत्क ही होता है कि जबतक प्राणकी शक्ति शरीरमें है, जब प्राण की शक्ति शरीरसे अलग होने लगती है, तब किसी औपधिका कोई उपयोग नहीं जाता । इसी लुप्तके मंत्र ९ में " प्राणो औपधि है । कि जो जीवना है, देव है, " ऐसा कहा है, उसका अनुसंधान इस १६ वें मंत्रके साथ करना उचित है ।

इस मंत्रमें "( १ ) आयवर्णीः, ( २ ) आगिरसीः, ( ३ ) देवीः और ( ४ ) मनुष्यजाः " ये चार नाम चार प्रकारकी चिकित्साओंके बोधक हैं । इसका विचार निम्न प्रकार है—( १ ) मनुष्यजाः औपधयः = मनुष्योंकी बनाई औपधियाँ, अर्थात् कषाय, चूर्ण, अवलेह, मसू, कृप, आदि प्रकार जो वैद्यों, डाक्टरों और हर्कामोंके बनाये होते हैं, उनका समावेश इसमें होता है । ये मानवी औपधियोंके प्रकार हैं । इससे स्पष्ट देवी विधि है । ( २ ) देवीः औपधयः-आप, तेज, वायु, आदि देवोंके द्वारा जो चिकित्सा की जाती है, वह देवी-चिकित्सा है । जलचिकित्सा, और चिकित्सा, वायुचिकित्सा विद्युच्चिकित्सा आदि सब देवी चिकित्साके प्रकार हैं । सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके साक्षात् संबंधसे यह चिकित्सा होती है और आचार्यकारक गुण प्राप्त होता है, इसलिये इसमें योग्यता बड़ी है । इसके अतिरिक्त देवयज्ञ अर्थात् हवन आदि द्वारा जो चिकित्सा होती है, उसका भी

समावेश इसमें होता है । देवयज्ञद्वारा देवताओंकी प्रसन्नता करके, उन देवताओंके जो जो अंश अपने शरीरमें हैं, उनका आरोग्य संपादन करना कोई अस्वाभाविक प्रकार नहीं है । यह बात युक्तियुक्त और तर्कगम्य भी है । ( ३ ) आगिरसीः औपधयः = अंगैः, अवयवों और इंद्रियोंमें एक प्रकारका रस रहता है, जिसके कारण हमारे अथवा प्राणियोंके शरीरकी स्थिति होती है । उस रसके द्वारा जो चिकित्सा होती है वह आग्नि-रस-चिकित्सा कहलाती है । मानसिक इच्छाशक्तिकी प्रबल प्रेरणासे इस रसका अंगगलंगोंमें संचार करनेसे रोगांकी निवृत्ति होती है । मानसिक चिकित्सागम्यका इसमें विशेष संबंध है । रूग्ण अवयवको संबोधित करके रोगीगमक भावकी सूचना देना, तथा रोगांको निज अंगगम शक्तिकी प्रेरणा करनेके लिये उत्तेजित करना, इस विधिमें मुख्य है । निज आरोग्यके लिये बाधा साधनोकी निरपेक्षता इसमें होनेसे इसका आगिरस-चिकित्सा अर्थात् अपने निज अंगोंके रसद्वारा होनेवाली चिकित्सा कहते हैं । ( ४ ) आयवर्णीः औपधयः = अ-धर्मा ' नाम है योगीका । मनमें विविध वृत्तियोंका निरोध कनेवाला, चित्तवृत्तियोंको स्थानहीन रखनेवाला योगी अर्थात् कहलाता है । इस शब्दका अर्थ ( अ-धर्मा ) निश्चय, सुख, स्थिर, गतिहीन ऐसा है । स्थिर-प्रज्ञ, स्थिरबुद्धि, स्थिरमति आदि शब्द इसका भाव बताते हैं । योगी लोग मंत्रप्रयोगसे जो चिकित्सा करते हैं उसका नाम आयवर्णी-चिकित्सा होता है । हृदयके प्रेमसे, परमेश्वरभक्तिये, मानसशक्तिये और आत्माविश्वाससे मंत्रसिद्धि होती है । यह आयवर्णी-चिकित्सा सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि इसमें जो कार्य होता है, वह आत्मानी शक्तिये होता है, इसलिये अन्य चिकित्साओंकी अपेक्षा इसकी श्रेष्ठता है । इसमें कोई संदेह ही नहीं है । ये सब चिकित्साके प्रकार तत्तत्क कार्य करते हैं कि जबतक प्राण शरीरमें रहना चाहता है । जब प्राण चला जाता है, तब कोई चिकित्सा फलदायक नहीं हो सकती । इस प्रकार प्राणका महत्त्व विशेष है ।

प्राणकी वृष्टि ।

जो मनुष्य प्राणकी शक्तिका वर्णन ग्रहसे सुनता है, प्राणके बलको विधासते जानता है, प्राणका बल प्रप्त करनेमें यत्नशील होता है और जिस मनुष्यमें प्राण उत्तम रीतिसे प्रतिष्ठित, और स्थिर रहता है, उसका ही सब सरकार करते हैं बलकी स्थिति

कृत्तम लोहमे होती है और उसीका यश सर्वत्र फैलता है । प्राणायामद्वारा जो अपने प्राणको प्रसन्न और स्थायीन करता है, उसका यश सब प्रकारसे बढ़ता है । इस उल्लेखमें मंत्रमें 'बलि' शब्दका अर्थ सन्तान, पूजा, अर्पण, शक्तिप्रदान आदि प्रकारका है । सब अन्य देव प्राणकी ही पूजने हैं, इस बातका अनुभव अपने शरीरमें भी आ सकता है । भेत्त कर्ण नासिका आदि सब अन्य देव प्राणकी ही पूजा करते हैं, प्राणकी उपस्थानसे ही प्राणकी शक्ति उनमें प्रकट होती है । इसी प्रकार प्राणायामकी स्थापना करनेवाले योगीका सन्तान अल्प सञ्जन करते हैं और सन्तक उपदेशसे प्राणोपासनाका मार्ग जानकर स्वयं बलवान बन सकते हैं । यही कारण है कि प्राणायाम करनेवाले योगीकी सर्वत्र प्रशंसा होती है ।

बन जाना है, अथवा 'हंस' के साथ 'ओं' मिलानेसे 'सोडं' बन जाता है ।

स-ह ह-स

ओ-म् म्-अओ (अः)

सोडं हंसः

पाठक यहां होमों प्रकारके रूप देख सकते हैं । सांप्रदायिक मतमें दूर रहकर मूल वैदिक कल्पनाकी यदि पाठक देखें तो उनको बड़ा आश्चर्य प्रतीत होगा । 'ओं' शब्द आत्माका वाचक है और 'हंस' शब्द प्राणाका वाचक है । आत्माका प्राणके साथ इस प्रकारका संबंध है । अत्मा ब्रह्माका वाचक है और ब्रह्माका वाहन हंस है, इस पौराणिक रूपकमें आत्मा प्राणके सयका अखंड संघर्षी वर्णन किया है । यह हंस मानस शरीरमें क्रीड़ा करता है । यहा प्राण भी हृदयरूपी अंतःकरणस्थानीय मानवमहोत्सवमें किड़ा कर रहा है । हृदयकमलमें जीवरमाका निवास सुप्रसिद्ध है अथवा कमलासन ब्रह्मदेव और उसका बहन हंस, इसी मूल वैदिक कल्पना इस प्रकार यहां स्पष्ट होती है-

ब्रह्मा, ब्रह्मदेव

आत्मा, जीवात्मा, मत्मा

हंस-वाहन

प्राण-वाहन

कमल आसन

हृदय कमल

मानस शरीर

अंतःकरण (हृदय)

प्रेरक शरीरदेव

प्रेरक आत्मा

वेदमें हंसका वर्णन अनेक मंत्रोंमें आया है, उसका मूल अर्थ इस प्रकार देखा जा सकता है । वेदमें 'असौ अहं (अनु-४०।१०)' कहा है । 'अनु अर्थात् प्राणशक्ति अंदर रहने लगा मैं आत्मा हूँ' यह भाव उक्त मंत्रका है । वहीं भाव उक्त श्रवणमें है । प्राणके साथ आत्माका अवरुधन है । यह प्राण ही 'हंस' है । यह (सामिं) हृदयके मानस शरीरमें क्रीड़ा करता है । श्रवण नेनेके समय यह प्राण उभ शरीरमें मोता लगता है और उत्प्राण भेनेके समय ऊपर उठता है । यहां मन्त्र उक्त होता है, कि जब उत्प्राणके समय प्राण बाहर आता है तब प्राणी मरता क्यों नहीं ? पूर्ण उत्प्राण नेकर आधको पूर्ण बाहर निकालनेवा भी मनुष्य मरता नहीं । इसका कारण इस मंत्रमें बताया है । जिस प्रकार हंस पक्षी एक पक्ष पानीमें ही रहकर पृथक् पक्षी ऊपर उठता है, वही प्राणी प्राण ऊपर उठने पर अथवा एक पक्ष ऊपर उठने पर उठता है और दूसरे पक्षको ही बाहर उठता है । कभी दूसरे पक्षको दिखाता नहीं ।

संज्ञे मंत्रमें कहा है कि सूर्य चंद्र वायु आदि देवताओंके अंग मनुष्यादि प्राणिमंडले शरीरमें रहते हैं । वे ही आत्मा, शक्ति आदि अवयव विवाहप्रिया स्थानमें रहते हैं । इन देवताओंमें प्राणकी शक्ति व्याप्त है । यही व्यापक प्राण पूर्वदेहको छोड़कर दूसरे गर्भमें प्रवेश होता है । अर्थात् पुनर्वा अन्म लेनेके पञ्च पुनः अन्म लेता है । आत्मा ही शक्तिों का नाम शची है । इंद्रकी धर्मपत्नीका नाम शची होता है । धर्मपत्नी का अर्थ यही निश्चय ही है । इंद्र जीवात्माका है और उसकी शक्तिवा शची नामसे प्रसिद्ध है । पिताका अंग अपनी सब शक्तियोंके साथ पुत्रमें प्रविष्ट होता है । पिताके अंगों, अवयवों और इन्द्रियोंके समान ही पुत्रके कई अंग अवयव और इन्द्रिय हीन हैं । स्वभाव तथा गुणधर्म भी कई अंशोंमें मिलते हैं । इस बातको देखते-पहा लग सकते हैं कि पिता अपनी शक्तियोंके साथ पुत्रमें किस प्रकार प्रविष्ट होता है । श्रद्धालु लोगोंको इस बातका विशेष विचार करना चाहिए, क्योंकि प्रजा निर्माण करना उनका ही विषय है । मातापिताके अंगों और पुत्र गुणधर्म समानमें आते हैं, इसीसे मातापिताको स्वयं निहंस् हांकर ही संतान उत्पन्न करनेका विचार करना चाहिए । अर्थात् दोषी मातापिताको संतान उत्पन्न करनेका अधिकार नहीं है ।

इतनेमें मंत्रमें 'हंस' नाम प्राणका है । काष्ठ अंदर जानेके समय 'त' की ध्वनि होता है और उत्प्राण बाहर जानेके समय 'ह' की ध्वनि होती है । 'ह' और 'त' मिलकर 'हंस' शब्द उत्पन्न होता है । उसीके अर्थ हंस-हंसः, सोडं' आदि शब्दवादे मिले बनते गये हैं । इनमें 'हंस' शब्द ही हंस है । ब्रह्मा उत्पन्न करनेके हंसका 'सोडं'

साथै प्राण अपनी एक शक्तियों शरीरमें स्थिर रखता हुआ दूसरी शक्तियों बाहर आकर कार्य करता है। इसलिये मनुष्य मरता नहीं। यदि वह अपने दूसरे पावकों भी बाहर निकालेगा तो आज, कल, दिन, रात, प्रकाश अंधेरा आदि कुछ भी नहीं होगा अर्थात् कोई प्राणी जीवित नहीं रह सकेगा। जीवनके पथ ही कालका ज्ञान होता है। इस प्रकारका यह प्राणका संबंध है। प्रत्येक मनुष्यको उत्तम विचार करके इस संबंधका ज्ञान ठीक प्रकारसे प्राप्त करना चाहिए। 'हंस' शब्दके साथ प्राण उपासनाका प्रकार भी इस मंत्रसे व्यक्त होता है। 'हंस' शब्दके साथ 'स' शब्दका ध्वन और उच्छ्वासके साथ 'हं' शब्दका ध्वन करनेसे प्राण उपासना होती है। इससे चित्तकी एकप्रता शीघ्र ही साध्य होती है। वही "सो" अक्षरका ध्यान स्वात्मके साथ और "हं" का ध्वन उच्छ्वासके साथ करनेसे 'हंस' का ही जप बन जाता है। यह प्राण उपासनाका प्रकार है। सांप्रदायिक लोगोंने इनपर बिलक्षण और विभिन्न कल्पनाएँ रखी हैं, परंतु मूलकी और ध्यान देकर इनको ही धारण करना ही हमको उचित है। अब इसका और वर्णन दोषिदे—

इस शरीरमें आठ चक्र हैं जिनमें प्राण जाता है और निक्षण कार्य करता है वह वातरश्मि मंत्रमें कही है। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, सूर्य, अनाहत, विशुद्धि, आज्ञा और सहस्रार ये आठ चक्र हैं, कमलागुप्त से लेकर शिरके उपरले भाग तक आठ स्थानों में ये आठ चक्र हैं। पीठके मरूदंडमें इनकी स्थिति है। इस प्रदेशके चक्रमें प्राण जाता है और अपने अपने निवन कार्य करता है। जो सज्जन प्राणायामका अभ्यास करते हैं उनको अपना प्राण इस चक्रमें पहुँचा दे, इस बातका अनुभव होता है, और वहांकी स्थितिका भी पता लगता है। ऊपर मस्तिष्कमें सहस्रार चक्रका स्थान है। वही मस्तिष्कका मध्य और मुख्य भाग है। प्राणका एक वेद हृदयमें है। इस प्रकार एक वेदके साथ आठ चक्रोंमें सहस्रार ज्योंके द्वारा आगे और पीछे चलनेवाला यह प्राणचक्र है। आस उच्छ्वास तथा प्राण अज्ञान द्वारा प्राणचक्रकी आगे और पीछे गति होती है। पठकोंको उचित है कि वे इन बातोंको जानने और अनुभव करनेका यत्न करें। प्राणका एक भाग शरीरकी शक्तियोंके साथ संबंध रखता है और दूसरा भाग आत्माकी शक्तिके साथ संबंध रखता है। शारीरिक शक्तिके साथ संबंध

है (अ. प्र. भा. भा. ११)

रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान प्राप्त करना बड़ा सुगम है, परंतु आध्यात्मिक शक्तिके साथ संबंध रखनेवाले प्राणके भागका ज्ञान करना बड़ा कठिन है। आधे भागके साथ सब भुवन की बनता है, जो इसका दूसरा अर्थ है वह कितना बिन्द है अर्थात् उसका ज्ञान विषय हो सकता है। आत्माके ज्ञानके साथ ही उसका ज्ञान हो सकता है।

प्राण सबकाही ईश है इस विषयमें पहिले ही मंत्रमें कहा है। सयमें गतिमान और सयमें मुख्य यह प्राण है। मन्त्र अर्थात् आत्मशक्तिके साथ रहनेवाला यह प्राण आलस्य रहित होकर और धैर्यके साथ कार्य करनेमें समर्थ बनकर मेरे शरीरमें अनुकूलताके साथ रहे। यह इच्छा उपासकनी मनमें धारण करनी चाहिए। अन्य इन्द्रियोंमें आलस्य होता है, प्राणमें आलस्य कभी नहीं होता; इसलिये प्राणका विशेषण 'अनंद' अर्थात् आलस्य रहित ऐसा रहा है। यही भाव पद्यात्मके मंत्रमें कहा है।

सब ईशिया आराम लती हैं, आलसी बनती हैं, सो जाती हैं और नीचे गिरजाती हैं, परंतु प्राण ही रातदिन खड़ा रहकर जागता है, अथवा मानो इस मोदिरका संरक्षण करनेके लिये खड़ा रहकर पहरा करता है। कभी सोता नहीं, कभी आराम नहीं करता और अपने कार्यके कभी पाछे नहीं हटता। सब ईशिया सोती हैं परंतु इस प्राणका सोना कभी किसीने सुना ही नहीं। अर्थात् विधाम न लेता, हुआ यह प्राण रातदिन शरीरमें कार्य करता है।

इसलिये प्राण उपासना निरंतर हो सकती है। देखिए— किसी आलस्यनगर दृष्टि रखकर स्थान करना हो तो दृष्टि पक जाती है। दृष्टि पकनगर उसकी उपासना नेत्रों द्वारा नहीं हो सकती। इसी प्रकार अन्य ईशियां यकनी हैं और विधाम चाहती हैं, इसलिये अन्य ईशियोंके साथ उपासना निरंतर नहीं हो सकती। परंतु यह प्राण कभी यकता नहीं और कभी विधाम नहीं चाहता। इसलिये इसके साथ जो प्राण उपासना की जाती है वह निरंतर हो सकती है। बिना रुकवट प्राणोपासना हो सकती है, इसलिये इसका अत्यंत महत्त्व है। तथा अब इस सूचना अन्तिम मंत्र कहता है कि—

"हे प्राण ! मेरेसे दूर न हो जाओ, दीर्घ कालतक मेरे अंदर रहो, मैं दीर्घ जीवन व्यतीत करूंगा, मैं दीर्घ आयुधसे युक्त होकर सौ वर्षों भी अधिक जीवन व्यतीत करूंगा।

इसलिये मेरेसे पृथक् न होओ !” यह भावना उपासककी मनमें धारण करनी चाहिए । अन्नमय मन है और आगेमय प्रण है । इसलिये प्राणकी पानीका गर्भ कहा है । उपासकके मनमें यह भावना स्थिर रहनी चाहिए, कि जैसे प्राणाश्रयप्रदि द्वारा अपने शरीरमें प्राणकी बांधकर रख दिया है । इसलिये यह प्राण कभी वियुक्त होकर दूर नहीं होगा । प्राणाश्रयप्रदि साधनेपर वह विश्वास रखकर, उन साधनोंके द्वारा मेरे शरीरमें प्राण स्थिर हुआ है, ऐसा दृढ़ भाव चाहिए और कभी अकाल मृत्युका विचारतक मनमें नहीं आना चाहिए । आत्मापर विश्वास रखनेमें उक्त भावना दृढ़ हो जानी है । इस प्राण सूक्ष्ममें निम्न भाव हैं—

### प्राणसूक्तका सारांश ।

( १ ) प्राणके आधाम ही सब कुछ है, प्रणही सबका सुलभा है ।

( २ ) प्राण पृथ्वीपर है, अंतरिक्षमें है और सुले कम है ।

( ३ ) पृथ्वीका प्राण सूर्य किरणों द्वारा पृथ्वी पर आता है, अंतरिक्षका प्राण दृष्टिद्वारा पृथ्वी पर पहुँचता है, और पृथ्वी-परका प्राण यथा सदा हा वायुवपस रहता है ।

( ४ ) अंतरिक्षस्थ और पृथ्वीस्थ प्राणसे ही सबका जीवन है । इस प्रणकी प्रतिष्ठ सबकी आत्मा होता है ।

( ५ ) एक ही प्राण जबकि शरीरमें प्राण अवल आदि रूपमें परिणत होता है । शरीरके अनेक अंग, अवयव और इन्द्रियोंमें अर्थात् सर्वत्र प्राण ही कार्य करता है ।

( ६ ) प्रण ही सब आध्यात्मिकी औपधि है । प्राणके कारण ही सब शरीरके दोष दूर होते हैं । प्राणही अमृतकृता न होनेपर कोई औपध कार्य नहीं कर सकता, और प्राणही अमृतकृता होनेपर विना औपध आरोग्य रह सकता है ।

( ७ ) प्रण ही दार्घ आधु देवैराज्य है ।

( ८ ) प्राण ही सबका पिता और पिता है । सर्वत्र व्यापक भी है ।

( ९ ) मृत्यु, रोग और बल ये सब प्राणके कारण ही होते हैं । सब द्रव्य प्राणके साथ रहनेपर ही बल प्राप्त करते हैं । भेद पुरुष प्राणकी वशमें बलके बल प्राप्त कर सकते हैं । अन्ध-निष्ठ पुरुष प्राणकी प्रसन्नतासे सत्तम योग्यता प्राप्त करते हैं ।

( १० ) प्राणके साथ ही सब देवपुत्र हैं । सबको प्रेरणा

करनेवाला प्राण ही है ।

( ११ ) धाम्यमें प्राण रहता है । वह भोजनके द्वारा शरीर में जाकर शरीरका बल बढ़ाता है ।

( १२ ) गर्भमें भी प्राण कार्य करता है । प्राणकी प्रेरणासे ही गर्भ बाहर आता है और बढता है ।

( १३ ) प्राणके द्वारा ही पिताके सब पुत्र कर्म स्वभाव और शक्तियों पुत्रमें आती हैं ।

( १४ ) प्राण ही इस है और यह द्वायके मानस सरोवरमें लीला करता है । जब यह चलता आता है तब कुछ भी जान नहीं होता ।

( १५ ) शरीरके आठ कर्कोमें, मस्तिष्कमें तथा हृदयके बंदमें मिल रूपसे प्राण रहता है । यह स्थूल शक्तिसे सब शरीरका धारण करता है और सूक्ष्म शक्तिसे आत्माके साथ शुभ संवेध रखता है ।

( १६ ) प्राणमें आसन्न और दूरकावट नहीं होती है । अग्नि और संश्लेष नहीं होता । क्योंकि इसका मध्य अवस्था आत्माके साथ संबंध है ।

( १७ ) यह शरीरमें रहता हुआ खड़ा पहरा रहता है । अन्न इंद्रिय बसते, रुकते और होते हैं ; पशु यह कभी चला नहीं और कभी विचल नहीं होता । इसका विश्राम होनेपर मृत्यु ही होती है ।

( १८ ) इसलिये सबको प्राणकी स्वाधीनता प्राप्त करनी चाहिए । और उसकी शक्तिसे बलवान होना चाहिए ।

इस प्रकार इस सूक्तका भाव देखनेके पक्ष में वेदोंमें अन्यत्र प्राण विषयक जो जो उपदेश हैं उसका विचार करते हैं ।

### अथर्ववेदमें प्राणविषयक उपदेश ।

अथर्ववेदमें प्राणविषयक अनेक संज्ञ हैं, उनको देखनेसे अथर्ववेदका इस विषयमें उपदेश ज्ञात हो सकता है ।—

प्राणाद्वायुरायस्य ॥ अ० १०।१०।१३, अथ. ११।१।१०

“ परमेश्वरीय प्राण शक्तिसे इस वायुकी उत्पत्ति हुई है । यह वायु हमारा पृथ्वीस्थानीय प्राण है । वायुके बिना अन्न-आयु भी जीवन रहना कठिन है । सभी प्राणी इस वायुको चाहते हैं । पशु कोई यह न समझ कि यह वायु ही कारात्मिक प्राण है, क्योंकि पशुमिश्रणी प्राणशक्तिसे इसकी उत्पत्ति है ।

यह वायु हमारे फेफड़ोंके अंदर जल जाता है, तब उसके साथ परमेश्वरकी प्रणशक्ति हमारे अंदर जाती है, और उससे हमारा जीवन होना है । यह भाव प्राणव्यासके समय मनमें धारण करना चाहिये । प्राण ही आयु है, इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

आयुर्न प्राणः ॥ ऋ. १:६११

“ प्राण ही आयु है । ” जबतक प्रण रहता है तब तक ही जीवन रहता है । इसलिये जो दीर्घ आयु चाहते हैं उनको उचित है कि वे अपने प्राणको तथा प्राणके स्थानको बलवान् बनायें । प्राणका स्थान फेफड़ोंमें होता है । फेफड़े बलवान् करनेसे प्राणमें बल आता है और उसके द्वारा दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है ।

### असु—नीति

राजनीति, साम्राजनीति, गृहनीति इन शब्दोंके समान “असु-नीति” शब्द है । राज्य सत्ताके प्रकार राजनीतिसे स्पष्ट होता है, इसी प्रकार “असु” अर्थात् प्राण का व्यवहार करने की रीति “असुनीति” शब्दसे स्पष्ट होती है Guide to life, by Dr. L. C. Smith अर्थात् “जबतक भाग्य” इस भावको “असु—नीति” शब्द स्पष्ट कर रहा है, यह श्री मोक्षमुद्र, श्री, रॉय आदिका बयन सत्य है । देखिये—

असुनीति पुनरस्मात्पु न्नुः पुन प्राणनिहो मेहिभोयं ॥  
उपोष्ययेम सूर्यमुष्यवमनुमते मृत्तया नः स्मृति ॥

ऋ. १:१५५

“ हे असुनीति ! यहाँ हमारे अंदर पुनः असु, प्रण और भोग धारण करो । सूर्यका उदय हम बहुत देरतक देख सके । हे असुनीति ! हम सबकी सुखी करो और हमकी स्मरणसे युक्त रहो । ”

“ असु नीति ” अर्थात् “ प्राण धारण करनेकी रीति ” जब प्राप्त होती है, तब असुकी शक्ति हीन होनेपर भी पुनः सत्पथ रहि प्राप्त की जा सकती है, प्राण जानेकी संभावना होनेपर भी पुनः प्रणकी स्थिरता की जा सकती है, भोग भोगही असह्यता होनेपर भी भोग भोगके ही अशक्तता हो सकती है । मृत्यु पाश आनेके कारण सूर्य-दर्शन अशक्य होनेपर भी दीर्घ आयुश्रुती प्रति होनेके पश्चात् पुनः सूर्यकी उपासना हो सकती है । प्राण—नीतिके अनुसार मति

रखनेसे यह सबकुछ हो सकता है, इसमें कोई संदेह ही नहीं । तथा—

असुनीति मयो अस्मात्पु धारय जीवतावे सु प्रहिरासु आयुः ॥

रारंभि नः सूर्यस्य संदति पूजते एवं तन्वं वर्षावध-

॥ ऋ. १:१५५

“ हे असुनीति ! हमारे अंदर मनकी धारणा करो और हमारी आयु सभी दीर्घ करो । सूर्यका दर्शन हम करें । तु पाँच शरीर बढ़ा । ”

आयुश्रुत ब्रह्मके रीति इस मंत्रमें वर्णन की है । पहले बात मनकी धारणा की है । मनकी धारणा ऐसी दृढ़ और पक्की करनी चाहिये कि, मैं योगवाधनादि द्वारा अवश्य ही दीर्घ आयु प्राप्त करूँगा, तथा किसी कारण भी मेरी आयु क्षीण नहीं होगी इसप्रकार मनकी पक्की धारणा करनी चाहिये । मनकी दृढ़ धारणा ही और मनके दृढ़ विश्वासपर ही सिद्धि अवलंबित होती है । सूर्य प्रकाशका दीर्घ आयुश्रुत साथ संभव वरमें सुन—सिद्ध ही है । प्राणवाम आदि द्वारा जो मनुष्य प्राणका बल बढ़ाना चाहते हैं उनको घाबलुन खाकर अपना शरीर पुष्ट रखना चाहिये । प्रणवाम बहुत करनेपर भी न खानेसे शरीर कुत होता है । इसलिये प्रणवाम करनेसे लोभो उचित है कि वे अपने भोजनमें या अधिक ध्यान करें ।

इस प्रकार यह प्राणनीतिका शास्त्र है । पठक इन मंत्रोंका विचार करके दीर्घ आयु प्राप्त करनेके उपायोंका साधन प्राणवामसे द्वारा करें ।

### यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश ।

प्राणकी प्रति

प्राणका संरक्षण करनेके विषयमें वेदका उपदेश निम्न मंत्रमें आया है—

प्राणस्य आप्रापयाम् ॥ यजु. ६:१५

“ तेरा प्राण संरक्षित हो । ” प्राणकी शक्ति ब्रह्मके शक्ति ही असह्यता है, क्योंकि प्राणकी शक्ति के साथ ही सत्य सत्य-बोली शक्ति संभव रहती है, इसकी सूचना निम्न मंत्र दे रहा है—

पुंरः प्राणो भंगे भंगे निदियदेद् ब्रह्मो भंगे भंगे विधीयते ॥ य. ६:१६

( ऐदः प्राणः ) आत्माकी शक्तिसि प्रेरित प्राण प्रत्येक अंगमें पहुँचा है, आत्माकी शक्तिसि प्रेरित उदाम प्रत्येक अंगमें रखा है । ” इस प्रकार आंतरिक शक्तित्व का वर्णन वेदके विषय है ।

प्रत्येक अंगमें प्राण रहता है और वही आत्माकी प्रेरणासे कार्य करता है । इस मंत्रके उपदेशसे यह सूचना मिलती है कि जिस अंग, अवयव अथवा इन्द्रियमें प्राणकी शक्ति न्यून होनी, वही आत्माकी प्रबल हृच्छ शक्ति द्वारा प्राणकी शक्ति बढ़ाई जा सकती है । यही पूर्व सूचित “ आग्नि-रस—विद्या ” है । अपने किस अंगमें प्राणकी न्यूनता है, इसको जानना और वही अपनी आत्मिक हृच्छ शक्ति द्वारा प्राणको पहुँचाना चाहिये यही अरुना आरोग्य बढ़ानेका उपाय है । वदमें जो “ आग्नि-रस विद्या ” है वह यही है । प्राणका रक्षण करनेके विषयमें निम्न लिखित मंत्र देखें—

प्राणं मे पादपानं मे पाहि इषानं मे पाहि ॥

यं १५८५ १०

“ मेरे प्राण, अंगान, अंगानका संरक्षण करो । ” इनका संरक्षण करनेसे ही वे प्राण सब शरीरका संरक्षण कर सकते हैं। तथा—

प्राणं मे गुणमि ॥ यजु. ३११३

प्राणं मे सर्वयत् ॥ यजु. ३११२

“ प्राणकी पवित्रता करता है । प्राणकी वृत्ति करो । ” एत और पवित्रतासे ही प्राणका संरक्षण होता है । अतुष्ट ईद्वेय होनेसे अन्तुष्ट अंगोंकी ओर जाता है, और पतित होता है । इस प्रकार भोगोंमें फँस हुए मनुष्य अपनी प्राणकी शक्ति खर्च गया बैठते हैं । इसलिये प्राणका संवर्धन करनेवाले मनुष्योंको उचिन्त है कि वे अपना जीवन पवित्रतासे और नियत वृत्तियों से व्यतीत करें । प्रपवित्रता और अस्तुष्टता ये दो दोष प्राणकी शक्ति घटानेवाले हैं । शक्ति घटानेवाला कोई कार्य नहीं करना चाहिये, क्योंकि—

प्राणं न क्षीयं मांसि । यं २११४४

“ नाकमें प्राणशक्ति और क्षीयं बड़ाओ । ” प्राणशक्ति मजिष्ठके साथ संवर्धन रहती है, और जब वह प्राणशक्ति कम पड़ती है, तब क्षीयं भी बड़ा हो और स्थिर होता है । ईद और प्राण ये दोनों शक्तियाँ साथ साथ रहती हैं । क्षीयमें क्षीय रहनेसे प्राण रहता है, और प्राणके साथ क्षीय भी रहता है । एक दूसरेके आश्रयसे रहनेवाली वे शक्तियाँ हैं । जो

मनुष्य मज्जन्वर्धकी रक्षा करके लम्बीयता बनते हैं, उनका प्राण भी बलवान हो जाता है, और उनको अस्थानस्थ प्राणवामकी सिद्धि होती है । तथा जो प्रारंभसे प्राणायामका अभ्यास नियम पूर्वक करते हैं उनका क्षीय स्थिर हो जाता है । यद्यपि किसीका किसी कारणवश प्रथम आयुमें मज्जन्वर्ध न रहा हो, तो भी वह नियम पूर्वक अनुष्ठानसे उत्तर आयुमें प्राणवामनसे अपने शरीरमें प्राणशक्तिका संवर्धन और बर्धिरक्षण कर सकता है । जिसका मज्जन्वर्ध आदि प्रारंभसे ही सिद्ध होता है उसको क्षीय और सहजसिद्धि होती है । परंतु जिसको प्रारंभसे सिद्ध नहीं होता, उसको यह बात प्रयत्नसे सिद्ध होती है । प्राणशक्तिके संवर्धनके उपायोंमें गायन भी एक उपाय है ।

## गायन और प्राणशक्ति ।

साम प्राणं मयवे । ३११२

“ प्राणको लेकर सामकी शरण लेता हूँ । ” सामवेद गायन और बधिरागका वेद है । ईश उपासना और ईश्वरगुणोंके गायनसे प्राणका बल बढ़ता है । केवल मानसिकता भी मनकी प्रामता और शक्ति प्राप्त होती है । इसलिये गायनसे क्षीय आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं । मयक लोग यदि दुर्बलतामें न फँसे तो वे अर्थोंकी अपेक्षा अधिक क्षीय आयु और आरोग्य प्राप्त कर सकते हैं, गायनका आरोग्यके साथ अत्यंत संबंध है । उपासनाके साथ भी गायनका अत्यंत संबंध है । मन गायनसे उपासनामें अत्यंत लक्षित होता है और यही लक्षितता प्राणशक्तिको प्रबल करनेवाली है । यह बात और है कि गायनका धेदा करनेवाले आजकलके क्षीयवर्धने अपने आचरण बहुत ही विरा दिये हैं । परंतु यह दोष गायनका नहीं है, वह उन मनुष्योंका दोष है । तात्पर्य यह है कि जो पाठक अपने प्राणको बलवान करना चाहते हैं, वे सामगान अवश्य सीखें, अथवा आचार्य गायन से लेकर उसका उपासनामें उपयोग करके सबकी लक्षितता प्राप्त करें ।

क्षीयं प्राणायामो । यं ३११३

“ मेरे अंदर प्राण और अंगान बलवान रहें । ” यह इच्छा हर एक मनुष्य स्वाभावतः धारण करता ही है । परंतु कभी कभी व्यवहार उस इच्छासे विरुद्ध करता है । जब इच्छाके अनुसार व्यवहार हो जायगा, तब सिद्धिमें किंचा प्रकाशक विप्र हो नहीं बचना । प्रत्युत प्राणका प्रकरण है, इसका संबंध आरंभके श्रद्धा आयुके साथ है, और अंदरका संबंध मासिका आदि

स्थानके साथ है इसलिये कहा है—

घातं प्राणेन अरानेन नासिके । य० २५ । २

“प्राणसे वायु की प्रसन्नता और अरानसे नासिकाकी पूर्णता करनी चाहिए।” बायु शुद्ध और प्रसन्न वायुके साथ प्राण हमारे शरीरमें जाता है, और नासिका ही उसका प्रवेश द्वार है। बायु वायुकी प्रसन्नता और नासिकाकी शुद्ध अवस्था करनी चाहिए। नाककी मलिनता और अवस्थितताके कारण प्राणकी गतिमें रुकावट होती है। प्रणकी प्रतिष्ठाके लिये ही हमारे सब प्रयत्न होने चाहिए, इसकी सूचना निम्न मंत्रोंसे मिलती है—

### प्राणकी प्रतिष्ठा ।

विश्वस्मै प्राणायापानाय ध्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय ॥ य० १३।१९; १४।१२; १५।६४

विश्वस्मै प्राणायापानाय ध्यानाय विश्वं ज्योतिर्यच्छुः ॥

य० १३।२४; १४।१४; १५।२८

प्राणाय स्वाहापात्राय स्वाहा ध्यानाय स्वाहा ॥

य० २१।२३; २३।१८

“प्राण, अपान, ध्यान, उदान आदि सब प्राणोंकी प्रतिष्ठा और उनका व्यवहार उत्तम रीतिसे होना चाहिए। सब प्राणोंकी तेजस्वी करो। सब प्राणोंके लिये स्तुति करो।”

प्रत्येक मनुष्यको उचित है कि वह देखे कि, अपने आचरणसे अपने प्राणोंका क्या बढ रहा है या घट रहा है, अपने प्राणोंकी प्रतिष्ठा बढ रही है या घट रही है; अपने प्राणोंके सब ही व्यवहार उत्तम चल रहे हैं अथवा जिसमें कोई गूट्टी है; अपने प्राणोंका तेज बढ रहा है या घट रहा है। इसका विचार करना हरएकका कर्तव्य है। क्योंकि इनका विचार करनेसे ही हरएक जान सकता है कि मैं प्राणविवशक अपना कर्तव्य ठीक प्रकार कर रहा हूँ या नहीं। प्राणविवशक कर्तव्यका स्वरूप “स्वाहा” शब्दद्वारा व्यक्त हो रहा है। सब अन्य इंद्रिय गौण हैं और प्राण मुख्य है, इस लिये अन्य इंद्रियोंके भोगोंका स्वाहाकार प्राणके संवर्धनके लिये होना चाहिये। अर्थात् इंद्रियोंके भोग में मनके लिये जो शक्ति खर्च हो रही है, उसका बहुतसा हिस्सा प्राणकी शक्ति बढानेके लिये खर्च होना चाहिए। मनुष्योंके सामान्य व्यवहारमें देखा जायगा तो प्रतीत होगा कि इंद्रियभोग भोगमें यदि शक्तिके १० मेंसे ९९ भागका खर्च हो रहा है, तो प्राणसंवर्धनमें

एक भाग भी खर्च नहीं होता है। मुख्य प्राणके लिये कुछ शक्ति नहीं खर्च होती परंतु गौण इंद्रियभोगके लिये ही सब शक्तिका व्यय हो रहा है ॥ क्या यह आश्चर्य नहीं है? वास्तवमें मुख्य प्राणके लिये अधिक और गौणके लिये कम व्यय होना चाहिए। यही वेदने कहा है कि प्रणसंवर्धनके लिये अपनी शक्तिका रसावा करो। अपना समय, अपना प्रयत्न, अपना बल और अपने अन्य साधन प्राणसंवर्धनके लिये कितने खर्च किये जाते हैं और भोगोंके लिये कितने खर्च किये जाते हैं, इसका विचार धीनिए। मनुष्योंका उल्टा व्यवहार हो रहा है, इसलिये इस विषयमें सावधानता रखनी चाहिए। प्रतिदिन इस विभाग करना चाहिए कि जिसमें बहुतसा हिस्सा प्राणवर्धनके कार्यके लिये समर्पित हो सके! देखिए—

राजा मे प्राणः ॥ य० २० । ५

“मेरा प्राण राजा है” सब शरीरका विचार धीनिए तो आपको पता लग जायगा कि सबका राजा प्राण ही है। आप समझ लीजिए कि अपना प्राण यह सबकुछ राजा है। जब आपका घरमें राजा ही अतिथी जाता है, उस समय आप राजाका ही आदरालिख करते हैं, और उनके नौकरोंकी तरह ध्यान अवश्य देते हैं, परंतु जितनी राजाकी ओर ध्यान दिया जाता है उतना अन्योके विषयमें ध्यान नहीं दिया जाता। यही ग्याय यही है। इस शरीरमें प्राण नामक राजा अतिथी आया है और उसके अनुचर अन्य इंद्रियगण हैं। इसलिये प्राणकी सेवा श्रुश्रूषा अधिक करनी चाहिए, क्योंकि वह ठीक रहा तो अन्य अनुचर ठीक रह सकते हैं। परंतु यदि राजा असंतुष्ट होकर चलायगा तो एकभी अनुचर आपकी सहायता नहीं कर सकेगा ॥

आजकल इंद्रियोंके भोग बराबरमें सब लोग करते हैं, प्राणकी शक्ति बढानेका कोई खयाल नहीं करता। इसलिये प्राण अवशम होकर शरीर ही इस शरीरमें छोड़ देता है। जब प्राण छोड़ने लगता है, तब अन्य इंद्रियशक्तियाँ भी उसके साथ इस शरीर को छोड़ देती हैं। यही अल्पायुताका कारण है। परंतु इसका विचार बहुत ही थोड़े लोग प्रारंभमें करते हैं। तात्पर्य इंद्रियभोग भोगनेके लिये शक्ति कम खर्च करनी चाहिए, इसका संयम ही करना चाहिए और जो बल होगा उसकी अर्थनकरके प्राणकी शक्तिबढानेमें पराकाष्ठा करनी चाहिये। अपने प्राणकी सुरे कार्योंमें समर्पित करनेसे बड़ी ही हानि होती है। कितने दुर्गमत्व और कितने दुर्कर्म हैं कि जिनमें लोग अपने



आत्मा और प्राणशक्तिके महत्त्वका पता लगता है । इसका प्रकार देखिए—

पुनर्मनः पुनरायुर्म आगन्पुनः प्राणः पुनरात्मा स आगन् ॥ पुनश्चक्षुः पुनः श्रोत्रं स आगन् वैश्वानरो अदृश्यस्तनूपा अग्निर्नः पातु दुरितादवघ्नात् ॥

य० ४।१५

“ मेरा मन, आयुष्य, प्राण, आत्मा, चक्षु, श्रोत्र आदि पुनः पुनः प्राप्त हुए हैं। शरीरका रक्षक, सब अनोका हितकारी आत्मा पापोंसे हम सबको बचावे । ”

सोनेके समय मन आदि सब इंद्रियाँ लीन हो गई थीं, यद्यपि प्राण जागता था तथापि उसके कार्यका भी पता हम को नहीं था । वह सब बलके समान आज पुनः प्राप्त हुआ है । यह आत्माकी शक्तिका कितना आश्चर्यकारक प्रभाव है ! यह आत्मशक्ति हमको पापोंसे बचावे । प्राणशक्तिके साथ इन शक्तियोंका लीन होना और पुनः प्राप्त होना, प्रतिदिन हो रहा है । इसका विचार करनेसे पुनर्जन्मका ज्ञान होता है । क्योंकि जो बात निशाने समय होती है वह ही वैसी ही मृत्युके समय होती है । और वही प्रकार महाप्रलयके समयमें भी होती है । नियम सर्वत्र एक ही है । प्राणके साथ अन्य इंद्रियाँ कैसी रहती हैं, प्राण कैसे जागता है और अन्य इंद्रियाँ वैसी यकबेर लीन होती हैं, इसका विचार करनेसे अपनी अत्मशक्तिका ज्ञान होता है, और वह ज्ञान अपनी शक्तिका विचार करनेके लिये सहायक होता है । अपने प्राणका विद्वत्प्रापक प्राणके साथ संबंध देखना चाहिये इसकी सूचना निम्न मंत्र देते हैं—

### विश्वव्यापक प्राण ।

सं प्राणः प्राणेन गच्छताम् ॥ य० ६ । १८

सं ते प्राणो वातेन गच्छताम् ॥ य० ६ । १०

“ अपना प्राण विश्वव्यापक प्राणके साथ संगत हो । तेरा प्राण वायुके साथ संगत हो । ” तात्पर्य अपना प्राण अलग नहीं है, वह सार्वभौमिक प्राणका एक हिस्सा है । इस दृष्टिसे अपने प्राणको जानना चाहिये । सब अंतरिक्षमें प्राणका समुद्र भरा है, उसमेंसे धोकासा प्राण मेरे अंदर बाहर मेरे शरीरका जीवन दे रहा है, भ्रष्ट प्रश्न सद्वादा वह ही सार्वभौमिक प्राण अंदर जा रहा है, हरशरीर आत्मा मनमें धारण करनी चाहिये । तात्पर्य यह सार्वभौमिक दृष्टि सदा धारण करनी चाहिए । सबकी

उन्नतिमें एककी उन्नति है, समष्टिकी उन्नतिमें व्यष्टिकी भलाई है यह वैदिक सिद्धांत है । इसलिये समष्टिकी वशपक दृष्टि अत्येक उपामकके अंदर उन्नत होनी चाहिये । यह उन्नत प्रकारसे हो सकती है । इस प्राणकी और बातें निम्न मंत्रमें देखिये—

### लडनेवाला प्राण ।

अविर्न मेघो मसि घीर्वाय, प्राणस्य पंथा ममृतो महांम्याम ।

सरस्वायुषवाकैर्भ्यानि नत्स्यानि मर्हिर्बदैर्जज्ञान ॥

य० ११।१०

“ ( मेघः प० ) मेढके समान लडनेवाला ( अविः ) सरस्वात उच्छ्वास रूप दोनों प्राणोंमें प्राणका अमृतमय मार्ग बना है । ( बरैः उच्छ्वासे ) स्थिर स्तुतियोंके द्वारा ( सरस्वती ) सुपुत्रा लक्ष्मी ( भवान् ) सर्व शरीर व्यापक प्रधान प्राणको तथा ( नत्स्यानि ) नासिका के साथ संबंध रखनेवाले अन्य प्राणोंको ( मर्हिः जज्ञान ) मरत करती है । ”

स्वर्था करनेवाला, शत्रुके साथ युद्ध काले उसका पराजय करनेवाला मंदा होता है । यही प्राणका कार्य अपने शरीरमें है । सब व्यापियों और शरीरके सब शत्रुओंके साथ लड़कर शरीरका आरोग्य नियंत्रित रखनेका बड़ा कार्य करनेवाला महर्षि अपने शरीरमें मुख्य प्राण ही है । यह मेढके समान लड़ता है । इसका नाम “ अविः ” है क्योंकि यह अपने अर्थात् सब शरीरका संरक्षण करता है । अपने अर्थ लक्ष्य भी यहाँ देखने योग्य है—रक्षण, गति, शक्ति, प्रति, लक्ष्य, ज्ञान, प्रवेश, ध्वज रक्षामित्र, प्रार्थना, रस, इच्छा, तेज, प्राणि, आलिंगन, हिंसा, दान, भाग और दृष्टि इतने अर्थ शत्रुके अर्थ हैं । ये सब अर्थ प्राणवाचक “ अवि ” शब्दमें हैं । प्राणके कार्य इन शब्दोंसे व्यक्त होते हैं । पाठक इन अर्थोंको लेकर अपने प्राणके धर्म और बर्तन जाननेका यत्न करें ।

इतने कार्य करनेवाला संरक्षण प्राण हमारी नासिकामें रहा है । नासिका स्थानीय एक ही प्राण हमारे शरीरमें सबत कार्य करता है । यही इसका महत्त्व है । यह प्राणका मार्ग “ अमृत ” मय है । अर्थात् इसमार्गमें मरण नहीं है । इस मार्गका रक्षण करनेवाले दो महर्षि हैं । “ श्वश्रु और उच्छ्वास ”

प्रकार यह प्राणशक्तिका विस्तार हुआ। क्योंकि सब शरीर पर सूत्रमें सूत्र अंगमें हुआ है। यही कारण है, कि प्राणशक्ति वश होनेके कारण सब अंग प्रत्येक अपने आधीन हो आते हैं और प्राणशक्तिके वश होनेसे सब शरीरकी नीरोगता भी सिद्ध हो सकती है।

इस प्रकार यजुर्वेदका प्राणविषयक उपदेश है। यजुर्वेदका उपदेश क्रिया-प्रधान होता है। इसलिये पाठक इस उपदेश की ओर अनुष्ठानकी दृष्टि से देखें और इस उपदेशको अपने आचरणमें डालनेका ध्यान करें।

संभवेद उपसर्गक होनेसे प्राणके साथ उसका घनिष्ठ संबंध है। कई उसी उक्त कारणसे “प्राण वेद” भी समझते हैं। उसाना द्वारा जो प्राणका बल बढता है उतनीही सहायतासंभवेदसे इस विषयमें होती है। अन्य बातोंका उपदेश करना अन्यवेदोंका ही कार्य है। इसलिये यदा इतनाही लिखते हैं कि जो परमात्मोपसर्गका विषय है, उसको प्राणशक्तिका विकास करनेके लिये पाठक अत्यंत आवश्यक समझें और अनुष्ठान करनेके समय उसको ध्यान करें। अब धार्वेदका प्राणविषयक उपदेश देखने हैं।

### अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश ।

प्राणानौ सूर्योर्मा पावे स्वाहा ॥ ( अ. ३।१६।१ )

मेम प्राणो हासीमो अमानः ॥ ( अ. ३।२८।३ )

“प्राण अग्न न सुमे मृत्युवे बधारे ॥ प्राण अग्न इत्थो न छोडै ॥” इन मंत्रोंमें प्राणकी शक्तिका स्वरूप बताया है। प्राणकी सहायतासे मृत्युमें संरक्षण होता है। प्राण वशमें आ जायगा तो मृत्युका भय नहीं रहता। मृत्युका भय हटानेके लिये प्राणकी प्रसन्नता करनी चाहिये। देखिये—

प्राण प्राणं प्रायस्वातो नसवे मूढ ॥

निर्भते निर्भत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च त ॥

वातः प्राणः ॥ ५ ॥

( अ. १९।४४ )

“हे प्राण ! हमारे प्राणका रक्षण कर । हे जीवन ! हमारे जीवनको मुक्त कर । हे अनियम ! अनियमके पाशोंसे हमें बचा ।”

अपनी प्राणशक्तिका संरक्षण करना चाहिये, अपने जीवनको मंगलमय बनाना चाहिये । निश्चितिके आलोकसे बचाना चाहिये । “प्रति” का अर्थ— “प्रगति, सन्नाह, उत्कर्ष, अभ्युदय, योग्यता, श्रव, संध्या मार्ग, संरक्षण, पवित्रता”

७ ( अ. सू. मा. अं. ११ )

इतना है। अर्थात् निश्चितिक अर्थ-अवनति, कुमार्ग, अपकर्ष, अयोग्य रीति, अव्यवस्था, टेढ़ीचाल, घातपातकी रीति, अपविप्रता यह होता है। निश्चितिके साथ जानेवाला निःसंदेह आधोगतिके चला जाता है। इसलिये इस टेढ़ेमार्गके प्रमजालसे बचनेकी सूचना उक्त मंत्रमें दी है। हर एक मनुष्य ‘जो उन्नति चाहता है, सावधान रहता हुआ अपने आपको इस अधोगतिके मार्गसे बचावे। निश्चितिके जाल प्रारंभमें वह छुट्टार दिखाई देते हैं। परंतु जो उनमें एकाग्र फंसा है, उनको उतना बल मुष्टिल प्रतीत होता है। सब प्रकारके दुर्व्ययन, प्रग, आलस्य, छत्र, काट यदि सवाही इस निश्चितिके जात्रके रूप हैं। जो लोक इस जालमें फंसे हैं उनको उतना मुष्टिल हो जाता है। इसलिये उन्नति चाहनेवाले मन्त्रोंकी उक्ति है कि, वे इस छुरे रास्तेसे अपने आपको बचावें। योगसाधन करनेवालोंको यह उपदेश अमूल्य है। योगके यम नियम इसी उपदेशके अनुसार बने हैं। अपने विषयमें किस प्रकारकी भावना करनी चाहिए इसका उपदेश निम्न मंत्रमें किया है—

### मैं विजयी हूँ ।

सूर्यो मे चतुर्वालः प्राणा अंतरिक्षमात्मा दृष्टिरी शरीरम् ॥ जस्तुतो मामादमयमानेन स नामानं निदधे पावापृथिवीम्यं गोपीयाय ॥ ( अ. ५।१५।७ )

“सूर्य मेरा नेत्र है, वायु मेरा प्राण है, अंतरिक्ष मेरा तत्त्व मेरा आत्मा है, पृथिवी मेरा स्थूल शरीर है। इस प्रकारका मैं अपराधित हूँ। मैं अपने आपको पु और दृष्टिरी लोकके अंतर्गत जो कुछ है उत सबके संरक्षणके लिये अर्पण करता हूँ।”

आत्मशक्तिका विकास करनेके लिये समष्टिकी मलाईके लिये अपने आपको समर्पित करना चाहिये। और अपनी आंतरिक शक्तियोंके साथ बाह्य देवताओंका संबंध देखना चाहिये। इतना ही नहीं श्रुत बाह्य देवताओंके अंश अपने शरीरमें रहे हैं, और बाह्य देवताओंके सूक्ष्म अंशोंका बना हुआ मैं एक छोटासा पुतला हूँ, ऐसी भावना धारण करके अपने आपको देवताओंका अंशरूप, तथा अपने शरीरको देवताओंका संघ धरया मंदिर समझना चाहिए। योगसाधनमें वही भावना मुख्य है। अपने आपको निश्च और हीनहीन समझना नहीं चाहिये, परंतु (अहं जस्तुतो अस्म ( I am invincible ) मैं पराजित हूँ, मैं चापिष्ठी हूँ, इस प्रकारकी भावना धारण करनी चाहिए।

अलंकारकी रूपना पाठकों के मनमें स्थिर हो सकती है । यह प्राणोंका मीठा चाबुक हम सबको प्रेरणा कर रहा है, इसकी प्रेरणाके बिना इस शरीरमें कोई कार्य होता नहीं है । इतनाही नहीं परंतु सब जगत्में यह 'मिठा--चाबुक' ही सबको गति दे रहा है । सब जगत्में यह प्राणका कार्य देखने योग्य है । मंत्र कहता है कि " इस मीठ चाबुके पृथ्वी और जलकी सब शक्ति रहती है, अर्थात् यह माठा चाबुक चलाया जाता है वही प्राण और अमृत रहता है । " प्राण और अमृत एकत्र ही रहता है क्योंकि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तब तक मरणकी भीति नहीं होती । और सभी जानते हैं कि प्राणियोंके शरीरमें प्राणही सबका प्रेरक है, इसलिए उसके चाबुककी रूपना उक्त मंत्रमें वही है क्योंकि शरीररूपी रथके घोड़े चालनेका कार्य यही चाबुक कर रहा है । दूसरे मंत्रमें कहा है कि " यह चाबुक शरीरस्थ वस्तु आदि देवताओंका सहायक है, यह प्रजाओंका प्राण ही है, अमृतका मध्य वही है । यह प्राण मझोंमें तेज और चेतना उत्पन्न करता है, और सब प्राणियोंके बीचमें यह चलता है । " यह ब्रह्म उक्त अलंकारसे युक्त है, परंतु स्पष्ट होनेके कारण हरएक इसका उपदेश जान सकता है । तथा—

### अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता ।

मसौः प्राणः ४ ( अ १५:६० )  
ओम् चक्षुः प्राणोऽद्विष्टो नो अस्वच्छिन्नो वयमायुषो  
वर्चसः ॥ ५ ॥ ( अ० १५:५८ )

अयुषोऽस्ययुतो म आरमाऽयुर्न मे चक्षुरयुतं मे  
ओम् अयुतो मे प्राणोऽयुतो मंशानोऽयुतो मे व्यानो-  
ऽयुतोऽहं सर्वः ॥ १ ॥ ( अ० १५:५१ )

“मेरे नाभमें प्राण स्थिरतासे रहे ॥ मेरा कान, नेत्र और प्राण छिन्नभिन्न न होता हुआ मेरे शरीरमें कार्य करे । मेरी आयु और तेज अविच्छिन्न अर्थात् वर्ष होने ॥ मैं, अपना आरमा, चक्षु धोत्र, प्राण, अग्न, व्यान आदि मेरी सब शक्तियाँ पूर्ण स्वतंत्र और उन्नत होकर मेरे शरीरमें रहे ॥ ”

आयु और प्राण अविच्छिन्न रूपसे अपने शरीरमें रहनेकी प्रवृत्ति इच्छा उक्त मंत्रमें है । सब इंद्रियाँ तथा सब अन्ध शक्तियाँ अविच्छिन्न तथा पूर्ण उन्नत रूपसे अपने शरीरमें प्रकट होनेकी व्यवस्था हरएकको करनी चाहिये । उक्त मंत्रमें कई शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—

महं अयुतः  
महं सर्वं अयुतः

“मैं संपूर्ण रूपसे स्वतंत्र, दुष्टों विभीषीके सहायताकी ओझा न करने योग्य समर्थ, किसी कष्टसे खलबली न मचने योग्य हूँ । ” यह भावना यदि मनमें स्थिर हो जायगी तो मनुष्यकी शक्ति कितना बढ सकती है इसका विचार पाठक भी कर सकते हैं । मेरी इंद्रियाँ, मेरे प्राण तथा मेरे अन्ध अवयव ऐसे हूँ और बलवान होने चाहिये कि मुझे उनके कारण कभी हर्ष न हो सके, तथा किसी दुष्टसे शक्तिही ओझा न करता हुआ, मैं पूर्ण स्वतंत्रताके साथ आनंदसे अपने महान महान उपकार्य कर सकूँ । कोई यह न समझे कि यह केवल ख्यालही है परंतु मैं यहाँ कह सकता हूँ कि यदि मनुष्य निश्चय करे तो निःसंदेह वे अपने आपको इस प्रकार पूर्ण स्वतंत्र बना सकते हैं और उक्त शक्तियोंका पूर्ण विकास वे अपने भंदर कर सकते हैं, तथा—

### प्राणकी मित्रता ।

इदं प्राणः सखे नो अस्तु ते वा परमेश्वर  
परमिदं प्राणं पश्यन् दृष्ट्वा ॥ ( अ० १३:११७ )  
“यही प्राण हमारा मित्र बने ! हे परमेश्वर ! हमें यह दीर्घ आयु और तेजसे साथ प्राप्त हो । ” प्राणके साथ मित्रता का तत्पर्य इतनाही है कि अपने शरीरमें प्राण बसिष्ट होकर रहे । कभी अगर अयुमें प्राण दूर न हो । अपने आयुधमें परमेश्वर परमात्माकी ही सेवा और उपसना करनी चाहिये । पामा मा सर्व भूत गुणाका केंद्र होनेसे पामा मंत्रित्व द्वारा सभी भूत सद्गुणोंका धन होता है और मनुष्यजिनका सदा ध्यान करता है उसके समान बन जाता है, इस निमन्त्रे अनुसार परमेश्वरके गुणोंके चिंतनसे मनुष्य भी भूत बनता है । यह उपासनाका और मानवी उत्तरीका धर्म है । इस प्रकार ओ सद्गुण धारणा प्रत्यक्ष करनेकी मन्त्रा है उसको प्राणशक्ति कितनी विस्तृत होती है इसकी कल्पना निम्न मंत्रोंसे हो सकती है । देखिए—

सर्व मायस्य ॥ सप्त प्राणाः सप्ताहानाः सप्त व्यानाः ॥  
योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामावं सो अग्निः ॥ योऽस्य द्वितीयः प्राण श्रोत्रो नामासी स अग्निश्च ॥ योऽस्य तृतीयः प्राणोऽयुषो नामासी स चंद्रमा ॥ योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामावं स पृथ्वी ॥ योऽस्य पंचमः प्राणो योगिर्नामाव इमा आवाः ॥ योऽस्य षष्ठः प्राणः शिवो नाम

त इमे पञ्चमः ॥ योऽस्य सप्तमः प्राणोऽपरिमितो नाम  
वा इमाः प्रजाः ॥ ( अ० १५।१५।१-२ )

“उस ( मत्स्य ) संयासी सप्तपदके सात प्राण, सात  
अर म सात ध्यान हैं। उसके साँठे प्राणोंके क्रमशः नाम ऊर्ध्व-  
प्रैद, अम्भूद, बिभू, योनि, प्रिय और अपरिमित हैं । और  
इनके सात स्वरूप क्रमशः अग्नि, आदित्य, चंद्रमा, पवमान, आप  
पशु और प्रजा हैं ।” इसी प्रकार इसके अ्यान और ध्यानका  
वर्णन उस स्थानमें ही वेदने किया है । वहाँही उसको पाठक  
देखें । विस्तार होनेके अन्तसे उस सबको यहाँ नहीं लिया है ।

मनुष्य अपनी शक्तिको इस प्रकार बढ़ा सकता है । मनुष्य  
अपने साँठे प्राणोंको अगर मित रूपमें बढ़ा सकता है यही अपने  
आपको सब प्रजाजनोंके हितके कार्यमें अर्पण करता है, जो  
अपने प्राणको ऊर्ध्व अर्थात् उन्नत करता है वह अपने समान  
संज्ञको होता है । इस प्रकार उन्नत कथनका भाव समझना  
चाहिए । तथा—

### समयकी अनुकूलता ।

काले मनाः काले प्राण काले मनः समाहितम् ।

कालेन सर्वा नः स्थगितेन प्रजा इमा ॥३८॥ ( अ० १५।५३ )

“कालकी अनुकूलतासे मन, प्राण और नाम रहता है। काल-  
की अनुकूलतासे सब प्रजाओंका आनंद होता है ।”

कालका नियम पालन करना चाहिये । पुरुषार्थके साथ काल  
की अनुकूलता होनेसे उत्तम फल प्राप्त होता है । कालका  
विचार नहीं करना चाहिये । जो अनुकूलता प्राप्त होती है  
उसका उपयोग अवश्य करना चाहिये । प्राणायामादि साधन  
करनेके लिये उचित है कि वह योग्य कालमें नियमपूर्वक अपना  
अभ्यस्य किया करें, तथा जिस समय जो करना योग्य है उसको  
आवश्यक ही उस समय करना चाहिये । अब प्राणके संरक्षक  
रूपसे ही वर्तन निम्नलिखित मंत्रमें देखिये—

### प्राणरक्षक ऋषि ।

रूपी पोषयती वोचावश्चको यय माणिकः ।

यौ ते प्राणश्च गोप्तायो दिवा नक्तं च जागृतम् ॥

सावधान रहनेकी चेतना देता है । उसाह और सावधानता ये दो  
सद्गुण जिस मनुष्यमें अतिमें होंगे, उनकी योग्यता उस मनुष्य-  
की हो सकती है । ये दो ऋषि प्राणके संरक्षणका कार्य करते  
हैं, और यदि ये दिन रात जागते रहेंगे तो मनुष्यको मृत्युकी  
बाधा नहीं हो सकती । जबतक मनुष्यका मन उत्साहसे परिपूर्ण  
रहेगा और जबतक सबधानतासे साथ वह अपना व्यवहार  
करेगा, तबतक उसको मरणकी भांति नहीं होगी, यह साधारण  
नियम समझिये ।

जो लोग असवधानताके साथ अपना दैनिक व्यवहार करते  
हैं, तथा जो सदा हीनदीन और दुर्बलताके ही विचार मनमें  
धारण करते हैं, उनको इस मन्त्रका भाव ध्यानमें धरना उचित  
है। वेद कहता है कि मनमें उत्साहके विचार धारण करो और  
प्रतिक्षण सावधान रहो । जो मनुष्य अपने आपकी वैदिक धर्मा  
समझता है उसको उचित है कि वह अपने मनमें वेदके ही अनु-  
कूल भाव धारण करे । वैदिक धर्मा मनुष्यको उचित नहीं कि  
वह वेदके विरुद्ध हीन और हीनताके विचार अपने मनमें धारण  
करके मृत्युके वशमें पड़े । वैदिक धर्मका विशेष उद्देश सर्व-  
साधारण जनताको आनुष्ठान दे और आगेगुणवृद्ध करना है। इसी-  
लिये स्थान स्थानक वैदिक स्तोत्रोंमें दीर्घायु वृद्धि अनेक उपदेश  
आते हैं । पाठक इन बातोंको ठीक प्रकार अपने मनमें धारण  
करें ।

### वृद्धताका धन ।

प्र विवर्तं प्राणावातावनद्वाहिव दग्धम् । अयं जग्मिः  
दोषधिरिति इह वर्षताम् ॥ ५ ॥ आ से प्राण सुखामसि  
परा वदमं सुखामि ते ॥ आयुर्नो विप्रतो दुषदयमसि-  
धरेण्यः ॥ ६ ॥ ( अ० ७।५३ )

“जिस प्रकार बेल अपने स्थानपर वापस आते हैं, उस प्रकार  
प्राण और अपान अपने स्थानपर आ जायें । वृद्धावस्थाका जो  
खजाना है वह यहाँ कम न होता हुआ बढ़ता रहे । तेरे अंदर  
प्राणको प्रेरित करता हूँ और बीमारीको दूर फेंकता हूँ। वह अष्ट  
अग्नि इस सबको सब प्रकारसे दीर्घ आयु देवे ।”

बेल कामके समय बेगसे अपने स्थानपर आ जाती हैं। उस  
प्रकारके बलपुनर्बोधसे प्राण और अपान अपने अपने स्थानमें  
रहे । अब प्राण और अपान सबधान बनकर अपना अपना कार्य  
करेंगे तब मृत्युके भय नहीं हो सकता और मनुष्य दीर्घ आयु  
रूपी धन प्राप्त कर सकता है । सब धनोपे आयुष्मदी धन

ही समय में प्रेष्ट है, क्योंकि सब अन्य धर्मों का उपयोग इसके ही-  
पर ही हो सकता है । उक्त मंत्रमें—

अग्निः सांभविः हृद यधताम् ॥ (अ० ७।५३।५)

ये शब्द मनन करने योग्य हैं । " हृद आयुषा खजाना यहाँ  
बैठा है । " अर्थात् इस लोभ में आयु बँटती रहे, ये शब्द  
स्पष्टता से बता रहे हैं कि आयु निश्चित नहीं, प्रयुक्त बढेबाकी  
है । जो मनुष्य अपनी आयु बढाना चाहिये वह उस प्रकार के  
आयुष्यवर्षक सुविधमोका पालन करके आयु बढा सकता है । इस  
प्रकार वेदका उपदेश अर्थात् स्पष्ट है । परंतु कई वैदिक धर्मो  
समझने ही हैं कि आयु निश्चित है और पट बढ नहीं सकती ।  
जिन बातों में वेदका कथन स्पष्ट है, उन बातों में कमसे कम भिन्न  
विचार वैदिक धर्मियों का धारण करना उचित नहीं है ।

### बोध और प्रतिबोध ।

पूर्व स्थानमें बोध और प्रतिबोध ये दो शब्द हैं, ऐसा  
कहा ही है । वही भाव बोधसे फारसे निम्नलिखित मंत्रमें  
आया है देखिये—

बोधश्च त्वा प्रतिबोद्धश्च रक्षतामस्वत्नश्च त्वाऽऽमृतामृताश्च  
रक्षतामृगोवायश्च त्वा जायुषिश्च रक्षताम् ॥ (अ० ८।११३)

" त्वासाह और सावधानता त्वा रक्षण करो । रक्षति और  
आश्रित त्वा साक्षण करो । रक्षक और आश्रित त्वा पालन करो । "

इस मंत्रमें संरक्षक गुणों का वर्णन है । त्वासाह, सावधानता  
रक्षति, आश्रित, रक्षण और खरदारों ये गुण संरक्षण करने  
वाले हैं इनके विरुद्ध गुण यत्न है । इसलिये अपनी अमिष्टि-  
की रक्षा करनेवालों कोचित है कि वह उक्त गुणों की वृद्धि  
अपने करें । इस मंत्रके साथ पूर्व मंत्र, जिसमें दो अर्थोंका  
वर्णन है तुलना करके देखें । अब निम्नलिखित मंत्र देखिये—

### उन्नति ही तरा मार्ग है ।

उद्यानं ते पुण्य नावयानं जीवातुं ते दृष्टतामि कृणोमि ।

ना हि रोहेमममृतं सुख रचमय जिर्विर्विद्यमा वदसि ॥  
(अ० ८।११५)

" हे मनुष्य ! तेरी गति ( उन्नयन ) उन्नतिकी और ही  
होनी चाहिये । कभी भी ( अवयान न ) अवनतिकी और होनी  
नहीं चाहिये । तेरी दीर्घ आयुष्यके लिये मैं बलका विस्तार  
करता हूँ । इस सुखमय शरीरकी अमृतमय रचण ( आरोह )  
बढे । और जब तुम दीर्घ आयुसे मुक्त हो जाओगे तब ( विदये )  
समाधौ ( आववाधि ) संभाषण करोगे । "

अपना आयुवृद्ध करके या मन करना चाहिये, कभी ऐसा  
धर्म करना नहीं चाहिये कि जिससे अवनति होनेकी संभावना  
हो सके । जीवनके लिये प्राणका बल फैलाना चाहिये । प्राणका  
बल बढानेसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो सकता है । यह शरीररूपी  
उत्तम रथ है, जिनको इंद्रियरूपी पाँडे जुते हैं । इस रथमें प्राण-  
रूपी अश्व है । इसलिये इनको सुविवश रथ कहा जाता है । इस  
सर्वोत्तम रथपर आरुह हो जाओ और अपनी उन्नतिके मार्गमें  
आगे बढो । जब तुम बल और दीर्घ आयु प्राप्त करोगे तब तुम-  
को यही बड़ी सभाओंमें अवतर ही संभाषण करना होगा, क्योंकि  
कि दुर्बलों का सुधार करनेके लिये तुमको प्रयत्न करना चाहिये ।  
जीवनार्थ्युत्तम सब जनकों उत्तम मार्ग बतातेका कार्य तुम्हारा  
ही है । तुमको स्वर्धा बनना नहीं चाहिये । प्रयुक्त जनताकी  
उन्नतिमें अपनी उन्नति समझनी चाहिये । इस मंत्रसे पता लगता  
है कि प्राणायामादि साधनों द्वारा दीर्घ आयु, उत्तम आरोग्य,  
आद्वितीय बल, सुख सुष्ठु और विशाल मन प्राप्त करनेके पश्चात्  
मनुष्यको अपना जीवन सार्वजनिक हितसाधन करनेमें लगाना  
चाहिये । समाजसे अलग होकर अपनी ही शांति प्राप्त करने-  
मात्रसे मनुष्य कृतार्थ नहीं हो सकता, परंतु जब एक " नर "  
अपने आपको उन्नत करनेके पश्चात् " वैशा—नर " के लिये  
आत्मसमर्पण करता है, तब ही वह उन्नत अवस्थाको प्राप्त  
कर सकता है । यही सर्व-मेध-यज्ञ है । अस्तु । इस प्रकार  
उक्त मंत्रसे योगी मनुष्यके सम्मुख अंतिम उच्च आदेश रख  
दिया है । आशा है कि, सब प्रेष्ट मनुष्य इस वैदिक आदेशको  
अपने सम्मुख रखकर अपना जीवन इसके अनुसार ढालनेका  
यत्न करेंगे । अब अन्य बातोंका विचार यहाँ करना है । योगी  
जनका अधिकार कहाँ तक पहुँचता है, इसका पता निम्न मंत्रोंसे  
लग सकता है—

### यमके दूत ।

कृणोमि ते प्राणापानी जरो मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति ।  
वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतान् श्रतोप सेधामि सर्वान् ॥  
११ ॥ आराधनात् निकर्तते परो माहि मयादः पि-  
द्यान् । रक्षो यास्ये दुर्भूतं तम इवाय इमसि ॥ १२ ॥  
अग्रेष्टे प्राणममृत दायुष्यतो वन्दे जातेश्वरः । यथा न  
दिष्या अमृतः सञ्जसस्वत्ते कृणोमि वदुते सद्युष्यमा ॥  
१३ ॥ अ, ८।२

“ मैं तेरे अंदर प्राण और अग्निका बल, दीर्घ आयु, ( स्वास्थ ) स्वास्थ्य आदि सब अच्छे भाव, वृद्धावस्थाके पथाय योग्य समयमें मृत्यु अदि स्थपना करता हूँ, वैश्वत यमके द्वारा भेजे हुए यमदूतोंको मैं हूँ हूँ कर दूर करता हूँ ॥ ( अगति ) अदावन, ( निर्वृति ) नियम विद्वद व्यवहार, ( प्रदि ) देखे चलनेवाले रोग, ( कथावद ) मासके शीघ्र कानेवाली बीमारी, ( पिशाचान् ) रक्तका निर्बल करनेवाले रक्तके कृमि, ( रक्षःम्भरः ) सब क्षयके कारण, ( सर्व दुर्भूत ) सब घुरा व्यवहार आदि जो कुछ विनाशक है, उस सबको अधिकारके समान मैं दूर करता हूँ ॥ तेरे लिये मैं तेजस्वी, अमर और आयुष्मान् जातवेदेसे प्राण प्रप्त करता हूँ । जिस प्रकार तेरा अकालमृत्यु न होगा, वृ अमर अर्थात् दीर्घजीवी बनेगा, ( सज्जः ) विप्रभावसे संतुष्ट रहेगा और तुझे कष्ट न होगा उस प्रकारकी समृद्धि तेरे लिये मैं अर्पण करता हूँ ॥ ”

इन मंत्रोंमें प्राणसाधन करके जो विलक्षण सिद्धि प्राप्त होती है उसका उल्लेख वर्णन है। प्राणका बल प्राप्त करनेसे सब प्रक्षारका स्वास्थ्य, दीर्घ आयु, बल तथा योग्य कालमें मृत्यु हो सकती है । परंतु प्राणका बल न होनेकी अवस्थामें नाना प्रकारके रोग, अल्प आयु, अशक्तता और अकाल मृत्यु होती है । इनसे प्राणशामादि द्वारा प्राणकी शक्ति चढ़ानेकी आवश्यकता स्पष्ट सिद्ध होती है । जो विद्वान् आयुको परिमित और निश्चित मानते हैं वे कहते हैं कि यमके दूत सब जगत्में घूमकर करते हैं, वे आयुकी समाप्तिके समय मनुष्यके प्राणोंका हारण करते हैं । इनलिये अमुक नहीं सकता । इस औपदेशिक मतका खंडन करते हुए वेद कहता है कि जो यमदूत इस जगत्में घूमकर करते होंगे, उनको भी प्राणके अनुष्ठानसे दूर किया जा सकता है । इसमें मनुष्य पराधीन नहीं है । अनुष्ठान की रीतिसे प्राणका बल बढ़ावेग, तो उसी क्षण यमदूत आपसे दूर हो सकते हैं । प्राणोपाधना कनिशालोके ऊपर यमदूत अपना प्रभाव नहीं डाल सकते । इस प्रकारका अभ्युदयान वेद दे रहा है, इसकी ओर हरएक वैदिक धर्मिका यथान अवश्य जाना चाहिए । इस विचारकी धारण करके निर्भय बनकर प्राणशामादि अपनी आयु हरएकको दीर्घ बनानी चाहिए तथा अन्य प्रकारका स्वास्थ्य भी प्राप्त करना चाहिए । प्राण-यामके अनुष्ठानसे मृत्यु इतना बल प्राप्त कर सकता है कि भिषकें वह दवाइयाँ भी दूर भगा सकता है । इतना सामर्थ्य

प्राप्त होता है इसलिये ही सब श्रेष्ठ पुरुष प्राणायामका महत्त्व वर्णन करते हैं ।

प्राणायामसे सब ही प्रकारके बंध-दोष और रोगोंके मूल कारण दूर हो सकते हैं । दुष्टभाव, घृणा आचार, विधिनियमोंके विद्वद व्यवहार आदि सब दास इस अभ्याससे दूर होते हैं । सब प्रकारके रोगोंके बीज शरीरसे हट जाते हैं । जिस प्रकार सूर्य अपनी किरणों द्वारा अंधकारका निर्मूलन करता है, उस प्रकार योगी अपनी प्राणशक्तिके प्रभावसे सब रोगबीजोंको दूर कर सकता है ।

जो सब बने हुए पदार्थोंको यथावत् जानता है वह आत्मा “ जात-वेदभूमि ” है । वह आत्मा अनुरूप तथा आयुष्मान् है । इसलिये वही सबको अमर और आयुष्मान् कर सकता है । जो उसके साथ अपनी आत्माको योगसाधनद्वारा संयुक्त कर सकते हैं वे अपने आपको दीर्घ आयुसे युक्त और अमरत्वसे पूर्ण बना सकते हैं । इस प्रकारसे साधनसंपन्न योगी अकाल मृत्युष भरते नहीं, अमर बने हैं, सदा संतुष्ट और प्रेमपूर्ण बनते हैं, इसलिये सब प्रकारकी समृद्धिसे युक्त होते हैं । यही सबी समृद्धि है । मनुष्यका अधिकार है कि वह इस समृद्धिसे प्राप्त करे ।

### अथर्थाका सिर ।

चित्तशुद्धियोंका विरोध करना और मनकी सब वृत्तियोंका स्वाधीन रखकर उनको अच्छे ही कर्ममें लगाना योगकइलाक है । इस प्रकारका पुरुषार्थ जो करता है उसको योगी कहते हैं ।

योगोंके अंदर अचंचलता नहीं रहती और रज स्थिरता मनोशुद्धियोंमें योगा बढ़ाने लगती है । इस प्रकारके योगीका नाम “ अ-थर्वा ” होता है । “ अ-चंचल ” यह अथर्वा शब्द का याव है । एकाग्रताकी सिद्धि उसको प्राप्त होती है । इस अथर्वाका जो वेद है वह अथर्ववेद है । अथर्ववेद सर्वसामान्य मनुष्योंके लिये नहीं है । योगसाधनका इसमें मुख्य भाग होनेसे तथा विद्वद व्यवस्थाकी भाँति इसमें होनेसे यह अथर्ववेदका योगी-योग्य वेद है । इसमें इसी कारण प्राणायामविषयक उपदेश सब अन्य वेदोंकी अपेक्षा अधिक है । इस वेदमें अथर्वाके सिद्धा वर्णन निम्न प्रकार किया है—

सूर्यानमस्य संसीध्यायथा हृदयं च यन्नामसिद्धिः कावृषः  
प्रैषवत्पमानोऽपि दीर्घतः ॥ २६ ॥ इति अथर्ववेदः  
विशिष्टेयकोशः समुच्चितः तत्त्वानां अभि रक्षति विधि

अन्नमयो मनः ॥ २७ ॥ यो वै तं ब्रह्मणो वेदाभ्यु-  
नायुतां पुरम् । तस्मै ब्रह्म च ब्राह्मण्यं चक्षुः प्राण प्रजो  
ददुः ॥ २९ ॥ न वै तं चक्षुर्ब्रह्माति न प्राणो जरतः  
पुरा । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरश्चरयते । ३० ॥  
अष्टवक्त्रा नवद्वारा देवानां पुरोन्मेषा । तस्मां द्विरप्ययः  
कोशः स्वर्गो उपोतिषाधुन ॥ ३१ ॥ तस्मिन् द्विरप्यये  
कोशे श्वरे प्रप्रतिष्ठित । तस्मिन् पञ्चक्षमात्मनश्च  
तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ३२ ॥ अथारज्यमनां हरिणीं  
पशाम् संपरीवृताम् ॥ पुरं द्विरप्ययीं ब्रह्म विवेद्या-  
पराजिताम् ॥ ३३ ॥ ( अ० १०१२ )

“ ( अ—यवां ) द्विरपिच योगी करने ( मूर्त्ति )  
मस्तिष्कके साथ हृदयकी सांता है, और धिरेके मस्तिष्कके  
ऊपर अपने ( यवमानः ) प्राणकी भेज देता है ॥ वही अथवा  
या धिरे है कि जिसको देवोंका कोश कहा जाता है । उसका  
रक्षण प्राण, अन्न और मन करते हैं ॥ अमृतसे परिपूर्ण इस  
ब्रह्मकी नगरीकी जो जानता है उसको ब्रह्म और इतर देव  
चक्षु, प्राण और प्रजा देते हैं ॥ ब्रह्मात्म्याके पूर्व चक्षु और प्राण  
उसको छोड़ते नहीं, जो इस ब्रह्मादिकी जानता है, और  
जिन्हें रक्षितके कारण आत्माकी पुरश्चर कहते हैं ॥ आठ वक्त्र और  
नौ द्वारोंसे युक्त यह देवोंकी अवस्था नगरी है, इन्हीं तेजस्वी  
कोश है वही देदीप्यमान स्वर्ग है । तीन आरोंसे युक्त और तीन  
स्थानों पर रहे हुए उस तेजस्वी कोशमें जो पृथ्व आत्मा है उसकी  
ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं । इस देदीप्यमान, मनोहर, यशस्वी  
और अपराजित नगरीमें ब्रह्मा प्रवेश करता है ॥ ”

योगसाधन करनेवालोंके लिये यह उपदेश अमूल्य है । इसमें  
सबसे पहली बात यह कही है कि हृदय और मस्तिष्कके एक  
रूप बनावे । हृदयका धर्म भक्ति है और मस्तिष्कका धर्म विचार  
है । भक्ति और विचारका विरोध नहीं होना चाहिये । दोनों एक  
ही कार्यमें सम अधिष्ठारसे प्रवृत्त होने चाहिये । जहाँ ये दोनों  
केंद्र विभक्त होते हैं उसमें दोष उत्पन्न होते हैं । धर्ममें विश्रयनः  
मस्तिष्ककी तर्कना और हृदयकी भावना । समान स्थान  
मिलना चाहिये । जिस धर्ममें इनको समान स्थान नहीं होता,  
उस धर्ममें बड़े दोष होते हैं । शिक्षाविभागमें भी मस्तिष्क  
और हृदयका समविकास होने योग्य शिक्षा होनी चाहिये ।  
जिस शिक्षामें केवल मस्तिष्ककी तर्कशक्ति बढ़ती है उस शिक्षा  
प्राणको मस्तिष्कका उत्पन्न होती है और जिससे केवल भक्ति

बढ़ती है उस प्राणको अंधविश्वास बढ़ता है । इसलिये  
तर्क और भक्तिका समविकास होनेसे दोनों दोष दूर  
होते हैं और सब प्रकारकी उन्नति होती है । योगसाधन करने-  
वालेको उचित है कि वह अपनेमें मस्तिष्ककी तर्कशक्ति और  
हृदयकी भक्ति समप्रमाणमें विकसित करे । यही भाष “ मूर्त्ति  
और हृदयकी सीमा ” के उपदेशमें है । दोनोंको सीकर एक करना  
चाहिए और दोनोंको मिलाकर आत्मोन्नतिके कार्यमें समर्पित  
करना चाहिये ।

## ब्रह्मलोककी प्राप्ति ।

“ मस्तिष्कके ऊपर के स्थानमें प्राणको प्रेरित करना ” यह  
ऊपर उपदेश उक्त मंत्रोंमें है । मस्तिष्कमें सहस्रार चक्र है और  
इसके नीचे पृष्ठवंशके साथ कई चक्र हैं । प्राणायामद्वारा नीचे-  
से एक एक चक्रमें प्राण भरनेकी क्रिया साध्य होती है और  
सबसे अंतिमें इस मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण भेजा जाता है,  
इस अवस्थामें पूर्व पृष्ठवंशकी नाडियोंमें प्राणका उत्तम संचार  
होता है । तत्पश्चात् मस्तिष्कके सहस्रार चक्रमें प्राण पहुँचता  
है और ब्रह्मभ्रमक प्राणकी गति होती है । यह प्राणकी सर्वोत्तम  
गति है । यही ब्रह्मलोक होनेसे तथा इस स्थानमें प्राणके साथ  
अध्याकी गति होकर, इस अवस्थामें सुषुप्तकी ब्रह्मलोक प्राप्त  
होता है । इसलिये इस अवस्थाकी सबसे अच्छ अवस्था कहते  
हैं । वह सबसे श्रेष्ठ अवस्था प्राणायामके नियमपूर्वक अभ्यास-  
से प्राप्त होती है, इस कारण यह योगियोंकी प्राप्ति होनेवाली  
अवस्था है ।

## देवोंका कोश ।

अ—यवां अपरिच योगोंका उक्त प्रकारका विर सचमुच देवोंका  
अवस्था है । इस प्रकारके अपरिचोंमें सब दिव्य भावनाएँ  
रहती हैं । सब दिव्य श्रेष्ठ देवी शक्ति योगी विवाह उसके शरीरमें  
होता है इसलिये उसका देह देवताओंका सच्चा मंदिर है । इस  
देवोंके मंदिरकी रक्षा करनेवाले जो धीरे हैं उनके नाम प्राण,  
मन और अन्न हैं । बलवान प्राण सब रोगभीषों और सार्वत्रिक  
दोषोंको हटाता है, श्रेष्ठ सज्जनों और सत्यनिष्ठ मन अपने सुवि-  
चारों द्वारा इसको सुरक्षित रखता है । मनकी प्रबल इच्छा  
शक्तिद्वारा सब ही दोष दूर हो सकते हैं और आदर्श अवस्था  
प्राप्त हो सकती है । सार्वत्रिक अन्धके सेवन करनेसे शरीर निर्दोष  
बनता है, मन भी सार्वत्रिक बनता है और प्राणका बल भी  
बढ़ता है । इस प्रकार ये तीन धीरे—“ प्राण, मन और अन्न ”—

परस्परोंका संवर्धन करते हुए, सब मिलकर योगोंकी सहायता करते हैं । वही प्राणायामका यश है ।

### ब्रह्मकी नगरी ।

ब्रह्मकी नगरी हृदयमें है और उसमें अमृत है । यह अमृत वेब प्राशन करते हैं और पुष्ट होते हैं । अर्थात् हृदय स्थानपर रहकर ही सब इन्द्रियोंमें जाकर वहांका आरोग्य स्थिर रहता है । इस अमृतपूर्ण ब्रह्मकी नगरीको जो ठीक प्रकार जानना है, इस पुर्णिक सब गुणधर्मोंसे जो परिचित होता है, अपने इस हृदयकी शक्तियोंको जो जानता है उसको ब्रह्म और ब्रह्मकी शक्तियों चक्षु, प्राण और प्रज्ञा देती हैं । चक्षु शब्दसे सब इन्द्रिय और अवयवोंकी सूचना होती है, प्रज्ञाशब्द सुप्रज्ञाका बोध करता है और प्राणशब्दसे सामर्थ्यशुक्त जीवनका ज्ञान होता है । तत्पर्य इस अपने हृदयकी शक्तिगोंका उत्तम ज्ञान प्राप्त करनेसे उक्त प्रकारके लाभ हो सकते हैं । हृदयको तथा अपने आंतरिक इन्द्रियों और अवयवोंको जानना, प्राणायामसे जो चित्तकी एकप्रभा होती है तब कहीं अज्ञान शक्तियोंका विज्ञान होता है, उच्च अवस्थामें आंतरिक उपधाओंका दिग्गम होता है इन्हीं रीतिसे हृदयादि क्षन्तियोंका पूर्ण ज्ञान होनेके पश्चात् वहां अपने आत्माकी शक्ति केन्द्र अद्भुत रीतिसे कार्य कर रही है, इसका सफरकार होता है । इस प्रकार अपने आत्मकी शक्ति विदित होने ही उक्त ज्ञान प्राप्त होता है । गुप्तज्ञा निर्माण करनेकी शक्ति, दीर्घ साधु और बलवान् इन्द्रिय ये तीन फल अपने हृदयका तथा वहांकी लक्ष्यशक्तिका ज्ञान प्राप्त करने-वालेको होते हैं ।

### अयोध्या नगरी ।

आठवक और नौ द्रोणें युक्त यह देवत ओंकी नगरी है, इसका नाम " अयोध्या " है । जिसमें दशनावन और आधु-रामायनाओंका संघम नहीं होगा, अर्थात् जहां देवी वृत्ति ही सदा शक्ति साय निवास करती है । इसलिये उसका नाम "अ-योध्या" नगरी है । जबतक यह नगरी देवीके आधीन होती है तबतक उसमें शांतका रामायण हो जाता है । इन्द्रियोंके नौ द्वार हैं और इसमें पृष्ठवंशमें मूलाधर आदि आठ वक हैं । इस नगरीमें हृदयका नाम प्रकाशमय स्वर्ग है । वहां प्राणायामादि साधनोंका प्राप्तिस्थ स्थान है । प्राप्तिस्थका अर्थ स्वकीय इच्छासे उत्पन्न है, अर्थात् वह स्थान सभी प्राणिमानके पास है ही, परंतु बहुत ही घाटे लोग हैं कि जो अपनी इच्छासे उसमें प्रवेश कर सकते हैं । आरमभक्ति का प्रभाव जानते हुए उस स्थानको जानना और ज्ञानके साधन उसमें निबध्न करना योगसाधनसे साध्य है ।

### अयोध्याका राम ।

इस नगरीमें जो पुनर्जीव देव है वहां आमाश्रम है, उसको ब्रह्मज्ञानी लोग ही जानते हैं । अर्थोंको उसका पता नहीं लग सकता ।

इस यशस्वी नगरीमें विजयी ब्रह्मा प्रवेश करता है । जीवत्मा जब आधुरी सारनाओंपर विजय प्राप्त करता है तब वह अपनी राजधानीमें विक्रोरासव करता हुआ प्रवेश करता है । यह राजधानी अयोध्या नगरी यशसे परिपूर्ण है, दुःखों का हरण करनेवाली है और तेजसे प्रकाशित है । इसका पशुपत आधुरी सारनाओंके द्वारा कभी ही नहीं सकता । इस-लिये इसका नाम ही " अपराजित अयोध्या " है । अपने हृदयकी इस शक्तिको जानना चाहिये । मैं अपराजित हूँ । उल्लासोंसे मैं कभी पराजित नहीं हो सकता । मैं तदा विजयी



विजयी होती है, इसका सूत्र वर्णन हमें दिया है । आर्या ही मद्रा है, यह हृदयकमलमें निवास करती है, इस अर्थात् प्राण उदका वाहन है, आदि वर्णन पूर्ण रूपसे आ प्रुप्त है । यह मद्रा का नगरी है, यहाँ देवी की पुरी अमरावती है, यहाँ सब कुछ है । पाठक प्रयत्न करके अपने अंदर इस शक्तिका अनुभव करें और अपना विजय उपादन करें ।

अब चारों वेदोंमें अनेक मंत्रों द्वारा जो जो उपदेश कर दिया है उसका सारांश नाँचे देता हूँ, जिसको पढ़नेसे पूर्वोक्त सब कथना आन हृदयमें प्रकाशित हो सकेगा—

( १ ) आंतरिक प्राणका बाह्य वायुके साथ नियम संबंध है ।

( २ ) जिसना प्राण होता है उसनी ही आयु होती है, इसलिये प्राणशक्तिको शुद्ध करनेसे आयुष्यकी शुद्धि हो सकती है ।

( ३ ) प्राणरक्षणके नियमोंके अनुसृत आचरण करनेसे न केवल प्राणका बल बढ़ता है, प्रयुक्त चक्षु आदि सभी इंद्रियों अवयवों और अंगोंकी शक्ति बढ़ती है और उत्तम आरोग्य प्राप्त हो सक्ता है ।

( ४ ) प्राणायामके साथ मनमें शुभ विचारों की धारणा करनेसे बड़ा लाभ होता है ।

( ५ ) सर्व प्रकारका सेवन तथा भोगमें थोड़ा सेवन करनेसे प्राणायाम की शीघ्र सिद्धि होती है ।

( ६ ) प्रणशक्तिका विकास करना हर एकका कर्तव्य है । क्योंकि आत्माकी शक्तिके साथ मरित प्राण शरीरके प्रत्येक अंगमें जाकर वहाँके स्थावर्यकी रक्षा और बलकी वृद्धि करता है ।

( ७ ) एक ही धाँके प्राण, अन्न, व्यान, उदान और समानुव वे भेद हैं तथा अन्य सब प्रणमें सर्वाँके प्रभेद हैं ।

( ८ ) संतोषशक्ति और पवित्रतासे प्राणका सुस्थि बढ़ता है ।

( ९ ) प्राणका नीचेके साथ संबंध है । नीचेरक्षणसे प्राणशक्तिकी वृद्धि होती है और प्राणायामसे कार्यकी स्थिरता होती है । इसप्रकार इनका परस्पर संबंध है ।

( १० ) परमेश्वरकी उपामना और संकीर्तना अम्यास हन दोनोंसे प्राणका बल बढ़ जाता है ।

( ११ ) प्राणशक्ती की रक्षा और अभिवृद्धिके लिये सब

८ ( अ. सु. भा. ५. ११ )

अन्य इन्द्रियोंके सुखोंकी त्यागना चाहिये, अर्थात् अन्य इंद्रियोंके सुख प्राप्त करनेके लिये प्राणकी हानि कामों नहीं चाहिए ।

( १२ ) सब शक्तियोंमें प्राणशक्ती ही मुख्य और प्रमुख शक्ति है ।

( १३ ) सर्कर्मके साथ प्राणका बोधन करना चाहिए ।

( १४ ) वाचा, मन और कर्मेमें शुद्धता और पवित्रता रखना चाहिए । इससे बल बढ़ता है ।

( १५ ) शक्तिके समय अपनी सब इंद्रियशक्तियों किस प्रकार आराममें लीन होनी हैं, और उठनेके समय पुनः किस प्रकार व्यक्त करनेमें कार्य करने लगती हैं इसका विचार करना और इसमें प्राणके कार्यका अनुभव लेना चाहिए । इस अभ्यासे आत्माकी विलक्षण शक्ति जानी जाती है ।

( १६ ) सर्ग रोगबीजों और शारीरिक दोषोंको प्रण दी दूर करता है । जबतक प्राण है तबतक शरीरमें अनृत है ।

( १७ ) भोजनके साथ, प्रणशक्ति, आयुष्य, आरोग्य आदि संबंध है । इसलिये ऐसा उन्नत सात्विक भोजन करना चाहिए कि जो आयुष्य आरोग्य आदि सभी वृद्धि कर सके ।

( १८ ) सहर्षी सूक्ष्म रूपोंसे शरीरमें प्राण कार्य करता है ।

( १९ ) प्राण संबंधनके नियमोंके विरुद्ध व्यवहार करनेसे सब शक्ति क्षीय होकर अशक्त च्युत होती है । इसलिये इस प्रकारकी निरवविह्वल आचरण करनेमें प्रवृत्तिकी रीतना चाहिये ।

( २० ) अग्नि, वायु, मि आदि बाह्य देवताएं अपने शरीरमें वाचा, प्राण, चक्षु आदि रूपसे रहती हैं । इस प्रकार अपना शरीर देवताओंका मंदिर है और मैं उन सब देवताओंका अधिष्ठाता हूँ । यह भावना मनमें स्थिर करनी चाहिये । और अपने आपको उक्त भावना रूप ही समझना चाहिये ।

( २१ ) अपने आपको अपराजित विजयी और शक्तिशाली हृद मानना उचित है ।

( २२ ) प्राण दी, दद दे । ददायक सब शब्द प्राणवाचक हैं ।

( २३ ) प्राणके आधारसे ही सब विश्व चल रहा है । प्राणियोंके अंदर यह बड़ी विलक्षण शक्ति है ।

( २४ ) मैं पुरुषार्थसे अवश्य ही अपनी सब शक्तियोंका विकास करूँगा, ऐसा दृढ़ निश्चय करना योग्य है ।

( २५ ) अग्ने आपकी कर्मा हीन, दीन, दुर्बल नहीं समझना चाहिये परंतु अपने प्रभावका गौरव ही उदा देखना चाहिए ।

( २६ ) जगत्में ऐसा कोई शक्ति नहीं है कि जो कुछ दे सकेगी । मैं सब कष्टोंको दूर करनेका सामर्थ्य रखता हूँ । यह भाव मनमें रखना चाहिए ।

( २७ ) सर्व शक्तिमान् परमेश्वर मेरा मित्र है, इस बातपर पूर्ण विश्वास रखना, तथा उसको अपना पिता, माता, भाई आदि समझना । उसमें और मेरेमें स्थान काल आदिवा भेद नहीं है ।

( २८ ) योग्य कालमें योग्य कार्य करना । कालकी अनुकूलता प्राप्त होनेपर उसको दूर न करना । आजका कर्तव्य बलके लिये न रखना ।

( २९ ) स्मृति और जागृति पारण करनेसे उत्पत्ति होती है ।

( ३० ) दीर्घ आयु ही बड़ा धन है, उसको और भी बढ़ाना चाहिए । निर्दोष बननेसे उस धनकी वृद्धि होती है ।

( ३१ ) वरमाह, वाचस्पति, स्मृति, जागृति, स्वस्वक्षण की भावना और धोऊनासे उत्पत्तिका साधन किया जा सकता है ।

( ३२ ) सदा ऊपर उठनेके लिये प्रयत्न होना चाहिए, ऐसा कोई कार्य करना नहीं चाहिए कि जिससे नीचे गिरनेकी संभावना हो सके ।

( ३३ ) इस अमृतमय शरीरमें आकर व्यक्तियों उत्पत्ति और सब जनन की उत्पत्ति करनेके लिये प्रयत्न करना चाहिए । जीवन का यही उद्देश है ।

( ३४ ) धर्म और अनिष्टोंके साथ युद्ध करके अपनी विजय प्राप्त करना चाहिए ।

( ३५ ) दृढ़शक्ति और शक्तिहीनता तर्क इन दोनों चित्रोंको एक ही सा कार्यमें लगाना चाहिए तथा इन दोनोंका सम विभाग करना चाहिये ।

( ३६ ) योगीन्द्रादिर सबभूत देवोंका वसतिस्थान है ।

चाहिए, वही आत्माका स्थान है ।

( ४० ) निधनके साथ पुरुषार्थके प्रयत्नसे उत्पत्तिके पथपर चलनेवाला योगी अपनी सब प्रकारसे उत्पत्ति कर सकता है ।

इसप्रकार वेदमंत्रोंका आशय है । पाठक इसका विचार करें और अपनी उत्पत्तिके लिये उपयोगी बोध लें । तथा प्राप्त बोधके अनुसार आचरण करके अपने और जनताके अभ्युदय और निःश्रेयस प्राप्तिके साधनमें सदा तत्पर रहें ।

इस लेखमें थोड़ेसे वेदमंत्र दिये हैं जिनमें प्राणविषयक उद्देश्य विज्ञेय रीतिसे स्पष्ट है । परंतु इसके आतिरिक्त अम्यदेवताओंके सूक्तोंमें गुप्त रीतिसे जो प्राणविद्याका वर्णन है उसकी भी खोज होनी चाहिए । आशा है कि पाठक स्वयं प्राणविद्याका अभ्यास करके उच्च खोज करनेके पवित्र कार्यमें अपने आपकी समर्पित करेंगे ।

स्वयं अनुभव लेनेके बिना उच्च प्रकारकी खोज नहीं हो सकती, इसलिये प्रथम प्राणायामका साधन स्वयं करना चाहिए । जो सज्जन प्राणायामका साधन स्वयं करेंगे और उच्च भूमिकाओंमें जाकर वहीका प्रत्यक्ष अनुभव करेंगे, उनको ही वैदिक सभैतोंका उत्तम ज्ञान होना संभव है । इसलिये पाठकोंसे प्रार्थना है कि वे प्रथम अनुष्ठान द्वारा स्वयं अनुभव लेनेका यत्न करें, और पश्चात् वैदिक प्राणविद्या की खोज करके पीछेसे आनेवाले सज्जनोंका मार्ग सुगम करें । इसके थोड़े थोड़े प्रयत्नसे महान् कार्य छिद हो सकता है । आशा है कि पाठक उरगाहके साथ अर्पण प्रयत्न करेंगे ।

### उपनिषदोंमें प्राण-विद्या ।

वेदमंत्रोंमें जो अध्यात्मविद्या है वही उपनिषदोंमें बतलाई है । अध्यात्मविद्याके अनेक क्षेत्रोंमें प्राणविद्या नामक एक मुख्य क्षेत्र है । वह जैसा वेदके मंत्रोंमें है वंशा उपनिषदोंके मंत्रोंमें भी है । इसमें पूर्ण वेदमंत्रोंकी प्राणविद्या सारांशरूपसे बताई है, अब उपनिषदोंकी प्राणविद्या देखनी है ।

विंशतीति ॥

तै० उ० ३।३

‘प्राणही मर्रा है, क्योंकि प्राणसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, प्राणसे जीवित रहते हैं और अंतमें प्राणमें ही जाकर मिल जाते हैं।’

यह प्राणशाक्तिका महत्त्व है। प्राण सबसे बड़ी शक्ति है, सब अन्य शक्तियाँ प्राणपर ही अवलंबित रहती हैं, जबतक प्राण रहता है तबतक अन्य शक्तियाँ रहती हैं, प्राण जाने लगता है तो अन्यशक्तियाँ प्रथम चली जाती हैं, और पश्चात् प्राण निवृत्त जाता है। न केवल प्राणियोंकी ही प्राणका आधार है, परंतु भौतिक वनस्पति तथा अन्य स्थिरचर पदार्थ, इन सबको भी प्राणशक्तिका ही आधार है। प्राणशक्ति सर्वत्र व्यापक है और सबको अंदर रहती हुई सबका धारण पोषण कर रही है। प्रजापति परमात्माने सबसे प्रथम जो दो पदार्थ उत्पन्न किये उनमेंसे एक प्राण है और दूसरी रवि है। इस विषयमें देखिये—

स मिथुनमुत्पद्यते । रविं च प्राणं च ॥४॥ आदित्यो

ह वै प्राणो रविरेव चंद्रमा रविर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्तं

चातुर्यं च तन्मन्मूर्तिरेव रविः ॥ ५ ॥ प्रश्न, उ० १

“परमेश्वरने सबसे प्रथम स्त्रीपुरुषका एक जोड़ा उत्पन्न किया उसमें एक प्राण है और दूसरी रवि है। जगत्में आदित्य ही प्राण है और चंद्रमा तथा मूर्तिमान जगत् जिसमें इंसान और जड़व्य पदार्थ मात्र हैं रवि है।”

अर्थात् एक प्राणशक्ति और दूसरी रविशक्ति सबसे प्रथम उत्पन्न हुई। इसका भाव निम्न कोष्टकसे ज्ञात होगा, देखिये—

प्राण	रवि
आदित्य	चंद्रमाः
पुरुष	स्त्री, प्रकृति
Positive	Negative

जगतके ये मातापिता हैं, इनसे श्रष्टिकी उत्पत्ति हुई है। संपूर्ण जगत्में इनका कार्य है। सूर्यमालामें सूर्य प्राण है, अन्य चंद्र आदि रवि हैं, शरीरमें मुख्य—प्राण प्राण है और अन्य रथूल शरीर रवि है देहमें स्त्री ही बगल प्राण है और चार्ड बगल रवि है। इस प्रकार एक दूसरेके अंदर रवि और प्राणशक्तियाँ व्यापक हैं, किसी स्थानपर ये दोनों शक्तियाँ नहीं हैं ऐसा नहीं है। सर्वत्र रहकर सब स्थिरचरमें इनका कार्य हो रहा है। इसको देखनेसे प्राणकी सर्वव्यापकताका पता लग सकता है। इस प्रकार यह सब देवोंका देव है इसलिये कहा है कि—

कृत्स्न एको देव इति प्राण इति ॥ वृ. ३।१।९

“एक देव कौनसा है ? प्राण है।” अर्थात् सब देवोंमें मुख्य एक देव कौनसा है ? उत्तरमें निवेदन है कि प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ देव है। और देखिये—

प्राणो वायु ज्येष्ठश्च अष्टमश्च ॥ छं. ५।१।१। वृ. ६।१।१

“प्राणही सबसे मुख्य और श्रेष्ठ है।” सब अन्य देव इसके आधारसे रहते हैं। तथा—

( १ ) प्राणो वै बल तत्प्राणे प्रतिष्ठितम् ॥ वृ. ५।१।४

( २ ) प्राणो वा अमृतम् ॥ वृ. १।६।३

( ३ ) प्राणो वै सत्यम् ॥ वृ. २।१।२०

( ४ ) प्राणो वै यशो बलम् ॥ वृ. १।२।६

“( १ ) प्राणही बल है, वह बल प्राणमें रहता है। ( २ ) प्राणही अमृत है, ( ३ ) प्राणही सत्य है, ( ४ ) प्राणही यश और बल है।” इसप्रकार प्राणका महत्त्व है। प्राणकी श्रेष्ठता इतनी है कि उसका वर्णन वादोंसे नहीं हो सकता।

प्राण कहाँसे आता है ?

परमामाने प्राणकी उत्पत्ति की है, इसका वर्णन पूर्व स्थलोंमें हो चुका है। परंतु इस प्राणशक्तिकी प्राप्ति प्राणियोंको कैसे होती है, इस विषयमें निम्न संश्र देखने योग्य है—

आदित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राप्यान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ यद्दक्षिणां यत्पश्चिमीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु संनिधत्ते ॥ १ ॥

स एव वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽभिप्रुदयते ॥ तदेतद्वाचस्पृक्षम् ॥ ७ ॥ विश्वरूपं हरिण जातवेदं परायणं पचोतिर्ब्रह्म संपतम् ॥ सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥ ८ ॥ प्रश्न, उ० १।६-८

“सूर्यका जब उदय होता है तब सभी दिशाओंमें सूर्य किरणों के द्वारा प्राण रखा जाता है। इसप्रकार सर्वत्र सूर्यकिरणोंसे द्वाराही प्राण पहुँचता है ॥ यह सूर्यही प्राणरूप वैश्वानर अग्नि है ॥ यह सूर्य ( विश्व-रूप ) सब रूपका प्रकाशक, ( हरिण ) व्यवहारका हरण करनेवाला, ( जात-वेदसं ) धर्मोंका उत्पादक, एक, श्रेष्ठ विज्जसे युक्त, मेककी प्रकाशसे सहस्रों किरणोंके साथ प्रकाशनेवाला यह प्रजाओंका प्राण उदयको प्राप्त होता है ॥”

यह सूर्यका वर्णन यथा रहा है कि सूर्यका प्राणके साथ क्या संबंध है। सूर्यकिरणोंके बिना प्राणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस सूर्य मालिन्धका मूल प्राण यह सूर्य देव ही है। इसी कारण

वेदमंत्रमें आयु, आरोग्य, सब आदिके साथ सूर्यका संबंध वर्णन किया है। सूर्यप्रकाशका हमारे आरोग्यके साथ कितना घनिष्ठ संबंध है इसका यहाँ पता लग सकता है । जो लोग सदा अंधरे स्थानमें रहते हैं, सूर्यप्रकाशमें मोहवा नहीं करते, सूर्यके प्रकाशमें अपना आरोग्य नहीं संपादन करते हैं और अपने आरोग्यके लिये वैद्यों, दवाओं और डाक्टरोंके घर भरते रहते हैं। विपरीत दवाइयाँ पीते हैं, दवाओं अज्ञानताकी सीमा कहाँ है ? परमात्मानें अपार दयासे सूर्य और चंद्र उतपन्न किया है, और उनमें पूर्ण आरोग्य संपादन हो सकता है । दोष रीतिमें प्राणायामद्वारा उनका सेवन किया जायगा तो स्वभावना ही कारणसे मिल सकता है इनका सस्ना आरोग्य हानिकार भी मनुष्य एवं अवस्थातक आ पहुँचे हैं कि अनंत धैर्यसिद्धि व्यय करनेपर भी उनको न देखे वह अप्रप्त होता । यादो, देखिये कि वेदके उपदेशोंसे जनता भितनी दूर गयी है । अस्तु । विद्वत्प्रायश्चित्त प्राण प्राण हनेका मार्ग इस प्रकार है । वह प्राण सूर्यमें संश्लिष्ट हुआ है, वहाँसे सूर्यकिरणें द्वारा वायुमें आता है और वायुके साथ हमारे श्वासमें जाकर हमारा जीवन करता है । जो प्राणायाम करना चाहते हैं उनको इन बातका ठीक ठीक पता देना चाहिये । इस प्राणका और वर्णन देखिये—

### प्राणस्तुति ।

पुण्ड्रिस्तुत्येष सूर्य एव पञ्चभ्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रश्मिर्देवः मदमन्त्रामृतं च यत् ॥ ५ ॥ भरा हव रयनाभी प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ऋचो यजूषि सामानि यज्ञः क्षत्र ब्रह्म च ॥ ६ ॥ प्रजापतिश्चरति गर्भे स्वमेव प्रति जायसे ॥ सुभ्य प्राण प्रजाशिवमा यल्लि हरन्ति यः प्राणैः प्रति तिष्ठन्मि ॥ ७ ॥ देवानामपि वल्लि-  
तमः पितॄणां प्रथमा रवधा ॥ ऋषीणां चरितं सत्यम-  
यर्षागिरसामसि ॥ ८ ॥ ईदृक्प्राण तज्जता हृदो-  
ऽग्निं पारशस्तता ॥ स्वमन्त्रिक्षि चरति सूर्यशब्दं उचो-  
तिषां पति ॥ यदा स्वमभि वर्षस्यथेमाः प्राण तं प्रजाः  
आनदूरुपारितष्ठति कामायाद्यं भावत्यतीति ॥ १० ॥  
मात्यस्त्वं प्राणैकऋषिरत्ता विश्वस्य सत्यतिः ॥ वयमाद्यस्य  
दातारः पिता रत्नं मातृभिन्नः ॥ ११ ॥ या ते तनूनां चि  
प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ॥ या च मनसि  
संतता शिवां ता कुक्क मोक्षमीः ॥ १२ ॥ प्राणस्त्वहं वशी  
सर्वं त्रिदिवे यशतिष्ठितम् ॥ मातेन पुत्रान् रक्षस्व  
श्रीश्च प्रजां च विधेहि न इति ॥ १३ ॥ प्रश्न उ १

“यह प्राण अग्नि, वायु, सूर्य, पञ्चभ्य, ईद, पृथिवी रश्मि आदि सब है । जिस प्रकार रथ नाभीमें आरंभ होता है, उसी प्रकार प्राणमें सब कुछ हुआ है । ऋचा, यजू, साम, यज्ञ, क्षत्र और सन सबही प्राणके आधारसे हैं । हे प्राण ! तू प्रजापति है और गर्भमें तू ही जाता है । मघ प्रजापति ने तेरे लिये ही वली अर्पण करती है । तू देवोंका प्रथम संवाक और पितृदेवी स्व-

पहिली बात जो हममें कही है वह यह है कि चक्षु श्रोत्र आदि इंद्रिया शरीरमें गया सूर्य, चंद्र, वायु आदि जगत्में देव हैं और ये सब प्राणक वशमें हैं । शण्की शक्ति इनके ऊपर जाती है और इनके द्वारा कार्य करता है । जिस प्रकार शक्ति आसमें जाकर आसको देखनेके लिये समर्थ बनाती है, उसी प्रकार सूर्यके अंदर विश्वव्यापक प्राणशक्ति रहकर प्रकाश कर रही है । इसलिये आम्बुको दृष्टि और सूर्यकी प्रकाशशक्ति आँख और सूर्यकी नहीं है प्रभुत प्राणकी है इसी प्रकार अन्य इंद्रियों और देवताओंके विषयमें जानना उचित है । देव शब्द जैसा शरीरमें इंद्रिय वाचक है उसी प्रकार जगत्में अग्निवायु आदि देवताओंका भी वाचक है । पठक इस दृष्टिको धारण करके अग्नि आदि देवताओंके सूक्तोंका विचार करे ।

उक्त सूक्तमें दूसरी बात यह है कि, अग्नि, सूर्य, इंद्र, वायु, पृथिवी, रुद्र आदि शब्द प्राणवाचक होनेसे इन देवताओंके सूक्तोंमें भी प्राणविद्या प्रकाशित हुई है । इसलिये जो सज्जन अग्नि आदि सूक्तोंका विचार करते हैं वे उक्त सूक्तोंमें विद्यमान प्राणविद्यकाभी विचार करें । अर्थात् अग्नि सूर्य आदि देवताओंके नामोंका "प्राण" अर्थ समझकर उन सूक्तोंका अर्थ करें । जो सूक्त सामान्य अर्थवाले होंगे उनके अर्थ इस प्रकार हो सकते हैं । देखिये—

### प्राणरूप अग्नि ।

अग्निना इविमश्नत् पोषमेव दिवं दिवे ॥

यशस वीरवत्तनम् ॥ अ. ११।३

" ( अग्निना ) प्राणले ( रश्मि ) शोभा और ( पोषं ) पुष्टि ( दिवं दिवे ) प्रतिदान ( अश्नत् ) प्रप्त होती है । और वीर्य-युक्त यश भी मिलता है । "

यह अत्यंत स्पष्ट ही है कि प्राण चला जायगा तो न तो शरीरकी शोभा बढ़नी और न शरीरकी पुष्ट होगी, फिर यश मिलना तो दुरापास्त ही है । इस प्रकार बहुत विचार हो सकता है, यहाँ उतना स्थान नहीं है, इसलिये यहाँ केवल दिग्दर्शन ही किया है । वेदके गूढ़ रहस्योंका इस प्रकार पता लग जाता है इसप्रति पठकोंको उचित है कि वे वदका स्वाध्याय प्रोत्साहन किया करें । स्वाध्याय करते करते किसी न किसी समय वैदिक दृष्टि प्राप्त होगी और पद्य का बोझ हटिना नही होगी । -

उक्त सूक्तोंमें तीसरी बात यह है कि अग्नि आदि शब्दके गूढ़ अर्थोंसे प्राण विद्याका महत्त्व उसमें वर्णन किया है । इसका शोभासा स्पष्टीकरण देखिए—

( १ ) देवनां चक्षुषाम् अग्नि = प्राण "इंद्रियोंकी" चला-नेवाला है, सुषादिकोंकी चलाता है, प्राणायाम द्वारा "चिह्नान्" उन्नति प्रप्त करते हैं ।

( २ ) विमृणां प्रथमा स्था अग्नि = सर्वा प्राणक शक्तियोंमें सबसे श्रेष्ठ और ( प्रथमा ) पहिले दर्जकी प्राणकशक्ति प्राण है और वही (स-था) आत्मनकी धारणा करती है ।

( ३ ) अग्निना सत्यं चरितं अग्नि = सत प्रविधोंका सत्य ( चरितं ) चाल चलन अथवा आचरण प्राण ही करता है । दो आँख, दो बान, दो नाक और एक मुख वे सत क्षत्री हैं ऐसा वेद और उगनिश्रुतोंमें कहा है ।

( ४ ) अथवागिराभी चरितं अग्नि = (अ-थवा, अंगिरा) अथवा अंगोंके रसोंका (चरितं) चलन अथवा प्रमन प्राण ही करता है । प्राणके कारण पोषक रस सब अंगोंमें प्रमन करता है और सर्वत्र पहुँच कर सर्वत्र पुष्टि करता है ।

इसप्रकार भाव उक्त सूक्तके वाक्योंमें गुप्त रीतिसे है । प्रत्येक शब्दका अर्थ देखनेसे इसका पता लग सकता है । साधारण सूचना देनेके लिये यहाँ उपयोगी होनेवाले शब्दार्थ नीचे दिला है । ( १ ) अग्निः— अग्नि देवताका, उद्यता और तेज उत्पन्न करनेवाला; ( २ ) सुर्व-प्रेरणा करनेवाला, प्रकाश देनेवाला; ( ३ ) प्रज्ज- ( प्र-ज-य ) पूर्ण करनेवाला; ( ४ ) मव-वान्- महत्त्वसे युक्त; ( ५ ) वायुः— हिलानेवाला और अग्नि-एवो दूर करनेवाला; ( ६ ) पृथिवी-विरतुन, आधार देनेवाला ( ७ ) रथि— तेज, संगति, शरीरसंपत्ति आदि; ( ८ ) देवः— क्रोधा, विजिगीषा, व्यवहार, तेज, आनंद, हर्ष, निद्रा, उत्साह, रक्ति आदि देनेवाला, दिव्य; ( ९ ) अ-मृतः = अमरत्वसे युक्त १० ) प्रजा-गतिः = चक्षु आदि सब प्रजाओंका पलक, प्रजा उत्पन्न करनेवाला; ( ११ ) चक्षुषाम् = अत्यंत प्रेरक; ( १२ ) इंद्रः = ऐश्वर्यवन्, भेदन करनेवाला; ( १३ ) रुद्रः = ( रु-रः ) शब्दका प्रेरक, ( रुद्र-रः ) दुःखी दूर करके आरोग्य देनेवाला; ( १४ ) प्रत्यः = ( मन ) नियमके अनुसार आचरण करने वाला । इस प्रकार शब्दोंके अर्थ देखनेसे पता लगेगा कि उक्त शब्दों द्वारा प्राणही किस शक्तिका चला चलन वर्णन किया गया है । वैदिक पद्योंके गूढ़ आशय

इत्यादि विचारों से पूर्ण कहना अधिक स्पष्ट होवे। पाठक इसका विचार करें। पूर्वोक्त उपनिषद्में "प्राणका प्रेरक आत्मा" कहा है और उक्त इतिहासमें "वायुपुत्रका प्रेरक दाशरथी राम" कहा है, दोनोंका तात्पर्य एक ही है। सूत्र वाचक विचारके द्वारा इससे मूलभावको जान सकते हैं।

पूर्वोक्त ईशोपनिषद् के वचनमें "असौ अहं" शब्द आये हैं, "प्राणके अंदर रहनेवाला मैं आत्मा" यही वाचक गृहद्वाराण्यक के निम्न वचनमें है—

यः प्राणे तिष्ठन्प्राणादंतरौ यं प्राणो न वेद यस्य प्राणः शरीरं यः प्राणमंतरा यमयति, एष त आत्मा अतयम्यमृतः

पृ० ३।७।१९-

जो प्राणके अंदर रहता है, प्राणके अंदर रहनेपर भी जिसको ( प्राणः न वेद ) प्राण जानना नहीं, जिसका शरीर प्राण है, जो अंदरसे ( प्राणं यमयति ) प्राणका नियमन करता है, ( एषः ) यह तोरा अंतर्धर्मा अमर आत्मा है ।"

प्राणके अंदर रहनेवाला और प्राणका नियमन करनेवाला यह आत्मा है। इस कथनके अनुसार आत्माका प्राणके साथ नित्य संबंध है यह बात स्पष्ट होती है। मैं आत्मा हूँ, प्राण मेरा अंग-सुख है और प्राणके आधीन संपूर्ण इंद्रियां और शरीर है, यह मेरा वैभव और साम्राज्य है। इसका मैं सत्ता समस्त बन्तों और विजयी तथा दशस्वी बन्तों, यह वैदिक धर्मकी आदर्श कल्पना है इस प्राणका वर्णन अन्य रीतिसे निम्न वचन में हुआ है—

प्राणो वै रं प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि रमेते ॥

श्रु० ५।१२।१

प्राणो वा उच्यते प्राणो हीदं सर्वमुत्पाययति ॥१॥ प्राणो वै यजुः प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि पुज्यते ॥ २ ॥ प्राणो वै साम प्राणे हीमानि सर्वाणि भूतानि सन्वयति ॥३॥ प्राणो वै क्षत्रं प्राणो हि वै क्षत्रं प्रायवे ॥४॥

श्रु० ७०५।१३

"प्राण ' र ' है क्योंकि सब मृत प्राणमें रमेते हैं। प्राण ' उच्यते ' है क्योंकि प्राण सबको उठाता है। प्राण ' यजुः ' है क्योंकि प्राणमें सब मृत, संयुक्त होते हैं। प्राण ' साम ' है क्योंकि सब मृत प्राणमें सम्यक् रीतिसे रहते हैं। प्राण ' क्षत्र ' है क्योंकि प्राण ही स्रोत अर्थात् कष्टोंसे बचाता है ।"

इसका प्रत्येक मुख्य शब्द प्राणकी शक्तिका वर्णन कर रहा है। ' साम, यजुः ' आदि शब्द अन्यत्र वेदवाचक होते हुए भी

यहां केवल गुणवाचक हैं। इस शब्दप्रयोगसे स्पष्ट पता लग जाता है कि वैदिक समयमें शब्दोंका विशेष रीतिसे भी उपयोग होता था और सामान्य रीतिसे भी होता था। यहां सामान्य रीतिका प्रयोग है। जहां सामान्य रीतिसे प्रयोग होता वहां उसका यौगिक अर्थ करना चाहिये और जहां विशेष रीतिसे प्रयोग होगा वहां योग-शब्दोंका अर्थ समझना चाहिए। इस प्रकार एक ही शब्द के दोनों अर्थ होनेपर भी अर्थविषयक ठीक व्यवस्था लगाई जा सकती है। आधा है कि पाठक इस व्यवस्थाको धेदमंत्रोंमें देखेंगे। यह बात वेदका अर्थ करनेके समय विशेष महत्वकी है इसलिये यहां लिखी है।

## अंगोंका रस ।

शरीरके अंगोंमें एक प्रकारका जीवनका आधाररूप रस है। इसका वर्णन निम्न मंत्रमें है—

अग्निर्लोमानां हि रसः, प्राणो वा अंगानां रसः ...  
तस्माद्यस्मात्कस्माच्छांमात् प्राण उत्कामति, तदेव तच्छुष्यति ।

श्रु० १।३।१९

" प्राण ही अंगोंका रस है, इसलिये जिस अंगसे प्राण चला जाता है, वह अंग सूख जाता है । "

इसमें भी यही बात दिखाई देती है। यह अंग-रसका महत्व है। जीवमरामी इच्छासे प्राणके द्वारा यह रस सब शरीरमें घुमाया जाता है और प्रत्येक अंगमें आरोप्य और बल बढ़ाया जाता है। प्रबल इच्छाशक्तिद्वारा आरोप्य संपन्न करनेका उपाय इससे विदित होता है। इच्छाशक्ति और प्राण इनका बल बढ़ानेसे उक्त विधि होती है। आत्माकी प्रेरणा प्राणमें होती है, प्राणसे मन संलग्न रहता है, मनसे इच्छा शक्ति का नियमन होता है, इच्छासे शरीरमें परिणाम होकर इसके द्वारा संपूर्ण शरीरमें इष्ट कार्य होता है। देखिये—

पुरुषस्य प्रयतो वाक्ममसि संपद्यते, मनः प्राणे,

प्राणस्तेजसि, तेजः परस्वां देवतायाम् ॥ छां ७० ६।८।६

" पुरुषको वाणी मनमें, मन प्राणमें, प्राण तेजमें, और तेज परदेवतामें संलग्न होता है। " यही परंपरा है। परदेवताका तात्पर्य यही आत्मा है। प्राणविद्याकी परमशिधि इस प्रकारसे सिद्ध होती है।

## प्राण और अन्य शक्तियां ।

प्राणके आधारों अनेक शक्तियां हैं, उनका प्राणके साथ संबंध देखनेके लिये निम्न मंत्र देखिये—

प्राणो वायु संवरां । स यदा स्वपिति, प्राणमेव  
वागप्तेति, प्राणं चक्षुः, प्राणं श्रोत्रं, प्राणं मनः,  
प्राणो ह्यवैतान् संयुक्तं ॥ ३ ॥ छा० ४।३।३

“ जब यह सेता है तब वाक् चक्षु, श्रोत्र, मन आदि सब  
प्राणमें ही लीन होती हैं क्योंकि प्राण ही इनका संवारक है ।”

जिसप्रकार सूर्य उगनेके समय उसकी चिरणें फैलती हैं और  
अस्तके समय फिर अंदर लीन होती हैं, इसीप्रकार प्राणकी  
सूर्यका जागृतिके प्रारंभमें उदय होता है । उस समय उसकी  
चिरणें इंद्रियादिकमें फैलती हैं और निद्राके समय फिर उसमें  
लीन होती हैं । इसप्रकार प्राणका सूर्य होना सिद्ध होता है ।  
इसका सादर एक अंशमें हैं, यह बात भूलनी नहीं चाहिये ।  
सूर्यके समान प्राण भी कभी अस्त नहीं होता, परंतु अस्त और  
उदय ये शब्द हमारी अपेक्षासे उसमें प्रयुक्त हो रहे हैं । इस  
विषयमें निम्न वचन और देखिये—

### पतंग ।

स यथा कण्टकिः स्येण प्रबद्धो, दिशं दिशं पतिरवा,  
अन्यप्रायतनमलब्धवा, यंधनं यंधापयतः । एवमेव  
कण्ट, सोम्य, तन्मनो दिशं दिशं पतिरवाऽन्यप्रायत-  
नमलब्धवा, प्राणमेवोरध्रपतं, प्राणवधनं हि सोम्य  
मनः ॥ छा० उ० ४।८।२

“ जिसप्रकार पतंग, कोरसे बंधा हुआ, अनेक दिशाओंमें  
घूम कर, दूसरे स्थानपर अथवा न मिलनेके कारण, अपने मूल  
स्थानपर ही आजाता है; इसीप्रकार निध्रपतं, हे प्रिय शिष्य ।  
यह मन अनेक दिशाओंमें घूम प म कर, दूसरे स्थानपर आश्र-  
य न मिलनेके कारण, प्रणवः ही आश्रय करता है क्योंकि हे  
प्रियशिष्य । मन प्राणके साथ ही बंधा है ।”

इसप्रकार प्राणका मनके साथ संबंध है, यही कारण है  
कि प्राणावामने प्राण बलवान् होनेपर मन भी बलिष्ठ होता है,  
प्राणका निरोध होनेसे मनका शक्त्यंत होता है । प्रणवी चंचलता  
से मन चंचल होता है और प्राणकी स्थिरतासे मन भी स्थिर  
होता है । इससे प्राणावामका महत्त्व और उसका मनके संबंधके  
साथ संबंध विदित हो सकता है ।

प्राणसे मनका संबंध होनेके कारण अन्य इंद्रियां भी प्राणके  
निरोधसे रक्षार्थ होती हैं, यह स्पष्ट ही है; क्योंकि प्राणसे  
मन ही प्रथम, और मनके बाद होनेसे अन्य इंद्रियोंका वध

होना स्वाभाविक ही है । इसकारण प्राणावामने संपूर्ण शक्तियों  
वशाभूत होती हैं । यही भाव निम्न वचनमें सुगम रीतिसे है—

### वसु रुद्र आदित्य ।

प्राणा वायु वसवः, एते हीदं सर्वं वासयन्ति । १ ॥  
प्राणा वायु रुद्रा एते हीदं सर्वं रोदयन्ति ॥ २ ॥  
प्राणा वावादित्याः एते हीदं सर्वमाददते ॥ ३ ॥  
छा० ३।१।६

“ प्राण वसु हैं क्योंकि ये सबको वसाते हैं, प्राण रुद्र हैं  
क्योंकि इनके चले जानेसे सब रोते हैं, प्राण आदित्य हैं क्योंकि  
ये सबको स्वीकारते हैं ।”

इम स्थान पर “ प्राणा वायु रुद्राः एते हीदं सर्वं रोदन् द्रव-  
यन्ति ” अर्थात् “ प्राण रुद्र हैं क्योंकि ये इस सब दुःखको  
दूर करते हैं । ” ऐसा वचन आता तो प्राणका दुःख निवारक  
कार्य स्पष्ट हो सकता था । परंतु उपनिषद्में “ एते हीदं सर्वं  
रोदयन्ति । ” अर्थात् ये प्राण जब चले जाते हैं तब वे सब  
को रुदते हैं, इनका प्राणोंपर प्राणियोंका प्रेम है, एना लिखा है।  
शातपथ्यादिमें भी रुद्रका रोदन धर्मही वर्णन किया है, परंतु  
दुःख निवारक धर्म भी उनमें उससे अधिक प्रबल है । इसका  
पाठक विचार करें । इसप्रकार प्राणका महत्त्व होनेसे ही कहा  
है—

प्राणो ह विता, प्राणो माता, प्राणो घ्राता, प्राणिः  
स्वसा, प्राण आचार्यः, प्राणो ब्राह्मणः । ॥

छा० उ० ४।५।१

“ प्राण ही माता, पिता, भाई, बहन, आचार्य, ब्राह्मण  
आदि हैं ” ये शब्द प्राणका महत्त्व बना रहे हैं । [ १ ]  
माता-मिता-मानुहित करनेवाला; [ २ ] पिता-पालक, संर-  
क्षक, [ ३ ] घ्राता—भक्षण पोषण करनेवाला, [ ४ ] स्वसा—  
[ स्व असा ] उपमा प्रकार रखनेवाला; [ ५ ] आचार्य आत्मिक  
गुरु है, क्योंकि प्राणके आवासे अरमाका माहात्म्य होता  
है इसलिये, [ ६ ] ब्राह्मण—यह ब्रह्मके पास लेजानेवाला  
है ।

ये शब्दोंके मूलभाव यही प्राणसे गुण बता रहे हैं । यह प्राण  
का वर्णन है, इनका प्राणका महत्त्व है इसलिये अपने प्राणके  
विषयमें कोई भी उदात्त न रहे । सब लोग स्वयं प्राप्त करने  
को इच्छा करने हैं यह स्वयं प्राण ही है । देखिये—

## ब्रह्मचर्य ।

( ५ )

( ऋषिः—ब्रह्मा । देवता—ब्रह्मचारी )

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदमी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ।

स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यः१ तर्पसा विपतिं

॥ १ ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग्देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।

गन्धर्वा ऐनमन्नोयन् त्रयोस्त्रिंशत् त्रिश्रवाः पट्सहस्राः

सर्वान्स देवास्तर्पसा विपतिं

॥ २ ॥

अर्थ—ब्रह्मचारी ( कने रोदमी ) पृथिवी और सुसोप इन दोनोंको ( इष्यन् ) पुनः पुनः अनुकूल बनाता हुआ ( जाति ) चलता है, इसलिये ( तस्मिन् ) उस ब्रह्मचारीके अंदर सब देव ( संमनसः ) अनुकूल मनके साथ ( भवन्ति ) रहते हैं । ( स ) वह ब्रह्मचारी पृथिवी और ( दिवं ) सुसोपका चारण करता है और वह अपने तपसे अपने आचार्यको ( विपतिं ) परिपूर्ण बनाता है ॥ १ ॥

देव, पितर, गंधर्व और देवजन ये ( सर्वे ) सब ब्रह्मचारीको अनुसरते हैं । ( त्रयः त्रिंशत् ) तीन, तीस ( त्रिश्रवाः ) तीन सौ और ( पट्सहस्राः ) छः हजार देव हैं । ( सर्वां देवान् ) इन सब देवोंका ( सः ) वह ब्रह्मचारी अपने तपसे ( विपतिं ) पावन करता है ॥ २ ॥



आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमुन्तः ।

तं रात्रींस्तिष्ठ उदरं विभक्तिं तं जातं द्रष्टुमभिमन्यन्ति देवाः ॥ ३ ॥

इयं समित् पृथिवि द्यौर्द्वितीयोत्तान्तरिक्षं समिधा पृणाति ।

ब्रह्मचारी समिधा मेखंलया श्रमेण लोकान्तपमा विपति ॥ ४ ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी धर्मं वसानस्तपसादतिष्ठत् ।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतं न मृक् ॥ ५ ॥

ब्रह्मचर्येति समिधा समिद्धः कार्ण्यं वसानो दीक्षितो दीर्घमनुश्रुः ।

स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं सनुदं लोकान्तसंगृह्य मुहुराचारिकम् ॥ ६ ॥

अर्थ ब्रह्मचारीको ( उपनयमान. आचार्यः ) अपने पाप करनेवाला आचार्य उवको ( मतः गर्भ ) अपने अदर करण है । उस ब्रह्मचारीको अपने उदरमें ( तिष्ठ. रात्रीः ) तीन रात्रितक रखता है, जब वह ब्रह्मचारी ( जात ) द्वितीय जन्म केकर बाहर आता है, तब उसको देखनेके लिये सब ( देवाः ) विद्वान् ( अभि संयन्ति ) सब प्रकारसे एकट्ठे होते हैं ॥ ३ ॥

( इयं पृथिवी ) यह पृथिवी पृथिवी ( समित् ) समिधा है, और ( द्वितीया ) दूसरी समिधा ( द्यौः ) सुलोक है । इस ( समिधा ) समिधासे यह ब्रह्मचारी अंतरिक्षी ( पुणाति ) पूर्यता करता है । समिधा, मेखला, धन करनेका अस्वभाव और तब इनके द्वारा वह ब्रह्मचारी सब ( लोकान् विपतिं ) लोकोंको पूर्ण करता है ॥ ४ ॥

[ ब्रह्मणः पूर्वः ] ज्ञानके पूर्व [ ब्रह्मचारी जातः ] ब्रह्मचारी होता है । [ धर्मं वसानः ] उल्लास धारण करता हुआ तपसे ( उत+अतिष्ठत् ) ऊपर रहता है । उस ब्रह्मचारीसे [ ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म ] ब्रह्मसंबंधी श्रेष्ठ ज्ञान [ जातं ] नसिद्ध होता है ॥ तथा सब देव अमृतके साथ होते हैं ॥ ५ ॥

( १ ) ( समिधा समिद्धः ) तेजसे प्रकाशित ( कार्ण्यं वसानः ) कृष्णचर्म धारण करता हुआ, ( दीक्षितः ) ब्रह्मके अनुकूल आचरण करनेवाला और ( दीर्घ-मनुश्रुः ) बड़ी बड़ी दाढ़ी झूंड धारण करनेवाला ब्रह्मचारी ( एति ) प्रगति करता है । ( २ ) ( सः ) वह ( लोकान् संगृह्य ) लोकोंको एकट्ठा करता हुआ अर्थात् लोकसंग्रह करता हुआ और ( मुहुरः ) बारंबार उनको ( आचारिकम् ) उल्लास देता है और ( ३ ) पूर्वसे उत्तर सनुदतक ( सद्यः एति ) शीघ्र ही पहुंचता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—[ १ ] जो आचार्य ब्रह्मचारीको अपने पाप रखता है, वह उसको अपने अदर ही प्रविष्ट करता है । [ २ ] मानो वह शिष्य उन मुहुरे पेटमें तीन रात्रि रहता है और सब गर्भसे उसका जन्म हो जाता है । [ ३ ] जब वह द्विज जन आता है, तब उसका सम्मान सभी विद्वान् करते हैं ॥ ३ ॥

पृथिवी और सुलेक इनकी समिधाओंसे ब्रह्मचारी अंतरिक्षी पूर्यता करता है । तथा ब्रह्मचारी धर्म और तप आदि करके सब जनताको आभार देता है ॥ ४ ॥

ज्ञानप्रप्तिके पूर्व ब्रह्मचारी बनना आवश्यक है । ब्रह्मचर्यमें धर्म और तप करनेसे उच्छता प्राप्त होती है । इस प्रकारके ब्रह्मचारीसे ही परमात्माका श्रेष्ठ ज्ञान समिद्ध होता है, तथा देव अमरत्वके साथ संयुक्त होते हैं ॥ ५ ॥

( १ ) समिधा कृष्ण जैन आदिसे सुसोमित होता हुआ, बड़ी बड़ी दाढ़ी झूंड धारण करनेवाला तेजमयी ब्रह्मचारी निवमनु-कूल आचरण करनेके कारण अपनी प्रगति करता है । ( २ ) अस्वयन समायत्तिके पश्चात् धर्ममाश्रित करता हुआ अपने उपदेशोंमें जनतामें उल्लास उत्पन्न करता है और बारंबार उनमें चेतना बढाता है । ( ३ ) इस प्रकार धर्मोपदेश करता हुआ वह पूर्व सनुदसे उत्तरसमुदतक पहुंचता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।

गर्भो भूत्वाऽमृतस्य यानाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥

आचार्यस्ततश्च नमसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च ।

ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनमो भवन्ति ॥ ८ ॥

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जमार प्रथमो दिवं च ।

ते कृत्वा समिधाधुपांस्ते तयोरापिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

अर्जामन्यः परो अन्यो द्विस्त्वष्टु द गुहां निधी निहिंनै ब्राह्मणस्य ।

तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्मं विद्वान् ॥ १० ॥ ( १४ )

अर्थ- जो (अमृतस्य योनी) ज्ञानामृतके केन्द्रस्थानमें (गर्भः भूत्वा) गर्भरूप रहकर ब्रह्मचारी हुआ, वही (मह)शाय,  
(अपः) कर्म (लोक) जनता, (प्रजा-पतिं) प्रजापालक राजा और (विद्या परमेष्ठिनं) विशेष तेजस्वी परमेष्ठी पर-  
मात्माको (जनयन्) प्रकट करता हुआ, जब (इमे भूत्वा) इन्द्र बनकर (ह) निधयसे (असुरान् ततर्ह) असुरोंका  
नाश करता है ॥ ७ ॥

[ इमे ] ये ( उर्वी गम्भीरे ) बड़े गम्भीर ( उभे नमसी ) दोनों लोक ( पृथिवीं दिवं च ) पृथिवी और दुलोक आचार्यने  
[ ततश्च ] बनाये हैं । ब्रह्मचारी अपने तपसे ( ते रक्षति ) उन दोनोंका रक्षण करता है । इसलिये ( तस्मिन् ) उस ब्रह्मचारी-  
के अक्षर सब देव असुरका मनके साथ रहते हैं ॥ ८ ॥

( प्रथमः ब्रह्मचारी ) पहिले ब्रह्मचारीने ( पृथिवीं भूमिं ) इस वितृत भूमिकी तथा ( दिवं ) दुलोककी ( भिक्षां  
आजमार ) भिक्षा प्राप्त की है । जब वह ब्रह्मचारी ( ते समिधा कृत्वा ) उनकी दो समिधाय करके ( उपास्ते ) उपासना  
करता है । क्योंकि ( तयो ) उन दोनोंके बीचमें सब सुवन ( अपिताः ) स्थापित हैं ॥ ९ ॥

[ अन्य अर्वाक् ] एक पास है और [ अन्य द्विः पृष्ठान् परः ] दूसरा दुलोकके पृष्ठभागसे परे है । ये दोनों [ निधी  
कोश ] ब्रह्मणस्य गुहा ] ज्ञानीकी बुद्धिमें ( निहिंनै ) रक्षे हैं । [ तौ ] उन दोनों कोशोंका संरक्षण ब्रह्मचारी अपने तपसे  
करता है । तथा वही विद्वान् ब्रह्मचारी [ तत् केवलं ब्रह्म ] वह केवल ब्रह्मज्ञान [ कृणुते ] विस्तृत करता है, ज्ञान फैलाता  
है ॥ १० ॥

अर्वाग्न्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे ।

तयोः श्रयन्ते रश्मयोधि दृडास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी

॥ ११ ॥

अमिकन्दत् स्तनयन्नरुणः शितिक्रो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार ।

ब्रह्मचारी मिश्रति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति मदिशुश्रवसः

॥ १२ ॥

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्येषु सुमिधुमा दधाति ।

तासामग्नीषि पृथग्गन्धे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमावः

॥ १३ ॥

आचार्यो मुन्युरहणः सोम ओषधयः पर्वः ।

जीमूतां आमुन्तस्तत्तान्स्तेरिदं स्वर्शामृतम्

॥ १४ ॥

अमा धुतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।

तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अघ्रातमनः

॥ १५ ॥

अर्थ—( अर्वाग् अन्यः ) इधर एक है और [ इतः पृथिव्याः अन्यः ] हय पृथिवीसे दूर दूसरा है । ये [ अग्नि ] दोनों अग्नि [ हमें अंतरा नभसी ] इन पृथिवी और युगोके बीचमें [ समेतः ] मिलत हैं । [ तयोः दृडा रश्मयः ] उनही बल-  
वात् किरणें [ अग्नि श्रयन्ते ] फैलती हैं । ब्रह्मचारी तपसे [ तान् आविष्टति ] उन किरणोंका अभिष्टाता होता है ॥ ११ ॥

[ अमिकन्दत् स्तनयन् ] गर्जना करनेवाला [ अरुणः शितिकः ] भूरे और काले रंगसे युक्त [ बृहत् छेपः ] बड़ा प्रभावशाली [ ब्रह्मचारी ] ब्रह्म अर्थात् उदकको साथ ले जनेवाला अथ [ भूमौ जनु जभार ] भूमिसे योग्य पोषण करता है । तथा [ सानौ पृथिव्यां ] पृथक् और भूमिपर [ रेतः सिञ्चति ] जलकी छुट्टि करता है । [ तेन ] इससे [ मदिशः जीवन्ति ] चारों दिशामें जीवित रहती हैं ॥ १२ ॥

अग्नि, सूर्य, चंद्रमा, वायु, [ अम्बु ] जल इनमें ब्रह्मचारी समिधा डालता है । उनके तेज पृथक् पृथक् [ अग्ने ] मेघोंमें संचार करत हैं । ( तासां ) उनसे [ वर्ष ] छूट [ जायः ] जल और [ आसं ] धी और पुरुषकी वरगति होती है ॥ १३ ॥

आचार्य हो श्याय, वरुण, सोम, औषधि तथा पयस्वर है । उसके जो [ सन्तानः ] साधक भाव हैं, वे [ जीमूताः ] मेघरूप हैं, क्योंकि ( तैः ) उनके द्वारा ही [ इदं स्वः आभूत् ] वह स्वप्न रहा है ॥ १४ ॥

( अमा ) एकत्व, सहवास ( केवल पृथक् ) केवल शुद्ध तेज करता है । आचार्य वरुण बनकर ( प्रजा-पतौ ) प्रज.पालकके विषयमें ( यत् यत् ऐच्छत् ) जो जो चाहता है ( तद् ) उसको मित्र ब्रह्मचारी ( स्वात् आग्रतः ) अपनी आग्रतःकिरी ( अग्नि प्रायच्छत् ) देता है ॥ १५ ॥

माचार्य— दो अग्नि हैं जा इस त्रिकोणमें कार्य कर रहे हैं, उनका अधिष्टाता ब्रह्मचारी है ॥ ११ ॥

मेघ ब्रह्मचारी है वह अपने तपसे भूमि की धाति करता है । ब्रह्मचारी तपसे यह वायु लेवे ॥ १२ ॥

ब्रह्मचारीका अभिष्टात्रके समय आग्नेय आहुति डालना जगत्को तुल्य करता है ॥ १३ ॥

आचार्य देवतामय है वह ब्रह्मचारीके सारथी उभति करता है ॥ १४ ॥

पुरुषार्थके सहकारके ही दिव्य तेज अथवा तेजस्वी शान्त्य प्रवाह प्रचलित होता है । आचार्य वरुण बनकर जो इच्छा करता है, उसकी पूर्ति शिष्य अपनी धातवके अनुसार करता है ॥ १५ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः । प्रजापतिरिति राजति तिराडिन्द्रोऽभवद् वृशी ॥ १६ ॥  
 ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति । आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥  
 ब्रह्मचर्येण कन्याः पुत्रान् विन्दते पतिम् । अनुङ्वान् ब्रह्मचर्येणाभ्यः घामं जिगीर्षति ॥ १८ ॥  
 ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपामृत । इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवभ्यः स्वराभरत् ॥ १९ ॥  
 ओषधयो भूतभक्ष्यमहोरात्रे वनस्रतिः । संस्रारः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥  
 पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।  
 अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

अर्थ— आचार्य ब्रह्मचारी होना चाहिये, [ प्रजापतिः ] प्रजापालक भी ब्रह्मचारी होना चाहिये । इस प्रकारका प्रजापति [ तिराजति ] विशेष सोमता है । जो [ वृती ] संवधी [ तिराज ] राजा होता है, वही इन्द्र कहलाता है ॥ १६ ॥  
 ब्रह्मचर्यका तपसे साधनसे राजा राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है । आचार्य भी ब्रह्मचर्यके साथ रहनेवाले ब्रह्मचारी की ही इच्छा करता है ॥ १७ ॥

कन्या ब्रह्मचर्य पालन करनेके पक्षार्थ तपस पतिको ( पतिव्रते ) प्राप्त करती है । [ अनुङ्वान् ] बैल और ( जघ ) घोडा भी ब्रह्मचर्य पालन करनेसेही घाम खाता है ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्यकर तपसे सब देवोंने मृत्युको ( भव भग्न ) दूर किया । इन्द्र ब्रह्मचर्यके ही देवोंको ( स्वः ) स्व ( आभार ) दत्ता है ॥ १९ ॥

औषधियाँ, वनस्पतियाँ, ( अमृतमिः सह संसारमः ) अमृतोंके साथ गमन करनेवाला संसार, महाराज, घृत और ( भक्ष्य ) भक्षण के सब ब्रह्मचारी ( जाताः ) हो गये हैं ॥ २० ॥

( पार्थिवाः ) पृथ्वीपर उपद्रव होनेवाले ( आरण्या ग्राम्याश्च ) आरण्या और ग्राममें उपद्रव होनेवाले जो ( अपक्षा पशवः ) पशुहीन पशु हैं, तथा ( दिव्याः पक्षिणाः ) आकाशमें संचार करनेवाले जो पक्षी हैं, वे सब ब्रह्मचारी ( जाताः ) बने हैं ॥ २१ ॥

आचार्य— सब शिक्षक ब्रह्मचारी होने चाहिये, सब राजपति राजा— प्रजापति के कार्यमें नियुक्त पुरुष भी ब्रह्मचारी ही होने चाहिये । जो वीर्य गतिमें प्रजाका पालन करने केही मुसोमित होये तथा जो अतिदेव राजपुरुष होये वही इन्द्र कहलावे ॥ १६ ॥  
 राजा राजपुरुष भी सब लोगसे ब्रह्मचर्य पालन का एक राष्ट्रका विशेष रक्षण करता है । अध्यापक भी ऐसे ब्रह्मचारी की इच्छा करता है कि जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है ॥ १७ ॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके पक्षार्थ कन्या अपने योग्य पतिको प्राप्त करती है । बैल और घोडा भी ब्रह्मचारी रहते हैं, इन्होंने सब कार्य उमे पका सक्षत है ॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्य पालन करनेके कारण ही सब देव अमर बने हैं । तथा ब्रह्मचर्यके सामर्थ्यसे ही देवराज इन्द्र सब इतर देवोंको तेज दे सकता है ॥ १९ ॥

सब विष ब्रह्मचर्यमें युक्त है ॥ २० ॥

सब पशुहीन पशु भी ब्रह्मचारी हैं ॥ २१ ॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु विभ्रति ।

तान्तसर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम्

॥ २२ ॥

देवानामितत् परिपूतमनस्यारूढं चरति रोचमानम् ।

तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अपृतैन माकम्

॥ २३ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् विभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।

प्राणापानौ जूनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम्

॥ २४ ॥

चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मास्तु भेदन्नं रेतो लोहिहं मूदरम्

॥ २५ ॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी संलिलस्य पृष्ठे तपोऽविष्टर् तुप्यमानः समुद्रे ।

स स्नानो यभ्रुः पिङ्गुलः पृथिव्यां बहु रोचते

॥ २६ ॥ [ १६ ]

अर्थ—( सर्वे प्राजापत्याः ) प्रजापति परमात्मासे उत्पन्न हुए हुए सब ही पदार्थ पृथक् पृथक् ( आत्मसु प्राणात् ) अपने अंदर प्राणीको ( विभ्रति ) धारण करते हैं । ( ब्रह्मचारिण्याभृतम् ) ब्रह्मचारीमें रहता हुआ ( ब्रह्म ) ज्ञान ( तान् सर्वान् रक्षति ) उन सबका रक्षण करता है ॥ २२ ॥

देवीका ( एतत् ) यज्ञ ( परि—पूतं ) उसाह देनेवाला ( अन् अस्यारूढं ) सबसे अेष्ठ ( रोचमानं ) तेज ( चरति ) चलता है । उससे ( ब्राह्मणं ) ब्रह्मवंशधी ( ज्येष्ठं ब्रह्म ) अेष्ठ ज्ञान हुआ है और ( जमूयेन साकं ) अमर मनके साथ ( सर्वे देवाः ) सब देव प्रकट हो गये ॥ २३ ॥

( भ्राजत् ब्रह्म ) समकनेवाला ज्ञान ब्रह्मचारी धारण करता है । इसलिये उसमें सब देव ( अधि समोताः ) रहे हैं । वह प्राण, अग्नय, व्यान, वाचा, मन, हृदय, ज्ञान ( आत् ) और मेधा ( ज-वत् ) प्रकट करता है ॥ इसलिये है ब्रह्मचारी ! ( अस्मास्तु ) हम सबमें चक्षु, श्रोत्र, यश, अन्न, ( रेतः ) बीर्य, ( लोहिहं ) रुधिर और ( उदरं ) पेट ( भेदि ) पुरुष करो ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचारी [ तानि ] उनके त्रिपयमें [ कल्पत् ] योजना करता है । [ संलिलस्य पृष्ठे ] जलके समीप बप करता है । इस ज्ञानसमुद्रमें [ तुप्यमानः ] तप होनेवाला यह ब्रह्मचारी [ स स्नानः ] जब स्नानक हो जाता है तब [ यभ्रुः पिङ्गुलः ] अत्यंत लज्जवी होनेके कारण वह इस पृथिवीपर बहुत समकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ— ब्रह्मचारीका तेज सबकी रक्षा करता है ॥ २२ ॥

ब्रह्मचर्यके तेजसे अमर हुए हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मचारीके तेजसे सबकी पुष्टि होती है ॥ २४-२५ ॥

ब्रह्मचारी अपने तेजसे विशुद्धता है ॥ २६ ॥

## ब्रह्मचर्य-सूक्त ।

इस सूक्तका प्रथम मंत्र ब्रह्मचारीका कर्मव्यवहारीक व्यवस्था कर रहा है। ब्रह्मचारी वह होता है कि जो (ब्रह्म) बड़ा होनेके लिये (आर्य) पुण्यार्थ करता रहता है। "ब्रह्म" शब्दका अर्थ-वृद्धि, महत्त्व बढापन, ज्ञान, अमृत आदि है। "चारा" शब्दका भाव-आचरण करना, नियमपूर्वक योग्य व्यवहार करना है। इन दोनों पदोंके भाव निम्न प्रकार व्यक्त होते हैं— "अभिवृद्धिके लिये प्रयत्न करना, सब प्रकारसे श्रेष्ठ बननेका पुण्यार्थ करना, सब और शुद्ध ज्ञान बढ़ानेका दान करना, अमरत्वकी प्राप्तिके लिये परम पुण्यार्थ करना ।" यह मुख्य भाव "ब्रह्मचारी" शब्दमें है। उक्त पुण्यार्थ करनेकी खाति शरीरमें वीर्यही स्थिरता होनेसे ही प्राप्त हो सकती है—इसलिये ब्रह्मचारीकी कीर्तृश्रम करनेकी अत्यंत आवश्यकता है।

उक्त मंत्रका पहिला कथन यह है कि "ब्रह्मचारी उभे रेदुही इण्डु चरति ।" अर्थात् "अपनी अभिवृद्धिकी इच्छा करनेवाला पुण्य कृषि और पुण्यके अनुकूल बनाकर अपना व्यवहार करता है।" कृषिकी श्रेष्ठ गुणोत्कर्षता जो जो पदार्थ है, उनको अपने अनुकूल बनानेसे अभ्युदयका मार्ग सुगम होता है। यह अर्थात् स्पष्टही है कि, यदि हम खेतीके पदार्थोंके साथ विरोध करेंगे, तो उनका शक्ति बर्ध होनेके कारण हमाराही पात होगा। परंतु यदि हम कृषि, जल, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थोंको अपने अनुकूल बनायेंगे; हम उनके नियमानुसार अपना व्यवहार करेंगे और इस प्रकार आपसी अनुकूलताके साथ परस्परके व्यवहार करेंगे, तब हम सबका अभ्युदय ही सचता है। यही भाव इस मंत्रमागमें कहा है।

अब ब्रह्मचारी श्रेष्ठका निरीक्षण करता है, तब उसको विदित होता है कि, कृषिकी सबकी आभार देती है; यह देखकर, वह निराश्रितका आश्रय देनेका स्वभाव अपनेमें बढाता है। अमरत्वका सबकी शक्ति प्रदान करनेके लिये उच्छेद दीप्त करनेमें पुनर्जी है, वह देखकर ब्रह्मचारी नियम करता है, कि मुझे अपनी उच्छेदताके चर्ममें रहना लायित नहीं है, इसीमें मैं दीप्त दीप्त अवस्थामें रहनेके पटित जनोंके

उद्धारके लिये तथा उनके आमाओंकी शांत करनेके लिये अवश्य यत्न करूंगा। अभिवृद्धताकी ऊर्ध्व ज्योति देखकर ब्रह्मचारी उपदेश लेता है कि, दूसरोंकी प्रकाश देनेके लिये मुझ इस प्रकार अलना चाहिये और सीधा होना चाहिये। वायुदेवताकी हलचल देखकर ब्रह्मचारी निश्चय करता है कि, मैं भी हलचल द्वारा जनताकी शुद्धता संपादन करूंगा। सूर्यका तेज अवलोकन करके ब्रह्मचारी संकल्प करता है कि, मैं ज्ञानसे इसी प्रकार प्रकाशित हो जाऊंगा। चंद्रकी शांत अमृतमयी प्रभ का निरीक्षण करके वह बोध लेता है कि, मैं भी इसी प्रकार अमृतकरी शक्तिका स्रोत बन जाऊंगा। इसी ढंगसे अन्य देवताओंका निरीक्षण करके वह अपने अंदर उनके गुणधर्मोंकी धारण करने और बढानेका यत्न करता है। मानो अग्नि-आदि देव उसके लिये आदर्श बन जाते हैं और उक्त प्रकार उसकी उपदेश देते हैं।

वेदमंत्रोंमें जो अग्नि, वायु, आदि देवताओंके गुणवर्णन किये हैं उसका यही तात्पर्य है। ब्रह्मचारी एक एक सूक्तको पढ़ता है और प्रारम्भमें उक्त गुण उन देवताओंमें देखकर अपने अंदर उनका धारण करनेका दान करता है। इन देवताओंमें परमात्माके विविध गुणोंका आविर्भाव होनेके कारण वह परंपरासे परमात्माके गुणोंकी अपने अंदर बढाता है।

इसी प्रकार हरएक देवताके प्रशंसनीय सद्गुण देखनेका उक्त ब्रह्मचारीको अभ्यास होता है, देश देखनेकी दृष्टि दूर होती है और सद्गुण स्वीकारनेका भाव बढ जाता है। हरएक सद्गुणकी उत्पत्तिका यही वैदिक मार्ग है। आश्रय दीप्त देखनेकाही भाव बढ गया है, इसलिये प्रतिदिन मनुष्य गिरताही जाता है। इस कारण मनुष्यमात्रको इस वैदिक चर्मके मार्गमें ही आकर सब जगत्में शांतिस्थापनाका अपने अपने आश्रयकी शक्ति बढानी चाहिये। शतपथब्रह्मणमें कहा है कि—

यहोत अजुर्वातकवाणि । ( शत० ब्रा० १।१।२६ )  
अर्थात् जो देव करते आये हैं वह मैं करूंगा ।" यही बात सच स्थापन करी है। इस प्रकार ब्रह्मचारी देवोंका अनुकरण करने लगता है, देवोंके विषयमें आदरभाव धारण

करता है, और अग्न पक्षर देवीको प्रसन्न करनेका यत्न करता है, इस तथ्यामे देव भी संतुष्ट और प्रसन्न होकर उसके साथ अपना वास निश्चयित करने लगीं। निवास करने लगने हैं । इसका वर्णन आगेके मंत्रभागमें है —

### देवताओंकी अनुकूलता ।

जो ब्रह्मचारी उक्त प्रकार देवताओंका निरीक्षण और सुख-प्रदान करता है, उसमें अंशस्वयं निवास करनेके लिये देवता उसके साथ अनुकूल बनकर रहते हैं । मंत्र कइया है कि—

“तस्मिन् देवाः सं-मनसो भवन्ते ।” अर्थात् “उस ब्रह्मचारिमें सब देव अनुकूल मनके साथ रहते हैं ।” उसके शरीरमें जिन जिन देवताओंका अंश है वे सब उस ब्रह्मचारिके मनके अनुकूल अपना मन बनाकर उसके शरीरमें निवास करते हैं । अने छारीमें देवताओंका निवास नाम प्रधारण होता है, देखो—

१ अग्निगर्भस्था मुखं प्राविशत्,

१ वायुः प्राणो भूया नासिकं प्रविशत्,

३ अदित्यश्चक्षुर्भूयाऽक्षणीं प्रविशत्,

४ इन्द्रो अत्र भूया कर्णौ प्रविशत्

५ ओषधिनस्त्वयोरु लोमानि भूया त्वचं प्राविशत्,

६ चंद्रमा मना भूया हृत् प्रविशत्,

७ सूर्यपुरा नां भूया नाभिं प्राविशत्,

८ आपो रेतो भूया शिश्नं प्राविशत्.

(एतत् ७० २१४)

( १ ) ‘अग्नि वस्तुवशा इन्द्रिय बनकर मुखमें प्रविष्ट हुआ, ( २ ) वायु गण बनकर नासिका में प्रविष्ट करने लगा, ( ३ ) सूर्यन चक्षुष रूप धारण करके आँखों के स्थानमें निवास किया, ( ४ ) इन्द्राएँ प्राय बनकर कानमें रहने लगीं, ( ५ ) औषध घनस्व तथा कण बनकर त्वच में रहने लगीं, ( ६ ) चंद्रमा मन बनकर हृदयस्थानमें प्रविष्ट हुआ, ( ७ ) सूर्य अपानरूप धारण करके नाभिस्थानमें रहने लगा, ( ८ ) जलदेवता रेत बनकर शिश्नमें रहने लगीं ।”

इस ऐतरेय उपनिषद्के कथनानुसार अग्नि, वायु रवि, दिशा, आंशध, चंद्र सूर्य, आप इन आठ देवताओंका इनके समस्त अठ स्थानोंमें हुआ है । पाठक जान सकते हैं कि, इन्हीं प्रकार अन्य देवता, जो आठके जगत्में हैं, और जिनका वर्णन १० ( अ. ६- भा. ११ )

वेदमें वर्णित है, उनके अंश मनुष्यके शरीरमें विविध स्थानोंमें रहते हैं । इस प्रकार हमारा एक एक शरीर सब देवताओंका दिव्य साक्षात्कार है और उसका अंगुष्ठा आत्मा है, यथा इसी आत्माका हाथ उक्त सब देवताओंमें प्रविष्ट होकर कार्य करती है; इसका अधिक विचार करनेके पूर्व अथर्ववेदके निम्नलिखित मंत्र देखने योग्य है—

१ दृग साकमजायन्त देवा देवभ्यः पुरा ।

या य तान्निष्ठः प्रत्यक्ष स या अय महद्ददत् ३

२ ये त आपन् दृग जात देवा देवभ्यः पुरा ।

पुत्रभ्या लाक दद्या संसित लाक आसते १०

३ संसिता नाम ते द्या ये संभागात्समभूयान् ।

सर्वं समिच्य सर्वं देवाः पुरुषमाविशन् १३

४ यदा त्वष्टा द्युतृणन् पिना द्युतृये उत्तरः ।

गृहं दृश मय दद्या पुरुषमाविशन् १८

५ अस्थि हृत्वा समिध मृष्टया अनादयन् ।

रतः कथाऽऽज्य दद्या पुरुषमाविशन् ६९

६ या अया यश्च द्रवत या विराट् वसन्ता सह ।

शरीरं ब्रह्म प्रविशच्छरीरं अधि मजा वासि ३०

७ सूर्यश्चक्षुर्वात प्राण पुरुषस्य विभाजित ।

अथास्त्वत्तरमात्मानं दद्या प्रयच्छतद्रवे ११,

८ तस्माद् अथ दद्यान् पुरुषमिदं ब्रह्मणि मभ्यते ।

सर्वा ह्यासन् देवता गावो वाण्ड इवासते ३२

( अथर्व. १११८ )

“( १ ) सबसे प्रथम ( देवभ्यः दद्या देवः ) देवीं

दत्त देव भग्न हो गये । जो इनकी मन्त्र ( विद्यया ) जनेगा, वह ( अथ ) अजड़ी ( मद्गुं धरेत् ) मन्त्र प्रत्यक्ष विपश्ये बलिमा । ( २ ) जो पाहले देवोंसे दत्त देव हुए थे, एतोंकी स्थान देकर स्वयं किस कोहमें रहने लगे हैं । ( ३ ) निचने करनेके लिये देव हैं दि, जो सब सामग्र्य की एकत्रा करता है । ( देवा ) ये सब सब ( सर्व ) मरणधर्मी शरीरोंके निचित कामके पुण्यमें प्रविष्ट हुए हैं । ( ४ ) जो ( सूर्यः पिता ) काशीगर जबका पिता ( उत्तरः स्वष्टा ) अधिक उतम शरीरगर है, वह इस शरीरमें छेद करता है, तब मरणधर्मवाला ( गृहं ) घर बनाकर सब देव इस पुरुषमें प्रविष्ट होते हैं । ( ५ ) हृत्थिकी समिधादे बनाका, रेतका घी बनाकर ( अष्टे कायः ) आठ प्रकारके रसोंको लेकर सब देवोंमें पुरुषमें प्रवेश किया है । ( ६ ) जो आप तथा अन्य देवताएँ

दे, और ब्रह्मके सह वर्तमान जो विराट है, ब्रह्मही उन सबके शाय ( शरीर प्राविशत् ) शरीरमें प्रविष्ट हुआ है और प्रजापति शरीरमें अधिष्ठाना हुआ है । ( ७ ) सूर्य सञ्जु बना, वायु प्राण हुआ और ये देव इस पुरुषमें रहने लगे, पश्चात् इनके इतर आत्माओं देवोंने अग्निके लिये अर्पण किया । ( ८ ) इसलिये इस पुरुषमें ( विद्वान् ) ज्ञाननवाला ज्ञानी ( इदं ब्रह्म इति ) यह ब्रह्म है एवा ( मन्यते ) जानता है । क्योंकि इसमें सब देवताएं उ प्रकार इच्छु रहने हैं, कि जैसे माँ को शाल्याम रहती है ।

इन मंत्रोंमें स्पष्ट कहा है कि, अग्नि वायु आदि देवताएँ इस शरीरमें निवास करती हैं । अर्थात् शरीरके देवताका बोधा बोधा बोधा इस शरीरमें निवास करता है । यही देवोंका "अशायन-रण" है । जो इस प्रकार अपने शरीरमें देवताओंके अशायो गानता है, वह अपनी आत्मा की शक्ति जान लेता है । और जो शरीरमें रहनेवाले देवताओंके समेत अपनी आत्माकी जानता है, यही पारमार्थिक परमात्माकी जानता है । इस विषयमें निम्न मंत्र देखिये—

ये पुराणे ब्रह्म विदुस्तै विदुः परमेष्ठिनम् ।

यो वेद परमेष्ठ पश्च वेदः प्रारभितम् ।

वषष्ठं च ब्राह्मणं विदुस्तै रुक्ममनुवाविदुः ॥

( अथर्व. १०।७।१७ )

मनविद्वान् हैं ! इस प्रश्नका उत्तर ब्रह्मचर्य-सूक्तके मंत्रमें ही दिया है, कि " तत्सर्वं देवः मयमयो भवन्ति " अर्थात् "उस ब्रह्म-चार्यमें उक्त सब देव अनुकूल मन धारण करके रहते हैं।" इस मंत्रके "म-मयमयो भवन्ति" व दो शब्द विशेष लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य हैं । इनका अर्थ देखिये—

स-सेले हुए, अनुकूल, मनसः-मनसे युक्त,

देवः— अग्नि आदि देव, तथा शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके अंश ।

"जो ब्रह्मचारी सृष्ट्यन्तर्गत अग्नि वायु आदि देवताओंका आरक्षण और अनुकरण करके उदात्तता लेता है, उनको अनुकूल बनाकर रक्ष्य उनके अनुकूल व्यवहार करता है, उस ब्रह्मचारीके अर्थात् वे ही देव अर्थात् उनके अंश अनुकूल बनकर रहते हैं। तार्किक यह कि ब्रह्मचारीके मनमें सब अपना मन मिलकर उक्त देव निवास करत हैं।"

प्रत्येक ईद्वयमें एक एक देव है, और वह देव इस ब्रह्मचारीके अनुकूल होकर रहता है । इस सबका तात्पर्य ब्रह्मचारीके सब ईद्वयशक्तियों उनके वशमें रहती हैं, इनकाही है । प्रत्येक देवताका मन भिन्न भिन्न ही होता है । अर्थात् प्रत्येक ईद्वय स्थानों पर देवताके अंश भी मनभिन्न भिन्न होता है। आँख, नाक, कान, मुख, हृदय, माँसी शिर, हाथ, पाँव आदि प्रत्येक ईद्वय और अवयवका मन भिन्न है, परन्तु सबके भिन्न मनोंमें अपने आपका स्वभाववाला " जीवामाका सुख मन " होता है । ब्रह्मचर्यके नियमनुसार अपना आचरण करके ब्रह्मचारी बनता है। उपाङ्ग शरीरमें निवास करनेवाले देवताओंके संपूर्ण अंश ब्रह्मचारीके मनमें अनुकूल अपना मन धारण करके उनके अनुकूल ही अपना कार्य करनेमें तत्पर होते हैं । परन्तु जो नियम छोड़कर जो आगे व्यवहार करता है उस स्वच्छंद पुरुषके ईद्वयस्थानों पर देवता गण भी स्वेच्छान्वी होते हैं । और प्रत्येक ईद्वय स्वच्छंद है नम अनम इस मनुष्यकाही नाश होता है । इसलिये ब्रह्मचारीको उचित है कि, वह नियमानुसार आचरण करके ईद्वयस्थानों पर देवताओंको अपने अधीन रखे और अपनी इच्छानुसार उनमें योग्य कार्य करता रहे ।



प्रत्येक इंद्रियमें जाकर वहाँ केया विलक्षण कार्य करती है, वह विद्याभूषक देवसेमे अपनी अस्मिताविश्व। अनुभव दूरवृत्तकी प्राप्त हो सरता है। इस अनुभवस इंद्रशायन और इंद्रवदन साध्य होता है।

प्रत्येक इंद्रा मित्र देवताके अंगका बना है। इन देवताओंमें भूगर्भनीय, अग्निसहस्रनीय तथा युग्मनीय ऐसे देवताओंके तीन वर्ग हैं। यन् देवताओंका विश्व शरीरमें है, एवा कहने साधने तक त्रिलोकीका ही विश्वम् इस शरीरमें है, वह बात स्पष्ट हो हो गई। क्योंकि भूगर्भ, भूगर्भ और स्वर्गलोक इस तीन स्थानोंमें ही सब देवता रहने हैं। अब तक नीचे सेगोके एक एक वर्गका भेदा शरीरमें आता है, तो आने शरीरका ही यहाँ भेदा संसर वह मानवदेव बनाए सरा है। इस विषयका साक्षात्करण निम्न स्थानमें दिखे कोष्टकमें हो सकता है—

इस प्रकार बाह्यकी त्रिलोकीका भेदा शरीरमें आया है। इसी कारण कहा जाता है कि वह सप्तवारी त्रिलोकीका आधार है। देखिये — “ स दानर पृथिवी दिव च” अर्थात् यह पूर्वोक्त संवर्गों सप्तवारी पृथिवी और पुनः तत्प तदनर्गत बीचके अंतरिक्ष कोष्टका भी आधार देता है। यह बात उक्त कोष्टकमें अब स्पष्ट हो चुकी है। इस प्रकार सप्तवारी प्रत्येक भाग अनुभवकी बात हो जाता रहा है। यहाँ विश्वमलका की कल्पना करनेकी आवश्यकता ही नहीं है। “सर्वे मनुष्य विचारशील” होने संगोपत बातकी आने भेदा ही स्पष्ट करता है। कथल कहानिक बातें येदमें नहीं हैं, प्रत्यक्ष मलका बातें ही वेद वर्णन करता है। परंतु उसकी प्रत्यक्ष दृष्टिमें ही निम्न ही देखना चाहिये। जो गति यहाँ बताई है, उससे प्रत्यक्ष मनुष्य अपने भेदा ही संगोपत बातें प्रत्यक्ष देख सकता है।

### त्रिलोकीका कोष्टक ।

लोक	देवता		मनुष्यके इंद्रिय
स्वर्गलोक [ <b>भूलोक</b> ] स्वः	द्यौः सूर्य दिशा आग्नेय	—सिर—	सिर बाँह कान मुख, शक्तिन्द्रिय
[ <b>भूगर्भलोक</b> ] भूत, रक्षलोक भुवः	इंद्र चंद्र वायु और मरुत	कंठ, पंजा, हृदय	आत्मा मन मुख और शीघ्र प्राण
भूलोक [ <b>पृथिवी लोक</b> ] मूः	सूर्य आप, जल भूमि	नाभि, शिखा, पाँव	अपान रेंत, बीघे पाँव

पादा स्थानकी त्रिलोकी (समाधि)

शरीरस त्रिलोकी (मल)

१ - त्रिशताः —तीन सौ ३००

२ पद महसः —दस हजार ६०००

पहिले मंत्रक प्रवर्णकणके के प्रथमे बताया ही है कि, नाभिले निचला भाग पृथिवी स्थानाय, नाभिले गलेतक का भाग अंग-रिक्षस्थानाय और शिर धूम्रस्थानाय है। अर्थात् शरीरके अंदरके इन तीनों स्थानोंमें बाह्यक तीनों स्थानोंमें रहनेवाले सब देव हैं। वेदोंमें अत्यन्त बड़ा है कि, प्रत्येक स्थानमें अथवा उपास्य देवता है, उनमें भी दस गौण और एक मुख्य है।

सिध्दमें मस्तिष्क है उसकी देवता सूर्य है। हृदयमें धन और उसकी देवता चंद्र किंवा इंद्र है। तब अङ्गमें अग्निदेवता है। इस प्रकार तीनों स्थानोंमें ये तीन देवताएं मुख्य हैं। प्रत्येक देवताके अधिन दस गौण देवताएं हैं। तीन मुख्य और तीस गौण मन्त्रकर ३३ देवता होती हैं। प्रत्येक देवता एक एक अंगमें रहती है। अर्थात् ३३ देवताओंके अधीन ३३ अंग हैं। इस मात्रकी लेकर निम्नमन्त्र देखिय—

( १ ) यस्य प्रवर्णस्य देवा अंगे सर्वे समहितः ॥ १३ ॥

( २ ) यस्य प्रवर्णस्य देवा अंगे माया विमंजित ॥

सांख्ये प्रवर्णस्य देवा अंगे मन्त्रा विदुः ॥ २० ॥

( ३ ) यस्य प्रवर्णस्य देवा निभिरक्षन्ति सर्वदा

निभिरक्षन्ति को वेदं यं देवा अभि क्षय ॥ २३ ॥

( अथर्ववेद १०१७ )

“ ( १ ) जिसके अंगमें तैत्तिरीय देव रहे हैं । ( २ )

जिसके अंगोंके मन्त्र में तैत्तिरीय देव विशेष सेवा करते हैं, उन तैत्तिरीय देवोंकी प्रशंसाभी पुरुष ही बखल जानते हैं । ( ३ ) तैत्तिरीय देव जिसका कोई सदा रक्षण करते हैं, उस निभिकी आज्ञा हीन जनता है ? ”

यह वर्णन परमेश्वरमें पूर्णरूपमें और जीवजन्तुओंमें अंशरूपमें लगता है। क्योंकि यह बात पूर्व स्थानमें कही ही है कि अग्नि, इन्द्र और सूर्य आदि देवता पूर्णरूपमें परमेश्वरके साथ जनते हैं और अंशरूपमें जीवजन्तुओंके साथ शरीरमें हैं। परमात्माका अंशस्वरूप और मन्त्रस्वरूप तथा जीवजन्तुका अंशस्वरूप और अणुस्वरूप छोड़ दिया जाय, तो तत्त्वरूपमें दोनोंका वर्णन एक जैसा ही हुआ करता है। वेदोंमें इस प्रकार के वर्णन अनेकों स्थानोंमें हैं।

तीन और दस देवोंका यह स्वरूप है। ये तैत्तिरीय देव मेघधनमें रहते हैं। “ मेघधनम् ” पुरुषका ही है, जिसको इंद्र मेघदेव आदि कहा जाता है। इस पुरुषधनमें धृती, छद्मी

हृष्टिर्वा एतके ऊपर दूसरी ऐसी लगती हैं और बीचके स्थानमें पर्वत एक एक ग्रंथि हैं, जिस ग्रंथिमें इन देवताओंका स्थान है। याममें जिस “ ग्रंथिभेदन ” का माहात्म्य वर्णन किया है, वह ग्रंथियों के ही हैं। प्रागाद्यादि साधनेद्वारा प्राणको इनमेंसे ले जाना होता है। योगसाधनमें इस प्रत्येक स्थानका अत्यन्त महत्त्व है। इन सब देवताओंकी ग्रंथियोंमेंसे गुजरकर योगवैत अथवा मेघदेवके सबसे ऊपरके भागमें, मन्त्रधनके मध्यमें जब आत्माके साथ प्राण पहुँचता है, तब उस स्थिति को “ ब्रह्मलोककी प्राप्ति ” कहते हैं।

ये तैत्तिरीय देवताएं अथवा तीन और तीस देवताएं ब्रह्मचारीके अधीन होती हैं, क्योंकि ब्रह्मचारीप्रथममें कीर्तिरक्षणपूर्वक योगाभ्यासद्वारा इन सबको स्वधीन ही करना होता है। इसलिए इस ब्रह्मचर्यसूक्तमें बारबार कहा है कि, ये सब देव ब्रह्मचारीके अनुकूल रहते हैं। ब्रह्मचारी इन सब देवोंकी पूर्ण पूजा और स्वधीन करता है। पूर्ण करनेका तात्पर्य प्राणमें भरना और पूर्ण विकसित करना है।

उक्त तैत्तिरीय देवोंमें भिन्न ( त्रिशतः ) तीन सौ देव हैं। तीन स्थानोंमें सौ सौ मिलकर तीन सौ होते हैं। मस्तिष्कके स्थानमें सौ, हृदयके स्थानमें सौ और नाभिस्थानमें सौ, इस प्रकार ये “ शिवशक्ति त्रिशतगण ” होते हैं। साथ साथ ( पद महसः ) दस हजार भी हैं। पुरुषवर्णके साथ साथ छ-चक्र हैं— ( १ ) गुदाके स्थानमें मूलाधारचक्र, ( २ ) नभिस्थानके पाय स्वाधिपानचक्र और ( ३ ) मण्डूरकचक्र ( ४ ) इन्द्राश्वानके पाय अना तचक्र, ( ५ ) कंठस्थानमें विशुद्धिचक्र और ( ६ ) दोनों अँहोंके बीचमें आश्विचक्र है। प्रत्येक चक्रमें सहास्रों शक्तिओंका अंश केन्द्रित हुए हैं। इस प्रकार छ देवोंमें छ हजार शक्तियों का बंट गया है। यही “ तीन सौ ” और छ हजार ” यह संख्या तैत्तिरीय देव अथवा बहुत्वदर्शक ही है। इस विषयमें मुझे स्वयं कोई ज्ञान नहीं है। अनुभवों योंभी ही इस विषयमें कह सकता है। इस लिये इस विषयमें अधिक लिखना उचित भी नहीं है।

यह देवताओंकी संख्या वेदों और ब्रह्मण्यमें ३; ३३; ३३० इसी प्रकार बड़ाई है। सहस्रों, लासों और करोड़ों तक यह गिनती गई है। मस्तिष्क मन्त्रज्ञातपुरुषका मुख्य वेद है, उसके अधीन मस्तिष्क, हृदय और नाभि ये तीन स्थान हैं। प्रत्येक स्थानमें दस दस गौण विभाग मन्त्रकर तीस चक्र और हृदय की विभाग निकट तीनको, दस प्रकार

स्पष्ट कहा है । इफलिरे प्रतीत होता है कि, इन प्रज्ञाचर्य-  
सूक्तके साथ कठे पनयदूका संबंध है और कठपनयदूकी कथा  
का स्पष्टीकरण इन प्रज्ञाचर्यसूक्तके स्पष्टीकरणसे होना संभव  
है । इसका विचार पाठक करें ।

मंत्रज्ञा सोमरा कपन है कि, “ जब वह प्रज्ञाचारी जन्म  
लेकर गुरुके उद्देश्ये वादर आता है, तब उसको देखनेके लिये  
सब विद्वन् इच्छा करते हैं । ” पूर्वोक्त तीन राज्ञि मन्त्रा होने—  
तत्क अर्थात् तीन प्रकारके अज्ञान दूर होनेतक वह प्रज्ञाचारी  
गुरुके पास रहता है किंवा गुरुके आश्रित रहता है । जब तीन  
प्रकारके अज्ञान दूर हो जाते हैं, तब वह स्वतंत्रतामें जगत्में  
संचार करने योग्य होता है । मंत्रमें अंतिम चरणमें “ जातं ”  
पद है । इसका अर्थ “ जिसने जन्म लिया है ” ऐसा होता  
है । गुरु पिता है और विद्या माता है । इस विद्यारूपी मातासे  
इस समय जन्म होता है । यह दूसरा जन्म है, इस विवरणमें  
कहा है—

स हि विद्यानर्हत् जनयति । तच्छ्रेष्ठं जन्म ।

आरिनेव मायावितरी जनयतः ॥

( आप० प० सू० १।१।१५—१७ )

“ वह क्षण है विद्याने जब प्रज्ञाचारीको उद्धार करता  
है । यह श्रेष्ठ जन्म है । मातापिता केवल सारी ही उद्धार करने  
हैं । ” इन प्रकार आचार्यद्वारा जो द्वितीय जन्म होता है,  
वही श्रेष्ठ जन्म है । इस जन्मको प्रवृत्ति करनेमें ही द्विज  
बनने है । द्विज बननेसे पूर्व जन्मान होता योग्यही है । गुरुकु-  
लोसे इस प्रकार द्विज बननेसे सर्वत्र सम्मान होता योग्य ही है ।  
गुरुकुलोसे इन प्रकार द्विज बननेके पथ तत्कनातक जब अपने  
अपने घर वापस आ जाते हैं, तब वहाँके लोग उनका बहुत  
सम्मान करते हैं ।

इस अवस्था में जो द्वितीयकी प्रथम समिधामें “ भोग ” और  
दुःखोत्पत्ति द्वितीय समिधामें “ ज्ञान ” का तात्पर्य यहाँ अर्थात्  
है । ज्ञान और भोग इन दोनों समिधामें ही ज्ञान अंतर्लक्ष्यमात्र  
हृदयकी स्फूर्ति और पूर्णता का प्रमाण होता है । इस  
मंत्रके “ वृषिभिः, अन्तरिक्षा और यज्ञः ” ये तीन शब्द वाक्य  
कोशोके बाधक नहीं हैं, क्योंकि दुःखों के कारण ही है ।  
इस कारण अपने अंतर्गत स्वभाव ही का वह ही बना उचित  
है । सभी शिक्षणप्रणाली हृदयकी स्फूर्तिके लिये ही की गई हैं—  
ये । केवल भोगही प्रमाण अथवा केवल ज्ञानही होनेसे

भी कार्य नहीं होगा । केवल उद्धारोपयोग अथवा केवल भोगा-  
लोचन होनेसे कार्यमात्र नहीं हो सकता, परंतु जब हृदयकी  
स्फूर्ति, वचनता और निर्मलता होगी, तभी जीवान्तरिकी पूर्ति  
होगी । इन अंतर्लक्ष्यी स्पष्टता करनेके लिये यह मंत्र है । भूमिके  
लोग और दुःखोत्पत्ति ज्ञान इन दोनोंका उपयोग अंतर्लक्ष्यकी  
स्पष्ट करनेके लिये ही होगा आदि । जगत्में छाति व्यापित  
होना यही एक साधन है । साधारण लोग केवल ज्ञानविज्ञा-  
नका प्रचार करते हैं अथवा भोग बढानेमें प्रवृत्त होते हैं; परन्तु  
वेद यथा सबको साधन कर रहा है और स्पष्टतासे बता  
रहा है कि, इन “ भोग और ज्ञान ” का समर्पण जब हृदयकी  
पूर्णताके लिये होगा, तभी मानवजातिकी सच्ची उन्नति  
ही संभव है । इन मंत्रमार्गसे पाठक बहुत बोध ले सकते हैं ।

## अमका तत्त्वज्ञान ।

अब अगले मंत्रमार्गमें कहा है कि, “ प्रज्ञाचारी अपनी  
समिध, मेखला, परिधन और तपसे सब लोगोंको महारा देता  
है ” समिध शब्दका अर्थ पूर्व स्थलमें बताया ही है “ मन्त्रा ”  
कटिबद्ध हाँकी सूचना दे रही है । अनर्थाके इसलिये कार्य तथा  
सबकी उन्नतिके कार्य करनेके लिये और अपने अन्तर्लक्ष्यमात्र-  
सूक्त साधन करनेके लिये प्रज्ञाचारीको यदा “ कटिबद्ध ” रहना  
चाहिये । “ धन ” का तात्पर्य परिधन है । सब प्रकारके गुरु-  
कार्य करना परिधनसे ही साध्य हो सकता है; वेदमें कहा ही  
है कि—

न ह्येव आरक्ष्य मर्यादा देवाः ॥ ( अ० ४।३।११ )

“ धन किये बिना देव सहायता नहीं करते तथा पुराण मन्त्रा  
में कहा है कि—

मास्तान्माताय धीरसि । पापो भूयद्गुरो जन  
हृदय इच्छातः मर्या । अर्चते अर्चते ॥ १ ॥

पुण्यिषा आतो जय भूभुगाना कलमहिः ।

शेरे अस्व सर्व पाप्मानः श्रेण प्रपथे हृताः ।

अर्चते अर्चते ॥ २ ॥

आग्ने भग आस्तमस्वोऽर्चते शास्त्र निष्ठयः ॥

जोते निष्ठयः अस्व आग्ने आतो भगः

अर्चते अर्चते ॥ ३ ॥

कलिः शत्रुभो भगनि मन्त्रिः भग्न्यु दारः ।

अर्चते अर्चते ॥ ४ ॥

अर्चते अर्चते ॥ ५ ॥

पान्थे मधु विक्षोरे चामरहातुमुद्वरम् ।  
सूर्यस्य पश्य श्रेमाग यो न तद्वन्ते चरन् ॥  
चरिंति चरिंति ॥ ५ ॥

( पित० द्रा ० ७३१५ )

“( १ ) श्रम किये बिना श्रीकी प्राप्ति नहीं होती । सुख मनुष्य-  
ही पापी है । पुरुषार्थोंका मित्र ईश्वर है । इसलिये प्रयत्न करो  
पुरुषार्थ करो ॥ ( २ ) जो चलता है उसकी जंघिं पुष्ट होती  
है, फल मिलनेतक प्रयत्न करनेवाला अर्थात् समावशाली होता  
है । प्रयत्न करनेवालेके पापभाव मार्गमें ही खर जाते हैं । इस  
कारण प्रयत्न करो और धर्म करो ॥ ( ३ ) जो बैठता है,  
समका देव बैठता है; जो खड़ा होता है उसका देव खड़ा होता  
है, जो साता है उसका देव सो जाता है, तथा जो चलता है  
ससका देव भी चम आ जाता है । इसलिये प्रयत्न करो, परि-  
धर्म करो ॥ ( ४ ) सो जाना कलियुग है, अलक्ष्य छोड़ना  
द्राघ्युग है, ठठना जेतायुग है और पुरुषार्थ का कलियुग है ।  
इसलिये पुरुषार्थ करो ॥ ( ५ ) मधुक्ली चलकर मधु  
प्राप्त करती है, पक्षी भ्रमण करनेसे ही भोजन प्राप्त करते  
हैं । सूर्यही जा शोभा है, वह उसके निरलस भ्रमणके कारण ही  
है । इसलिये प्रयत्न करो, परिधर्म करो ॥”

इस प्रकार परिधर्म करनेका उपदेश ब्राह्मणकार करते हैं ।  
हर एक मनुष्यके लिये यह उपदेश स्मरण रखने योग्य है । तथा—  
अमयुषः पश्यो विषयास्तान् पश्य परमं चार्जुनः ॥

( अ० १।७२।२ )

“( अ०-युवः ) परियम करनेवाले, ( पद-पदः ) मार्ग-  
चलनेवाले, ( विषय-धाः ) धारणावती दुःखके धारण करनेवाले  
पुरुषार्थों संग ही ( अमयः पश्ये पदे ) आत्मार्थिके छेद परम  
स्थानके प्राप्त करने हैं ।” तथा—

आन्ताय सुनन्ते वरूपमस्मिन् । ( अ० ८।६७।६ )

“ परियम का वह करनेवालेके लिये ही । [ ईश्वर ]  
साक्षात् प्राप्त होता है ।” इस प्रकार परिधर्मका महत्त्व बेश-  
पर्यन करता है । परिधर्म करनेवाला पुरुषार्थ, प्रयत्न करनेवाला  
मनुष्य अर्थात् जनताका अन्तुद्वय कर सकता है । जब  
तब विविध योद्धावा मिश्रता है । देखिये, सदा सदा विविध  
युद्ध है—

जन्म तथा, मरण तथा, धर्म तथा, शास्त्र तथा, दमनका,  
चमनका, दास तथा, स्वामी तथा, मनुष्य- शास्त्रमनुष्यका

सत्त्वः ॥

( तै० का० १।७।८ )

“कृत, मल्य, अश्वयन्, शानि, ईश्वरदमन, मनोविकारोद्य-  
मयन, दान, यज्ञ, ( भूः ) अस्तेत्य ( भुवः ) ज्ञान ( स्वः )  
आनन्द आदि सब तत्त्व हैं ।” विचार करनेसे पता लग जाय  
गा कि जन्मसे लेकर मरणतक हर एक योग्य प्रयत्न तत्त्व हैं ।  
तपसे ही हम सब जीवित रहते हैं, तपसे ठसने करते हैं, तपसे  
ही उल्थ अवस्थामें पहुँचते हैं और तपसे ही अपना तथा जन-  
ताका अन्तुद्वय साध्य किया जाता है इसी लिये बहने हम मंत्रमें  
कहा है कि, “ब्राह्मचारी श्रम और तपसे सब लोगोंको पूर्ण उत्थ-  
करता है ।” यदि ब्राह्मचारी श्रम न करेगा और तप न आवा-  
रेगा, तो न उसकी उत्थति ही हो सगी है और न वह दूसरोंको  
मला ही कर सकता है । ( १ ) आत्मशास्त्रों समिधा आँल  
करनी है, ( २ ) मदा कटिबद्ध रहकर जनताके हितके लिये  
परम पुरुषार्थ करना है, ( ३ ) अर्जुनसे पर्याप्तम कांक्ष  
किया हुआ श्रम कर्म समाप्त करना है, तथा ( ४ ) सत्यनिष्ठा  
पूर्वक सब योग्य धर्म कार्य करते हुए जो ब्रह्म हाँगे, उनकी  
शान्तिके साथ सहन करना और फल प्राप्त होनेतक प्रार्थन किये  
हुए शुभ कार्यको बचमें ही न छोड़ना, ये बोध इस मंत्रद्वारा  
प्राप्त हो रहे हैं ।

मृत्यु स्वीकारनेकी सिद्धता ।

हम मंत्रके विचार करनेके अवसरपर निम्न मंत्र देखिये—  
मृत्योर्हं ब्राह्मचारी यदोद्य निराचन् भूय मृत्योर्हं समाप ।  
यमह ब्राह्मणा वपता अमनानन्दनं मल्लका निमामि ॥

( अर्थः ८।११३।३ )

“( मृत्योः ब्राह्मणी ) मैं मृत्युको समर्पित हुआ हुआ ब्राह्मचारी  
हूँ । इसलिये ( मृत्यु ) मनुष्योमें यमके लिये भी । एक पुरु-  
षको ( याचन् ) इच्छा करता हूँ । [ जो पुरुष अयोग्य ] ठस-  
को भी मैं ( ब्राह्मणा ) जन्मसे, तपसे, परिधर्मन और इस मेक-  
कासे ( निमामि ) वापता हूँ ।”

ब्राह्मचारीका संवेध मृत्यु अपना यमके है, इस बातका  
कथन इस मंत्रमें भी है । ब्राह्मचारी भी समझना है कि मैं  
अब मातापिताका नहीं हूँ, पाप मृत्युको समर्पित हो चुका हूँ  
अर्थात् यमके प्रमाणन हूँ हो चुके हैं । चाहें जन्मसे शा-  
स्त्रावका मृत्यु कालिक तब युवा अम प्राप्त नहीं हो सकता ।  
इसलिये जो “ दि-जन्मा ” होते हैं, उनको “ दिव ”

होनेके पूर्व एक बार मृत्युके वश होना ही चाहिये। इस प्रसंगमें आचर्य जी मृत्युका कार्य करना है। मातापितामै प्राप्त शास्त्रिक और मानसिक स्थितिमें यथ प्रविर्तन करना तथा उसको सुयोग्य बनाना आचार्यका कार्य है। कठोरनिष्ठ होने को इसा दृष्टि युक्त स्थानमें मृत्युको ही माना है, ब्रह्मचर्यमूलक भी "अचर्यको मृत्यु" ही कहा है। तथा इय मन्त्रमें स्वयं ब्रह्मचारी कहता है कि "मैं अब मृत्युको समर्पित हुआ हूँ। इस प्रकारका मृत्युको समर्पित हुआ ब्रह्मचारी शुश्रूक्षणा विधामृत पान करता हुआ आनन्द के रह रहा है कि "मैं जनताके और मे। पुरुष इयी प्रकार मृत्युको (माचार्यका) समर्पित करने की इच्छा करता है।" अर्थात् ब्रह्मचारीकी यह मन्त्रना चाहिये कि, यह अपने गुरुकुलमें और और ब्रह्मचारी वाचरित करे। इतना योग्य बने कि उसको देखकर अन्य विद्यार्थी वही आर्य ब्रह्मचारियोंका परस्पर संबंध भी "ज्ञान, तप, परिधम," आदि उच्च मानकों की होना चाहिये। एक ब्रह्मचारिकी का दूरे महानिष्ठ के वरी संबंध है। अर्थात् एक ब्रह्मचारी दूसरेको ज्ञान देवे, जो स्वयं जानना है, वह दूसरेको समझावे। दूसरोंके विनाश पर ध्यान करे और दूसरेका हित करनेके लिये स्वयं क्लेश भी सहन करे।

सब ब्रह्मचारी अपने आर्य मृत्युके लिये समर्पित समझे, तथा ब्रह्मचारियोंके मातापिता भी समझे कि हमने अपने पुत्रको मृत्युके लिये ही समर्पित किया है। क्योंकि गुरुकुल में प्रविष्ट हुआ ब्रह्मचारी अब मृत्युके समर्पण ही की पुत्रा है। वह अब केवल माता पिताओंकी ही नहीं रहा। वह अब संपूर्ण जनताका पुत्र है, जनता उसकी माता है, राष्ट्र उसका पिता है। इतनाही नहीं परंतु अब वह ब्रह्मचारी ही स्वयं अपने आपको मृत्युकी समर्पित समझने लगा है। जो आनन्द मृत्युको ही इच्छा करनेके लिये कटिबद्ध होता है, जो अपनी अविश्वार्थी समिधा बनाने के लिये मिष्ट हो चुका है, जो अपने दीर्घ, वन, वराक्रम के अन्तर्गत राष्ट्रीय नरमेधमें अह्वित हो देनेके लिये तैयार है, तथा जो आत्मसर्वस्वकी पूर्णाहुति हाथमें लेकर तैयार है, उसकी अप्रव बनेय कता नहीं चलने, परिधर्मोंके भवसे वह हृदयार्थ परावृत्त नहीं हो सकता। वह है ब्रह्मचारिकी पराक्रम।

### तपसे उन्नति ।

पंचम मंत्रमें तपस महार कहा है। ब्रह्मचर्यमें "चर्य और तपसे उन्नति ।

तप'का अधिन व्यतीत करना चाहिये। मर्मो-उत्पन्नका नाम धर्म है और योग्य व्यवहार करनेके समय जा कथन होते हैं, उनकी आनन्दसे सहन करनेका नाम तप है। इन दोनों की सहायतासे ही हर एक की उन्नति होती है। तप उन्नति सहन करनेसे शारीरका आशुष्य बढ़ता है, हानिमूलका ध्यान छाड़कर कर्तव्यनिरत रहनेसे कर्मविद्धिक कार्य करनेका उत्साह कायम रहता है। इयी प्रकार अन्य ब्रह्म सहन करनेसे अपना बल बढ़ जाता है। शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक और धार्मिक बल बढ़नाही उन्नति का प्रथम कोनेका फल है। यही बात "धर्म बलानः तपसा उदित-वन्तः।" अर्थात् "उत्पन्नता धारण" का एक सहन करनेसे उत्पन्न होता है।" इस मंत्रभागमें स्पष्टता से बोली है।

ब्रह्मचारी ही भ्रष्ट ज्ञानका प्रचार करता है। पूर्वोक्त प्रकार ब्रह्मचर्यके सुनिश्चयका पालन करनेके पश्चात् जब वह, ज्ञानी बनता है, और अपनी योग्यता उत्पन्न बनाती है, तब उससे भ्रष्ट ज्ञानका प्रचार होता है। यह भाव "तस्मात् तपो ब्रह्म जाते" इय मंत्रभागमें कहा है। ज्ञानका प्रचार होनेके पूर्वमिष्ट प्रकारकी योग्यता चाहिये, उस प्रकारकी योग्यता इस मंत्रमें बोली है। स्वयं धर्मज्ञानके प्रचारक, वैयक्तिक हों अथवा अवैयक्तिक हों, परंतु वे एक प्रकारसे ब्रह्मचर्यका पूर्णता करनेवाले चाहिये। एक प्रकार ब्रह्मचर्य समाप्त करके धर्म और तपसे अपनी उत्पन्नता भ्रष्ट होने प्रारंभ की है तब प्रचारके धर्मोद्देशोंके ही ब्रह्मचर्यकी भ्रष्ट ज्ञानका प्रचार हो सकता है। अन्य उपदेशक कल्पधर्मके प्रचारके लिये योग्य नहीं हैं।

तथा वही ज्ञानी और अनुज्ञानी ब्रह्मचारी "देव-अभ्युत्पन्न सां" सब देवोंको अमरपनेके साथ मिला देता है। वही देव "कथनसे व्यवहार करनेवाले उत्पन्न होता है। "मृत्यु" ब्रह्मचर्य, नीति का नाम "क्षामद्वय" है, वेदोंको "धर्मद्वय" करते हैं, तथा "मृत्यु" को "धर्मद्वय" करते हैं। ये चारों प्रकारके तथा निबद्ध आदि पंचम "धर्मद्वय" भी एक ब्रह्मचारीके उत्पन्नसे अमरपन प्राप्त करते हैं। इन प्रकार सबको अमृत प्रदान करना, इस प्रकार सुयोग्य तप धर्मज्ञानी उत्पन्नता ही धारण हो सकता है, इन लक्ष्य देवोंके अमरपन का है।

ब्रह्म ब्रह्मचारिभिरुक्तमत् । तां पुं प्रशमयि वः ।  
यामा दितप्र, तां प्रशमयः सा व. जने व बने च १५३३३३  
(धप० ११११११११)

कर देता है अथवा ज्ञानरूप देता है, उसका संरक्षण शिष्य करता है अथवा प्राप्त ज्ञानका संरक्षण शिष्य ही करना चाहिये। ज्ञानरूपसे त्रिभुवनकी स्थिति श्रुतिश्रुति के समान है, वह बात जो ज्ञान ज्ञेय, वे इस संज्ञा आशय ही-उ समस्त सत्य है।

मंत्रके आत्म मायमें कहा है कि, उक्त प्रकारके “ ब्रह्मचारीमें उसके मनके साथ अनुकूल मन धारण करके सब देव रहते हैं।” प्रथम मंत्रके स्पष्टीकरणमें इसका विचार होनी चाहता है। इस प्रकारके सुश्रुत ब्रह्मचारीकी सब इन्द्रियाँ और अवयव उसके मनकी इच्छाके अनुकूल रहते हैं, वह संयम ही जाता है। मन आदि आंतरिक इन्द्रियोंका दमन और सब बाह्य इन्द्रियोंका दमन होनेसे वह शान्त और शान्त होता है। यही संयम है। जिसको पूर्ण ही-उ “ सं-यम ” सिद्ध होता है, उसका नाम “ यम ” है और उत्तम यम का नामही “ सं-यम ” है। इससे पाठक जान सकते हैं कि, जो प्रथम साधारण ब्रह्मचारी होता है, वही भोगे जाकर आचार्य बननेसे पूर्व “ यम ” अथवा “ सं-यम ” बनता है। आचार्यका ही नाम “ यम ” होता है।

### ब्रह्मचारीकी शिक्षा ।

प्रथम मंत्रका कथन जब दाँख ब्रह्मचारी गुरुके पास जाता है और उसके दोनों भौतिकी की शिक्षा लता है। भौतिकी शिक्षासे उसके सब भोगोंकी प्राप्ति होती है और भौतिकी शिक्षासे उसकी आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त होता है। इस प्रकार शारीरिक और आध्यात्मिक पुष्टि वह ब्रह्मचारी प्राप्त करता है। पृथिवी और लोक का संयम शारीरिक और आध्यात्मिक अभ्यासद्वारे प्राप्त है, वह पूर्व यममें वृत्ति है, तथा इन दोनों के अंश अपने शरीरमें कहा रहते हैं, वह भी पढ़िके बताया ही है। आचार्यके पाससे वह ज्ञानमय शिक्षा प्राप्त करता है और आचार्य अपने विद्वानों की पूर्णतः उत्तर पुष्टिपूर्वक उत्तरों विषयी शिक्षा अर्ज करता है। पृथिवी और लोकके अंदर ऊर्ध्व विद्य आशय है। ऊर्ध्व शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिके उर्ध्व साधन इस शिक्षासे वह ब्रह्मचारीको प्राप्त होते हैं।

### ब्रह्मचारीका आरम्भपत्र ।

जब वह प्रारंभ पूर्ण साधनेसे संयम ही जाता है, तब वह ब्रह्मचारी उक्त दोनोंसे योग्य हो कर कमिषान बन कर रहने लगता है। इस आरम्भमें वह ब्रह्मचारीको

अपनी सब शिक्षा अर्पण करनी होती है। यही उसका सर्वस्व श्रवण है। जो प्राप्त हुआ था, वह सबकी मलाई के लिये अर्पण करनेका नाम ही आत्मयज्ञ है। शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक उन्नतिके लिये अर्पण करके अंतम अपनी पूर्णतः देकर, इस आत्मयज्ञही समाप्ति होता है।

जो कुछ प्राप्त किया जाता है, उसका समर्पण समष्टिकी मलाई के लिये करनेका नामही यज्ञ है। कमंडिका एक अंग व्यष्टि है। समाजका एक अंग एक व्यष्टि है। इस कारण व्यष्टिकी अंतिम उन्नतता, उर्ध्व समाजका पूर्णतः लिये अपने आपको समर्पित करना ही है। यही यज्ञ है, यही पूजा और उपासना है। जो जिसके पास शक्ति है, उसका स्वयं उर्ध्व समाजके उन्नतिके लिये करनाही उस शक्तिका सच्चे उत्तम उपयोग है। इस प्रकारका आत्मयज्ञ ब्रह्मचारी करता है।

### दो कोश ।

दसमें मंत्रमें दो कोशोंका वर्णन है। एक भूलोक का कोश है और दूसरा पुनः एक का कोश है। दोनों कोश ब्रह्मचारी मुद्रिमें रहते हैं। ब्रह्मचारी उक्त अपने शिष्योंकी जो उक्त दोनों कोशोंकी शिक्षा देता है, वह अपनी मुद्रिसे ही देता है। विद्वान् की मुद्रिमें पृथिवी, अंतरिक्ष और पुनः एक तथा सब अन्य विद्य रहते हैं और वह ज्ञानी अपने शिष्योंको उन्नतिके लिये उनका प्रदान करता है। इस मंत्रसे यह बात स्पष्ट हो गई है कि पृथिवी और भूलोक वस्तुतः ज्ञानी की मुद्रिमें हैं, मुद्रिमें ही ऊर्ध्व जगत् का निवास है। ज्ञानी अपनी इच्छाप्रकार दूसरोंको उक्त विद्यका दान करता है।

### कोशरक्षक ब्रह्मचारी ।

आचार्यके पाससे उक्त दोनों का शिक्षा की मुद्रिमें आते हैं, अर्थात् पृथिवीसे लेकर उर्ध्वगंतता। संपूर्ण ज्ञान उसको प्राप्त होता है। अब विचार करना है कि, इन दोनों कोशोंकी शिक्षा विधि रीतिसे संरक्षण होता है। मंत्रमें ही कहा है कि, “ तपसे ” संरक्षण किया जाता है। जो ब्रह्मचारी तप करता है, शील, उन्नत आदि उन्नत चरित्र बनने की शक्ति बढ़ता है, यही उक्त कोशोंका संरक्षण वह करता है। तपके बिना, वह उन्नत करनेके बिना उन्नत संरक्षण नहीं हो सकता, यह बात इस मंत्रमें स्पष्टपणे कही है।

### दो अग्नि ।

अथारहवें मंत्रमें अग्निशोका वर्णन है । पृथिवीपर एक अग्नि है और पुनोक्तमें दूसरी अग्नि सूर्यस्वयं है । ये दोनों प्रकाश किण्वोंके बीचमें अर्थात् अंतरिक्षमें मिल जाती हैं । इनकी किरणें सर्वत्र फैलती हैं, और मद्मचारी उनका अधिक ही होता है । पूर्व दोनों मंत्रोंके साथ इस मंत्रके कथनकी तुलना करनेसे विदित होगा कि- ( १ ) दोनों ओरोंकी भिन्ना, ( २ ) बुद्धिमें रहनेवाले दोनों शोका, ( ३ ) तथा दो सांकोकी दो अग्नि ये सब एकही मुख्य यत्नके बता रहे हैं ।

शरीरमें भूम्यानां जाडर अग्नि और पुष्प्यानां अस्तिष्क निवासी सूर्य अग्नि है । जाडर अग्नि और अस्तिष्कका चैतन्य अग्नि इसका मिलाप बीचमें हृदयके स्थानमें होता है । वहाँ-से ही सब स्थानोंमें किरणें फैलती हैं । इस प्रकार ये दोनों अग्नि हैं ।

### ऊर्ध्वरेता मेघ और मद्मचारी ।

आरहवें मंत्रमें मेघोंका मद्मचारी कहा है । वृष्टि कानेवाले मेघ बड़ी गर्जना करते हुए वृष्टि करते हैं और सबको जीवन देते हैं । दूसरे कई मेघ होते हैं वे जलदांन होते हैं परंतु बड़ी गर्जना करते हैं; इनकी गर्जनासे जनताका केवल वृष्टि ही होती है । इसका कारण पहिले प्रकारके मेघ ( ऊर्ध्वरेताः ) जलमें भरपूर होते हैं और दूसरे प्रकारके मेघ ( निक्षिब्ध ) जलहीन होते हैं ।

इसी प्रकार ऊर्ध्वरेता तेजवरी मद्मचारी मेघप्रादिक समान अपनी बड़ी विशाल आवाजमें व्यावधान देकर अपने शब्दाश्रय की वृष्टि करता है और जनतामें " नवजीवन " फैलाता है । परंतु दूसरे कई निक्षिब्ध उपदेशक ऐसे होते हैं कि ओ उवाच्यमानोंका घटटोप कांत है, परंतु उनके कोकिल व्यावधानोंसे किछोका भी साम नहीं होता । इसका कारण पहिलेमें कीर्तिके साथ तप होता है और दूसरेमें दोनों नहीं होते ।

### पछे मद्मचारीका कार्य ।

तेरहवें मंत्रमें कथित मद्मचारी परमात्मा है । वह अग्नि, सूर्य, चंद्र, वायु, जल आदि देवताओंमें विशेष प्रकारकी समिधोंके रूप में होता है । उस समिधसे उल्लेख अपना कार्य करनेमें समर्थ होता है । अग्नि, सूर्य आदि देव परमात्माके तेजसे प्रकाशित हैं, वायु परमात्माके वलसे चलता है, जल उबोकी भाँतिसे दूधोकी भाँति दे रहा है । अर्थात् परमात्मा अपनी कतिपय समिधा रूपमें रचना है, वह वायु अग्नि आदि देव अपना

कार्य करते हैं । प्रत्येक देवतासे भिन्न भिन्न तेज उत्पन्न होता है और वह तेज अंतरिक्षमें इधर होता है । इससे वृष्टि और जल होता है, जलमें वृक्षान्तर्यामि, उसमें अन्न, अन्नसे वीर्य और वीर्यसे पुत्र्य विवा मनुष्य आदि प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है । यह सब मद्मचारीका जगत्में कार्य होता है ।

### छोटे मद्मचारीका कार्य ।

अब छोटे मद्मचारीका कार्य देखिये । छोटा मद्मचारी वह है, जो कि शुद्ध घरमें जाता है और यमनियमादिशोका पालन, करके विप्रव्ययन करता है । परमात्मा में जो ( १ ) अग्नि, ( २ ) सूर्य, ( ३ ) चंद्र, ( ४ ) वायु ( ५ ) जल आदि देवता हैं, उनके अंश इस मद्मचारीमें कमशः ( १ ) वाक् ( २ ) मेघ, ( ३ ) मन, ( ४ ) प्राण, ( ५ ) वीर्य आदि हैं । यह छोटा मद्मचारी अपनी समिध इनमें बालता है और इनको प्रज्वलित करता है । वस्तुतया वह, दृष्टि, विचारार्थ जीवनकी कला, और वीर्य तथा अन्धान्य शक्तिबद्ध विकस करना इस छोटे मद्मचारीका कार्य है । अपनी रबकीय आत्मिक शक्तिसे समिधा वह अपनी उक्त आश्रयोंमें बालता है और उनकी प्रज्वलित अर्थात् अधिक तेजसी करता है । जब उक्त शक्तियों बह जाती हैं, तब उनकी उर्ध्वरेता अंतरिक्षमें अर्थात् अंतःकालमें विवा हृदयमें मिल जाती हैं । वाणी, मेघ, कर्ण, मन, प्राण आदिका संबंध अंतःकालमें ही जाता है । उससे एक प्रकारका विलक्षण तेज उत्पन्न होता है, जिससे पुत्रपुत्री प्रायश्चित्त होती है, उससे श्रमकी वृष्टि होनेसे सर्वत्र भाँति फैलती है ।

छोटे और बड़े मद्मचारीके ये कार्य देखने योग्य हैं । इन कार्योंके देखनेसे दोनोंके वायेशोकी समानता स्पष्ट होती है । यही समानता देखने योग्य है । आत्मा परमात्माका कार्यधन और गुणधर्मन इस प्रकार देखने योग्य है ।

### आचार्यका स्वरूप ।

चौदहवें मंत्रमें आचार्यकोही मनु कहा है । क्योंकि उसकी कृपासे दुष्टा जन्म प्राप्त होता है और विप्र, 'दि-ज' जनता है । पहिला जन्म मातापितासे मिलता है । पहिले जन्मसे प्राप्त आचार्य मनु अथवा मरण कदनवन-छंदबादे सम्य होता है, तत्पश्चात् उस मद्मचारीका आत्मा विद्यादेवीके गर्भमें रहता है । विद्या और आचार्यके गर्भमें निरत समय अर्थात् १२, ३५, १६, ४८ वर्षकाल रहकर उस गर्भमें बह आता है वह तत्पश्चात् दुष्टा जन्म है । परमात्मा का नाम मनु है । इससे कि वह पहिले कार्य करीरकी दूरदूरकर दुष्टा कार्यजन कर्तव्य करीर

देता है। आचार्य भी यही कार्य संस्काररूपसे करता है इसलिये आचार्य भी मृग्य ही है।

आचार्य वरुण है। वरुण निवारकको कहते हैं। पापसे निवार करता है, और पुण्यमार्गमें प्रवृत्त करता है, इसलिये आचार्य ही वरुण है। वरुण शब्द वारत्वं अर्थात् श्रेष्ठत्वदर्शक भी है। आचार्यकी श्रेष्ठता सुप्रसिद्ध ही है। आचार्यका अर्थ ही वह है कि ( आचारं प्रादयति ) जो सदाचारकी शिक्षा देता है।

आचार्य साम बर्धात् चंद्र है चंद्रक मम म शांति और अहं द देनेका कार्य आचार्य करता है। आचार्यवे जो दिया प्राप्त होती है, वह विश्वके अंतःकरणमें शांति और आनंद स्थिर करनेके लिये कार्यामूर्त होती है। 'साम' कहकर दूसरा अर्थ ( मम समा ) ज्ञानों पूजा भी है। "उमा" शब्द मेघछत्र विद्या अथवा ज्ञान विद्या मूलशक्तिका वाचक केन उपनिषद् ( ११२ ) में आया है। वही उमा शब्दका "इच्छा" अथवा "मूलशक्ति" ऐसा लब्ध होता है। ( अथ त इति उमा ) जो शक्त विद्या विद्या शक्ति होती है, उसका नाम "उम" है। उम प्रकाशको संशुद्ध विद्या जिसके पक्ष होता है। ( उमया सहितः कोमः ) उमको ज्ञानी अथवा समर्थ कहते हैं।

आचार्य औषधि है। औषधि शब्द "दोषघ्नी" शब्दसे निरुपकार ( निरु० दे० १, २८ ) बनाते हैं। दोषघ्नी दूर करनेका और रोगारोप प्राप्त करनेका काम आदिधिका है। वही कार्य आचार्य करता है। विश्वके दोष दूर करके उसके अंदर ( स्व-स्व-रा ) एतत्त्वत आर्थात् अपनी शक्तिके अन्तर्गत रहना वह आचार्य देता है, इस कारण आचार्य ही औषधि है।

आचार्य दूध है। "पयः" शब्दका अर्थ "दूध, जल, शीत, अमृत, घन, उन्मत्त" इत्यादि हैं। इन सब अर्थोंका भाव "पुष्टिका आपन" इत्यादि हैं।

मंत्रमें मंत्रमें गुरुशिवके सहस्रसका महत्त्व कहा है। जो जाम विरोधता शिवको होता है वह गुरुमत्त्वमसे ही होता है। मंत्रमें "अमा" शब्द सहस्र, अर्थात् सप्त रहने का भाव बना रहा है। सूर्यचंद्रके सहस्रमेक अंतरात्मा नाम "अमा" अथवा "अमावस्या" है। यही सूर्य सूर्यप्रकाश होनेसे गुरु किंवा आचार्य है और चंद्र प्रकाश गुरु किंवा सूर्यके नेत्रमही प्रकाशनेवाला होकर उभयका शक्ति है। यही ही सूर्यवेदका सहस्रस "अमा-वस्या" है। शिव होता है, वह सहस्रस गुरुशिवके विवरणमें वही "अमा" शब्दसे बताया गया है। आचार्य-

रूपी सूर्यके विद्यमानसे विश्वरूपकी चंद्रमा प्रकाशित होता है और ये सूर्यवेद विद्याप्रपञ्चकी समाप्तिगत एतन्मही रहते हैं। इतनाही नहीं पातु यही का "अमा" शब्द सूचित कर रहा है कि गुरुशिवका सहस्रस विद्याप्रपञ्चका समाप्तिगत अवस्था ही ऐसा चाहिये। नियत समयपर पढ़ानेके लिये गुरुका ज्ञान और पढ़ाईके पश्चात् चन्द्र ज्ञान, आचार्यपनका यह संगठक नहीं है। गुरुके निमित्तके सहस्रसमे ही शिष्यकी अत्यंत काम पढ़ेचना है। इसी संदर्भमें गुरुशिवका प्रणाली बंदन आदि है। गुरुके घर में स्वयं पुत्रके समान शिष्य रहता है, इस समय म वह गुरुके मंत्र गुरु देखता है और उनका अनुकरण करता है। गुरु शिष्यके लिये मदभरण अत्यंत काम है और इस समय उन दोनोंको सही मानने लगे हैं।

इस मंत्रमें "पृ०" शब्द है। "पृ० रक्षण-दीप्योः" इस धातुसे वह शब्द बना है। ( १ ) रक्षा करना और ( २ ) तेज फैलाना ये दो अर्थ "पृ०" धातुसे हैं। पृन शब्दमें भी ये दोनों अर्थ हैं। गुरु-शिष्यका सहस्रस पूजा करता है, वह मंत्रका कथन है अर्थात् गुरुशिवके सहस्रसमे विद्याका प्रवाह बलता है और शिष्यनेत्र फैलता है। इस समयतक ज्ञानका प्रवाह गुरु-शिष्यके मध्य ही हमारे पास पहुँच है। और यही ज्ञान मंत्र-शक्तिका तेज बढ़ा रहा है, इसमें विवाद नहीं हो सकता।

अब यही मंत्र उलट होता है कि गुरु अपने शिष्यके लिये प्रकाशकी गुरुदक्षिणा मंगता है। गुरुदक्षिणा स्वरूप बननेवाला शब्द इस मंत्रमें "प्र ४-पयः" यह है। यह गुरुदक्षिणा "प्रज्ञाके पालन करनेके विषयमें" होती है। प्रज्ञाके पलनेके विषयमें अथवा ज्ञानशक्तिके लिये संबंधमें ही दक्षिणा होती है। अर्थात् गुरु अपने शिष्यका पालन करनेके लिये दक्षिणा नहीं मांगता, अथवा आचार्य पूजा दक्षिणा मंगता है कि जिससे सब जगताके पालनसंबंधी कुछ भाग बन सके। यह भाव ही सार्वजनिक हित करनेका निःस्वार्थ भाव देखनेमें आता है। उक्त प्रकार आचार्य स्वयं शिष्यको पढ़ा रहा है कि मंत्रमें प्रजाजनों के पालनेके विषयमें उचित कर्तव्य करनेमें अपने आपसे समर्पित करना ही अनुपकार मनुष्यत्व है, और प्रत्यक्ष शिक्षा यही ज्ञान है। गुरुके समान शिष्य भी प्रजापालनमें कर्तव्यका अपना द्वािरः करके अपने आपका ज्ञान सामाजिक सिद्ध करे।





सबजनतामें जेते पुरोहोंका वैसाही कन्याओंका भी ब्रह्मचर्य पालन होना चाहिये । पुरोहोंके ब्रह्मचर्यके विषयमें इकताही बात नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रह्मचारी शब्द पुष्पिममें होनेसे पुरोहोंके ब्रह्मचर्यकी आज्ञा बन्दे सिद्ध हो गई है । इस अष्टा-रहस्य मंत्रमें "कन्या" शब्दसे स्त्रात्राणिके ब्रह्मचर्यकी सूचना हो गई है । अर्थात् बाळक और बालिकाओंके लिये समानही ब्रह्मचर्य है और एवं मंत्रके अनुसार दोनोंके ब्रह्मचर्यका पालन राजप्रथमद्वारा ही होना चाहिये ।

### पशुओंका ब्रह्मचर्य ।

पेढे बैल आदि पशु मनुष्य ब्रह्मचारी हो रहते हैं । अति कममात्र उनमें नहीं जाता । कामुक मनुष्योंके समान पशुओंमें संगता नहीं होती । मनुष्योंकी अवस्था पशुओंमें खोलेबंद स्थूलही होती है, इनलिये व आपुमर ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं । उनकी देखकर मनुष्योंको बहुत बोध लेना उचित है ।

### अपमृत्युको हटानेका उपाय ।

उर्ध्वसे मंत्रमें कहा है कि अपमृत्यु दूर करनेका उपाय ब्रह्मचर्य ही है । ब्रह्मचर्य आपुथ श्रुति कर्मद्वारा और योग दूर करनेला है । जो ब्रह्मचर्यका पालन करता है, वह मृत्युकी दूर कर सकता है । इसी रीतिसे देव अमर बने हैं । जो देवोंका साथ हुआ वह तत्पश्चात् मनुष्य भी साथ कर सकते हैं । देवोंका राजाधिपति ईश भी सबसे अधिक तेजस्वी है, क्योंकि उनमें सबसे अधिक ब्रह्मचर्यका शासन किया था । जो दुष्यधर ब्रह्मचर्यका अधिक पालन करेगा वह सब आपक तेजस्वी हो सकता है । ब्रह्मचर्यका तेज उसके मुखपर ही दिख देता है । ब्रह्मचारी अनेकदिग्ग पुरुरक्षा मुक्त कमलक पद्मान तेजस्वी, उपाही और शक्तिपुष्प होता है । इसलिये हरएकही ब्रह्मचर्यका पालन अवश्यमकर करना चाहिये ।

मेघ भी ब्रह्मचारी है, क्योंकि वह " ऊर्ध्व-रेताः " है । " ऊर्ध्व " अर्थात् ऊपर धारण किया है, " रेताः " अर्थात् उदक जिसने, एषा मेघ है, इसलिये वह " ऊर्ध्व-रेता " है और इसी हेतुमें ब्रह्मचारी भी है । इसी ब्रह्मचर्य-सुत्रके मंत्र १२ में मेघ ब्रह्मचारीका वर्णन आ चुका है । वही कहा है कि यह " ब्रह्मचारी मंत्रगर्जना करता हुआ पशुओंपर और भूमिपर ( रेताः ) उदकका सिंचन करता है, उनमें सब दिशाओंमें जीवित रहती हैं । " ऊर्ध्वरेता होनेके कारण मेघमें सृष्टिका पालन करनेकी शक्ति आगई है, इस प्रकार जे ऊर्ध्वरेता होगा उसमें भी पालन करनेका शक्ति आ सकती है । सूर्य भी अपनी किरणोंसे उदकही रेतकीछार खींचता है । मनुष्य भी प्राणके आकर्षणसे कीर्तिका अपने ऊपर खींच मस्त है । इस प्रकार मेघ और सूर्यके उदाहरणसे ब्रह्मचर्यका माहात्म्य वर्णन किया है ।

### पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य ।

पादिले बैल और घोड़ेके विषयमें मंत्र १८ में कहा ही है कि वे ब्रह्मचारी हैं । प्रायः सभी पशुपक्षी ब्रह्मचारी हैं । ईश्वर आदिमें कीर्तिका काय करनेका अभ्यास दिखाई देता है, पशु साधारणतः पशु शत्रुताही होते हैं । अनुकूलसे मिल समझमें म तो वे भी के पास जाते हैं और न छा उनको अपने पास आने देती है । भिन्न व्यवहार आदि दूर पशुओंमें तो वह ब्रह्मचर्य और एकप्रायःमित्र विशेष ही तोत्र है । परमात्माने उनमें कुछ ऐसी व्यवस्था की है कि उनको शत्रुताकाको सोचकर अन्य समयमें जोरुत्पत्तिज्ञान भी नहीं होता । कई पशुपक्षी इस नियममें अपवाद भी हैं, परंतु वह अवलद पूर्वके नियम की विधि पर रहा है । पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य देखकर हमने मनुष्योंको इस विषयमें बाध लेना चाहिये । एवं मंत्रमें कहा है कि औपनिषद्शास्त्रियों आदि भी शत्रुताममें ही पुत्रपत्नी बोधके कारण शत्रुताही हमने ब्रह्मचारी हैं । ईश्वर तो शत्रुतामें ही गमन करता है, इसलिये वह भी शत्रुतामें जानेसे ब्रह्मचारी है ।

ब्रह्मचारीका ज्ञान सबका संरक्षण करता है, यह ईश्वरका ध्यन रहती है । कबो कि ज्ञानसे ही सबका संरक्षण होना है, यह व ईश्वर मंत्रमें कहा है ।

## देवोंका तेज ।

तेईसवें मंत्रमें देवोंका तेजका वर्णन है । जो उल्गाह और स्फुरण देता है, जो सबसे घेष्ट भाव उत्पन्न करता है और जो स्वयं तेजयुक्त होकर दूसरोंको भी तेजस्वी करता है वह देवोंका तेज है । राष्ट्रमें विद्वान् देव होते हैं और वे उक्त प्रकारका चेतन्यपूर्ण तेज अपने राष्ट्रमें उत्पन्न करते हैं । शरीर में ज्ञान-इंद्रिय तथा अंतःकरण आदि देव हैं कि, जो जट शरीरमें रहकर उसमें भी विलक्षण स्फूर्तिदा कार्य करा रहे हैं । तथा संपूर्ण जगत्में सूर्यवंशादिक देव अपना विलक्षण तेज फैलाकर सब जगत्को चेतना दे रहे हैं । तात्पर्य यह कि सर्वत्र यही नियम है कि जो देव होने हैं, वे अष्ट तेजसा प्रसार करके विलक्षण तराई उत्पन्न करते हैं ।

वही तेज, ज्ञान और स्फूर्ति मन्त्रवाचीसे फैलती है और देवोंमें कार्य करता है तथा अमरपन भी देती है ।

## उपदेशका अधिकारी ।

चौबीस और पचासवें मंत्र में मन्त्रवाचीके विशेष ज्ञानका उल्लेख है । मन्त्रवाची विलक्षण ज्ञान प्राप्त करता है और इस लिये वक्ता अद्भुत तेज फैलता है । इन देवोंसे उसके अंदर सब देवताएं भीतभोत होकर रहती हैं । उससे कोई देवता और उसकी शक्ति अलग नहीं होती । अर्थात् सब देवताओंकी पूर्ण शक्ति साथ वह अपना कार्य चलाता है । प्राणायामादि योगसाधन द्वारा वह अपने प्राण, अज्ञान, व्याज आदि सब प्राणोंको अपने आधीन करता है । प्राण वश होनेसे उसका मन वश होता है, क्योंकि प्राण और मन शरीरमें एकत्र मिलेजुले रहते हैं । यदि प्राण निर्बल रहा तो मन निर्बल रहता है और मन स्थिर होनेपर प्राणकी चपलता भी दूर हो जाती है । प्राण और मन स्थिर होनेसे हृदयकी दिश

शक्ति प्रकट होती है, तथा हृदय और मन नियमपट्ट होनेसे मेधाशुद्धिमें ज्ञानका संचय होने और बचने लगता है । जब उसकी योग्यता ठीकी है कि वाणीद्वारा वह अपने ज्ञानका प्रचार करे । इसी प्रकारके सुयोग्य उपदेशके वक्तृत्वसे जनता प्रभावित होती है । क्यों कि उसका कथन अनुभवके अनुकूल होता है ।

इस कारण लोग चाहते हैं कि अपने उद्धारका कोई सुपदेश उससे प्राप्त हो । जहां उक्त मन्त्रवाची पहुंचता है वहांसे सज्जन उससे कहते हैं कि हे मन्त्रवाची ! हमें उपदेश दो । चक्षु, श्रोत्र आदि इंद्रियोंकी शक्ति बढाने तथा उनको नष्ट होम और प्रमादशाली करनेकी गीति बताना । कोई कहते हैं कि अलखी न्यूनता बड़ा कष्ट दे रही है, इसलिये कहो कि विमुक्त अन्न कैसे प्राप्त होगा ? कोई महाजन पछने हैं कि पेठ ठीक करनेका उपाय क्या है ! हाजम ठीक नहीं है, इसका कोई उपाय बहो । वे पूछते हैं कि हमारा धीरे स्थिर नहीं रहता और रूज भी खराब हो गया है; इससे लिये क्या उपाय करणे चाहिये ।

पूर्वोक्त प्रकार जो जो प्रश्न लोग पूछते हैं, उनका समाधान-उत्तर मन्त्रवाची देता है, योजना और मुक्तिपूर्वक सबकी संधाओंका निरासन करता है और उनकी ठीक मार्गपर चलाता है । इतनी योजना होनेपर भी अरुभी आश्रित शक्ति बढानेके लिये वह पवित्र स्थानमें रहता हुआ तप करता है और आत्म-शक्तिका विकास करता ही रहता है । इस प्रकारका तपस्वी जब अपने तपकी समाप्ति करता है और तपश्चक्रे प्रभावसे जब प्रभावित आश्रित शक्ति युक्त होता है, तब अत्यंत तेजस्वी होनेसे इन पृथिवीवर उसकी शोभा अत्यंत बढती है । यह मन्त्रवाची तेज है, इसलिये हाथको मन्त्रवर्धक मृत्तिकाओंका पालन करके अपनी आत्मशक्तिका विकास करना चाहिये ।

# पापसे वचानेकी प्रार्थना ।

( ६ )

( ऋषिः—शंतातिः । देवता—चन्द्रमाः, मन्त्रोक्ताः । )

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोपधकृत वीरुधः । इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥  
 ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् । अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥  
 ब्रूमो देवं सवितारं चातारमुत पूषणम् । त्वष्टारमग्निं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥  
 गन्धर्वाप्सरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणस्पतिम् । अर्यमा नाम यो देवस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥  
 अहोरात्रे ह्रदं ब्रूमः स्याचन्द्रमसाविभाम् । विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥  
 घातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः । आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः । ॥ ६ ॥  
 मुञ्चन्तु मा शपथ्यादहोरात्रे अथो उषाः । सोमो मा देवो मुञ्चन्तु यमाहुश्चन्द्रमा इति ॥ ७ ॥  
 पार्थिवा दिव्याः पृथर्व आरण्या उत ये मृगाः । शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥  
 भवाशुर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिंश्च यः । इपूर्वा एषां संवित्र ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ९ ॥

अर्थ— अग्नि, वनस्पति, औपधि, ( वीरुधः ) लता, इन्द्र, बृहस्पति और सूर्यकी ( ब्रूमः ) हम सब प्रार्थना करते हैं कि ( ते ) वे ( नः शंहसः ) हम सबको पापसे ( मुञ्चन्तु ) बचावें ॥ १ ॥

राजा, वरुण, मित्र ( अयो ) और भग, अंश, विवस्वान् ॥ २ ॥ सविता देव, चाता, पूषा, ( अग्निं त्वष्टारं ) मुख्य देव ॥ ३ ॥ गन्धर्व और अप्सरागण, अश्विनी देव, ब्रह्मणस्पति, ( य. अर्यमा नाम देवः ) और जो अर्यमा नामक देव हैं ॥ ४ ॥ अहोरात्र, सूर्य और चन्द्र वे ( उमी ) दोनों, ( विश्वान् आदित्यान् ) सब आदित्य ॥ ५ ॥ ( घातः ) बाण पर्जन्य, अन्तरिक्ष, ( पथी ) और दिशा, ( आशाः ) उपादिशकी ( ब्रूमः ) हम सब प्रार्थना करते हैं कि ( ते नः शंहसः मुञ्चन्तु ) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ ६ ॥

अहोरात्र और उषाएँ ( मा शपथ्यात् मुञ्चन्तु ) मुझे शपथसे मुक्त करें, ( ये चन्द्रमा इति यमाहुः ) जिसे चन्द्रमा कहा जाता है, वह सोमदेव ( मा मुञ्चन्तु ) मुझे पापसे मुक्त करे ॥ ७ ॥

( पार्थिवाः दिव्याः पशवः ) पृथ्वीके ऊपरके पशु और आकाशमें रहनेवाले पक्षी ( उत ये आरण्या मृगाः ) और जो अरण्यमें रहनेवाले मृग हैं, शकुन्त पक्षी हैं, उनसे प्रार्थना करते हैं कि वे हमें पापसे बचावें ॥ ८ ॥

भग और सूर्य ( यः पशुपतिः रुद्रः ) को पशुपालक रुद्र है, ( या एषां इष्टः ) जो इनके बाण ( सं वित्राः ) हमें विदित है ( ताः ) वे ( नः सदा शिवाः सन्तु ) हमारे लिये सदा कल्याणकारी हों ॥ ९ ॥

दिवं ब्रह्मो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान् । समुद्रा नद्यो विशन्तास्ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥  
 सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूतेऽप्यो देवीः प्रजापतिम् । पितृन् यमत्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥  
 ये देवा दिविपदो अन्तरिक्षसदंश्च ये । पृथिव्यां भुक्ता ये धितास्ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १२ ॥  
 आदित्या रुद्रा वसवो दिवि देवा अर्यवर्णाः । अङ्गिरसो मनीषिणस्ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥  
 यज्ञं ब्रह्मो यजमानमृचः सामानि भेषजा । यज्ञेषु होत्रा ब्रूमस्ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥  
 पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमधेष्ठानि ब्रूमः । द्रुमो भुङ्को यवः सहस्ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥  
 अरायान् ब्रह्मो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितृन् । मृत्यूनेकं यत् ब्रूमस्ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १६ ॥  
 ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हापयान् । समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७ ॥  
 एतं देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत ।

पुरस्ताद्दक्षिणच्छका विश्वे देवाः समुपेत्य ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १८ ॥  
 विश्वान् देवानिदं ब्रूमः सत्यसंधानृतावृषाः विश्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो भुञ्चन्त्वंहसः ॥ १९ ॥

अर्थ- ( दिवं ) पुच्छोक्त, मध्यम, भूमि, ( यक्षाणि ) यक्ष, पर्वत, समुद्र, नदियाँ, ( विशन्ताः ) जलदाय, ॥ १० ॥ सप्तर्षिगण,  
 ( आरायः देवी ) जल, प्रजापति, ( यमत्रेष्ठान् पितृन् ) पितर और उनका आधिपति यमः ॥ ११ ॥

( ये दिविपदः देवा ) जो पुच्छोक्तमें रहनेवाले देव हैं, ( स ये अन्तरिक्षसदः ) और अन्तरिक्षमें रहनेवाले हैं ( ये शास्त्राः )  
 जो समर्थ देव ( पृथिवीं धिताः ) पृथिवीका लाभय दिये हैं ( ते नः भंहसः सुयन्तु ) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १२ ॥

आदित्य, रुद्र, वसु ( दिवि अ-वर्णाः देवाः ) पुच्छोक्तमें जो निधत्त देव हैं, तथा ( मनीषिणः जंगिराः ) मननशील  
 अंगिरस हैं ( ते नः भंहसः सुयन्तु ) वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १३ ॥

यज्ञ, यजमान, [ अक्षः ] अग्नि, साम, [ भेषजा ] भेषके साथ [ यज्ञेषु ] यज्ञमें, [ होत्राः ] होमहवन करने ॥ १४ ॥  
 [ वीरुधां सोमधेष्ठानि पञ्चराज्यानि ] जिसमें सोम थेष्ठ है ऐसी औदयियोंके पाँच राज्या, द्रुम [ भुङ्को ] भाग [ यवः ]  
 जौ, और [ सहः ] वसन्तकाली धान को [ ब्रूम ] हम कहते हैं कि [ ते ] वे हम सबको पापसे बचावें ॥ १५ ॥

[ अरायान् रक्षांसि ] अराजक राक्षसों, सर्पों, पुण्यजनों और पितरों [ मृत्यूनेकं मृष्युन् ] एक ही मृत्युभ्रंश ॥ १६ ॥  
 ऋतुओं, ऋतुओंके पतिवों, [ हापयान् ] हापयान् [ ऋतुपतीनार्तवानुत ] ऋतुपतियोंके बचनेवाले अपनों [ समाः संवत्सरान् मासान् ] धम वर्ष,  
 संवत्सर और महिनोंको हम कहते हैं कि वे हमको पापसे बचावें ॥ १७ ॥

दे ( देवाः ) देवी [ दक्षिणतः पश्च ] दक्षिण दिशासे आओ, पश्चात् ( प्राञ्चः उदेत ) पूर्व दिशामें उदयको प्राप्त होकर,  
 ( विश्वे शास्त्राः दयाः ) सब समर्थ देव ( पुरस्तात् दक्षिणतः समेत्य ) समस्त उत्तर दिशामें इच्छे होकर ( ते नः ) हम  
 सबको पापसे बचाओ ॥ १८ ॥

( सत्यसंधान् ) सत्यप्रतिज्ञ ( मृत्युपतयः ) मृत्युके बचनेवाले ( विश्वान् देवान् ) सब देवोंको ( इदं ब्रूमः ) यह कहते  
 हैं कि वे ( विश्वाभिः पत्नीभिः सह ) अपनी सब पत्नियोंके साथ व्याकर ( नः ) हम सबको पापसे बचावें ॥ १९-२० ॥

सर्वान् देवानिदं ब्रूमः सन्त्यमं धानृतावृषः । सर्वाभिः पत्नीभिः सह ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २० ॥  
भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानां पुन यो वृषी । भूतानि सर्वा संगम्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २१ ॥  
या देवीः पञ्च प्रदिशो ये देवा द्वादशैर्तवैः । संवत्सरस्य ये दंष्ट्रास्ते नः सन्तु सदा शिवाः ॥ २२ ॥  
यन्मातली रथक्रीतममृतं वेदं भेषजम् । तदिन्द्रो अप्सु प्रावेशयत् तदापो दत्त भेषजम् ॥ २३ ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

( यः वृषी ) जो सबको बरा करनेवाला है उस ( भूतानां भूतपतिं ) भूतोंके अधिपतिको तथा ( भूतं ) भूतको हम ( ब्रूमः ) कहते हैं कि ( सर्वा भूतानि संगम्य ) सब भूत मिलकर हम सबको पापसे बचावें ॥ २१ ॥

( याः पञ्च देवीः प्रदिशः ) जो दिव्य पांच दिशाएं हैं, ( ये द्वादश ऋषयः देवाः ) जो बारह ऋषि देव हैं, [ ये संवत्सरस्य दंष्ट्रा ] जो वर्षके दण्डोंके समान हैं [ ते सः सदा शिवाः सन्तु ] वे हम सबको सदा शुभ हों ॥ २२ ॥

[ मातलिः ] मातलि [ यत् रथक्रीतं अमृतं भेषजं वेद ] जिस रथके द्वारा प्राप्त अमरपन देनेवाले औषधको जानता है [ इन्द्रः सन मत्सु मावसायत् ] इन्द्रने उस औषधको जलोमें प्रविष्ट किया है, हे [ आपः ] जलो ! [ तत् भेषजं दत्त ] उस औषधको हमें आजिये ॥ २३ ॥

भावार्थ—इन सब देवताओंकी सहायतासे मनुष्यमात्र पापसे बच जाये ॥ १-२३ ॥

## इस सूक्तका विचार ।

इस सूक्तमें मानवोंकी पापोंसे दूर करनेके लिये अर्थात् उनको निष्ठाप करनेके लिये देवताओंकी प्रार्थना है ।

इस प्रार्थनाकी विशेषता यह है कि यह प्रार्थना सावैज्ञानिक अर्थात् धार्मिक है । सब लोगोंसे मिलकर की जानेवाली यह प्रार्थना है, अतः इसमें 'ने नो मुञ्चन्तु अहमः' वे हम सब प्रार्थना करनेवालोंको पपमें मुक्त करें, ऐसा बहुवचन प्रयोग किया है । धार्मिक प्रार्थनाका महत्व वैदिक स रश्चतमं विद्या है, क्योंकि उससे संघर्षकी बदती है ।

अब इस सूक्तमें जिन देवताओंका नामनिर्देश आया है उनका वर्गीकरण इस तरह है—

## पृथ्वीस्थानीय देवता ।

- १ अग्नि १
- २ धमरपति २
- ३ कोरपति ३
- ४ कोरपति ४
- ५ अदोनात्र ५, ६

- ६ आपत्य ७
- ७ रुपाः ७
- ८ पार्थिवः पशवः ८
- ९ आरुप्याः मृगाः ९
- १० भूमि १०

११ यक्ष १०	३० अंग १५
१२ पर्वत १०	३१ पर्वः १५
१३ समुद्र १०	३२ सद्यः १५
१४ नदी १०	३३ कदाच १६
१५ वेदान्ताः १०	३४ रक्षसि ३६
१६ पृथिव्यां वाक्ताः शिवाः १२	३५ सर्व १६
१७ वसवः [ अष्टौ ] १३	३६ पुण्यजन १६
१८ अथर्वानः १३	३७ भूत ( एकदातं मृगयः ) १६
१९ अक्षिरसः १३	३८ भूत ( द्वादश ) १७, १९
२० वज्र १४	३९ भूतपति १७
२१ यज्ञमानः १४	४० जालिष १७
२२ प्रत्यः १४	४१ हायन १७
२३ सामानि १४	४२ समाः १७
२४ भेषजानि १४	४३ संवत्सर १७
२५ यजु १४	४४ भासाः १७
२६ होत्राः १४	४५ विश्वेदेवाः १८, १९
२७ ब्रह्मर्षी पञ्च राज्यानि १५	४६ देवपक्ष्यः १९
२८ सोमः ( वनस्पति ) १५	४७ भूत २१
२९ दुर्म १५	४८ भूतानां, भूतपति २१
	४९ भेषज २३

### अन्तरिक्ष स्थानीय देवता

१ गीर्वा ४	११ शकुन्त ८
२ अप्सराः ४	१२ भव ९
३ यज्ञमाः ५	१३ शर्व ९
४ वायु ६	१४ रुद्र ९
५ पञ्चम ६	१५ पशुपतिः ९
६ अन्ताक्षि ६	१६ इन्द्र ९
७ दिवाः ६	१७ यम ११
८ सवर्गः आराः ७	१८ पितर ११, १६
९ सोमः ७	१९ अन्तरिक्षमहा देवाः १२
१० पथिणः ८	२० वदः ( एकदातः ) १३

### पुस्त्यानीय देवता ।

१ इन्द्र १	३ सूर्य १, ५
२ रुद्रस्पति १	४ रागा वदः ३

५ मित्र २	१५ ब्रह्मणस्पति ४
६ विष्णु २	१६ अर्यमा ४
७ मरु २	१७ विधे अग्निदित्याः ( द्वादश ) ५, १३
८ अंश २	१८ दिव्याः पशवः ( पक्षिणः ) ८
९ विवस्वान् २	१९ द्युः १०
१० सवितादेव ३	२० नक्षत्राणि १०
११ धाता ३	२१ सप्तर्षयः ११
१२ पूषा ३	२२ देवीः आपः ११
१३ रवश्च ३	२३ प्रजापतिः ११
१४ अधिरो ४	२४ दिविपदः देवाः १२, १३

यही तीन स्थानोंमें देवताओंको बांटकर रखा है । देवतानामके आगे जिस मंत्रमें वे देवता आये हैं उनके अंक रखे हैं। और कई देवताएं अन्तरिक्ष स्थानमें अथवा द्युस्थानमें रखने योग्य होने परभी उनको पृथ्वी स्थानीय मानवोंके साथ संबन्ध आनेके कारण पृथ्वीस्थान में रखा है । इतना भेद विचार की सुबोधताके लिये किया है यह बातक ध्यानमें रखें।

पृथ्वीस्थानमें ४८

अन्तरिक्षस्थानमें २०

द्युस्थानमें २३

मिलकर कुल ९१ देवताएं हुई हैं ।

इनमें ८वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, ७ ऋषियण, १०० मृत्यु, १२ मातृ, ११ क्रतु इक्षतु, २ अथन, ६ क्रतुपति, ३ दिव्या, ४ उपदिवा, ये १८४ देवताएं अधिक होती हैं । इनमेंसे १२ पुनरुत्पन्न होनेसे कम भिये जायें तो दोष १७२ रह जाती हैं। इनके साथ पूर्वोक्त ९१ देवताओंको मिलानेसे २७५ देवताएं होती हैं ।

इन देवताओंका मानवोंके साथ कैसा संबन्ध आता है यह देखकर पापसे बचनेका मान साधक को करना उचित है ।

इसमें कई देवताएं पापके लिये साधकभी होती हैं । जैसे भूमि, जल, वनस्पति, पशु, पक्षी, इनके कारणही मनुष्य युद्ध करते आये हैं, आपसमें झगड़ते रहे हैं, भूमिके कारण चिठने युद्ध हुए हैं और चिठने मानव काटे गये हैं, यह इतिहास में देखने योग्य है । मानवोंमें राजसभाव इनके कारण ही आता है । बचना तो हमी राजसभावसे है । व्यवहार ऐसा करना चाहिये कि मानवोंका राजसभाव दूर हो जाय और उनमें दैवी भाव स्थिर हो जाय । इसीलिये कहा है कि—

ते नः सन्नु सदा शिवाः । २२ । ९

‘ ये सय देव हमारे लिये सदा अनुमत्ता बनानेवाले होंगे । ’ इस प्रार्थनामें अनुमृत्ती होनेकी संभावना सूचित होती है । मन वश में रहकर किसी प्रकारभी अनुमृत्ती मनमें न उठे ऐसा प्रबंध करना चाहिये ।

इसतरह मनुष्य पापसे बच सकता है । मन वीर्य रहैगा तो पाप होगा, यदि मन बलवान होगा तो मनुष्य पापसे दूर रहेगा ।

इसतरह विचार करके मानव पापसे बचनेका साधन करे और परिव्रामा होकर यदास्वी बने ।



# उच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त ।

( ७ )

( ऋषिः—अथर्वा । देवता—अध्यात्मं, उच्छिष्टः )

उच्छिष्टे नाम रूपं चोच्छिष्टे लोक आहितः । उच्छिष्ट इन्द्रश्चाग्निश्च विश्वमन्तः समाहितम् ॥१॥  
 उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् । आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥२॥  
 सञ्जुच्छिष्टे असंसृजो मौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः । लौक्या उच्छिष्टे आर्यं च द्रक्ष्यापि श्रीर्मयि ॥३॥  
 दृढो दृढस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश । नामिभिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥४॥  
 ऋक् साम यजुरुच्छिष्ट उद्गीथः प्रस्तुतं स्तुतम् ।  
 द्विहकार उच्छिष्टे खरः साम्नो मेदिश्च तन्मयि ॥५॥  
 ऐन्द्राग्रं पावमानं मुहानाम्नीर्महाव्रतम् । उच्छिष्टे युक्षस्याङ्गान्मन्तर्गमं इव मातरि ॥६॥

अर्थ— ( उच्छिष्टे नाम रूपं ) उच्छिष्ट अर्थात् अवशिष्ट आत्मामें नाम और रूप, ( उच्छिष्टे लोकः आहितः ) उच्छिष्टमें लोकलोकान्तर स्थित हैं । ( उच्छिष्टे इन्द्रः च आग्निः च ) उच्छिष्टमें इन्द्र और अग्नि तथा ( अन्तः विधे समाहितं ) उच्छिष्टे अन्दर संपूर्ण विश्व समाया है ॥ १ ॥

( उच्छिष्टे द्यावापृथिवी ) उच्छिष्टमें द्युलोक और भूलोक (विश्वं भूतं समाहितं) सब भूतमात्र ठहरे हैं, ( उच्छिष्टे आपः समुद्रः चन्द्रमा वातः आहितः ) जल, समुद्र, चन्द्रमा, वायु, ये सब सर्वोमें स्थिर हुए हैं ॥ २ ॥

( सत् असत् च तन्मौ उच्छिष्टे ) सत् और असत् ये दोनों उच्छिष्टमें हैं, ( साम्नः आग्निः प्रजापतिः ) मृत्यु, अन्न अथवा बल और प्रजापालक, ( लौक्याः माः च द्रव्यं च ) लोकोके संबन्धमें सब धन तथा रवोश्चरने योग्य और नाश करने योग्य धर्म । पदार्थ ( उच्छिष्टे आर्यताः ) उच्छिष्टमें ही संबन्धित हुए हैं । ( श्रीः मयि ) श्रीमा मुझमें है ॥ ३ ॥

( दृढः दृढ स्थिरो न्यो ) सुदृढ, दृढतासे स्थिर रहनेवाला और गतिमान् ( ब्रह्म विश्वसृजः दश देवताः ) ज्ञान, विश्वर्षा उत्पत्ति करनेवाली दस शक्तियां धारण करनेवाली देवताएँ ( नामिभ्यः सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे ) नामिभ्यः सर्वतः आरों और रहनेके समान सब ओरसे ( उच्छिष्टे श्रिताः ) उच्छिष्टमें ही स्थित हैं ॥ ४ ॥

ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद उद्गीथ, ( प्रस्तुत स्थितं ) स्तुति और स्तवन, द्विहकार, खर, ( साम्नो मेदिः ) घामगानके आलाप यह सब उच्छिष्टमें हैं, ( तन्मयि ) यह सब मुझमें रहे ॥ ५ ॥

( ऐन्द्राग्रं पावमानं ) इन्द्र, अग्नि और परब्रह्म, वायुके लूक, ( मुहानाम्नीः महाव्रतं ) महाब्रह्म और महाव्रतवासे मंत्र-भाग ये सब ( यजुरश्च भोगानि उच्छिष्टे ) यज्ञके भोग उच्छिष्टमें स्थित हैं वेधे ( मातरि अन्तः गर्भे इव ) माताके अन्दर गर्भ रहता है ॥ ६ ॥

राजसूयं वाजपेयमग्निष्टोमस्तदध्वरः । अक्राञ्चनेषाबुच्छिष्टे जीववर्हिमदिन्तमः ॥७॥  
 अग्न्याघे मथ' दीक्षा कामप्रवृत्तन्दसा सह । उत्तमन्ना यज्ञाः सुत्राण्युच्छिष्टेऽधिं समाहिताः ॥८॥  
 अग्निहोत्रं च श्रद्धा च वषट्कारो व्रतं तपः । दक्षिणं पूर्वं चोच्छिष्टेऽधिं समाहिताः ॥९॥  
 एकरात्रो द्विरात्रः संघः क्रीः प्रक्रीरुक्थ्यः ॥  
 ओतं निहितमुच्छिष्टे यज्ञस्याणूनि विधया ॥ १० ॥ ( १९ )  
 चतुरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह ।  
 षोडशी मंसरात्रयोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृतं हिताः ॥११॥  
 प्रतीहारो निधनं विश्वजिज्ञाभिजिज्ञ यः ।  
 साह्यातिरात्राबुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥१२॥  
 सुनुता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।  
 उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तावपुः ॥१३॥  
 नवभूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधिं श्रिता दिवः । आसूयौ भ्रातृच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥१४॥

अर्थ- राजसूय, वाजपेय, अग्निष्टोम, ( तत् अध्वरः ) वह हिंसाहित यत्, अर्क-अभ्येय, ( मदिन्तमः जीववर्हि ) आनन्द  
 देनेवाला जीविका रक्षक यज्ञ ये सब उच्छिष्टमें ही रियत हैं ॥ ७ ॥

( अग्न्याघेय अथो दीक्षा ) अग्न्याधान, दीक्षा, ( छन्दसा सह कामय ) छन्दके कामोंकी पूर्णता करनेवाला यज्ञ,  
 उत्तमन्नाः यज्ञाः सत्राणि ) उत्तम यज्ञ और सब यज्ञ ये सब उच्छिष्टमें रियत हैं ॥ ८ ॥

अग्निहोत्र, श्रद्धा, वषट्कार, व्रत, तप, दक्षिणा, इष्ट, पूर्वं ये सब उच्छिष्टमें रहते हैं ॥ ९ ॥

एकरात्र, द्विरात्र, संघः- प्रक्री उक्तय ये सब यज्ञ और ( यज्ञरथ अणूनि ) यज्ञके अन्य अंश ( विधया उच्छिष्टे ओतं  
 निहित ) विधाके साथ उच्छिष्टमें अतमोत हुए हैं ॥ १० ॥

चार रात्रो, पंच रात्री, छः रात्री, ( उत्तमः ) उत्तम अर्थात् अष्ट, दम और बारह रात्रोवाला, ( षोडशी ) सोलह,  
 ( सप्तरात्र ) और सात रात्रोवाला ये सब यज्ञ उच्छिष्टमें बन रहे और ( अमृतं हिताः ) ये अमृतमें रहते हैं ॥ ११ ॥

प्रतीहार, निधन, विश्वजित, कामाजय, द्वादशाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं । यह सब ज्ञान मुझमें  
 रहे ॥ १२ ॥

( सुनुता ममनि ) अन्य भाषण, मधमाध, ( क्षेम स्वधा उत्तम ) कल्याण, स्वधा बन ( अमृतं सह ) अमरपन,  
 इन साथ, य ( सर्वे कामा कामेन तावपु ) सब काम या कामनाय प्राप्त करनेवाले हैं, ( उच्छिष्टे प्रत्यञ्चः ) उच्छिष्टमें  
 रहे ॥ १३ ॥

नव भूमि, सब समुद्र और ( दिव ) आकाश की ( उच्छिष्टे अपि श्रिताः ) उच्छिष्टमें आधित हैं । सूर्य उच्छिष्टमें ही  
 आ भाति ) प्रकाशगर्ह, जगत्के अहोरात्र होते हैं । यह सब ज्ञान ( माय ) मुझमें रहे ॥ १४ ॥

उपहव्यं विपूवन्तं ये च यज्ञा गुहां द्विताः ।

विमर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता

॥ १५ ॥

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽमोः पौत्रः पिता मूहः ।

स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः

॥ १६ ॥

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं यमो धर्मश्च कर्म च । भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लिङ्गमीर्यलं बलं ॥ १७ ॥

समृद्धिरोन् आकृतिः क्षत्रं राष्ट्रं पटुर्वर्यः । संवत्सरोऽप्युच्छिष्ट इडां प्रैषा ब्रह्मो हविः ॥ १८ ॥

चतुर्होतार आग्निर्वैश्वानुर्मास्यानि नीविदः । उच्छिष्टे यज्ञा होत्राः पशुवन्धास्तदिष्टयः ॥ १९ ॥

अर्धमासाश्च मासाश्चात्रैवा श्रुतुभिः सह ।

उच्छिष्टे योषिणोरापः स्तनयिन्नुः श्रुतिर्धैः

॥ २० ॥ ( २० )

शर्कराः सिक्ता अश्मान् ओषधयो वीरुधस्तृणा ।

अभ्राणि विद्युतो वर्षयुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता

॥ २१ ॥

राद्विः प्राप्तिः समाप्तिर्वर्गसिर्धै एध्रतुः । अत्यामिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता द्विता ॥ २२ ॥

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।

उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे द्विवि देवा दिविश्रितः

॥ २३ ॥

अर्थ—उपहव्य, विपूषान् और ( ये च यज्ञा द्विताः यज्ञाः ) जो गुहामें आश्रित रहते हैं, इनको ( विश्वस्य भर्ता जनितुः पिता ) विश्वका पोषक और पिताका भा पिता ( उच्छिष्टः विमर्ति ) उच्छिष्ट संज्ञक परमात्मा धारण करता है ॥ १५ ॥

( उच्छिष्टः जनितुः पिता ) उच्छिष्ट पिताका भी परम पिता है वह ( असोः पौत्रः पितामहः ) प्राणका पौत्र है, परंतु वह सबका पितामह ही है, (सः विश्वस्य हंतानः क्षियति) वह विश्वका ईश्वर होकर सर्वत्र रहता है वह (वृषा भूम्यां अनिघ्न्यः) बलवान् और भूमिमें सबसे अघ्न है ॥ १६ ॥

ऋत, सत्य, तप, राष्ट्र, यम, धर्म, कर्म, भूत, भविष्यत्, वीर्य, लक्ष्मी, ( बल बलं ) बलिष्ठमें रहनेवाला बल यह सब उच्छिष्टमें रहता है ॥ १७ ॥

समृद्धि, ( भोजः ) शक्ति, ( आकृतिः ) संकल्प, क्षान्, राष्ट्र, ( पटुः कर्ष्यः ) छः भूमिया, ओषध, ( इडा ) भोज, ( पेयाः महांः ) मेष मूह और इति यह सब उच्छिष्टमें रहा है ॥ १८ ॥

चतुर्होता, आश्रित, चातुर्मास्य, नीविद, यज्ञ, होत्रा, पशुवन्धा और उद्यमो इष्टिर्वा उच्छिष्टमें रहती है ॥ १९ ॥

( अर्धमासाः ) पशु ( मासाः ) मदिने, ( आकृतिः ऋतुभिः सह ) ऋतुओंसे साथ ऋतुबंधी पदार्थ, ( स्तनयिनुः ) मेष ( मदीधुरिः ) बर्षा वर्षना और ( योषिणी आरः ) योष करनेवाले जलप्रवाह ये सब उच्छिष्टमें रहे हैं ॥ २० ॥

( शर्कराः सिक्ताः ब्रह्मानः ) पयसी बान्, बान्, परवर ( ओषधयो वीरयो मृगा ) औषधियां वनस्पतयो और पाय, [ अभ्राणि विद्युतः वर्षः ] मेष बिजलियां और इष्टि [ उच्छिष्टे संश्रिताः श्रिताः ] उच्छिष्टमें आश्रित हुए हैं ॥ २१ ॥

[ राद्विः प्राप्तिः समाप्तिः ] शिष्ट, प्राप्ति और समाप्ति, [ कर्गसिः महां पशुना ] मृगसि, महान् और इष्टि, [ आधामः, भूतिः ] भवेद्यन प्राप्ति, ऐध्रं यह सब उच्छिष्टमें [ ना देता निरीता द्विता ] रखे हैं ॥ २२ ॥

[ यच्च प्राणेन प्राणिति ] जो प्राणसे प्राण धारण करता है और [ यच्च पश्यता पश्यति ] जो आंखसे देखता है, यह सब उच्छिष्टमें [ जनिरे ] निर्माण हुआ है [ दिवि-अध्वनः देवा दिवि ] जो देव दुर्गममें हैं वे सब दुर्गममें रहते हैं और उच्छिष्टमें हैं ॥ २३ ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह । उच्छिष्टाञ्जहिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥२४॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमार्क्षतिश्च क्षितिश्च या । उच्छिष्टाञ्जहिरे० ॥२५॥

आनन्दा मोदाः प्रमोदाऽभीमोदमुदश्च ये । उच्छिष्टाञ्जहिरे० ॥२६॥

देवाः पितरौ मनुष्या ऽगन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

उच्छिष्टाञ्जहिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७॥ ( २१ )

अर्थ— ऋचा, साम, छन्द, पुराण और यजुर्वेद, प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, [ क्षतिः अक्षितिः ] भौतिक और अमौलिक पदार्थ, आनन्द, मोद, प्रमोद, [ अभीमोदः मुदः ] प्रत्यक्ष आनन्द, देव, पितर, मनुष्य, गन्धर्व, अप्सरा, सुलोकमें रहनेवाले सब देव ये सब [ उच्छिष्टाञ्जहिरे ] उच्छिष्टसे उपपन्न हुए हैं ॥ २४-२७ ॥



# उच्छिष्ट सूक्तका आशय ।

इस सूक्तकी भाषा अत्यंत सरल होनेके कारण इसका भाषार्थ पृथक् लिखनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

## उच्छिष्टका अर्थ ।

“उच्छिष्ट” अर्थात् ‘कर्त्तव्य भागमें अवशिष्ट,’ जो उरुच स्थानमें अवशिष्ट रहा है । विश्व बननेके पश्चात् जो भाग अवशिष्ट रहा है उसका नाम ‘उच्छिष्ट’ है । पुरुरूपसूक्तमें कहा है—

त्रिषादूर्ध्व उदैषुरयः पादोऽर्येहाभयपुनः ।

( ऋ. १०।१०।१४ )

‘त्रिषात् पुरुष उरुच स्थानमें उदित हुआ है, और उसका एक अंश यही इस विश्वमें पुनः पुनः होता है ।’ एक अंशका यह विश्व बनता और बिगड़ता है, परंतु जो त्रिषात् पुरुष अवशिष्ट कर्त्तव्य भागमें रहा है वह वैसा ही एकस्वमें रहता है । इस तरह परमज्ञका एक अरुच भाग विश्वरूपाकार होता रहता है और जो पुरुष सब मूल स्थितिमें अवशिष्ट रहा है । इसीका नाम उच्छिष्ट है । यही कर्त्तव्य भागमें अवशिष्ट रहा है ।

( उच्छिष्टे नाम रूपं ) इसी परमज्ञमें नामरूप रहा है, इतना कहनेसे सब कुछ उछीमें है ऐसा कहा है, क्योंकि जो कुछ इस विश्वमें है वह रूपवाना है और नामवाना भी है । जिसका रूप नहीं और जिसका नाम नहीं ऐसा यही कुछ भी नहीं है । संपूर्ण विश्वही नामरूपारमक है । इस किञ्चिद्का नाम लेते हैं और नाम लेते ही अक्षर के सामने वह रूप आता है, यही नामरूप है और यह सब नामरूप इस उच्छिष्ट परमज्ञमें रहा है ।

नाम भी उच्छिष्टमें है और रूप भी उच्छिष्टमें है इतना कहनेसे उस उच्छिष्ट परमज्ञमें नामरूप रहा है ऐसा कर्त्तव्य हुआ । अत्रे पश्चात् यह नाम और गणेशका रूप यह सब मिथिमें रहता है । अर्थात् यह मिथि ही नामरूपारमक घटाकार होकर हमारे सामने आती है । इसी तरह उच्छिष्ट परमज्ञ नामरूप धारण करके विधाकार होकर, विश्वरूपी बनकर हमारे सामने आता है । यही परमात्माका विस्वरूपदर्शन जो मगधग्रीष्मके ११वें अर्धभाष्यमें कहा गया है और यजुर्वेदके द्वाभ्यायमें वर्णित हुआ है ।

## उच्छिष्टमें रूप ।

‘उच्छिष्टमें नामरूप रहे हैं,’ यही मंत्रभाग मुख्य है; आगे इसी का स्पष्टीकरण हो है, जैसा—उच्छिष्टमें लोक, इंद्र, आग्नि, विद्म, यावाशुवि, सब भूतमात्र, जल, समुद्र, चन्द्र, वायु, (मंत्र १—२) नौ भूमियाँ, सूर्य (मं० १४), वायु, पशुपति, शिवा, ओषधीवनस्पतियाँ, पाश, अध, विपुल, वृष्टि, (मं० २१), जो प्राणसे जीवित रहता है, जो आँखसे देखता है, जो आकाशमें है (मं० २३), देश, पितर, मनुष्य, गंधर्व, अप्सरा (मं० २७) विष्णु उत्पन्न करनेवाले दस देव (मं० ४) । यह सब उच्छिष्टमें है, ये सब रूपवाले पदार्थ हैं । इनका आश्रय उच्छिष्ट—परमात्मा ही है ।

## उच्छिष्टमें नाम

अब नामका वर्णन देखिये—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, उद्गीथ, स्तन, दिक्कार, स्वर, सामके आलाप, (मं० ५), इन्द्राग्नि के गुरु, परमानुसूक्त, महाप्रसादित्वत, (मं०—१) छन्द, पुराण, (मं० २४) ये सब नाम हैं, ये सब शब्द हैं । शब्दस्पष्टीका यह विस्तार है और ये सब नाम उच्छिष्टके आधारपर रहते हैं ।

इस रीतिसे नाम और रूप उच्छिष्ट परमज्ञमें रहते हैं, जो रूप है वह उच्छिष्टका ही रूप है और जो नाम है वह भी उसी का नाम है । इसीलिखे ये नामरूप उछमें रहने हैं ।

## उच्छिष्टमें कर्म ।

नाम और रूप इस रीतिसे उच्छिष्ट परमज्ञमें हैं यह बात देवनेके पश्चात् ‘कर्म’ कहा रहता है यह प्रश्न उपरिगत होता है, उच्छात् उत्तर भी इस मुख्यने दिया है कि सब कर्म सब रूप उच्छिष्ट परमज्ञमें ही रहते हैं, देखिये—‘रात्रमृष, वाजोय, अग्नि-धोम, अपार, वायुमेघ (मं० ७) आन्वापान, दीप्ति, दग्ध, स्रज, (मं० ८) अग्निहोत्र, मय, स्रज, दीप्तिमा; इन्द्राग्नि (मं० ९), एकरात्र, इन्द्राग्नि, स्रज-जी, प्रदोः उपर, (मं० १०) वायुपय, पंचमात्र, पञ्चमात्र, पात्रात्र, अष्टमात्र, दशमात्र, द्वादशात्र, पञ्चाशो, (मं० ११), विष्टमि, अत्रि-मात्र, (मं० १२) अत्रि उपर वरुधर्म ही है और ये सब

उसी उच्छिष्टमें रहते हैं, उसी उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर इस संपूर्ण कर्ममार्गकी व्यवस्था रची गयी है। अर्थात् सभ कर्मोंका आधार ब्रह्म ही है।

### उच्छिष्टमें काल।

‘काल’ उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहता है, अतः कहा है कि— ‘अर्ध मास (१५), मास ( गहिना ), ऋतु ( मं० २० ), अयन, वर्ष, संवत्सर ( मं० १८ ) यह सब उच्छिष्ट ब्रह्ममें रहा है। मृत, अविध्यव्य ( मं० १७ ) संपूर्ण काल और कालके अवयव इस तरह उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारसे रहे हैं ऐसा यहां कहा है।

कालके साथ कर्मका संबंध है, एकरात्र, द्विरात्र आदि अनेक यज्ञ कालमर्यादा के साथ संबंध रखते हैं। कई इष्टिया छोटे कालखंड के साथ संबंधित हैं और कई सत्र दोषैकालके हैं। तथापि सब यज्ञ इस तरह कालसे अर्थादित होते हैं। अर्थात् जैसा नामरूपका परस्परसंबंध है उसी तरह काल और कर्मका परस्परसंबंध है। पाठक इसका अच्छी तरह विचार करें, और इसका अनुभव करें।

धृदा, तप, व्रत, दोज्ञा ( मं० ९ ), मूनुव, नम्रभाव, कृपाण, इत्यादि—अर्थात् अपनी धारणाशक्ति, बल, अमृतत्व, सहनशक्ति, कामना, वासना ( मं० १३ ), अत, सत्य,

श्रम, धर्म, वीर्य—पराक्रम, लक्ष्मी, शोभा, ( मं० १० ), समृद्धि, संकल्प, क्षात्रबल ( मं० १८ ), सिद्धि, पान्ति, समाप्ति, व्याप्ति, महत्त्व, वृद्धि ( मं० २२ ) आनंद, माद, प्रमोद ( मं० २५ ) ये सब जो कर्मके साथ संबंध रखनेवाले गुण हैं वे भी मानवकी उन्नतिक लिये अत्यंत आवश्यक हैं। ये सब उच्छिष्ट ब्रह्मके आधारपर रहते हैं।

जो प्राणसे सजीव रहते हैं और जो आंखसे देखते हैं वे सब प्राणिमात्र उच्छिष्ट ब्रह्ममें आश्रय पाकर रहते हैं अर्थात् वह उच्छिष्ट ब्रह्मसंश्रित हैं। ( मं० २३ )

सत् अस्तु, जीवन मृत्यु प्र और प्र ( वरण और प्राण )। यह सब द्वन्द्व उच्छिष्ट ब्रह्ममें ही रहता है अर्थात् जो कुछ यहां है उस सबका संबंध परब्रह्मसे है, परब्रह्मसे प्रत्यक्ष अतिरिक्त किसीका नहीं है।

इसमें अनेक यज्ञोंके नाम आये हैं, इनका स्वरूप यजुर्वेदकी व्याख्याके प्रसंगमें विस्तार दिया जायगा। क्योंकि कर्मका यजुर्वेद का विषय है।

जो विस्वरूपदर्शन का विषय यहां कहा है वही श्रीमद्भागवद्गीताके ११ वें अध्यायमें विस्तारसे कहा है, और यजुर्वेदके द्वादशध्यायमें भी अधिक ही विस्तारसे कहा है। पाठक इसका ध्यान करके वेदका तत्त्व जानें।

# शरीरकी रचना ।

( ८ )



( ऋषिः—कौरुपथिः । देवता—अध्यात्मं, मन्युः )

यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधिं । कआंसं जन्त्याः के वराः कउ ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥१॥  
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्पुण्ये । त आंसं जन्त्यास्ते वरा ब्रह्मं ज्येष्ठवरोऽभवत् ॥२॥  
दशै साकर्मजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा । यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् धेदेत् ॥३॥  
प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च शितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ्मनस्ते वा आकृतिमावहन् ॥४॥  
अर्जाता आसन्नुर्योऽर्थो घाता बृहस्पतिः । इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥५॥  
तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्पुण्ये । तयो ह जने कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥६॥

अर्थ— ( यन् मन्युः संकल्पस्य गृहात् ) जब संकल्पने संकल्पके घरसे ( जायां कधि आवहत् ) अपनी स्त्रीको प्राप्त किया, विवाह करके अपने घर से आया, उस समय ( के जन्त्याः ) कौन जन्मा - पक्षके लोग थे और ( के वराः ) कौनसे वरपक्षके लोग थे, और उनमें ( कः उ ज्येष्ठवरः अभवत् ) कौन श्रेष्ठ वर माना गया था ॥ १ ॥

( महति जनेषु अन्तः ) बड़े महाधामरके अन्दर ( तपः कर्म च वास्तां ) तप और कर्म ये दो पक्ष थे, ( ते जन्त्याः ते वराः आसन् ) ये ही जन्मापक्षके और वरपक्षके लोग थे, और उस समय ( अद्य ज्येष्ठवरः अभवत् ) मद्रा ही सर्वमें श्रेष्ठवर था ॥ २ ॥

( देवेभ्यः दश देवाः साकं अजायन्त ) देवोंसे दस देव साथ साथ बने हैं, ( यः वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात् ) जो निधयसे उनको प्रत्यक्ष जानता है ( सः वै अद्य महद् धेदेत् ) वही निधयसे आबही महद् ब्रह्मका ज्ञान बड़ सकता है ॥ ३ ॥

( प्राणापानौ, चक्षुः श्रोत्रं, या अक्षितिः च शितिः च ) प्राण, अपान, चक्षु, श्रोत्र, अक्षैतिक और भौतिक शक्ति, ( व्यान-उदानौ वाद्यनः ) व्यान उदान और वाणी तथा मन, ( ते वै आकृतिं आवहन् ) ये ही निधय संकल्पशक्तियों धारण करते हैं ॥ ४ ॥

( ऋषयः अथो प्राजा बृहस्पतिः इन्द्राग्नी अश्विना ) ऋषु, प्राजा, बृहस्पति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव ( अजाताः आसन् ) वही बने थे, ( तर्हि कं ज्येष्ठमुपासत ) तब वे किस श्रेष्ठ ब्रह्मकी उपासना करते थे ॥ ५ ॥

( तपः कर्म च पक्ष ) तप और कर्म ( महति जनेषु आसन् ) बड़े संसारक घरमें थे । ( कर्मणः तपः द जने ) कर्मों तथा उपासक हुआ, ( ते तप ज्येष्ठमुपासते ) ये सब उद्य श्रेष्ठकी उपासना करते थे ॥ ६ ॥

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये । शरीरं सर्वे प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥२५॥  
 प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च श्रितिश्च या । व्यानोदानौ वाङ् मनः शरीरेण त ईयन्ते २६  
 आक्षिपश्च प्राशपश्च संक्षिपौ निक्षिपश्च याः । चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥२७॥  
 आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च तरुणाः कृष्णाश्च याः । गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता वीभत्सावसादयन् २८  
 अस्थि कृत्वा समिध तदद्यापौ असादयन् । रेतः कृत्वाज्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥२९॥  
 या आपो यार्थं देवता या विराड् ब्रह्मणा सह । शरीरं ब्रह्म प्राविशन्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥३०॥  
 सूर्यश्चक्षुर्वार्तः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे । अथास्येतरमात्मान देवः प्रायच्छन्नग्र्ये ॥३१॥  
 तस्माद् वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते । सर्वा ह्यस्मिन् देवता गामो गोष्ठ इवासते ॥३२॥  
 प्रथमेन प्रमारणे त्रेधा विष्णुर्ह वि गच्छति ।  
 अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि पवते ॥३३॥  
 अप्सु स्तोमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् । तस्मिच्छयोऽध्यन्तरा तस्माच्छयोऽध्युच्यते ॥३४॥  
 ॥ इति चतुर्थोऽनुवाक ॥ ८

( आलापा च प्रलापा च ये अभीलापलपः ) आलाप प्रलाप और वादोत्तर, तथा ( आयुजा प्रयुजा युजाः ) आयोजन प्रयोग और योग ये ( सर्वे शरीर प्राविशन् ) सब शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २५ ॥

( प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्र ) प्राण, अपान, चक्षु और श्रोत्र ( अक्षितिः च या श्रिति ) अमौलिक और भौतिक शक्तियाँ ( व्यानोदानौ वाङ्मनः ) व्यान, उदान, वाणी और मन ( ते शरीरेण ईयन्ते ) ये शरीरके साथ चलते हैं ॥ २६ ॥

( आक्षिप च प्राशप च ) आशीर्वाद और घोषणा, ( संक्षिप च निक्षिप च या ) समर्पण और विशेष अनुशासन ( चित्तानि सर्वे संकल्पाः ) चित्त और सब संकल्प ( शरीरमनु प्राविशन् ) शरीरमें प्रविष्ट हुए ॥ २७ ॥

( आस्तेयीः वास्तेयीः च ) बैठना और रहना, ( तरुणा या कृष्णा च ) खरा और कृष्णता, ( गुह्याः शुक्रा स्थूला ) या अथ बीमरसौ ) गुह्य, छुक्, स्थूल, जलरूप तथा बीमरस भाव ये सब शरीरके साथ ( असादयन् ) रहे हैं ॥ २८ ॥

( तत् अस्थि समिध कृत्वा ) उस हड्डी की समिधा बनाकर ( अथ आप असादयन् ) अथ प्रकारके जलोमें सब शरीर की बनावट की है, ( रेतः कृत्वा यः ) रेतका भी बनाकर ( देवाः पुरुषमाविशन् ) सब देव पुरुषमें घुस गये हैं ॥ २९ ॥

( याः आप या च देवता ) जो जल और जो देवताएँ ( या विराट् ब्रह्मणा सह ) जो ब्रह्मके साथ विराट् है वह सब ( महा शरीर प्राविशन् ) ब्रह्म शरीरमें प्रविष्ट हुआ है, शरीरें अथि प्रजापति ) शरीरमें यही प्रजापति नामक अधिष्ठाता है ॥३०॥

( पुरुषस्य चक्षुः सूर्यः ) पुरुषकी आँख सूर्य ( प्राणं वाच वि भेजिरे ) और प्राण वायु विशेष रीतिसे विभक्त करके बनाये गये हैं ( अथ अस्य हृदं आत्मान ) और हृदका अथ आत्मा ( देवाः अग्र्ये प्रायच्छन् ) देवोंने अग्रिक पास दी ॥ ३१ ॥

( तस्मात् वै विद्वान् ) इसलिये निम्नसे ज्ञानी विद्वान् पुरुष हैं ब्रह्म इति मन्यते ) पुरुषको वह ब्रह्म ऐसा मानता है । ( दि गर्गाः देवता अस्मिन् आसते ) क्योंकि सब देवताएँ हममें निवास करती हैं ( इव गाव गोष्ठे ) जैसे गोवें गोशालामें रहती हैं ॥३२॥

( प्रथमेन प्रमारणे ) प्रथम मृ पृथे ( त्रेधा विष्णुर्ह विगच्छति ) तीन प्रकारसे सर्वत्र जाता है । ( अद् एकेन गच्छति ) वही एकत्र जाता है, ( अद् एकेन गच्छति ) वही एकत्र निसेवते ) वही एकत्र सेवन करता है ॥३३॥

( स्तोमामु अप्सु वृद्धासु ) गीता करनेवाले जलमें वृद्धि होनेपर उसमें (अन्तरा शरीर हितं ) अन्तर शरीर रखा गया है, ( तस्मिन् अन्तरा अथि च ) वही के बीचमें वह वायुरूपी शरीर रहता है ( तस्मात् वायु अथि उच्यते ) इसलिये उसे वायु कहते हैं ॥३४॥  
 चतुर्थोऽनुवाक समाप्त ॥ ४ ॥

( शूचना-पद गद्य अर्थ तरल है इसलिये भावार्थ नहीं दिया है । )



# शरीरकी रचना और योग्यता ।

सब प्राणियोंके शरीरकी रचना विशेष अद्भुत है । उसमें मानवी शरीरकी रचना तो विशेषी बिल्कुल है । मानवी शरीरकी रचनाको परमात्माकी कारीगरकी परमावधि कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं । इस मानवी शरीर की रचना और उसमें आत्माका निवास तथा संपूर्ण देवताओंका स्थान आदिका रहस्यमय वर्णन इस सूक्तमें किया है, इस दृष्टिसे यह सूक्त विशेष महत्त्वका है ।

एक संकल्प या, उसकी कथा 'संकल्पशक्ति' थी । इस-शक्तिका विवाह होना था । दूसरा आत्मा या उसका मनु अर्थात् उत्साहरूप सामर्थ्य था, इसका विवाह संकल्पशक्तिके साथ करनेका निश्चय हुआ । इसमें वरपक्ष और वधूपक्षके बहुतसे लोग थे और इसमें जो वरपक्षमें मुखिया था, उसीका नाम 'ज्येष्ठवर' था, यही 'मनु' भी कहा जाता था । (मंत्र १)

इस महान् अनर्थात् संसारसागरमें तप और कर्म ये दो पक्ष थे । एक पक्ष तप करनेवाले संशमर्षीका था और दूसरा पक्ष कर्म करनेवालाका था । कर्म करनेवालोंमें भी एक एक कर्म वाले और दूसरे निष्काम कर्मावाले थे । इसलिये दो पक्षके लोग थे । इनमें वधुके पक्षमें कई थे और दूसरे वरपक्षमें थे । इनमें ब्राह्मी सबसे मुखिया वर था । (मंत्र २)

दस बड़े देव हैं, उनके छोटे पुत्र दस होते हैं । ये देव कौन हैं और उनके पुत्र कौन हैं इस तत्त्वको जो जानते हैं उनको ही बड़े ब्राह्मण जान होता है और वेही उसका उपदेश कर सकते हैं । अतः इस तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना मनुष्यके लिये अत्यन्त आवश्यक है । (मंत्र ३)

प्राण, अपान, व्यान, उदान, आस, धान (स्थितिः = अमृतरव-धे उपपन्न) माक, प्राणी, मन और (अ-स्थितिः = अमौक्तिक) बुद्धितत्त्व ये दस देव हैं जो मानवी शरीरमें निवास करते हैं, येही संकल्प विविध प्रकारके करते हैं । और पुरेमेंसे विचार मनुष्य करता रहता है । (मंत्र ४) इनमें प्राण, अपान, व्यान और उदान ये प्रण दे और ये तप करनेवाले देव हैं, अर्थात् ये निराहार रहकर भोग न करते हुए अन्त्येष्टि लहर प्राप्तपक्ष कर्म करते हैं । इस कारण इनका तप करनेवाले १४ (अ. उ. भा. ५० ११)

अग्नि कह सकते हैं । दूसरे देव आस, नाक, पान, वाणी और मन हैं, ये काम करनेमें दक्षिण रहते हैं, कर्म करते हुए ये शक जाते हैं तब इनको विधाम देना पड़ता है, ये भोग भी भोगते हैं, ज्ञान भी प्राप्त करते हैं और कुछ कर्म भी करते हैं । इनको अक्ष देनेसे ये समर्थ रहते हैं और कार्यक्षम होते हैं, अक्ष न मिला तो ये कुंसा होते हैं और अन्तमें अति क्षीण होते हैं । प्राणोंके समान ये भूखे रहकर तपस्या ही नहीं कर सकते । आस, नाक आदिसे विधम चाहिये, निद्रा चाहिये और भोग भी चाहिये । यहाँ 'संकल्पशक्ति' नामक एक देवशक्ति है, जिसका विवाह होना है । इस वधूपक्षके साथ ये आस, नाक, कान आदि भोगविलासी लोग हैं और वरपक्षके साथ प्राण, अपान आदि तपस्वी लोग हैं । इसलिये विवाह करनेके लिये इस शरीररूपी संसारमें ये इच्छा हुए हैं और यहाँ यह बड़ी धूमधामसे विवाहसंस्कार होना है ।

सूर्य, चन्द्र, वायु आदि दस बड़े देव इस विधिमें हैं । इनको शक्ति बड़ी मारी है । इन बड़े देवोंके अंशरूप छोटे देव, आस, मन, प्राण आदि बने और इस शरीरमें आकर बसे हैं । इनमें कई वधूपक्षके और कई वरपक्षवाले हैं । दोनोंका यहाँ मिल हुआ है । इसीका नाम विवाहका भगल कार्य है ।

अत्र, धाता, वृक्षपति, इन्द्र, अग्नि, अश्विनी ये देव अपने ही स्थानमें सब रहते थे और जब इनके छोटे अंश यहाँ विविध रूपमें नहीं चले थे, तब वे कहा रहते थे ? अर्थात् किस अंश देवके साथ रहते थे ? इसी अंश देवताका नाम 'ज्येष्ठ ब्रह्म' है । इस ज्येष्ठ ब्रह्मके साथ ये सब देव रहते थे, इस बड़े विधिमें कार्य करते थे । परंतु कहाये इस छोटे विधिमें अर्थात् शरीरमें आकर इनका निवास मही हुआ था । (मंत्र ५) अर्थात् यह समय शरीररचनके पूर्वका है । शरीररचनाके समय सब देवताओंके अंश यहाँ इस विधमें हमें चले और निवास करने लगे, कई जगता तप करते रहे और कई अपने कर्म करते लगे । इसलिये यहाँका संसार बनने लगा । इसीका नाम शरीरनिर्मिति है ।

तब और कर्म करनेवाले देव हैं, ऐसा कहा गया । यहाँ व्यानमें रचना चाहिये कि कर्मवेही तप होता है, कर्म न

किया जाय तो तप बनता ही नहीं, अतः कर्म मुख्य है, श्रेष्ठ तप (अथवा प्राणीक देहमें) हुआ है। इस अंशरूप देवको ही मन्त्रधी उपासना भी एक पवित्र कर्म है। ( मं० ६ ) यमो अवतार कहा जाता है। बड़े देवका एक छोटासा अंश यही संसार इस कर्मसे ही चल रहा है। कर्मके बिना कुछ भी नहीं होता। यह देखकर मनुष्य को शुभ कर्म करने चाहिये।

इस शरीरकी रचना होनेके पूर्व एक विभूत भूमि थी, इसका नाम प्रकृति की भूमि है। इसी भूमिपर इस शरीरकी रचना होती है और इस रचनाके करनेके लिये ये दस देव अंशरूपमें यहाँ आते हैं और शरीरकी निर्मिति करते हैं। इस स्थान, खादिके नाम तथा उसके धर्म जो ज्ञानता है, उसको 'पुराणवित्' कहते हैं। ( मं० ७ ) जो पहले था और जो फिर नया बनता है उसको पुराण ( पुरा जपि नवं ) कहते हैं। इसको यथाशक्त जानना चाहिये।

ये जो दस देव पिण्डशरीरमें आकर बसे हैं वे कहाँसे आये हैं ? मूल—देव कहाँ थे और ये कहाँसे यहाँ आये और किस स्थानपर आकर बसे ? इसकी खोज करनी चाहिये। ( मं० ८ ) इन्द्र, सोम, अग्नि, रश्मि, धृता इन बड़े देवोंसे छोटे अंशरूप देव उद्भास हो गये, उनके भी ये ही नाम हैं। जो पिताका नाम दे वही पुत्रका होता है, क्योंकि नाम किन्हीं म किन्हीं गुणका बोधक होता है और पिताका ही गुण पुत्रमें आता है। इसलिये पिताका नाम पुत्रको दिया जाता है, अतः यहाँ इन्द्रसे इन्द्र ही हुआ ऐसा कहा है। ( मं० ९ ) इनमेंसे एक इन्द्र विश्वामाके निष्ठ रहनेवाला है। इनकेवाला है और दूसरा उसका पुत्ररूपी इन्द्र निष्ठ रहनेवाला है। इसीतरह अन्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये।

ये देव दस हैं और प्रत्येक बड़े देवका एक एक अंशरूप पुत्र है। इसीतरह दस बड़े देवोंके दस पुत्र इस पिण्डदेहमें आकर बसे हैं। पिण्डदेहमें ये दस देव दस स्थानोंमें रहे हैं। इन दस देवोंने अपने दस पुत्रोंका निर्माण किया और उनको दस पिण्डदेहमें यथाशेष स्थान दिये और वे अपने मूल स्थानमें जाकर रहे। ( मं० १० ) विषयमें क्या सर्व है, बसक! अष्टव्य पुत्र 'नेमिप्रिय' बड़े नेम्रके स्थानमें आकर सर्वदेव अपने पुत्रोंके स्थानमें ही विश्रान्ता हैं। इसी तरह अष्टव्य देवोंके विषयमें समझना चाहिये हर एक देवके नामका पत्र परके वही वांछित वही बात निम्न की कोई आवश्यकता नहीं है। जो देवोंके अंश बनकर भी अपना पुराणव्यवस्था है वह नहीं है। हर एक देवका अष्टव्य अवतार बनकर—देहमें

अवतार कहा जाता है। बड़े देवका एक छोटासा अंश यही संसार है और इस पतनशील देहका तारण करनेके लिये यहाँ रहा है। जब ये अंशवतार यहाँसे चले जाते हैं तब इस देहका पतन होता है, फिर यह देह उठता नहीं, जन्माया जाता है अथवा त्याग जाता है। देवोंसे पावन होनेकी अवस्थामें यह देह पवित्र माना जाता है, देवोंके अमास होनेके समय इसे कोई छूता भी नहीं।

जब इस शरीरमें विविध देवोंने आकर यहाँ केश, हृष्टि, रश्मि, मांस, मज्जा आदि भर दिया और शरीरकी दृष्ट्यगदी दे अवयवोंसे युक्त किया, तब वे देव कहाँ गये ? ( मं० ११ ) अर्थात् देव अपना कार्य करनेके पश्चात् वे यहाँ रहे अथवा यहाँसे चले गये ? इसका उत्तर यहाँ है कि वे यहाँ निवास करके रहते हैं, क्योंकि मृत्युके समय ही वे जते हैं। इस देहमें कीमता देव कहाँ रहता है इसका ज्ञान उपनिषदोंके आधारों पर इस तरह है—

विशुद्ध देव	शरीरमें देवताओं
परमेश्वर	जीव, आत्मा
सूर्य	नेत्र ( आँख )
भूमि	नासिका ( नाक )
वायु	रसना ( जिह्वा )
अग्नि	बाणी ( वाक् ) मुख
दिशा ( आकाश )	कान
वायु, रुद्र	प्राण, रश्मि
औषधि वनस्पतयः	वेश ( बाह )
लोहिनीः आपः	रक्त, दधि
श्वः	मस्तक, मस्तिष्क
अन्तरिक्ष	नाभि, उदर, पेट, छाती
पृथ्वी	पाय ( पाँव )
पर्वत ( पर्वतान्त्र )	पर्व ( जोड़, घुंभी )
मृत्यु—आयः	वीर्य [ रज ]
अश्विनी	पाय—उपस्थान

इसतरह अनेक देवोंके अंश यहाँ शरीरमें आकर बसे हैं। ये ही देवमात्रके अंश अवतार हैं। इसका समान उपनिषदमें सिद्धांतमें किया है—विशेषतः ऐतरेय उपनिषदमें यह वर्णन अधिक स्पष्ट है। केश, रश्मि, हृष्टि मज्जा, पर्व—जोड़, मांस

कहा कि किम और किम तरह भर दिये गये, ऐसा प्रश्न [ सं० १२ में ] पूछा गया है। पूर्वोक्त कोष्ठके देखनेसे इसका उत्तर मिल सकता है।

इन देवताओंका नाम 'संवेच्' है। सम्भवतः सिंचन करने वाले, सींचनेवाले अर्थात् अपना स्थान सजीव करनेवाले, जीवन-मय करनेवाले ये देव हैं। इन सब देवों (सर्व मूल्य ससिष्य) सब मरणमयवाले अंगोंको अथवा देहको जीवमयमेंसे पुष्ट किया है। इसी कार्यके लिये ये सब देव (पुरुष आविशान्) मानवदेहमें आकर बसे हैं, इस चारीमें आकर अपने अपने स्थानमें रहें। (सं० १३)

किं श्रयितं ऊरु, पाँव, जानु, सिर, हाथ, मुख, पीठ, ईसली पसलियों, जिह्वा, गर्दन, गदनेकी हड्डियाँ, रक्ता ये सब भाग बनाये और जोड़ दिये हैं। (सं० १४-१५) अन्तर्गत देवोंने अपने अपने कार्य किये, अपने अपने अवयव बना दिये और 'संघा' नामक पृथक् है जिधने इनको जोड़ दिया और जिस जोड़नेसे यह शरीर अलङ्कार एक जैसा बन गया है। इसमें रंग, गोमा और कान्ति भरनेवाली भी एक देवता है। (सं० १६)

ये सब देव संयोजित हुए, इन देवोंका यही संयोजन हुआ, यह बात एक सती देवीने जान ली। यही सती देवी सब अवयवोंको अपने वशमें रखनेवाले आत्मदेवकी मायी है। यही मायी यहीश्री कान्ति, गोमा-और रमणावता रखने लगी है। (सं० १७) इसी वधू और बरही यादो होनेका वर्णन इस सूक्तके पहले दो मंत्रोंमें है।

ये सब देव बड़े कारीगर हैं। अतः स्वष्टा नाम कारीगर देवताका होता है। जो छोटें अंगरूप देव इस शरीरकी कार-गरी करनेके लिये दाहिं बाये हाँते हैं, उनमें जो सबसे अधिक्राता देव होता है, उसको सब कारीगरीका कारीगर होनेसे 'स्वष्टा' कहते हैं। इनका रिता, परमात्मा, सब देवोंका देव, सब कारीगरीका कारीगर सर्वोपरि विराजमान है, वह भी वही 'स्वष्टा' ही है। तबसे यहिन पाकर जब छोटे कारीगर इस शरीरमें घुस आते हैं, तब एक एक घुसनेसे एक एक देव शरीरमें प्रवेश करता है और अपने अपने स्थानमें विराजमान है। इन [ मन्त्रों में ] वरही वधूकी रचना करने [ देवः पुरुष आविशान् ] सब देव समुत्पत्तिके देहमें घुसकर अपने स्थानमें रहते हैं। (सं० १८) वह वर वरः-

विह मरिचाला है, पण्डु यही देवीकी अमर शक्तियाँ रहनेके कारण वह मरनेवाला देह अमरसा बना है। जब देव यहीका वक्ष सम्राट् करके बंछ जाते हैं, उस समय वह देह मर जाता है। देवोंका अमर शाक्त इस तरह अनुभवमें आता है।

इस चारीमें निद्रा-जाग्रति, मन्त्री (सुस्ती) -उद्यागिता, निष्कृति (पापकामना) - पुण्य भावना, पाप-पुण्य, जरा-- (इन्द्राव) - तादृश्य, खलिय (मंशपन) - बहुकेश होना, पालिय (श्रेयसः, कृष्णाव, बालोका खाइना और फाँटे होना, हनय (चोरी) - अहंतेय, दुःकृत-सुहृत, वृजिन (कुटिलता) सरलता, सत्य-असत्य, यज्ञ-अयज्ञ, यश-अयश, बल-बलहीनता, क्षात्र-निर्बलता, ओज (शरीरशक्ति) अशक्ति, मूर्ते ऐश्वर्य) अमूर्ति (निर्धनता), (गति) दान (अराति) कंजुवी, दुष्टः (भूल) -भूल न लगना, लुण्णा-दवाप्त न लगना, निद्रा-जाग्रति (अनन्दा), हाँ और ना करता (हन्त इति न इति), धर्मा-अधर्मा, दक्षता-अक्ष-क्षिण, विद्या-अविद्या, ज्ञान-अज्ञान, आनन्द-दुःख, मोह-बुध, दास्य-रोदन, मणि (अनाश) - मास, नृच-अनृच, आलाप प्रलाप-मौन, प्रयोग-वियोग, ये सब भाव चारीमें होने लगे हैं। ये भाव चारीमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। (सं० १९-२५)

प्राण, अग्नान, वयान, उदान, बलु धीय, क्षिति, अधिति, वाणी, मन ये दस हाँ शक्तिशाली शरीरमें रहती हैं और सकल कार्य करती हैं। (सं० २६)

आतोर्वाह-अंधके शब्द, अनुपूल-प्रतिपूल शब्द, संवेच्-विचित्र, विचरता-चलनता, रथा-शक्ति, वृषगता-उदाराता, गुप्ता-प्रवृत्त, दुःक-निर्वर्त्य स्वप्न-कृत, बीम व-सम्भव ये दस भाव शरीरमें प्रविष्ट हुए हैं। (सं० २७-२९) इस दशके रहनेके लिये रेतका पी बनाकर उस रेतकी आहुति दाने काभीरवमें डलनी होती है। उस रेतके साथ सब देव शरीरमें गुप्त जाते हैं। नीचेके प्रत्येक अंगमें विनाके संयुक्त शरीरका अर्थात् उस शरीरके दाएँ-बाएँका शरीरका रहना है और उस शरीरके साथ विनाके शरीरके देवताका अंग भी रहना है, अर्थात् देवताका ही शरीरका अंगत्व भीजव। विनाके शरीर गुप्तके शरीरके अंग प्रत्येक होते हैं, इसका बड़ा कारण है। इन रेतमें शरीरका सब भाग होता है, इन लिये दस बटकर विना बिना होता है। इनके रेतका पी बंधक

यस्य देव शरीरमें किस रीतिसे घूमते हैं, इस बातका पता पाठकोंको लग सकता है ।

जो सप्त देवताएँ हैं और जो पानी है, जो ब्रह्मके साथ विराट् पुरुष है, ये सब देव रेतके साथ शरीरमें घुमने हैं । [ मं० ३० ] जल तो प्रवाही पदार्थ—स्पर्श गर्भाशयमें रहता है । उसमें बीरके साथ सब देवताएँ पहुँचने हैं, सब विराट् पुरुष का स्पर्श वहाँ पहुँचता है, स्वयं ब्रह्मका अंश जीवभावसे वहाँ पहुँचता है । इस ब्रह्मके अंशके साथ सब अन्य देव अपने अपने स्थानमें रहते हैं और वहाँके अवयव अपने रहने योग्य बना देते हैं । हर एक स्थानमें योग्य सुगन्ध बनाते हैं और वहाँ ठीक रीतिसे रहते हैं । जो ब्रह्मका अंश जीवभावसे शरीरमें आता है वही इस शरीरमें प्रजापति—मंथक जीवारमा होकर सबका पालन करता है । जब तक यह इस शरीरमें रहता है, तभीतक अन्य देवोंका निवास वहाँ रहता है । जब यह ब्रह्मका शरीरका छेद देता है, तब अन्य देव भी छोटकर उसके साथ

चले जाते हैं । इसलिये इनका पालक होनेसे शरीरमें परी प्रजापति कहलाता है ।

मनुष्यके शरीरमें सूर्य आँख बना है, वायु प्राण बना है और अन्य देव अन्य इंद्रियस्थानोंमें रहे हैं । यहाँ सबको उन्नता देनेका कार्य आँख कर रहा है । [ मं० ३१ ] जब अभिदेव अपना कार्य स्थगित करता है, तब यह शरीर ठंडा हो जाता है और अम्यान्त्र देव वहाँ रहनेमें असमर्थ हो जाते हैं ।

जैसी गोत्रे गोशालामें यथाक्रम रहती हैं, उसी तरह सब देवताएँ इस शरीरमें यथाक्रम रहती हैं । जहाँ जिस देवत्वने रहना योग्य है वही वह देवता रहती है । ये सब देवताएँ मानो गोत्रे हैं और ये सब गोत्रे इस शरीररूपी गोशालामें रहती हैं । इन सब देवतारूपी गोत्रोंका एक गवालिया है, उसका नाम आत्मा है जो ब्रह्मका अंश वहाँ रहा है । इसका चित्र इस तरह हो सकता है—

### ब्रह्म

इन्द्र, चरुण, सूर्य, वायु, आग्नि आदि  
सप्त देव ।

### जीवात्मा

देवतांश मन, खाल, प्राण, वाणी  
आदि देवोंके अंश ।

### बड़ी गोशाला—विश्व—विराट् ।

इस तरह यह गोशालाका वर्णन है । यह गोशाला अपना शरीर ही है । इसमें सब इंद्रियोंके स्थानके देव गच्छी हैं और उनका अधिष्ठाता आत्मा उनका गवालिया, गोपाल, भगवन् है । वही अंधक्यसे वहाँ आया है और सबका तारण कर रहा है । इसी कारण हम पुरुषको [ इन्द्र ब्रह्म ] 'वह ब्रह्म है' ऐसा कहते हैं । क्योंकि सब देवताएँ इसके आधीन रहती हैं । [ मं० ३२ ] वहाँ गोत्रों और गोपालका विचार पाठक मननपूर्वक देख सकते हैं ।

इस पुरुषमें तीन भाग हैं । एक भागसे वहाँके पार्थिव भाग भोगे जाते हैं, दूसरे भागमें दिव्य गुल गल किया जाता है और तीसरे भागमें शरीरका संबंध जोड़ा जाता है । [ मं० ३३ ] ये तीन भाग स्पष्ट रूपसे कारण भागसे अधिष्ठित हैं ।

### छोटी गोशाला—देह ।

जब गर्भाशयमें बीरबिंदु चला जाता है, तब वहाँ रजमें यह स्थिर होकर गर्भ बटन लगता है । वहाँ पुच्छराधरणा होनेसे जलमें राव तैरनेके समान वहाँ गर्भ बटने लगता है । उसके चारों ओर एक प्रकाश जल रहता है । इस जलसे उसको रक्षा होती है । इस जलमें यह रहनेके कारण ही इसको राव अथवा [ के-राव ] उदकमें रावकूप कहा जाता है । [ मं० ३४ ]

इस तरह यह शरीररचना देवोंका एक विलक्षण कार्य है । यह अद्भुत रचना है, यह आश्चर्यमयी घटना है, यही देवोंका मन्दिर है और यहाँ सप्त अधिदेवोंका आश्रम है । हर एक मनुष्यको यह प्राप्त हुआ है । इसको अपनी तरफसे देख कर और साधक अपना जीवन सफल करे ।

# युद्धकी तैयारी ।

[ ९ ]

( ऋषि—कांकायनः । देवता-अर्बुदिः )

ये बाहवो या इषवो घन्वनां वीर्याणि च । अमीन् परशुनायुधं चित्ताकृतं च यद्धुदि ॥  
 सर्वं तदर्बुदे त्वमभिर्त्रैभ्यो दृष्टे कुरुदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥  
 उत्तिष्ठतु सं नक्षत्रं मित्रा देवजना युयम् । संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्रार्पयुदे ॥२॥  
 उत्तिष्ठतु मा रभेयामादानमंदाभ्याम् । अमित्राणां सेनां अभि घत्तमर्बुदे ॥३॥  
 अर्बुदिनाम् यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः । याम्यामन्तर्निष्प्रमावृत्तमिषं च पृथिवी मही ।  
 ताम्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥४॥  
 उत्तिष्ठ त्वं देवजनायुदे सेनया सह । भृञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥५॥  
 सप्त ज्ञातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्ष्यन् । तेभिस्त्वमाज्यं हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥६॥

अर्थ—हे ( अर्बुद ) शत्रु नाश करनेवाले ! ( ये बाहवः ) ओ व हुए हैं, ( या इषवः ) ओ बाग हैं, ओ ( घन्वनां वीर्याणि ) शस्त्रधारियोंके पराक्रम हैं, तथा ( अमीन् परशुनायुधं ) तलवार फाँसी और आयुधोंकी तथा ( चित्ताकृतं च ) ओ हृदयमें संवर्ण है, ( तत् सर्वं ) उस सबको ( एवं अभिघ्नय ) ऐसे कुट व शत्रुओंको भीति दिखानके लिये तैयार कर और ( इशान् च प्रदर्शय ) बड़े बड़े हथौटे व शत्रुओंको दिखा ॥ १ ॥

हे ( मित्रा-देवजनाः ) मित्रो ! और हे देवजना ! ( युयं उत्तिष्ठतु ) तुम उठा, ( सं नक्षत्रं ) तैयार हो जाओ । हे ( अर्बुदे ) शत्रुके नाश करनेवाले ! ( या नः मित्राणि ) जो हमारे मित्र हैं, उनको हम प्यानेमें रखो और ( या संदृष्टा गुप्ताः सन्तु ) गुप्तारे सब सैनिक देखे हुए और सुरक्षित हों ॥ २ ॥

हे ( अर्बुदे ) शत्रुविनाशक ! ( उत्तिष्ठतु मारमेया ) उठा, युद्धका प्रारंभ करो, ( आदान-संज्ञानाभ्यां ) घरनक वरके ( अमित्राणां सेनाः अभिघत्तं ) शत्रुओंकी सेनाओंको घेर लो ॥ ३ ॥

( याः अर्बुदिः नाम देवः ) जो अर्बुदि नामक सेनापति है, और ( याः न्यर्बुदिः ईशानः ) जो न्यर्बुदि नामक सेनाका मुखिया है । ( याम्यामन्तर्निष्प्रमावृत्तं ) जिन्होंने अन्तर्निष्प्रमावृत्तं पत्रा हुआ है, ( इषं च मही पृथिवी ) यह मही पृथिवी भी व्याप्त हुई है । ( ताम्यामिन्द्रमेदिभ्यां सेनया जितं इति बह्व अन्वयः ) उन इन्द्र और मेदिके द्वारा सेनाये शत्रुको जित लिया, अतः उनके पचास में जाता हूँ ॥ ४ ॥

हे ( देवजना अर्बुदे ) देवजना-शत्रुविध्वंसक ! ( त्वं सेनया सह उत्तिष्ठ ) तू सेनाके साथ उठ । ( अमित्राणां सेनाः ) शत्रुओंकी सेनाको ( भोगेभिः अजन् परिवारय ) अपनी पचहोथे घेर बरके नष्ट कर ॥ ५ ॥

हे ( न्यर्बुदे ) शत्रुविध्वंसक ! ( उदाराणां सप्त ज्ञातान् समीक्ष्यन् ) शत्रुओंके सप्त ज्ञातोंको देखकर ( अज्यं हुते ) पचहोथे आयुति देते हो ( तेभिः सर्वैः सेनया एवं उत्तिष्ठ ) उन सबको साथ लेकर अपनी सेनाके साथ उठ ॥ ६ ॥

प्रतिमानाश्रुमुखी कृष्णार्णी च क्रोशत । विकेशी पुरुषे हते रंदिते अर्बुदे तव ॥७॥  
 संकर्षन्ती कुरुकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती । पतिं आतरं मात्स्वान् रंदिते अर्बुदे तव ॥८॥  
 अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्वेनाः पतत्रिणः ।  
 ध्वाङ्क्षाः शकुनपस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्ष्यन् रंदिते अर्बुदे तव ॥९॥  
 अथो सर्वं खापदं मक्षिका तृप्यतु किमिः । पौरुषेयस्यै कृष्णे रंदिते अर्बुदे तव ॥१०॥ (२५)  
 आ गृह्णीतं सं बृहत् प्राणापानान् न्यर्बुदे ।  
 निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्ष्यन् रंदिते अर्बुदे तव ॥११॥  
 उद् वैषय सं विजन्तां भियामित्रान्तं सृज । उरुग्राहवीं हृद्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥१२॥  
 मुह्यन्त्वेषां ग्राह्यश्चित्ताकृतं च यद्दि । मैषामुच्छेपि किं च न रंदिते अर्बुदे तव ॥१३॥  
 प्रतिघ्नानाः सं धावन्तः पट्टावाघ्नानाः ।  
 अघारिणीविकेदयो रुद्रतपः पुरुषे हते रंदिते अर्बुदे तव ॥१४॥

अर्थ- ६ (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रंदिते) तेरे आक्रमण होने पर (पुरुष हते) शत्रुके वार मरने पर, उममा आ ( विकेशी कृष्णार्णी ) बाणों की खोलकर आभूषणरहित क नीले (अशुमुखी प्रतिमाना) आँखोंसे भरे हुए मुखसे छाती पीटती हुई (क्रोशत) बड़ा आकाश करे ॥ ७ ॥

७ (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रंदिते) तेरे आक्रमण होने पर (कुरुकर संकर्षन्ती) हाथ पैर घिसती हुई, (मनसा पुत्र इच्छन्ती) मनसे पुत्र की कामना करनेवाली, (पतिं आतरं मात्स्वान्) पति, भाई और अपने संबंधियों हिन पारहनेवाली शत्रुका पत्नी खूब रोवे ॥ ८ ॥

८ (अर्बुदे) शत्रुनाशक ! (तव रंदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होने पर (अलिक्लवाः जाष्कमदाः) भगवान् बड़े बड़े मोन जानेवाले पक्षी (गृध्राः श्वेनाः पतत्रिणः) गंध, श्वेत आदि पक्ष (चक्रावाः शकुनयः) कौवे और शत्रुनि पक्षी (अमित्रेषु तृप्यन्तु) शत्रुकी मृत मेनाका मोन खाकर तुम हों, यह तू (समीक्ष्यन्) देखता ॥ ९ ॥

९ (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रंदिते) तेरे द्वारा शत्रुपर आक्रमण होने पर (पौरुषेय कृष्णे अथि) शत्रुके पुरुषके सुंदर (अथो सर्वं खापदं) सब जानवर (मक्षिकाः कृमिः तृप्यतु) मक्षिकों और कीड़े सब तुम हो जाय ॥ १० ॥

१० (अर्बुदे, अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रंदिते) तेरे शत्रुपर आक्रमण होने पर [समीक्ष्यन्] और देख देखकर हमला होने पर, [प्राणापानान् बृहत् सं ग्राह्यसीतं] शत्रुके प्राणोंको पकड़ो और बड़ा हमला करो । उछेप [अमित्रेति निवाशाः घोषा न वन्तु] शत्रुओंमें बड़ा कोलाहल मच जावे ॥ ११ ॥

११ (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (अमित्रान् व्येपय) शत्रुओंको भयभीत करो । (सं विजन्तां) शत्रु समझे जाने लगे जाय । (भियामित्रान्) शत्रु भयभीत हो । (उरुग्राहः बाह्वहः अमित्रान् विरय) बड़े पकड़वाले बहुभोजी केदने-पंथ शत्रुमें शत्रुओंको मार ॥ १२ ॥

१२ (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रंदिते) तेरे आक्रमण होने पर (पट्टावाघ्नः) इनकी बहुरं शक्तिन की आँव, (यद्दि चित्ताकृतं च) जो हृदयके सवत्त हो के निःपथक हों, (धावन्तः) पक्षी विचन मा खड़े हों । इन शत्रुओंमेंसे की-मो न चके ॥ १३ ॥

१३ (अर्बुदे) शत्रुनाशक वीर ! (तव रंदिते) तेरे आक्रमण होने पर (पुरुष हते) शत्रुके वीर पुरुष मरने पर इनकी जिवा (उरु ग्राह्यः) उरु पीटती हुई, (चक्रावाः शकुनयः) जंपाओंकी उड़कती हुई (अघारिणी विकेदयः दमः) देख ब कगार बजोरे ब घेरती हुई शरीर रहे ॥ १४ ॥

अन्वितरिप्तरसो रूपका उतामुदे । अन्तःपात्रे रेहिती रिशां दुर्णिहितैविणीम् ।

सर्वीस्ता अर्थुदे त्वमभिन्नेभ्यो दृशे कुरुदारांश्च प्रदर्शय

॥१५॥

स्वहोऽधिचङ्कमां खर्विकां खर्ववासिनीम् । य उदारा अन्तहिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

सर्पा इतरजना रक्षीसि

॥१६॥

चतुर्दंष्ट्रांछयावदतः कुम्भमुक्तां अमृदुमुखान् । स्वम्यसा ये चोद्भवताः

॥१७॥

उद् वैपय त्वमर्थुदेऽमित्राणाम्भूः मिचः । जयांश्च जिष्णुध्यामित्रां जयतामिन्द्रमेदिनी

॥१८॥

प्रलीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्ययुदे ।

अग्निजिह्वा धूमगिह्वा जयन्तीर्यन्तु सेनया

॥१९॥

तयार्थुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु र्वरम् । अमित्राणां शचीपतिमीषीषां मोचि कञ्चन ॥२०॥ (२६)

उत्कंसन्तु हृदयान्युर्ध्वः प्राण उदीपतु । शौक्लास्यमनु वर्तताममित्रान् मोत मित्रिणः ॥२१॥

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो वधिताश्च ये । तमसा ये च तूषरा अथो वस्तामित्रासिनः ।

सत्रोस्तां अर्थुदे त्वमभिन्नेभ्यो दृशे कुरुदारांश्च प्रदर्शय

॥२२॥

अर्थ-हे ( अर्थुदे ) शत्रुनाशक वीर ! ( अन्वितः रूपकाः अन्वितः ) कुतूहल साथ लेकर चलनेवाली जिवा, ( उत ) और ( अन्तः पात्रे रेहिती रिशां ) बर्तनके अन्दर पाटनेवाली हिंसक स्वभाववाली ( दुर्णिहितैविणी ) दुष्ट दृष्टिवाली कुतिया ( सर्पाः एवं अमित्रेभ्यः इहो बुध ) ये सब तु शत्रुओंको दिकानेके लिये तैयार कर और ( उदाराश्च च प्रदर्शय ) रक्षक अथ मी दिका ॥ १५ ॥

( व-हो अधि चंकमा ) आकाशमें घूमनेवाली ( खर्विकां खर्ववासिनीं ) छेदी और छेदे श्वाश्वर रहनेवाली हिल पछिकाकी दिका । ( ये अमित्राः उदाराः ) जो छिगाकर रखे हुए रकोटक अथ हैं वनका प्रयोग कर । ( ये गन्धर्वाप्सरसः च सर्पाः इतरजनाः रक्षीसि ) अंधर्ष, कृपा, कप, रक्षक और इतर केप हैं, तथा जो ( चतुर्दंष्ट्रा इयावदतः ) चार पैदाबले, बाले दाँतबाले, ( कुम्भमुक्तां अमृदुमुखान् ) घण्टेके समान कण्ठवाले और मुँहसे रक्त गिरानेवाले, ( ये स्वम्यसाः ये च उद्भवताः ) जो भवभात होनेवाले और बननेके हैं, उन सबको शत्रुओंको दिया ॥ १६ १७ ॥

दे अर्थुदे ! ( एवं अमित्रेभ्यो वसूः सिचः वदेपय ) वृद्ध शत्रुओंके सेनासमूहको चलायमान कर । ( जिष्णुः अमित्रान् जयतां ) जयशाली वीर शत्रुओंको जीते और ( इन्द्रमेदिनी जयतां ) राजा और मित्र दोनों विजयी हो ॥ १८ ॥

हे अर्थुदे ! ( अमित्रः प्रलीनः मृदितः इत्यः शयां ) शत्रु पेश जाकर खाटा हुआ मर जाय । अथो ( सेनया अग्निजिह्वाः धूमगिह्वाः जयन्तीः वन्तु ) सेनाके साथ अग्निकी ज्वालाएँ और धूमकी धिक् ए विजय करती हुई गये ॥ १९ ॥

दे अर्थुदे ! ( तया प्रणुत्तानां अमित्राणां ) उस सेनाके मणाय गये शत्रुओंके । ( चरं वरं शचीपतिः इन्द्रः हन्तु ) सुषव वीरोंके समर्थ वीर मार डाले । ( अमीषां कः पय मा मोचि ) उनमेंसे कोई भी न बचे ॥ २० ॥

( हृदयानि उत्कंसन्तु ) शत्रुओंके हृदय उत्कंस जाय, ( प्राणः उत्पद्यते उदीपतु ) शत्रुका प्राण उत्पन्न हो उत्पन्न चला जाय, ( अमित्रान् शौक्लास्यं अनुवर्ततां ) शत्रुओंके मुख लुप्त जाय । परंतु ( मित्रिणः मा उच्यते ) मित्रोंके यह कह न हो ॥ २१ ॥

हे अर्थुदे ! ( ये च धीराः ये च अधीराः ) जो धैर्यवाले और जो भौक हैं, ( ये पराङ्मः ये च वधिताः ) जो वृत्त आगनेवाले और जो वधित हैं, ( तमसा ये च तूषराः ) अन्धकारसे जो चोरे हुए हैं, ( जपो वस्तामित्रासिनः ) और जो वस्तुओंके समान गुजारा करनेवाले हैं ( तयान् तान् एवं अमित्रेभ्यः इहो बुध ) उन सबको तु शत्रुओंको दिकानेके लिये जागे कर, और ( उदाराश्च च प्रदर्शय ) रकोटक अथोंको शत्रुओंके दित दिया ॥ २२ ॥

अर्धुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विष्यताम् ।

यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनान् शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः

॥ २३ ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोपधीतु धीरुषः ।

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितृन् ।

सर्वास्नां अर्धुदे त्वमित्रैरभ्यो दृष्टो कुरुदारांश्च प्रदर्शय

॥ २४ ॥

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।

ईशां व इन्द्रश्चामित्रं घाता मित्रः प्रजापतिः ।

ईशां व ऋषयश्चकुरमित्रेषु समीक्ष्यन् रदिते अर्धुदे त्वं

॥ २५ ॥

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठतु सं नक्षत्रं मित्रा देवजना युष्मत् ।

इमं संग्रामं संजित्यं यथालोकं वि तिष्ठध्वम्

॥ २६ ॥ (७७)

अर्थ-। अर्धुदि. च त्रिषन्धि च) अर्धुदि और त्रिषन्धि ये मारि बोरन युद्ध, ( न अमित्रान् विविष्यतां ) हमारे शत्रुओं के मार दें । ( वृत्रहन् शचीपते इन्द्र ) हे वृत्रनाशक शचिपते इन्द्र प्रभो ! [ यथा येषां अमित्राणां सहस्रशः हनान् ] इन शत्रुओं की सहायों की सहस्रों हम मार दें ॥ २३ ॥

हे अर्धुदे ! वनस्पतियों और वनस्पतियों से बने पदार्थों औषधियों, लताओं, गंधर्व, अप्सरा, सर्प, देव, पुण्यजन और पितरों को तू [ अमित्रैरभ्य दृष्टो कुरु ] शत्रुओं को दिखा और [ कुरुदारांश्च प्रदर्शय ] रक्तदंष्ट्र अस्त्रों को प्रदर्शित कर, जिससे शत्रु डर जाय ॥ २४ ॥

हे अर्धुदे [ त्वं रदिते ] तुम्हारा आक्रमण होनेपर [ अमित्रेषु समीक्ष्यन् ] शत्रुओं का निरीक्षण करनेके पक्षय हमारे शत्रुओं के ऊपर [ मरुतः देवः आदित्य ब्रह्मणस्पतिः ] आदित्य देव, वृद्धस्पति और मरुत [ ईशां चक्रुः ] अधिकार करें । इन्द्र, अग्नि, घाता, मित्र, प्रजापति ये देव [ वः ] ईशां चक्रुः ] तुम शत्रुओं पर शासन करें । ( ऋषयः ) ऋषियों [ ईशां चक्रुः ] शासन करें ॥ २५ ॥

हे [ मित्राः ] मित्रो, हे [ देवजनाः ] देवजनो ! [ युष्मं तेषां सर्वेषां ईशानाः ] तुम उन सब शत्रुओं के अभिपति हो [ उत्तिष्ठतु सं नक्षत्रं ] उठो, तैयार हो जाओ । [ इमं संग्रामं संजित्यं ] इस युद्धमें उत्तम प्रकार जय प्राप्त करके [ यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ] अपने अपने देश आकर सुखसे रहो ॥ २६ ॥



# युद्धकी नीति

वेदमें युद्ध—विषयक अनेक सूक्त हैं और अनेक श्रुतियाँ युद्धविषयक निर्देश हैं। इसी प्रकारका यह सूक्त है। इसका देवता "अर्जुन" है। "अर्जुन" शब्द संख्यावाचक है, वेसाही न्यर्जुन भी है।

अर्जुन १०,००,००,०००

न्यर्जुन १,००,००,००,०००

इस तरह यह संख्या मानी गयी है। अर्जुनसे दस गुना न्यर्जुन है। दस कोटी संख्या अर्जुन और सो कोटी न्यर्जुन होता है। कईवोंके मतसे दोनों संख्याका समान अर्थ दस कोटी ही होता है। कुछ भी हो दस कोटी संख्यावाचक ये शब्द हैं; इसमें संदेह नहीं है।

इतनी सेना किसी सेनापतिके आधीन रहेगी, ऐसा प्रतीत नहीं होता। दस बीस लाख सेनाको सेनापति चलाता है, ऐसे उदाहरण इतिहासमें हैं। अतः वास्तविक इस संख्याको मर्यादित धमझना चाहिये ऐसा कई कहते हैं। इनके मतसे "अर्जुन" शब्दसे "एक लाख सेना" समझी जाय और "न्यर्जुन" शब्दसे "दस लाख सेना" मानी जाय। परंतु यह एक मत है, इसके लिये कोई विशेष प्रमाण नहीं है।

जिस सेनापतिके आधीन इतनी सेना होती है, उसके देश काय मिलता है। अर्थात् जिसके पास अर्जुन सेना हो उसका नाम "अर्जुनी" और जिसके पास न्यर्जुन सेना हो उसका नाम "न्यर्जुनी" होना स्वाभाविक है। अतः ये नाम सेनापतिके वाचक हैं। श्री० सामाज्यवादी कहते हैं कि, ये नाम एवं के वाचक हैं—

अर्जुनः काश्रवेयः सर्वप्रथमिर्मन्त्रिणः ।

( ऐ० भा० १११ )

इस वचनके अनुसार अर्जुन कद्रुका पुत्र सर्वप्रथमि कायि है, उसके दो पुत्र थे, एक अर्जुन और दूसरा न्यर्जुन। ऐसा माननेपर भी ये सेनापति थे, ऐश्वरी मानना पड़ता है।

अर्थात् अर्जुन और न्यर्जुन ये नामस्वरूपके सेनापतिके हैं, इसमें संदेह नहीं है। हमारे विचारसे इन शब्दोंके स्थिति अर्जुनके विषयमें असी बहुत जोरकी आवश्यकता है। तबतक इसके

१५ ( अ. ए. म. का ११ )

पूर्वपर संबंधसे हम इनकी विशेष आधिकारिक शूर सेनापति ही समझते हैं। इस सूक्तका अर्थ ध्यानमें आनेके लिये ऐसा समझ लीजिये कि, एक राजा है, उसके पास इस तरहके सैनिक और सेनापति हैं और शत्रुसे युद्ध छिड़ गया है। इस अवस्थामें क्या करना चाहिये यह उपदेश यहाँ है।

"अपने सैनिकोंका जो बाहुबल है, उसके पास जो धन्य, बाण, परशु, तलवार आदि आयुधसम्पद है, उन सबकी ऐसे धर्मसे रचना करो कि उनकी देखकर ही शत्रु मरभीत हो जाय।" [मं. १] अपने सैन्यकी और अपने दायारोंकी सुसज्जता ऐधी करनी चाहिये और उसका प्रभाव शत्रुपर ऐसा पड़ना चाहिये कि शत्रु युद्ध करनेके लिये कुछ तैयार न रहे। जो अपने मनके संस्कार हैं, जिस कारण युद्धके क्षेत्रमें उत्तरना पड़ता है, वह सब ऐधी योजनासे अग्रिममें उद्घोषित करना चाहिये कि, जिससे जनताको पता लगे कि शत्रुके पक्षमें ही बड़ा भारी दोष है और अपना पक्ष निर्दोषी है, परंतु धर्मरक्षाके लिये ही हमें युद्ध करना आवश्यक हुआ है। इस संशय जनताके मनमें शत्रुका पक्ष अव्यक्त निर्भल होता है और अपने पक्षकी जनताकी अतृप्त संमति मिलती है। युद्धमें जब मिलनेके लिये इसकी बड़ी भारी आवश्यकता है।

पौरवोंका सैन्यबल कम था और पौरवोंका अधिक था। दायारबल भी पाण्डवोंकी अपेक्षा पौरवोंका ही अधिक था। तब भी पौरवोंकी जिंदा जनतामें इसकी हो चुकी थी कि ये जनशरीर इष्टमें मर चुके थे। इसका नाम पाण्डवोंकी मिल गया। यहाँ युद्धनीतिके बात इस संशयमें स्थिति की है। जिसको पालन करना है, उसपर अपने दायारपक्षोंका प्रभाव जनता चाहिये और मनके संशयोंमें भी लगे जीवनता चाहिये। इस प्रकारकी जीव होनेके पदार्थ युद्धमें प्रत्यक्ष रूपसे पालन देनेकी संभावना हो सकती है।

शत्रुको अपने "दायारों" का प्रदर्शन करना चाहिये। उदाहरणके अर्थ है कि जो शत्रुका पक्ष में लगे हैं और वे वहाँ गिराए शत्रुका अंधका मर जाते हैं। ऐसे शब्दोंके जान होने हैं, उनको जगजगत्में जाना पड़ता है और

धोरेमें उस बाहरके ज्वलनका पटा वृक्षवा बाहर जाता और अपने भिन्नलोंकी सुरक्षितता स्थिर करती, ये कार्य है। इसका नाम है सदार [ उट—आर ], अंदरसे ऊपर मुदके पूर्व करनेके हैं।

फेंकना, अंदरसे एचदम बाहर आना और चारों ओर फेंका जाना। जो अन्दरसे बाहर और ऊपरकी ओर फेंका जाता है, उसका नाम " उट—आर " है। इस अस्त्रको शत्रुके ऊपर फेंका जानेपर वह वहां फटता है और उसके अन्दरके विनाश पदार्थ वेद्यप बाहर फेंके जाते हैं, जिनसे शत्रुका नाश हो जाता है। इस तरह के सदार अनेक प्रकारके अपने पास हैं और युद्ध हान्यपर इनके द्वारा शत्रुका नाश अतिशय करना हमें सलभ है, यह बात शत्रुके हृदयमें जैसी हो वैसी स्थिर करना चाहिये। जिससे शत्रु कोश और युद्धके लिये खड़ा ही नहीं होगा। इस दिशावेष भी बहुत बार कार्यमाय हो सकता है।

जिहना दिखाया करना होगा, उतनाही करना, परंतु अपने गुप्त शस्त्रका शत्रुकी नहीं दिखाने चाहिये। यमोकि अपने नव शस्त्रास्त्रोका पूर्ण पता शत्रुको लगना नहीं चाहिये। अपने पाप अद्भुत शस्त्रास्त्र हैं, उनमें शत्रुका विनाश शीघ्र हो सकता है, इतना ही प्रभाव शत्रुका मनपर स्थिर करना चाहिये। युद्धके विना शत्रुका नाश करना ही वह योजना है। इन अपने सदार नामक शस्त्रको शत्रुके अन्दर फेंकना उपदेश मंत्र १, १५, २२, २४ में किया है। इसका ठीक अर्थ समझना चाहिये। नहीं तो कार्यका अन्त हीममें विनष्ट न हो लगेगा। वहां केवल प्रदर्शन अर्थात् दिखावा करना है, वह दिखावा केवल शत्रु पर अपनी शक्ति प्रभाव जमानेके लिये ही है। जो अपनी अस्त्रवीज मर्त्य है वह इसादिक वीज प्रदर्शन नहीं होनी चाहिये। अर्थात् दिखावा ऐसा हो कि शत्रु इस दिशावेष ही देख जावे।

यद्यत् एव दृष्टं यो अस्त्रं वाके उच्यतेनापि तेनार रते।  
विजं एव लक्ष्मणा वते इत्यत्र पता नहीं होता है, अतः मंत्रां संज्ञा रहना चाहिये। अपने जो भिन्न शस्त्र हैं, उनको शक्ति भी बिचार करना चाहिये। गुणवतिताके साथ वे अपने के वनामस्य भिन्न इस विषयमें महा दक्ष होकर कार्य करना चाहिये। ( म० २ ) अपने विनष्टकी निमित्तता होनेके लिये वह शस्त्र ही लाह करना योग्य है।

यद्वा अस्त्रं लक्ष्मणा वते एवा प्रभाव ऐक्यता, लक्ष्मणा अस्त्रवीज लक्ष्मणा, अतः अस्त्रवीज लक्ष्मणा अस्त्रवीज लक्ष्मणा

जब युद्ध छिड़ना अपरिहार्य हो जावे, तब अपनी तैयारी करके उठना और युद्धका प्रारंभ करना। इसमें शत्रुको सोचने की भी फुरसत नहीं देनी चाहिये, यह विशेष सूचना मन करने योग्य है। शत्रुके साथ जो युद्ध करना है, उसमें अद्वन्द और संदान ये दो प्रकारकी युद्धविधियाँ हैं। एकसे शत्रुको एकदम चारों ओरसे घेरकर घेरना होता है और दूसरेमें मिलकर शत्रुपर एचदम हमला करना होता है। इस तरहके युद्धसे शत्रुकी बड़ी सेना हुई तो भी युद्धमें विजय संभाव्य दिखा जा सकती है। जब इस तरह विजयकी संभावना हो तभी शत्रुके सामने जाकर [ अग्निघात ] उत्तर पर चढ़ाई करनी चाहिये। ( म० ३ ) इस मंत्रके बड़ोका मनन करनेसे युद्धकी नीतिज्ञा पता लग सकती है।

एक वडा सेनापति है और दूसरा उसके नीचे कार्य करनेवाला है। ये दोनों मिलकर युद्ध और आकाशमें ऐसा प्रारंभ करें कि वहाके शत्रु पूर्णतया लख जावे। युद्धके ऊपर पैरद, घुड़वार और शिथिल युद्ध होगा, आकाशमें विमानसे युद्ध होगा और वहाकोवर तथा परंतु शत्रुकोवर तो ऐसे युद्ध होवें। जहां जिसका युद्ध करना हो, वहां उसका युद्ध अर्थात् युद्धलक्षके साथ करके अपनी विजय और शत्रुकी पराजय करनी चाहिये। इस तरहसे विजय प्राप्त करनेके पदव्यवस्था अपनी सेनाके साथ शरद प्रसन्न किये प्रदेशमें प्रवेश करे। ( सेनका अर्धं अन्ते ) सेनाके मैं राजा जब स्थानमें प्रवेश करता हूँ। राजा ऐसा ही करे। पूर्ण विजय होनेके पूर्व वही शत्रुके प्रदेशमें राजा प्रविष्ट न हो। ( म० ४ ) क्योंकि राजा पर ही शत्रुका शोभाय अत्यन्त होता है। यदि राजा अथ वधानीसे शत्रुके प्रदेशमें गया और वहां बंधनमें पड़ गया तो सब सेनाका प्रभाव और शत्रुकी मानहानि होना संभव है। इसलिये अपनी पूर्ण जय होनेपर, वह शत्रुवद्ध अपने अग्नि-कार्यमें पूर्णतया आशुभेय और कोई कर न करे तभी राजा अपनी पूर्ण सतताके लिये अपनी विजय शत्रुके योग्यसेना अपने साथ लेकर उक्त भिन्न प्रदेशमें प्रवेश करना चाहिये। राजा की आशुभेयता ही सब कुछ सम्भवित है। नहीं राजा व अर्थ युद्ध शत्रुवद्धावक समझना चाहिये।

यज्जय यज्जय सेनाका ( शत्रु न ) उठाव करना, चढ़ाई

तैयारी करके उठना और शत्रुकी सेनाको ऐसा घेरना कि जैसा सोप या अजगर जिसमें लिपट जाता है। और इस तरह शत्रुका घर छोड़कर, चिपटकर, छत्रकर, मारना चाहिये। सेनाको चारों ओर घेरना, अपनी सेना इतनी अधिक रखनी कि जिसमें शत्रु घिर जाय। अपने सेनावालों सोपस शत्रुको घेरना करना और उनकी हलचल रोक करना, उनकी अन्य जगत् में संबंध ताड़ना और उनकी हारना करना। [ मं० ५ ]

जो उदार नामक एकटक अर्थ है, वे सात प्रकारके होते हैं, एक भूमि [ अन्तर्हिताः उदाराः ] गाढ़कर रखे जानेवाले, दूसरे पानीक अन्दर रखे जानेवाले, तीसरे हाथों के जानेवाले, चौथे आकाशमें जाकर फेंके जानेवाले, पाँचवे बाणपर रखकर शत्रुका फट जानेवाले, छठे मनुष्य आदि छोटे जानवरोंमें रखे जानेवाले और सातवें पक्षीपर काम करनेवाले। ये सात प्रकारके महापातक विस्फोटक उदाराः होते हैं। जहाँ ये रखे जाते हैं वहाँ शत्रुको घर छोड़ लाया जाता है और शत्रु वहाँ आया तो इनका विस्फोटक इष्ट फट जाता है, इनसे उद्धार निकलते हैं जो शत्रुको एकएक छिन्नमिश्र कर देते हैं। इन सातों प्रकारके उदाराँको अपने पास लेकर अपनी सेनासे शत्रुका बहाई करनी चाहिये। इनमेंमें घुटकी आहुतियाँ देकर सब सेनाओंको निद्रा होना चाहिये और एकदम शत्रुपर हमला प्रारम्भ होना चाहिये [ मं० ६ ] यह प्रायः सबरे का ही हवन है जो बहाईका सूचक है।

इस तरह विद्रोह शत्रुका हमला करनेसे शत्रु मारा जायगा, परास्त होगा, भाग अवगा अवहा ऐसा नष्ट होगा कि उसके राज्यमें शत्रुको राने और आकाश करनेके भिषाव पूरा कोई कार्य रहेगा ही नहीं। [ मं० ७—९ ] शत्रुकी सत्ता पुरुष मर जाय और कुल आनवर उनके प्रेत सा जाय। [ मं० १० ] उनकी दिव्यो छाती पट पीटकर फटके उधरे [ मं० ११ ] शत्रु मारे जाय और उनमें राने पीटनेका बहा आकाश मच जाय [ मं० ११ ] ऐसा हमला किया जाय कि शत्रु मर जाय और भाग जाय अवहा अवहा और भाग तथा काट जाय [ मं० १२ ] शत्रु मोहित हो जाय और उनका कोई शेष न रहे [ मं० १३ ] शत्रुकी सुर्वे सन्निवेशे पशुकी पीतने - है, कुने उनके मुँहों को राने हैं, जिसका बहुर भावद उनके स्थानमें पुरुष रहे [ मं० १५ ]

[ मं०—१० ] अकाशमें दूर ऊपर अपनी सेना जाकर शत्रुपर हमला करे [ मं०—शामनी ] निम्न स्थानमें रहनेवाली शत्रु-सेनाको ऊपरसे मारा जाय, [ अन्तर्हिता उदाराः ] भूमिमें अवहा जलमें अदृश्य करके जो उद्धारणशील अर्थ हैं उनका स्फट होकर शत्रु मारे जाय, मर्षव, अमरा मय, शत्रुव च हनर लगीं की सहायता लेकर शत्रुको उसका जाय। इस तरह शत्रुका पूर्ण पराभव किया जाय [ मं० १६—१७ ]। उक्त रीतिसे शत्रुका पूरा नष्ट किया जाय। अपनी सेनाका सर्वत्र विजय हो। [ मं० १८ ]

शत्रुको घेरकर मारा जाय। अपनी सेना के साथ अग्निही उजालाए और घूमती शिखर हो। अर्थात् ऐसे लक्ष्य हैं कि जिनसे अग्निही उजालाए निकले और धूँये शत्रु पर जाय इस तरह शत्रुका नाश हो। [ मं० १९ ]

शत्रुसेनाके [ वर वर हनु ] बड़े बड़े योद्धाओं पुनपुनकर मारा जाय और उनमें लता कोई न रहे। उनमें कोई नेता न बचे ( मं० २० )। इस तरह पराजित होनेपर शत्रु के हृदय सन्नत जाय, प्राण चले जाय, मुल सूट जाय, ऐसा शत्रु न बचने तक हमला होता रहे। परन्तु ध्यान रहे कि अपने पक्षके लोगोंको [ मन्त्रिण मा ] हमसे कोई बचन न हो। [ मं० २१ ]

धर्मबन्धन मोड जो भी हों, जहाँ वही रहनेवाले हों, इन सबको परास्त किया जाय। शत्रुसेनाके हथोरों को फट जाय। वनराति जीवित एकटक पक्षी आदि हाएक पक्षी शत्रुको परास्त किया जाय। [ मं० २२—२४ ]

हमारे अग्नि सुर्वे, पाश, प्रशान्ति आदि तथा हमारे कर्ष और हमारे शत्रु शत्रुओंपर अघोर करे, अर्थात् हमारी सन्ध-ताके अन्दर शत्रुकी सब जनता आका आधव सेवे। अर्थात् शत्रुका हमारा ऊपर भौगमिद सन्नत हो ही न हो अर्थात् हमारी आरंभ गन्तव्यका भी राज्य उनपर हो और वे पूर्णतया हमारी सन्धतमें आ जाय। [ मं० २५ ]

सब हमारे गोत्रक हमनी विजय धरुन करके पराजित करने अपने स्थानमें जाकर विजय करे। उनका शत्रुओंपर पराजित बना रहे। [ मं० २६ ]

यह अन्तर्गत हमलुका है। अग्नि भी हवी प्रहार का सूचक है, अथवा होचिये—

# युद्धकी रीति ।

[ १० (१२) ]

( ऋषिः—भृगुवंशिराः । देवता—त्रिपन्थिः )

उत्तिष्ठन् सं नक्षत्रमुदाराः कृतुभिः सह । सर्षा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥१॥

ईशा वो वेद राज्यं त्रिपन्थे अरुणैः कृतुभिः सह ।

ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ॥

त्रिपन्थेस्ते चेतांसि दुर्णामान् उपासताम् ॥२॥

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।

क्रव्यादो वातरंहस आ संजन्वन्मित्रान् वज्रेण त्रिपन्थिना ॥३॥

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु । त्रिपन्थेरियं सेना सुहितास्तु मे वर्ये ॥४॥

उत्तिष्ठ त्वं देवज्ञानार्थं दे सैनया सह । अयं यत्किञ्च आहुतुस्त्रिपन्थेराहुतिः प्रिया ॥५॥

अर्थ—दे ( उदाराः ) अपने जीवनपर उदार हुए और खेनको । ( वेतांसिः सह उत्तिष्ठन्, सं नक्षत्रम् ) अपनी पञ्चाङ्गिके साथ उठो और तैयार हो जाओ । दे ( सर्षाः इतरजना. ) सर्षो और दे अन्य लोगों । दे ( रक्षांसि ) रक्षाओं । इतर ( अमित्रान् अनुधावत ) शत्रुओंपर चढ़ाई करो ॥ १ ॥

दे ( त्रिपन्थे ) त्रिपन्थि ब्रह्मयुक्त वीर ! ( अरुणैः कृतुभिः सह ) सारा सप्तर्षिके साथ ( ईशा वाः राज्यं वेद ) आप सब अधिपतिपदका यह राज्य दे ऐश्वर्यो मे मानता हूँ । ( ये अन्तरिक्षे, ये दिवि, पृथिव्यां च ये मानवाः ) जो अन्तरिक्षमें, जो दुर्गोष्णमें और जो पृथ्वीपर मनुष्य हैं उनमें और ( दुर्-नामानः ) दुष्ट नामवाले हैं, वे सब ( ते त्रि-संथेः चेतांसि उपासताम् ) त्रिपन्थि वीरके चित्तमें रहे, अपना सब वीर उनका योग विचार करे ॥ २ ॥

( त्रिपन्थिना वज्रेण ) तीन पंथियोंवाले ब्रह्मके साथ ( अयोमुखाः सूचीमुखाः ) लोहेके मुखवाले, सूईके समान नोकवाले, ( अथो विकङ्कती मुखाः ) कठोर पंथिके समान मुखवाले ( क्रव्यादो वातरंहसः ) मांस खातेवाले और वायुके वेगसे जानेवाले पक्ष ( अमित्रान् आ संजन्वन् ) शत्रुओंपर जाकर गिरे ॥ ३ ॥

दे स तरेः अदित्य ! ( बहु कुणपं जन्तः पृथि ) तु शत्रुपक्षाके बहुत मुँह भूमिमें गिरा दे । ( त्रि-पन्थेः इत्येता ) त्रिपन्थिब्रह्म धारण करनेवाली यह सेना ( मे वर्ये सुहिता जस्तु ) मेरे वर्यमें बलम प्रकाशे रहे ॥ ४ ॥

दे ( देवज्ञानं कर्तुं ) दिव्य ज्ञान शत्रुनाशक वीर ! ( त्वं सैनया सह उत्तिष्ठ ) तेनाके साथ उठ । ( वाः अयं क्विचिद्भुजः ) तुम भीनाके लिये यह शस्त्रस्त्री बली काया गया है । ( त्रिपन्थेः आहुतिः प्रिया ) त्रिपन्थि नामक ब्रह्मके लिये इस अग्नी कर्तुं आरंभ दिये दे ॥ ५ ॥

श्रित्तिपदी सं घृतु शरव्येइधं चतुष्पदी । कृत्येऽमित्रैर्म्यो भवु त्रिपन्धेः सह सेनया ॥६॥

धुमाक्षी सं पततु रुधुकुर्णी चं क्रोशतु । त्रिपन्धेः सेनया जिते अरुणाः संन्तु केतवः ॥७॥

अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति

श्वार्पदो मक्षिकाः सं रमन्तामामादो गृध्राः कुर्णपे रदन्ताम् ॥८॥

यामिन्द्रैण संवां समर्धन्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।

तयाहमिन्द्रसंधया सर्वां देवानिह हुवं इतो जयत मामृतः ॥९॥

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः । असुरक्षर्यणं वधं त्रिपन्धि दिव्यार्थयम् ॥१०॥ (२८)

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रं च तिष्ठतः ।

त्रिपन्धि देवा अमज्जन्तौ जसे च वलांय च ॥११॥

सर्वांल्लोकान्समजयन् देवा आहुत्यानया ।

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षर्यणं वधम् ॥१२॥

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षर्यणं वधम् ।

तेनाहममूं सेनां नि लिप्तामि बृहस्पतेऽमित्रान् हुन्म्योजसा ॥१३॥

अर्थ—( श्रित्तिपदी चतुष्पदी इव शरव्या ) हेत पाववाला और चार पाववाली यह याणोकी पंक्ति शत्रुता ( सं घृतु ) नाश करे । हे ( कृत्ये ) विनाश करनेवाले ! ( त्रि-पन्धेः सेनया सह ) त्रिपंधि नामक वज्र धारण करनेवाली सेनाके साथ ( अमित्रैर्म्यः भवु ) शत्रुके नाश करनेके लिये तैयार हो ॥ ६ ॥

( धुमाक्षी सं पततु ) धुँधेले आँख सेलित होकर शरवसेना गिर आवे, ( रुधुकुर्णी च क्रोशतु ) कानोमें झंझ होकर चरक रोना रहे । ( त्रिपन्धेः सेनया जिते ) त्रिपंधि की सेनाका जय होनेपर ( अरुणाः वेतवः संन्तु ) लाल रंगके रथज सज्जे हो जाय ॥ ७ ॥

( ये दिवि अन्तरिक्षे च चरन्ति ) जो पृथ्वी और अन्तरिक्षलोकमें संचार करते हैं वे ( पक्षिणि अव-अवन्तां ) पक्षी इस और आ जाय । ( श्वार्पदः मक्षिकाः सं रमन्तां ) हिल पडु, मक्षिकाएँ चरकके सुई खाने लग जाय । ( आमादो गृध्राः कुर्णपे रदन्तां ) कछुा नाँव खानेवाले गंध मुँहो खो खा जाय ॥ ८ ॥

हे बृहस्पते ! ( इन्द्रेण ब्रह्मणा च यां संध्यां ) इन्द्र और ब्रह्मके द्वारा जिस संधिघे ( समध्यायाः ) किया था । ( तया इन्द्र संधया बहं सर्वां देवान् ) उस इन्द्र की संधिघे मैं सब देवोंको ( सह हुवे ) यहाँ मुलाता हूँ और कहता हूँ कि ( इतः जयत मां अनुतः ) यहाँ जीत लो, वहाँ वहाँ ॥ ९ ॥

( आंगिरसः बृहस्पतिः ) आंगिरसका बृहस्पति और ( ब्रह्मसंशिताः ऋषयः ) ब्रह्मसे लीकृण हुए सब ऋषि, ( असुरक्षर्य-यणं त्रि-पंधि वधं ) असुरनाशक त्रिपंधि नामक वज्रका ( दिवि आधयन् ) पृथ्वीमें आधय लेने रहे ॥ १० ॥

( येन असौ आदित्यः गुप्तः ) जिसके द्वारा यह सूर्य सुरक्षित हुआ है, ( उभौ इन्द्र च विन्द्रः ) और दूसरा इन्द्र ये दोनों सुरक्षित रहते हैं । उव ( त्रिपन्धिं अोजसे बलाय च ) त्रिपंधि नामक वज्रको ओज और बलके लिये ( देवाः अमज्जन्त ) देवोंने स्वीकृत किया है ॥ ११ ॥

( आंगिरसः बृहस्पतिः ये अनुतक्षर्यणं वधं ) आंगिरस बृहस्पतिने जिस अशुरनाशक वज्रको [ अविधत ] धींच कर तैयार किया, [ जनया आहुत्या ] उव वज्रके तरीकाले ( देवाः मयीं लोकांश्च अजयन् ) सब देवोंने सब लोकोंको जीत लिया ॥ १२ ॥

[ आंगिरसः बृहस्पतिः ये अनुतक्षर्यणं वधं वज्रो अविधत ] आंगिरस बृहस्पतिने जिस अशुरनाशक वज्रको धींच-

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्रन्ति वर्षत् कृतम् ।

इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः

॥१४॥

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिपन्ध्रेऽहुतिः प्रिया । संघां मंहवीं रक्षत ययाग्रे असुग जिताः ॥१५॥

वायुमित्राणामिन्द्राण्याञ्चतु । इन्द्र एषां वाहन् प्रति मनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।

आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामर्गतस्य पन्थाम्

॥१६॥

यदि प्रेषुदैवपुरा ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ।

तनुपानं परिपाणं कृष्णाणा यदुपोचिरे सर्गं तदसं कृधि

॥१७॥

श्रुत्वादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् । त्रिपन्ध्रे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥१८॥

त्रिपन्ध्रे तमसा त्वमामित्रान् परि चारय । पुषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कथ्यन् ॥१९॥

शिविपुदी सं पतत्त्रिमित्राणाममूः सितं । मुह्यन्त्यामूः सेनां अमित्राणां न्यपुदे ॥२०॥

मूढा अमित्रा न्यपुदे जह्येपां वरंवरम् । अनयां जहि सेनया

॥२१॥

अर्थ- हर तैवार किया, [ तेन अमू सेनां नि लिपामि ] उस दृष्ट्यसे इस शक्तसेनाका नष्ट करता हूँ । हे बृहस्पति । [ ओजसा अमित्रान् इन्मि ] सामर्थ्यसे शत्रुओंका नाश करता हूँ ॥ १३ ॥

[ ये वपुर्दृष्टं क्षमन्ति ] जो वपुर्दृष्टारसे अल भक्षण करत हैं, वे [ सर्वे देवाः अति-आयन्ति ] सब देव शत्रुका अतिक्रमण करते हैं । हे देवो । [ इमां वाहुनिं जुषध्वं ] इस वाहुगणको स्वीकार करो, और [ इतः जयत, मा अनुतः ] यहाँ से शत्रुको जीत लो, वहाँसे नहीं ॥ १४ ॥

[ सर्वे देवाः अति आश्रयन् ] सब देवगण शत्रुका अतिक्रमण करें [ त्रिपन्ध्रेः आहुतिः प्रिया ] त्रिपन्ध्रे वज्रको बलिदान प्रिय है । [ यया अग्रे असुगा जिताः ] जयजे प्रारंभमें असुरोंका पराभव किया था, उस [ महवीं संघां रक्षत ] बड़ी पंथिही तुम सब मिलकर रक्षा करो ॥ १५ ॥

[ वायुः अमित्राणां हृष्यमाणि अश्रय ] वायु शत्रुओंके वाणोंके अग्रभागोंको नष्ट करे । [ इन्द्रः एषां वाहन् प्रमिन्नकटं ] इन्द्र इनकी वाहुओंका टाढ़ दे । ये शत्रु [ इयु प्रतिधां वा सक्तन् ] बाण धनुषोपर लगावनेके लिये समर्थ न हों [ आदित्यः एषां अस्त्रं विनाशयन् ] सूर्य इनके अस्त्रों का नाश कर । [ चन्द्रमा अगतां शत्रुका मार्गं रोक देहे ॥१९॥ ] ( यदि दृष्टुमा प्रेषुः ) यदि पूर्व देव अर्थात् वायुरूप शस्त्रम यहाँसे दूर भाग गये हैं और तन्मौने ( मूढा वमन्ति चक्रिरे ) ज्ञानमें कष्टोंको तैवार किया है, और ( तनुपानं परिपाणं कृष्णाणाः ) शरीरके रक्षण और प्राणादिका सब रक्षण करते हैं और जो ( उपोचिरे ) छपटन कर रहे हैं ( तन् सर्वं अरसं कृधि ) उस सबको नीरस बनाओ ॥ १७ ॥

दे दिवंधे । ( श्रुत्वादा अनुवर्तयन् ) मीमांसकोंकी चेष्टाकर (मृत्युना च पुरोहितं) मृ युके लागे रखकर (सेनया प्रेहि) सेनाके साथ आगे बढ़ । (अमित्रान् जय पद्यस्व) शत्रुओंको जीत का और उनको प्राप्त कर अधीन अपने आधीन कर ॥१८॥ हे त्रिपन्ध्रे । (सं प्रमित्रान् तमसा परि-चारय) तू शत्रुओंका अन्धकारमें डेर, (पुषद-माय-प्रणुत्तानां अमीषां) वृषद-ज्यसे भरित हुए इन शत्रुओंमें (बध्यन् मा मोचि) बंधीको भी मत छोड़ ॥ १९ ॥

(शिविपुदी अमित्राणां अगः निष्कः संश्रयन्) शिव पावसांकी शक्ति शत्रुओंको इस सेनाके ऊपर पड़े । हे मृपुदे । (जय अमू अमित्राणां सेनाः मुह्यन्त्यामूः) आज वे शत्रुओंका मन एँ माहित हो जावे ॥ २० ॥

हे मृपुदे । (अमित्रः मूढाः) शत्रु मूढ़ हो जाव । (एषां वरं वरं जहि) इनके मुखवाओंका पराभव कर । और वमन्को (अनया सेनया जहि) इस सेनाके अंत में अवस्था मार बाँट ॥ २१ ॥

यथ कश्ची यथाकवचोऽमित्रो यथाज्मनि । ज्यापायैः कंचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥२२॥

ये वर्मिणो येऽर्माणोऽमित्रा ये च वर्मिणः । सर्वास्ता अर्जुदे हतांश्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥२३॥

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः ।

सर्वानदन्तु तान् हतान् पृथाः श्येनाः पतत्रिणः ॥२४॥

सहस्रकुणपा शेतामामित्रा सेनां समरे वधानाम् । विविद्धा ककुजाकुंठा ॥२५॥

मर्माविधे रोरुवतं सुर्णैरदन्तु दुश्चिर्न मृदितं यथानम् ।

य इमां प्रतीचीमाहूतिमामत्रो नो युष्यत्सति ॥२६॥

या देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नारित विराधाम् ।

तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिपथिना ॥२७॥ ( ३० )

॥ इति पंचमोऽनुवाकः ॥

॥ एकादशं काण्डं समाप्तम् ॥

अर्थ—( या च कवचः ) जो कवचधारी है, ( या च अकवचः अमित्रः ) और जो कवच न धारण करनेवाले शत्रु है, ( या च अज्मनि ) और जो रथमें है, वह सब शत्रु ( ज्यापायैः कवचपाशैः अज्मना अभिहतः दामां ) उसके पाशसे और कवचके पाशसे तथा रथके आघातसे घायल होकर मिर जाय ॥ २२ ॥

( ये वर्मिणः ये अर्माणः ) जो कवचधारी और जो कवच न धारण करनेवाले और ( ये च वर्मिणः अमित्रिणः ) जो कवचधारी शत्रु है, हे अर्जुन ! ( तान् सर्वांन् हतान् ) उन सब मारे हुआकरो ( भूम्यां गताः अदन्तु ) भूमिपर कुत्ते खावें ॥ २३ ॥

( ये रथिनः ये अरथाः ) जो रथवाले और जो रथहीन ( ये असादाः ये च सादिनः ) तिनके पाठ पोंछ नही दें और जो घोशेर सवार हैं, ( सर्वांन् पान् हतान् ) उन सब मारे हुए शत्रुओंके ( पृथाः श्येनाः पतत्रिणः अदन्तु ) बांध श्येन आदि पक्षी खावें ॥ २४ ॥

( समरे वधानां आमित्रा सेना ) युद्धमें मारी गयी शत्रुओंकी सेना ( विविद्धा ककुजाकुंठा वधानां विद्ध हई और विद्ध आहार होकर मिर ॥ २५ ॥

( याः अमित्रः ) जो शत्रु ( नः इमां प्रतीचीं अहूतिं युधत्सति ) हमारी रथ पूर्वाभिमुख लड़ी हुई ऐन्द्रकी आहूतिके साथ युद्ध करना चाहता है, ( सुर्णैः मर्माविधे रोरुवतं ) बाणोंसे मर्मोच्छादन होनेके कारण रोनेवाले ( मृदितं यथानं नदन्तु ) दुःखी धनवाले मर्दित होनेके कारण भूमिपर पड़े लगे शत्रुओंके दिघ पशु खावें ॥ २६ ॥

( यां देवाः अनुतिष्ठन्ति ) त्रिवक्ता देव अनुष्ठान करते हैं ( यस्या विराधर्नं नारित ) त्रिवक्ता विरोध नहीं होता है, ( तया त्रिपथिना वज्रेण ) उसके द्वारा तथा त्रिपथि वज्रे ( वृत्रहा इन्द्रः इन्द्रः ) इन्द्र एक इन्द्र शत्रुका दहन करे ॥ २७ ॥

## भयानक युद्ध ।

युद्ध है नडा भयानक, परंतु जबतक मानव-व्यक्तिके हृदय परिशुद्ध नहीं होते, तबतक युद्ध अपरिहार्य ही है । जब युद्ध टलनेवाला नहीं है, कमसे कम अतिशीघ्र युद्ध टल नहीं सकता, तब उसे परिणामकारक बनाना चाहिये । अतः युद्धको परिणामकारक बनानेके लिये और क्षात्र भाषकी शुद्धि करनेके लिये वेदमें कई सूक्त दिये हैं, उनमें यह सूक्त विशेष महत्त्व रखता है । पठक इस इष्टीति इस सूक्तका अध्ययन करें ।

लड़नेवाले कीर अपने जीवनको पूर्णतया समर्पण करके युद्धके लिये तैयार रहें, ( उदाराः ) जीवनपर उदार हो जाय । विलकुल अपने जीवन की चिन्ता न करें । सब सेनाके कीर अपने अपने हाथे लेकर शस्त्राईके लिये उठें और तैयार हो जाय । अपने हाथेकी रक्षा करना सैनिकोंका कर्तव्य है । सब सैनिक अर्थात् अपने साथ अपनी सहायता करनेके लिये आये सब कीर मिलकर शास्त्रपर धावा करें । ( वं० १ ) यही सर्व, राक्षस और अन्य लोगभी शास्त्रपर हमला करनेके लिये आये सीखते हैं । जो भी अपना मित्रदल है वह सब एक विचारसे अर्जाई करे, आपसमें झूट न हो, प्रत्येकका विचार शिष्ट शिष्ट न हो, सब एकही विचारसे एक योजनामें संमिलित होकर शास्त्र पर लड़ें और शास्त्रकी पूर्णतः साथ परास्त करें ।

### यज्ञनिर्माण ।

त्रिषंधि नामक एक प्रकारका यज्ञ है । यह बड़ा प्रचुर होता है । तीन स्थानोंमें इस यज्ञमें संधि किया होता है, इसलिये इसका नाम त्रिषंधि रखा गया है । त्रिषंधि यज्ञ है, यह बात निम्न लिखित मंत्रमें कहा है—

वज्रं त्रिषन्धिना । ( मं० ३, १० )

यं यज्ञं जालिष्य । ( मं० १२, १२ )

यह त्रिषंधिवाद्य यज्ञ है, उसमें तीन जोड़ होते हैं और यह पत्नीमें स्थित करके बनाया जाता है, अर्थात् वह यज्ञसाधक ही होता है दिये, जो तपाकर पत्नीमें अपना देखादि सब पदार्थोंमें मिगुलकर बनाया जाता है । इसके निर्माणके विषयमें इस सूक्तमें यंत्रोक्त निर्देश है । जो पठक यज्ञावर्णन की विद्या

जानना चाहते हैं, उनको इस तरहके निर्देश ध्यानमें रखना योग्य है ।

### लाल झण्डे ।

अब हमें लाल झण्डे लेकर तथा अपने यज्ञ साथ रखकर सब सैनिकोंको तैयार होना चाहिये । इस रीतिसे सब सैन्य सज्ज होकर राजा सैनिकोंको संबोधित करके ऐसा भाषण करें— " हे सार सैनिकों ! आप सभी इस राज्यके सब सेनापति हैं, आप ही इस राज्यके रक्षक हैं और आप ही इसके बढतिवाले हैं । जो इस भूमिकल पर मनुष्यमात्र हैं, उनमें जो दुर्बल हैं, सबका युद्ध है, [ दुःख नाम ] दुष्टताके साथ जिनका नाम प्रथित हुआ है, उनको दण्ड देना आप सब वीरोंका कर्तव्य है । इस भूमिकल का राज्य निश्चिंत करके लिये आप सुसज्जित हुए हैं । आपके हाथमें निषंधि नामक बड़ा शक्तिशाली यज्ञ है । उसकी सहायतासे आप हर एक शास्त्रको जीत सकते हैं, अतः दुष्ट लोगोंको दण्ड देना यह एवमात्र आपके कर्तव्य है, यह बात अपने विषयमें आर [ चतुर्भिः वपायत ] रहें और हम सभी न भूलें । [ मं० २ ] जिस कारण आपका कर्तव्य दुष्टोंको दण्ड देना है, सब कारण आपके हाथमें ऐसा कोई कर्म नहीं होना चाहिये कि जो दोषयुक्त हो । इस कारण आपको अपना आचरण सार्वभार देखना चाहिये । " ऐसा भाषण करके राजा अपने सैनिकोंको उत्साहित और तैयार करे ।

### बाणोंका स्वरूप ।

त्रि संधि यज्ञ के साथ बाणधारी सैनिक भी रहें । दोनोंही यज्ञाई शास्त्रपर एक साथ हो । बाण अनेक प्रकार के होते होंगे, परंतु यज्ञीय मंत्रमें निम्नलिखित बाणोंका उल्लेख है—  
अयोमुखा— जिनके अग्रभागमें फोलाव लगा है, जिससे बाणकी ओर तीक्ष्ण रह सकती है—

२ सूचीमुखा— सूईके समान अग्रभागवाले बाण । ये बाण शास्त्रके शरीरमें धीमेधामें घुस सकते हैं ।

३ चिकंटीमुखा— कंगरेके समान कटिदार मुखवाले



अथवा कंदपक्षी के मुख के समान मुखवाले । इससे विशेष मार-  
कता सूचित होती है ।

‘वातरंजनः’ और ‘कन्दयादाः’ ये शब्द बाणोंका बेग  
और उनकी मारकता सूचित करते हैं । इस प्रकारके बाण  
शास्त्रपर फेंके जाते हैं और साथ साथ त्रिशंखि वज्रका भी  
प्रयोग होता है । [ मं० ३ ]

‘त्रिशंखि वज्रका प्रयोग करनेवाली सेना जिनके पास रहेगी  
वह शास्त्रकी जीतनेमें निःसंदेह सफल होगी, क्योंकि इस  
सेनाके धीरे अपने जीवनका बलिदान करनेके लिये तैयार रहते  
हैं और युद्धसाधन भी इनके पास सर्वोत्तम रहते हैं । अतः  
इस सेनाके द्वारा समारम्भमें शास्त्रके बहुत मुद्दे गिराना संभव  
हो सकता है । [ मं० ४ ]

सेनापति अपनी ऐसी सेनाके साथ उठे और चढ़ाई करे ।  
युद्धमें अपने जीवनको आहुति देनेवाले सैनिक चाहिये । अन्यथा  
त्रिशंखि वज्रकी समाधान नहीं होता । ( त्रिशंखिः आहुतिः  
प्रिया ) त्रिशंखि वज्रकी इस तरहकी आहुति श्रेय होती  
है । ( मं० ५ )

इससे पता लगता है कि त्रिशंखि नामक वज्रका चलाना  
सुलभ नहीं है, शास्त्रमें इसका उपयोग करना बताया  
जाता होगा और इसलिये अपने जीवनकी आहुति देनेवाले  
धीरे ही त्रिशंखि वज्रके लिये श्रेय समझे जाते हैं ।

पूर्वोक्त तीसरे मंत्रमें बाणोंके ३ प्रकार बताये हैं । अब यहाँ  
दो प्रकार और बताते हैं—

४ विहितपदी— तीसरे पदवाले बाण, जो बाणका भाग  
फौलाद का होता है वह अत्यंत तीक्ष्ण होवे । यह विशेषण  
हर एक बाणके लिये प्रयुक्त हो सकता है ।

५ चतुष्पदी— चार पदवाले बाण । इसमें काटनेवाली  
धाराएँ चार हुआ करती हैं । पूर्वोक्त बाणोंके वर्णनके साथ इन  
दो प्रकारोंका विचार भी शूठक करे ।

ये सब बाण शास्त्रेनाकी पर्याप्त प्रमाणमें कटें । इस मंत्रमें  
‘कृत्वा’ नामक किसी बिनाशक प्रयोगका उल्लेख है । ‘कृत्वा’  
का अर्थ काटनेवाली । इस कृत्वाका वर्णन अथर्ववेद में अनेक  
स्थानोंपर आया है । इस प्रयोग का ठीक पता नहीं लगता  
कि यह क्या है । यहाँ त्रिशंखि वज्र धारण करनेवाली सेनाके  
साथ इस कृत्वाका प्रयोग होकर शास्त्रेनाका नाश होता है ।  
अतः यह एक सक्षमविशेष ही होगा । परंतु कृत्वा प्रयोगकी  
विशेष खोज करनी चाहिये । ( मं० ६ )

## धूर्वेका प्रयोग

धूर्वेके प्रयोगसे शास्त्रेनाको पराजित करनेका वर्णन ‘धूमाक्षी’  
शास्त्रद्वारा सातवें मंत्रमें किया है । यह धूर्वा किस तरह किया  
जाता है इसका पता नहीं चलता । परंतु शास्त्रेना खुले  
भेदात्मक होनेपर इस धूर्वेसे पीड़ित को जाती है, इसमें संदेह  
नहीं । धूमाक्ष प्रयोग ही यह है । धूर्वेका कुछ अन्न शास्त्रपर  
फेंका जाता है, ऐसा यहाँ प्रतीत होता है । शास्त्रकी सेनामें वह  
जाता है, गिरता है, फटता है और उसका धूर्वा धूर्वाके सैनिकों  
में फैलता है और वे चबरा जाते हैं । इस धूर्वे ( संतपतु )  
शास्त्रका सैन्य तप जाता है, संभवतः ज्वर चढ़ता होगा,  
केवल मनसिक संताप यहाँ अवस्थित नहीं है । परंतु शारीरिक  
ज्वरही अवस्थित है ।

इस धूर्वेसे जैसा ज्वर होता है वैसा ही कर्णशूलभी  
( कृष्णकर्ण ) होता होगा और वह शूल इतना भयानक होता  
होगा कि सैनिक ( काशतु ) आक्रोश करने लगते हैं । इतनी  
भयानक वेदना होती है । इतना प्रबल यह धूर्वप्रयोग है । इस  
धूर्वेके प्रयोग आँख, कंधे आदिको छट, शरीरको ज्वर,  
कानमें वेदना और सबका परिणाम शास्त्रेना का आक्रोश है ।  
इतने प्रबल धूर्वाक्ष जिसके पास होंगे वह विजयी होगा। उसमें  
कोई संदेह ही नहीं है । इस प्रकार विजय प्राप्त होनेपर सैनिक  
अपने लाल रंगवाले कपड़े खड़े कर देते हैं और विजयानंद  
प्रकट करते हैं । ( मं० ७ )

उक्त शीतसे शास्त्रेना काटी जानेपर उस सेनाके मुद्दोंको  
दिक्षु प्रशुपक्षी खाये । उनके मुद्दोंकी व्यवस्था करनेके लिये  
शास्त्रेनाका कोई न बचे । यह आशय यहाँ है । इसका आशय  
यहाँ है कि शास्त्रा इतना पराभव हो । ( मं० ८ )

संधि किंवा युद्ध मित्र राजाओंके सैनिक इकट्ठे हो जाय और  
मिश्रित किंवा मारसे शास्त्रपर आक्रमण करके शास्त्रकी परास्त  
करें । शास्त्रेना का नाश करनेके लिये त्रिशंखि वज्रका प्रयोग  
किया करें । ( मं० ९-१० )

त्रिशंखि वज्रसे सैनिकों में विलक्षण सामर्थ्य उत्पन्न होता  
है । देव भी इसी वज्रका आश्रय करते हैं फिर मनुष्य उसका  
आश्रय क्यों न करे ? ( मं० ११ ) शास्त्रनाशक इस वज्रसे  
देवोंने सब लोगोको जीत लिया था, अतः उस वज्रका प्रयोग  
अनुष्ठान करें और विजय प्राप्त करें । ( मं० १२-१५ ) इन  
मंत्रोंमें इतना ही कहा है कि इस त्रिशंखि नामक वज्रका उपयोग

देवमी करते हैं। इससे सूचित होता है कि मानव भी इसका प्रयोग किया करें।

शारङ्गी सेनाके बाणोंकी धारा खराब करना, उनके शस्त्रास्त्र निरुद्ध बनाना, उनके बाहुओं को काटना अथवा ऐसा अशक्त बनाना कि वे बाण न चला सकें। उनके अश्वोंको निकम्मा बनाना, उनका मार्ग अगुस्त करना। इस तरह शारङ्गका कार्य असफल करना चाहिये। (मं० १६)

शारङ्गे (तनुपाने) कवच तोड़ने या पाटने, उनके (परिपाणं) किले अथवा इसी प्रकारके संरक्षक साधन साम-रक्षक बनाने और उनको सब शोचनार्थ असफल करके उनको जितना चाहिये। (मं० १७)

शारङ्गेना के सामने शत्रु ही खड़ा रहे, हिनक शस्त्रास्त्रोंका आघात उनपर होता रहे, इस तरह अपनी सेनाका हमला शारङ्ग करना चाहिये और शारङ्गों परास्त करना चाहिये। (मं० १८)

### तमसाय का प्रयोग।

जमीनमें भ्रममें भी शारङ्ग (तमसा परिवारव) अंधकार का प्रयोग करनेकी सूचना है। वह ना पुरेका ही प्रयोग होगा। त्रिषधे भ्रममें गिरनेके घमान शारङ्गो कुछ भी दीक्षता नहीं होगा। यह चकार एही ममानक है कि इससे शारङ्ग कोई भी बचता ही नहीं। (मं० १९)

### संमोहनाय का प्रयोग।

आतं दीक्षते भ्रममें (सुगु) संमोहन करिका कहेते हैं। शारङ्गेना सबकी सब मोहित हो जाय। उनको कुछमा न लगे। वही कुछ कुछ शारङ्ग दीक्षती है, त्रिषधे शारङ्गेना में गिरनेके शारङ्गेना की मति मोहित हो जाती है। जब सब दीक्षितोंके चित्त भ्रान्त हो जायते तब उनसे पाव जाकर उनको

कोई काटे। (मं० २०) शार (मूढाः) मोहित होकर मूढ बन जाय। उनको कर्तव्य करनेकी सुक्ति न रहे। इस तरह मोहित होनेपर (वरं वरं जहि) उनके वीरोंको काटा जावे। क्योंकि मोहित अवस्थामें कोई उनके पास पहुंचा तो उसको कोई मय नहीं हो सकता। परंतु यह सब श्रमपात्रे साथ करना चाहिये, क्योंकि मोहनाश्रका परिणाम कुछ तब तक ही रहता है, अतः उतनी ही देरीमें अपना कार्य समाप्त करना चाहिये। (मं० २१)

शारङ्ग कवचघारी हो अथवा बिना कवच धारण किए आया हो, उसको पाशोंसे बांधकर नाश करना चाहिये। इस तरह नाश हुई शारङ्गी सेना भूमिमें गिर जाय और इस सुदोषो कुतो खा जाय। (मं० २२-२३) यही, पशो तथा अन्य प्रकारकी शारङ्गेना भी इसी तरह नष्ट हो जाय। (मं० २४-२५) युद्ध ऐसा करना चाहिये कि त्रिषधे एक ही शत्रु न बचे। शत्रुको निःशेष पराजित करना अथवा कट दालना चाहिये। क्योंकि पाव घोड़ा भी अवशिष्ट रहा हो वह फिर उठता और कट देता रहेगा। अतः युद्धमें उरुही पूरा नाश करना चाहिये।

शारङ्ग पूर्ण पराजय होवे। बाणोंसे शारङ्गे मर्म काटे जाय वह भ्रान्तचित्त होने और रोजेके सिवा उधे दूसरा कुछ भी न लगे। [मं० २६] त्रिषधिविषय ही बड़ा भारी प्रभावपूर्ण अनुनाशक पात्र है, उधेके प्रयोगसे शत्रुको पूर्णतया नष्ट किया जावे। (मं० २७)

इस तरह इस बाणमें इन सुक्तोंमें युद्धविद्याया उल्लेख किया है। पाठक इनके आवदनसे वेदकी सुटनीति ज्ञानें हैं। उनमें जो मन्त्र आग हो उसका ग्रहण करें।

# अथर्ववेदके एकादश काण्डकी विषयसूची

	पृष्ठांक		पृष्ठांक
१ ब्रह्मचर्यसे मृत्युको दूर करो	२	प्राणका मंडा चावुक	५०
२ अनुयाक, सूक्त और मन्त्र	३	अपनी स्वतंत्रता और पूर्णता	५१
३ ऋषि—देवता—छंद	४	प्राणकी मित्रता	"
४ ब्रह्मोदन—सूक्त	७	समयकी अनुकूलता	५२
५ ज्ञान बढ़ानेवाला अन्न	१५	प्राणरक्षक ऋषि	"
शत्रुओंको परास्त करना	"	वृद्धताका घन	"
शूरपुत्रा ह्यी, स्त्रियोंका कर्तव्य	१६	बोध और प्रतियोग	५३
प्राशितारः मा रिपन्, विवाह	१७	उन्नातिही तेरा मार्ग है	"
गृह्राज	"	यमके दूत	"
पोषक अन्न, घर कैसा हो	१८	अथर्वोंका सिर	५४
६ रुद्र—देव	१९	ब्रह्मलोककी प्राप्ति	५५
७ भय और शय्वका सूक्त	२४	देवोंका कोश,	५५
८ चिराद अन्न	२५	ब्रह्मकी नगरी, अयोध्या नगरी	५६
९ अन्नका महत्त्व	३१	अयोध्याका राम	"
१० प्राणकी विद्या	३२	उपनिषद्में प्राणविद्या	५८
११ प्राणका महत्त्व	३६	प्राणकी श्रेष्ठता	"
सत्यसे चलप्राप्ति	३८	प्राण बड़ासे आता है ?	५९
प्राणकी वृष्टि	३९	देवोंका घमंड	६०
प्राणसूक्तका सारांश	४२	प्राणस्तुति	"
ऋग्वेदमें प्राणविषयक उपदेश	"	प्राणरूप धागि	६१
असु—नीति	४३	प्राणका प्रेरक	६३
यजुर्वेदमें प्राणविषयक उपदेश	४४	अंगोंका रस	६३
गगन और प्राणशक्ति	४५	प्राण और अन्य शक्तियाँ	"
प्राणकी प्रतिष्ठा	"	पतंग	६४
सन्क्रम—प्राण, प्राणदाता अग्नि	४६	घस, रुद्र, आदित्य	"
प्राणके साथ इंद्रियोंका विकास	"	तेज लोक	६५
विश्वव्यापक प्राण	४७	१२ ब्रह्मचर्य	६६
लड़नेवाला प्राण	"	१३ ब्रह्मचर्य सूक्त	७२
सरस्वतीमें प्राण	४८	देवताओंकी अनुकूलता	७३
भोजन और प्राण, सहस्राक्ष अग्नि	"	देवताओंका साम्राज्य	७४
अथर्ववेदका प्राणविषयक उपदेश	४९	तीन और तीन देव	७६
में पित्रयी हैं	"	गुदादिस्थ—मंडप	७८
गंचमुखी महादेव	५०	तीन रात्रिना नियाम	"

श्रमका तत्त्वज्ञान	७९	१४ पापसे बचनेकी प्रार्थना	९०
मृत्यु स्वीकारनेकी सिद्धता	८०	१५ इस सूक्तका विचार	९२
तपसे उन्नति	८१	पृथ्वीस्थानीय देवता	"
ब्रह्मचारीकी हलचल	८२	अन्तरिक्षस्थानीय देवता	९३
ब्रह्मचारीकी भिक्षा	८४	सुभ्यानीय देवता	"
ब्रह्मचारीका आत्मयज्ञ	"	१६ उच्छिष्ट ब्रह्म सूक्त	९५
दो कोश, कोशरक्षक ब्रह्मचारी	"	१७ उच्छिष्ट सूक्तका आशय	९९
दो ब्रह्मि	८५	उच्छिष्टका अर्थ	"
ऊर्ध्वरेता मेघ और ब्रह्मचारी	"	उच्छिष्टमें रूप, उच्छिष्टमें नाम	"
बड़े ब्रह्मचारीका कार्य	"	उच्छिष्टमें कर्म,	"
छोटे ब्रह्मचारीका कार्य	"	उच्छिष्टमें काल	१००
आचार्यका स्वरूप	"	१८ शरीरकी रचना	१०१
आदर्श राज्यशासन	८७	१९ शरीरकी रचना-योग्यता	१०५
ब्रह्मचर्यसे राष्ट्रका संरक्षण	"	२० युद्धकी तैयारी	१०९
कन्याओंका ब्रह्मचर्य	"	२१ युद्धकी नीति	११३
पशुओंका ब्रह्मचर्य	८८	२२ युद्धकी रीति	११६
अपमृत्युको हटानेका उपाय	"	२३ भयानक युद्ध	१२०
औषधि आदिकोंका ब्रह्मचर्य	"	वज्रनिमाण	"
पशुपक्षियोंका ब्रह्मचर्य	"	लाल झण्डे, याणोंका स्वरूप	"
देवोंका तेज	८९	धूर्चका प्रयोग	१२१
उपदेशका अधिकारी	"	तमसाखका प्रयोग	१२१
		संमोहनाखका प्रयोग	"

ॐ

# अथर्ववेद

का

सुबोध माण्ड्य ।

द्वादशं काण्डम् ।

---

लेखक

पं० श्रीपाद लामोदर सातवलेकर,  
सारिथ्यवाचस्पति, वेदाचार्य, गीणसङ्घात  
अध्यक्ष-स्वाध्यायमंडल, 'आमन्दाधर्म' पारडी, (जि. मृत)

---

तृतीय वारं

संवत् २००९, शके १८७१, वन ११५०

## राष्ट्रका धारण ।

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।  
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कुणोत्तु ॥ १ ॥

[अध्याय ० १२।१।१]

“सत्यमत, सारल्यता, उग्रता, दक्षता, तप अर्थात् दृढ़सहनशीलता, ज्ञान, यज्ञ अर्थात् आत्म-समर्पण ये सात गुण मातृभूमि की धारणा करते हैं। अर्थात् जिन लोगोंमें ये सात गुण विशेष प्रमाणमें रहते हैं, वे लोग अपनी मातृभूमि की उत्तम रक्षा कर सकते हैं। और जो लोग इन गुणोंसे विरहित होते हैं, वे अपनी मातृभूमि की रक्षा नहीं कर सकते। मातृभूमि लोगोंके भूत, वर्तमान और भविष्य की सुरक्षा करनेवाली होती है। ऐसी वद हमारी मातृभूमे हमारे लिये हर एक दिशामें विस्तृत कार्यक्षेत्र उत्पन्न करे। ”



# अथर्ववेदका सुबोध भाष्य

## द्वादश काण्ड ।

यह बारहवां काण्ड अथर्ववेदके द्वितीय महाविभागका पाँचवां काण्ड है । इसमें पाँच सूक्त हैं, इनके अनुवाक, सूक्त और मंत्रसंख्या निम्नलिखित प्रकार हैं ।

अनुवाक	सूक्त	दशति	मंत्रसंख्या
१	१	५+(१३)	६३
२	२	५+(५)	५५
३	३	६	१०
४	४	४+(१३)	५३
५	५	७(५वाँ)	७३

३०४ कुल-मंत्रसंख्या

इन सूक्तोंके अग्निदेवता छन्द अप देखिये—

## अग्नि-देवता-छन्द ।

सूक्त	मंत्रसंख्या	अग्नि	देवता	छन्द
१	६३	अपवा	भूमि	विष्टुप्; १ मुरिलु; ४-६, १०, ३८, अथर्व० षट्पदा जगतो; ७ प्रस्तारपाँके; ८, ११ अथर्व० षट्पदा विराड्विष्टु; १ परानुष्टुप्; १२, १३, १५, पंचपदा शकरी ( १२, १३, अथर्वसामा ) १४ महाबृहती, १६, २१ एकावसाना सप्तो निष्टुप्, १८ अथर्व० षट्पदा त्रिष्टु. अनुष्टुप्गर्मातिशकरी, १९, २० उगावृहती ( २० विराट् ) २३ अथर्व० षट्पदा विराड्विष्टुजगती, २३ पंचपदा विराड्विष्टुजगती, २४ पंचपदा अनुष्टुप्गर्मा जगती, २५ अथर्व० सप्तपदा उष्णिगनुष्टुप्गर्मा शकरी; २६-२८, ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५३

५४, ५६, ५९, ६३, अनुष्टुभ. (५३ पुरो बाह्वी)।  
 ३० विराट्गायत्री, ३२ पुरस्ताज्ज्योतिः । ३४  
 त्र्यम्ब० षट्पदा त्रिष्टुब्धद्वितीयगर्भतिजगती, ३६  
 विपरीतपादलक्ष्मी पक्तिः, ३७ त्र्यम्ब० षट्पदा शकरी,  
 ४३ त्र्यम्ब० षट्पदा ककुमती शकरी, ४२ स्वराट्ठपुष्टा  
 ४३ विराट्स्तारपक्तिः, ४४, ४५, ४९ जगत्, ४६  
 षट्पदा अनुष्टुब्धगर्भा पराशकवरी, ४७ षट्पदा त्रिणि  
 गनुष्टुब्धगर्भा परातिशकवरी, ४८ पुरोनुष्टुप्, ५३ त्र्यम्ब०  
 षट्पदा अनुष्टुब्धगर्भा ककुमती शकवरी, ५२ षट्पदा  
 अनुष्टुब्धगर्भा परातिजगती, ५७ पुरोतिजगता जगती,  
 ५८ पुरस्ताद्वृहती, ६१ पुरोबाह्वी ६२ पराविराट् ।

२ ५५ श्रुतु क्षति  
 मन्त्रोक्त द्रवता  
 २१—३३ सूक्तु

त्रिष्टुप्, २—५, १२, २०, ३४—३६, ३८—४१, ४३ ५१,  
 ५४ अनुष्टुभ ( १६ ककुमती परावृहती, १८  
 निचूत्, ४० पुरस्तात्ककुमती ) ; ३ आस्तात्पक्ति  
 ६ सुरिगार्थी पक्तिः, ७, ४५ जगती, ८, ४८, ४९  
 भुरिज, ९ अनुष्टुब्धगर्भा विपरीतपादलक्ष्मी पक्तिः,  
 ३७ पुरस्ताद्वृहती, ४२ त्रिपादेकावसाना सुरिगार्थी  
 गायत्री, ४४ एकावसाना द्विपदा आर्षी वृहती।  
 ४६ एका० द्विपदा० साम्नी त्रिष्टुप्, ४७ षट्पदा  
 बाह्वीतैराजगर्भा जगती, ५० उपरिष्ठद्विराट् वृहती,  
 ५२ पुरस्ताद्विराट् वृहती, ५५ वृहती गर्भा ।

३ ६० यमः स्वर्गः, ओङ्कनः  
 क्षानि

त्रिष्टुप् १, ४२, ४३, ४७ भुरिज । ८, १२, २३, २९, ३४  
 जगत्, ३३, १७ स्वराट्गार्थी पक्तिः । ३४ विराट्  
 गर्भा, ३९ अनुष्टुब्धगर्भा, ४४ परावृहती, ५५—६०  
 त्र्यम्ब० षट्पदा० शक्रमत्यतिजागत् शकवरीति क्षान्  
 रक्षालैर्गर्भातिष्ठति ( ५५, ५७—६० कृति ५६  
 विराट् कृति ) ।

४ ५३ कश्यप यथा

अनुष्टुप्, -७ भुरिज, २० विराट्, त्रिणिः वृहत् गर्भा; ४२ वृह  
 ती गर्भा ।

५ ७३ अथर्वोपाख्यं मन्त्रगवि  
 १ पर्वोप १

१ प्राजापत्याऽनुष्टुप्, २, ६ भुरिषद्याऽनुष्टुप्, ३ षट्  
 पदा स्वराट्पञ्च, ४ आमुषी अनुष्टुभः, ५ क्षणी  
 पक्तिः ।

७ ११ ५

७ साम्नी त्रिष्टुप्, ८, ९ आर्षी अनुष्टुभ  
 ( ८ भुरिज ), १० त्रिणि ( ७—१० एकावसा )  
 ११ आर्षी निचूत्पतिग ।



१	पद्म	१९	१२ विहासविषया गावत्री; १३ आगुरी अनुष्टुभः; १४, २६ छान्दी उच्छिष्टः; १५ गावत्री; १६, १७, १९, २० प्राजापत्यानुष्टुभः; २८ वातुपी जगती; २१, २५ छान्दी अनुष्टुभः; २२ छान्दी बृहती, २३ वातुपी त्रिष्टुप्; २४ आगुरी गावत्री; आपी उच्छिष्टः ।
४	"	११	२८ आगुरी गावत्री; २९, ३० अनुष्टुभः; ३० छान्दी अनुष्टुभः; ३१ वातुपी त्रिष्टुप्; ३२ छान्दी गावत्री; ३३, ३४ छान्दी बृहती; ३५ मुनिछान्दी अनुष्टुप्; ३६ छान्दी उच्छिष्टः; ३८ प्रतिष्ठा गावत्री ।
५	"	८	३९ छान्दी पङ्क्तिः; ४० वातुपी अनुष्टुभः; ४१, ४६ मुनिछान्दी अनुष्टुप्; ४२ आगुरी बृहती; ४३ छान्दी बृहती; ४४ विहितसम्प्रदानुष्टुप्; ४५ आपी बृहती ।
६	"	१५	४७, ४९, ५१-५३, ५७-५९, ६१ प्राजापत्या-नुष्टुभः; ४८ आपी अनुष्टुप्; ५० छान्दी बृहती; ५४, ५५ प्राजापत्याच्छिष्टः; ५६ आगुरी गावत्री ६० गावत्री ।
७	"	१०	६२-६४, ६६, ६८-७० प्राजापत्यानुष्टुभः; ६५ गावत्री, ६७ प्राजापत्या गावत्री, ७१ आगुरी पङ्क्तिः, ७२ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; ७३ आगुरी उच्छिष्टः ।

इस तरह इन सूक्तों के ऋषि, देवता और छन्द हैं । यहाँ प्रत्येक सूक्तकी देवता विभिन्न है । अतः प्रत्येक सूक्तका अर्थ और भावार्थ देकर उसका विवरण साथ साथ ही दिया जायगा । इसमें पहिला सूक्त मानुष्यिका सूक्त है, यह ब्रह्मा मनोरंजक और बौद्ध प्रद है, यह अब देखिये—







# अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

द्वादशं काण्डम् ।

मातृभूमिका सूक्त

[ १ ]

सुतं बृहद्वृतमुग्रं दीक्षा उपो ब्रह्म युञ्जः पृथिवीं धारयन्ति ।

सा नो भूतस्य भर्त्यस्य पत्न्युहं लोकं पृथिवी नः कृणोत

॥ १ ॥

अर्थ— ( बृहद् सत्यम् ) बड़ी या जटिल सत्यनिष्ठा ( ऋतम् ) यथार्थ ज्ञान, ( उग्रम् ) क्षात्र तेज, ( उपा ) धर्मो-  
पठान या धर्मका पालन, ( दीक्षा ) हर एक कामके करनेमें चतुराई—दक्षता, ( ब्रह्म ) बड़ा ज्ञान, ( युञ्ज ) यज्ञ दान  
अथवा स्वाग ये गुण ( पृथिवीम् ) भूमि देश या राष्ट्र ( धारयन्ति ) पालन पोषण और रक्षण करते हैं । [ सा पृथिवी ]  
यह मातृभूमि ( भूतस्य ) प्राचीन और ( भर्त्यस्य ) भविष्यके तथा बीचमें आ जानेवाले वर्तमान समयके सब पदार्थोंके  
[ पत्नी ] पालन करनेवाली, ऐसी वह हमारी मातृभूमि ( नः ) हमको ( उहं ) बड़ा भारी ( लोकं ) स्थान ( कृणोत )  
करे ॥ १ ॥

भावार्थ— जो मनुष्य यह चाहता हो कि राष्ट्रपर अपनी सत्ता, अधिकार, बना रहे उसमें निम्नलिखित गुणोंका होना  
आवश्यक है, सत्यप्रियता, उद्योगशीलता, महत्त्वाकांक्षाके साथ कार्य आरम्भ करने और उसको सिद्ध करनेका उत्साह, वस्तुस्थिति-  
का उत्तम ज्ञान, धैर्य, साहस और तेजसिता, धर्मनिष्ठा, ईश्वरोंका निमग्न, प्रयोजक पद्धतों और व्याख्याय सुनना, शान्त स्वभाव  
और अवाञ्छित, परेषकारिता, ईश्वरभक्ति, अक्षीकार किन्हे हुए कार्यमें दक्षता, निवृत्तानुसार चतनेका अभ्यास, स्वयं धर्मचर्य,  
सर्व सहायक पदार्थोंका विपुल संग्रह, आवश्यक एक दुसरेका सरकार करना, एकतासे रहना, दुःख और आपत्तिमें वदे हुए  
सोमोंको उदावता करना, यज्ञ अर्थात् स्वार्थसंग्रह करना, मातृभूमिपर अटल निष्ठा इत्यादि । जिन मनुष्योंमें ये गुण होते हैं वेही  
अपने राज्यको संभाल सकते और नया राज्य प्राप्तकर सकते हैं । इस पहिले मन्त्रमें राष्ट्रसंरक्षक मनुष्योंके लिये आवश्यक गुणों  
का स्पष्ट उल्लेख कर यह प्रार्थना की गयी है कि—हे मातृभूमि ! हम पूर्ण से पूर्ण उत्तम गुणोंसे युक्त हो तेरा संरक्षण करते  
हैं और सदा ऐसा करनेको तैयार हैं; तू अपने आधारसे भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालोंके सम्पूर्ण पदार्थोंका उत्तम  
प्रकारसे पोषण करनेमें समर्थ है । अब कि हम रात दिन तेरा संरक्षण करते हैं, तू भी हमारी कीर्ति बसानेका कारण हो ॥ १ ॥

असंवाधं वेक्ष्यतो मानवानां यस्या उद्धतः प्रवर्तः समं बहु ।

नानावीर्या ओषधीर्या विभर्ति पृथिवी नः प्रयत्नां राक्षसतां नः

॥ २ ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूषुः ।

यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वेष्वे दधातु

॥ ३ ॥

यस्याश्वतंसः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संवभूषुः ।

या विभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्नं दधातु

॥ ४ ॥

अर्थ- ( यस्या ) जिस हमारी मातृभूमि ( मानवानां ) मनुष्यों ( म[-व-] ज्यतः ) मनुष्यों ( प्रवर्तः ) नीचा उच्छ्वा रक्षने पर भी परस्पर ( बहु ) बहुतही ( समं ) समता ( असंवाधं ) और ऐश्वर्य या मैत्रीभाव है; ( या ) जो ( नः ) हमारी ( पृथिवी ) मातृभूमि ( नानावीर्याः ) रोगोंको दूर करनेवाली अनेक उत्तम गुणयुक्त ( ओषधीः ) वनस्पति ( विभर्ति ) धारण करती है, वह मातृभूमि ( नः ) हमारी ( प्रयत्नां ) कीर्ति या वशकी वृद्धि ( राक्षसतां ) साधन करे ॥ २ ॥

( यस्यां समुद्र ) जिस हमारी मातृभूमिमें महासागर ( उत ) और ( सिन्धुः ) अनेक नद नदी, ( आपः ) हरने शील और ताक लक्ष्यो बहुत हैं, ( यस्याम् ) जिस मातृभूमिमें ( अन्नम् ) सब भौतिक अन्न और फल तथा शाक हवादि बहुत पचते उपजते हैं, ( यस्यां इदं प्राणत् ) जिसमें समीप, ( एजत् सिन्वति ) प्राणी चलते फिरते हैं, जिसमें, ( कृष्टयः ) हृषीकल ऐसी करनेवाले मनुष्य, शिवरक्षसविदारद कारीगर तथा उद्योगशील जन ( संवभूषुः ) बहुत संगठित हुए हैं, ( या ) इस तरह की ( भूमिः ) हमारी मातृभूमि ( नो ) इसको ( पूर्वेष्वे ) समस्त ओग देशों ( दधातु ) दे ॥ ३ ॥

[ यस्याम् ] जिस हमारी मातृभूमिमें [ कृष्टयः ] उद्यमशील तथा शिवरक्षसतुरीमें निपुण निज परिश्रमसे लेती करनेवाले [ संवभूषुः ] हुए हैं, [ यस्याः पृथिव्या चरता प्रदिशः ] जिस भूमिमें चार दिशाओं और चार विदिशाओं ( अन्नम् ) खावल, गेहूँ आदि उपजाती हैं, ( या बहुधा ) जो अनेक प्रकारसे, [ प्राणत् एजत् ] प्राण धारण करनेवालों और चलने विरनेवालोंका [ विभर्ति ] धारण-पोषण करती है ( सा न भूमिः ) वह हमारी मातृभूमि हम सब के लिये ( गोपु अति अन्नं दधातु ) गन्ना और जलादिमें रखकर पारण पोषण करे ॥ ४ ॥

भावार्थ- जिस हमारे राष्ट्र या देश के मनुष्यों में परस्पर होड़ नहीं है, प्रयत्न करने में पूर्ण ऐश्वर्यमाय है । विशेषकर हमारे जगुआ लोगों में अर्थात् हमारी सब प्रकारकी रक्षा करनेवाले कोषप्रतिष्ठों में परस्पर ऐश्वर्य मत है और वे एकत्र हो मिलकर सब काम करते हैं । जिस भूमिमें उत्तम प्रकार की पुष्टिदारक रोगविनाशक अनेक औषधियाँ, और सब तरह की वनस्पतियाँ पैदा होती हैं, वह हमारे जिस मातृभूमि हमारी कीर्ति और वशको दिगन्तरमें फैलानेके लिये धारणीभूत हो ॥ २ ॥

जिस हमारी मातृभूमि में सागर, महासागर, नद, नदी, तालव, झील, बरानी, नहर, झरने हवादि कीर्तियों परने मिलनेके बड़े बड़े लाभ हैं और जिस भूमि में सब तरहके विपुल अन्न पैदा होकर सबको खानेको मिलता है । जिस में सब प्रणी मान दुष्टो हैं तथा जिसमें कारीगर लोग कलाकौशलमें कुशल हैं, विज्ञान भोग खेतीके काम में प्रवीण हैं और अन्न भोग भी उत्तम हैं, वह हमारी मातृभूमि हमें सदैव उत्तम अन्न भोग प्रदायि और एश्वर्य देनेवाली होने ॥ ३ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें अन्नान् कषायों तथा चरान् चरान् कारियों प्रजन और परिश्रम भोग होते जाते हैं, और जिस भूमि को चारों दिशा और विदिशाओं में सर्वत्र उत्तम धन धान्य वृक्ष उत्पन्न होता है, जिसके कारण मनुष्यों वस्तु वशी आनेके वनस्पति और अन्नम्, औषधादिकों को उत्तम प्रकार से सब और भोजन होता है, वह हमारी मातृभूमि हमें सर्वत्र लाभ देने और अन्न दान दिनेवाली होने ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानम्पर्वतयन् ।

गवामश्वानां वयसश्च विष्टा मगं वर्चः पृथिवी नो दधातु

॥ ५ ॥

विश्वभरा वसुधांतीं प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगती निवेशनी ।

वैश्वानरं विश्वंती भूमिरग्निमिन्द्रंरूपमा द्रविणे नो दधातु

॥ ६ ॥

यां रक्षन्त्यस्वमा विश्वदानां देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।

सा नो मधु म्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा

॥ ७ ॥

अर्थ—( यस्याम् ) जिस हमारी मातृभूमिमें पुराने समयके आर्य लोग ( पूर्व जनाः ) बल, बुद्धि, वीर्य, ऐश्वर्यसे प्रसिद्ध सब भांति पूर्णवीर्य पुरुष [ विचक्रिरे ] विक्रम, पराक्रमरूप कर्तव्य अच्छी तरह करते रहे हैं, [ यस्यां देवाः ] जिसमें विद्वान् और वीर ( असुरान् ) हिंसानिरत चाल अर्थात् राक्षसों स्वभाववाले लोगोंकी [ अम्पर्वतयन् ] जीतते रहे हैं। जो [ गवां अश्वानां वयसः च ] गौंसे, घोड़े और पशुपक्षियोंको [ वि-ष्टाः ] विशेष सुख देनेका स्थान है, [ सा नः पृथिवी ] वह हमारी मातृभूमि हमको [ भगम् ] ऐश्वर्य और [ वर्चः ] तेज, वीर्य, शौर्य, विज्ञान ( दधातु ) दे ॥ ५ ॥

जो ( विश्वभरा ) सबकी पोषण करनेवाली [ वसुधांती ] सोना, चांदी, हीरा, पद्मा आदि अनेक रत्नोंकी खान है, [ प्रतिष्ठा ] सब वस्तुओंकी आधारभूत [ हिरण्यवक्षा ] सुवर्ण आदिकी खान जिसके वक्षस्थलमें है, [ जगती ] जितने जंगम जीव या पदार्थ हैं उनकी [ निवेशनी ] बसानेवाली ( वैश्वानरम् ) सब भांतिके मनुष्योंके समूहसे भरा हुआ राष्ट्र या देश ( विश्वंती ) धारण करती हुई हमारी ( भूमिः ) मातृभूमि ( अग्निम् ) अन्नपानो, नेता ( इन्द्र-रूपमा ) शरवर्षोंने नाश करनेवाले शूरवीर और ज्ञानियोंको तथा [ नः ] हमको ( द्रविणे ) घन [ दधातु ] धारण करनेवाली हो ॥ ६ ॥

अर्थ—[ अस्वप्नाः ] निद्रा, तन्द्रा, आलस्य आदि रहित [ देवाः ] विद्वान् वीर और कुशल जन [ यां विश्वदानाम् ] सब प्रकारके पदार्थोंको देनेवाली और जो हमारे लिये [ मधुम्रियं च दुहाम् ] मधुर म्रिय दितकर पदार्थोंको दुहनेपर देती है, [ पृथ्वीं भूमिम् ] बड़ी या विस्तृत हमारी मातृभूमिकी [ अप्रमादम् ] प्रमादरहित हो [ रक्षन्ति ] रक्षा करते हैं, [ सा ] वह भूमि [ नः ] हमको [ वर्चसा ] शूरता, वीरता, ज्ञान तथा ऐश्वर्यसे [ उक्षतु ] हमें पूर्ण करे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस हमारी मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने—प्राशस्त्यों ने अपने ज्ञानद्वारा, क्षत्रियोंने अपनी वीरताद्वारा और वैश्योंने अपनी वाणिज्य—कुशलता द्वारा और कारीगरोंने अपनी कारीगरोंसे अनेक बड़े बड़े पराक्रम किये थे, जिस हमारे देशके विद्वान्, शूर वीर व्यापारी और वारंगर लोगोंने मिलकर सम्पूर्ण हिंसक, आततायी, घातकी और दुष्ट लोगोंको नष्ट किया था और जो सुन्दर भूमि सब पशुपक्षियों की भी उत्तम निवास-स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमारा ज्ञान, विज्ञान, शौर्य, तेज, वीर्य और ऐश्वर्य पूर्ण रूपसे बढ़ानेवाली होवे ॥ ५ ॥

सबका पोषण करनेवाली, रत्नोंकी धारण करनेवाली, सब पदार्थोंको आधार देनेवाली, सुवर्ण आदिकी खान रखनेवाली, यावत् स्थावर जंगम जीवों या पदार्थोंको स्थान देनेवाली, सब प्रकारके मनुष्योंसे युक्त राष्ट्र या देशकी रक्षामें सदायस देनेवाली, मातृभूमि है वह हमारे नेता, ज्ञानियों और वीर पुरुषों तथा हमको सब प्रकारके ऐश्वर्य देनेवाली हो ॥ ६ ॥

निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, अज्ञान आदि दोषरहित सब बातोंमें खुर और उद्यमी, पोषकारी, विद्वान्, शूर और घनिक लोग सब पदार्थोंकी देनेवाली जिस विस्तृत भूमिकी प्रमादरहित हो रक्षा करते हैं, वह हमारी मातृभूमि सब उत्तम और म्रिय तथा दितकारी पदार्थोंसे हमें पूर्ण सुवर्ण करे, और हममें ज्ञान, शूरता और घन उत्पन्न कर हमारा रक्षा करे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽर्धं सलिलमग्र आसीद् यां मायामिरेन्वचरन् मनीषिणः ।

यस्या हृदयं परमे व्योमन्तस्त्वेनाशृतममृतं पृथिव्याः ।

सा नो भूमिस्त्रिपिं बलं राष्ट्रे दधातुत्तमे

॥ ८ ॥

यस्यामापः परिचुराः समानीरहोरात्रे अप्रमादुं क्षरन्ति ।

सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा

॥ ९ ॥

यामुखिनावर्मिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे । इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः ॥

सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः

॥ १० ॥ १

अर्थ—[ या ] जो भूमि [ अग्ने ] पहले [ सलिलं अग्नि ] जलके भीतर [ अर्णवे ] समुद्रमें ( आसीत् ) थी, [ यस्याः पृथिव्याः हृदयम् ] जिस पृथ्वीका अन्तर्भाग [ अमृतं इव ] अमर स्थानके सदृश [ परमे व्योम् ] सगंध संस्पर्श के बलसे [ मा-वृत्तम् ] व्याप्त है, जो भूमि [ परमे व्योमन् ] महत् आकाशमें है, [ याम् ] जिसकी [ मायानिः ] दुःशलताओंके साथ [ मनीषिणः ] मनमशील विद्वान् [ अन्वचरन् ] अच्छी तरह सेवा करते आये हैं, [ सा नः भूमिः ] वह भूमि हमको [ उत्तमे राष्ट्रे ] उत्कृष्ट राज्यमें [ विपिम् ] तेज या दीप्ति, [ बलम् ] दूरता, वारता, शारीरिक बल किंवा सम्पन्न [ वृषाम् ] धारण कर ॥ ८ ॥

[ यस्याम् ] जिस भूमिमें [ परिचुराः ] सब ओर जानेवाले परिव्राजक मन्वासी [ मापः ] जलकी अपि [ समानीः ] समष्टि हों, [ अहोरात्रे ] रात दिन [ अप्र-मादम् ] सावधान रह [ क्षरन्ति ] परिभ्रमण करते हैं, [ नयो] और भी जो [ भूरि-धारा ] अनेक तरहका [ पयः ], खाने तथा पीनेकी वस्तु-मोजब या वेव आदि दूध, घी इत्यादि [ दुहाम् ] देवी है, [ सा नो भूमिः ] वह हमारी मातृभूमि [ वर्चसा ] तेज, प्रताप, बल, वीर्य आदि [ उक्षतम् ] पकाये ॥ ९ ॥

[ याम् ] जिस भूमिका [ अविर्बो ] अचिण्न अर्थात् और इन्द्रादौ दूर होने [ अमितामाम् ] मापन किया, [ यस्यां विष्णुः ] जिसमें पादकने [ विचक्रमे ] मति आतिशय प्रकाशन दिखाया है, [ इन्द्रः ] शत्रुविनाशक [ शचीपतिः ] शचीपति कर्मकुशल ज्ञानवान् पुरुषने [ यां अग्रमन अनमित्राम् ] जिसको शत्रुहृत् किया है, [ सा नः माता भूमिः ] वह माताके समान हमारी मातृभूमि [ पुत्राय पयः ] जगत् पुत्रको दूध देवी है वेसाही [ पुत्राय मे ] हम सब पुत्रोंको [ विचक्रताम् ] खानेपीनेकी वस्तु प्रदान करे ॥ १० ॥

भावार्थ— जो भूमि पहले समुद्रके गर्भमें था । जिसके अर्णवे, भीतर परमेश्वर ब्रह्मा है, जो आकाशमें अमर है और जिसकी सेवा विचारवान् लोग विशेष अवगमने, गुण प्रयत्नसे तथा दुःशलतासे करते हैं, वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें तेजस्विता, विद्वान्, दूरता, शक्तिमत्ता इत्यादि गुण सदैव बढानेवाली हो ॥ ८ ॥

जैसे मंत्रोंका जल प्रजिमात्रवी एक समान मिलता है, वैसही जिसका उपदेश सबके लिये एक समान होता है वैसे पठन-पाठन मन्वासी जिस भूमिमें रात दिन उत्तम आचारण न छोड़ते हुए सदैव दूध समान सेवार्थ करते रहते हैं और जो भूमि हमें १२ प्रकारके अन्न-फल देती रहती है, वह हमारी मातृभूमि हमारी तेजस्विताका द्वारा हमारी रक्षा करे ॥ ९ ॥

योगोंका पालन करनेवाले और शत्रुओंका हनन करनेवाले लोग जिसकी सदैव मलाई किया करते हैं, जिसके लिये पत्तन दानों लोग बड़े बड़े वाक्पम करते हैं और ज्ञानी दूर पुरुष जिसे अपना मित्र समझते हैं, वह हमारी भूमि जिस प्रकार मला-मले बरबोरी दूध वितरण दे, उसही प्रकार हमें संपूर्ण उपदेशके पदार्थ देवे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरुणं ते पृथिवि स्योनमस्तु ।

वभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् ।

अजीताऽहंतो अक्षतोऽर्धं पृथिवीमहम्

॥ ११ ॥

यत् ते मर्ष्यं पृथिवि यन्च नम्यं यास्तु ऊर्जस्तन्वः संपभूयुः ।

तासु नो धेह्यमि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।

पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु

॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्ववे विश्वकर्मणः ।

यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् ।

सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना

॥ १३ ॥

अर्थ— हे [ पृथिवि ते गिरयः हिमवन्तः पर्वताः अरुणं च ते ] मातृभूमि । पहाड, बर्फसे ढके पर्वत और वन तुझे [ श्योनम् ] सुखसे देनेवाले [ अस्तु ] हरे, उन पर्वतोंमें शरद न रहे, वे शरद रहित हों, इसलिये तुम [ वभ्रुम् ] सबका भरण पोषण करनेवाली हो, [ कृष्णाम् ] कृषिकर्मके उपयुक्त हो, [ रोहिणीम् ] वृक्षादिकोंकी उपज लेवाली हो, [ विश्वरूपां ] सब तरहका रूप धारण करनेवाली, [ ध्रुवाम् ] स्थिर [ पृथिवीं ] बड़ी विस्तृत ऊपरी चौड़ी [ इन्द्र—गुप्ताम् ] धीरोसे रक्षित [ भूमिम् ] मातृभूमिको [ अजितः ] जिसे शत्रुओंने नहीं जीता, [ अहः ] युद्ध आदिमें जिसे हानि नहीं पहुँची, [ अक्षतः ] कहींपर किसी क्षतमें जिसे घाव नहीं हुआ, [ अर्धं अर्धं हाम् ] ऐसा रहकर मैं इसका अधिष्ठाता या स्वामी होऊंगा ॥ ११ ॥

हे [ पृथिवि यत् ते मर्ष्यम् ] भूमि! जो मेरे मर्ष्यमें है [ यत् च नम्यम् ] जो नामित्थान है, ( ते याः ऊर्जाः ) जो तुम्हारा बलयुक्त या अथ आदि पोषणयुक्त [ तन्वः ] क्षीररपाती अर्थात् [ मनुष्यसंबभूयुः ] आपसमें संगठित हुए अर्थात् एका किए हुए हैं, [ तासु ] उन उनक समाजमें ( नः ) इसको [ अधिधेदि ] स्थापित कर और इस तरह [ नः पवस्व ] हमारी रक्षा कर, [ भूमिः ] भूमि! तुम हमारी [ माता ] माता हो [ अहम् ] हम अस [ पृथिव्याः पुत्रः ] पृथिवीके पुत्र हैं, [ भरकसे या दुःखसे ओछाण या रक्षा करे वह पुत्र है । भूमि, हम मेरे दुःखको दूर करेग इससे पुत्र हैं ] [ पर्जन्यः ] जलकी घुट्टिसे पोषण करनेवाले मेध हमारे पिता अर्थात् शरपसंपत्तिसे पानन करनेवाले हैं [ स उ नः ] वह हमें निधाय [ पिपर्तु ] पालन करे ॥ १२ ॥

( यस्याम् भूम्याम् वेदिं परिगृह्णन्ति ) जिस भूमिमें सब ओरसे वेदीका स्वीकार करते हैं । ( यस्यां विश्वकर्मणः ) जिसमें उच्चतक साधन करनेवाले सब लोग ( यज्ञं तन्वते ) परोपकारका ऐसा यज्ञकार्य करते हैं, जिसमें भले लोगोंका सत्कार हो या ऐसे लोगोंका सत्संग हो, [ यस्यां च पृथिव्यां पुरस्तात् ] जिस पृथिवीमें पहले [ ऊर्वा ] उच्चतक करनेवाले, [ शुक्राः ] वीर्ययुक्त ( आहुत्याः ) आहुतिके साथ ( स्वरवः ) यज्ञीय यूप होते हैं, जहाँ अच्छे अच्छे उपदेश [ मीयन्ते ] कहे जाते हैं, [ सा नो भूमिः वर्धमाना ] वह पृथ्वी हम लोगों द्वारा बढाई गई हो, हम लोगोंकी [ वर्धयतु ] उच्चतक करे ॥ १३ ॥

आवायं— हे मातृभूमि! तुझपर जो पहाड और बाढ़के ढके हुए पर्वत हैं तथा जो छाटे चटे जंगल हैं, उनमें तेरे शरद कभी न रहे, तू शरदरहित होकर सबका पोषण करनेवाले उपजाऊ उत्तम वृक्षादिसे युक्त, स्थिर और वरोधारा रक्षित हो ऐसी सर्वगुणसम्पन्न तुझपर हम शरदों द्वारा पराजित न होने हुए तथा मृत अथवा घायल न होते हुए आनन्दसे रहे और महान् पदवीको प्राप्त हों, शत्रुको अपने अधिभारमें रखें ॥ ११ ॥

यो नो द्वेपत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासात्मनसा यो वधेन ।

तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरी

॥ १४ ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं विभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः ।

तव्रेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्स्यो

रश्मिभिर्नातनोति

॥ १५ ॥

ता नः प्रजाः सं दुहतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम्

॥ १६ ॥

अर्थ- हे [पृथिवि यः नः द्वेपत्] मातृभूमि! जो हमसे द्वेप करता है, (यः पृतन्यात्) जो सेनासे हमारा पराभव करावाहता है, (यः मनसा) जो मनसे हमारा अग्निष्ट चाहता है (अभिदासात्) जो हमें दास या गुलाम बनाता चाहता है, (वधेन) जो वध कर हमें कष्ट पहुँचाना चाहता है, हे (पूर्वकृत्वरी) पहिलेसे ही शत्रुनाश करनेवाली मातृभूमि! (तं रन्धय) उसका नाश कर ॥ १४ ॥

हे (पृथिवि) हमारी मातृभूमि! जो (मर्त्याः) मनुष्य (रजज्जाताः) तुम्हारे ही में पैदा हुए हैं, (त्वयि चरन्ति) तुम्हारे ही में चलते फिरते हैं, जिन (द्विपदः) दो पाँववाले अर्थात् मनुष्योंको (चतुष्पदः) चौपायोंको [त्वं विभर्षि] धारण पोषण करते हो, [येभ्यः मर्त्येभ्यः] जिन मनुष्योंके लिये [अमृतम्] जीवनका हेतुभूत [ज्योतिः] तेज [उद्यन्त्स्यो रश्मिभिः] उदित हुआ सूर्यकिरणोंसे [आतनोति] विस्तार करता है, [हमे] ये हम लोग [पञ्च मानवाः] पाँच प्रकारके मनुष्य [व] तुम्हारी सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे [नः पृथिवि ताः] हमारी मातृभूमि! हम सब लोग तुम्हारी [प्रजाः] प्रजा [समग्राः] सब [वाचः] वाणी [मधु] मधुर प्रेमपूर्ण [संदुहताम्] एकत्र हो धोळ, [मह्यम्] हमको भी मधुर वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि! तेरे भीतर और ऊपर जो जो पदार्थ हैं उन सबकी और तेरी, शत्रुओंके हाथसे रक्षा करनेके लिये जो विद्वान्, बलवान् और धनवान् मनुष्य एकत्र होकर यत्न करते हैं, उनके उस संघमें हमें स्थान दे और हमारी रक्षा कर, क्योंकि हमारी माता और हम तेरे पुत्र हुआसे छुड़ानेवाले हैं, इस पञ्चन्य (मेघ) द्वारा घान्यादिक उपपन्न होते हैं, इसलिये हम सबका वह पिता (पालक) है, यथार्थमें वह नियमित समयमें वर्षा कर हमारी रक्षा करे ॥ १३ ॥

जिस भूमिके लोग यज्ञकी वेदके पाठ आकर हवन करनेके लिये तैयार रहते हैं, जिस भूमिके लोग मदैव परोपकार और उन्नतिके काम करते रहते हैं और जिसमें निषेध कर उन्नतिकारक तथा बलात्पादक यज्ञ किये जाते हैं, इसी प्रकार सहाय देनेवाले मापण और उपदेश मदैव किये जाते हैं । हमारे द्वारा उन्नति पानेवाली वह हमारी मातृभूमि हमारे लिये सब प्रकारसे उन्नतिके कारण हो ॥ १३ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हमसे सम्बन्ध द्वारा द्वेप करते हैं, जो हमारे वैरी सेना के हमपर बर्बाई कर हमें जीतना चाहते हैं, जो हमारा नाश करनेके लिये टोप बैठे हैं, जो हमें परतन्त्र और गुलाम बनाना चाहते हैं, जो मनसे हमारा अग्निष्ट सोचते रहते हैं, हमारे उन सब शत्रुओंका पूर्णरूपमें सत्यानास कर ॥ १४ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो हम लोग तेरेसे उत्पन्न हो, तेरे ही आश्वारसे अपने सम्पूर्ण व्यवहार करते हैं; जो सम्पूर्ण पशु, मही, मनुष्य और अन्य सम्पूर्ण प्राणिमात्रको तू आश्वार देकर पालती पोषती है; जिस हमारे जीवनके लिये यह देदीप्यमान सूर्य अग्निः अमृतमय किरणोंको चारों ओर फैलाता रहता है; ये हम पाँच प्रकारके मनुष्य विद्वान्, शूरावर, व्यापारी, कारीगर और वैश्यान्-मन मनुष्य तुम्हारा सेवा करनेकी इच्छा करते हैं ॥ १५ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! हम सब लोग आपसमें जो बातचीत करें वह मधुर, हितकारी, मधुर और परस्पर प्रेमपूर्ण हो, और मीठा तथा बट्ट न हो; हम सब लोगोंको एकत्र हो आपसमें प्रेमसे मीठा वचन बोलनेकी शक्ति दे ॥ १६ ॥



विश्वस्वमातरमोपधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मेणा धृताम् ।

शिवां स्योनामनु चरेम विश्वा

॥ १७ ॥

महत्सुधर्म्यं महती बभूविथ महान्वेगं एजपुर्वेषुष्टे मुहांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् ।

सा नो भूमे प्र रौचय हिरण्यस्येव सदाशि मा नो द्विषत कश्चन

॥ १८ ॥

अग्निर्भूम्यामोपधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरजमसु ।

अग्निन्तः पुरुषेषु गोधर्षेष्वायः

॥ १९ ॥

अर्थ- ( विश्वस्यम् ) सब ( ओषधीनाम् ) वनस्पति, वृक्ष, लता आदि की [ मातरं ध्रुवां पृथिवीम् ] यह माता वि-  
स्तीर्ण, लम्बी, चौड़ी, स्थिर पृथिवी ( धर्मेणा ) सत्य, ज्ञान, श्रुता, वीरता आदि धर्मसे ( धृताम् ) पालित पोषित  
( शिवाम् ) कल्याणमयी ( स्योनाम् ) सुख की देनेवाली ( भूमिम् ) मातृभूमिकी [ विश्वा ] सदा [मनुचरेम] हम सेवा  
करें ॥ १७ ॥

हे मातृभूमि ! तुम हम सबका [ महत्सुधर्म्यम् ] एक साथ मिलकर रहनेका स्थान हो, इस तरह तुम [ महती  
बभूविथ ] बड़ा होती रही हो । [ ते ] तुम्हारा [ एजपुर्वेषुष्टे ] हिलना डोलना [ मुहां ] बड़ा [ वेगः ] बल  
या गतियुक्त होता है । इस प्रकारकी [ त्वाम् ] तुमको [ महान् ईश्वरं ] शरहते नाश करनेवाले बड़ा ज्ञान, बल, उत्साह,  
ऐश्वर्य, संपत्तियुक्त शूर वीर [ अग्रमादम् ] चौकसीके साथ [ रक्षति ] तुम्हारी रक्षा करते हैं । [ भूमे ] हे मातृभूमि ! [ सा ]  
सो तुम [ हिरण्यस्य हव ] सोनेकी तरह [ सदाशि ] चमकती हुई [ म ] हमको [ कश्चन ] कोई भी आपसमें [मा द्विषत]  
घेरनाच न रखे ॥ १८ ॥

[ भूम्याम् ] पृथिवीके मध्यभागमें [ अग्नि ] अग्नि है, [ ओषधीषु ] औषधियोंमें (अग्नि) अग्नि है, जिन औषधियों-  
के सेवनसे अन्न पचता है, दीपन अर्थात् भूत लगती है, [ आप ] जल ( अग्नि ) जब अक्षरूपमें होता है तब वह अग्नि  
( बिभ्रति ) विप्लुके रूपमें अग्निको घाण करता है । ( अजसु ) पत्थरोंमें चकमक इत्यादिमें ( अग्नि ) अग्नि है, ( पुरु-  
षेषु ) मनुष्योंमें ( अन्तः ) भीतर जाठरामिके रूपमें ( अग्नि ) अग्नि है, ( गोषु अश्वेषु अपि ) गऊ घोड़े आदि पशुजनोंमें  
( अग्निः ) अग्नि है जिससे उनका भोजन पचता है ॥ १९ ॥

भावार्थ- जिसमें सब तरहकी उत्तम औषधियाँ और वनस्पतियाँ उगवती हैं, जो बड़ी लम्बी चौड़ी और स्थिर हो,  
विद्या, श्रुता, सत्य, ज्ञेह आदि सदाचार और सद्गुण युक्त पुरुष जिसकी रक्षा करते हैं, जो कल्याणमयी और सब प्रकारके  
सुखसाधन हमें देती है, उस मातृभूमिकी हम सदा सेवा करें ॥ १७ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! तू हम सबको एज्ज रहनेका स्थान देती है, हम सब लोगोंका समावेश होनेयोग्य तेरा विस्तार है;  
तू आकाशमें हिलत डोलते जिस वेगसे जाती है वह वेग बहुतही बड़ा है, ज्ञानी, शूर, वीर, उत्साही और ऐश्वर्यशाली, शत्रुको नाश  
करनेवाले वीर पुरुषही चौकसीके साथ तेरी रक्षा कर सकते हैं; अनादी, भीर और विगतधर्म नहीं कर सकते, तू स्वयं सोनेके  
समान तेजस्वी है, हमें भी तेजस्वी कर और ऐसा कर कि हममेंसे कोई भी परस्परका द्वेष न करे, सब एक मतसे व्यवहार  
करें ॥ १८ ॥

सब पदार्थ अग्निमय हैं । उस अग्निद्वारा भूमि, औषधि, वनस्पति, जल ( मेघादिक ), पथर, मनुष्य, गाय, घोड़े इत्यादि  
प्राणियोंके शरीर जैसे तेजस्वी होखते हैं, उसी प्रकार हम मनुष्य जो उन सब पदार्थोंके भोक्ता हैं, अपने ज्ञानवर्ध की रक्षा कर  
और दीर्घवर्षी अग्नि की शरीरमें प्रवेश कर सब अधिक तेजस्वी हों ॥ १९ ॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वीन्तारिक्षम् । अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥ २

अग्निवासाः पृथिव्यसितञ्जस्त्वपीमन्तं संशितं मा कृणोत ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमर्कृतम् ।

भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयात्रेण मर्त्याः ।

सा नो भूमिः प्राणमार्युर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोत ॥ २२ ॥

यस्तं गन्धः पृथिवि संवभूव यं विभ्रत्योपधयो यमार्पः ।

यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

अर्थ— ( दिवः ) आकाशमें ( अग्निं ) सूर्यके रूपमें अग्नि है । ( आदधातु ) जो सब ओर प्रकाश देता हुआ तप रहा है । ( देवस्य अग्नेः ) प्रकाशमय उस अग्निके प्रकाशसे ( उरु ) बड़े ( अन्तरिक्षं ) प्रकाशमें प्रकाशित होता है, इस तरह अनेक रूपमें अग्नि विद्यमान है । ( हव्यवाहम् ) होम की हुई आहुति का ले जानेवाला ( घृत-प्रियं ) घी को प्याकरानेवाला ( अग्निं ) भौतिक अग्नि ऋतुओं के बदलनेपर रोगोंके नाशके लिये ( मर्तासः ) मनुष्य लोग ( इन्धते ) दीपित करते हैं ॥ २० ॥

[ अग्निवासाः ] अग्निसे व्याप्त [ सितञ्जः ] काले कज्जलसे जो जलना जाय वह अग्नि ( पृथिवी अग्नि ) पृथिवीके रूपमें हो ( मा ) सुखको ( पृथिवीमन्तं ) प्रकाशयुक्त ( कृणोतु ) करे ॥ २१ ॥

मनुष्य जिस भूमिमें ( भूम्यां अर्कृतं ) अर्ककृत सुसंकृत ( हव्यम् ) आहुतियुक्त ( यज्ञं ) यज्ञ ( देवेभ्यः ) देवताओंकी ( ददति ) देते हैं । इससे जिस भूमिमें ( स्वधया अत्रेण ) उच्चतम अन्न खानेपीने की वस्तुसे ( मर्त्याः ) मनुष्य ( मनुष्याः जीवन्ति ) जीते हैं । ( सा नो भूमिः प्राणं वायुः ) वह भूमि हमें बल वायु ( दधातु ) दे और वही भूमि ( मा ) सुख ( जरदष्टिं ) अच्छी वृद्धि या उन्नति ( कृणोतु ) करानेवाली हो ॥ २२ ॥

दे ( पृथिवि ) यस्तं गन्धः संवभूव पृथिवी जो धरेमेंसे गन्ध पैदा होती है, ( यं ) जिस गन्धको ( ओषधयः विभ्रति ) ओषधियाँ धारण करती हैं, ( यः ) जिस ( आपः विभ्रति ) जल धारण करता है, जिससे ( गन्धर्वा ) सूर्य धारण करते, ( अप्सरसः च ) किरणें धारण करती हैं, ( यं गन्धं ) जिस गन्धका ( भेजिरे ) सुख ओगा ( तेन ) सुगन्धसे ( मा ) सुखको [ सुरभिं ] सुगन्धियुक्त [ कृणु ] करो । [ नः ] हम लोगोंमें [ कश्चन ] कोई भी [ मा द्विक्षत ] किसीसे द्वेष न करो, सब लोग आपसमें मित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

भावार्थ—आकाशमें चारों ओर अपना प्रकाश फैलानेवाली सूर्य नामकी एक बड़ी भारी अग्नि है । उससे उत्पन्न हुए द्रव्य को दहनद्वारा चारों ओर फैलने के लिये तथा सुखकी प्राप्ति और दुःख की निरापे के लिये मनुष्य घृत आदिसे होम करते हैं । उस अग्निमें हम भी दिन रात दहन करते हैं ॥ २० ॥

जिस हमारी मनुष्यमें चारों ओर अग्नि व्याप्त है और जिस भूमिका वर्ण काला है, वह भूमि हमारे हान कीर्ति और यशसे बढ़ानेवाली हो ॥ २१ ॥

जिस हमारी भूमिमें मनुष्य यज्ञ करते हैं और उसमें उत्तम उत्तम पदार्थोंका दहन करके वायु और जल आदि छोड़ करते हैं, जिस भूमिमें यज्ञोंके कारण उत्तम वृद्धि होकर विपुल अन्न उपजता है, जिसको खाकर मनुष्य आनन्दसे निवास करते हैं वह मातृभूमि हमको उत्तम प्राण और पूर्ण आयुष्य देनेवाली हो ॥ २२ ॥

हे मातृभूमि ! ओ सुन्दारमें उत्तम सुगन्धि है, वह ओषधि और वनस्पतियोंमें प्रगट होती है, उसी सुगन्धिको पूर्ण अपनी किरणोंसे उदीपन करते हैं । हमें उस उत्तम सुगन्धिके स्पर्शित करो और हमारे बीच कोई आपसमें द्वेष न करे, सब लोग आपसमें मित्रतासे रहें ॥ २३ ॥

यस्ते गन्धः पुष्करमाविशे यं सैजस्रः सूर्याया विवाहे ।

अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो दिक्षत कश्चन

॥ २४ ॥

यस्ते गन्धः पुष्पेषु स्त्रीषु पुंसु मगो रुचिः ।

यो अश्वेषु वीरेषु यो मृगेषु हस्तिषु ।

कन्यायां चर्चो यद् भूमे तेनास्मा अपि सं सृज मा नो दिक्षत कश्चन

॥ २५ ॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संघृता घृता

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः

॥ २६ ॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तितृप्ति विश्वहा ।

पृथिवीं विश्वधापसं धृतामच्छावदामसि

॥ २७ ॥

अर्थ-हे [ पृथिवि या ते गन्धं पुष्करं ] जो तुम्हारी गन्ध कमलमें [ आविवेश ] प्रविष्ट हुई है, [ अग्रे ] पाहिले [ वं गन्धं अमर्त्याः ] जिस गन्धको वायु आदि देवता [ सूर्यायाः ] उपाके [ विवाहे ] विवाहके समय [ संजग्मः ] धारण करते हैं, [ तेन मा सुरभिं कृणु ] उस सुगन्धसे हमें सुगन्धित करो । [ कश्चन ] कोई भी [ नः ] हम लोगसे [ मा दिक्षत ] द्वेष न करे ॥ २४ ॥

हे [ भूमे ] भूमि, [ या ते गन्धः कीरेषु पुष्पेषु स्त्रीषु पुंसु मगः ] वीर पुरुषोंमें, स्त्रियोंमें, साधारण पुरुषोंमें तेजो-मय कान्तिरूप है, [ यः अश्वेषु उत मृगेषु हस्तिषु ] जो घोड़ोंमें, चर्चापोंमें, हाथियोंमें, [ यद् वचः ] जो तेज रूप है, [ कन्यायां ] बिना स्त्रियों के-चाओमें जो तेज है, [ तेन ] दिव्य तेजसे [ अस्मान् अपि ] हममें भी वही तेज ( संसृज ) पैदा कर दे । [ कश्चन मा दिक्षत ] हममें कोई किसीसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

जो ( शिला अश्मा पांसुः ) शिला, पर्वत, पत्थर और धूलयुक्त ( भूमिः ) भूमि है ( सा भूमिः ) वह भूमि हम लोगसे विद्या, अनेक विज्ञान और वीरतासे ( घृता ) अलीमांति रञ्जित हुई, [ संघृता ] अच्छी तरह योग्यताके साथ सुरक्षित हुई कष्टलावणी, ( तस्यै हिरण्यवक्षसे ) उस भूमिको जिसमें सोनेकी खान है, ( नमः अकरं ) नमस्कार करते हैं ॥ २६ ॥

( यस्या ) जिसमें ( वानस्पत्याः ) वनस्पति ( वृक्षाः ) पेड़ और लता आदि ( विश्वहा ) सदा [ प्लवाः ] स्थिर ( तिष्ठन्ति ) रहते हैं, ( विश्वधापसं ) पूर्वोक्त गुणोंसे जो सबको धारण करनेवाली है, [ घृताम् ] धारण की गई अर्थात् अलीमांति सुरक्षित रही गई, [ पृथिवीं अच्छ ] उस पृथिवी की हम मुख्यतया [ आवदामसि ] प्रशंसा करते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ- हे मातृभूमि ! जो सुगन्धि तुम्हारे कमलोंमें है सूर्योदयके समय जिसे वायु ले जाती है, उस सुगन्धसे हमें सुगन्धित करो । हममें कोई किसीसे द्वेष न करे । हममें सबका एक दूसरेके साथ स्नेह बडे और सब समाजके किये दितकारी हों ॥ २४ ॥

हे मातृभूमि ! वीर पुरुषों तथा साधारण लों पुरुषोंमें, स्त्रीयोंमें वीरताके आदिमें, प्रज्ञाचारियों प्रज्ञाचारिणी कन्याओंमें जो तेज है, वह हममें भी वचनसे ही हो । हममें कोई भी किसीसे द्वेष न करे ॥ २५ ॥

जिस हमारी मातृभूमिके ऊपर शिला, पत्थर और धूल है और जिसके भीतर सुवर्ण रत्नादिक अमूल्य पदार्थ बहुतसे हैं, उस मातृभूमिको हम नमस्कार करते हैं । जबतक ज्ञान, शौर्य आदि गुण हममें बने रहते हैं तभी तक हमारी मातृभूमिका संरक्षण है, इसलिये हमको इस प्रकार आचरण करना चाहिये कि ये गुण हममें सर्वदा बने रहें और हमसे सदा मातृभूमिकी रक्षा होती रहे ॥ २६ ॥

जिस हमारी मातृभूमिमें वृक्ष और वनस्पति बहुतायतसे हैं और सब स्थिर हो रहते हैं, जो अपने अनेक ऊपर कहे हुए

उदीराणा उतासीनास्तितृन्तः प्रक्रामन्तः ।

पृथ्वां दक्षिणसन्व्याभ्यां मा व्यधिष्महि भूम्याम्

॥ २८ ॥

विमृग्वरी पृथिवीमा वंदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वामृधानाम् ।

ऊर्जं पुष्टं विभ्रंतीमन्नभागं घृतं त्यामि नि वीदिम भूमे

॥ २९ ॥

श्रद्धा न आपस्तुन्वे क्षान्तु यो नः सेदुराग्रिये तं नि दध्मः ।

पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि

॥ ३० ॥ ( ३ )

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् ।

स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पशुं भुवने शिश्रियाणः

॥ ३१ ॥

अर्थ— [ उदीराणा ] चक्रव किरत [ उन आसीना ] बँडे हुए [ तितृन्तः ] खट हुए [ प्रक्रामन्तः ] दक्षिणसन्व्याभ्यां पृथ्वां ] दाहिने या बायें पावसे दृष्टके हुए [ भूम्यां मा व्यधिष्महि ] भूमिमें हम किसीको दु ख न दे ॥ २८ ॥

[ विमृग्वरी ] विशेष खोजनेसे योग्य [ ब्रह्मणा ] परमात्मसे [ वामृधानाम् ] बडाई गई [ ऊर्जं ] बल बढानेवाली [ पुष्टं ] पुष्ट करनेवाली [ अन्नभागं ] धी और खानेके पदार्थ अन्न आदि [ विभ्रंतीं ] धारण करनेवाली [ पृथ्वीं ] लम्बी चौड़ी [ क्षमां ] प्रातिमात्रके तबाल योग्य [ भूमिं ] मातृभूमिसे [ जावदामि ] प्रार्थना करते हैं । [ भूमे ] हमारी मातृभूमि । [ श्रद्धां ] तुम्हारा [ अभितेवीदेम ] हम आसरा हैं ॥ २९ ॥

है [ प्रवित्रे ] न लगे ] हमारे चरित्रको छु डिके लिये [ श्रद्धां ] निर्वैल जल, [ क्षान्तु ] बडा करे, [ पशुं ] जो हमको [ अग्रिये ] चरित है या प्रिय नहीं है [ सेदुः ] उसे अलगका [ पवित्रेण ] पवित्र जो हमारा कर्तव्य करने है [ मा उपनामि ] उससे सुख पवित्र करता हूँ ॥ ३० ॥

है [ भूमे ] । मातृभूमि । [ याः ते प्राचीः ] जो तुम्हारी पूर्व दिशा है, [ याः उदीची ] जो उल्लाकी दिशा है, [ याः ते पश्चात् ] जो तुम्हारी उपदिशा अग्नि, नैऋत्य, वायव्य, ईशान ये चार कोनेकी दिशाएँ हैं, [ याः ते अधराद् ] जो तुम्हारे नीचे हैं, [ याः त पश्चात् ] जो तुम्हारे पृष्ठभागमें या पीछे हैं [ याः ] उन सब दिशाओंमें [ चरते ] लोग चलते फिरते हैं, [ महा स्योना भवन्तु ] सुख सुख की देनेवाले हो, [ भुवने ] जिस देशमें हम [ शिश्रियाणः ] रहें [ मा निपस ] कहीं हमारा अथवात्त न हो ॥ ३१ ॥

गुणों से भरी पूरी है, और सबका आधार है, हमसे अच्छा तरह सुरक्षित रखी गई उस पृथिवीकी हम प्रेमसहित स्तुति गति हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ— हम किसीके दु खका कारण न बनें ॥ २८ ॥

विमृग्वरी उपर श्री सतहकी तलाश करनेसे अनेक लाभ हो सकते हैं, जिसे अन्नत शक्तिमान् परमेश्वरने अपनी शक्तिसे प्राप्त किया है, वह बचानेवाले घृत और पुष्टिकारक अनेक भोजनके पदार्थ अन्न आदिको जो उत्पन्न करती है, लम्बी चौड़ी और प्रातिमात्रके रहनेके योग्य है, उस भूमिसे हम प्रार्थना करते हैं कि हे मातृभूमि । तुम हमें सदादा दो ॥ २९ ॥

है हमारी मातृभूमि । तुम चारों ओरसे हमारी छुटिके लिये निर्वैल जल बहाती हो । जो कोई हमारा अभिय करनेही इच्छा करे अथवा हमारा अहित करे, उसके साथ हमभी निष्ठा रखी बर्ताव करे और उत्कृष्ट उद्योग करके हम अपनी हर प्रवृत्ति उत्पत्ति करे ॥ ३० ॥

है हमारी मातृभूमि । तुम्हारी ओ जो दिशाएँ और उपदिशाएँ हैं, उनमें सब मनुष्य तुम्हारे हित करनेवाले होवें—इसी प्रकार तेरे हितके लिये चल करते हुए हम भी उन सबका सम्वाध करें, हम जहाँ वही रहें अपनी योग्यता बढ़ाते रहें, गुणों से और हमारा अथवात्त नहीं न हो ॥ ३१ ॥

मा नः पृथान्मा पुरस्ताद्भुदिष्टा मोत्तरादधरादुत ।

स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावयां वृधम्

॥ ३२ ॥

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना । तान्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां सर्मा ॥ ३३ ॥

यच्छवानः पुर्यावर्ते दक्षिणं सन्वमामि भूमे पार्श्वम् ।

उत्तानास्त्वां प्रनीचीं यत् पृथीभिर्वाधिमेमहे । मा हिंसीस्वतं नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीरि ३४

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु । मा ते मम विमृशरी मा ते हृदयमपिपन् ॥ ३५ ॥

अर्थ— हे ( भूमे ) पृथक् नः मा भुदिष्टा ) मातृभूमि ! जो तुम्हारे पृष्ठभाग हैं वे हमारा नाश न करें, [ मा पुनस्तात् मा उत्तरात् उत अधरात् मा भुदिष्टाः ] जो तुम्हारे पूर्व हैं, उत्तर हैं वा नाचे हैं, वह भी हमारा नाश न करें, [ स्वस्ति ] हमारा बह्मण हो । [ परिपन्थिनः ] सार्व लोभ हमें [ मा विदन् ] न जानें [ किञ्च ] उन शरशर्मा [ वधं ] वधक लिये [ वरीयाः ] जो हम लोगोंमें सबसे श्रेष्ठ हो [ यावय ] वह जाय ॥ ३२ ॥

[ भूमे मेदिना ] हे हमारी मातृभूमि !—अपने प्रकाशसे आनन्द देनेवाले [ सूर्येण ] सूर्यसे [ यावत् ते अभि विपश्यामि ] जहाँतक सब ओर हम तुम्हारे परितःको देखते हैं, [ तावत् उत्तरा उत्तरा समा न चक्षु मा मेष्ट ] वहाँतक क्यों क्यों मेरी उमर बहती जाय मेरी इन्द्रियो नेत्र आदि अपना अपना काम करनेमें शिथिल न हों, अर्थात् कहींसे उनमें कमी न हो, अपनी पूरी उमरतक हम सब उत्तम कर्म करते रहें ॥ ३३ ॥

हे [ भूमे ] हमारी मातृभूमि ! [ यत् ] जब [ जवानः ] लोते हुए [ दक्षिण सार्व पार्श्व ] दाहिने और बाये [ अभिवर्तते ] करवट के [ यत् ] तथा [ जय तुमया ] प्रवीचीं ] पश्चिम की ओर पार कर [ उत्तानाः पृथीभिः ] पीठ पीछे कर [ अधिशमे ] क्षयन करें, उस स्थानमें [ सर्वे ] प्रबोधावरि ] सब, लोगोंको सहारा देनेवाली [ भूमे नः मा हिंसीः ] हे हमारी मातृभूमि हमारा नाश न कर ॥ ३४ ॥

हे [ भूमे ] हमारी मातृभूमि [ ते ] तुम्हारे [ यत् विखनामि ] जो हल्से जोतकर हम बांधे [ तत् क्षिप्रं रोहतु ] वह जल्द उग और बढ़े [ विमृशरी ] विशेष कोऊके लोभ्य हमारी मातृभूमि [ ते ] तुम्हारे [ मम ] मातृक स्थानोंमें किसी तरह की क्षति या चोट न पहुच और [ ते अपि ] तुम्हारे अर्पित [ हृदये ] मन या चित्त [ मा ] दुःखित न हो ॥ ३५ ॥

भावार्थ— हे हमारी मातृभूमि ! हमें किया प्रकरने हमारे न पहुँचे, सब तरहसे हमारी उन्नति ही हो । हमारी चालोंको हमारे शत्रु न समझ सकें और हमारे अगुआ लोग सब हमारे शत्रुओंके नाश करनेका प्रयत्न करते रहें ॥ ३२ ॥

हे मातृभूमि ! जबतक हम प्रकाश और ज्ञानकी सहायतासे तेरी बाहरी भीतरी स्थिति सुक्ष्म दृष्टिसे देखते रहें, समस्त हमारी बाहरी इन्द्रियो और मातरी बुद्धि अपना अपना काम करनेमें समर्थ रहें ॥ ३३ ॥

हे हमारी मातृभूमे ! जिस समय हम तेरे भक्त विश्राम करनेके लिये दार, बाएँ अथवा बाँधे तेरे ऊपर सोयें उस समय तुम हमें आश्रय दो, जिससे कि हम बंखटके सोवें और कोई हमारा घात न कर सके ॥ ३४ ॥

हे हमारी मातृभूमि जहाँ तुम ऊंची नीची हो लगे सब भूभाग कर जो हम बाँधे वह जल्द उगे और ढँडे । तुम्हारे ऊँचा नीचा रहनेसे हमारे अथ पान और फिर बानको मजबूत हो, जो तुम्हारे बिना बर करने हुए नष्ट हो जाते न पहुँचे और तुम्हारे लिये जो हम अपना मन, मन अर्पित किये हैं कि तुम्हारी उन्नति करें सो दुःखित न हो, हम सदा प्रसन्न रहें ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धन्तः शिशिरो वसन्तः ।

ऋतवस्ते पिबिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम्

॥ ३६ ॥

यापं सर्पं मिजमाना निम्गरीं यस्यामामन्नप्रपो ये अप्स्यन्तः ।

परा दस्यून् ददती देवपूयुनिर्द्धं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् ।

शक्राय दध्रे वृषभाय वृषगे

॥ ३७ ॥

यस्यां सदोहविधाने यूगे यस्यां निमीयते ।

ब्रह्माणो यस्यामर्धन्त्यग्निः साम्ना यजुर्विदः ।

सुज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोमनिन्द्राय पातये

॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वं भूतकृत ऋषयो गा उदान्निचुः । सप्त सुत्रेण वैधर्मो यज्ञेन तर्पमा मुह ॥३९॥  
 सा नो भूमिरा दिंशतु यद्भनं कामयांमहे । भर्गो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगमः ॥४०॥  
 यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या ऋषिर्लवाः ।  
 युध्यन्ते यस्यांमाक्रन्दो यस्यां वर्दति दुन्दुभिः ॥  
 सा नो भूमिः प्र पुंशतां मृपत्नानमपन्न मां पृथिवी कृणोत ॥ ४१ ॥  
 यस्यामन्नं व्रीहिपृषी यस्या इमाः पञ्च कृष्टराः । भूम्यै पत्रन्ध्रपत्न्यै नमोऽस्तु वृषिर्मेदमेष्ट

अर्थ— (यस्यां पूर्वं भूत कृतः) जिन भूमिमें पहिले अन्न का काम करनेवाले (ऋषयः वैधर्मः) भर्गोऽनुप्रयुङ्क्तामिन्द्राँ अन्न का ( सप्त सुत्रेण ) सात प्रकार के सत्र आदि ( यज्ञेन ) यज्ञ या चरकार दान का आदि उत्तम कर्मों से ( तर्पमा ) धर्म से कामने ( गाः उदान्निचुः ) दान का बाणीक द्वारा स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

[ या नो भूमि ] वह हमारी मातृभूमि [ यन्पन्नं ] जो पन्न हम [ कामयांमहे ] इच्छा करने हैं कि हमें मिले यह हमें [ आदिशतु ] दे, [ भग ] एषवपयष अग्ने देव मं शूरा वार पुष्टीके [ अनुप्रयुक्ताम् ] महापुरुषों, [ इन्द्रः ] शक्ति का काम करनेवाले वीरों का [ पुरोगम ] अगुवा होकर [ एतु ] शस्त्र चढ़ाई करे ॥ ४० ॥

[ यस्याम् भूम्यां मर्त्याः ] जिन भूमिमें मनुष्य [ गायन्ति ] गाते हैं, [ नृत्यन्ति ] नाचते हैं [ माक्रन्दो ] विद्वत् प्रेरित वीर लोग अपने शत्रुओं की श्लाघा करते [ युध्यन्ते ] युद्ध करते हैं [ यस्यां माक्रन्दः ] जिनमें पंडितों के रहने का स्थान होता है, [ दुन्दुभिः ] चरदति [ नगाडा चलता है ] [ या नो भूमि ] वह हमारी मातृभूमि [ मृपत्नान् ] शत्रुओं का [ मृपत्नान् ] दूर भगा दे, या [ पृथिवी ] भूमि [ मा ] हमें [ अपत्न्यै ] शत्रु हिन [ कृणोतु ] करे ॥ ४१ ॥

[ यस्यां व्रीहिपृषी ] जिनमें चावल, जौ, गेहूँ आदि अन्न बहुत उत्पन्न हैं, [ इमाः ] आनेके पदाँजनों आदिछात्रों हैं, [ यस्यां इमाः पञ्च कृष्टराः ] जहाँ पाँच प्रकार के अन्न [ राश्यान् ] धान, गन्ना, जौ, ज्वार आदि रहते हैं, [ वृषिर्मेदमेष्ट ] ब्राह्मण होनेसे शरीर अन्न अच्छे प्रकार से खाते हैं, [ पञ्चपयषाग्ने ] पञ्चपयष अग्नि जिन भूमि का पालन होता है, या [ भूमे नमः अस्तु ] मातृभूमि को नमस्कार दे ॥ ४२ ॥

आचार्य— हमारा मतृभूमि है जो है जिसमें धर्मोऽनुप्रयुङ्क्तामिन्द्राँ अन्न के लिए बड़े बड़े दान करने के धर्मों का और सप्त सुत्रों के सुतोभित शास्त्रों का है, यह मातृभूमि ही हमें स्तुति करते हैं ॥ ३९ ॥

जिनमें सुवर्ण हम इच्छा करें वतना मातृभूमि हमें दे। एतौ भोग धनार्थक लेन करने देतौ और पन्न वीरों की महापरायण करें और वार पुष्टी पुष्टी शक्ति के साथ शत्रुओं के साथ कामने मिले का ॥ ४० ॥

जिन भूमिमें अन्न बढ़ बढ़ाई दे, जहाँ लोग पन्न रख सकते हैं जहाँ लोग धन लेन का काम करने लगे अग्ने शत्रुओं का छेड़ने के लिए युद्ध करते—यह वही है। इनका यह है, नष्ट करने हैं, यह हमारा मातृभूमि हमें शत्रुओं का दूर भगा दे ॥ ४१ ॥

जहाँ चावल, गेहूँ, जौ आदि तथा और और सबके पदार्थ बहुत होते हैं, जहाँ विद्वत्, पण्डित, ब्राह्मण, वीर तथा तेजस्वी लोग बढ़ वीर पदार्थ के उत्पन्न भव करने करते हैं, जिन भूमिमें पण्डितों के रहने का स्थान है, जिन भूमिमें पण्डितों के रहने का स्थान है, जहाँ पण्डितों के रहने का स्थान है, जहाँ पण्डितों के रहने का स्थान है ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्यां विकुर्वते ।

प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भाभाशामाशां रण्यां नः कृणोतु

॥ ४२ ॥

निधि विश्वंती बहुधा गुहा वसुं मणिं हिरण्यं पृथिवीं दंरातु मे ।

वसुंति नो वसुदा राममाना देवी दंधानु सुमनस्यमाना

॥ ४४ ॥

जन्तु विश्वंती बहुधा विशाचसुं नानाधर्माणं पृथिवीं यथौकसम् ।

सहस्रं धारां द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवं धेनुरनवस्फुरन्ती

॥ ४५ ॥

यस्तं नरो पृथिकस्तृष्टदंशमा हेमन्तजंघ्यो भूमलो गुहा शयै ।

किमिजिन्वते पृथिवीं यद्यदेजति प्रावृषिं तन्नः सर्पन्मोषं स्पृद्यन्लिखं तेन नो मृड ॥ ४६ ॥

अर्थ- [ यस्याः पुरो देवकृताः पुरः ] जिस मानभूमिके नगर देवोंके बनाय या बसाये है [ यस्या क्षेत्र विकुर्वते ] जिसके प्रत्येक प्रांतमें अनुप्राय अपने अपने काम बरकी तरहमें कर सकते हैं, [ प्रजापति ] प्रजाका वाजक उस भूमिके जो विश्वगर्भा सव पराधीन पैदा करनेवाली है, [ पृथिवी ] उस हमारी मातृभूमिके [ आशां भाशा ] प्रत्येक दिशाओंमें [ रण्यां ] रक्षणाय को ॥ ४२ ॥

[ बहुधा गुहा ] बहुत तरह की खानोंमें [ वसु ] धन, [ मणि ] रत्न हीरा पत्ता ज़ादि [ हिरण्यं ] सोना चांदी आदि [ निधि ] सचय [ विश्वंती ] धागण करनेवाला हमारी पृथिवी [ मे ] हमको वह सब [ दंधानु ] वे, [ वसुदा ] धनकी देनवाणी [ राममाना ] दान करनेवाली [ देवी ] देवस्वरूप हमारा सव काम साधनेवाला [ सुमनस्यमाना ] जो हमसे सुनाचत होकर [ न ] हमको [ यवनि दंरातु ] धन दे ॥ ४४ ॥

[ बहुधा नानाधर्माणं ] बहुत तरह के धर्मों माननेवाले ( विशाचसुं ) अनेक भाषा बोलनेवाले ( जन्तु ) जनमनुदायक ( यथा यथौकसं ) जैसा एक धर्मों काई तरह इस तरह ( विश्वंती ) धागण करनेवाली ( धनवस्फुरन्ती ) जिसका नाज न हो हमसे ( ध्रुवं पृष्ठो ) स्थिर भूमि ( द्रवणस्य धाराः ) हमारा तरावर ( मे ) सुनकी ( धेनुः ) हव हुदी ) धेनु जमा दूध देनी है उसी तरह हमें धन दे ॥ ४५ ॥

हे ( पृथिवी ते ) हमारी मातृभूमि तुझसे ( यः सर्वः पृथिकः ) जो सांप या बीछू ( तृष्टदंशमा ) ऐसे जीव की आदि जिनके कटनेमें प्यास अधिक लगनी हो ( हमन्त जंघ्यो ) दिमागनाशक आधाए उरके पैदा करनेवाले ( भूमलो ) या जिनके कटनेसे धुमकी पैदा हो ( किमि ) वे कांटे ( गुहाजये ) ज जिनमें पड़े मोया करते हैं ( प्रावृषिं ) बारिश के औषधिमई ( यन् जिह्वा यन् एजते ) जो पीत हूट चरते हैं या रंगन हैं ( तत् सर्वम् ) जो रंगा करते हैं, ये सब ( न मा डमृगम् ) हमारे पास न आये, ( यन् जिह्वम् ) जो हमारे लिये कष्टदायकी हो ( तेन नः मृड ) उससे हमें सुखी कर ॥ ४६ ॥

आचार्य जिस मातृभूमिके देवद्वारा बने अनेक नगर हैं, जिसके प्रत्येक प्रांतमें अनुप्राय अनेक प्रकारके अन्न अन्नें वर्षों में सदैव लगे रहते हैं, अर्थात् जो पानी बनी है, कोई अन्न जिनका सूना और उखाड़ नहीं है, जहाँ सब तरहके पदार्थ पैदा होते हैं, उस भूमिके प्रजाता पलक गुं करे अर्थात् वहाँ विद्याका अधिक प्रचार कर और वह भूमि प्राकृतिक पदार्थों तथा और्द्धव्ये सुगन्ध रते ॥ ४२ ॥

जिसमें रत्न और दुर्घर्ष आदिही बहुतसी पाये हैं और जो हमें उपाय धन रत्न आदि देती है, वह मातृभूमि वह हमें पानी देनेवाली हो ॥ ४४ ॥



॥नार्यना रथस्य वर्तमानसञ्च यातवे ।

॥पास्तं पन्थानं जयेष्वनमित्रमंतस्करं यच्छिवं तेन नो मृड ॥४७॥

भद्रवापस्य निधनं तितिधुः ।

वराहणं पृथ्वीं सान्दानां वृक्षाय वि जिह्वीते मृगाय

॥ ४८ ॥

ये त आण्ण्याः पृथ्वीं मृगा वने हिताः भिहा व्याघ्राः पुंरुपादुधरन्ति ।

उलं वृकं पृथिवि दुन्धुनामित कृक्षीकां रक्षो अप वाघयासत्

॥ ४९ ॥

अर्थ— हे भूमि ! ( ये ते वृहद्व. पन्थानः जनयताः । मनुष्यों के चरने किन्ने योग्य जो तुम्हारे बहुतने मार्ग हैं, ( यथस्य वर्तमे ) रथके चलने योग्य [ जनसः यातवे ] छत्रदोह जानेजाने लायक अथवा लक्षको टोकरे जानेलयक जो मार्ग हैं, [ येः संचारानां भद्रवायाः ] जिससे पशुपकाओ भल लोग या जिन पशुसे दुष्ट स्थापित लोगभी चलते हैं [ तं ] उससे [ जनयन्त ] दारु हित [ जनस्करां ] उग्र और चालीक भयसे रहित कर । [ जयम ] हम जय प्राप्त करें, ( यच्छिवं ) जो कष्टवाणकारी हैं ( तेन नो मृड ) उससे हमें सुख दोगे ॥ ४७ ॥

( गुरु मृद्व । भारी पदार्थको अपनी ओर ख खनेवाली शौर ( मकरं ) घाण करनेकी शक्ति ( विघ्नती ) घाण करने-वाली ( भद्रवापस्य ) धर्मात्मा और पारात्मा मनुष्यको ( जेयने ) मरण ( निनिधु ) मरती हुई बड़ ( पृथिवी ) भूमि ( वराहण ) उत्तम जल दनशानक साथ ( संविद्व्रा ) अच्छी तरह वाकर अर्थात् अच्छी बरपावशाली होकर ( वृक्षाय ) लक्ष्यो किरणाले ( मृगाय ) अपनी किरणोंसे लक्षविद्व्राको पवित्र करनेवाळ सुर्वक चारों ओर ( विमिह्वीते ) विक्षेप जाती है ॥ ४८ ॥

( पृथिवी ये ते चने हिताः ) हे हवारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे खने खने गये हैं ( भिहाः व्याघ्राः पुंरुपादुः ) सिंह, बाघ और दूसरे जानिवोंकी हिंसा करनेवाले मांवाहारी जीव । व्याघ्राः पशवः मृगाः ) वनके रहनेवाले चतुष्पाद मृगभोजी सृग्गादि ( चामित ) च ते किरने हैं उनको और ( उलं वृकं दुन्धुनां ) वज्रपशु, पागळ कुत्ते [ कृक्षीकां ] माछ आदि भेड़िये [ वृकः लक्ष्मात् अपवापस्य ] यहाँ हमसे दूर रहो ॥ ४९ ॥

भावार्थ— अनेक प्रकार की उल्लिखित धर्मोंकी वासनवाल, विविध रूप बालनेवाले लोगोंका अग्रज देनेवाली हमारी भविष्यती मातृभूमि मेला गळ दूध देने दे, उस तरह हमारे पदोंकी देनेवाली तो तया घनकी देनेवाली हो ॥ ४५ ॥

हे मातृभूमि ! तेरे लिलाम और बिलुपा ऐसे जब जिनके काटनेने दाह पैदा होये है, या जो छप लग्न करते हैं, वे सचंकर विधेय जब कभी हमें दाई भी न करें, जा दाह हमारे लिये दिनकारी और कल्याण करनेवाले हों वे यहाँ हमारे पाव का हमें सुख देवे ॥ ४६ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारा रहना—जियवमनुष्य चलने फिरने हैं—गघ और छत्रकोके पचने योग्य है, जिसपर मले और घुा दोनों तरहके लग चरने हैं, अन्न अदि पदार्थ जिसपर खोये जाने हैं, वह सर्व भिना शक और योग्यदिन अर्थात् निर्भय और सुरक्षित कर हम जिसमें हैं उस पर डटकर चले । जो हमारे लिये मलाई हो उमंग हमें सुखी करो ॥ ४७ ॥

गुरु पदार्थको अपनी ओर ख खने तथा भारय कमकी शक्त जियवे है, मले और घुा दोनोंके जो घाण करने दे, दोनोंके मरणको जो सह लेनी दे । अच्छा जब बरपावनेवाले मंगये युक्त मूर्ध जिपवी अर्थात् विद्व्राको अपनी किरणोंसे दाह देना है, ऐसा हमारी मातृभूमि विक्षेप प्रकारसे सुर्वके साथ साथ जाती है ॥ ४८ ॥

हे हमारी मातृभूमि ! जो तुम्हारे लिये सिंह, सिंहाली जानवर, बाघिये, भेड़िये, पागळ कुत्ते, माछ इत्यादि हैं, उन सबको हमसे दूर रहो ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चागाधाः किमीदिनः ।

पिशाचान्सर्पा रक्षासि तान्सुहृ भूमे यावय

॥ ५० ॥ (५)

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हवा सुपर्णाः शकुना वयांसि ।

यस्यां वातो मातृरिष्वेयं तु रजामि कृणुंश्चावयंश्च वृक्षान् ।

वातस्य चार्ध्वं वामनु चान्त्यार्षेः

॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमंरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामर्थि ।

वर्षेण भूमिः पृथिवी वृताः स मा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि

॥ ५२ ॥

धैर्यं म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च भु व्यचः । अग्निः सूर्य आपौ मघां विधे देवाश्च सं ददः ५३

अर्थ- हे [भूमे ये गन्धर्वा] मातृभूमि जो जिसक मातृतायी हमारे वष करनेको उद्यत हैं [मप-सप्त] कर्मणाकुल आत्मी हैं [ये अगाधा] जो निर्धन हैं किमीदिन ] पर धनके हरनेवाके हैं [ पिशाचान् ] मांस खानेवाले हैं, [रक्षसि] राक्षसी स्वभाववाले हैं [ सर्पाश्च अस्मत् यावय ] मन्त्रको हमस पूर दृष्टाओ ॥ ५० ॥

हमारा यह मन्त्रम है [ ५१ द्विपाद हवा, सुपर्णा, शकुना वयांसि पक्षिण भ्रमरान्ति ] जहाँ हो पक्षिवाके जीरा हंस, गण्ड आदि पक्षी उड़ते हैं, [ पक्षी मातृशिरा वात ] आकाशमें उड़नेवाली या संचार करनेवाली हवा [ रजामि कृणुंश्च ] भूक उदासी हुई [ वृक्षान् व्यावयन् ] पर्वतों जइसे उपादता हुई [ ईष्ये ] बहती है । [ वातो वातस्य प्रवो वर्या ] उस वायुही ग्राहको [ अर्थ ] तेज या प्रकाश [ अनुवाति ] अनुसरण काला हुआ चलता है ॥ ५१ ॥

[ पक्षी भूमी कृणुं मरुणं च ] जिन भूमिमें तमोमय अंधकार और प्रकाशमय दिन [ संहिते ] एकट्ठे ही ( अहोरात्रे ) दिन और रात [ विहिते ] होता है [ सा पृथिवी भूमि ] वह विस्तृत भूमि [ वर्षेण वृता वृता ] वृष्टिसे ढकी हुई [ मद्रया ] कदवालाऊ साथ [ प्रिये धामनि-धामनि ] हितकारी स्थानोंमें [ नः ] हमको [ दधातु ] पों ॥ ५२ ॥

( ५३ ) प्रकाशमय आकाश [ पृथिवी ] भूमि [ अन्तरिक्षम् ] आकाश और पृथ्वीका बीच [ अग्निः सूर्यः ] अग्नि और सूर्य [ च ] यह प्रकाश करनेवाला देव तथा विद्वान् लोग, विनया, या स्वयंहासपुत्र [ इदं ] यह सब [ मे ] मुझको [ मघां ] धानासाधिका पुत्र [ म व्यच ] हमारी सबसे ब्याप्त या आकृष्टनाकि [ सरयुः ] आर्या सरयु दे ॥ ५३ ॥

भाषार्थ- हे हमारी मातृभूमि ! जो दिव्य, भक्त, निर्धन, परधन हरनेवाले, मांसहारी, अनामवादी मांसक और अतृतीय दे, उनको पूर करो ॥ ५० ॥

जिस भूमिमें गन्धर्वा आगाधमें देव आदि पक्षेक आनन्दमें उड़ते हैं, जहाँ भूमिमें उड़ने पक्षोंको उपादते वपु ने तीर कोक पक्षीमें बहती है और जगत्की अनेक जहाँ जोंव अमरणी दे, यह हमारी प्रिय मातृभूमि है ॥ ५१ ॥

जिस भूमिमें ईश्वर वन गते राज और दिन रात हैं और उनमें पक्षी पृथ्वी परवय राती है यह हमारी विद्वान् मातृभूमि हमें दिव्य स्वर्ग में पुण्य देवे ॥ ५२ ॥

एव एव वा जंगम, चरन वा अचरन सब वपु योंको उपादयते हमारी पुत्रि बडे और कर्तृदेव आपो और अनाक होय

वरो नाम भूम्याम् अमीषाडामि विश्वापाडाशामाशां पिषासृहिः ॥५४॥

॥ना पुरस्ताद् दुर्गैरुक्ता व्यमर्षो महित्वम् ।

तु तदानीमकंलपथाः प्रदिगुश्चरंसः

॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सुभा अग्नि भूम्याम् । ये संग्रामाः समित्युक्तेषु चाहं वदेम ते ॥५६॥

अथ इत्त रजो दुधुरे मि तान् जनान् य आक्षिन् पृथिवीं यादजायत ।

सुन्द्राग्नेर्वरो भूतस्य गोपा वनस्पतीनां गृध्रिरोपधीनाम्

॥ ५७ ॥

अर्थ- [ महं सहमान ] वामी सरदी, सुव, दु स मह लेनेवाले [ नाम ] यश और प्रतिष्ठा [ उत्तर ] दायित्व [ मर्षा अक्षि ] भूमि में [ अदा आमा ] दाएँ दिशा में [ विश्वपिः ] विशेष विशेष [ ममापद् ] तम और पराक्रम करनेवाला [ विश्वापाद् ] सब प्राणियों का नाश करनेवाला [ अग्नि ] हूँ ॥ ५४ ॥

हे [ वैरि ] । मैं व मातृभूमि तुम [ वत् ] जब [ पुरस्ताद् ] पहले [ देवै ] देवों और विद्वान् विजिगीषु या व्यवहारकुशल लोगों द्वारा [ प्रथमाना ] प्रख्यात होकर [ उत्तर ] प्रभावित हो गई तब [ यत्सर्व ] विशेष उदात्तों के पदों की [ तदानीम् ] तब इसको [ वरप्र दिशः ] चारों दिशाओं में [ सुभान् माहात्म्यम् ] बड़ी प्रशंसा [ मकरपथया ] प्राण्य हो गई, हे भूमि वह तुम्हारे पालिका [ या ] तुममें [ वासिगत् ] अब भी रहेगी भी सी हो ॥ ५५ ॥

[ ये ग्रामा ] जो गाँव या नगर [ यद् अरण्य ] वे वन [ याः सुभा ] जो राजसभा ग्राह्यसभा धर्मसभा आदि [ ये संग्रामाः ] जो युद्ध [ या च समित्युक्तेषु ] जो बड़ा बड़ी परियरे [ अक्षिभूम्याम् ] हमारी भूमि में [ अक्षि ] हे [ वत् ] उन सबको [ त ] तुम्हारे बग़िचे [ वाद वदेन ] अच्छा कहें ॥ ५६ ॥

[ यात् ] जब [ पृथिवीम् ] भूमि में कोई युद्ध आदि [ अक्षिपद् ] आकर बसे या बसाया जाय तब [ तान् जनान् ] उन र, नेशन मनुष्यों को [ या रजः ] जो सेनाक आनेन उठा धूलि [ अथ इत्त रि दुधुरे ] घोड़ों के चलने के समान उड़ो वह [ सुन्द्रा ] प्रसन्न करनेवाली [ मकरपथा ] मकरमार्गमें अर्द्ध जनेवाली [ सुनस्प गोपा ] संसार की रक्षा करनेवाली [ वनस्पतानां ओषधीनां च गृध्रिः ] वनस्पति और औषधियों का प्रदण करनेवाली है ॥ ५७ ॥

भावार्थ- मैं अपनी मातृभूमि के लिये तथा उसके द्वारा निष्पन्न करने के लिये हर तरह के दण्ड करने को तैयार हूँ । और प्रशान्ति सब प्राणियों को प्राप्त करूँगा । एक ही तरह से रहने नहीं दूँगा ॥ ५४ ॥

हे मातृभूमि पहले के लोग जब तुम्हारी रजुत करते थे तब समय तुम्हारा महान और कीर्ति चारों दिशाओं में फैल जाती थी, वही तुम्हारा महान अब भी वैसा ही चल ॥ ५५ ॥

हे हमारी मातृभूमि । तुम्हारे ऊपर कहाँ नगर, वन, भूमा, परियत, संग्राम विना मनुष्य एवम हो बहो बहो हम तुम्हारी प्रशंसा करें । अर्थात् वमा तुम्हारे आदिपथी बात में रहे ॥ ५६ ॥

तुमने बिजली हो जातिर तेज का पाई के अन्तर्गत् धूमि उडार मनुष्यों के चित्तों को प्रमत्त करनी है । अथवा जब किसी विशेष कारणके लिये मनुष्य आना सफल एवाग्र होत है तब उस क्षणमें जो दण्ड मन्त्रमें एक वस्तु का उल्लेख होता है, वह चाकि सब को अनन्त देवता, सब दण्ड का संशय करने वाली और ओषध आदि मनुष्य पदार्थ देनेवाली होती है । इसलिये वही मातृभूमि के अंगों में अल्लेख नाममें रहने ॥ ५७ ॥

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदक्षि तद् वनन्ति मा ।

त्विर्पीमानस्मि जूतिमानयान्यान् हन्मि दाघेतः

शान्तिवा सुगृभिः स्योना फीलालोघ्री पर्यस्वती।भूधिरधिं व्रगीतु मे पृ

यामन्वैच्छेद्विषां विश्वकर्मान्तरर्णये रजमि प्रविष्टाम् ।

भूजिर्ष्व१ पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातुमद्भयः

स्वर्गस्यावर्षन् जनानामदितिः कामदुषां पप्रथाना ।

यत् तं ऊनं तत् त आ पूयाति प्रजापतिः प्रथमजा क्रतुर्ष्य

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा असम्यं सन्तु पृथिवि प्रसृताः ।

दीर्घे न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥ ६२ ॥

१ मातृनि वैहि मा मदया सुप्रतिष्ठितम् ।

वन्दाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ ( ६ )

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [ पृथिवि ते प्रसृताः ] भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग [ अनमीवाः ] रोगरहित [ अयक्ष्माः ] क्षयरोगरहित [ असम्यं उपस्थाः ] हमारे पास रहनेवाले [ सन्तु ] हो [ नः आयुः दीर्घं भवतु ] हमारी उमर बढी हो, हम बहुत दिन जीवें [ वयं प्रतिबुध्यमानाः ] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त हो [ तुभ्यं बलिहृतः स्याम ] तुम्हें बलि, करभार देनेवाले हों ॥ ६२ ॥

हे [ मातृभूमे ] मातृभूमि ! [ मदया ] बहयागठे यदानेवाकी बुद्धिसे हमें [ सुप्रतिष्ठितम् ] सुस्थिर या युक्त कर, [ मा ] तुम्हारी [ निधेहि ] रखो [ दिवा ] प्रतिदिन ( संविदाना ) सब बातकी जाननेवाली करो [ कवे मां ] हे कान्त-वाणी ! हमें [ भूत्यां श्रियं धेहि ] पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ—हे हमारी मातृभूमि जो हम लोग तुम्हारेमें उत्पन्न हुये हैं वे निरोग, ब्याध, दीर्घायु, बुद्धिमान, जायतिवंपन्न रहें और मातृभूमि ० ० लिये अपने निजके स्वार्थ का बलि देनेमें डगल रहें, सब माति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमि ! तुझे बुद्धि और तेरे विषयमें प्रतिदिन चिन्ता करनेवाले सूक्ष्म विचारों और दूरदर्शी मनुष्य को तथा तुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति ० ० देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

यद् वदामि मधुमुत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।

स्तिर्षमानस्मि जूतिमानद्यान्यान् हन्मि दाधतः

शान्तिवा सुभिः स्योना कीलालोष्ठी पर्यस्वती भूमिरधि वरीतु मे पृथिवी

यामन्वैच्छद्भुविषा विश्वकर्मान्तरर्षये रजंमि प्रविष्टाम् ।

भुजिष्ये पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोये अमवन्मातृमद्भ्यः

स्वर्पस्यावपन्नी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना ।

यत् तं ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमुजा क्रुतस्य

॥ ६० ॥

॥ ६१ ॥

अर्थ—[ यद् ] हम अपने शत्रु या देशके मरुद्भूमि में जो [ वदामि ] कहते हैं [ तत् मधुमुत् वदामि ] वह हितकर और मधुर व श्रेष्ठ कहते हैं [ यद् ईक्षे ] जो दूकते हैं [ तत् ] वह तब [ मा ] हमको सहायक हो [ अह निषीमात् ] हम प्रकाशमान, वज्रस्व, दीप्तिमान् हो [ जूतिमान् ] ज्ञानवान् हो इससे [ न-यात् ] दूसरे जो हमारी भूमि को छुड़े लेंगे [ अहहमि ] उनका नाश करते हैं ॥ ५८ ॥

[ शान्तिवा ] शान्तिकारक [ सुभिः ] सुगन्धियुक्त [ स्योना ] सुप्त देनेवाली [ कीलालोष्ठी ] अक्ष की देनेवाली [ पप्रथाना ] महा बहुल जल हो देवी [ मे पृथिवी भूमि, पप्रथाना ] हमारी भूमि भोग्य पदार्थ को भोगके काममें आये तबसे हमें [ अधि वरीतु ] कहे ॥ ५९ ॥

[ यत् ] जब [ विश्वकर्मा ] सब काम कर चले [ रजंमि कर्णये ] अन्तरिक्षमें [ अमवः प्रविष्टा ] अक्ष की मण्डलित भूमि को [ हविषा ] अन्नादि पदार्थों [ अन्विष्यन् ] सेवा करने की इच्छा करता है तब [ गुहा निहितं ] गुप्तस्थानमें रहना हुआ [ भुजिष्ये पात्रम् ] आसनक योग्य अन्न अग्नि [ मातृमद्भ्यः ] मातृभक्तों [ भोगे ] तबभोगके क्रिये [ आधिः ] अन्नवत् प्रगट होता है ॥ ६० ॥

दे मातृभूमि [ रं जनानां ] अदितिः ] तुम लोगों की दुःख न देनेवाली [ कामदुघा ] इच्छित पदार्थों देनेवाली [ पप्रथाना ] गुप्त जल योग्य [ आश्रयो ] निवास अन्नादि सहायके बहुत अन्न उपजना है [ अग्नि ] ऐसा तुम हो [ यद् ते ऊ-या ] जो तुम्हारे में कभी है [ तत् ते क्रुतस्य ] तो तुम्हारे में जो यज्ञ क्रिये जात है [ प्रथमुजा ] श्रेष्ठक आदिमें प्रगट हुआ [ प्रथमपतिः ] पानेवाला [ आश्रयते ] पूर्ण पर देव हैं ॥ ६१ ॥

भाष्य— हम जो कुछ भी अपना वरग वह सब हमारी मातृभूमि के लिये दितकारी होगा, जो कुछ हम आश्रय देनेके वह सब भी मातृभूमि ही के लिये सहायक होगा, इसी प्रथम हमारे सब काम मातृभूमि ही के अर्थग होत । इस तेजस्वी और दुःखमान हो, जो हमारे यज्ञ हमारी मातृभूमि से रोहन करने उनका हम नाश करे ॥ ५८ ॥

शान्ति, यत्, अह, यमा आदि की देनेवाली इसी मातृभूमि हमें सब भोगके पदार्थ और एतद् देनेवाली ही परत और हमारी रक्षा करती रहे ॥ ५९ ॥

अक्ष की सब ताड़ के बरग कामकाय गुप्त गुप्त मधु भूमि की सेवा करने के लिये अतिवृद्ध होने के बाद मातृभूमि पर प्रथमपति अक्ष तुम रूप परमा हुआ था [ आश्रय भोगे ही के लिये है ] अह वनके समान प्रगट होता है । अक्ष की वनके समान के लिये पदार्थ दण्ड गहक ही मिल सकते हैं ॥ ६० ॥

दे हमारी मातृभूमि तु हम सबका गुप्त देनेवाली दे, इच्छित पदार्थों देनेवाली दे दण्डने जो तेरे में कभी हो के परदेवा पूरा करे ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा असम्यं सन्तु पृथिवि प्रसृताः ।

न न आर्यः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्वाम

॥ ६२ ॥

मातृनि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।

ऽद्वाना दिवा कवे श्रियां मां धेहि भृत्याम्

॥ ६३ ॥ ( ६ )

॥ इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

हे [ पृथिवि ते प्रसृताः ] भूमि ! तुम्हारेमें उत्पन्न सब लोग [ अनमीवाः ] रोगरहित [ अयक्ष्माः ] क्षयरोगरहित [ असम्यं उपस्थाः ] हमारे पास रहनेवाले [ सन्तु ] हो [ नः आर्यः दीर्घं भवतु ] हमारी उमर बढी हो, हम बहुत दिन जीवें [ वयं प्रतिबुध्यमानाः ] हम ज्ञान विज्ञानयुक्त हो [ तुभ्यं बलिहृतः स्वाम ] तुम्हें बलि, करभार देनेवाले हो ॥ ६२ ॥

हे [ मातृभूमे ] मातृभूमि ! [ भद्रया ] कल्याणको बढ़ानेवाली बुद्धिसे हमें [ सुप्रतिष्ठितम् ] सुस्थिर या शुक्ल कर, [ मा ] सुसुको [ निधेहि ] रखो [ दिवा ] प्रतिदिन ( संविधान ) सब बातकी जाननेवाली करो [ कवे मां ] हे कान्तवर्जनी ! हमें [ भृत्यां श्रियां धेहि ] पृथिवीमें संपत्ति प्राप्त हो ॥ ६३ ॥

भावार्थ—हे हमारी मातृभूमि जो हम लोग तुम्हारेमें उत्पन्न हुए हैं वे विरोग, रोग, दीर्घायु, बुद्धिमान, जातिरक्षण रहें और मातृभूमिक हितके लिये अपने निजके स्वार्थ का बलि देनेमें बराबर रहें, सब भांति तुम्हारा हित करनेमें तत्पर रहें ॥ ६२ ॥

हे मातृभूमि ! मुझे बुद्धिमान कर और तेरे विपक्षमें प्रतिद्वन्द्वित करनेवाले सूक्ष्म विचारी और दूरदर्शी मनुष्य को तथा मुझे अपनी भूमिगत सम्पत्ति प्राप्त कर देनेवाली हो ॥ ६३ ॥

प्रथम सूक्त समाप्त ॥१॥



## मातृभूमिका वैदिक गीत ।

जिस देश में जो लोग रहते हैं वह उनकी मातृभूमि कह-  
लाता है। जैसे भारतीयोंकी भारतभूमि, चीनी लोगों की चीन-  
भूमि, अंग्रेजोंकी इंग्लैण्डभूमि और इसी तरह दूसरे दूसरे  
लोगोंकी अलग अलग मातृभूमि है। जिस तरह माता प-  
र हमारा आदर और प्रेम बढेकता है उसी तरह मातृभूमि  
में उत्पन्न होनेवाले जनजात, पानी, घासी हवा और वनस्प-  
तियों में उस देश के मनुष्योंके बढे प्रेम है। इसलिये उस  
देश को अपनी मातृभूमि समझना उस देश के निवासियों का  
स्वभाव होता है।

परमेश्वर का नियम ही है कि माता के दुधपर बच्चे का ही  
अधिकार रहना चाहिये, क्योंकि माताके स्तनों में जो दुध  
परमेश्वर अपने अटल नियमों से उत्पन्न करता है, वह उस  
माता से उत्पन्न होनेवाले बच्चे के लिये ही रहता है। बच्चे का  
पालन उसकी माता के दुध से ही होना चाहिये। माता का  
दुध पीना बच्चेका जन्मसिद्ध अधिकार है और वह उसका धर्म  
भी है। यदि कोई जबरदस्त बालक अपनी माताका दुध पीकर  
दूसरे बालक को माताका जो दुध जबरदस्तीसे पीयेगा और दूसरे  
बच्चेको भूखा रखेगा, तो उसका वह कार्य परमेश्वर के नियमोंके  
विरोध होगा और वह जबरदस्त बच्चा ईश्वर के नियमोंके अनुसार  
अपराधी समझा जावेगा। इसी तरह एक देशके मनुष्यों के  
बालक दूसरे देशके मातृभूमिक बालकों पर उत्पन्न बनावें और  
उस देशमें उत्पन्न होनेवाले उपभोगिक वस्तुएं उस देशके निवासियों  
को न देकर अपने ही सुखके लिये उपभोग करें, तो वह उनका  
पुनः बड़ा अपराध होगा। किन्ती भी मूर्खता न चाहिये कि  
जो निजि माता और बच्चेकी है वही मातृभूमि और उसके  
बच्चे की है।

एक कुटुंबका रहना है, उसी तरह देश वह एक बड़ा घर है  
और वह घर सब देशवासियोंका है। यदि उस राष्ट्रके  
घरपर दूसरे देशोंके बलवान लोग मिलकर हमला करें और  
वहाँकी वस्तुओंपर अपनी अधिकार बनावें तो वास्तवमें वह  
अपराध एक घरपर हमला करनेवाले डाकूके समान है।  
उसीके समान किन्तु उससे कुछ उग्र स्वकृष्ण यह अपराध  
है। वह सिद्ध करनेकी क्यादा जरूरत नहीं है। इस संसारके  
बड़े बड़े राष्ट्रजाना लोग यही कहते हैं। लेकिन संसारका राज-  
कारमार तत्त्वज्ञानियोंके हाथमें न होनेसे बलवान लोग इस  
तरहकी राष्ट्रीय छुटमारकी अपराध नहीं समझते और इस बड़े  
अपराधीको इसी कारण सजा नहीं होती। परंतु ईश्वरके  
नियमोंमें इस तरहका पक्षपात नहीं हो सकता।

हमें यह देखना नहीं है कि अपराधीको क्या मिलना चा-  
हिये वह या नहीं है। हमें सिर्फ यही दिखलाना है कि माताके  
दुधपर उसके बच्चेका, घरपर उस घाके मालिकका, राष्ट्रपर  
उस राष्ट्रके लोगोंका और मातृभूमिकी उपयोगी वस्तुओंपर  
उस मातृभूमिके बच्चेका अधिकार है।

बच्चा अपनी माताका दुध पीता है इसलिये उसका अपनी  
मातापर बहुत प्रेम रहता है। मनुष्य अपनी मातृभूमिमें पैदा  
होनेवाले ज्ञान, फल, फेद, मूल इत्यादि खाते हैं और उठ  
बसते हैं। इसलिये उनका अपनी मातृभूमि पर प्रेम रहता है।  
इसलिये कवि जिस तरह मातृभूमिके प्रार्थन बनावे हैं, उसी  
तरह लोग माता के जाने जाते हैं और दूसरों को उत्साहित  
करते हैं।



वह मनुष्य विरला ही होता है जिसे माताके प्रति आदर न हो। माताके प्रेम से ही प्रत्येक मनुष्य का पालन होता है। मातृभूमि पर भी मनुष्यका प्रेम होता है। यह देशप्रेम भी असीम होता है। कैसी भी आपत्ति, वैसा भी संकट क्यों न हो, मनुष्य मातृभूमि का त्याग करनेको तैयार नहीं होता। माता के वा मातृभूमिके यश के कारण शरीर दिखावर करने तक को मनुष्य तैयार रहता है।

यही असीम प्रेम है जिससे सब देश के लोगोंने अपनी जन्मभूमि के गीत भक्तिभर प्रयत्न करके उत्तम उत्तम बनाए हैं। मातृ भूमि के लिये लोगोंने काव्य बनाये हैं। सभी देशों में यह प्रथा है कि आन्दोलन में, विजयोलम्प में देशवासी अपने अपने राष्ट्रगीत का गान करते हैं।

इस प्रकार का कोई राष्ट्रगीत या मातृभूमिगीत भारतवा-सियों में है या नहीं इस के विषयमें कई विद्वानोंके भिन्न भिन्न मत हैं। कई विद्वान यह बतलाते हैं कि भारतवासियोंका एक राष्ट्र कभी भी नहीं था, इसलिये उनमें राष्ट्रगीत होना असम्भव है। मध्यकालमें अपने विस्तृत देशके बहुतेरे छोटे छोटे राज्य बन गये थे। इसलिये यदि कहा जाय कि उस कालमें एक राष्ट्रियत्व की कल्पना न थी तो वह सच हो सकता है। परन्तु हम में प्रारम्भे राष्ट्रियता की कल्पना है, यह प्रत्ययोंके कालधे सही आधी है और इसका निर्देशक राष्ट्रगीत भी हमारे पास है। इसीका समर्थन करनेके लिये इस लेखमें मातृभूमिके वैदिक सूक्तका विचार किया है। यह सूक्त अथर्ववेदके १२ वें काण्डका पहला सूक्त है।

## सूक्तका उपयोग

जिस सूक्त के विषयमें हम यहाँ लिख रहे हैं उसका महात्त्व राष्ट्रीय है या नहीं यह हम उसके उपयोगसे जान सकते हैं। इसलिये इसका उपयोग कहा किया जाता है देखो—

१ आमवतनादिरक्षणार्थम् = ( शासनमाध्य )

( अर्थ = १२।१।१ )

“ ग्राम, पत्तन, नगर आदि की रक्षाके समय इसका उप-योग करना चाहिये। ” अर्थात् ग्राम, नगर, प्रान्त, राष्ट्र, स्वदेश आदि का रक्ष के समय इसका उपयोग करना चाहिये। स्वदेश की रक्षाके लिये जब कोई काम करना हो तब यह सूक्त कहना चाहिये। इससे यह छिद्र है कि स्वदेश रक्षा से इस सूक्त निकट संबंध है। सब लोग जानते हैं कि राष्ट्र-

गीतका यही उपयोग है। सब देशोंमें राष्ट्रगीतका उपयोग इसी कामके लिये किया जाता है। परन्तु इसका विशेष विचार करना चाहिये, इसलिये नीचे और प्रमाण दिये हैं।

२ पार्थिवी भूमिकामस्य । ( नक्षत्रसूक्त १७ )

“ पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला पार्थिवी महाशक्ति करनेके समय इसका उपयोग करे। ” देशमें या राष्ट्रमें जब अशान्ति उत्पन्न होती है तब उस अवस्थाको दूर करनेके लिये जो प्रयत्न किया जाता है उसे ‘ पार्थिवी महाशक्ति ’ यह वैदिक नाम है। इसमें कई महत्त्वपूर्ण बातें करनी पड़ती हैं। ऐसे समय यह सूक्त कहना चाहिये। यह नक्षत्र-कल्पवृक्षा का कहना है।

“ भूमिकामः अर्थात् पृथ्वीकी इच्छा करनेवाला या अर्थात् मातृभूमिमें शान्ति करने की इच्छा करनेवाला जो मनुष्य है, उसने वह काम करते समय यह सूक्त कहना चाहिये इस सूक्तके कहनेसे मातृभूमि के शिष्टा काम करनेके लिये उत्साह मिलता है। इसी प्रकार—

भौमस्य हतिकर्मणि । ( कौशिकी सूत्र. ५। २ )

“ ( भौम ) प्रदेशके वा राष्ट्रके ( हतिकर्म ) आदरके लिये जो काम करना है, उन काममें इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। ” “ हति ” का अर्थ ‘ आदर ’। “ हतिकर्म ” का अर्थ है आदरके लिये किया हुआ काम। राष्ट्रीय महोत्सव विजयारोहके समय इस सूक्तका उपयोग करना चाहिये। साधनाचार्यजीने अपने भाष्यमें यह भी बतलाया है कि इस सूक्तका उपयोग कौन कौन कर सकते हैं। हम अब उसीको देखेंगे।—

१ पुष्टिकामः ।

२ मोहिषवाधकामः ।

३ मणिद्विषयकामः ।

( शायनमाध्य धर्म १२। १ )

“ पुष्टीकी इच्छा करनेवालेको, अथवा हरण करनेवालेको, रान, पुष्प आदि की हरण करनेवालेको इस सूक्तका पठ करना चाहिये। ” उपर्युक्त यह है कि इस सूक्तका गान उस समय करना चाहिये जब हम राष्ट्रीय उत्सवके काम करते हों। यदि बाधक विचारों कि राष्ट्रगीत ऐसे ही अवसरपर गाने जाते हैं, तो ये सूक्तार्थ एवं भाष्यकारके कथनका रद्दय समझ सकते हैं।

इस सूक्तका विचार करते समय हमें देखना चाहिये कि यह सूक्त किस गणमें है। पूर्व के अधिपतिने अथर्ववेदके कुछ गण बना दिये हैं। उनमेंसे “ वास्तोष्पति ” नामका जो गण है उसमें यह सूक्त है। “ वस्तु ” पर पतिवत्का वा मल-क्रियतका एक बतलाने या छिद्र करनेवाले सूक्त “ वास्तोष्पति ” गणमें है। ऊपर बतलाया गया है कि पूर्वोक्त सूक्त उस समय कहनेका है जब किसी देशके निवासी मातृभूमिपर अपना एक बतलाते हैं। इसलिये यह सूक्त “ वास्तोष्पति ” गणमें शामिल किया गया है।

यदि हम उपर बतौपर स्थान दें, तो हमें उक्त सूक्त की महत्ता दिखाई देगी, और विशेषरूपसे विदित होगा कि मातृ-भूमिका यह वैदिक गीत विशेष प्रकारका राष्ट्रीय गीत ही है, तथा यह राष्ट्रीय अवसरपर ही गाता चाहिये।

### मातृभूमि की कल्पना।

इन बादरी प्रमाणोंका विचार करके ही अवगत हमने मातृ-भूमिके सूक्तका स्वरूप देखा। अब भीतरी प्रमाणोंका विचार करेंगे और देखेंगे कि इसके विचार कहाँ तक राष्ट्रीयमहत्त्वके हैं। अतएव पहले यह देखेंगे कि इस सूक्तमें जो मातृभूमि की कल्पना है, वह किस प्रकार की है। जो लोग समझते हैं कि हम लोगोंमें “ मातृभूमि ” की कल्पना तक नहीं है, वे इन कल्पनोंका विचार अच्छी तरह करें और प्रत्यक्ष देख लें कि हमारे अति प्राचीन साहित्यमें मातृभूमिके विचार प्रियमान हैं, तब यह भी सिद्ध होगा कि मातृभूमि की कल्पना सर्वप्रथम अधियों की है।

माता भूमिः पुत्रोऽहं वृषिमा।। (अथर्व० ११।१।१२)

“ मेरी माता भूमि है और मैं मातृभूमिका पुत्र हूँ। ”

हम ही देखभूमि ही हमारी माता है और हम सब उस मातृभूमिके पुत्र हैं। क्योंकि हम सब देशवासी एही माताके पुत्र

अथर्ववेदका अकनिष्ठास एते सं भ्रातरो वावृषुः सौमगाय।  
(अथर्ववेद ५।६।१५)

“सपूर्ण ( वृषि-मातरः ) मातृभूमि की माता माननेवाके सब ( मर्याः ) मनुष्य सबके कुलीन हैं। उनमें न कोई ( ज्येष्ठ ) छोटा है न कोई कनिष्ठ है और न कोई मध्यम है। उन सबका दर्जा समान है। वे सब ( उत्प-निद ) अपने ऊपरके दबाव को भेदकर ऊपर उठनेवाले हैं। सबका विचार एकसा है अर्थात् वे ( भ्रातरः ) बन्धु ही हैं। वे अपने ( सौमगाय ) धनके बढानेके लिये ( सं-वावृषुः ) सब मिलकर प्रयत्न करते हैं। ”

इस संग्रहमें “ वृषि-मातरः ” अर्थात् भूमिकी माता माननेवाले संप्रदायोंका वर्णन देखने योग्य है। मातृभूमिके भक्त एकही विचारवाले रहते हैं। उनमें उत्पत्तीका भाव नहीं रहता। उन सब लोगोंका दर्जा एकसा रहता है और वे सब मिलकर एक विचारसे मातृभूमिके उत्थारार्थ कार्य करते हैं। वे आपसमें संमुखमें रहते हैं और अपनी उन्नति कर लेते हैं। मातृभूमिकी अपनी सबकी माता माननेसे आचरणमें जो करक पड़ता है, वह इस सभ्रमें स्पष्ट रीतिसे बताया गया है। अपने व्यवहारका वेन्द्र मातृभूमि है यह माननेवाले और न माननेवाले लोगोंके व्यवहारमें यह भेद होता है। वेदोंमें यह बात इतने एक तीरसे बतलाई है, इसका कारण यह है कि वैदिक धर्मियोंको यह बतलाना है कि इसका विचार करके उन लोगोंमें मातृभूमिकी भक्ति बढ़े और अपनी उन्नति कर लें। उभी तर-

इत्या सरस्वती नदी तिष्ठो देवीर्मपेमुषु।।

बहिः पीडन्वसिधि।।

(अथर्ववेद १।१।१५)

“( नदी ) मातृभूमि, ( सरस्वती ) मातृभूमिकी और ( इति ) मातृभूमिका ये तीन सुध देनेवाकी देवताएँ हैं। वे सर्वत्र

भूमे मातर्निवेदि मा मद्रया सुप्रतिष्ठितम् ॥

(अथर्ववेद १२।१।६३)

“ हे ( मातः भूमे ) मातृभूमि ! मुझे कल्याण अवस्थामें युक्त कर ” अर्थात् मेरा सब प्रकारसे कल्याण कर । इसमें “ भूमे मातः ” आदि पदोंमें मातृभूमि की योग्यता जान सकते हैं । इसी तरह—

सा नो भूमिः पूर्वपथे दधातु ॥ ३ ॥

सा नो भूमिर्गोव्यप्यते दधातु ॥ ४ ॥

सा नो भूमिर्भूरिधारा एयो दुहातु ॥ ५ ॥

सा नो भूमिर्वेधेयदुर्धमाना ॥ १३ ॥

सा नो भूमिरादितातु यदन्नं कामयामहे ॥ ४० ॥

सा नो भूमिः प्रशुतातां सपरनानसपत्ने मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

(अथर्ववेद १२।१)

“ वह हमारी मातृभूमि हमें अपूर्व रूप पदार्थ देवे । वह हमारी भूमि हमें गाये और अन्न देवे । वह हमारी भूमि हमें बहुत दूध देवे । वह हमारी भूमि हमारा संवर्धन करे । वह हमारी भूमि हमारी इच्छानुसार धन देवे । वह हमारी भूमि हमारे शत्रुओंको दूर करे और मुझे शास्त्ररहित बनावे । ”

विश्लेष संबंधका ध्यान रखनेसे विदित होता कि इन सब मंत्रोंमें ‘ भूमि ’ शब्द ‘ मातृभूमि ’ के अर्थमें आया है । “ मातृभूमि हमारे लिये यह करे, वह करे ” आदि रचना काव्यमय अलंकार है । इसका अर्थ वारंवारमें यह है कि “ मातृभूमि की कृपासे हमारे हाथसे यह कार्य होवे या यह कार्य होकर वह फल मिले । ” क्योंकि प्रत्येक काव्यमें इस तरह की अलंकारिक वाचना रहती है । उन सब प्रार्थनाओंका शाब्दिक अर्थ भिन्न रहता है और अंतरका नाव भिन्न रहता है । इस विषयमें यह मननयोग्य मंत्र देखिये—

सा नो भूमिर्विजृम्भां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

(अथर्ववेद १२।१)

“ वह हमारी मातृभूमि मुझे अर्थात् अपने पुत्रको बहुत दूध देवे । ” यह मंत्र कितना अच्छा है और अलंकारिक है देखिये । माता और पुत्रका संबंध दूध पानेसेही शुरू होता है । माताका दूध पुत्र पीता है, यह सब जानते हैं । गावका दूध हम सब पीते हैं, इसलिये गाव हमारी माता है । भूमिका अनाज रस आदि दूध हमें मिलता है, इसलिये वह हमारी

माता है । यह सर्वसाधारण और सीधा स्पष्टाहार है । इसका वर्णन करते समय उपरोक्त मंत्रका जो भाग अर्थात् “ मेरी माता मुझेही दूध देवे ” और इसी तरहके वर्णनसे हमारी मातृभूमिमें पैदा होनेवाले उपभोगक पदार्थ हमें ही मिले और दूसरा कोई सन्देह हमसे दूर न ले जावे ” आदि अर्थका जो गाय है, वह बहुत अच्छा है और बोधप्रद है । इस तरह पाठकगणोंको अवश्य ध्यान देना चाहिये ।

अब कोई यह भी कह सकता है कि “ भूमि या हमारी भूमि ” आदि शब्दोंसे “ हमारी राष्ट्रभूमि ” वह भावार्थ नहीं निष्पन्न सकता और इस बातको बिना सिद्ध धिये हम यह भी नहीं कह सकते कि मातृभूमिके बारेमें हमारे धर्मधर्मोंमें पूर्णरूपसे वर्णन दिया हुआ है । यह संदेह योग्य है और उसके निवारणके लिये हम यह मंत्र पाठकोंके सम्मुख रखते हैं—

सा नो भूमिस्त्रिविधं यच्छे राष्ट्रं दधातुत्तमे ।

(अथर्ववेद १२।१।६)

“ वह हमारी मातृभूमि हमारे उत्तम राष्ट्रमें ( उत्तमे राष्ट्रे ) तेज और बल बढ़ावे । ”

इसमें “ उत्तमे राष्ट्रे ” का अर्थ और “ हमारी भूमि ” का अर्थ एकही है । “ हमारे उत्तम राष्ट्रमें अर्थात् “ हमारी मातृभूमि में ” तेज और बल की बात होवे । “ हमारी मातृभूमि में ” या “ हमारे राष्ट्र में ” आदि शब्दों का अर्थ वही है कि “ हम लोगों में ” या “ हमारे देशवासीओं में ” और यह बात साधारण विचार करनेवाला जान सकता है । परन्तु “ दम लोभों में ” या “ देशवासीओं में तेज और बल बढ़े ” कहने से यह कहना कि “ हमारे राष्ट्र में या हमारी भूमि में तेज और बल बढ़े ” उचित भावना प्रदर्शित करता है । इसी दृष्टि से “ मातृभूमि, हमारा राष्ट्र, हमारा देश ” आदि शब्दों में कितना गूढ़ रस भरा हुआ है ।

अब इसी मंत्र के “ उत्तमे राष्ट्रे ” ( हमारे अच्छे राष्ट्रमें ) शब्द और भी एक उचित भाव प्रदर्शित करते हैं । उसका अब विचार करना चाहिये । राष्ट्रभूतों की दृष्टि से राष्ट्र किस दशा में होना चाहिये वह इन शब्दों से स्पष्ट है । इन शब्दोंसे सूचित होता है कि राष्ट्रभूतों की महत् आकांक्षा होनी चाहिये कि “ हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में उत्तम हो । ” ‘ उत्तम ’ तुलनात्मक उत्तमता बतलानेवाले प्रत्यय हैं । ‘ उत् ’ उत्तर

और उत्तम' उच्चता की तीन सीढ़ियाँ बतलाते हैं । "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है । राष्ट्रमूर्तों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तमदशामें हो । इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रकी अत्युत्तम क्रेटिका बनाने में शक्ति भर प्रयत्न करें । उत्तम शब्दका यहाँ भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र या परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये, अपितु देशवाधियों का लक्ष्य होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम सीढ़ि को पहुँचें और वे उस लक्ष्य की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें ।

इस मंत्र का विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस धैरिक सूक्त में देवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें बतक है । बावका हमना रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना आगृत करनेका है और वह इस आदर्श को स्पष्ट शब्दों में जनता के समुत्तर रखता है । जिस निधी को सन्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों को पढ़कर उसे दूर कर ले ।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मवचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना वसोचित रीति से आगृत नहीं है । यद्यपि वह बात स्पष्ट है तो भी इसका कारण धर्म अवोप्य होना नहीं है, परंतु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अवोप्य बातों की ओर ध्यान देना है । जिस वेद में यह उच्च राष्ट्रीय भावना आगृत करनेवाले वचन हैं, उस के प्रति लोगों में जो प्रद्वाना या विश्वास है, वह केवल दिखावा है । भोग अगुनिक प्रयोगों की अधिक विश्वास करती हैं । इसलिये क्या सोना दूर रहे वचन और मिट्टी हाथ लगी है ।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्र के बारे में इस तरह स्पष्ट विधान अर्थवेदकी मातृभूमिके गीतोंमें है । उन गीतोंसे देश-मेधे सिद्ध होगा कि हमारा धर्म दुनये ही राष्ट्रीय भावना आगृत रखे बना और उसकी वृद्धि करनेवाला है । वह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके संबंधमें जो वचन हैं, वह अपने धर्मके सुपथ भाग है ।

### अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रभक्ति ।

हम ने जो वेदमिद बातों की ओर विन्यास दुनै ही रहा है, वह उदाहरण देकर बतलाना अवोप्य नहीं होता । अध्यात्म-

ज्ञानका और मातृभूमिकी भाविका एक दूसरे से संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा । इतना दुर्लभ उसकी तरफ हो रहा है । अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती सब संसारको छेड़कर किसी मुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनको सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग धाक कहते हैं कि धर्मका राजधारण में कोई संबंध नहीं है । इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि 'अध्यात्मविद्या और राष्ट्रभक्ति का निरुद्ध संबंध है, तो उसे कौन खच कहे सकता है ?' वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहासके एक दो उदाहरणसे देखेंगे कि यह विषय कैसा होना चाहिये ।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और शत्रुको जीतने की महत्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी । पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड़ गया और जंगल में जाकर तपश्चर्या करने के लिये तैयार हो गया । वह सोचने लगा कि युद्ध बरके स्वराज्य लेनेसे तपश्चर्या करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है । उस मगवान् धीरुजने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश किया । यह अवधारणा का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह शत्रुको मारने के लिये तैयार हो गया । इसके बाद उसने युद्ध किया और निरुद्ध स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया ।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है । रामचंद्रजीका विद्या-अवधि पूर्ण होनेपर उन्हें यह प्रश्न हुआ कि "सब बातें संतुष्ट हैं और पुरुषार्थ से कुछ नहीं हो सकता ।" इस प्रश्नके उत्तर में उन्होंने पुरुषार्थ के काम करना छोड़ दिया । तब वशिष्ठ ऋषि ने उन्हें वेदान्तशास्त्र-अध्यात्मशास्त्र-उपदेश दिया । इस उपदेश के बाद उनका प्रश्न दूर हो गया और वे प्रबल पुरुषार्थी बन गये । इसके बाद उन्होंने लंकाद्वीपके राक्षसों का नाश किया, शत्रु मरतच्छेद के ३३ कोटी देवीदेवों की सेवा से मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य सत्त्वोंका वध उद्वहल बना दिया ।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मके बाद प्रबल पुरुषार्थ करके लक्ष्यके शत्रुमोक्ष पूर्णतासे बच करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनी चाहिये ।

धीरुजाने महाराज की भी एक दो समय उदाहरणोंमें आये थे और वह रामदासजीकी और शंत मुकरामके



और उत्तम' उच्चता की तीन सीढ़ियाँ बतलाते हैं । "उत्तम" से सर्वोत्कृष्ट अवस्था मालूम होती है । राष्ट्रमन्त्रों की प्रबल इच्छा होनी चाहिये कि हमारा राष्ट्र सब राष्ट्रों में अति उत्तमदर्शम हो । इस इच्छा से प्रेरित हो उन्हें चाहिये कि वे अपने राष्ट्रकी अत्युच्च कोटिका बनाने में सक्ति भर प्रयत्न करें । उक्त शब्दका यही भाव है कि राष्ट्रके किसी भी दशा में स्वतंत्र वा परतंत्र होनेसे संतोष न होना चाहिये, अपितु देशवासियों का लक्ष होना चाहिये कि किसी निश्चित उच्चतम कोटि को पहुँचें और वे उस लक्ष की पूर्ति करनेमें भरसक प्रयत्न करें ।

इस मंत्र का विचार करनेसे मालूम हो सकता है कि इस वैदिक सूत्र में केवल मातृभूमि की ही कल्पना नहीं है, बल्कि राष्ट्र के बारे में स्पष्ट भाव है और अपना राष्ट्र सब राष्ट्रों के आगे रहे यह उच्च महत्वाकांक्षा इसमें स्पष्ट है । वाचका स्मरण रखें कि अपना धर्म इतनी उच्च राष्ट्रीय भावना जाग्रत करनेवाला है और वह इस आदर्श की स्पष्ट राहों में जनता के सम्मुख रखता है । जिस किसी की सम्देह हो वह ऊपर लिखे वचनों की पढ़कर उसे दूर कर ले ।

इतना स्पष्ट उपदेश हमारे धर्मवचनों में होते हुए भी हमारे राष्ट्र में राष्ट्रीय भावना यथोचित रीति से जाग्रत नहीं है । यद्यपि यह बात सच है तो भी इसका कारण धर्म अयोग्य होना नहीं है, परंतु धर्म की ओर ध्यान न देना और दूसरी अयोग्य बातों की ओर ध्यान देना है । जिस वेद में यह उच्च राष्ट्रीय भावना जाग्रत करनेवाले वचन हैं, उसके प्रति लोगों में जो श्रद्धा या विश्वास है, वह केवल दिखावटी है । लोग आधुनिक प्रयोगपर ही अधिक विश्वास करते हैं । इसलिये सच्चा सोना दूर रह गया और मिट्टी हाथ लगी है ।

अपनी मातृभूमि और अपने राष्ट्रके बारेमें इस तरह स्पष्ट विधान अध्वर्यवेदीय मातृभूमिके गीताओं में हैं । उन गीतोंके देखनेसे सिद्ध होगा कि हमारा धर्म शुरुआत ही राष्ट्रीय भावना जाग्रत रखनेवाला और उसकी वृद्धि करनेवाला है । यह भूलना नहीं चाहिये कि राष्ट्रके संबंधमें जो कर्तव्य है, वह अपने धर्मक मुखस्य भाग है ।

### अध्यात्मज्ञान और राष्ट्रमक्ति ।

हम लोगोंने धार्मिक बातोंकी ओर कितना दुर्लक्ष हो रहा है, यह उदाहरण देकर बतलाना अवश्य नहीं होता । अध्यात्म-

ज्ञानका और मातृभूमिकी भक्तिका एक दूसरे से संबंध है, ऐसा यदि कहा जाय तो उसे कोई सत्य नहीं समझेगा । इतना दुर्लक्ष उसकी तरफ हो रहा है । अध्यात्मविचार करनेवाले वेदान्ती सब संसारकी छोड़कर किसी गुफा में जाकर बैठने का प्रयत्न करते हैं और जिनकी सब लोग राष्ट्रभक्त कहते हैं वे लोग साफ बहते हैं कि धर्मका राजकारण में कोई संबंध नहीं है । इस विरोध के देखते यदि कोई कहे कि 'अध्यात्मविद्या और राष्ट्रमक्ति का निवृत्त संबंध है, तो उसे कौन सच कह सकता है ?' वास्तविक दशा देखने के पहले हम इतिहासके एक दो उदाहरणसे देखेंगे कि यह विषय कैसा होना चाहिये ।

अर्जुन युद्धभूमि में उतरा था और सप्टको जातने की महत्वाकांक्षा रखकर उसने युद्ध की तैयारी की थी । पर युद्ध को प्रारम्भ होने के समय ही वह मोह में पड़ गया और जंगल में जाकर तपस्वियाँ करने के लिये तैयार हो गया । वह सोचने लगा कि युद्ध चरके स्वराज्य लेनेसे तपस्वियाँ करके उच्च अवस्था प्राप्त कर लेना कहीं अधिक उच्च है । तब भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको वैदिक अध्यात्मविद्याका उपदेश किया । वह भगवद्गीता का उपदेश सुनकर अर्जुन का मोह दूर हो गया, उसे उसकी अवस्था का ज्ञान प्राप्त हो गया और वह सप्टको मारने के लिये तैयार हो गया । इसके बाद उसने युद्ध किया और निष्कण्टक स्वराज्य पूर्णतासे प्राप्त कर लिया ।

दूसरा उदाहरण श्रीरामचंद्रजीका है । रामचंद्रजीका विद्याभ्यास पूर्ण होनेपर उन्हें यह भ्रम हुआ कि "सब बातें दैवाधीन हैं और पुण्यार्थ से कुछ नहीं हो सकता ।" इस भ्रमके कारण उन्होंने पुण्यार्थ के काम करना छोड़ दिया । तब वशिष्ठ ऋषि ने उन्हें वेदान्तशास्त्रका-अध्यात्मशास्त्रका-उपदेश किया । इस उपदेश के बाद उनका भ्रम दूर हो गया और वे प्रबल पुण्यार्थी बन गये । इसके बाद उन्होंने लंकादीपक रासों का नाश किया, सपूर्ण मरतलक्ष के ३३ कोटी देवोंके बंदिवास से मुक्त कर पूर्ण स्वतंत्र बना दिया और आर्य सभियोंका यश उज्ज्वल बना दिया ।

इन दोनों उदाहरणोंमें यह बतलाया है कि अध्यात्मज्ञानके बाद प्रबल पुण्यार्थ करके खगष्टक सप्टकोका पूर्णतासे नाश करके राष्ट्रीय स्वतंत्रता प्राप्त कर लेनी चाहिये ।

श्रीविद्याजी महाराज की भी एक दो समय उदासीनतासे था चेला था और वह रामदासस्वामी और संत तुकारामके

उपदेश से दूर हुई। ये बातें महाराष्ट्र के इतिहास में हैं। इन सब बातों का विचार करने पर हमें यह कहना पड़ता है कि अध्यात्मज्ञान या वेदान्तज्ञान राष्ट्रीय इच्छा के विरोधी नहीं है। यह इतिहास देखने के बाद हम जिस मातृभूमिक वैदिक यात के बारे में विचार कर रहे हैं, उस के आगे के और पीछे के सृष्टों में कौन से विषय आये हुए हैं, देखो—

यह मातृभूमि का वैदिक राष्ट्रगत अथर्ववेदके १२ वें मंडल का प्रथम सूक्त है। इसके पूर्व जो सूक्त हैं वे सूक्त और उनके विषय क्रमसे आगे दिये गए हैं—

### दशम कौट

सूक्त दृष्टः। वेदसूक्त ( वेद उपनिषद् का विषय ) ब्रह्मविद्या ।

संक्र ३ से ६ तक धातु का नाश करने।

सूक्त ७ और ८ उपेष्ट मन्त्रसूक्त ( मन्त्रशास्त्र )

सूक्त ९      शत्रुपर शस्त्रप्रहारे करना।

सूक्त १० गौमाताका रक्षण। गौको दुःख देनेवाले  
शत्रुका नाश करता।

एकादश कवि

सूत्र १ प्रभूदेन सूक्त (अनसूक्त)

११.१ रुद्रसूक्त ( पशुपतिसूक्त )

॥ ६ ॥ भोदनसकत ( मात. अज )

३३. ७ प्राणसूक्त (प्राणशक्तिचा वर्णन)

५. **ब्रह्मचर्य** ( ब्रह्मचर्य पालन करना )

११. कालध्वजकृतं न

१७ चच्छिष्ट ब्रह्मसूक्त ( संपूर्ण अगम्य धारण करनेवाले ब्रह्मज्ञा सूक्त )

" ८ महासूक्त (शरीर में प्रविष्ट होनेवाले ब्रह्मका सूक्त।)

११ ९ और १० युद्धों तैयारीका सूक्त ।

द्वादश काँच सूक्त १ मातृभूमि का वैदिक गीत ।

इन सूक्तों के कथ में युद्ध, शत्रुनाश आदि विषयों के पहले प्रशस्ति के सूक्त आये हुए हैं। प्रशस्ति के बाद शत्रु का नाश करना विषय आया है। अथर्ववेद के दशमखण्ड में ऐसा ही बार निर्देश है। अथर्ववेद खण्ड में अन्न, प्राण, इन्द्राग्नेय, काल आदि के बाद प्रशस्ति है, उसके बाद युद्ध की तैयारी का वर्णन है और उसके बाद यज्ञभूमिका वैदिक गीत है। सूक्तों का यह क्रम देखने से स्पष्टता से मालूम होता है कि "प्रशस्ति-

अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूर्योष्या ।

तस्यां हिरण्यवः कोशः स्वर्गो ज्योतिषानुवः ॥ ३१ ॥

तस्मिन्निदृश्ये कोशे ज्यरे त्रिप्रतिष्ठिते ।

सस्मिन्वदक्षमात्मन्वत्तद्वै प्रज्ञाविदो विदुः ॥ ३२ ॥

(अथर्ववेद काण्ड १० सू २)

“अष्ट चक्र और नी ह्रासित युक्त देवों की अयोध्या नगरी है। उस नगरीमें तेजयुक्त स्वर्णकोश है। उस कोशमें जो पुण्य देव हैं, उधे मग्नमानिही जानते हैं।” यह हृदयस्थानीय ब्रह्मज्ञ वर्णन देखतेके बाद अगस्त सूक्तमें शत्रुकी छिन्नभिन्न करनके मंत्र देखो—

तेनारम्भस्य त्वं शत्रुन् प्रमृगीदि दुरस्यतः ।

( अथर्व १०३१ )

अरातीर्थो भ्रातृभ्यस्य दुर्हर्दो द्विपतः शिरः।

अपिबुध्याम्योजसा ॥

ਅਧੀਨ ੧੦੧ ਵੀਂ

“ दुष्ट वाप्रभोक्ता नाश करना श्रुत करो । दुष्ट शत्रुका विनाश मैं तोहता हूँ । ” इस तरह वे सूक्ष्म देखनेके बाद ७ और ८ सर्गोंका वेदान्तवर्णन देखो-

अथ सूर्यप्रभृदमाश्व पुनर्जयः । अग्निं पञ्चक मास्यं

समये ज्येष्ठश्राव प्रत्यगे वसः ॥ ३३ ॥

( अथर्व. १०।७ )

पुंदरीकं नवद्वारं त्रिमिगुणैर्मिश्रितम्

यस्मिन् यद्यक्षमात्मन्यसद्वै ज्ञानविदो विदुः ॥४३॥

अथर्व० १०/८

“चंद्रमा और सूर्य शिवजी आपके हैं, भूमि जिघ्रिका मुख है, उस जेष्ठ श्रद्धा को नमन करता हूँ। नौ दलके कमलमें श्री देव है, उभे श्रद्धास्थानी हो जान सकते हैं।” यह श्रद्धावर्जन देखनेके बाद उभेके आगेके सूकरा पहला मंत्र देखो-

अथाप्यत्रापि नद्या सुखानि सपरत्नेषु वज्रमर्षयैतम् ॥

(अथर्व० १६।९।१)

हो रहे हैं, केवल अपनी सेनाओं तोषे हैं इसलिये दूसरों को  
 ब्रह्म देना और दूसरों की उन्नति के काम करने के जो राष्ट्रों के  
 समान गयेकर काम हो रहे हैं; यदि इ एक देशमें आ-वात्स-  
 ज्ञान और प्रज्ञाज्ञान हो जावे तो वे सब बंद हो जायेंगे। राष्ट्र-  
 की जो क्षात्रशक्ति है वह बहुत बड़ी महाशक्त है, उस  
 शक्ति को प्रज्ञाज्ञान मनुष्य ही अच्छी तरह सहाय्य सकता  
 है। प्रज्ञाज्ञानहीन स्वार्थी लोग इस राष्ट्रीय क्षात्रशक्त का  
 दुरुपयोग करके जगत् में जबरदस्ती का मार्ग साधन करने लगे  
 हैं। इन सब बातोंका विचार करनेसे मलय होगा कि पहले  
 प्रज्ञाज्ञान प्राप्त करके हृदि उच्च बनानी चाहिये और उसके  
 बाद राष्ट्रीय महाशक्तका उपयोग करना चाहिये। यहाँ वेदों  
 की आज्ञा है और यहाँ उनके अर्थों दूरदर्शिताकी बतलाती है।  
 यह बात हमारे वैदिक धर्ममें ही। पहले पहले सब जगत् को  
 प्राचीन कालमें बतलाई। यह बात वरुण अतिप्राचीन काल  
 में अनेकजनों जासी थी तथापि वह बादमें सुप्त हो गई और  
 फिर वह कभी भी दृक् नहीं हुई। यह बात फिर शुरु करनेके  
 लिये हमें स्वतंत्रता प्राप्त करनी चाहिये और यह बात जगत् में  
 प्रचलित करनेपर जगत् में छाति रखनेका महामंत्र सबको अत-  
 लाना चाहिये।

इस तरह प्रज्ञाज्ञान युद्धके पूर्व यथोचित होना चाहिये और उसके  
 महत्त्व का है, वह आवाजमें बतलाया है। वास्तवमें यह बात  
 विस्तृत करके लिखनी थी। परन्तु वैसा करनेके लिये जगह  
 नहीं है। इसलिये यह विषय सारांशमें दिया है। अब इसके  
 आगे वैदिक राष्ट्रीय गीतका स्वरूप बतलाना है।

यहतरके लक्षमें मातृभूमिके वैदिक राष्ट्रीयतेके संबंधमें  
 सामान्य परिचय होनेके लिये अतिनी बात आवश्यक है। उतनी  
 ही है। उसके वाचकोंकी मातृभूमि हो आर्याण्ड कि इस राष्ट्रीयताका  
 विचार राष्ट्रपुत्र की दृष्टिसे रितना महत्त्वका है। अब हमें यह  
 देखना है कि इस राष्ट्रीयतेके मंत्र कौन कौन महत्त्वपूर्ण बातोंका  
 उपदेश करते हैं। इसलिये प्रथम पहला ही मंत्र देखना चाहिये।

सत्यं सृष्टवमुमं दीक्षा ततो ब्रह्ममयः शुचिर्दी

प्राथम्यम्।

गो भी भूतस्व मयस्व पल्लुर्लं कोकं शुचिर्दी।

हृणोपु

(अ० १३।१।१)

‘साय, संपादन, उद्यम, उत्तरण, हृण, ज्ञान और यय

५ (अ. सु. मा. का १२)

आदि गुण मातृभूमि को धारण करते हैं। वह हमारे भूत, भवि-  
 व्यत् और वर्तमान स्थिति का पलन करनेवाली। हमारी मातृभूमि  
 हमें कार्य करनेके लिये विस्तृत स्थान देवे।’

इस मंत्रके पहले आधे भागमें यह सफ तौरसे बतलाया  
 है कि मातृभूमिको कौन कौनसे लोग धारण कर सकते हैं।  
 वह सब लोगोंके याद रखने लायक बात है। सब मनुष्य  
 अपने राष्ट्रीय धारण नहीं कर सकते और न उसका पोषण  
 ही कर सकते हैं। जो लोग विशेष गुणोंसे युक्त हैं, वे  
 ही राष्ट्र की उत्पत्ति कर सकते हैं। दूसरे लोग सिर्फ सहाय  
 बढ़ानेके लिये कायमान हैं। यह बात पहले मंत्रसे स्पष्ट  
 है और उसे वाचकोंको देखना चाहिये।

सर्वप्रथम राष्ट्रिय गुण ‘सत्य’ है। जिन मनुष्योंमें सत्य-  
 विवता, सत्य-पालनमें आत्मवर्षस्व अर्पण करने की तत्परता  
 है, वे ही राष्ट्रका उद्धार कर सकते हैं। जिनमें सत्याग्रह है  
 अर्थात् जो सत्यका आग्रहसे पालन करने हैं, वे ही स्वराष्ट्रका  
 उद्धार कर सकते हैं। सुकृता आरंभ ‘सत्य’ शब्दसे हुआ  
 है। सुकृता आरंभका शब्द मंगलार्थक और सबसे अधिक मह-  
 त्वका होता है। इस विचारसे भी निश्च होता है कि वैदिक  
 राष्ट्रीयतामें ‘सत्य’ आरंभ महत्त्वपूर्ण गुण है। अब यह  
 बात सब पर प्रष्ट है कि सत्याग्रह का राष्ट्रकी निश्चय  
 प्रजा राष्ट्र-धारी राजाके विरुद्ध काममें ला सकती है। और  
 विजय भी पा सकती है। सत्यके व्यक्तिगत सत्य, सामाजिक  
 सत्य और राष्ट्रीय सत्य आदि भेद हो सकते हैं। विदेशी  
 व्यक्तिगत सत्यका पालन करनेमें संसारके अन्य लोगोंकी तुलना-  
 में अधिक तत्पर एवं दक्ष हैं, किन्तु वे सामाजिक और राष्ट्रीय  
 सत्य अर्थात् समुदायिक सत्यका पालन नहीं कर सकते।  
 समुदायिक सत्यपालन के अभावमें ही वे सत्याग्रह का मार्ग  
 चला सकते हैं। यदि सत्यपालन जानें कि समुदायिक  
 कल्पना है और उद्यम पलन दिष्ट प्रदा हो जाता है,  
 साथ ही उच्चिरीतिसे उद्यम पालन करें, तो केवल इसी  
 गुण से ही जलका जल कल्याण होगा।

इसके अगला गुण ‘हृण’ अर्थात् शोषण है। यह भी  
 सत्यके समान महत्त्वपूर्ण है और उद्यम साधन सत्यके बाद  
 होता है। जो मनुष्य सत्यका पालन नहीं करते और जिनका  
 साधन शोषण नहीं है, उनको सत्य ही पालन होना अशक्य  
 है। वे सत्य आनंद हीम इत्यादि नहीं ‘बिंद’ उनको रित्त



रहनेपर भी प्रयत्न यह होना चाहिए कि उनके अमेद्वी और ही ध्यान देकर सचका उत्पत्ति हो।

मंत्रमें 'अ-सं-बाध' शब्द है। वह अतीव महत्त्वका है। गौण भेदोंको प्रधानता दी जाय तो एक समाजके मनुष्यों-का दूसरे समाजसे विरोध होने लगेगा। एक समाज दूसरे-को प्रतिबंध करने लगेगा। दूसरेको मिटाकर स्वयं ही जादित रहनेका प्रयत्न करने लगेगा। ऐसा होनेसे जातियोंमें 'संबाध' उत्पन्न होता है। जातिजातिके झगड़े, विरोध आदि बातें इस शब्दसे बतलाई जाती हैं। परस्पर बाधा करने की वा नाम 'संबाध' है। संबाधका अर्थ है आपसी युद्ध। जब युद्ध होने लगते हैं, तब राष्ट्रको शक्ति क्षीण होती है। जब एक समाज दूसरे समाजकी बाधा पहुंचाता है, एक क्षति जब दूसरी जातिकी बंध पहुंचाने लगती है, तब राष्ट्र क्षीण होता है। इच्छालिये राष्ट्रहितकी दृष्टिसे जाति-जातिमें, समाज-समाजमें एकताका होना परम आवश्यक है। यही बात बतलानेके हेतु मंत्रमें कहा है—

'परयाः मानवानां मयवतः बहु असंघातम् ।'

'जिस मातृभूमिके मनुष्योंमें बहुत निर्वैरभाव रहता है।' बड़ी मातृभूमि अपने ह्युप्री की उन्नत धन दे सकती है। परंतु जिस भूमिके लोग आपसी वैरभाव रखते हैं, बड़ाही जनता आधा पैदा रहता है। कोई ऊंचा हो, कोई शान्ति हो, कोई अज्ञानी, पर शरीरसे हटपुष्ट हो। इतकी चाहिए कि वे जो कुछ करें मातृभूमिके लिये करें। अपने गुणधिकर्यके धनदण्डसे उन्हें गुणहीनको वायून गुणवालोंका न दखाना चाहिये। कुछ लोग गति ही और कुछ बाधाल ही, तो दोनों मिलकर, आपसमें न लड़कर दोनोंको अपनी शक्तियोंका जेल करना चाहिये और उन्हें मातृभूमिकी घेरीपर बसा देना चाहिए। तभी राष्ट्रकी उन्नति होगी। मनुष्यमें जो (उन्नतः) उत्कृष्टता, (समं) समता, और (प्रवतः, नीचता रहनी है, वह एक दूसरेका घात करनेके लिए नहीं रहनी है। एक मनुष्य यदि किसी एक बातमें ऊंचा है, तो वह दूसरी बातमें नीचा होगा। बड़ा विद्वान् ज्ञानमें ऊंचा होगा, तो शक्तिमें उसका दर्जा कम हो सकता है। कोई शक्तिशाली गृहस्थान हो तो ज्ञानमें उसका हलका होना संभव है। किन्तु मातृभूमिकी दोनों प्रकारके मनुष्योंकी आवश्यकता है। ज्ञानी मनुष्य ज्ञानके धनदण्ड और बलवान् शक्ति-धनदण्डसे एक दूसरेके धिर न पड़ें। कति

दोनोंको चाहिए कि वे मिलकर देशके शत्रुओंको दूर करें और अपनी उन्नति करें।

मानवोंका कर्तव्य यही है कि कनेक भेदोंके रहते भी अमेद्व-भावसे अपना मार्ग निकालें। जो मनन करनेमें समर्थ है उसीको मानव कहते हैं। मनन करनेवाला झगड़े उत्पन्न नहीं करता, वह सोच विचार कर झगड़े कम करता है और उन्नतिके मार्गमें आगे जाता है। जो अपना परिधिपतिका विचार नहीं करते, अपनी उन्नतिके लिए प्रयत्न नहीं करते, किन्तु आपसके झगड़े ही बढाते हैं, वे दो पैराले होनेपर भी मानव या मनुष्य नहीं कह जा सकते।

हम मंत्रका उपदेश हम लोगोंकी वर्तमान दशा में भरछी तरह उपयोगी हो सकता है। उपर्युक्त मंत्रोंके पढ़नेसे ज्ञात होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतके द्वारा देशवाधियोंमें एकता बढानेके लिए जो कुछ कहा जा सकता है, कह दिया गया है। अब हम चाहें तो उसका उपयोग करें, चाहें तो न करें। यदि हम उससे लाभ न उठावें तो उसमें परमपरा क्या दोष? दोष है अनुयायियोंका। एकपदा उपदेश धूल लेनेपर प्रत्येकको जान लेना चाहिए कि हमारे देशके प्रति हमारा पुत्रावका नाता किस प्रकार है। इस संबंधकी जानकारी उसे सदैव अपने मनमें जागृत भी रखना होगा। निम्नलिखित मंत्रकी अब देखाए—

स्वजातारवधि चरन्ति मार्गास्व विमर्दि शिपद्वारं  
अनुभूयः । तवेमे पृथिवि र्धन मानवा देवोऽवोतिमुत्र  
मार्गस्य दयम् स्वर्गं विसमिश्रितमोति १५ ॥

"हे मातृभूमि! तोते उल्लस हुए हम सब मनुष्य तुझपर ही प्रभु रहे हैं। तू ही शिपद्वार और अनुभूयका पोषण करती है। हम पाँचों प्रकारके मनुष्य तेरे ही हैं। हम मानवोंकी प्रतिदिन उगनेवत्ता सृष्टि अपनी विराजोके तेज और अमृत देता है।"

इस मंत्रमें सर्वप्रथम बड़ी बतलाया गया है कि 'हम मनुष्य मृदातासे [रक्त जातः] ही उत्पन्न हुए हैं और तुझपर ही प्रभुते ईश्वरते हैं।' वह बात स्पष्ट एवं असंदिग्ध है। प्रत्येक राष्ट्रभक्त अपने स्वयं की भाव रखता है। यदि नहीं रखता तो उसे अवश्य ही रक्षना चाहिए। तभी वह राष्ट्रकी उन्नतिके वेव कार्य कर सकेगा मातृभूमि हमारी अनंतकरीत वा वायव्यिक मता नहीं, बलविक मता है। वह अनुभव जितना जानित होगा, उतनी ही वह मनुष्य वह मनुष्य मातृभूमिकी सेवा करेगा।

यदि वाचक विचार करेंगे तो वे जानेंगे कि हमारे देशमें जो आतीय आगते होते हैं उनका कारण यह है कि इस देशके निवासी नहीं समझते कि सचमुच हम सब मातृभूमिक पुत्र हैं। लोग अपने अपने पंथके हितकी दृष्टि रखते हैं। सबका मिलकर जो राष्ट्रधर्म है उसका पालन कोई नहीं करता। इससे सबको एक राष्ट्रधर्मका बंधन नहीं रहता। प्रत्येकको अपना पंथ ही अधिक प्रिय होता है। सर्व-राष्ट्रीय धर्मके पालनकी कोई कृति ही नहीं करता। ऐसे घातक विचार किसी भी देशके निर्वासयोजनेमें किसी भी आतंक लोग न रखे। इसी मंत्रमें स्पष्ट दृष्टिकोणमें कहा गया है कि 'हम सब मातृभूमिक बालक हैं।' वाचक यदि इस अनुपम मंत्रपर विचार करें तो उन्हें विदित होगा कि आपसी फूट की यह अवसर दबा है। मनुष्य किसी भी धर्म के या पंथके नहीं, या उनमें जाति और वर्णके कारण किसी भी भिन्नता क्यों न आई हो; यदि वे एक राष्ट्र-धर्मसे बंधे जावेंगे, तो परस्पर वैरभाव उत्पन्न ही न होगा।

हमारी मातृभूमि हम द्विपदोंका और अन्य चतुष्पदोंका उत्तम प्रचारके पांशव काता है। इस स्तार्थी दृष्टिसे भी यदि देखें तो भी द्वाएक मनुष्यके लिए उत्तम बात यही होगी कि वह हममें मातृभूमिकी भक्ति रखे और उसकी रक्षाके लिए यदैव तैयार रहे। हम अपने मदानकी रक्षा करते हैं, अपनी जमीन की रक्षा करते हैं, यह सब हम इसीलिए करते हैं कि उससे हमारा हित होना है। हमारा हित मातृभूमिसे भी होता है। क्योंकि वही मातृभूमि मनुष्योंकी और पशुपक्षियोंकी अन्न, उदक आदि देती है और उनकी रक्षा करती है। यदि हम मातृभूमि की रक्षा न करेंगे तो वह किसी दूसरेके आधीन हो जावेगी और तब हमारी आत्मा होगी, हमें सूखी मरनेकी नीबूत जावेगी।

इसपर विचार न करेंगे ?

इस विचारको मनमें न रख कि "हे मातृभूमि ! हम तेरे बालक हैं।" हम समझते हैं कि हम अपने भिन्न भिन्न पंथोंके हैं। इसके समान दूसरी भवेकर मूल नहीं है। सर्वप्रथम हम अपने राष्ट्रके हैं, तत्पश्चात् अपने पंथके हैं। यही बाना द्वाएक मनुष्यको रक्षना उचित है। यदि मनुष्य यह जाना न रखे तो राष्ट्रहीन होना टाल नहीं सकते। वाचक देख सकते हैं कि अधर्ववेदके इस वैदिक राष्ट्र-गीतक पद्ये ६ मंत्रमें कैसे महारक्षा उपदेश दिया है। हमारी वर्तमान गिरा दशामें ये अनमोल उपदेश-रत्न हैं। हमारा उत्थान कर सकते हैं। इतना ही नहीं वे हमारा यश चारों दिशामें फैला सकते हैं। प्रिय वाचक ! आप इसी दृष्टिसे इन मंत्रोंका विचार करें और उसके उपदेशोंको कार्यमें परिणत करें।

यद्यपि लेखमें बतलाया गया कि मातृभूमिक वैदिक गीतकी साधारण बातें क्या हैं, तथा यह भी दिखाया गया कि जनतामें भिन्नता रहते हुए भी एकताका साधन कैसे करना चाहिए और मातृभूमि की सेवाके लिये सब मिलकर किस प्रकार तैयारी करें। विष्टले लेखोंसे वाचकोंको निम्न हुआ होगा कि इस वैदिक राष्ट्रगीतमें राष्ट्रीयता के लिये उत्तम तरकोंका समावेश हुआ है, जैसे तत्त्व अन्य किसी देशके राष्ट्रगीतमें नहीं है। तथापि आवश्यक यह है कि इस राष्ट्रगीतपर और भी कई टाटवोंसे विचार किया जाय।

जनतामें मातृभूमिक लिये प्रेम उत्पन्न होना चाहिए। यह प्रेम सभी हो सकता है जब कि देशके नगरों, पहाड़ों एवं अन्यत्र स्थानोंके प्रति आदर हो। आदर किसी विशेष महारक्षक कारणों से ही हो सकता है। यदि हम कहें कि इसका आदर करो, तो हमारे कहनेसे कोई आदर न करेगा। किसी स्थानके प्रति आदर सभी हो सकता है जब उत्तम विधि महारक्षकी पुन्यवरी घटनासे संबंध हो, या उत्तम किसी महारामासे संबंध हो, या अन्य किसी विशेष घटनासे उत्तम संबंध हो। अतएव हमें यह देखना है कि वैदिक राष्ट्रगीत इसकी उत्तम किस प्रकार बता दे-

“ हमारी जिस मातृभूमिके नगर देवीं द्वारा बनाए गए हैं और जिसके क्षेत्रोंमें सब मनुष्य विविध काम करते हैं, उन सब पदायोंको अपने गर्भमें धारण करनेवाली मातृभूमिकी पर-मेश्वर सब दिशाओंमें हमारे लिये रमणीय बनाये।”

अब इसके (यस्याः देवकृतः पुरः) “जिसके नगर देवीं द्वारा बनाये गए हैं” वाला भाग देखिए। जनताकी विश्वास होना चाहिये कि हमारी मातृभूमिके नगर देवीने बसाए हैं, हमारे नगरोंसे देवीका संबंध है, देवीका देवत्व हमारे नगरोंसे देखा है। इस प्रकारका जीवन विश्वास यदि जनताके मनमें स्थापन बना ले, तो निश्चय ही है कि अपने देशके बारेमें मनमें जागृति होगी।

इतिहासमें उल्लेख है कि हमारी हिंदूभूमिके विविध नगरोंका संबंध देवीसे हुआ है। भगवान श्री रामचंद्रजीका संबंध अवध्यासे और रामेश्वरसे है। श्रीकृष्णजीका संबंध गोकुल वृंदावन, तथा द्वारकासे है। इंदुका संबंध ईश्वरस्थसे है। हमारे देशके आबालवृद्ध जानते हैं कि इस प्रकार अनेक नगरोंसे देवीका संबंध है। अविद्या, तालाव, छोटावर, पर्वत-गुप्त, गुफाएं आदि स्थानोंमें देवदेवताओंका वा पुत्र पुत्रियोंका संबंध रहा है। इसका हाल मंत्रोंमें भी पाया जाता है और सब स्त्रीपुरुषोंकी भी कथा-पुराण आदि ग्रन्थोंमें मातृम हुआ है। गौरीशंकर और केलाचके पर्वत-शिखरोंका संबंध साक्षात् भगवान् शंकरसे पाया है। बर्मादेशके आश्रमका संबंध नर-नरायण ऋषि-मुनिसे है। मातृभूमिकी हठ अतिके लिए परम आवश्यक है कि यह संबंध देशके सब स्थापकोंकी विदित होवे।

कुछ अधिक शिक्षित लोग कहेंगे कि “यह अंधविश्वास कि जिस लिए बिल्कुल स्वायत्तारिक हितकी दृष्टिसे भी मातृभूमिके प्रति भक्ति हो सकती है।” बात बिल्कुल ठीक है। पर अंधविश्वासके सामने साय भी यदि लोगोंके हृदयमें ऊपर लिखे संबंधोंका भी विचार आवे तो भी नुकसान कुछ न होगा। बालक अपनी मातापर प्रेम करता है। पर इसलिये नहीं कि माता ईश्वर देवी माता वृक्षदेवी है। वह प्रेम करता है क्योंकि “म सुदेवी अम्” के अनुसार माता एक देवता है। बालकका माताके प्रति प्रेम इसी दिव्य साधनके कारण रहता है। बालकका माताके प्रति और माताका बालकके प्रति अश्रुप्रिय प्रेम रहता है। बदलेकी आशा म कर जो प्रेम किया जाता है, वही दिव्य प्रेम है वही निरपेक्ष अश्रुप्रिय प्रेम है। इसीलिये मातृभूमि स्वायत्तारिक प्रेम नहीं है। मातृभूमिका प्रेम भी इसी प्रकार अश्रुप्रिय, निःसीम, आसक्ति

और दिव्य होना चाहिए। अश्रुप्रिय प्रेम उत्पन्न होनेके हेतु उपर्युक्त मंत्रमें लिखा है कि अपने देशके नगरोंका संबंध देवीसे है यह बात सब लोगोंको मातृम रहनी चाहिए और सब लोग यही सोचें कि हमारे नगर देवीने बसाए हैं।

जो हमारी लोग आर्थिक वा व्यावहारिक हितकी दृष्टिसे मातृभूमि की भक्ति करते हैं, वे भले ही वैसा करें। उसमें किसीकी कलह नहीं। परंतु सब जनता उन कोटि की जानी नहीं हो सकती। अतएव साधारण लोगोंमें विशेष प्रेम उत्पन्न होवे इसी सरजसे सबको मातृम होना आवश्यक है कि हमारे देशके स्थानोंका संबंध देवीसे वा ऋषिसे है।

प्रतापगढ़से तथा सिंहगढ़से शिवाजी महाराजका संबंध, उदयपुरसे महाराणा प्रतापसिंहका संबंध हावसि रानी लक्ष्मीबाईका संबंध, गढ़ मंडलासे रानी दुर्गावतीका संबंध परलसे स्वामी रामदासका संबंध और इसी प्रकार भिन्न भिन्न इतिहासप्रसिद्ध रूपोंसे ऐतिहासिक व्यक्तियोंका संबंध मातृम होना परम आवश्यक है। सिंहगढ़का वा अन्य किसी स्थानका कुछ रथ नका जिससे शिवाजी महाराजका संबंध रहा है, यदि कोई मंत्र करे वा अन्य इतिहासप्रसिद्ध व्यक्तिके स्थानका कोई अपमान करे तो उस कुछ कार्यसे संपूर्ण भारतके हृदयमें चोट पहुँचती है। संपूर्ण भामन उस दुःसह्यका जवाब पूछनेकी तैयार हो जाता है। इसीमें राष्ट्रीय उन्नतिका बीज है।

इसीलिए जब विदेशी सरकार दूसरे देशपर अपना अधिकार जमाती है, तब उस देशके ऐसे इतिहासप्रसिद्ध स्थानोंकी मुल्यमें घटस रहती है। वह तत्पर रहती है कि ऐसे स्थानोंका लोगोंको पता भी न रहे। इसका भी मर्म यही है। मुसलमानोंने प्रयागका नाम अलाहाबाद रखा, अहमदाबाद नाम इस्लामाबाद रखा, मार्तण्डकी गढ़न कहा, काचा मर्यादा बापं मोहिद्विषि कर डाला, श्री चंडराचार्यके स्थानको तटत-इ-मुल्लमान कहा और इसी प्रकार हजारों शहरोंके और स्थानोंके नाम बदल दिये। इसका रहस्य हम ऊपर बतला चुके हैं।

अब अंधविश्वास राज हुआ तब उन्होंने धर्मकीर्तियोंके तीर्थोंकरछ मम मीट एग्रेट रखा दिया और विमला, महाबलेश्वर आदि पर्वतराजोंके शिखरोंके अग्रजों नाम बना दिये। इसी प्रकार अन्य कई स्थानोंका अंधविश्वास हुआ।

मुसलमानोंने अहिंसे और मूर्तबोध विध्वंस किया और बलाकायसे लोगोंको अपने धर्ममें मिलाया। अब ईसाई लोग

धर्मांतर करा रहे हैं । वे प्रायः प्रत्येक देवस्थान और तीर्थ-स्थानमें खड़े रहकर उसकी निंदा करने हैं । इसका भी कारण यही है जिससे कि हमारा हमारे देशके स्थानोंका अभिमान नष्ट हो जाय ।

विजेता मुसलमान रहें, अंग्रेज रहें या जापानी रहें, उनका सबका स्वभाव एकहीसा होता है । जित लोगोंके हृदयसे मातृ-भूमिची भक्ति नष्ट करनेके लिए वे जो कुछ कर सकते हैं वह करनेमें चूँके नहीं । मातृभूमिके विषयमें प्रेम और भक्ति नष्ट करनेके लिए अपने देशके तीर्थस्थानोंका प्रेमपूर्ण इतिहास जनताके हृदयमें सदैव जागृत रहना चाहिये । जबतक जनतामें मातृभूमिका प्रेम जागृत रहेगा तबतक विदेशी जैताओंके पैर जम नहीं सकते । यही सार्वत्रिक नियम होनेसे सब जैते जाती हुई पादाश्रित जनताकी मातृभूमिके प्रेमके सब बिंदु जलदी मिटानेका प्रयत्न करते हैं । संसारके इतिहासमें वाचक इसकी पुष्टि उदाहरण स्पष्टतया देख सकते हैं । पुष्टि देखनेपर ही उन्हें ऊपरके मंत्रके उपदेशका रहस्य विदित होगा ।

यह तो स्वभाविक ही है कि लोगोंका मालूम हो कि हमारे देशके नगर देशोंके बनाए हैं, हमारे पूर्वजोंका उनसे जो संबंध है उसका स्मरण रहे, बड़े बड़े महात्माओंके चरणरजका स्पर्श होनेसे वे स्थान तारक हो गये हैं । वेदमंत्रमें ऊपरके राष्ट्र-गीतके इन भावोंका स्वयं परिचय करा दिया है । अतएव पाठक इस मंत्रका जितना अधिक विचार करेंगे उतना ही उनके लिए अच्छा होगा ।

स्वातंत्र्य और वारतंत्र्यका यह भेद स्थानमें रखना चाहिये । देशके नगरोंके प्रति अपनेपनका भाव मालूम होनेका महत्व जो ऊपरके मंत्रमें बतलाया गया है वह हमें भारी महत्त्व है, जो अपने देशकी जन हयतिसे सहज ही समझ सकते हैं । आज जो सात करोड़ भारतीय मुसलमान हैं, वे नरक प्रति-स्थान हिंदू ही हैं । पर धर्मांतरके कारण वे हिंदुओंके बाहर हैं । इथीलिये बनारस, रामेश्वर आदि पवित्र तीर्थस्थानोंके प्रति जनमें अपनेपनके भाव नहीं हैं और विदेशके मन्त्र, मदीनसे उन्हें नाम तो जोड़ लिया है । इससे उन्हें भारतदेश अपनी मातृभूमि नहीं मालूम होती । वाचक देख सकते हैं कि राष्ट्र-की उन्नतिकी दृष्टिसे इस देशका कंसा मारी नुकसान हुआ है । धर्मांतरके बारेमें यदि प्राचीन आर्य हिंदुओंने अपनी कीर्ति उचित रखी होती, तो आज यह दर्शन होती । हमारी इस वर्तमान दशाकी स्थानमें रखकर उक्त मंत्रपर विचार करना चाहिये, तब उस मंत्रकी महत्ता और उसके अमोक्ष उपदेशका रहस्य मालूम होगा ।

### अपि-मरण ।

यस्यां पूर्वं भूतकृत अस्वयो या उदात्तपुः ।

सप्त सत्रेण वैधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३१ ॥

“ जिस मातृभूमिमें पूर्वके जमीन, देशका भूतकृत बनाके वाले अस्विकेने सप्त और सत्र करके तथा तप करके ( याः ) अस्वयोका उद्धार किया ” वह हमारी अष्ट मातृभूमि है । ( भूतकृतः अस्वयः ) हमारे देशका भूतकाल इतिहास

भावना मनमें स्थिर हो जाये। हमारे विचारसे इसमें दो मत हो नहीं सकते।

जिन्होंने धर्मांतर किया वे लोग भी अपने ही हैं। वे उन्हीं प्राचीन ऋषियोंके वंशज हों हुए भी धर्मांतरके कारण उन्हें अपने प्राचीन देवीपूज्यमान इतिहासके विषयका अभिमान नष्ट हो गया। इससे इनकी बात छोड़ दे तब ऊपरके सिद्धान्तका कोई इन्कार नहीं कर सकता।

ऊपरके विवेचनसे विदिन होता है कि यह मातृभूमिका वैदिक राष्ट्रीयता, वितर्कानेकालके दृष्टिसे वाचकोंके मनमें अपनी मातृभूमिके प्रति आदर बढ़ाता है। इस अति प्राचीन राष्ट्रीयताके प्रति वाचकोंके मनमें निःसंदेह आदर उत्पन्न होता है।

अब लोग सन् और यज्ञसे राष्ट्रकी सहायता और राष्ट्रकी आधुनिकता करते थे। वर्तमान संश्लिष्ट यज्ञपद्धतिसे कोई भी प्राचीन सन् और यज्ञकी कल्पना नहीं कर सकता। इस पद्धतिका स्वरूप हम स्वतंत्र लेखमालिकमें दिखावेंगे, अतएव यहाँ उसके बारेमें विशेष न लिखेंगे। पहलेके वैदिक कालके यज्ञ और सन् आजकलके समान छोटेसे बड़ेमें नहीं हो सकते थे। उनके संयोगका विस्तार कई कौनों तक रहा करता था। यह एकदम बात असंभव होगी कि प्राचीन कालके यज्ञोंका स्वरूप बिल्कुल भिन्न था। राष्ट्रीयताका विचार ऋषियोंके अत्यंत परिश्रमसे जनतामें जारी हुआ। इसीलिए ऊपरके मंत्रोंमें "भूतकाल भगवन्नामो अग्नि" कहकर उनका सम्मान किया है। इसीके संवेपका निम्नलिखित अर्थवैदिक मंत्र देखिये—

अग्निमिच्छन्त आरयः स्वर्गदत्तपोदोक्षाधुपनिषेदुःप्रम।

तपो राष्ट्रं ब्रह्मोऽग्र्यं ज्ञानं तपस्वि देवा उपसन्नमन्तु ॥

( अथर्ववेद ११।४१।११ )

"लोगोंका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले आरमण्यगी ऋषियोंने प्रारंभमें तप किया, उससे राष्ट्र, ब्रह्म और आज हुआ। अतएव देवोंको चाहिए कि इसे नमन करें।"

इसमें बतलाया है कि राष्ट्रीयताकी कल्पना ऋषियोंके प्रयत्नसे कैसे उत्पन्न हुई। वाचक देख लें कि ऋषि "भूतकाल भगवन्नामो" किस प्रकार थे। राष्ट्रीय भाव राष्ट्रपूज्य है। उससे पुष्टमेका प्रयत्न हरएकको करना चाहिए। ऋषियोंने राष्ट्रनिर्माणमें जैसे प्रयत्न किये वैसे ही अन्य पूर्वजों भी किये। उसका स्मरण करना भी आवश्यक है। आपके मंत्रमें उन पूर्वजोंका स्मरण है—

## देव-पूजा ।

यस्यां पूर्वं पूर्वजना विचारिरे यस्यां देवा असुरागभ्यवर्षयन्।  
गवामधानां वयसश्च विद्या भयं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥५॥

"हमारी जिस मातृभूमिमें हमारे प्राचीन पूर्वजोंने पराक्रम किया और जिसमें देवोंने असुरोंको मगा दिया; जो गौर्व, घोड़े और पक्षियोंको अच्छा स्थान देती है, वह हमारी मातृभूमि हमें ऐश्वर्य और तेज देवे।"

हमारे प्राचीन कालके पूर्वजोंने इस भूमिमें घड़े बड़े प्रयत्न किये, अनेक लड़ाइयाँ कीं, अनेक चडाइयाँ कीं, यन्त्रोंकी नीतिके सुद किये और खुते मैदानमें लड़ाइयाँ कीं, इतना सब काम करके अपना मातृभूमिका यश उज्ज्वल किया। वह हमारी मातृभूमि आज हममें कैसी रखी है। हमारे पूर्वजोंका प्राचीन इतिहास हमारी दृष्टिके सामने है। क्या हम लोगोंका बतवि उस इतिहासके योग्य हैं। उन समरविजयों पूर्वजोंके वंशज होनेका हमें कुछ तो अभिमान चाहिए। उनकी कीर्तिके घोषा देने योग्य हमें कुछ भी तो काम करना चाहिए। पाठक गण ! विचार कीजिये। हमारा वैदिक राष्ट्रीयता क्या कहता है जरा देखिये तो।

जिन देशमें प्राचीन समयमें देवोंने असुरोंको युद्धमें पराजित कर मगा दिया और हम लोगोंके लिये यह देश स्वतंत्र रखा, उसी देशमें हम लोगोंने पराधीनताकी कालिमा लगा दी। कैसे शोक की क्या। वाचक ही विचार करें कि राष्ट्रीयता हमें किन बातोंका स्मरण दिलाता है। प्राचीन पूर्वजोंने यों किया और यों किया। ये बातें केवल हमें अभिमान और गर्वके लिए नहीं कहनी चाहती। उनके करनेका उद्देश्य यह होता है कि उन पूर्वजोंके उज्ज्वल कार्यसे हमें प्रेरणा मिले और हम भी कुछ वैसा ही कार्य करें। हम लोगोंको चाहिए कि उन उद्देश्य की पूर्ति हम लोगोंसे कहीं तक हो सकी है वह देखें और उस नम्रताकी पूरा करकेका विषय करें।

हमारा यह वैदिक राष्ट्रीयता हमारे धर्मधर्मोंमें लिखा हुआ है। इसके जैसा राष्ट्रीयता दूसरे देशोंके धर्मधर्मोंमें तो है ही नहीं, पर इन लोगोंके अन्य किसी प्रयोग भी नहीं है। ऐसा होते हुए भी हमारे देशके लोग राष्ट्रीयताके विषयमें साधारण हैं और अन्य बहुतसे देशोंके लोग राष्ट्रीयताके विषयमें तत्पर हैं। इन देशोंके देशभक्तों के पास मारी, मरने होता है। हमारा राष्ट्रीयता इतना विरल है। उसमें सदा विषयोंके

७ सूर्यावर्त्त—महान् महत्तरादी सूर्य भगवान् ही इसका देह है, अर्थात् यह उस में भी है इतनाही नहीं, परंतु उसका वश तेज भी इसमें प्राप्त हुआ है। यह इसकी महिमा है ( मं० २ )। इसी प्रकार अग्न्याग्न्य पदार्थोंमें इसकी सत्ता देखनी चाहिए। यह शब्द एक उपलक्षण मात्र है।

८ विद्या-वस्तुः ( संघर्षः )—विद्यका यही विद्यासक्त है। ( मं० ४ )

ये लक्षण स्पष्ट कर रहे हैं कि यहाँका यह संघर्षका वर्णन निःसंदेह परमात्मा का वर्णन है। किसी भी अन्य पदार्थ में ये सब अर्थ पूर्णरूपसे धार्य नहीं हो सकते। इसलिए पाठक इन लक्षणों का मनन करके अपने मनमें इस परमात्मा देव की भाँति स्थिर करें, क्योंकि यही एक सबके लिए पूत्रर्था देव है।

### ब्रह्मकी ब्राह्म उपासना।

इस परमात्माकी प्राप्ति इसकी उपासनासे होती है। इस सूक्तमें इसकी ' ब्राह्म उपासना ' करनेका विधान बड़ा सरल पृथक् है।

१ तं वा यौमि ब्रह्मणा। ( मं० १ )

२ नमस्यः। ( मं० १, २ ) नमस्ते ब्रह्म। ( मं० १ )

३ विष्टु ईप्स्यः। ( मं० १ )

४ सुबोधाः। ( मं० २ )

ये चार मंत्र भाग इसकी ब्राह्म उपासना करनेके मार्ग की सूचना दे रहे हैं। ब्राह्म उपासना का अर्थ ' ब्रह्मदर्शन ' अथवा मन द्वारा करने की ' मानस उपासना ' ही है। अथवा बुद्धि वित्त मन आदि अंतःसाधनोंसे ही यह परमात्मा पूजा होती है, इन चारोंका नामही चारोंमें ब्रह्म है। ब्रह्म शब्दका अर्थ मंत्र भी है और मंत्रका आशय ' मनन ' है। मननसे वह उपासना करनी होती है, मनके मनन से ही वह हो सकती है, किसी अन्य रीतिसे यह नहीं होती है, वह स्पष्टतया ब्रह्मके लिए बर्णित ' ब्रह्मणा ' शब्द इस मंत्र में प्रयुक्त हुआ है। यह बात ध्यान में धारण करके उक्त चार मंत्रभागोंका अर्थ ऐसा होता है—

१ तं वा यौमि ब्रह्मणा—उक्त पुरुष परमात्माको मननसे प्राप्त होता हूँ। ( मनन )

२ नमस्यः [ नमस्ते ]—तू ही एक नमस्कार करने योग्य है। ( मनन )

३ विष्टु ईप्स्यः—धन अग्न्यमें तू ही प्रसंसा करनेके लिए योग्य है। ( वर्षत्र दर्शन )

४ सुबोधाः—पूरी उत्तम चेतनके लिए योग्य है। ( चेतन )

है । मननके पदचात की यह स्वाभाविक ही अवस्था है ।

३ “ दर्शन ” मननसे ही उसकी सार्वत्रिक सत्ता का भी अनुभव होता है । स्थिर चरमें एक रस व्यापक होनेका साक्षात्कार होनेकी यह तीसरी उच्च अवस्था है । जगत्के अंदर प्रभुका ही सर्वत्र साक्षात्कार इस अवस्था में होता है ।

ये तीनों मानसिक क्रियाएँ हैं । इसके पश्चात् यह भक्त अपने आपको परमात्माके परम यज्ञमें समर्पण करता है, वह सेवा-वस्था है ।

४ “ सेवन ” यह इस अवस्थामें उसका सेवक बनता है । सेवन और ‘मजन’ ये दोनों शब्द समान अर्थके ही हैं— सेवन और मजन एकही अर्थ बताते हैं । प्रभुके कार्यके लिये अपने आपको समर्पित करना, यही भक्ति या सेवा है ।

‘दीनों का उद्धार’ करना, साधुओंका परित्राण करना, सज्जनोंकी रक्षा करना, दुर्जनोंको दूर करना, ये ही परमात्मा के कर्म हैं । इन कर्मों को परमात्मार्पण बुद्धिसे करनेका नाम ही उसकी भक्ति या सेवा है ।

## नामस्मरण ।

नामस्मरण का भी यही तात्पर्य है, जैसा “ हरि ” ( दुःखोंका हरण करनेवाला ) देव है, इसलिए मैं भी दुःखितोंका दुःख यथाशक्ति हरण करूँगा और दूसरों को सुख देने के कर्म से ईश्वर की सेवा करूँगा । ‘ राम ’ ( आनंद देनेवाला ) ईश्वर है इसलिये मैं भी हीन दुःखी मनुष्यों या प्राणिजोंकी पीड़ा दूर करनेके यत्न द्वारा परमात्माकी भक्ति या सेवा करूँगा । ‘ नामस्मरण ’ का यही उद्देश्य है । यद्यपि आजकल केवल नामका स्मरणही रहा है और उससे प्राप्त होनेवाले कर्मव्यवस्था का पालन नहीं होता है, तथापि वास्तुतः इससे महान् कर्तव्य सूचित होते हैं, वह पाठक विचारसे आने और परमेश्वरके इतने नाम कहनेका सुख उद्देश्य समझ लें । अनेक ग्रंथ पढ़ने से जो कर्तव्य नहीं समझता, वह एक नाम के मननसे समझमें आता है, इसीलिये वेदादि ग्रंथोंमें परमात्माके अनेक नाम दिये होते हैं और वे सब बड़े मार्गदर्शक हैं, परंतु देखनेवाला और कर्म करनेवाला भक्त चाहिये ।

अस्तु । ईश्वर स्थापना के ये चार भाग हैं, इसका अधिक विचार पाठक करें और इस मार्गसे चलें । यही सीधा, सरल और अतिसुगम मार्ग है ।

## ब्राह्म उपासना का फल ।

पूर्वोक्त प्रकार मानस उपासना करनेसे जो फल प्राप्त होता है, उसका वर्णन भी इन मंत्रोंमें पाठक देख सकते हैं—

१ सत्त्वा योमि-परमेश्वरके साथ मिलना, ब्रह्मरूप अवस्था प्राप्त करना । ( मं. १ )

२ दैव्यस्य हरतः अवयवात्-परमात्मा सब महावीर्याओंकी दूर करनेवाला है, इसलिये सब पीड़ा उसकी प्राप्ति से दूर हो जाती है । ( मं. २ )

३ मूढात्-बुद्धि आनंद देता है । ( मं. २ )

इन शब्दोंके मननसे पाठकोंको पता लग जायगा कि, उपासना का फल परमानंद प्राप्ति ही है । वह प्रभु सच्चिदानंद स्वरूप होनेसे उसके साथ मिल जानेसे वही आनंद उपासकमें आ जाता है और जितनी उपासनाकी दृढ़ता और पूर्णता होगी, उतना वह आनंद दृढ़ और पूर्ण होता है । यह फल प्राप्त करनेका ही पूर्वोक्त वैदिक मार्ग है ।

यहाँ पहिले दो मंत्रोंका विचार हुआ । इसके पश्चात् के तीन मंत्रोंका वर्णन ठीक प्रकार समझमें आनेके लिये उस वर्णनके प्रथम अपने शरीरमें अनुभव करना चाहिये और पश्चात् वही भाव विशाल जगत्में देखना चाहिये—

## अपने अंदरकी जीवन शक्ति ।

इससे पूर्व बताया गया है कि, जलतरवके आश्रयसे कार्य करनेवाली प्राणशक्ति या जीवनशक्ति ही ‘ अपहराः ’ शब्दसे इस सूत्रमें कही है, देखिये इसका वर्णन—

१ कुन्दाः—पुष्करनेवाली, बुलानेवाली, प्रेरणा देनेवाली । प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति प्राणियोंकी प्रेरित करती है, इस अर्थका वाचक यह नाम है ।

२ तमिषी-चयः—( तमिषी ) रक्तानी अथवा यकान्ठको ( चयः ) दूर करनेवाली, यकान्ठ को हटानेवाली प्राणशक्ति है । जो उरसाह प्राणमान में है वह प्राणशक्ति का ही है, प्राणायाम से भी उरसाह बढने और यकान्ठ दूर होनेका अनुभव है ।

३ अक्ष-कामा—( अक्षि-कामा ) आँखोंकी कामना पूर्ण करनेवाली । पाठक देखें कि जबतक शरीरमें प्राण रहता है तभी तक शरीर आँखोंको तृप्त कर सकता है । मुर्दा देखकर किसी मनुष्य के आँख तृप्त नहीं होते । इससे आँखोंकी तृप्ति प्राण शक्तिसे होती है यह स्पष्ट है ।

४ मनो-सुहः—मनको मोहित करनेवाली । इसका भाव भी उक्त प्रकार ही है ।

ये चार शब्द शरीरमें प्राण शक्तियों अथवा जीवन की शक्तियोंके वाचक हैं । पाठक इन शब्दोंके अर्थोंका अनुभव अपने अंदर करें। इनको ( भंज पंमें ) ' गंधर्व-पत्नी अप्सरा ' कहा है। गंधर्व इस शरीरके अंदर जीवात्मा है और उसकी परित्ये जीवन शक्तियाँ अथवा प्राण शक्तियाँ हैं, प्राण जलतरवके आश्रयसे रहता है, इसलिये जलाश्रित होनेके कारण ( अप्सरा-संघः ) यह शब्द प्राणमें अत्यंत साय होता है । इन प्राणशक्तियों को मनन पंचम मन्त्रमें किया है । प्राणके आधीन सर्व जगत् है यह देखनेसे प्राणका महत्त्व जाना जाता है । पाठक भी अपने शरीरमें प्राण का महत्त्व देखें, प्राण रहने तक शरीर की शोभा कैसी होती है और प्राण जानेके पश्चात् शरीरकी कैसी अवस्था हो जाती है, इसका मनन करनेसे अपने शरीरमें प्राणका महत्त्व जाना जा सकता है । जो नियम एक शरीरमें है वही सब शरीरों के लिये है। इस प्रकार प्राणकी दिव्य शक्तिका अनुभव करके इस मंत्र ५ में उस प्राण को मनन किया है ।

### प्राण का प्राण ।

यहाँ प्रश्न होता है, कि क्या यह परित्ये स्वतंत्र है या परतंत्र ? ' पत्नी ' शब्द कहने मात्रसे ही यह पतिके आधीन, पतिके साथ रहनेपर शोभा को बढनेवाली, पतिके रहित होनेसे दुःखी, पति ही जिसका सहाय्य दैवत है, इत्यादि बातें ज्ञात होजाती हैं । वेदके धर्ममें पतिके साथ धर्मचरण करनेवाली सहधर्मचारिणी ही पत्नी होती है । इसलिये गंधर्व ( आत्मा ) और अप्सरा ( प्राणशक्ति ) उठी नातेसे देखने चाहिये । जिस प्रकार पतिये शोभा प्राप्त करके पत्नी गृहस्थकार्य करती है, वही प्रकार इस छोटे गंधर्व ( जीवात्मा ) से उसकी अप्सरा स्त्री ( प्राणशक्ति ) बड़ा प्राप्त करके अपने गृह ( शरीर ) के अंदरके सब कामकाज चलाती है । इसलिये जो सौंदर्य अथवा शोभा धर्मपत्नीकी दिखाई देती है वह वास्तवमें पतिये ही प्राप्त हुई होती है, इसलिये धर्मपत्नीको किया हुआ ममस्कार धर्मपत्नीके लिये नहीं होता है, परन्तु वह उसके पतिके लिये ही होता है, क्योंकि पति विरहित विधवा स्त्रीको अशुभ समझकर कोई ममस्कार नहीं करते । इसी प्रकार यहाँ बताया यह है कि प्राणशक्ति अथवा जीवनशक्ति जीवात्मके आश्रयसे कार्य करनेवाली है, उसके अभावमें यह कार्य नहीं कर सकती । इसलिये जो वर्जन, प्रशंसन या महत्त्व प्राणशक्तिका बताया जाता है वह प्राणका नहीं है, परन्तु प्राणके प्राणका-अर्थात् आत्माका- है, यह बात भूलना नहीं चाहिये । इसी कारण यहाँका प्राणशक्तिके दिया हुआ मनन आत्माके ही उद्धारके है, न कि केवल प्राणके लिये ।



पतिकी सत्ता देखनी होती है, पतिहीन छा दुर्वादिनी समझी जाती है; इसी प्रकार आत्मारहित शरीर और परमात्मारहित जगत है ।

गुलाब का फूल, आमका वृक्ष, सूर्यका प्रकाश, इसी प्रकार प्राणियोंका प्राण आदि सब देखते हुए सबन आत्माकी शक्ति अनुभव करनी चाहिये । वही सचका धारक “ गंधर्व ” सर्वत्र उपस्थित है और उसकी प्रभावसे यह सब प्रभावित हो रहा है, ऐसा भान मनमें छा जाग्रत रहना चाहिये । इस विचार से देखतेसे अप्सराओंको किया हुआ नमन गंधर्वके लिये कैसा पटुचता है, यह बात स्पष्ट होगी और यह गंधर्व भुवनोंका एक अद्वितीय पतिही है, वहा सब के लिये ( नमस्य ) नमस्कार करने योग्य है, यह जो प्रथम और द्वितीय मंत्रमें कहा है उस विधान के साथ भी इसको सगति लग जायगी । नहीं तो पहिले दो मंत्रोंमें यह परमात्मा ( नमस्य ) नमस्कार करने योग्य है ऐसा कहा है, परंतु आगे चतुर्थ और पंचम मंत्रमें अप्सराओंको नमस्कार किया है । यह विरोध उत्पन्न होगा । यह विरोध पूर्वीक दृष्टिसे विचार करनेसे नहीं रहता है—

### विरोधालङ्कार ।

ताम्रयो वो देवीर्नम हूःकृणोमि ॥ ( मं. ४ )

ताम्रयो गार्ध्वपत्नीभ्यः अप्सराभ्यः अहं नम ॥ ( मं. ५ )

‘ सन गंधर्व पत्नी अप्सरा देवियोंको मैं नमस्कार करता हू । ’ पहिले दो मंत्रोंमें ‘ एक ही जगत्पालक गंधर्व नमस्कार करने योग्य है ’ ऐसा कहकर अन्तिम दो मंत्रोंमें उसको नमन न करते हुए ‘ उसकी घर्मपत्नीयोको ही नमस्कार किया है ’ यह विरोधा-लङ्कार है । पहिले कथन के बिल्कुल विरुद्ध दूसरा कथन है । जो ( नमस्य ) नमस्कार करने योग्य है उसको तो नमन किया ही नहीं, परंतु जिनके नमस्कार योग्य होनेके विषयमें किसी स्थानपर नहीं कहा, उनको नमस्कार किया है । इस सूक्ष्म विरोध भी समझल है । पहिले दोनों मंत्रोंमें गंधर्वके नमस्कार योग्य होने के विषयमें दोषार कहा है, इतनाही नहीं परंतु—

एक एव नमस्यः । ( गं. १, २ )

‘ यही एक नमस्कार करने योग्य देव है । ’ ऐसा निश्चयार्थक वाक्यसे कहा है, जिससे किसीको संदेह नहीं होगा । परंतु आश्चर्य की बात यह है, कि जिस समय नमस्कार करनेका समय आया, उस समय वही प्रकार दो मंत्रोंमें ( मं. ४, ५ में ) उसको पानियोंको ही नमस्कार किया है और विशेष कर पतिकी नमन नहीं किया । यह साधारण विरोध नहीं है । इसका हेतु देखना चाहिये ।

### व्यवहारकी बात ।

जिस समय आप किसी मित्रको नमस्कार करते हैं उस समय आप विचार कीजिये कि क्या आप उसको आत्मा को नमस्कार करते हैं, या उसके शरीरको, अथवा उसके प्राणोंको, या वही इंद्रियोंकी करते हैं । आपके सामने तो उसका आत्मा रहता ही नहीं, न आप आत्माको देख सकते, न उसकी स्पर्श कर सकते हैं, जिससे देख मा नहीं सकते उसको आप नमस्कार कैसा कर सकते हैं । विचार कीजिये, तो पता लग जायगा कि आपका नमस्कार आपके मित्रकी आत्मा के लिए नहीं है ।

परंतु यदि ‘ आत्माके लिए नमन नहीं है, ’ ऐसा पक्ष स्वीकारा जाय तो कहना पड़ेगा कि, कोई भी मनुष्य अपने मित्रके सुर्दा शरीरको—मृत शरीरको—नमस्कार नहीं करता । तो फिर नमस्कार किस के लिए किया जाता है ? यह बात हमारे प्रति-दिनके व्यवहार की है, परंतु इसका उत्तर हरएक मनुष्य नहीं दे सकता । परंतु हरएक मनुष्य दूसरे को नमस्कार तो करता ही है ।

### जडचेतन का संधि—प्राण ।

यहा धारतविक बात यह है, कि स्थूल शरीर और उसकी इन्द्रियां, प्रत्यक्ष दिखाई देती हैं, और प्राण यद्यपि अदृश्य श्वाशोच्छ्वास की गतिसे प्रत्यक्ष होता है, परंतु मन बुद्धि और आत्मा अदृश्य हैं । इनमें भी मनुष्यदि इमोंके अनुसंधानसे जानी जा सकती हैं, परंतु आत्मा तो सर्वदा अप्रत्यक्ष है । देखिये—

शरीर — इन्द्रियां — ‘ प्राण ’ — मनबुद्धि — आत्मा  
दृश्य — — — — — अदृश्य

प्राण ऐसा स्थान रमना है जो जो एक ओर दृश्य और दूसरी ओर अदृश्य को जोड़नेका बिंदु है । इसी लिए स्थूल दृश्ये सूक्ष्म अदृश्य तक पहुंचनेके लिए योगादि शास्त्रों में प्राणका ही आलंबन कहा है, क्योंकि वही एक प्राण है कि, जो स्थूल सूक्ष्म, दृश्य अदृश्य, जड़ चेतन, राफि पुरुष इनकी ओर देता है । इस कारण यह सुवनका मध्य कहा जाता है । और आध्यात्मिक उन्नतिके साधन के लिए प्राणकाही आलंबन सबसे सुव्यक्त माना गया है । क्योंकि वह अदृश्य होते हुए अनुभवमें आसक्ता है और इसीसे सूक्ष्मतरंगका अनुसंधान होता है ।

साधारण अज्ञ योग नमन तो स्थूलशरीर को देखकर ही करते हैं, सबसे अधिक ज्ञानी प्राणका अस्तित्व जानकर करते हैं, उससे भी उच्च कोटीके ज्ञानी इसमें जो अभिप्राय है उसको देखकर उसे नमन करते हैं । यद्यपि नमन एकही है तथापि करनेवाले के अधिकार भेदके अनुसार नमन विभिन्न वस्तुओंके लिए होता है ।

### स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान ।

इसमें एक बात सरल है और वह यही है, कि यदि जगत्में स्थूल शरीर-स्थूल पदार्थ-एकभी न रहा, तो चेतन आत्मा भी कल्पना होना असंभव है; इसलिए चेतन आत्माको राफि जाननेके लिए स्थूल विवक्षी रचना अत्यंत आवश्यक है । अतः स्थूल के आलंबन से सूक्ष्मको कल्पना की जाती है और इसीलिए शरीरमें कार्य करनेवाली प्राणशक्तियोंको ( मंत्र ४, ५ ) में नमन करके शरीरके सुदृढाभिप्रायता आत्मा तक नमन पहुंचाया है । यहाँ ध्यानमें धरने योग्य बात यह है कि जब शरीर को नमन नहीं किया; परन्तु जड़चेतन की संश्लिष्ट करनेवाली प्राणशक्तियोंको नमन किया है; अर्थात् स्थूलको पीछे रखकर जहाँ सूक्ष्मकी शक्तियाँ प्रारंभ होती हैं, वहाँ उन सूक्ष्म शक्तियों को नमन किया है । यहाँ बिलकुल स्थूल का आलंबन छोड़नेका भी उद्देश्य मिलता है ।

### प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष ।

इस विभागमें पाठक समझाई गये होंगे कि प्रत्यक्ष वस्तुके निमित्तके अनुसंधानसेही अप्रत्यक्षको नमन किया जा सकता है । जो सब जगत्का एक प्रभु है वह सर्वव्यापक और पूर्ण अदृश्य है, वास्तवमें वही सबके लिए नमस्कार करने योग्य है, और वही दूसरा नमस्कार के लिए योग्य नहीं है; तथापि अमृत के स्थूल-सर्व वंशान्ति पदार्थों के प्रत्यक्ष करनेसे ही उसके सामर्थ्य का कुछ अनुमान हो सकता है, अमृत के कार्य देखने से ही उसके अमृतुग रचना वास्तव्य का अनुमान होता है, इसलिए जगत्में—हर एक पदार्थमें—उनकी धर्मादा अनुभव करना चाहिये और प्रत्येक पदार्थ को देखकर प्रत्येक पदार्थका महारज उसी कारण है, परन्तु-कर उगमें उसको नमन करना चाहिए । तभी तो उसको नमन हो सकता है । सर्वको देखाकर उसके प्रकाश का तेज परमात्मवि प्राप्त है, वह जानकर उसकी अगाध सामर्थ्यका उगमें अनुभव करते हुए अंतःकरणसे उसको नमन करना चाहिए । वही जगत् हर एक वास्तव्य विषयमें हो सकती है । वही बात इसी सूक्ष्मतेके चतुर्थ मंत्रमें कही है—

मेघोंमें चमकने वाली विद्युत्में तथा तेजो गोलकों के प्रकाशमें उस प्रभुकी सामर्थ्य देखना ही उसका साक्षात्कार करना है, यदि विश्वके अंतर्गत पदार्थोंका विचार करना ही छोड़ दिया जाय, तो उस प्रभुका सामर्थ्य कैसा समझमें आवेगा ?

यहां चतुर्थ और पंचम मंत्रोंका विचार समाप्त हुआ और इस विचार की प्रत्यक्षता हमने अपने अंदर देखी, क्योंकि यहीं स्थान है कि, जहाँ हमें प्रत्यक्ष अनुभव होता है । अब इसको जगत्में व्यापक दृष्टिसे देखना है, परंतु इसके पूर्व हमें तृतीय मंत्रका विचार करना चाहिये । इस तृतीय मंत्रमें दो कथन बड़े महत्त्वपूर्ण हैं, वे अब देखिये—

## प्राणोंका जाना और जाना ।

समुद्र मासो स्थानं न जाहुर्यतः सय आ च परा च यन्ति ॥ ( मं. ३ )

‘समुद्र इनका स्थान है, ऐसा मुझे कदा गया है, जहाँसे बार बार इतर आती हैं और परे चली जाती हैं ।’ इस मंत्रमें प्राणशक्तिका वर्णन सतम रीतिसे किया है । ( आयन्ति, परायन्ति ) इतर आती हैं और परे जाती हैं, प्राणकी ये दो गतियाँ हैं, एक ‘जाना’ और दूसरी ‘जाना’ है । स्वास और सक्तवास ये दो प्राणकी गतियाँ प्रसिद्ध हैं । प्राण अपना ये भी दो नाम हैं । एक गति बाहरसे अंदर जानेका मार्ग बताती है और दूसरी अंदरसे बाहर जानेका मार्ग बताती है । ये दो गतियाँ सबको विदित हैं ।

इन प्राणोंका स्थान हृदयके अंदरका मानस समुद्र है, हृदय स्थान है, इस सरोवर या समुद्रमें आकर प्राण डूबकी लगाता है और वहाँ छान करके फिर बाहर आता है । वेदोंमें अन्यत्र कहा है कि—

एकं पादं मोहिखद्वि सलिलादस उच्यते ।

पदद्वा स समुत्तिष्ठद्वेवाय न ख. व्यास राज्ञी माहः स्यात्तुमुत्तिष्ठद्वेवाय ॥

अथर्व. ११४ ( ६ ) २१

‘यह ( हृदयः ) प्राण अपना एक पाँव सदा वहाँ रहता है, यदि वह पाँव वहाँसे हटावेगा तो इस जगत्में कोई भी नहीं जीवित रह सकता । न दिन होगा और न रात्री होगी । ( अथर्व. ११४ ( ६ ) २१ ) ‘प्राण अंदरसे बाहर जाने के समय अपना संबंध नहीं छोड़ता, यदि इसका संबंध बाहर आनेके समय छूट जायगा तो प्राणोंकी मृत्यु होगी । यही बात इस सूक्त के तृतीय मंत्रमें कही है । हृदयका अंतरिक्षरूपी समुद्र इस प्राणका स्थान है, वहाँसे वह एक बार बाहर आता है और दूसरी बार अंदर जाता है, परंतु बाहर आता है उस समय वह सदाके लिये बाहर नहीं रहता, यदि वह बाहर ही रहा और अंदर न गया, तो प्राणों जीवित नहीं रह सकना । यह प्राणका जीवन के साथ संबंध यहाँ देलना आवश्यक है । यह देखनेसे ही प्राणका महत्त्व स्थानमें आसकता है । और प्राण की यन्ति का महत्त्व जाननेके पश्चात् प्राणका भी जो प्राण है, उस आत्माका भी महत्त्व इसके नंतर इसी रीतिसे और इसी युक्तिसे जाना जा सकता है ।

## प्राणोंका पति ।

यह वास्तवमें एकही प्राण है तथापि विविध स्थानोंमें रहने और विविध कार्य करनेसे उसके विविध भेद माने जाते हैं । मुख्य प्राण पाच और उपप्राण पाच मिल कर दस भेद नाम विद्वेषसे सायणकारोंने गिन हैं, परंतु यह कोई मर्यादा नहीं है, अनेक स्थानोंकी और अनेक कार्योंकी कल्पना करनेसे अनेक भेद माने जा सकते हैं । प्राणको अप्सरा शब्द इस सूक्तमें प्रयुक्त किया है और वह एक गन्धर्वके साथ रहती है ऐसा भी आलंकारिक वर्णन किया है । इसी दृष्टिसे निम्न मंत्र माग अब देखिये—

अनवधामिः समु जगम आभिः

अप्सरास्त्वपि गंधर्वं आसीत् ॥ ( मं. ३ )

‘इन निदोष अनेक अप्सराओंके साथ वह एक गंधर्व संपति करता है और उन अप्सराओंमें वह गंधर्व रहता है ।’

यदि गर्भव और अम्बराए ये गन्ध इत्यादि और अपने निश्चित क्रिये अर्थात् अनुसार शब्द रखे, तो वष मंत्र भागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है— ' इन विद्योय अनेक प्राण शक्तियोंके साथ वह एक आत्मा संगति करता है, समिलित होता है और उन प्राणोंके अन्दर भी वह सर्वकार आत्मा रहता है । '

यह अर्थ धीरे सुबोध होनेसे इसके अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस के हरएक वाक्यका विशेष स्पष्टीकरण इसके पूर्व आ चुका है । इसलिये यह रूपक पाठक स्वयं समझ जायगे । सब प्राण आत्मासे धीरे से अन्दर अन्दर आने करते हैं, और आत्मा भी प्राणोंके अन्दर रहता है । इस विषयमें यजुर्वेद कहता है—

सो जसावहम् । यजु० अ० ४०।१०

' ( स० ) यह ( अर्थ ) असु अर्थात् प्राणके बीचमें रहनेवाला आत्मा ( अहं ) मैं हूँ । ' अर्थात् प्राणोंके मध्यमें आत्मा रहता है और आत्माके बाहर प्राण या जीवन शक्ति रहती है और ये दोनों जगत् का सब व्यवहार कर रहे हैं ।

### ब्रह्माण्ड देह ।

पाठक ये सब बातें अपने अन्दर देखे । परंतु यहां केवल अपने अन्दर देखकर और अनुभव कर के ही ठहरना नहीं है, जो बात छोटे क्षेत्रवाले अपने देहमें देखी है वही बड़े ब्रह्माण्ड देहमें देखना है, अपना विराट पुरुषमें कल्पना करना है । इस मूलमें विश्वयापक आत्माका वर्णन करना मुख्य उद्देश्य है । तथापि संमझमें आनेके लिये हमने ये सब बातें अपने अन्दर देखनेकी विचार किया, अब इसी बड़े ब्रह्माण्ड देहकी कल्पना करना चाहिये ।

जिस प्रकार शरीरोंके देहमें प्राण हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड देहमें विश्वयापक प्राण का महासमुद्र है । इसी महाप्राण समुद्रमें हम जोडास प्राणका अर्थ लेते हैं । इस प्रकार अन्वय शक्तियों भी ब्रह्माण्ड देहमें बड़ी विशाल रूपसे हैं । दोनों स्थानोंमें शक्तित्वा एकही प्रकारकी है, परंतु अल्पपर और महत्त्व का भेद है । इसीलिये अपने अन्दरकी व्यवस्था देखनेसे वास्तव्य व्यवस्था जानी जा सकती है ।

### सारांश

पाठक इस सूक्तमें परमात्माकी सर्व व्यापक सत्ता देख सकते हैं । वही एक उपास्य देव है, वही सबका आधार है । वह सबके दुःख दूर करता है और सबको सुख देता है ।

इसकी प्रती मानस संपादनसे करनी चाहिये । इसको सब स्थानमें लपेटित सावकर, इसको नमन करना चाहिये । हरएक श्रुतिके अंतर्गत पदार्थमें इसका कार्य देखनेका अभ्यास करनेसे इसके विषयमें ज्ञान होने लगता है और इसके विषयमें भ्रमा बहती जाती है ।

इसके साथ प्राणशक्ति रहती है जो जगत्में किसी समय प्रकट होती है और किसी समय शून्य छिपी रहती है । वह कदा प्रकट होती है और कदा छिपी रहती है, यह देखनेसे जगत्में चलनेवाले इसके कार्यकी कल्पना हो सकती है ।

यह जैसा मधोमधी विजुगुर्गमें प्रकाश रहता है उसी प्रकार मनुष्योंमें भी प्रकाश रहता है । प्रकाशकीका भी यही प्रकाश है, वही भी वह बड़ा है, सूक्ष्म भी वह सूक्ष्म है, इस प्रकार इसकी जानकारी सब भूतोंमें इसका अनुभव करके इसको नमन करना चाहिये । इसके सामने सिर झुकाना चाहिये ।

सब जगत्में जो प्रेम्णा, सहा और प्रेम हो रहा है, वह इसकी जीवन शक्तिये हो है । यह जानकर सर्वत्र इसकी महिमा देनाकर इसकी पूजा करना चाहिये ।

' ममन, नमन, सर्वत्र दर्शन ' करनेके पश्चात् इसकी सेवा करनेके लिये उसके कार्यमें अपने आपको समर्पित करना चाहिये । ' गमन पान, दुर्जन निर्दलन ' रूप परम त्याग के कार्यमें पूर्णकी शक्तिके अनुसार अपने कर्तव्यका भाग समर्पण करना हो तबकी मति करना है और यह करनेके लिये ' दुःखितके दुःख दूर करनेके कार्य अपने सिर पर आनन्दसे लेने चाहिये । '

' सगतिता यदधीना देव इह एक द्वात्र प्रकाशित द्वाभा है । पाठक इसका अधिक विचार करें ।

# आरोग्य-सूक्त ।

( ३ )

[ ऋषिः-आङ्गिराः । देवता-भैषज्यं, आयुः, धन्वन्तरिः । ]

अदो यद्वधार्धवत्कमधि पर्वतात् । तर्त्तं कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथासंसि ॥ १ ॥

आदुक्ता कुविदुक्ता श्रुतं या भेषजानि ते । तेषामसि त्वमुत्तममनास्त्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

नीचैः स्वनन्त्यसुरा अरुस्त्राणमिदं महत् । तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ३ ॥

उपजीका उद्धरन्ति समुद्रादधि भेषजम् । तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

अरुस्त्राणमिदं महत्पृथिव्या अच्युद्धृतम् । तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

वार्थ—( अदः यत् ) वह जो ( अवत्-कं ) रक्षक है और जो ( पर्वतात् अधि भवधावति ) पर्वतके ऊपरसे नीचेकी ओर चौकटा है । ( तत् ते ) वह तेरे लिये ऐसा ( भेषजं कृणोमि ) औषध करता हूँ ( यथा सुभेषजं असि ) जिससे तेरा उत्तम औषध बन आवे ॥ १ ॥

हे ( अंग अंग ) मित्र! ( आव कुविद् ) अब बहुत प्रकारसे ( या ते ) जो तेरेसे उत्पन्न होनेवाले ( श्रुतं भियजानि ) सैकड़ों औषधें हैं, ( तेषां ) इनमेंसे ( त्वं ) ( अनास्त्राव ) पावको हटानेवाला और ( अ-रोगणं ) रोगको दूर करनेवाला ( उत्तमं असि ) उत्तम औषध है ॥ २ ॥

( असु-राः ) प्राणोंको बचानेवाले वैद्य ( इदं महत् अदसु-स्त्राणं ) इस बड़े मणिको पकड़कर भर देनेवाले औषधको ( नीचैः स्वनन्ति ) नीचेसे खोदते हैं । ( तत् आस्त्रावस्य भेषजं ) वह पावका औषध है, ( तत् उ रोगं अनीनशत् ) वह रोग का नाश करता है ॥ ३ ॥

( उपजीकाः ) जलमें काम करनेवाले ( समुद्रात् अधि ) समुद्रसे ( भेषजं उद्धरन्ति ) औषध ऊपर निकालकर लाते हैं, ( तत् आस्त्रावस्य भेषजं ) वह पावका औषध है, ( तत् रोगं अशीशमत् ) वह रोगका शमन करता है ॥ ४ ॥

( इदं अदसु-स्त्राणं ) यह फोड़ेको पकड़कर भरनेवाला ( महत् ) बड़ा औषध ( पृथिव्या अधि उद्धृतं ) भूमिके ऊपरसे निकालकर लाया है । ( तत् आस्त्रावस्य भेषजं ) वह पावका औषध है, ( तत् उ ) वह ( रोगं अनीनशत् ) रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— एक औषध पर्वतके ऊपरसे नीचे लाया जाता है उससे उत्तम से उत्तम औषधी बनती है ॥ १ ॥ उससे तो अनेकअनेक औषधियाँ बनायी जाती हैं, परंतु पावको हटाने अर्थात् रक्तावकी ठीक करनेके काममें वह औषधि बहुत ही उपयोगी है ॥ २ ॥ प्राणको बचाने वाले वैद्य लोग इस औषध को खोद खोद कर लाते हैं, उससे पावको ठीक करने का औषध बनता है जिसमें रोग दूर हो जाता है ॥ ३ ॥ जलमें काम करने वाले भी समुद्रसे एक औषध ऊपर लाते हैं वह भी पावको ठीक कर देता है और रोगको शान्त कर देता है ॥ ४ ॥ वह पृथ्वीपरसे लाया हुआ औषध भी फोड़ेको ठीक करता है, पावको भर देता है और रोगका नाश करता है ॥ ५ ॥

शं नो भवन्त्वप ओषधयः शिवाः ।

इन्द्रस्य चज्जो अप हन्तु रक्षसं आराद्रिसृष्टा इषवः पतन्तु रक्षसां

॥ ६ ॥

अर्थ- ( आपः ) जल और ( ओषधयः ) औषधियां ( नः ) हमारे लिये ( शिवाः शं भवन्तु ) शुभ और सक्ति-दायक हों । ( इन्द्रस्य चज्जो ) इन्द्रका शस्त्र ( रक्षसः अपहन्तु ) राक्षसोंका हनन करे । तथा ( रक्षसां विसृष्टा इषवः ) राक्षसोंद्वारा छोड़े हुए माण हमसे ( आराद्रि पतन्तु ) दूर गिरें ॥ ६ ॥

जल और औषधियां हमारे लिये आरोग्य देनेवाली हों । हमारे छत्रियों के शस्त्र शत्रुओंको भगादेवें और शत्रुओंके हमपर पड़े हुए शस्त्र हम सबस दूर गिरें ॥ ६ ॥

### औषधि

इस सूक्तका 'अनु० ४' शब्द 'प्राप्य रक्षक' वैद्यका वाचक है न कि राक्षस का ।

पर्वतके ऊपरसे, समुद्रके अंदरसे, तथा पृथ्वीके ऊपरसे अनेकानेक औषधियां लायी जाती हैं, और उन से सेकड़ों रोगोंपर दवाइयां बनायी जाती हैं । इन औषधियोंसे मनुष्योंके घाव, प्रण तथा अन्यान्य रोग दूर होकर उनको आरोग्य प्राप्त होता है । जल और औषधियोंसे इस प्रकार आरोग्य प्राप्त करके मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

इस सूक्तमें यदि किसी विशेष औषधका वर्णन होया तो वह हमारे ध्यानमें नहीं आया है ।

सुविश्व वैद्य इस सूक्तका विशेष विचार करें । इस समय इस सूक्तमें सामान्य वर्णन ही हमें दिखाई देता है ।

### छत्रियोंका उपयोग

छत्रियोंके शस्त्र शत्रुओंपर ही गिरें अर्थात् आपसमें लड़ाई न हो, यह अंतिम मंत्र का उपदेश आपसमें एकता रखनेका महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है, वह ध्यानमें धरने योग्य है ।

इस सूक्तके पद्य मंत्रमें 'हमारे छत्र पुत्रपुत्रका शस्त्र शत्रुपर गिरे, परंतु शत्रुके शस्त्र हम तक न पहुंच जाय' ऐसा कहा है, इससे अनुमान होता है कि यह सूक्त विशेष कर उन रक्षक छत्रियोंके दुरीकरणके लिये है कि जो रक्षकोंका युद्धमें शत्रुओंके आपससे होते हैं । युद्ध करनेके समय जो एक दूसरेसे छर्पते होता है और उसमें चोट आदि लगने तथा शत्रुओंसे घाव होनेसे जो प्रण आदि होते हैं, उनसे जैसा रक्षक घाव होता है, उसी प्रकार सूजन होना और फोड़े उत्पन्न होना भी संभव है । इस प्रकारके कष्टोंसे बचानेके उपाय बतानेके लिये यह सूक्त है । परंतु ऐसी पीड़ा दूर करनेके लिये कौनसा उपाय करना अथवा किस सुकृतसे आरोग्य प्राप्त करना इत्यादि बातोंका पता इस सूक्तसे नहीं लगता है । इस लिये इस समय हम सूक्तका अधिक विचार करनेमें असमर्थ हैं ।

## जङ्गिड-मणि ।

( ४ )

[ ऋषिः-अथर्वा । देवता-चन्द्रमा, जङ्गिडः ]

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।

मणिं विष्कन्धदूर्पणं जङ्गिडं विभृमो व्यम्

॥ १ ॥

जङ्गिडो जम्भार्द्रिशराद्रिष्कन्धादमिशोचनात् ।

मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः

॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अस्त्रिणाः । अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः प्रातर्वहसः ॥ ३ ॥

दुर्वैदुत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा । विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे संहामहे ॥ ४ ॥

अर्थ—( दीर्घायुत्वाय ) दीर्घ आयुकी प्राप्ति के लिये तथा ( बृहते रणाय ) बड़े आनन्द के लिये ( वि-स्कन्ध-दूर्पणं ) शोषक रोग को दूर करने वाले ( जङ्गिडं मणि ) जंगिड मणिको ( ज-रिष्यन्तः दक्षमाणाः वयं ) मैं सबने वाले परंतु बलको बढ़ानेवाले हम सब ( विश्वतः ) धारण करते हैं ॥ १ ॥

यह (सहस्र-वीर्यः) हजारों सामर्थ्योंसे युक्त (जङ्गिडः मणिः) जंगिड मणि (जम्भारात्) अमुदाई बढ़ानेवाले रोगसे, (वि-शरात्) शरीर क्षीण करनेवाले रोगसे, (वि-स्कन्धात्) शरीरको शुष्क करनेवाले शोषक रोगसे (जमि-शोचनात्) रोगकी और प्रवृत्ति करनेवाले रोगसे (विश्वतः) सब प्रकारसे (मः परि पातु) हम सबका रक्षण करे ॥ २ ॥

(अयं) यह जंगिड मणि (विस्कन्धं सहते) शोषक रोगसे बचाता है, (अयं) यह मणि (अस्त्रिणाः बाधते) भक्षक भस्म रोगसे बचाता है । (अयं जंगिडः) यह जंगिड मणि (विश्व-भेषजः) सर्व औषधियोंका रस हो है, यह (मः संहसः पातु) हमें पापसे बचावे ॥ ३ ॥

-(द्वैवैः दत्तेन) दिव्य मनुष्यों द्वारा दिये हुए (मयोभुवा) सुख देनेवाले (जंगिडेन मणिना) जंगिड मणिसे (विष्कन्धं) शोषक रोगको और (सर्वा रक्षांसि) सब रोगजंतुओंको (व्यायामे) संघर्ष में (संहामहे) दबा सकते हैं ॥ ४ ॥

साधारण— दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिये और मीरोगताका बड़ा आनन्द अनुभव करनेके लिये जंगिड मणिको शरीर पर हम धारण करते हैं, इससे हमारा क्षीणता नहीं होगी और हमारा बल भी बढ़ेगा, क्योंकि यह मणि शुष्कता अर्थात् शोषक रोगको दूर करता है ॥ १ ॥

यह मणि साधारणतः हजारों सामर्थ्योंसे युक्त है, परंतु विशेष कर अमुदाई बढ़ानेवाले, क्षीणता करने वाले, शरीरको सुखानेवाले, बिना कारण आखोंमें रोगके आंसू लानेवाले रोगोंसे यह मणि बचाता है ॥ २ ॥

यह मणि शोषक रोगको दूर करता है और जिसमें बहुत अन्न खाया जाता है, परंतु शरीर कुछ होता रहता है; इस प्रकार के भस्म रोगसे भी बचाता है । इस मणिमें अनेक औषधियोंके गुण हैं, इस लिये यह हमें पापहरितसे बचावे ॥ ३ ॥ और पुष्टीसे प्राप्त हुआ और सुख देनेवाला यह जंगिड मणि शोषक रोग और रोग बीज मूल रोगजंतुओंसे हमारा बचाव करे ॥ ४ ॥

शुणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् । अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥  
कृत्यादूर्पिरयं मणिरथो अरातिदूषिः । अथो सहस्वाञ्जङ्गिडः प्र ण आरूयि तारिषत् ॥ ६ ॥

अर्थ—( शुणः च ) सण और ( जंगिडः च ) जंगिड ये दोनों ( विष्कन्धात् ) शोषक रोगसे ( मा अभिरक्षताम् ) मेरा बचाव करें । इन में से ( अन्यः ) एक ( अरण्यात् आभृतः ) वन से लाया है और ( अन्यः ) दूसरा ( कृत्याः रसेभ्यः ) खेतीसे उत्पन्न हुए रसोंसे बनाया है ॥ ५ ॥

[ अयं मणिः ] यह मणि [ कृत्या-दूषिः ] हिलसे बचानेवाला है [ अथो ] और [ अ-राति-दूषिः ] शत्रुभूत-रोगों को दूर करनेवाला है [ अथो ] ऐसा यह [ सहस्वान् जंगिडः ] बलवान् जंगिडमणि [ नः आरूयि तारिषत् ] हमारे आयुष्योंको बचावे ॥ ६ ॥

भावार्थ— सण और जंगिड ये दोनों शोषक रोगसे हमारा बचाव करें । इनमेंसे एक वनसे प्राप्त होता है और दूसरा खेतीसे उत्पन्न हुए औषधियोंके रसोंसे बनाया जाता है ॥ ५ ॥

यह मणि नाशसे बचाता है और आरोग्यके शत्रु रूपी रोगोंसे दूर रखता है। यह प्रभावशाली मणि हमारा आयुष्य बढावे ॥ ६ ॥

### सण और जंगिड ।

इस सूक्तमें ' सण ' और ' जंगिड ' इन दो वस्तुओंका उल्लेख है ( मं० ५ ) । सण अथवा सण यह प्रसिद्ध पदार्थ है, भाषा में भी इसका यही नाम है । सणके विषयमें राजवल्लभ नामक वैद्यक ग्रंथमें यह बचन है—

१ तप्तुर्ध्वं रक्तपित्तं हितं मलरोधकं च ।

बीजं क्षोणितशुद्धिकरम् ॥ राजव. ३ प.

२ जम्बूः कपायो मलगर्भात्प्रपातनः वान्तिकृत्

वातकफघ्नश्च ॥ राजनिर्घट्ट व. ४.

“ ( १ ) शणका फूल रक्तपित्त रोगमें हितकारक है, मलरोधक है और उसका बीज रक्ती छुट्टि करनेवाला है । ( २ ) शणके ये गुण हैं—खट्टा, कपाय हचीवाला, मल-गर्भ—रक्तका स्राव करानेवाला, वमन करनेवाला, तथा वात रोग और कफ रोगको दूर करनेवाला है । ”

वैद्य लोग इसका अधिक विचार करें । यह सण ( कृष्याः रसेभ्यः आभृतः ) खेतीसे उत्पन्न होनेवाले रसोंसे बना है ( मं. ५ ) । यह वर्णन सण वीन पदार्थ है, इसका निश्चय कराता है । सण करके जो कपडा मिलता है उसीका धागा या कपडा वा रस्सी यहाँ अपेक्षित है । रसी, धागा, या कपडा हो, हमारे क्वालेमें यहाँ सणका धागा अपेक्षित है; जो विविध औषधियोंके ( रसेभ्यः मंत्र ५ ) रसोंमें भिगोकर बनाया जाता है । इस सण का नाम ' त्वक्धार ' है, इसका अर्थ होता है ( त्वक्+धार ) त्वचामें जिसका छत रहता है; इसलिये इसकी त्वक्का धागा बनाकर, उसको विविध औषधियोंमें भिगोकर हाथपर, कमरमें अथवा गलेमें यह धागा बांधा जाता है । व्यायाम करनेके समय जब पछीना जाता है, तब उस पछीनेसे उक्त सणके धागेके औषधिक रस शरीरपर लगते हैं और शरीर पर दृष्ट प्रभाव करते हैं ।

इस सणके धागेपर कौन कौनसे रस लगाये जाते हैं और किस प्रकार यह तैयार किया जाता है, इसका विचार सुबोध वैद्योंको करना उचित है । क्योंकि इस संबंधमें इस सूक्तमें कुछ भी कहा नहीं है ।

शण- च मा जंगिडश्च अभिरक्षताम् ॥ ( मं. ५ )

‘ शण और जंगिडमणि मेरा एकदम रक्षण करें ’ यह पंचम मंत्रका कथन है, इस कथनसे स्पष्ट हो जाता है कि, शणके धागेमें जंगिडमणिको प्रयुक्त करके गलेमें या शरीरपर बांधना अभिप्राय इस सूक्तमें स्पष्ट है । उक्त प्रकार औषधिरसोंसे बनाया सणका धागा भी सर्व गुणकारी है, और जंगिडमणि भी सर्व गुणकारी है, तथा दोनों इकट्ठे हो गये, तो भी उन दोनोंका मिलकर विशेष लाभ होना धर्म है । जबतक विशेष खोज नहीं हुई है, तबतक हम यही यहाँ समझें कि, सणके सूत्रमें जंगिड मणि रसद्वर शरीर पर धारण करनेसे मंत्रोक्त लाभ प्राप्त हो सकते हैं ।



## जंगिड मणिके लाम ।

१ दीर्घायुस्व—आयुष्य दीर्घ होता है । ( मं. १ )

आयुषि तारिषत्—आयुष्य बढ़ाता है । ( मं. ६ )

२ महत् रणं ( रमणीयं )—बड़ा आनंद, बड़ा उत्साह रहता है, जो आनंद बीरोगाद्ये प्राप्त होता है वह इससे मिलता है । ( मं. १ )

३ अरिष्यन्तः—अपमृत्युसे अथवा रोगसे मृत न होना । ( मं. १ )

४ दक्षमाणः—( दक्ष ) बल बढ़ाना, बलवान् होना । ( मं. १ )

५ विष्कम्भकूपणः—शोथक रोगको दूर करना । जिस रोगसे अनुष्य प्रतिदिन कुछ होता है उस रोगकी निवृत्ति इससे हो जाती है । ( मं. १ )

६ सहस्रवीर्यः—इस मणिके सहस्रों सामर्थ्य है । ( मं. २ )

७ विश्व-भेषजः—इधमें सब औषधियाँ हैं । ( मं. ३ )

८ मयोभूः—बुद्ध होता है । ( मं. ४ )

९ कृत्यादृषिः—अपने नासासे अथवा अपनी हिंसा होनेसे बचाने वाला यह मणि है । ( मं. ६ )

१० अराति-दूषिः—आरोग्यके शत्रुभूत जितने रोग हैं उनको दूर करनेवाला है । ( मं. ६ )

११ सहस्वान्—बलवान् है अर्थात् शरीरका बल बढ़ाता है । ( मं. ६ )

इस जङ्गिड मणिके निम्नलिखित रोग दूर होनेका सबल इस सूक्तमें है यह भी यहाँ इस स्थानपर देखने योग्य है—

१२ अममारात् पातु—अमृदाई जिससे बढ़ती है वह शरीरका दाँव इससे दूर होता है । ( मं. २ )

१३ विशारदात् पातु—जिस रोगसे शरीर विशेष क्षीण होता है, उस रोगसे यह मणि बचाता है । ( मं. २ )

१४ निष्कंधात् पातु—जिससे शरीर सूखता जाता है उस रोगसे यह बचाता है । ( मं. २ )

१५ अभि-शोचनत्—जिससे रोगकी प्रवृत्ति हो जाती है उस बीमारीसे यह बचाता है । ( मं. २ )

१६ अतिव्रणः बाधये—( अद्-विन् ) बहुत अन्न खानेकी आवश्यकता जिस रोग में होती है परंतु बहुत खानेपर भी शरीर कुछ होता रहता है, उस मयस रोगकी निवृत्ति इससे होती है । ( मं. ३ )

१७ अंहसः पातु—पाश्र्वत्तिसे बचाता है, अथवा दीन भावना मनसे हटाता है । ( मं. ३ )

१८ रक्षसि सहामहे—रोगबीज तथा रोगोत्पादक क्रियाओंकी रक्षस् ( क्षरः ) कहते हैं क्योंकि इनसे शरीरके पोषक घातुओंका ( क्षरण ) नाश होता रहता है । इन रोगबीजों या रोग जन्तुओंका नाश इससे होता है । ( मं. ४ )

ये सब गुण इस जङ्गिड मणिके हैं । यहाँ रक्षस् शब्दके विषयमें याचना करना है : पाठक कृपा करके स्वाध्याय मंत्र द्वारा प्रकाशित ' वेदमें रोग जन्तु साध ' नामक पुस्तक देखें, इस पुस्तकमें बताया है कि ये राक्षस अतिघ्नक क्रिया होते हैं, जो चर्मपर चिपकते हैं तथापि आँखसे दिखाई नहीं देते । ये शरीरमें प्रचल होते हैं । इस वर्णन के पढ़नेसे पाठकोंका निश्चय होगा कि रोग बीजोंका या रोगजन्तुओंका नाश राक्षस है । इसीकी रक्षस् कहते हैं । क्षर् ( क्षीण होना ) इस घातुसे अक्षरकी उलट पुलट होकर रक्षस् शब्द बनता है, फैलनेवाले रोगोंके रोगजन्तुओंको यह मणि नाश करता है यह यहाँ भाव है, अर्थात् यह (Highly disinfectant ) उत्तम प्रकारका रोगकी हृत्के दोष को दूर करनेवाला है यह बात इस विवरणसे वाचकोंके मनमें आ चुकी ही होगी ।

यह जंगिड मणि किस वनस्पतिका बनाया जाता है । यह बड़ा प्रयत्न करने पर भी पता नहीं चला । तथापि जो गुण एक मंत्रोंमें बताये हैं, उनमें से बहुतसे गुण बचा वनस्पतिके गुण धर्मोंके साथ मिलते जुलते हैं, इस लिये हमारा विचार ऐसा होता है कि यह मणि बचाका होना बहुत संभवनीय है, देखिये बचाके गुण—

१ बचागुणः— तीक्ष्ण वृद्धः उष्णः कफाघ्नः शोथघ्नः

वातज्वरातिसारहृन्नास्तिहृत् कन्धादभूषणी च । राजनिषण्ड व. ६

२ वचायुष्या वातकफतृष्णाश्री स्मृतिवर्धिनी ।

३ वचापर्यायाः ' मङ्गल्या । विजया । हृक्षोष्नी । भद्रा । '

( १ ) वचाके गुण—तीक्ष्णता, कटुता, तृष्णता से युक्त, कफ आम ग्रंथि और स्तन का नाश करनेवाली । वात ज्वर अतिघार का नाश करनेवाली । वमन करनेवाली । उन्माद और मृतरोग का नाश करनेवाली यह वचा है ।

( २ ) वचासे आयुष्य बढ़ता है, वात-कफ-तृष्णाका नाश करती है । स्मरण शक्तिकी वृद्धि करती है ।

( ३ ) वचाके पर्याय शब्दोंका अर्थ—( मंगल्या ) मंगल करनेवाली, ( विजया ) विजय करने वाली, ( रक्षो-श्री ) राक्षसोंका नाश करनेवाली, पूर्वोक्त रोगोत्पादक कृमियोंका नाश करनेवाली, ( भद्रा ) कल्याण करनेवाली ।

यह वचाका वैद्यक्योक्त वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इसकी जंगिडसे गुण धर्मोंमें समानता है । पाठक पूर्वोक्त मंत्रोंके शब्दोंके साथ इसकी तुलना करेंगे, तो पता लग जायगा कि इनके गुणधर्म समान हैं । इस लिये हमारा विचार हुआ है, कि जंगिड मणि संभवतः इसका ही बनाया जाता होगा । यह समानता देखिये—

वैद्यक ग्रंथ के शब्द

—[ वचाके गुण ]—

इस सूक्तके शब्द

१ आयुष्या

—

१ दीर्घायुत्वाय ( मं. १ )

आयुषि सारिषत् ( मं. ६ )

२ रक्षोश्री । मृत्श्री

—

२ रक्षांसि सहामहे ( मं. ४ )

३ वातश्री, उन्मादश्री

—

३ जम्माद पातु ( मं. २ )

आमिदोचनात् पातु । ( मं. २ )

४ मंगल्या, भद्रा

—

४ अरिभ्यन्तः ( मं. २ )

स्मृतिवर्धिनी ।

—

दक्षमाणाः । सङ्खवीर्यः ( मं. १ )

५ विजया

—

५ अराविद्विषः ( मं. ६ )

६ मातिसारश्री

—

६ विशरात् ( वि-सारात् )

पातु ( मं. २ )

७ शोफाश्री, ज्वरश्री

—

७ विप्रभेषजः ( मं. ३ )

कफश्री, ग्रंथिश्री

इस प्रकार पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि वैद्यक ग्रन्थोंके वचाके गुणधर्म और जंगिडमणि के गुणधर्म प्रायः मिश्रते जुलते हैं । इससे अनुमान होता है, कि संभवतः जंगिड मणि वचा से ही बनाया जाता होगा । केवल गुण साधर्म्यसे औषधि प्रकरणमें औषधियाँ नहीं बर्ती जाती, अपर्याप्त नहीं बर्ती जानी चाहिये; यह हमें पूरा पता है, तथापि किसी औषधिके अभावमें उस स्थानपर ओ औषधि लीजाती है यह गुणसाधर्म्य देख कर ही ली जाती है ।

चरकादि प्रथोमें जहाँ बड़े बड़े आयुष्य वर्धक और बलवर्धक रसायन प्रयोग लिखे हैं, वहाँ सोमादि दिव्य औषधियोंके अभावमें इसी प्रकार गुण साधर्म्यसे अन्य औषधि लेने का विधान किया है । इसलिये यदि जंगिड मणिका ठीक पता नहीं चलता, तो इस मणिके गुण धर्मोंके समान गुणधर्मवाली अनरुचिका मणि बनाना और उसका धारण करना बहुत अवगत नहीं होगा । तथापि हम यह धर्म्य सुवोध वैद्योंपर ही छोड़ देते हैं, तथा इस विषयमें अधिक खोज होनी अत्यंत आवश्यक है यह भी यही स्पष्ट कह देते हैं । सुवोध वैद्य इस महत्त्वपूर्ण विषयकी खोज अवश्य करें ।

मणि धारण ।

यहाँ कई पाठक कहेंगे कि यह क्या अंध विश्वासकी बात है, कि केवल मणि धारणसे रोग मुक्त होने का ही विधान किया जा रहा है ! क्या इससे ताबीज, कपड़, पागल, दोरा, आदिकी अंधविश्वास की बातें सिद्ध नहीं होंगी ! इस प्रकारकी अंधविश्वास उपासना उपास्य होना संभव है; इस लिये इस बातका यहाँ विचार करना आवश्यक है—

इस सूक्तमें जो ' जंगिष्ठमणि ' का वर्णन है वह तानीज या धागा होना या जादू की चीज नहीं है । यह धात्विक औषधि पदार्थ है । इसके पूर्वके तृतीय सूक्त में पर्वत, और पृथ्वीके ऊपर होने तथा समुद्रके तलेमें संचय होनेवाली औषधि वनस्पतियोंका वर्णन अर्धादिग्व रीतिसे आया है, इस औषधिवनस्पतियोंकी अनुवृत्ति इस सूक्तमें है । ये दोनों सूक्त साथ साथ हैं और दोनोंका रोगनिवारण और आरोग्य साधन यह विषय समान ही है । इसलिये यह औषधीका मणि है यह बात स्पष्ट है ।

## मणिपर संस्कार ।

स्वयं यह मणि वनस्पतिका है अर्थात् वनस्पतिकी लकड़ोंसे यह बनता है तथा यह जिस भागमें बाँधाजाता है वह भी विशेष गुणकारी वनस्पतिका धागा होता है, यह बात पूर्व स्थलमें बतायी है । विशेष गुणकारी धागा और विशेष गुणकारी मणि इनके मिलापसे शरीरपर विशेष परिणाम होना संभव है । इसके नंतर—

अक्षय्याद्वयं जामृतम् ।

कृत्वा अन्यो रसेभ्यः ॥ ( मंत्र. ५ )

' एक अक्षयकी वनस्पतिसे बनता है और दूसरा कृषिसे उत्पन्न हुए वनस्पतियोंके रसोंसे भर। जाता है । ' यह पंचम मंत्रका विधान विशेष ही मनन करने योग्य है । इसमें 'आ—मृत' शब्द है, इसका धात्वर्थ ( आ ) चारों ओर से ( मृत ) पूर्ण किया, चारों ओरसे भर दिया है, ऐसा होता है । अर्थात् मणि और धागा अनेक वनस्पतियोंके रसों में भिगीकर घुसानेसे ये सब रस उस धागमें और मणिमें भर जाते हैं अथवा जम जाते हैं और इन सब रसोंका परिणाम शरीरपर ही जाता है । इसलिये जमिष्ठमणिका धारण यह एक वैद्य शास्त्रका महत्त्वपूर्ण और सहाज नियम है इसमें अन्धविश्वासकी बात नहीं है ।

आजकल जो तावीज, कवच, पागा, दोरा, जादूका पदार्थ है वह केवल विश्वास की चीज है अथवा भावनासे उद्यत किया जाता है । वैद्य जंगिष्ठ मणि नहीं है । इस में औषधिविषय संभव विशेष रीतिसे चारोंके साथ होता है । यद्यपि चारोंके अंदर औषधि नहीं छेवन की जाती तथापि चारोंके ऊपरके रसोंसे लाभ पटुताता है ।

हमने यह बातें देखी हैं, कि तमाकूके पत्ते पेटपर बांध देनेसे वमन होता है । [ इसी प्रकार दस्तोत्थी ( द्रिष्ट ) की एक लीज लाठी होती है, उस को हाथमें पारनेसे दस्त होते हैं, ऐसा कहते हैं, परंतु यह बात अभीतक हमने देखी नहीं है । ] इसके अतिरिक्त हमने अनुभव की हुई बातें भी यहाँ निर्दिष्ट करना योग्य है, कौटिल्यपुर रियासतके अंदर बावडा ( गगन बावडा ) नामक एक छोटी रियासत है । वहाँ के श्री— नरेश के पास वनस्पतिका अनेक मणि मिलते हैं, इस मणिके धारणसे दाँतकी पीड़ा दूर होती है । इस विषयका अनुभव हमने कई बार अपने ऊपर किया है और अपने परिचितों पर भी किया है । यह मणि किसी वनस्पतिकी अष्टका बनाया जाता है, परंतु उस वनस्पतिका नाम अभीतक हमें पता नहीं है । इसके अतिरिक्त प्रवाल, सुवर्ण, ताप, विविध रत्न आदिके धारणसे बालकों के शरीरोंपर विशेष प्रभाव होता है यह भी देखा है । इसलिये यदि रसों और मणि उत्तम वनस्पतियोंसे बनाकर उनको विशेष रसोंसे सुसंस्कृत करके धारण किये जाय तो रोगोंका दूर होना साध्य है ये सुश्रुत प्रतीत होता है ।

यथा के विषयमें हमने कई वैद्योंकी समीचीनी है, उनका कहना है, कि बावडा मणि उस प्रकार शरीरपर धारण बिना आवश्यक तो वह रसघन रोग ( छत से कलनेवाले रोग ) की बाधा से दूर रखा सकता है, अर्थात् जो धारण करेगा उसको रोग होनेकी संभावना कम है । इस बातका हमने कई बार प्रयोग भी किया है और लाभ भी प्रतीत हुआ है ।

इसी प्रकार ग्रंथिक छत्रिपात रोगके दिनोंमें ' इम्रिशिया ' नामक वनस्पति के बीज धारण करनेसे कुछ लाभ होनेकी बात कई बार कही है, तथापि हमें इसका विशेष अनुभव नहीं है । परंतु मुँहमें हमने देखा था कि उस रोगके प्रारम्भमें इसका धारण कई लोग करते थे ।

इस कोटिसे अनुभवसे हम यह कहते हैं, कि जंगिष्ठ मणिका धारण भी एक ही रोगनिवारक विषय है और इसमें कोई अन्य विशेषता नहीं है । अब विशेष बोल करनेकी आवश्यकता यह विषय है कि ये जंगिष्ठमणि टुकड़ों में बने की होती है ।

खोन करें और इसका उपयोग करके आरोग्य प्राप्त करनेका निश्चित उपाय सबके लिये सुप्राप्त करें । वैद्यशास्त्रोंके ग्रंथ देखनेसे बहुत कुछ पता लगना संभव है ।

### खोजकी दिशा ।

यहां खोज करनेकी दिशाका भी थोड़ासा वर्णन करना अवश्य न होगा । श्री० सायणाचार्यजीने अपने भाष्यमें लिखा है, कि काशी भ्रममें जगित् ब्रह्म है इस वृत्तके विषयमें काशी प्रातःके लोग खोज करें और जो कुछ अनुभव हो वह प्रकाशित करें ।

बचा उम्रगंधी बनस्पति या चीज है । इसकी गंधसे अर्थात् कप्रवाससे जो इसके परमाणु हवामें फैल जाते हैं, वे रोग जन्तुओंका नाश करते हैं, तथा रोगके विपक्षों भी दूर कर देते हैं । यही कारण है कि बचा का शरीरपर धारण करनेसे छूत से फैलनेवाले रोग दूर होते हैं, या उनकी बाधा नहीं होती है । प्रायः छूतसे फैलनेवाले रोग सूक्ष्म जंतुओं द्वारा फैलते हैं, वे रोगजंतु बचा का उम्रगंधिके कारण तत्काल मर जाते हैं । ऐसे उम्रगंधी पदार्थ अजवायन, पुराना, लसूण, कपूर, पेपरमॉट आदि बनेक हैं । अन्य वैद्यक शास्त्रमें इन पदार्थोंका परिगणन किया है और इनको क्षमिनाशक भी कहा है । यदि खोज करनेवाले प्लाक रोगनाशक बनस्पतिकी जड़ या कण्टके मृगिपर सुयोग्य उम्रगंधीवाले अनेक रसोंसे योग्य संस्कार करेंगे, तो इस प्रयत्नसे जगित्मणि अपना तत्त्वराश मणि अब भी प्राप्त होना संभवनीय है । इसलिये हम सुयोग्य वैद्योंको इस विषयकी खोज करनेके निम्न साधुरीत्य प्रार्थना करते हैं ।

### जगित्मणिसे दीर्घ आयुष्य ।

प्रथम मन्त्रके प्रारम्भमें ही ' जगित्मणिले दीर्घायुष्य प्राप्त होनेकी बात ' कही है । यह दीर्घायुष्य प्राप्ति विषय प्रकार होनी है, यह बात यथा विचार करके देखनी आवश्यक है । इस विचार के लिये प्रथम आयुष्य की आपत्ता बर्णनी होती है वह देखिये ।

रोग—आभि और वायि—यह मुख्य कारण है जिससे आयुष्य क्षीण होता है । जगित्मणि रोगोत्पादक विषों और रोगवर्धक जन्तुओंको दूर करता है अपना नाश करता है, इससे मोरोपता प्राप्त होने द्वारा जो स्वास्थ्य प्राप्त होता है वह आयुष्य वर्धन करता है ।

कई लोग समझते हैं, कि आयुष्यकी वृद्धि नहीं होगी है । परंतु वेदमें सेकड़ों स्थानोंपर दीर्घ आयुष्यके उपाय कहे हैं, इसलिये वैदिक दृष्टिकोणसे आयुष्यकी वृद्धि होनेके विषयमें कोई संदेह नहीं है । यदि दीर्घायुष्य होता है या नहीं, इस विषयमें हम आर्य वैद्यक की छाया देखेंगे तो हमें वह साक्षी अनुकूल ही होगी, क्योंकि कि आयुष्य वर्धन के कई रसायन प्रयोग वैद्यशास्त्र में कहे हैं । इनलिये आर्य ग्रंथोंकी समप्ति आयुष्य की वृद्धि होती है इस विषयमें निश्चित है । इसलिये जो सर्व हाथारण जनताका विचार है, कि आयुष्य वर्धन नहीं होता वह अशुद्ध है और ऐसा विचार वैदिक धर्मियोंको मनमें रखनेकी आवश्यकता नहीं है ।

जगित्मणि ( Disinfectant ) स्पर्शजन्य दोषको हटानेवाला होनेके कारण यदि वह शरीरपर धारण किया जाय, तो उम्र रोग दूर होनेमें सहाय्य ही नहीं हो सकती और इस प्रकार यदि मोरोपता की सिद्धता हुई और आयुष्य वर्धक अन्य मन्त्रवर्धक वैदिक उपायोंका अवलम्बन किया तो निःसंदेह आयुष्य वर्धन होगा । इसलिये पाठक इस बातका विशेष ध्यान करें ।

शाताब्दीतक चलनेवाला यह युद्ध है । सौ वर्ष इस युद्धमें व्यतीत होंगे । इसलिये यह साधारण युद्ध नहीं है । शरीर क्षेत्रमें जो कार्य आत्मा द्वारा चल रहा है, उसमें विविध रोग विघ्न कावते हैं और उनके साथ हमारा युद्ध चल रहा है । अपना आरोग्य स्थापित करनेसे ही इस युद्धमें हमें विजय प्राप्त होना है । जट्टिक मणिके रोगनिवृत्तिद्वारा आरोग्य प्राप्त होता है इस हेतु-से यह मणि इस बड़े युद्धमें भी हमें सहायक है, ऐसा इस मंत्रमें जो कहा है वह योग्यही है ।

## बलवर्धन ।

इस प्रथम मंत्रमें और दो शब्द बड़े महत्वपूर्ण हैं । ' अ-रिष्यन्तः । दक्षमाणाः ' इन दो शब्दोंका क्रमशः अर्थ 'अहिंसित होते हुए, बलिष्ठ होनेवाले' यह है । रोगादिके हमलोंके कारण अथवा अन्य दुष्ट शत्रुओंके आक्रमण के कारण हम ( अरिष्यन्तः ) हिंसित न हो अर्थात् हम क्षीण दुःखी त्रस्त अथवा नष्ट न हों, यह प्रथम पद का अर्थ है । परंतु थोड़ासा विचार करने पर पाठकोंके मनमें यह बात स्पष्टताके साथ आजायगी कि केवल क्षीण न होने अथवा नष्ट न होनेसे ही अर्थात् केवल जीवन धारण करनेसे ही जगत् में कार्य चलना और विजय प्राप्त होना असंभव है । विजय प्राप्त करने के लिये यह नियमात्मक गुण विशेष सहायक नहीं होगा । इस कार्य के लिये विधेयात्मक गुण अवश्य चाहिए । यह गुण ( दक्षमाणाः ) बलवान् इस शब्दद्वारा बताया है । इसका अर्थ बलवान् होना है । पाठक योशसा विचार करेंगे तो उनके ध्यानमें यह बात आजायगी कि-

## बल और विजय ।

इस गुणकी बड़ी आवश्यकता है । रोग नहीं हुए, अशक्त न हुआ, नष्ट नहीं हुआ तो भी कार्य नहीं चलेगा, विजयकी इच्छा है तो अपना बल सर्व दिशाओंसे बढ़ानेका यत्न होना आवश्यक है । जितना बल बढ़ेगा उतना विजय निश्चयसे प्राप्त होवेगी । संभावना अधिक है । पाठक इन दो शब्दोंका परस्पर महत्वपूर्ण संबंध देखें और वेदकी शब्द योजनाकी समीक्षा अनुभव करें ।

## दूषण ।

इस सूक्तमें ' दूषण, दूषि ' इन शब्दोंका प्रयोग विलक्षण अर्थमें हुआ है । देखिये-

विष्कन्ध दूषण - विष्कन्धको बिगाड़नेवाला

कृत्वा दूषि - कृत्वाको दोष लगानेवाला

अराति दूषि - अराति को दोष लगानेवाला

पाठक सूक्त देखिये देखेंगे तो उनकी इस शब्द प्रयोगमें यह बात स्पष्ट दिखाई देगी, कि 'शत्रुमें दोष उत्पन्न करना' यहाँ सूचित किया है । कई कहते हैं कि शत्रुओं को मारो काटो या शत्रुओं नाश करो । वेदमें भी शत्रुका नाश करनेका उपदेश कईवार किया है । परंतु यहाँ दूसरी बातका उपदेश शत्रुओं दूर करनेके विषयमें किया है । शत्रुमें दोष उत्पन्न करना, शत्रुमें हीनता उत्पन्न करना, शत्रुकी कार्यवाही में दोष उत्पन्न करना । जिस समय शत्रुका शीघ्र नाश नहीं होता है उस समय अनेक उपायोंसे शत्रुके अंदर दोषोंको बढ़ानेसे शत्रुकी बल घटता जाता है और अपना बल बढ़ता जाता है । यह जितना व्यापकत रोगोंके विषयमें अन्य है उतनाही सामाजिक और राष्ट्रीय शत्रुओंके विषयमें भी सत्य है, शत्रुमें दोष उत्पन्न करनेसे शत्रुके प्रयत्नसे शत्रुका पराभव होता है और अपने लिये विजय प्राप्त होता है ।

यह मणि शरीरपर धारण करनेसे शरीरके जो रोगादि शत्रु हैं उनकी शक्तोंसे दोष उत्पन्न होता है, इससे उन शत्रुओंके शक्ति क्षीण होती जाती है और अपना बल बढ़ता जाता है ।

यह शरीरके क्षेत्रका उपदेश पाठक राष्ट्रीय क्षेत्रमें देखेंगे तो उनकी राजनीतिके शत्रुदमन विषयक एक बड़े शिक्षा का ज्ञान हो सकता है ।

## अग्नि ।

वेद मंत्रोंमें ' अग्नि ' शब्द विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ है। कई स्थान पर इसका अर्थ है ऋषि, कई स्थान पर राक्षस और इस सूक्तमें यह एक रोग विशेषका नाम है। इतने भिन्न अर्थोंमें इसका उपयोग होनेसे इसके विषयमें पाठकोंके मनमें संदेह, रोगा संभव है, इसलिये इस विषयमें थोड़ा सा लिखना आवश्यक है।

' अद् ' ( खाना ) इस धातुसे यह शब्द बनता है इसलिये इसका अर्थ ' भक्षण ' है। दूसरा ' भव ' ( भ्रमण करना ) रूप धातुसे बनता है, इस समय इसका अर्थ भ्रमण करनेवाला होता है। पहिला अर्थ हमने इससे पूर्व दिया है। यहाँ यह अग्नि छन्द रोगवाचक होनेसे मक्षक रोग अथवा भस्म रोग ऐसा किया है, जिसमें रोगी अन्न बहुत खाता है परंतु कृश होता जाता है। दूसरा अग्नि शब्द ' भ्रमण करनेवाला ' यह अर्थ बताता है, यह अर्थ रोगवाचक होनेकी अवस्थामें पागल का वाचक हो सकता है। मूर्ख मनुष्य जो मरिच्छक बिगड़ जानेसे पागल होजाता है, कारण के बिना भी यह भटकता रहता है इस लिये इसका वाचक यह छन्द होसकता है। इससे यह भी सिद्ध होगा कि यह जंघिदमणि मरिच्छक बिगड़ जानेके रोगमें भी हितकारी होगा। परंतु पाठक यहाँ स्मरण रखें कि यह केवल ध्यात्प्राप्तिकी बात है, इसलिये वैयस्यश्रममें इसका बहुत प्रमाण नहीं होसकता, जबतक कि अनुसंधाने अंदिह मणिदा यह उपयोग सिद्ध न हो। तथापि यह अर्थ जंघिदमणिकी खोज करनेमें सहायक होगा इसलिये यहाँ दिया है। वचाके गुण-धर्मोंमें रुचिनिवर्धिनी और उन्मादनाशानी ये दो गुण इस अर्थके साधक हैं, यह खोजके समय ज्ञानमें मारण करने योग्य है।

इस प्रकार यह मूक मरुच पुर्ण अनेक बातोंका वर्णन कर रहा है। पाठक विचार करते रहेंगे तो समझें इस शीघ्रसे वरा शेष बात हो सकता है।



# क्षत्रिय का धर्म ।

( ५ )

( ऋषिः-भृगुः आर्षवर्णः । देवता-इन्द्रः )

इन्द्रं जुषस्व प्रवृद्धा याहि शूर हरिम्पाम् ।  
 पिबा सुतस्य मतेरिह मधोश्चक्रानश्चार्मुदाय ॥ १ ॥  
 इन्द्रं जठरं नव्यो न पुणस्व मधोर्दिवो न ।  
 अस्य सुतस्य स्वांणोप त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥ २ ॥  
 इन्द्रं स्तरापाणिमत्रो वृत्रं यो जुधानं यतीर्न ।  
 विभेदं चलं भृगुर्न संसहे यद्रून्मदे सोमस्य ॥ ३ ॥  
 आ त्वा विशन्त सुतासं इन्द्र पूणस्व कुक्षी विद्वहि शक्र धियेष्वा नः  
 भुक्षी हवं गिरो मे जुपस्वेन्द्रं स्वयुग्मिमस्तेह महे रणाय ॥ ४ ॥

अर्थ—हे शूर इन्द्र ! ( जुषस्व ) तू प्रसन्न हो, ( प्र वृद्ध ) आगे बढ़ ! ( हरिम्पा या याहि ) घोड़ों के साथ प  
 यहाँ आ । ( चक्रानः ) चक्र होता हुआ तू ( मदाय ) हथके लिए ( इह ) यहाँ ( मतेः ) बुद्धिमान् पुरुषका ( सुतस्य  
 मधोः चाहः ) निचोटा हुआ मधुर सुंदर रस ( विभ ) विभो ॥ १ ॥

हे इन्द्र ! ( नव्यः न ) प्रशासनीयके समान और ( रवः न ) स्वर्गाय आनंद के समान ( मधोः जठरं पूणस्व ) इस  
 मधुर रससे अपना पेट भर दो । [ अस्य सुतस्य ] इस निचोटे रसरी ( स्वः न ) स्वर्गके आनंदके समान सुशी और  
 ( सुवाचः मदाः ) उत्तम भाषणोंके साथ आनंद ( रवा उष अगुः ) तेरे पास पहुँचते हैं ॥ २ ॥

( यतीः न ) चल करनेवाले पुद्गलके समान ( याः स्तरापाट मित्रः इन्द्रः ) जिस स्वामी शत्रुघ्नर हमका करनेवाले  
 मित्र इन्द्रने [ वृत्रं कपात ] घेरनेवाले शत्रुका नाश किया था, तथा [ युगुः न ] भृगुनेवालेके समान जिसने [ चलं विभेदं ]  
 शत्रुके बलका भेद किया था और ( सोमस्य मदे ) सोमरसके आनंदमें ( शत्रुं ससहे ) शत्रुओंका पराभव किया था ॥ ३ ॥

हे [ शक्र इन्द्र इन्द्र ] शक्तिमान् प्रभु इन्द्र ! ( सुतासः त्वा या विद्वान् ) निचोटे हुए वे रस तुममें प्रविष्ट हों ।  
 ( कुक्षी पूणस्व ) दोनों कुक्षियोंको तू भर और [ विद्वहि ] धामन कर [ पिबा नः आ—इह ] अपनी बुद्धिसे तू हममें  
 प्राप्त आ । हमारी ( हवं युधि ) युद्धाभ्युत्थ, ( मे गिरः शूरव ) मेरा माया रबीकार कर । और [ इह ] यहाँ [ महे ]  
 रणाय ) बड़े युद्ध के लिए ( स्वयुग्मिमः ) अपनी घोड़ानाओंके साथ ( आ मास्य ) हथित हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे शूर वीर ! तू उदा प्रसन्न और आनंदित रह और उषतिके साथते आगे बढ़ । अपने उत्तम घोड़ोंके साथ रथमें  
 बैठकर इधर उधर आ । और सदा वृत्र उरता हुआ अपने हथको बजानेके लिये जादे बर्षके मधुर रसका पान कर ॥ १ ॥

हे शूरवीर ! प्रसन्न के साथ और हथ बजानेवाले मधुर रससे अपना पेट भर, ऐसा करनेसे ही उत्तम प्रसन्नवादी बन्धी ही  
 तेरे पास रथ औरसे पहुँचनी अपार्य तक तेरी प्रशंसा करवे ॥ २ ॥

पुरुषाधी, वधमी पुरुषके समान प्रवर्णशील और वीरप्रसंगके साथ शत्रु पर हमला करनेवाला शूरवीर अपने शत्रुका नाश  
 करता है । जिस प्रकार मूलेवाला मनुष्य अपनेको भुजका है, वही प्रकार वह शूरवीर शत्रुकी गैरकी भुज देता है और  
 शोमस्य का पान करता हुआ हर्षित और लज्जित होकर शत्रुका पराभव करता है ॥ ३ ॥

इन्द्रस्य तु प्रा वोचं वीर्याणि यानि चकार प्रथमानि वज्री ।

॥ ५ ॥

अहन्नाहिमन्वपस्तर्दु प्र वक्षणां अभित्पर्वतानाम्

अहन्नाहि पर्वते शिथियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्ग्यं ततक्ष ।

॥ ६ ॥

वाथा इव धेनुवः स्पन्दमाना अजः समुद्रमव जग्मुरापः

वृषायमाणो अवृणीत सोमं त्रिकद्रुकेष्वपि वत्सुतस्य ।

॥ ७ ॥

आ सायकं मधवादत्त वज्रमहंघनं प्रथमजामहीनाम्

अर्थ—( इन्द्राय वीर्याणि तु प्रबोधं ) इन्द्रके पराक्रम में अच्छी प्रकार बर्णन करता हूँ । ( यानि प्रथमानि ) जो पहिले केणीके पराक्रम [ वज्री चकार ] वज्रबारी इन्द्रने किए थे । उसने [ अहिं अहन् ] कम न होनेवाले शत्रुका नाश किया, और [ अपः अजुततर्दुं ] प्रबाधोंको युद्ध किया और [ पर्वतानां ] पर्वतोंके ( वक्षणाः प्र अभित्पर्वतानाम् ) भाग तोड़ भी दिए ॥ ५ ॥ ( पर्वते शिथियाणं अहिं ) पर्वतके आश्रयसे रहनेवाले शत्रुको ( अहन् ) बध किया । [ अरमे ] इसके किए ( वहा हवर्ष वज्रं ततक्ष ) कारीगरने तेज शस्त्र बना दिया था । ( वाथाः धेनुवः इव ) रंभाठी हुई गौबोंके समान ( स्पन्दमानाः ) वेगसे बढ़नेवाले जलप्रवाह ( अजः समुद्रं अवजग्मुः ) सीमे समुद्रतक जा पहुँचे ॥ ६ ॥

( वृषायमाणः ) बलवान् धीर [ सोमं अवृणीत ] सोम रसको प्राप्त हुआ । ( वत्सुतस्य त्रिकद्रुकेष्वपि वत्सुतस्य ) रसका धीम ठहरे शत्रुओंमें पान किया । ( मधवा आदत्त वज्रं आ दत्त ) इन्द्रने बाण रूप वज्र दिया और ( अहीनां प्रथमां पुन जहन् ) शत्रुओंके पहिले इस धीरको मार काटा ॥ ७ ॥

भावार्थ— हे शक्तिमान् शूरवीर । सब मयूर रस तुम्हें प्राप्त हों और उससे तुम्हें अपना अपना पैठ भर दे । उस समय तुम्हें अपने मनसे सब जनता की भलाईका विचार कर और उन की पुकार ध्वज कर तथा बड़े जीवनरक्षक में विजय प्राप्त करनेके लिये अपनी आज्ञा शक्तिसे सब आनन्दसे तैयार रह ॥ ४ ॥

शूर पुकारके पराक्रमी कामें करने करता हूँ, जो कि उन्होंने किये थे । बढनेवाले शत्रुका उसने नाश किया और जतेके प्रवाह सबके लिये रुक कर दिये, तथा पर्वतोंके भागोंको तोड़कर जंगल भी धाक किया ॥ ५ ॥

पर्वतके भागोंपर छिड़कर रहनेवाले शत्रुओंका उन्होंने बध किया, ऐसे शूरके लिये कारीगरों ने विशेष प्रकारके ताल शस्त्र तैयार कर दिये थे । त्रिश प्रकार गौबें रंभाठी हुई अपने बढेके पास जाती हैं उसी प्रकार उस वीरने रुने किये हुए जतेके प्रवाह समुद्रतक जा पहुँचे ॥ ६ ॥

अपना बल बढानेवाला शूरवीर सोमरस का पान तीन समय और तीन स्थानोंमें करता है । पानी शूरवीर अपने शत्रु घटा तैयार रखता है और बढने वाले शत्रुके अग्रगमनी ओरका दृष्टि नाश करता है [ और इस रीतिसे अपना विजय प्राप्त करता है । ] ॥ ७ ॥

### ध्याप्रथमं ।

अर्थ— इन्द्र सुखोंमें धनियवर्षन कर रहा होता है। इन्द्र पशु शत्रुपक्षः शत्रुका नाश करनेवाले शूरवीरका चोटक है और उसका करने शूरवीरके ध्याप्रथमका प्रकाश होता है । इस सुखमें भी पाठक ठहरे बत देख सकते हैं । इस स्थलमें त्रिन शरीर का शूरवीर का करने होकर ध्या प्रथम प्रकाश हुआ है, कन शब्दोंका अर्थ देखिये—

### धनियवर्षः शुण ।

१ इन्द्रः ( इन्द्रः ) = शत्रुका नाश करनेवाला, शत्रु से-बध नाश करनेवाला । ( सं. १ )

२ शूरः = शूरवीर । ( सं. १ )

३ शरीरः = शरीर, शरीर, शरीर, शरीर । शत्रुका प्रतिकार करनेमें शरीर । ( सं. १ )



- ४ मित्रः = जनताको मित्र, जनताका हित करनेवाला । सूर्यवत्प्रकाशमान । ( मं. ३ )  
 ५ यतीः = प्रयत्नशील, पुरुषार्थी । ( मं. ३ )  
 ६ भृगुः = भूनेवाला, शत्रुको भूनेवाला । ( मं. ३ )  
 ७ तुरापाद् = त्वरापि शत्रुपर हमला चढ़ानेवाला । ( मं. ३ )  
 ८ शक्रः = समर्थ, शक्तिशाली, बलवान् । ( मं. ४ )  
 ९ वज्री = वज्र आदि शस्त्रोंसे युक्त । ( मं. ५ )  
 १० धृपायमाणः = अपना बल प्रतिदिन बढ़ानेवाला, अपनी शक्ति सब प्रकारसे बढ़ानेवाला । ( मं. ७ )  
 ११ मघवा ( मघ-वान् ) = घनवान् ( मं. ७ )

ये स्मारक शब्द इस सूक्तिमें दूरबीर क्षत्रियके वाचक हैं । इन शब्दोंसे क्षत्रियके कर्तव्योंका भी बोध होता है । क्षत्रियके पास शौर्य वीर्य पराक्रम आदि गुण जैसे चाहिये उसी प्रकार पुनः पुनः प्रयत्न करनेका गुण और वेगसे शत्रुपर हमला चढ़ानेका भी गुण अवश्य चाहिये । शत्रुसे अपना बल अधिक रखनेकी तैयारी भी क्षत्रियको करनी चाहिये, और इस सबके लिये उसके पास विपुल धन भी चाहिये, इत्यादि क्षात्रधर्मका उपदेश हमें यहाँ प्राप्त होता है । पाठक इस दृष्टिसे इन पदोंका विशेष मनन करें । अब वाक्यों द्वारा जो क्षत्रियके कर्म इन मंत्रोंमें वर्णन हुए हैं उनका विचार देखिये—

### क्षत्रियके कर्तव्य ।

- १ दूर ! हरिभ्या आयाहि = हे वीर ! योर्ध्वपर सवारी कर । योर्ध्वकी सवारी करनेका अभ्यास 'क्षत्रियको' करके चाहिये । ( मं. १ )  
 २ म घट = आगे घट । क्षत्रियकी ऐसी तैयारी चाहिये कि जिससे वह सींग्रतासे आगे घट सके । चढ़ाई में दिमाई न रहे । ( मं. २ )  
 ३ दृष्टं ध्यायन् = घेनेवाले अभ्यास बहुत बारबार चढ़ाई करनेवाले शत्रुका नाश करनेमें समर्थ क्षत्रिय हो । ( मं. ३ )  
 ४ बलं विभेद = शत्रुके बलका भेद करे, शत्रुकी सेनामें भेद उत्पन्न करे, शत्रुकी सेनाकी संघशक्ति नष्ट करे, उस शत्रुसेनाको तितर बितर करे । ( मं. ३ )  
 ५ शत्रून् ससहे = शत्रुका पराजय करे । शत्रुके हमलेकी सहे अपना शत्रुके हमलेसे पीछे न हटे । ( मं. ३ )  
 ६ विद्वि ( वा विद्वि ) = उत्तम राज्य शासन कर । राज्यशासन करना अपना कर्तव्य है ऐसा क्षत्रिय समझे । ( मं. ४ )  
 ७ महते रणाय स्वयुग्मिः मरत्य = बड़े युद्धके लिए अपनी योग्य शक्तियोंके द्वारा आनन्दसे तैयार रहे । शत्रु सामना करता है, तो उसको अपनी योजना और कुशितोषे दूर करे । ( मं. ४ )  
 ८ अहिं बहन् = शत्रुका नाश करे । ( मं. ५ )  
 ९ पर्वतानां नद्यः समिमन् = पर्वतों के उपरके पानी जमल तोड़ कर शत्रु छिप कर रहनेके स्थान हटा देवे । अबका बहसि घटनेवाले नदी प्रवाह शुले करे । ( मं. ५ )  
 १० अपः अनु तवई = जलके प्रवाह शत्रुके अधिपति में हों तो उनकी सखे लिए शुले करे । ( मं. ५ )  
 ११ पर्वते सिधियाजं अहिं बहन् = पहाड़ियोंका आघात करके लड़नेवाले शत्रुका नाश करे । ( मं. ६ )  
 १२ अर्ये स्वहा स्वयं वर्यं तवश्च = इसके लिए दृढ़ार तीव्र शस्त्रास्त्र तैयार करके दे । अबका शत्रु अपने बारगिरी को छत्र तैयार करनेके काम में निरुक्त करे और आधुनिक शस्त्रास्त्र तैयार करके भे । ( मं. ६ )  
 १३ हापकं वर्यं वा बहन् = बाण और बल आदि शस्त्र हापके भे । ( मं. ७ )  
 १४ अरीमां प्रथमज्ञा एनं बहन् = बटनेवाले शत्रुके मुखय मुखय कीरतहा अपना शत्रु केननपकोश भान करे । ( मं. ७ )

ये वाक्य क्षत्रियके कर्तव्य बता रहे हैं । इनकी विशेष व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ये वाक्य स्वयं स्पष्ट हैं और थोड़ेसे मननसे इनका आशय ध्यानमें आ सकता है ।

अथ राज्यशासन विषयक कर्तव्योंकी सूचना करनेवाले वाक्योंको देखिए—

### राज्य शासन ।

१ मित्रः—प्रजाओंका मित्र बन कर राजा राज्य करे । कभी शत्रु बनकर राज्य न करे । [ मं० ३ ]

२ हवं धुधि, गिरः जुषस्व—गुकार सुन, वाणीका स्वीकार कर अर्थात् प्रजाकी आवाज श्रवण कर । प्रजाकी इच्छाका आदर कर । [ मं० ४ ]

३ अपः अन्जः समुद्रं जवजग्मुः—समुद्रतक बढ़ने वाले नहर चलावे और उससे कृषिकी सहायता करे । [ मं० ६ ]

इस प्रकारका राज्यशासन केवल प्रजाके हितकी वृद्धि करनेके लिए जो क्षत्रिय करता है, उसीकी प्रजा प्रशंसा करती है, इस विषयमें मित्र लिखित मंत्र भाग देखिए—

### प्रजासे सन्मान ।

१ स्वा मदाः सुवाचः उप अगुः—तेरे पाद हर्षकी उत्तम वाणी पहुंचती है अर्थात् हर्षित और आनंदित हुई प्रजा उपकी उत्तम वाणीसे प्रशंसा करती है । कृतज्ञतासे संमान करती है । मानपत्र अर्पण करती है । [ मं० २ ]

प्रजा आनंदित होनेके पश्चात् ही उत्तम राजाकी इस प्रकार प्रशंसा कर सकती है । अन्यथा प्रस्तुत हुई प्रजा राजाकी निंदा या राजाका क्रोध करती रहेगी । इस प्रकार राजाके अथवा क्षत्रियके राष्ट्रीय कर्तव्य क्या हैं, इस विषयमें इस सूक्तने उपदेश दिया है । यही ऊपर जो वाक्य उद्धृत किए हैं, उनमें अर्थकी सुबोधताके लिए शब्दोंके अर्थोंका पुरुषव्यत्यय करके थोड़ा परिवर्तन जानबूझ कर किया है । यह बात संरक्षित पाठक स्वयं जान सकते हैं । इतना परिवर्तन इस प्रकारके स्पष्टीकरणमें आवश्यक ही होता है । इसलिए इस विषयमें कुछ न लिखकर अथ क्षत्रियका व्यक्तिगत आचार भोग आदि कैसा रहना चाहिए इस विषयमें इस सूक्ता उपदेश देखते हैं—

### भोग ।

१ सुतस्य मघोः मद्राय पिब—सोमादि वनस्पतिसे निचोड़े मधुर रसका पान हर्षके लिए कर । [ मं० १ ]

इस विधानमें मधुर रसका पान करनेका उपदेश है । यही मधुरीक प्राधान्य है । वनस्पतिमें सोम मुख्य है । इसका प्रण करनेसे अन्य आरोग्य और हर्षवर्धक वनस्पतिषु का प्रण स्वयं हुआ है । इस सूक्तके छतम मन्त्रमें सोम का नाम है और यही इस मंत्रसे संबंधित है । इस सूक्तमें इसके उल्लेख मित्र लिखित हैं—

२ सुतस्य मघोः जडरं पूजस्व । ( मं० २ )

३ सुवासः स्वा कुक्षीः आबिदान्तु । [ मं० ४ ]

४ सुतस्य सोमं त्रिकद्रेषु जविष्य । ( मं० ७ )

इन मंत्र भागोंका भी बड़ी आवश्यकता है । [ २ ] सोम रससे पेट भर दे । [ ३ ] सोम रस से दोनों कुक्षियों भर दे, [ ४ ] निचोड़ा सोम रस तीन बर्तनों द्वारा तीन स्थानोंमें बैठ कर दिनमें तीन बार पिओ । यह सोम रस मधुर कबियाला, हर्ष और जवाह बर्षक, पकावटकी दूर करनेवाला, दीर्घ आयुष्य देनेवाला, बुद्धि बढ़ानेवाला, और रोग बीजोंको घाटीसे हटाने वाला है ।

### सोम और मद्य

वेद प्रणालीके अनमिश्र सोम गोम की घराब मानते हैं, वे इतनी मूल्य करते हैं, कि उससे अधिक भूल कोई भी कर नहीं सकता । सोम, गुरा, मादगी, आषष, अरिष्ट, मद्य और घराब ये शब्द समानार्थक नहीं हैं । मद्य और घराब ये शब्द समानार्थक हो गये हैं और गुरा शब्द भी उनमें सम्मिलित हुआ है, यह बात हमें पता है । इसलिये हम कहते हैं कि इन शब्दोंका अर्थ पाठक अवश्य स्मरण करें—

१ सोम = सोम वल्लीका रस, जो दूध, मधु ( शहद ), मिथी, भूने घान्यका आटा, दही आदि अनेक पदार्थोंके मिश्रणके साथ अच्छा स्वादिष्ट पेय बनाकर पीया जाता है और यी आदि पशुओंको भी पिलाया जाता है। यह वनस्पतियोंका केवल रस होता है । इसके गुण ऊपर दिए हैं ।

२ सुरा = किसी रसकी भाँप बना कर फिर उसका शीतला देकर रस बनाया जाय, तो उसको यह नाम है। ( Distilled water ) पानीकी भाँप बनाकर फिर उस भाँप का पानी बन जानेसे भी उस जलका यह नाम होता है, वृष्टिजल का भी यही नाम उक्त कारण ही है, क्योंकि भूमि परके जलको भाँप होकर मेघ बनते हैं और उससे वृष्टि होती है । किसी भी रसकी इस प्रकार शुद्धि होती है । यह शुद्धिकी राति है । आजकल इस रीतिसे शराब बनाते हैं, इसलिए इस नामकी खराबी हुई है, यह बात सामयिक है । वास्तव में संस्कृतका केवल सुरा शब्द उक्ताविधि से बनाये परिशुद्ध जल या रस का वाचक है ।

३ वाक्सी, अमरवाक्सी = ये भी शब्द उक्त प्रकारके रसोंके या जलके वाचक हैं । इन पेशोंमें मादकता या दुर्गुण वास्तवमें नहीं है । परंतु आजकल इस रीतिसे शराब बनाती है इसलिए ये सब नम मुरे अर्थमें आजकल प्रयुक्त हुए हैं । प्राचीन समयमें भी क्वचित् सुरे और क्वचित् अरुके अर्थोंमें इनका उपयोग दिखाई देता है ।

४—५ आसव और आरिष्ट = ये नाम औषधि पेशोंके होते हैं । इनमें कुछ सदावृत्त होनेके कारण मय उत्पन्न होता अप-रिहाय है, तथापि इनमें मसकी माना प्रति शतक दो भागके करीब होती है । इसलिए शराबमें इतकी गिनती नहीं होती ।

अंग्रेज सरकारने इनकी जाय करके निषेध किया है, कि यह मय नहीं है । इसलिए देशी वैद्य ये आसव तथा आरिष्ट लेना-कर सकते हैं, अन्यथा सरकारी मतिबंध उनके पीछे लग जाता ।

६—७ मय और शराब मादक होनेसे निःशुद्ध सुरे हानिकारक पेश हैं ।

पाठक इस विवरणसे समझ गये होंगे कि सोममें दोषकी कल्पना अथवा मसकी कल्पना यथार्थचित् भी नहीं हो सकती, दिनमें तीन बार रस निचोड़ा जाता है और उसी समय आहुतियाँ देकर पीया जाता है । उधरे, दोषहरकी और सायंकालकी, रस निचोड़ना और पीना होता है, उसका वर्णन इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें आनुका है । इसलिए जो लोक सोमरस को सुरा मानते हैं वे ही उक्त मत मसकी भुंदमें कहते हैं, ऐसा यदि किसीने कहा तो वह अशुद्ध न होगा ।

इस सूक्तमें क्षत्रियका भोजन वनस्पतिका मधुर रस है यह बात स्पष्टतासे कहा है, जो शाकाहारकी पुष्टि करनेवाला है ।

## जीवन संग्राम ।

वेदमें " मइते रणाय " ये शब्द बार्बरार आते हैं । " बड़ा युद्ध " चल रहा है, सावध रहकर अपना कर्तव्य करो, यह वेदका उपदेश जीवन संग्राममें बहनेवाले मनुष्य मात्रका मार्गदर्शक है । प्रत्येक मनुष्य सदा युद्धभूमिपर खड़ा है, किसी न किसी प्रकारके युद्धमें समिलित हुआ है, उसकी इच्छा हो या न हो उसको युद्धमें रहना ही पड़ता है, फिर वह भागकर कहाँ जाय ? इस लिए उसको अपने युद्धका स्वरूप जानना चाहिए और उस संबंधसे उत्पन्न होनेवाला अपना कर्तव्य अवश्य करना चाहिए । अन्यथा उसका जन्म निरर्थक हो जायगा । चाहे वह आदिवासीसे युद्ध करे या हिंसावृत्तिसे करे, युद्धके विना उसकी स्थिति नहीं है और इस युद्धमें विजय कमाने के विना उसकी उन्नति नहीं है । यह हुई सब मनुष्योंकी बात, क्षत्रिय को तो पूछना ही क्या है, उसका जीवन ही युद्ध रूप है उसको युद्ध तो अनिवार्य है ।

इस प्रकार यह सूक्त क्षात्र वर्गका उपदेश करता है । पाठक इसका मनन करनेके समय प्रथम कण्डके २, १५, १९, २१, २८, २९, इन सूक्तोंको भी ध्यानमें रखें ।

( यहाँ प्रथम अनुबन्ध समाप्त हुआ )

# ब्राह्मण धर्मका आदेश ।

( ६ )

( ऋषिः-शौनकाः सम्पत्कामः । देवता-अग्निः )

- ( २ ) समास्त्वाय ऋतवो वर्षयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या ।  
 सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि भृदिश्वत्सः ॥ १ ॥  
 सं चेष्टस्वग्निं प्र चं वर्धयेममुचं तिष्ठ महते सौमगाय ।  
 मा ते रिपद्युपसृत्तारो अग्ने ब्रह्माणस्ते युगसं सन्तु मान्ये ॥ २ ॥  
 त्वामग्ने घृणते ब्राह्मणा इमे श्रिवो अग्ने संवरणे भवानः ।  
 संपत्तुहर्षं अमिमातिजिह्वं स्वे गये जागृष्वममुच्छन् ॥ ३ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! ( समा ऋतवः संवत्सराः ) मास ऋतु और वर्ष, ( ऋषयः ) ऋषि लोग तथा ( यानि सत्या ) जो सत्यधर्म हैं वे सब ( वा वर्षयन्तु ) तुझे बर्षावें । ( दिव्येन रोचनेन ) दिव्य तेजसे ( दीदिहि ) उज्जल प्रकाशित हो और [ विश्वाः पतत मादवाः ] सब पारों दिशाओं में [ आ भाहि ] प्रकाशित हो ॥ १ ॥

हे अग्ने ! ( च चेष्टस्व ) उज्जल शीतसे प्रखलित हो [ च इमं प्र वर्धये ] और इसको बहुत बढ़ाओ । ( अ महते सौमगाय अतिष्ठ ) बड़े देवर्षिके किये उठकर खड़ा रह । हे अग्ने ! ( ते उपसृताः ) तेरे वपामक [ मा रिपन् ] मष्ट न हों । और ( ते ब्रह्माणः ) तेरे पास रहनेवाले ब्राह्मण ( यशसः सन्तु ) यशसे युक्त हों [ मा मान्ये ] तुमसे नहीं ॥ २ ॥

हे अग्ने ! [ इमे ब्राह्मणाः वा युगते ] ये ब्राह्मण तेरा स्वीकार करते हैं । हे अग्ने ! ( न संवरणे शिवो भव ) हमारे स्वीकार में तू शुभ हो । हे अग्ने ! [ संपत्तुहर्षं अमिमातिजिह्वं सवे ] वैश्वीका नाश करनेवाला तथा अमिमानियोंसे पीननेवाला हो, तथा [ अ—प्रमुच्छन् ] गूला न करता हुआ ( स्वे गये जागृष्व ) अपने पारों जागता रह ॥ ३ ॥

क्षत्रेणाग्निं स्वेन्न सं रभस्व मित्रेणाग्निं मित्रधा यंतस्व ।

सजातानां मध्यमेष्टा राज्ञामग्ने विहव्या दीदिहीह

॥ ४ ॥

अति निहो अति सृधोऽत्यचिचौरति द्विषः ।

विश्वा ह्यमे हरिता तर त्वमयस्मभ्यं सहवीरं रायि दाः

॥ ५ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (स्वेन्न क्षत्रेण) अपने क्षात्रतेजसे (स रभस्व) उद्यम प्रकारसे करताहिब हो । हे अग्ने ! (मित्रेण मित्रधा यंतस्व) अपने मित्रके साथ मित्रकी रीतिसे व्यवहार कर । हे अग्ने ! (सजातानां मध्यमे स्थाः) सजातीयोंकी मंडलीमें मध्यस्थानमें बैठनेवाला होकर [राज्ञां वि—हव्याः] क्षत्रियोंके बीचमें भी विशप आदरसे बुलाने योग्य होकर [इह दीदिहि] यहाँ प्रकाशित हो ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! [निहो अति] मारपीट करनेके भावका अतिक्रमण कर, [सृधः अति] हिंसक वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (अ—चिचौरः अति) पापी वृत्तियोंका अतिक्रमण कर, (द्विषः अति) द्वेष भावोंका अतिक्रमण कर । हे अग्ने ! (विश्वा हरिता तर) सब पापवृत्तियोंको पार कर । (अय रवं) और तू [अस्मभ्यं] हम सबके लिए [सहवीरं रायि दा] वीर प्रदयके साथ रहनेवाला बन दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—अपना बल बढ़ाकर सदा उत्साह धारण कर, मित्रके साथ मित्रके समान बोधा व्यवहार कर, अपनी जातीमें प्रमुख स्थानमें बैठनेका अधिकार प्राप्त कर, इतनाही नहीं परंतु राजा लोग भी सलाह पूछनेके लिये तुम्हें आदरसे बुलावें ऐसी तू अपनी योग्यता बढ़ा और यहाँ तेजस्वी बन ॥ ४ ॥

मारपीट अपना घातपातके भाव दूर कर, नायक या हिंसक गुण हटा दे, पापवासनाओं को अपने मनसे हटा दे, द्वेष भावों को समीप न कर, तात्पर्य सब हीन वृत्तियोंके परे आकर अपने आपको पवित्र बनाओ, और हमारे लिये ऐसी संपत्ति लाओ, कि जिसके साथ सदा वीरभाव रहो ॥ ५ ॥

### अमिका स्वरूप ।

अथर्ववेद काण्ड १ सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें 'अग्नि वीन है' इस प्रकरणमें अग्नि पद ब्राह्मण अर्थात् ज्ञानी पुरुष का वाचक है यह बात विशेष स्पष्ट की है। पाठक कृपा करके यह प्रकरण यहाँ अवश्य देखें। उक्त प्रकरणमें अमिका स्वरूप स्पष्ट होगा। श्लेषात् अमिका वर्णन करते हुए इस सूक्ते जो शब्द प्रयोग किये हैं उनका विचार देखिये—

हे अग्ने ! त्वं सजातानां मध्यमेष्टा राज्ञां विहव्याः इह दीदिहि ॥ (सं० ४)

'हे अग्ने ! तू अपनी जातिमें मध्य स्थानमें बैठनेकी योग्यता धारण करनेवाला और राजा महाराजाओं द्वारा विशेष आदरसे बुलाने योग्य होकर यहाँ प्रकाशित हो ।'

यह वाक्य इस मंत्रमें या इस सूक्तेमें प्रतिपादित अग्नि केवल अग्नि ही नहीं है, परंतु यह सत्पुरुष है यह बात सिद्ध करता है। 'सजातानां मध्यमेष्टा' (सजातानां मध्यमेष्टाः) ये शब्द तो निःसंदेह उसका अनुष्य होना सिद्ध करते हैं। तथा इसी मंत्रके '(राज्ञां विहव्याः) राजाओं या क्षत्रियों द्वारा विशेष प्रकारसे बुलाने योग्य' ये शब्द उसका क्षत्रियजातिसे मित्र जातीय होना भी अंश मात्रसे सूचित करते हैं। क्षत्रिय जातिसे भिक्ष, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र और निषाद ये चार जातियाँ हैं। क्या कभी क्षत्रिय अपनेसे निचली जातीका सहसा वैसा समादर कर सकते हैं ? इस प्रश्न का मनन करनेसे यहाँ इसका संभव हीसता है, कि यहाँ जिसका वर्णन हुआ है वह ब्राह्मण वगैरह अनुष्य ही होगा। अर्थात् इस सूक्ता अग्नि शब्द ब्राह्मण वाचक है। यह बात अथर्ववेद प्रथम काण्ड सू० ७ की व्याख्याके प्रसंगमें बताया है और उसी बातकी सिद्धि इस सूक्त के इस वाक्य द्वारा होगी है। इस प्रकार यहाँका अग्नि शब्द ब्राह्मण का वाचक है, किंवा यह कहना अधिक सज्ज होगा, कि 'ब्राह्मण कुमार' का वाचक है। ब्राह्मण कुमार को इस सूक्त द्वारा बोध दिया है। वेदमें अग्नि देवताके स्थानों द्वारा ब्राह्मणधर्म और इन्द्र देवताके

सूक्तों द्वारा अत्रिचरम विशेषतया बताया जाता है, यह बात पाठकोंने इस समय तक कई बार देखी है, इसलिये अब इस विषयमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है । अब अन्तिम शब्दका यह भाव ध्यानमें धारण करके इस सूक्तके वाक्य देखिये—

### दीर्घ आयु ।

१ हे अग्ने ! त्वा समः । अतः सः संवत्सराः च वर्धयन्तु—हे प्राज्ञा कुमार ! हे मालकी मदिने अन्तु और वर्ष तेरा संवर्धन करे अर्थात् उत्तम दीर्घ आयुस्वये युक्त हो । योगार्ध साधनोंसे ऐसा करने कर कि तेरी आयु दिन के पिछे दिन, मास के पीछे मास, अन्तु के पीछे अन्तु और वर्ष के पीछे वर्ष इस प्रकार बढ़ती रहे । ( मं० १ )

### ज्ञान प्राप्ति ।

२ अथयः त्वा वर्धयन्तु—अतिलोभ विद्याके उपदेशसे तुझे बढ़ावे । अर्थात् त्रयि प्रणालीके अनुसार अध्ययन करता हुआ तू ज्ञानी बन । [ मं० १ ]

### सत्यनिष्ठा ।

३ यानि सत्यानि तानि त्वा वर्धयन्तु—जो सब सत्य धर्म नियम हैं, वे सब तुझे बढ़ावे । अर्थात् तू सत्य धर्मनियमोंका उत्तम प्रचारसे पालन कर और सत्यके बलसे बलवान् हो । सत्यपालनसे ही आत्मिक बल बढ़ता है । ( मं० १ )

### अपने तेजका वर्धन ।

दिव्येन रोचनेन सर्वोद्दिष्टि—दिव्य तेजसे पहिले स्वयं प्रकाशमान हो । पूर्वोक्त तीनों उपदेशों द्वारा तीन बल बढ़ानेकी सूचना मिली है, (१) दीर्घ आयुस्वय और निरोग घातीसे शारीरिक बल, (२) अथि प्रणालीके अध्ययनसे ज्ञानका बल और (३) सत्यपालनसे आत्मिक बलकी प्राप्ति होती है । इन तीनोंका मिल कर जो तेज होता है वह दिव्य तेज कहलाता है । यह दिव्य तेज सबसे प्रथम अपने अंदर बढ़ाना चाहिये, जिससे वह दिव्य तेज दूसरोंको देनेका अधिकार अपने अंदर आ सकता है । ( मं० १ )

### तेजका प्रकार ।

५ विद्याः सततः प्रदिताः सामाहि—सब विद्याएं दिशाएं प्रकाशित करो । उक्त तीन तेजोंसे स्वयं युक्त होकर चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्योंके चक्र तेजोंसे तेजस्वी करो, अर्थात् ऐसे उपाय करो, कि जिससे चारों दिशाओंमें रहनेवाले मनुष्य उत्तम तीन दिव्य तेजोंसे युक्त बने । स्वयं तेजस्वी होनेके पश्चात् दूसरोंको प्रज्वलित करना आवश्यक है । अर्थात् स्वयं दीर्घायु और बलवान् बनकर उपर्युक्त भिक्षुके माथे दूसरोंको बताओ, स्वयं ज्ञानी बनकर दूसरोंको ज्ञानी करो और स्वयं सत्यनिष्ठोंसे आत्मिक शक्ति युक्त होकर दूसरोंमें आत्मिक बल बढ़ाओ । ( मं० १ )

३ मं० द्विचरम, द्विचरवर्धय—स्वयं प्रदीप्त हो और दूसरोंको भी बढ़ाओ । पहिले स्वयं प्रदीप्त होने रहो और पश्चात् दूसरोंको प्रदीप्त करो । ( मं० २ )

गलतीके कारण तेरे प्रतिपक्षी हीं सुख भोगे । तेरी गलतीका काम शत्रु न उठावे, अतः सावधानीसे अपना कार्य करते हुए स्वप्र-  
क्षियोंका यश बढ़ाओ । [ मं० ३ ]

१० इमे ब्राह्मणाः स्वो वृणते । नः संवरणे शिवः भव—ये ज्ञानी तुझे चुनते हैं, इस चुनावमें तू सबके लिए कल्याणकारी  
हो । तू सदा जनताका हित करनेवाला हो जिससे सब ज्ञानी लोग विद्याप्राप्त पूर्वक तेरा ही स्वाकार करे । जनताका हितकारी  
होकर जनताका विद्याप्राप्त संपादन कर । [ मं० ३ ]

११ सपत्नदा भवितातिजित् भव—प्रतिपक्षीका पराजय कर अर्थात् तू उन विरोधियोंको अपने ऊपर आक्रमण करने  
न दो । [ मं० ३ ]

### अपने घरमें जागना ।

१२ अयमुच्छत्स्व गये जागृहि—गलती न करता हुआ अपने घरमें जागता रह । अपना घर " शरीर, घर, समाज,  
जाती, राष्ट्र " इतनी मर्यादा तक विस्तृत है । हर एक घरमें जाग्रत रहना अत्यावश्यक है । घरका स्वामी जाग्रत न रहा तो  
शत्रु घरमें घुसंगे और स्वामी को ही घरसे निकाल देंगे । इसलिए अपने घरकी रक्षा करने के उद्देश्यसे घरके स्वामीको सदा  
जागते रहना चाहिए । [ मं० ३ ]

### उत्साहसे पुरुषार्थ ।

१३ रवेन क्षत्रेण संरभस्व—अपने क्षात्र तेजसे उत्साह पूर्वक पुरुषार्थ आरंभ कर । शत्रुका प्रतिकार करनेका बल अपने  
में बढ़ाकर उस बलसे अपने पुरुषार्थका आरंभ कर । [ मं० ४ ]

### मित्रभाव ।

१४ मित्रेण मित्रथा यतस्व—मित्रके साथ मित्रके समान व्यवहार कर । मित्रके साथ कपट न कर । [ मं० ४ ]

१५ सजातामी मय्यमेष्टाः भव—स्वजातीयों के मय्यमें—अर्थात् प्रमुख स्थानमें बैठनेकी योग्यता प्राप्त कर । अर्थात्  
स्वजातीयोंमें तेरी योग्यता हीन समझी जावे । स्वजातियोंके लोग तेरा नाम आदर पूर्वक लें । [ मं० ४ ]

१६ राज्ञी वि-हृष्यः दीदृहि—क्षत्रियों अथवा राजाओंकी समामें विशेष आदरसे मुलाने योग्य बन और प्रकाशित हो ।  
अर्थात् केवल अपनी जाती में ही आदर पानेसे पर्याप्त योग्यता हो चुकी ऐसा न समझ, परंतु राज्यका कार्यभारवाह करनेवाले  
क्षत्रिय भी तुझे आदरसे मुलावि, इतनी योग्यता प्राप्त कर । [ मं० ४ ]

### चित्तशुचियोंका सुधार ।

१७ निहः शुभा भवित्तीः द्विषः अति तर—क्षयवा करनेकी वृत्ति, ईर्ष्याका भाव, पाप वासना और द्वेष करनेका स्वभाव  
दूर कर । अर्थात् इन कुछ मनोभावोंकी दूर कर और अपने आपको इनसे दूर रख । [ मं० ५ ]

१८ विद्या दुरिता धर—सब पाप भावोंकी दूर कर । पाप विचारोंसे अपने आपको दूर रख । [ मं० ५ ]

१९ त्वं सहवीरं रयिं अरमभ्यं दा—तू वीरभावोंसे युक्त धन हम सबको दे । अर्थात् हमें धन प्राप्त कर और साथ  
साथ धनकी रक्षा करनेकी शक्ति भी उत्पन्न कर । हर एक मनुष्य धन कमाने और धनकी रक्षा करनेका बल भी बढ़ावे,  
अन्यथा उक्त बलके अभावमें प्राप्त किया हुआ धन पाष नहीं रहेगा ।

इस सूक्तमें उर्ध्वस वाक्य हैं । हर एक वाक्य का भाव ऊपर दिया है । प्रत्येक वाक्य का भाव इतना सरल है कि उसकी  
अधिक व्याख्या करनेकी आवश्यकता नहीं है । पाठक थोड़ासा मनन करेंगे तो उनकी इस सूक्त का दिव्य उपदेश तत्काल  
स्थानमें आजायगा । इस सूक्तका प्रत्येक वाक्य हृदयमें सदा जाग्रत रखने योग्य है ।

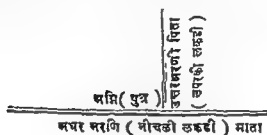
### अन्योक्ति अलंकार ।

अमिका वर्णन या अमिकी प्रार्थना करनेके सिद्धसे ब्रह्मण कुमारके उन्नतिके आदेश किछ अपूर्व बंसे दिए हैं, यह वेदकी  
आलंकारिक वर्णन करनेकी शैली यहाँ पाठक स्वाचक्षेक्षें । यहाँ अन्योक्ति अलंकार है । अमिके उद्देश्यसे ब्रह्मण कुमारकी उन्नतिकी  
उपदेश किया है ।

ज्ञानी मनुष्यके हृदयकी वेदीमें जो अग्नि जलते रहना चाहिये, वह इस सूक्तमें पाठक देखें । यदि इस सूक्तके अग्नि पशुका अन्योक्ति द्वारा बोध होनेवाला अर्थ ठीक प्रकार ध्यानमें न आया, तो सूक्तका अर्थही ठीक रीतिसे ध्यानमें नहीं आसकता । और जो केवल आग के जलनेका मानही यहाँ समझेंगे, वे तो इस सूक्तसे योग्य लाभ कभी प्राप्त नहीं कर सकते ।

### अरणियोत्से अग्नि ।

दो अरणियों—लकड़ियों—के संघर्ष से अग्नि उत्पन्न होता है । यज्ञमें इसी प्रकार अग्नि उत्पन्न करते हैं । अलंकारसे [ अघर अरणि ] नीचे वाली लकड़ी स्त्रीरूप और [ उतरा अरणि ] ऊपरवाली लकड़ी पुरुषरूप मानी जाती है और लक्ष्मी, अरिणियोंसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि पुत्र रूप माना जाता है । इस अलंकार से देखा जाय तो अग्नि पुत्ररूप है ।



यदि इस सूक्तमें सामान्यतया बालकोंको अग्नि रूप माना जाय और उन सबको इस सूक्तसे सज्जितका मार्ग बताया है ऐसा माना जाय, तो भी सामान्य रीतिसे चल सकता है । परंतु विशेष कर यहाँ का उपदेश ब्राह्मण कुमारके लिये है, इसके कारण पहिले बताया ही है । इस सूक्तके साथ श्रमण काण्डके ७ वें सूक्ता भी मंत्रन कीजिये ।

[ सूचना—यजुर्वेद अ० २७ में इस सूक्तके पाचों मंत्र १-३, ५, ६ इस क्रमसे आये हैं । कुछ शब्दोंका पाठ भिन्न है तथा-  
वि अयं विशेष भिन्नता नहीं है, इस लिए उनका विचार यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है ]



# शाप को लौटा देना ।

( ७ )

( ऋषिः—अथर्वी । देवता—मैपज्यं, आयुः, वनस्पतिः )

अघर्दिष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।

आपो मलमिव प्राणैक्षीरस्तवान् मच्छपथाँ अधि

॥ १ ॥

यश्च सापत्नः शपथो जाभ्याः शपथश्च यः ।

ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अघस्पदम्

॥ २ ॥

द्विवो मूलमवततं प्रथिव्या अग्युचतम् ।

तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ।

॥ ३ ॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद्वनम् ।

अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तासिपुः भिमातयः

॥ ४ ॥

शपथ—( भय-द्विधा ) पाप का द्वेप करनेवाली, ( देव-जाता ) देवोंके द्वारा वरपत्र हुर्दे ( शपथ-घोषनी कीवत् ) शाप को दूर करनेवाली औषधि ( सर्वान् शपथान् ) सब शपथोंको ( मत् ) मुझसे ( भवि-प्र जनैक्षीत् ) धो डालती है [ आपः मलं इव ] जल जैसा मलकी धो डालता है ॥ १ ॥

[ यः च सापत्नः शपथः ] जो सपत्नोंका शाप, ( यः च जाभ्याः शपथः ) और जो बी का दिया शाप है तथा ( पत् ब्रह्मा मन्युतः शपात् ) और जो ब्रह्मज्ञानी कीयसे शाप देवे ( तत् सर्वं नः अघस्पदं ) वह सब हमारे नीचे हो जावे ॥ २ ॥

{ द्विवः मूलं अवततं } मुझकोसे मूल नीचे आया है जैसे { प्रथिव्याः भवि उचतं } प्रथिवीसे ऊपर को फैला है, ( तेन सहस्रकाण्डेन ) उस सहस्र काण्डवालेसे ( नः विश्वतः परि पाहि ) हमारी सब ओर से रक्षा कर ॥ ३ ॥

( मां परि पाहि ) मेरी रक्षा कर, [ मे प्रजां परि ] मेरे सत्तानोंकी रक्षा कर, ( नः पत् धनं परि पाहि ) हमारा जो धन है उसकी रक्षा कर । ( अ-रातीः नः मा तारीन् ) अनुदार शत्रु हमसे आगे न बढ़े और ( भिमातयः नः मा तासिपुः ) दुष्ट दुर्जन हमको पीछे न रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह वनस्पति पापशुतिको हटाने वाली, दिव्य भाषोंकी बढानेवाली, औषधे शाप देनेकी प्रशुतिको कम करनेवाली है, यह औषधी शाप देनेके भावको हमसे दूर करे जैसे जल मलकी दूर करता है ॥ १ ॥

सापत्न आर्क्षोषे, यक्षिणोषे, क्षीपुर्वोषे अथवा विद्वान् मनुष्योंके कीचसे जो शाप दिया जाता है वह इससे दूर हो ॥ २ ॥ इस वनस्पति का मूल तो मुल्लोके यहाँ आया है जो पृथ्वीके ऊपर लया है; इस सहस्रों काण्डवाली वनस्पतिसे हमारा बचाव घब प्रकारसे होवे ॥ ३ ॥

मेरा, मेरी संतान का, तथा मेरे धन ऐश्वर्य कादिष्ट इससे संरक्षण हो । हमारे शत्रु हम सबके आगे न बढ़ें और हम उनके पीछे न रहें ॥ ४ ॥

श्रुतारमेतु श्रुपथो यः सुहार्त तेन नः सह ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हर्दिः पृथीरपि शृणीमसि

॥ ५ ॥

मर्थ- ( श्रुपथः श्रुतारं पठु ) श्रुप श्रुप देनेवाले के पास ही वापस चला जावे । ( यः सुहार्त तेन सह नः ) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो । ( चक्षुः-मन्त्रस्य दुर्हर्दिः ) आँखोंसे तुरे हृदय देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी ( पृथीः अपि शृणीमसि ) पसलियाँ ही हम ठोठ देते हैं ॥ ५ ॥

माथार्थ- श्रुप देनेवाले के पास ही उसका श्रुप वापस चला जावे । जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो उसके हमारी निजता हो । जो आँखों से तुरे हृदय करके फिसाद मचानेवाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनको हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

श्रापका स्वरूप । श्रापकी सब जानते ही हैं । गाली देना, आक्रोश करते हुये दुष्टके नाश होनेकी बात कह देना, घुरे शब्दोंका संचार करना इत्यादि सब घृणित बातें इस श्रापमें आती हैं । जिस प्रकार साधारण जी पुरुष गालियाँ देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्य भी श्रापके समय घुरा भला कहते ही हैं । यह सब श्रापकी लीला है । यदि कोप हट गया और उसके स्थानपर विचारी भाति स्वभाव आगया तो श्राप देनेकी उक्ति हट जायगी । इसलिये इस सूक्तमें 'सहस्र काण्ड' नामक वनस्पति की प्रशंसा करते हुए स्मृति किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे श्राप देनेकी कोपी उतकी दूर किया जाय ।

दूर्याका उपयोग । सहस्रकाण्ड वनस्पति का प्रसिद्ध नाम 'दूरी' है । जहाँ पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत सन्धि होती है । इसका काण्डसे अर्थात् जोड़के यह बढती रहती है । विषारी, मूर्खारी, मरिचकी अशान्ति, मरुत्तकी गर्मा, ज्वालादीय आदिपर यह उत्तम है । इसके सेवनसे श्रापकी लज्जा शांत होती है । इसका रस ज़ीरा और मिथीके साथ पीया जाता है, जहाँ श्रापके साथ दूष के साथ पिया जाय । सिर संतप्त होनेके समय इसकी पीसकर शिरपर घना लेप देनेसे भी मरुत्त की गर्मा हट जाती है । इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति श्राप देनेकी श्रापशक्ति को कम करती है अथवा इसके सेवन से श्राप कम होता है ।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रसंगमें '( अथ-द्विष्टा ) पापका द्वेष करनेवाली' यह शब्द स्पष्ट होता रहा है, कि यह दूरी पापशक्ति को भी रोकती है, अर्थात् अन्धकार द्विष्टोसे होनेवाले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं । मन ही शांत हो जानेसे अन्ध द्विष्टा भी जन्मना नहीं होती, यह तार्पण्य यहाँ केना है । काम कोप आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये सेवन करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें । मन और द्विष्टोंके मलिन वृत्तियों यह दूर करती है । इसका सेवन करनेकी कई रीतियाँ हैं । इसका रस या घृत मनाकर शिरपर मला जाता है, रस अंदर पिया जाता है, जैव ऊपर दिशा जाता है । इस प्रकार श्राप कोन इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं ।

यह पाप विचारको मनमें डटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है । पहिले और दूसरे मंत्रोंका यही आशय है । श्राप देना, गाली देना, आदि जो वाक्पात्री मलिनताके कारण दोष सापन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पाँवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो । यह द्वितीय मंत्रका आशय है । दूसरे गाली दी, या श्राप दिया, तो भी सघटा परिणाम मेरे मन पर न हो; और मेरे मनमें वैसा विचार कभी न आवे, यह आशय है पाँवके नीचे दोषोंके दबजानेका । तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे बड़ी आगई है और भूमिसे उगी है, यह पूर्वांश प्रकार मनकी शांतिकी स्थापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है ।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संतान की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इससे हो, यह प्रार्थना है । और शत्रु अपने आगे न बड़े, तथा हम शत्रुओंके पीछे न पड़ें, यह इच्छा प्रकट की गई है । इसका योद्धा स्वर्गीकरण करना चाहिये ।

मनोधिकारोंसे हानि । काम कोपादि दुर्गुणल होनेवाली मनोवृत्तियों का द्वेष संभवसे प्राप्त न हुई तो यह अशंख अप-रिक्त होती है और मनुष्यका नाश उसके परिवार के साथ करती है । एक ही काम के कारण कितने परिवार लज्जित हो रहे हैं, और संभवतः एक कोपके स्थायी न बन रहे थे किन्तु इन्डुव मिश्रमें मिले हैं । तथा अन्धकार हीन मनोवृत्तियोंसे रहित मनु-ष्योंका नाश हो चुका है, इस का पटक धवन करें, और मनमें प्रमत्त कि, मनकी अशंखरित शक्तियों मनुष्यका कैसा नाश करे

हैं । यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और जनसौलतके साथ मनुष्यकी रक्षा कैसी हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है ।

इसके प्रयोगमें मन शांत होना है, उछलता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेमें मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है । और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है ।

यदि मन पूर्ण सुविचारो हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य आगे बढ़ जाता है और उन्नत होता जाता है । परंतु जो मनुष्य अशांत चाल और प्रयुक्त मनोवृत्तिवाला होता है वह स्थान स्थानपर प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसको पीछे रखते हुए आगे बढ़ते जाते हैं । परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उछलने नहीं देता, कामकायादिवर्षों को मर्यादाओं अधिक बहने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपाक्षियोंको पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढ़ता जाता है । चतुर्थ मंत्रका यह आशय पाठक देखे और खूब विचार करें ।

**शापको वापस करना ।** पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और वेही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं । संपूर्ण सूक्त में यही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है । देखिये—

शापयः वासरे एतु ॥ ( मं० ५ )

‘ शाप शाप देनेवाले के पास वापस जावे ! ’ गाली गाली देनेवालेके पास वापस जावे ! यह किस रीतिसे वापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके महान् शक्तिशाली नियमका चमत्कार है । मन एक बड़ी शक्तिशाली विभुत है मनके जब नीच, भले या बुरे विचार उसी विभुतके न्यूनाधिक आन्दोलन या कंप हैं । ‘ ये कंप जहाँ पहुँचने के लिए भेजे जाते हैं, वहाँ पहुँचकर यदि मन न हूप या कृतकारी न हूप; तो उसी वेगसे भेजनेवाले के पास वापस आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करत हैं । ’ यह मानस शक्तिका चमत्कार है और गाली या शाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिए । इसका विचार ऐसा है—

१ एक ‘ अ ’ मनुष्यने गाली, शाप, या दुष्टभाव ‘ क ’ का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे ‘ क ’ मनुष्यके पास भेज दिये, २ यदि ‘ क ’ भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उक्त परिणाम होता है उसका मन छुन्न हो जाता है और वह भी फिर ‘ अ ’ को गाली शाप या नाशक शब्द बोलने लगता है ।

इस प्रकार एक दूसरे के शाप परस्परके ऊपर जाने लगें, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पातित भी होते हैं, परंतु—

३ यदि ‘ क ’ उच्च शक्ति मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो ‘ अ ’ से आये हुए नीच मनोवृत्तिके कर्षों को अपने मनमें रहनेके लिए स्थान नहीं देता; इसलिए आधार न मिलनेके कारण वे विकारके माय लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले ‘ अ ’ के पास जाते हैं । और उसका मन उसी जातिका होनेके कारण वे वहाँ स्थान पाते हैं ।

इस प्रकार कुविचार वापस जानेसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवालेका दुगुणा नाश हो जाता है । पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुँचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है । एकही प्रकारके कुविचार दोवार उसके मनमें आपात करनेके कारण उसका दुगुणा नाश हो जाता है । परंतु जो सज्जन चातिथे अपने अंदर समता पारण करता हुआ, बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनको वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ़ करता है । इसलिए इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है ।

पाठक इससे जान लेंगे कि, मुझे विचारकी लहरें वापस भेजनेसे अपना उन्नति कैसी होती है और प्रतिपक्षी की दुगुणी अवनति किस कारण होती है । इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपना उन्नति करनेकी कामना हो, तो उसको ‘ शाप वापस करनेकी विद्या ’ अवश्य जानना चाहिए । अपने मनको पवित्र और दृढ़ बनानेका यही उपाय है । पाठक इसका खूब विचार करें और शाप वापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको शाप गाली

शुप्तारमेतु शपथो यः सुहर्तं तेन नः सह ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हर्दिः पृथरिपि शृणीमसि

॥ ५ ॥

अर्थ—( शपथः शप्तां पठु ) शप शप देनेवाले के पास ही वापस चला जावे । ( यः सुहर्तं तेन सह नः ) जो उत्तम हृदय वाला है उसके साथ हमारी मित्रता हो । ( चक्षुः—मन्त्रस्य दुर्हर्दिः ) आँखोंसे घुरे इशारे देनेवाले दुष्ट मनुष्यकी ( पृथीः मपि शृणीमसि ) पसलियाँ ही हम तोट देते हैं ॥ ५ ॥

भाषार्थ— शप देनेवाले के पास ही उसका शप वापस चला जावे । जो उत्तम हृदयवाला मनुष्य हो सबसे हमारी मित्रता हो । जो आँखों से घुरे इशारे करके फिसाद मचानेवाले दुष्ट हृदय के मनुष्य होते हैं उनकी हम दूर करते हैं ॥ ५ ॥

शपका स्वरूप । शपको सब जानते ही हैं । गाली देना, आक्रोश करते हुये दूसरेका नाश होनेकी बात कह देना, गुरे शपथका सच्चा करना इत्यादि सब श्रुति गाँते इस शपमें आती हैं । जिस प्रकार साधारण की पुरुष गालियाँ देते हैं, उसी प्रकार विद्यावान् मनुष्य भी बीचके समय गुरा मला कहते ही हैं । यह सब क्रोधकी लीला है । यदि क्रोध हट गया और सबके स्थानपर विचारो शांत स्वभाव आगया तो शप देनेकी शक्ति हट आगयी । इसलिये इस सूक्तमें 'सहस्रकाण्ड' नामक वनस्पति की प्रशंसा कहते हुए सूचित किया है कि, इस वनस्पतिके प्रयोगसे शप देनेकी क्रोधी शक्तिको दूर किया जाय ।

दूर्याका उपयोग । सहस्रकाण्ड वनस्पति का अरिष्ट नाम 'दूरी' है । जहाँ पानी होता है, उस स्थानपर इसकी बहुत उत्पत्ति होता है । हर एक काष्ठके अर्थात् जोड़के यह बढती रहती है । पित्तारोग, मूत्ररोग, मरिक्ककी अशान्ति, मस्तककी गर्मी, जन्मादरोग आदिपर यह उत्तम है । इसके सेवनसे क्रोधकी उल्ल खाँत होती है । इसका रस जरा भी मित्र के साथ पीया जाता है, चाहे वह बड़े राजे वृष के साथ विवाह जाय । फिर संतप्त होनेके समय इसकी पीसकर शिरपर घना लेप देनेसे भी मरतक की गर्मी हट जाती है । इसलिये इस सूक्तमें कहा है कि यह वनस्पति शप देनेकी शोधवृत्तिको कम करती है अथवा इसके सेवन से क्रोध कम होता है ।

प्रथम मंत्रमें इसके वर्णन के प्रयोगमें 'अथ—द्विष्टा' पापका द्वेष करनेवाली' यह वाक्य स्पष्ट गता रहा है, कि यह दूरी पापशक्तिको भी रोकती है, अर्थात् अन्त्यान्व इंद्रियोसे हेनेव ले पाप भी इसके सेवनसे कम हो सकते हैं । मन ही शांत हो जानेसे अन्व इंद्रियों भी जगमा नहीं होती, यह तात्पर्य यहाँ लेना है । काम क्रोध आदि दोष इसके सेवनसे कम होते हैं इसलिये सेवन करनेकी इच्छा करनेवाले इसका सेवन करें । मन और इंद्रियोंके मर्लान वृत्तिको यह दूर करती है । इसका सेवन करनेकी कई शक्तियाँ हैं । इसका तेल या पुन बनाकर शिरपर मला जाता है, रस अंदर पीया जाता है, लेप ऊपर दिया जाता है । इस प्रकार वैय लोग इस विषयका अधिक विचार कर सकते हैं ।

यह शप विचारको मनसे हटाती है, मनको शांत करती है, मनका मल दूर कर देती है । पहिले और दूसरे मंत्रोंका भी आशय है । शप देना, गाली देना, आदि जो बालाकी मतिनानके कारण दोष उत्पन्न होता है, वह इसके प्रयोगसे मेरे पाँवके नीचे दब जाय, अर्थात् उस दोषका प्रभाव मेरे ऊपर न हो । यह द्वितीय मंत्रका आशय है । दूसरे गाली दी, या शप दिया, तो भी उसका परिणाम मेरे मन पर न हो, और मेरे मनमें वैरा विचार कभी न आवे; यह आशय है पाँवके नीचे दोषोंके दबजानेका । तीसरे मंत्रमें, यह वनस्पति स्वर्गसे यहाँ आगई है और भूमिसे उठी है, यह पृथ्वी प्रकार मनकी क्षांतिकी स्थापना करने द्वारा मेरी रक्षा करे, यह प्रार्थना है ।

चतुर्थ मंत्रमें अपनी, अपनी संगन की और अपने धनादि ऐश्वर्यकी रक्षा इसके हो, यह प्रार्थना है । और चतुर्थ मंत्रमें आगे न बड़े, तथा हम चतुर्थोंके रक्षित न करें, यह इच्छा प्रकट की गई है । इसका बोधार्थ स्पष्टीकरण करना चाहिये ।

मनोर्ध्वपारोक्षे दानि । काम क्रोधदि जल्लभ होनेवाली मनोशक्तियों यदि संयमसे प्राप्त न हुई तो वह अक्षय्य अन्तरिक्ष लगी है और मनुष्यका माघ उसके परिवार के साथ करती है । एक ही काम के कारण किमने परिवार संयत हो रहे है, जो संयमपर एक कोचके रक्षण न कर रहे थे किमने कुटुंब मिश्रित मिले हैं । तथा अन्त्यान्व हीन मन वृत्तियोंसे दितने मनुष्य का मल हो जाता है, रस का पटक मचन करें, और मनमें समझें कि, मनकी अश्रयित वृत्तियों मनुष्यका कैसा नष्ट करती

है । यदि उक्त औषधि मनको शांत कर सकती है, तो उससे परिवार और मनमौलिक शाप मनुष्यकी रक्षा कैसे हो सकती है, यह स्वयं स्पष्ट हो जाता है ।

इसके प्रयोगसे मन शांत होता है, उल्लसता नहीं, और मन सुविचार पूर्ण होनेसे मनुष्य आपत्तियोंसे बच जाता है । और इसी कारण मनुष्य आपका, अपने संतान का और अपने ऐश्वर्यका बचाव कर सकता है ।

यदि मन पूर्ण सुविचारि हुआ, तो योग्य समयपर योग्य कर्तव्य करता हुआ मनुष्य भाग्य बच जाता है और उद्यत होता जाता है । परंतु जो मनुष्य अशांत चञ्चल और प्रसुक्त मनोवृत्तिवाला होता है वह स्थापन स्थापन प्रमाद करता है और गिरता जाता है, इस प्रकार यह पीछे रहता है और इसके प्रतिपक्षी उसकी पीछे रखते हुए भाग्य बढते जाते हैं । परंतु जो मनुष्य मनका संयम करता है, मनको उल्लसने नहीं देता, कामक्रोधादिवर्गोंको मर्मादासे अधिक बहने नहीं देता, वह कर्तव्य करनेके समय गलती नहीं करता है; इस कारण सदा प्रतिपादियोंको पीछे डालकर स्वयं उनके आगे बढ़ता जाता है । वसुधै कुर्वन् मां तथा यदृशाय पाठक देखें और खुब विचार करें ।

**शापको चापस करना ।** पंचम मंत्रमें तीन उपदेश हैं और येही इस सूक्तमें गहरी दृष्टिसे देखने योग्य हैं । संपूर्ण सूक्त में वही मंत्र अति उत्तम उपदेश दे रहा है । देखिये—

चापयः शास्त्रं पतु ॥ ( मं० ५ )

‘चाप चाप देनेवाले के पास चापस जावे !’ वाली वाली देनेवालेके पास चापस जावे ! यह किस रीतिसे चापस जाती है यह एक मानस शास्त्रके मदान् शाकिशाली नियमका चमत्कार है । मन एक बड़ी शाकिशाली विद्युत् है मनके उच्च नीच, भले या बुरे विचार उसी विद्युत्के न्यूनधिक आन्धोलन या कंप हैं । ये दम्प जहाँ पहुँचने के लिए भेजे जाते हैं, वहाँ पहुँचकर यदि लीन न हुए या कृतकारी न हुए; तो उसी वेगसे भेजनेवाले के पास वापस आते हैं और उसी बलसे उसी भेजनेवालेका नाश करते हैं । यह मानस शाकिशाली चमत्कार है और वाली या चाप देनेवालेको इस नियमका अवश्य मनन करना चाहिए । इसका विचार ऐसा है—

१ एक ‘अ’ मनुष्यने वाली, चाप, या दुष्टभाव ‘क’ का नाश करनेकी प्रबल इच्छासे ‘क’ मनुष्यके पास भेज दिये, २ यदि ‘क’ भी साधारण मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो उसके मनपर उसका परिणाम होता है उसका मन क्षुब्ध हो जाता है और वह भी फिर ‘अ’ की वाली चाप या नाशक शब्द बोलने लगता है ।

इस प्रकार एक दूसरे के चाप परस्परके ऊपर जाने लगें, तो दोनोंके मन समानतया दूषित होते हैं और समान रीतिसे पातित भी होते हैं, परंतु—

३ यदि ‘क’ उच्च शांत मनोवृत्तिवाला मनुष्य रहा, तो ‘अ’ से आये हुए नीच मनोवृत्तिक कर्मों को अपने मनमें रहनेके लिए स्थान नहीं देता; इसलिए आधार न मिलनेके कारण वे विकारके भाव लौटकर वापस होते हैं और वे सीधे भेजनेवाले ‘अ’ के पास जाते हैं । और उसका मन उसी जालिका होनेके कारण वे वहाँ स्थान पाते हैं ।

इस प्रकार कुविचार चापस जानिसे चमत्कार यह हो जाता है कि, प्रथमसे कुविचार भेजनेवाले ‘अ’का दुग्गुणा नाश हो जाता है । पहिले जब कुविचार उत्पन्न हुए उस समय उसका नाश हुआ ही था, और इस प्रकार उसके ही कुविचार बाहर स्थान न पाते हुए जब वापस होकर उसीके पास पहुँचते हैं, तब फिर उसका और नाश होता है । एकही प्रकारके कुविचार दोवार उसके मनमें आपात करनेके कारण उसका दुग्गुणा नाश हो जाता है । परंतु जो सज्जन शान्तिसे अपने अंदर समता धारण करता हुआ, बाहरके कुविचार अपने मनमें आये तो भी स्थिर होने नहीं देता और उनके वापस भेजता है, वह अपना मन अधिकाधिक दृढ़ करता है । इसलिए इस शांत मनुष्यका कल्याण होता है ।

पाठक इसके ज्ञान योगे होंगे कि, बुरे विचारकी लहरें चापस भेजनेसे अपनी उन्नति कैसे होती है और प्रतिपक्षी की दुग्गुणा भवनाति किस कारण होती है । इस पंचम मंत्रमें इसी कारण कहा है कि, यदि किसीको अपनी उन्नति करनेकी अभिलाषा हो, तो उसको ‘चाप चापस करनेकी विद्या’ अवश्य जानना चाहिए । अपने मनको पवित्र और शुद्ध बनानेका यही उपाय है । पाठक इसका खुब विचार करें और चाप चापस करनेका बहुत अभ्यास करें; तथा स्वयं कभी किसी भी कारण किसीको चाप वाली ( अ. धु, मा. कां रं )

अथवा घुरे विचार न भेजे । क्योंकि यदि वे कुविचार वापस आगये तो प्रतिपक्षीकी अपेक्षा वे अपना ही अधिक अहित करेंगे । पाठको । मनःशक्तिका यह नियम ठीक तरह ध्यानमें रखिये । यह नियम द्धस पंचम मंत्रके प्रथम चरणसे सूचित हो गया है । जो इसकी ठीक तरह समझेंगे, वेही अपने कल्याणका साधन कर सकेंगे ।

**योग्य मित्र ।** मित्रता किसे करनी चाहिये, इस विषयका उपदेश पंचम मंत्रके द्वितीय चरणमें दिया है, देखिये—

‘यः सुहार्त वेन नः सह । ( मं० ५ )’

‘जो उत्तम हृदयवाला हो उसके साथ हमारी मित्रता हो,’ उत्तम हृदयवालेके साथ मित्रता करनेसे, उत्तम हृदय वालोंकी संगतिमें रहनेसे ही मन शांत संभार और प्रसन्न रहता है और पूर्वोक्त प्रकार वाप वापस भेजने की शक्ति भी सारंगतिसे ही प्राप्त होती है । इसलिये अपने लिये ऐसे सुयोग्य मित्र चुनने चाहिये कि, जिनका हृदय संगठ विचारोंसे परिपूर्ण हो ।

**दुष्ट हृदय ।** जो दुष्ट हृदयके मनुष्य होते हैं, उनकी संगतिसे अनभिगत जानियां होती हैं । दुष्ट मनुष्य किसी किसी समय घुरे शब्द बोलते हैं, शाप देते हैं, गालियां गलोज देते हैं, हीन आशयवाले कटु शब्द बोलते हैं, हाथसे अपना अंगवस्त्रपत्र घुरे भावके इशारे करते हैं, तथा (चतुः मंत्रः) आँखकी हालचालसे ऐसे इशारे करते हैं, कि जिनका उद्देश्य बहुत बुरा होता है । ये आँखके इशारे किसी किसी समय इतने घुरे होते हैं, कि उनसे बड़े भयानक परिणाम भी होजाते हैं । इनका परिणाम भी शाप जैसा ही होता है । शापके वापस होनेसे जो परिणाम, होते हैं, वैसे ही इनके वापस होनेसे परिणाम होते हैं । इसलिये कोई मनुष्य स्वयं ऐसे दुष्ट हृदयके भाव अपनेमें बढने न दें । किसी दूसरे मनुष्यने ऐसे दुष्ट इशारे किये तो उसकी सहायता न करें और हृष्टक प्रकाशसे अपने आपकी इन दुष्ट वृत्तियोंसे बचावें । आँखोंके इशारे भी घुरे भावसे कभी न करें । जो दुष्ट मनुष्य होंगे, उनकी संगतिमें कभी न रहें अच्छी संगतिमें ही रहें । इस विषयमें यह मंत्र भाग देखिये—

अधुर्मन्त्रस्य दुर्हार्तः पृथीरपि शृणीमसि । ( मं० ५ )

“आँखसे घुरे इशारे करनेवालेकी पीठ तोड़ देते हैं ।” अर्थात् जो मनुष्य इस प्रकारके घुरे भाव प्रकट करता है उसका पीछा करके उसकी ह्म भगा देना चाहिये, अपने पास उसको रखना नहीं चाहिये, ना ही उसकी संगतिमें स्वयं रहना चाहिये । यह मनुष्य उपदेश है, पाठक इसका हमरण रखें । घुरी संगतिसे मनुष्य बुरा होता है और भली संगतिसे भला होता है । इस कारण कभी घुरी संगतिमें न फँसे परंतु भली संगतिमें ही सदा रहे और पूर्वोक्त प्रकार घुरे विचारों को अपने मनमें स्थान न दे और उनको अपने मनसे दूर करता रहे । ऐसा प्रेक्ष व्यवहार करनेसे मनुष्य सदा उपातिके मार्गसे ऊपर ही जाता रहेगा ।

**स्वतन्त्र दो विभाग ।** इस सूक्तके दो विभाग हैं । पहिले विभागमें पहिले चार मंत्र हैं, जिनमें औपनि प्रयोगसे मनको क्षीम रहित करनेकी सूचना दी है, यह ब्रह्म साधन है । दूसरे विभागमें अष्टेका पंचम मंत्र है । जिसमें सुयोग्य मित्रों की संगति और सुयोग्य धरनेका उपदेश है और शाप ही साथ अपने मनको पवित्र रखने तथा आये हुए घुरे विचारोंको लगी शक्तिमें वापस भेजनेका महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है । छारोंसे इस उपदेशका स्वरूप यह है । यदि इस सूक्तके उपदेश मनन करके १०, २१ और ३४ वे तीन सूक्त देखें ।

# क्षेत्रिय रोग दूर करना ।

( ८ )

[ क्षपिः-भृगुः आंगिरसः । देवता-यक्ष्मनाशनम् ]

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके । वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

अपेयं राज्यच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः । वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ २ ॥

बभ्रोर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाय्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या ।

वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ३ ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईपायुगेभ्यः । वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देह्येभ्यः ।

नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुक्षेत्रियनाशन्यपं क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

अर्थ—( भगवती ) वैष्णवी औपधि तथा ( विचृतौ नाम ) तेज यद्वानेवाकी प्रसिद्ध ( तारके ) तारका नामक वनस्पतियां ( उदगाता ) उगी हैं । वे दोनों ( क्षेत्रियस्य अयमं उत्तमं च पाशं ) बंधसे चढ़े मानेवाले रोगके उत्तम और अधम पाशको ( वि मुञ्चताम् ) छोड़ दें ॥ १ ॥

( इयं रात्री अप उच्छतु ) यह रात्री चली जावे और इसके साथ ( अभि कृत्वरीः अपोच्छन्तु ) हिसा करनेवाले दूर हों तथा [ क्षेत्रियनाशनी वीरुक्ष ] बंधसे चढ़े मानेवाले रोगका नाश करनेवाली औपधि [ क्षेत्रिय अप उच्छतु ] आनुवंशिक रोगको दूर करे ॥ २ ॥

( बभ्रोः जनुनकाण्डस्य ते यवस्य ) भूरे और श्वेत रंगवाले यवके अन्नकी [ पलाय्या ] रक्षक चाकिसे तथा ( तिलस्य तिलपिञ्ज्या ) तिलकी तिलमग्नरीसे आनुवंशिकरोग दूर करनेवाली यह वनस्पति क्षेत्रियरोगसे मुक्त करे ॥ ३ ॥

( ते लाङ्गलेभ्य नमः ) तेरे हल्लोके छिप सरकार दे, ( ईपायुगेभ्यः नमः ) हलकी लकड़ीके छिपे सरकार दे ॥ ४ ॥

( सनिस्रसाक्षेभ्यः नमः ) जल प्रवाह चालने वाले अक्षका सरकार, ( सन्देह्येभ्यः नमः ) संदेश देनेवाले का सरकार, ( क्षेत्रस्य पतये नमः ) क्षेत्रके स्वामीका सरकार हो । ( क्षेत्रियनाशनी क्षेत्रिय अप उच्छतु ) आनुवंशिक रोगको हटानेवाली औपधि आनुवंशिक रोगको हटा देंगे ॥ ५ ॥

भावार्थ—दो प्रकारकी वैष्णवी और दो प्रकारकी तारका ये चारों औपधियां काष्ठिको बढानेवाली हैं, जो भूमिपर उगती हैं । वे चारों आनुवंशिक रोगको दूर करें ॥ १ ॥

रात्री चली जाती है, तो उसके साथ हिंसक प्राणी भी चले जाते हैं, इसी प्रकार यह औपधि आनुवंशिक रोगको उसके मूल कारणोंके साथ दूर करे ॥ २ ॥

भूरे और श्वेत रंगवाले जौ के अन्नके साथ तिलोंकी मंजरियोंके तिलोंके सेवनसे यह औपधि आनुवंशिक रोगको हटा देती है ॥ ३ ॥

हल और लकड़ी लकड़ियां जिससे भूमि ठीक की जाती है, उसके पूर्वोक्त वनस्पतिया तैयार होती हैं, इस लिए उनको प्रयोग करना योग्य है ॥ ४ ॥

जिसके खेतमें पूर्वोक्त वनस्पतियां उगाई जाती हैं, जो उनको जड़ देता है, अथवा जिस संश्लेष पानी दिया जाता है, तथा जो इस वनस्पतिका यह संदेश जानता तक पनुवाता है, उन सबकी प्रशंसा करना योग्य है । यह वनस्पति आनुवंशिक रोगके मनुष्योंको बचावे ॥ ५ ॥

### क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापिताके शरीरसे अथवा इनके भी पूर्वजोंके शरीरसे चला आता है, उस आनुवंशिक रोगको क्षेत्रिय कहते हैं। वैद्यशास्त्रमें क्षेत्रिय रोगको प्रायः असाध्य कहा जाता है। क्षेत्रिय रोग प्रायः सुषाण्य नहीं होता; इसलिए रोगी माता पिताओंकी सन्तानोत्पत्ति का कर्म करना उचित नहीं है। प्रयत्नतः ऐसे व्यवहार करना चाहिये कि, जिनसे रोग उत्पन्न न हो, खानपान आदि आरोग्य साधक ही होना चाहिए। जो नीरोग होंगे उनको ही सन्तानोत्पत्ति करनेका अधिकार है। रोगी मातापिता ध्यान उत्पन्न करते हैं और अपने वंशजोंको क्षेत्रियरोगके कष्टमें डाल देते हैं। ऐसे असाध्य आनुवंशिक रोगों की विवरणा करनेकी विधि इस सूक्तमें बताई है, इसलिए यह सूक्त विशेष उपयोगी है।

### दो औषधियां ।

‘ भगवती और तारका ’ ये दो औषधियां हैं जो शरीरकी कान्ति बढाती हैं और क्षेत्रिय रोगको दूर करती हैं, इन दो औषधियोंकी खोज वैद्योंको करनी चाहिए—

१ भगवती—इसको वैष्णवी, लघु शतावरी, तुलसी, अण्डजिता, विष्णुकान्ता कहा जाता है, तथा—

२ तारका—इस औषधिसे देवताड्युष्य, और इन्द्रवारुणी, कहा जाता है। इसका अर्थ पत्रक्षार और मोती भी है।

शास्त्रोंके अर्थ जानने मात्रसे इस औषधकी किंति नहीं हो सकती और कोशों द्वारा शब्दार्थ करने मात्रसे ही औषध नहीं बन सकती। यह विशेष महत्त्वका विषय है और ये किंच वनस्पतिके वाचक नाम यहाँ हैं, इसका निश्चय धुनिष्ठ वैद्योंको करना चाहिए और इनके उपयोग की रीति भी निश्चित रूपसे कहना उनके ही अधिकारमें है। “ भगवती और तारके ” ये औषधी वाचक दोनों शब्द यहाँ द्विवचनी हैं, इससे बोध होता है कि, इस एक एक नामसे दो दो वनस्पतियां लेना है, इस प्रकार इन दो नामोंसे चार वनस्पतियां होती हैं, जो क्षेत्रियरोग को दूर करती हैं और शरीरकी कान्ति उत्तम तेजस्वी करती हैं अर्थात् क्षेत्रिय रोगको अच्छे उखाड़ देती हैं। यह प्रथम मंत्रका स्पष्ट तात्पर्य है। ( मं० १ )

द्वितीय मंत्रमें कहा है कि, जिस प्रकार रात्री जागे और दिन शुरू होनेसे द्विषक प्राणी स्वयं कम होते हैं उसी प्रकार इस औषधिके प्रयोगसे क्षेत्रिय रोग अच्छे उखाड़ जाता है॥ ( मं० २ )

तार्क्ष्य मंत्रमें इस औषधिके प्रयोग दिनोंमें करने योग्य परन्तु भोजन का उपदेश दिया है। जिस जीके कण्ठ भूरे और श्वेत वर्णवाले होते हैं उस जीका पेष बनाना और उसमें तिलोंकी मंजरीसे प्राप्त किये ताजे तिल भी डालना। अर्थात् उस प्रकार के जीका पेष उस तिलोंके साथ बनाना। यही भोजन इस चिकित्साके प्रथम चं विहित है। इस पर्यन्तके धातु सेवन किया हुआ पूर्वोक्त औषध क्षेत्रिय रोगसे मुक्त करता है यह सूक्तका तात्पर्य है॥ ( मंत्र ३ )

अनुष्य और पंचम मंत्रमें इन पूर्वोक्त औषधियोंकी तथा इस पर्यन्त अथवा उत्तरार्ध करनेवाले, किधान, इस सेतछां योग्य समस्त में पानी देनेवाले, इस योगीके श्रिये हल चलावेवाले, हल के समान ठीक करनेवाले तथा इस औषध और पर्यन्तका संदेशा क्षेत्रिय रोगसे रोगी हुए मनुष्यों तक पशुवन चालोंका सारसार किया है। यदि इस पर्यन्त और इन औषधियोंके आनुवंशिक रोग सबमुक्त हुए होते हैं, तो इन सबका योग्य अदर करना अत्यंत आवश्यक है। आज कल तो ये लोग विशेषरूपसे आदर करने योग्य हैं। ( मं० ४-५ )

ऊनी वंश इन औषधियोंका और इस पर्यन्त निश्चय करें और इसकी योग्य विधि निश्चित करके आनुवंशिक अशुभ मर्यादा उन्हींसे हुए बीमारियों को रोग मुक्त करें।



# सन्धिवातको दूर करना ।

( ९ )

[ ऋषिः-भृगुः अङ्गिराः । देवता-वनस्पतिः, यक्षमनाशनम् । ]

दशवृक्ष भुञ्जेमं रक्षमो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु ।

अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय

॥ १ ॥

आगादुदंगादुभं जीवानां व्रातमप्यगात् । अभूद पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

अधीतीरर्ष्यगादुयमधि जीवपुरा अगन् । शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

देवास्ते चीतिमविदन्ब्रह्माणं उत वीरुधः । चीतिं ते विश्वे देवा अविदन्भूम्यामधि ॥ ४ ॥

अर्थ- हे ( वन-पृष्ठ ) दस वृक्ष ! ( रक्षसः ग्राह्याः ) राक्षसी जकड़नेवाली गठियारोग की पीडासे ( हमें सुख ) इसे छुड़ादे; ( या एनं पर्वसु जग्राह ) जिस रोगने इसको जोड़ोंमें पकड़ रखा है । हे ( वनस्पते ) औषधि ! ( एनं जीवानां लोकं उन्नय ) इसको जीवित लोगोंके स्थानमें जानेयोग्य ऊपर उठा ॥ १ ॥

( अर्थ ) यह मनुष्य ( जीवानां व्रातं ) जीवित लोगों के समूहमें ( अगात्, आगात्, उदगात् ) आया, आपहुँचा, उठकर आया है । अब यह ( पुत्राणां पिता ) पुत्रोंका पिता और ( नृणां भगवत्तमः ) मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यवान् ( अभूत् ) बना है ॥ २ ॥

( अर्थ ) इसने ( अधीतिः अर्ष्यगात् ) प्राप्त करने योग्य पदार्थ प्राप्त किए हैं । और ( जीवपुराः अधि अगन् ) बीबीकी संपूर्ण आवश्यकताओं में भी प्राप्त की हैं । [ हि ] क्योंकि ( अस्य शतं भिषजः ) इसके सेकड़ों वैद्य हैं और ( उत सहस्रं वीरुधः ) हजारों औषध हैं ॥ ३ ॥

[ देवाः ब्रह्मणः उत वीरुधः ] देव ब्राह्मण और वनस्पतियो [ ते चीतिं अविदन् ] तरे आदान संदान आदिको जानती हैं, [ विश्वे देवाः ] सब देव ( भूम्यां अधि ) पृथिवीके ऊपर ( ते चीतिं अविदन् ) तरे आदान संदान को जानते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ- दशवृक्ष नामक वनस्पति गठिया रोगको दूर करती है । यह गठिया रोग संधियोंको जकड़ रखता है जिससे मनुष्य चलफिर नहीं सकता । इसकी चिकित्सा दशवृक्षों को जाय तो यह रोगी सर्प आरोग्य प्राप्त करके अन्य जीवित मनुष्योंकी तरह अपने व्यवहार कर सकता है ॥ १ ॥

यह आरोग्य प्राप्त करके लोकसमाजमें जाकर सार्वजनिक कार्य व्यवहार करता है, घरमें अपने बालबच्चोंके संबंधके कर्तव्य करता है और मनुष्योंमें अत्यंत भाग्यशाली भी बन सकता है ॥ २ ॥

यह बीरोग बनकर सब प्रातव्य पदार्थ प्राप्त कर सकता है, बीषोंको जो जो आवश्यकताएँ होती हैं उनको प्राप्त कर सकता है । यह रोग कोई असाध्य नहीं है क्योंकि इसके चिकित्सक सेकड़ों हैं और हजारों औषधियाँ भी हैं ॥ ३ ॥

इसकी अनेक औषधियाँ तो पृथ्वीपर ही हैं, उनको कैसे लेना और उनका प्रयोग कैसे करना यह सब दिव्यगुणधर्मोंसे युक्त ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण वैद्य जानते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्करोत् स एव सुभिषक्तमः ।

स एव तुभ्यं भेषजानि कृण्वद्विज्जा शुचिः

॥ ५ ॥

अर्थ— [ यः चकार स निष्करोत् ] जो करता रहता है वही निःशेष करता है और वही ( सु-भिषक्-तमः ) सब से उत्तम वैद्य होता है । ( स एव शुचिः ) वही शुद्ध वैद्य ( भिषजा ) अन्य वैद्यों से विचारणा करके [ ते भिषजानि कृण्वद ] वेरे छिपू औषधों को करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो यह चिकित्साका कार्य करता रहता है वही इसको प्रवीणतासे निभा सकता है। बारंबार चिकित्सा करते रहनेसे ही जो प्रारंभमें साधारणता वैद्य होता है, वही श्रेष्ठ धन्वन्तरी बन सकता है। ऐसा श्रेष्ठ धन्वन्तरी अन्य वैद्यों की सम्प्रतिष्ठा रोगी की चिकित्सा उत्तम प्रकारसे कर सकता है ॥ ५ ॥

### संधिवात ।

वेदमें संधिवात रोगका नाम “ प्राही ” है क्योंकि यह ( पर्वसु जप्राह ) पर्वों में किंवा संधिस्थानोंमें जकड़ कर रहता है, हिलने डुलने नहीं देता। संधिवाँसी हलचल बंद होजाती है। “ रश्मू ” अथवा पिशाच ये भी इसके नाम हैं। ये नाम रक्तके साथ इस रोगका संबंध बताते हैं क्योंकि ये नाम रुधिराभिय अर्थात् जिनमें रक्तके साथ मेल है, ऐसीकें वाचक हैं। इसलिये ‘ रक्ष. प्राही ’ का अर्थ रक्ता विगाड होनेवाला संधिवात है।

### दशवृक्ष ।

उक्त संधिवातकी चिकित्सा दशवृक्षों की जाती है। ‘ दशमूल ’ नामसे वैद्य ग्रन्थोंमें दश औषधियाँ प्रसिद्ध हैं। वातरोग नाशक होनेके विषयमें उनकी बड़ी प्रसिद्धि है। संभव है किये ही दशवृक्ष यहाँ अपेक्षित हों। इन दशवृक्षोंका तैल, घृत, कषाय, आसव, अरिष्ट आदि भी बनाया जाता है जो वातरोगको दूर करनेमें प्रसिद्ध है।

इस वृक्षके प्रथम मंत्रमें ‘ मूय ’ क्रिया है, इस ‘ मूय ’ शब्दसे एक ‘ मोच ’ शब्द बनता है जो ‘ सोहिषना ’ या मुद्गेना शब्द अर्थात् सोमाग्जन वृक्षका वाचक है। यह वृक्षभी वात रोग दूर करनेवाला है। इस वृक्षको लंबी छग आती है जो साग आदिमें उपवीणी होती है। इस सोहिषना वृक्षकी अंतररचना यदि जकड़े हुए संधिपर बोधी जाए तो दोचार घंटोंके अंदर जकड़े हुए संधि छुल जाते हैं, यह अनुभवकी बात है। अन्य औषधियों से जो संधिरोग महिनौतक दूर नहीं होता वह इस अंतररचनासे कई घंटोंमें दूर होता है। रोगीको घण्टा दोघण्टे या चार घण्टेतक कुछ सहन करने पड़ते हैं, क्योंकि यह अन्नस्वभाव जोड़ोपर बाधनेसे कुछ समयके बाद उस स्थानपर बड़ी गर्मी या जलन पैदा होती है। दोचार घण्टे यह सहनेपर संधिस्थानके सब दोष दूर होते हैं। यही मंत्रमें “ मूय ” शब्द है और वृक्षका नाम संस्कृतमें ‘ मोच ’ है, इसलिये यह बात यहाँ कही है। जो पाठक स्वयं वैद्य हों वे इस बातका अधिक विचार करें। हमने केवल इसरोपर अनुभवही देखा है, इसका शास्त्रीय तत्त्व हमें ज्ञात नहीं है।

इस प्रथम मंत्रके उत्तरार्धमें आगे जाकर कहा है कि ‘ इस वनस्पतिसे सम्प्रियातसे जकड़ा हुआ रोगी नीरोगी लोगोंके समूहमें आता है और नीरोगी लोगोंके समान अपने कर्तव्य करने लगता है । ( सं १ )

मंत्र दो और तीन में कहा है कि इस औषधिवेत्त मनुष्य नीरोग होकर लोक समामें जाता है और परके कार्य भी कर सकता है। अर्थात् वैयक्तिक, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्तव्य कर सकता है। सब मानवों कर्तव्य करनेमें योग्य होता है। इन मंत्रोंकी माया देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है कि यह चिकित्सा आति शीघ्र गुणकारी है। जो अभी बिस्तरेपर जकड़कर पड़ा है वही रोगी कुछ घण्टोंके बाद मनुष्यव्यक्तात्ममें जाकर कार्य करने लगता है। पहिले तीन मंत्रोंका सूदन रीतिसे विचार करने पर ऐसा आश्चर्य प्रकट होता है, इस चिकित्साके दर्शक शब्द प्रयोग दिताव मंत्रमें पाठक अवश्य देखें—

अथ जितानां पातं कल्पमा ।

आहार, वयः ॥ ( सं २ )

“यद् जीवोके समूहोमें गया, पहुँचा, उठकर खड़ा होकर गया !” अपने पाँवसे गया अर्थात् जो वड़ा बिस्तरेपर एकछा पड़ा या वही इतनी दीप्रतासे मनुष्य समूहोमें घूम रहा है ! यद् आश्रय्ये वषण करनेके लिये एकही आश्रयकी तीन कियाएं ( आगाव, अप्यगाव, उदगाव ) प्रयुक्त की हैं । इससे यह चिकित्सा शीघ्रगुणकारी है ऐसा स्पष्ट व्यक्त होता है ।

इस चिकित्साकी औषधियें सहयोगी हैं और इसके चिकित्सक भी संकलों हैं ( मं० ३ ) यह तृतीय मंत्रका कथन बता रहा है कि यह सुसाध्य चिकित्सा है । असाध्य नहीं है । ऊपर जो ‘ गोच ’ शब्दसे चिकित्सा बताया है वह प्रायः यहाँके ग्रामीण भी जानते हैं और करते हैं इससे कुछ घण्टोंमें आरोग्य होता है ।

ये वृक्ष पृथ्वीपर बहुत हैं और उनको खाना और उनका प्रयोग करना ( विश्वेदेवाः देवाः ब्रह्मणाः ) सब भूदेव ब्राह्मण जानते हैं । अथवा ब्राह्मण तथा अन्य लोग भी जानते हैं । इस में ‘ चीति ’ शब्द ( आदान संधान ) लेना और प्रयोग करना यह भाव बता रहा है किंचा ( आदान-संवरण ) अर्थात् औषधका उपयोग करना और औषधके दुष्परिणामोंको दूर करना, यह सब वैद्य जानते हैं । ( मं० ४ )

### उत्तम वैद्य ।

पंचम मंत्रमें उत्तम वैद्य कैसे बनते हैं इस विषयमें कहा है वह बहुत मनन करने योग्य है ।—

यः चकार, सः निष्कार, स एव सुभिषक्तमः ॥ ( मं० ५ )

‘ जो करता रहता है वही निःशेष कार्य करता है और वही सबसे श्रेष्ठ चिकित्सक होता है ॥ ’

जो कार्य करता रहता है वही आगे जाकर उत्तम प्रवीण बनता है । इस प्रकार अनुभव लेनेवाला ही आगे सततमोक्षम वैद्य बन जाता है ।

### प्रवीणताकी प्राप्ति ।

प्रवीणता की प्राप्ति करनेका साधन इस मंत्रमें वेदने बताया है । किसी भी बातमें प्रवीणता संपादन करना हो तो उसका सपाव यही है कि—

यः चकार, सः निष्कार । ( मं० ५ )

‘ जो सदा कार्य करता रहता है वही परिश्रमी पुरुष उस कार्यके निःशेष करनेकी योग्यता अपनेमें ला सकता है । ’ हम भी अनुभवमें यही देखते हैं, जो गानविद्यामें परिश्रम करते हैं वे गवदय्या बन जाते हैं, जो चित्रकारीमें दक्षिण होकर परिश्रम करते हैं वे कुशलचित्रकार होते हैं, इसी प्रकार अन्यत्र कार्यशीलमें प्रवीण बननेकी बात है । एकलक्ष्य नामक एक भील जातिका कुमार या उसकी इच्छा क्षत्रविद्या प्राप्त करनेकी थी, कौरव पाण्डवोंकी पाठशालामें उसको विद्या सिखाई नहीं गई, परंतु उसने प्रतिदिन शरिर्भ्रातृ शीतसे शम्भुका क्रांते स्वर्गही अपने द्वंद्व निधय पूर्वक किये हुए परिश्रमसे ही क्षत्र विद्या प्राप्त की । यह बात भी हम नियमके अनुकूल ही सिद्धि हुई है । यह क्या महामारतमें आदिपूर्वमें पाठक देख सकते हैं ।

इसी नियमका जो उत्तम पालन करेंगे वेही हरएक विद्यामें प्रवीण बन सकते हैं । यहाँ चिकित्साका विषय है इसलिए इसकी प्रवीणता भी इसीमें कार्य करनेसे ही प्राप्त होती है । बहुत अनुभवसे शानी बना हुआ वैद्यही विशेष श्रेष्ठ समझा जाता है, अल्प अनुभवी वैद्य उत्तमा श्रेष्ठ समझा नहीं जाता, इसका कारण भी यही है ।

कर्म करोसे ही सबको श्रेष्ठ अवस्था प्राप्त होती है यह नियम सर्वत्र एकसा लगता है ।

इस सूक्तके चतुर्थ मंत्रमें ‘ ब्राह्मणः ’ पद है । यह ब्राह्मणोंका वाचक है । इससे पता लगना है कि चिकित्साका यह व्यवसाय ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें संमिलित है । वेदमें अन्यत्र ‘ विप्रः स उच्यते भिषक् ( वा० यजु० अ० १२।८० ) ’ कहा है, इसमें भी ‘ वह विप्र वैद्य कहलाता है, ’ यह भाव है । यहाँके ‘ विप्र ’ शब्दके साथ इस मंत्रके ‘ ब्राह्मणः ’ शब्दकी संगति लगानेसे स्पष्ट हो जाता है, कि ब्राह्मणोंके व्यवसायोंमें वैद्यकिया संमिलित है । आगिरसोंके वैद्य विद्यामें प्रवीणताके चमत्कार प्रसिद्ध हो हैं । इन सबको देखनेसे इस विषयमें संदेह नहीं हो सकता ।

यह सूक्त ‘ तन्म-नाशन-गग ’ का सूक्त है । इस लिये रोगनिवारक अन्य सूक्तोंके साथ इसका अध्ययन पाठक करें ।

# दुर्गतिसे वचनेका उपाय ।

( १० )

( ऋषिः-भृगुः अङ्गिराः । देवता-निर्ऋतिः, यावापृथिवी, नानादेवताः )

क्षेत्रियात्त्वा निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १ ॥

शं ते अग्निः सुहाङ्गिरस्तु शं सोमः सहैर्षधीभिः ।

एवाहं त्वां क्षेत्रियाभिर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चा० । ॥ २ ॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयौ घ्राच्छं तं भवन्तु प्रदिशथर्तसः । एवाहं० । ॥ ३ ॥

इमा या देवीः प्रदिशथर्तसो वातपत्नीरुमि सूर्यो विचष्टे । एवाहं० । ॥ ४ ॥

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यस्मै एतु निर्ऋतिः पराचैः । एवाहं० । ॥ ५ ॥

अर्थ— ( त्वा ) तुम्हको ( क्षेत्रियात् ) आनुवंशिक रोगसे, ( निर्ऋत्याः ) कष्टोंसे, ( जामि—शंसाद् ) संक्षिप्तोंके कारण उत्पन्न होनेवाले कष्टोंसे, ( द्रुहः ) द्रोहसे, ( वरुणस्य पाशात् ) वरुणके पाशसे छुड़ाया हूँ । [ त्वा ब्रह्मणा अनागसं कृणोमि ] तुझे ज्ञानसे निर्दोष करता हूँ, ( उभे यावा—पृथिवी ते शिवे स्ताम् ) दोनों सुखों और पृथ्वी लोक में ले लिए कल्याणकारी हों ॥ १ ॥

( ते अग्निः सह अग्निः शं भानु ) तेरे लिए सब जलोंके साथ अग्नि कल्याणकारी हो । तथा ( औषधीभिः सह सोमः शं ) औषधियोंके साथ सोम तेरे लिए सुखदायी हो, ( एव अहं त्वा क्षेत्रियात्...मुञ्चामि ) इस प्रकार ही मैं तुम्हको क्षेत्रिय रोगसे.....छुड़ाया हूँ । ॥ २ ॥

( अन्तरिक्षे वातः ) अन्तरिक्षमें संचार करनेवाला वायु ( ते वयः शं धार ) तेरेलिए बलपुत्र कल्याण देवे । तथा [ चतस्रः प्रदिशः ते शं भवन्तु ] चारों दिशाओं में तेरे लिए कल्याणकारी हों । ( एव अहं०..... ) इस प्रकार मैं तुम्हको यथाता हूँ । ॥ ३ ॥

( इमाः या देवीः चतस्रः प्रदिशः ) ये दिव्य चारों उपदिशाएं जो ( वात-पत्नीः ) वायुकी रक्षा करती हैं, वे तथा ( सूर्यः अभिविचष्टे ) जो सूर्य चारों ओर देखता है वह तुम्हको कल्याणकारी होवे ( एव अहं०..... ) इस रीतिसे मैं.....बचाया हूँ । ॥ ४ ॥

( तासु र्वा ) उनमें तुम्हको ( जलसि बन्धः आद्र्यामि ) मैं वृद्धावस्थाके अंदर धारण करता हूँ । तेरे पास मैं ( यदमः निर्ऋतिः पराचैः प्र एतु ) उपरोक्त तथा सब कष्ट नीचे भुँद करके दूर चले जाय ( एव अहं०..... ) इस प्रकार मैं.....तुम्हें बचाया हूँ । ॥ ५ ॥

भाष्य— आनुवंशिक रोग, आपत्ति, कष्ट, फैलनेवाले रोग, द्रोहसे होनेवाले कष्ट, ईश्वरीय नियम तोड़नेसे होनेवाले अपराध आदि सब दुर्गतिवशसे निर्दोष होकर पवित्र बनेका एकमात्र उपाय ज्ञान ही है, दूसरा उपाय नहीं है ॥ १ ॥

इस ज्ञान से ही तुम्हको, अन्तरिक्षलोक और पृथ्वी लोक के अंतर्गत संपूर्ण पदार्थ अर्थात् जल, अग्नि, औषधियाँ, वन, वायु, सब दिशाओंमें रहने वाले सब पदार्थ, सूर्य आदि सब देव हितकारक और सुखवर्धक होते हैं, आरोग्य बढ़ाकर बढ़ाकर देनेवाले कष्टोंकी दूर करते हैं ॥ २-४ ॥

अमुं यथा यक्ष्माद् दुरिताद्वघाद् द्रुहः पाशाद् ग्राह्याद्योदमुक्थाः । एवाहं० । ॥ ६ ॥

अहा अरंतिमर्विदः स्योनमर्प्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके । एवाहं० । ॥ ७ ॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अर्धि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः ।

एवाहं त्वां धैत्रियानिर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् ।

अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

अर्थ—( यक्ष्मात् ) क्षय रोगसे, ( दुरितात् ) पापसे, ( अवघात् ) भिदनीय कर्मसे, ( द्रुहः पाशात् ) द्रोहके बंधनसे ( ग्राह्याः ) जकड़ने वाले संधिरोगसे व ( असुक्याः ) मुक्त हुआ है, ( उद् असुक्याः ) व छूट चुका है । [ एव मह... ] ऐसे ही मैं ..... तुम्हें छुड़ावा हूँ । ० ६ ॥

[ अ-रंतिमर्प्यः ] कृपणताको देने छोटा है, [ स्योने अविदः ] सुखको देने गया है । ( अग्नि सुकृतस्य भद्रे लोके अमृ. ) और भी पुण्यकारक माने-दायी लोकमें व भागा है । [ एव मह..... ] ऐसे ही मैं..... तुम्हें बचाता हूँ । ० ७ ॥

( देवाः ) देवोंने [ तमस- ग्राह्याः ] संघकारकी पकड़से तथा [ एनसः अग्नि मुञ्चन्त ] पापसे मुक्त करते हुए ( कृतं सूर्यं नि. असृजन् ) सत्य स्वरूपी सूर्यको प्रकट किया है, ( एव मह... ) इसी प्रकार मैं..... तुम्हें बचाता हूँ । ० ८ ॥

भावार्थ— इसी ज्ञानसे मैं तुम्हें बृहदावस्थाकी पूर्ण दीर्घ आयु तक ले जाता हूँ । इसी ज्ञानसे तेरे पाससे सब रोग दूर भाग जायेंगे ॥ ५ ॥

क्षयरोग, पाप, भ्रियकर्म, द्रोहके पाश, संधिदात आदि सब आपत्तियोंसे व इसी ज्ञानसे मुक्त हो सकना है और मैं भी इसी ज्ञानसे तुम्हें छुड़ाता हूँ ॥ ६ ॥

इस ज्ञानसे ही व अपने अंधरकी कृपणता छोड़ और सुकृतसे प्राप्त होनेवाले सुखपूर्ण भद्रलोक को प्राप्त कर । मैं भी इस ज्ञानसे ही तुम्हें आपत्तिसे बचाता हूँ ॥ ७ ॥

जिस प्रकार सूर्य अंधकारको हटाकर स्वयं अपना उदय करता है, इसी रीतिसे चन्द्रादि अन्य देव भी घन अंधकारको पकड़को दूर करते हुए स्वयं अपने उदयसे प्रकाशित होते हैं, इसी तरह स्वयं अपने पुत्रप्राप्त्यसे अपने पाश दूर करके ज्ञानकी सहायतासे अपना सदा कर के क्योंकि यही एक सन्तुष्टिका सबसे सुख साधन है ॥ ८ ॥

### दुर्गतिका स्वरूप ।

इस सूक्तमें दुर्गतिका वर्णन विस्तारसे किया है और उससे बचनेका निश्चित उपाय भी संक्षेपसे परंतु विशेष जोर देकर कहा है । अनेक आपत्तियोंसे अपना बचाव करने और अपना अ-पुद्ग्य करनेका निश्चित उपाय सोचे शब्दोंमें कहनेके कारण यह सूक्त बड़ा महत्त्वपूर्ण सूक्त है । और यह हर एक को विशेष मनन करने योग्य है । इस सूक्तमें जो दुर्गतिका वर्णन किया है वह सबसे पहिले देखिये—

१ शोषः—प्रातःपितासे प्राप्त होनेवाले रोग, अशक्तता, अवयवोंकी कमजोरी आदि आपत्तियाँ । ये जन्मसे ही एनके साथ ही शरीरमें आती हैं । ( मं० १ )

२ निर्ऋतिः—सदावृत्त, विनाश, अप्रगति, आपसकी कूट, सत्यनिष्ठाका पालन न होना, दुरवस्था, विरह परिस्थिति, शाप, गाली, हीन विचार आदिके कारण होनेवाली हीन स्थिति । ( मं० १ )

३ जामिशंसः—इसमें दो शब्द हैं, जामिः+शंस । इनके अर्थ ये हैं 'जामि' = बंध, नाता, संबंध । जल । अंगुली । समान्य स्त्री । पुत्री, बहिन, बहू । ये जामि शब्दके अर्थ कोशोंमें दिए हैं । अब 'शंस' शब्दके अर्थ देखिए प्रशंसा, प्रार्थना, पाठ, सदिच्छा, शाप, वृद्ध, आपत्ति, कलंक, लांछन, अपकीर्ति, इन दोनों अर्थोंका मेल करनेसे 'जामिशंस'का अर्थ निम्न लिखन

संक्षेपसे वर्णन किया है । अब इसी बातका विचार करेंगे । सत्यज्ञानका पदिला कल यह है—

( १ ) उभे धावापृथिवी ते विवे स्ताम् । ( मं० १ )

‘युलोक और पृथ्वी लोक ये तेरे लिये कल्याणकारी शुभ हों’ अर्थात् जो सत्यज्ञानसे युक्त है उसके लिये पृथ्वीमे लेकर युलोक पर्यंतके सब पदार्थ शुभकारी होंगे । पृथ्वीसे लेकर युलोक पर्यंतके सम्पूर्ण पदार्थ अपने लिये कल्याणकारी बनानेकी विद्या अकेले ज्ञानी मनुष्यको ही सध्य होती है । पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग जायगा, कि यह बड़ी भारी प्रबलशक्ति है जो ज्ञानीको प्राप्त होती है । तृणसे लेकर सूर्य पर्यंतके सब पदार्थ उसके बगवत्तां होकर उसका हित करने में तत्पर रहते हैं । यह अद्भुत सामर्थ्य ज्ञानीही प्राप्त करता है ।

( २ ) भग्निः संह भग्निः शम् ॥ ( मं० २ )

‘जलके साथ अग्नि-कल्याणकारी होता है’ ज्ञानी मनुष्य ही जलसे तथा अग्नि से—दोनोंके संयोगसे वा विवोगसे—अपना लाभ कर सकता है, जनताका भला कर सकता है ।

( ३ ) औषधीभिः सह सोमः शम् । ( मं० २ )

‘औषधियोंके साथ सोम सुखकारी होता है ।’ सोम एक बड़ी भारी प्रभावशाली औषधि है, यह वनस्पति सब औषधियोंका राजा कहलाती है । सोम और औषधियोंसे प्राणिमात्र का दित साधन करनेका ज्ञान वैद्यशास्त्र में कहा है । नानाप्रकार के रोग दूर करनेके विविध औषधियोग उस शास्त्र में कहे हैं और यह विद्या आजकल प्रचलित भी है । इसलिये इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है । पूर्वाक्ष वहाँमें जो रोगविषयक कष्ट होते हैं, वे सब इस विद्यासे दूर होते हैं । जलचिकित्सा और अग्निचिकित्सा भी इसी में संमिलित है ।

( ३ ) गन्तरिक्षे वातः वयः शं भ्रातृ । ( मं० ३ )

‘अंतरिक्षमें संचार करनेवाला वायु आरोग्य पूर्ण सुख देनेवाला होता है ।’ विद्यासे ही वायु लाभकारी हो सकता है । योगसाधनका प्राणायाम इस विद्याका योक्तक है । प्राणायाम करनेवाले योगी वायुसे अत्यधिक बल प्राप्त करते हैं और दीर्घजीवी होते हैं । आरोग्य शास्त्रके सब नियम इस ज्ञानमें संमिलित हैं । वायुशुद्धि द्वारा आरोग्य साधन करने का विषय इस में आता है । रोगनिवारक तथा रोग प्रतिबंधक होम हवन यज्ञ याग इस विद्याके प्रकाशक हैं ।

( ४ ) देवीः चतस्रः प्रदिशः वातपरानोः ते शम् । ( मं० ३, ४ )

‘दिश्य चारों दिशाएं, जिनमें वायुका पालन होता है, तेरे लिये सुखकारक होंगे ।’ चार दिशाएं और चार उपदिशाएं अर्थात् उनके अंदर रहनेवाले, सब पदार्थ ज्ञानसे ही मनुष्यके लिये लाभकारी होते हैं । इसका भाव पूर्ववत् ही समझना योग्य है ।

( ५ ) सूर्यः भग्निविचष्टे । ( मं० ४ )

‘सूर्य जो चारों ओर प्रकाशता है’ वह भी ज्ञानसे तेरे लिये अनुकूल हो सकता है । सूर्य प्रकाशसे मनुष्य मानको अनंत लाभ होते हैं । इस विद्याको जो जानते हैं वे इससे अपना लाभ कर सकते हैं ।

( ६ ) स्वा जरति अन्नः जादृषामि । ( मं० ५ )

‘इस अतिवृद्ध आयुके अंदर धारण करता हूं’ अर्थात् ज्ञानसे तेरी वायु अति दीर्घ हो सकती है । ज्ञानसे जीवनके सुनिश्चय ज्ञात होते हैं और उनके पालनसे मनुष्य दीर्घायु हो जाता है ।

( ७ ) यश्मः निर्ज्वतिः पराचैः प्लु । ( मं० ५ )

‘यश्मा आदि रोग तथा अश्वान्ध अर्थात् ज्ञानसे दूर होंगी ।’ ज्ञानसे आरोग्य संग्रहण के सब विधम ज्ञान दोग हैं और उनके पालन से मनुष्य नीरोग होकर सुखी होता है ।

( ८ ) यश्मात्, दुरिष्ठात्, अवयान्, दुहः, पाप्मात्, भ्रष्टाः च अनुशया, उदमुशया । ( मं० ६ )

‘ज्ञानसे यश्म, रोग, पाप, निंद कर्म, मोह, बधन, जफटना आदिसे मुक्ति होती है ।’ अर्थात् इनके कष्ट दूर होते हैं । यत्नात पाठकोंके ध्यानमें पूर्ववत् आजायगी ।

## ( ९ ) स्थोत्रं लविदः ( मं० ७ )

‘सुख प्राप्त होगा’ ज्ञानसे ही उसमें और सत्य सुख प्राप्त होगा । पृथ्वीसे लेकर तुलोक पर्यन्तके संपूर्ण पदार्थ ज्ञानसे वरधर्मा होते हैं और उस कारण सुख प्राप्त होता है । यह मानवी अभ्युदय की परम सीमा है । इसीको कहते हैं—

## ( १० ) सुकृतस्य भद्रे लोके भयः । ( मं० ७ )

‘सुकृतके कल्याण पूर्ण स्थानमें निवास होगा ।’ ज्ञान से ही सुकृत किंसे जायगे और उस सुकृतोंके कारण मनुष्यकी उत्तम गति होगी, उसको अष्टमे अष्ट अवस्था प्राप्त होगी । ज्ञानसे ही सब अवस्थाकी इतनी उन्नति होगी कि यहाँ भूलोक स्वर्गमान बन जायगा । सत्य ज्ञानके प्रचारसे इतना लाभ है इसलिये हरएक वैदिकधर्मा आर्यको सत्यज्ञान प्राप्त करके उसका प्रचार करना चाहिये ।

सत्य ज्ञानके ये दस फल इस सूक्तमें कहे हैं । सब उन्नतिका यह मुख्य साधन है । इसके बिना अन्य साधन रहे तो भी उनसे कोई लाभ नहीं होगा । इसलिये पाठक ज्ञानकी उन्नति का मुख्य साधन मानकर ज्ञानार्जन और ज्ञानदान के विषयमें परिश्रम करें । अब इस सूक्तमें जो उन्नतिदा मार्ग बताया है वह वही देखिये—

## उन्नतिकी मार्ग ।

अष्टम मंत्रमें एक विलक्षण अपूर्व अलंकार के द्वारा उन्नतिकी मार्ग दर्शाया है वह भी यही अब देखना चाहिये—

तमसो प्राद्या अविमुञ्चतः देवाः ऋतं सूर्यं

पुनस्तं असूजद् ॥ ( मं० ८ )

‘ जिस प्रकार अंधकारकी पकड़से छुड़ते हुए सभ देव स्वयं उठनेवाले सूर्यको अवोअवस्थासे ऊपर प्रकट करते हैं । ’

## अलंकार की भाषा ।

इस अष्टम मंत्रमें एक अलंकार है । सूर्य और अन्य देवोंका अग्योपि अलंकार से रूपक बनाकर वहाँ वर्णन किया है । वेदमें सूर्य और चन्द्र विषयक कई रूपक आते हैं उनमें यह विशेष महत्त्व का रूपक है । यह रूपक इस प्रकार देखना चाहिये—

‘ चन्द्र रूपी पुत्रका पालन रात्री नामी माता करती है और सूर्य रूपी बापक का पालन दिनप्रभा नात्री माता करती है । प्रारंभमें सूर्य अंधेरेमें दबा रहता है, उसी प्रकार चन्द्र भी गाढ अंधकार में दबा रहता है । मानो इसको मार्ग दिखानेका कार्य अन्य देव अर्थात् सभ नखन, एषिता, वायु, आदि संपूर्ण देवताएँ करती हैं । सूर्य स्वयं ऊपर उठनेका यत्न करता ही रहता है, अंतमें वह ऊपर आता है, उदय को प्राप्त होता है, प्रतिपुष्ण अधिकधिक चमकने लगता है और मर्यादामें ऐसा चमकता है कि उस समय उसके अप्रतिम तेजका कोई सहन कर नहीं सकता । इसी प्रकार चन्द्र भी अपनी स्वयं अवस्थासे प्रगति करता हुआ पूर्णिमामें अपना पूर्ण विकास करता है । ’

अपने प्रयत्नसे उन्नति करनेवाले की इस वेषसे उन्नति होती है, यह दर्शाया इस रूपक का प्रयोजन है । जो स्वयं चल नहीं करे उसकी उन्नति होना कठिन है । दूसरोंकी सहायता भी तब तक सहायक नहीं होती जब तक कि अपना प्रयत्न उसमें सम्मिलित नहीं होता । यह उन्नतिकी मूल मंत्र है ।

## स्वकीय प्रयत्न ।

इस मंत्रमें ‘ ऋतं सर्वं देवाः तमसो मुञ्चतः ’ अर्थात् ‘ स्वयं चलनेवाले सूर्य को ही देव अंधकारसे छुड़ा सकते हैं ’ ऐसा कहा है । यदि सूर्यमें स्वयं अपना प्रयत्न न होता तो वे उसको अंधकारसे मुक्त कर नहीं सकते । इसी प्रकार मनुष्य भी भी स्वयं अपने उद्वारका यत्न रातदिन करता रहता है, उसीकी अन्त मुहूर्तन सदाचारकारो होने हैं ।

इस श्लोके विचार करनेपर यदा लग सकता है कि इस मंत्रमें ‘ ऋतं ’ शब्द बहुत महत्त्वका भाव बता रहा है, इससे इसका आशय । ऋतः = ‘ योग्य, ठीक, सत्य, हलचल करनेवाला, शांतिमात्र, प्रत्यक्षशील, यज्ञ, सत्य नियम, ईश्वरीय नियम, मुक्ति, बंधननिर्हास, कर्मफल, अदल विश्वास, दिव्य सत्यनियम । ’

जो ( श्रुत ) सख नियम पालन करता है, वही बंधनकारके परे जा सकता है और जो स्वयं प्रयत्न करता है उसीको दूसरे सहायता कर सकते हैं । सूर्य स्वयं प्रकाशमान है, उदय होना चाहता है, नियम पूर्णक प्रयत्नशील है, इसलिये उदयको प्राप्त होकर ऐसा तेजस्वी बनता है, कि सब अन्य तेज उसके सामने फीके हो जाते हैं । जो मनुष्य ऐसा प्रयत्न करेगा वह भी वैद्यकी प्रभावशाली बनेगा ।

वायु जल नक्षत्र आदि जगत्के देव, विद्वान् शूर आदि मानवीक अंदरके देव, तथा इंद्रियगण ये शरीरस्थानीय देव उद्यो पुरुष की सहायता करते हैं कि जो स्वयं सलानियम पालनमें सदा दक्ष रहता है और स्वयं अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नति करनेका प्रयत्न करता रहता है । पापसे मुक्त होकर निर्दोष बनना, पारतंत्र्यके बंधसे मुक्त होकर स्वयं शासित होना, रोगमुक्त होकर निरोग होना, अपमृत्युके बंधनसे छूटकर दीर्घायु होना आदि सबके लिये स्वयं ' ऋत-गामी ' होना अत्यंत आवश्यक है । यही ऊपरके अर्थमें ' ऋत ' शब्द द्वारा बताया है । जो ऋत-गामी होता है वही बंधनोंको निवृत्त कर सकता है, पापोंको दूर कर सकता है और सूर्यके समान अपने तेजसे प्रकट हो सकता है । इस प्रकार यह मंत्र अत्यंत महत्त्व पूर्ण उपदेश दे रहा है, इसलिये इस दृष्टिसे पाठक इसका अधिक विचार करें ।

### प्रार्थना का बल ।

वेदमें ' ऋद्ध ' शब्दका दूसरा अर्थ ' स्तोत्र, स्तुति, प्रार्थना ' भी है । जो प्रार्थना वाचक वैदिक मूल हैं उनके पुरुष व्यत्ययसे दूसरे भी अर्थ होते हैं, परन्तु उनका स्तुत्यर्थ या प्रार्थना रूप अर्थ हटाया नहीं जा सकता । ' ईश प्रार्थना ' से बल प्राप्त करना या अपने बलका विकास करना, प्रार्थनासे आत्मिक बल प्राप्त करना, वैदिक धर्मका प्रधान अंग है । इसीलिये प्रारंभ से अंत तक वेदके सूक्तोंमें सहस्रों सूक्त प्रार्थना के हैं । जो लोग एकान्तमें जाकर दिल खोलकर ईश प्रार्थना करना जानते हैं वेही प्रार्थना का महत्त्व समझ सकते हैं, अन्य लोग उसकी शक्ति नहीं जान सकते । इस लिये यहाँ बहना इतना ही है कि रोगादि आपत्तियोंकी निशानि के लिये जितना उपयोग औपचादिक प्रयोगों का हो सकता है, उससे कई गुणा अधिक लाभ ' ईश प्रार्थना ' से हो सकता है । यह मानो एक ' प्रार्थना योग ' ही है । ' औपधि योग ' से ' प्रार्थना योग ' अधिक बलवान् है । दुःखकी बात आजकल यही हो रही है कि, लोग प्रार्थना का महत्त्व नहीं समझते और उस से होने वाले लाभसे वंचित ही रहते हैं । यह बड़ी भारी हानि है ।

इस सूक्तमें ' ऋद्ध ' शब्द विशेष कर स्तोत्र वाचक ही है । ईश पुनर्वर्गन, ईश गुणगान करते करते जिसका मन प्रभुके गुणोंमें लीन हो जाता है वह संपूर्ण आपत्तियोंसे दूर हो जाता है, क्योंकि वह उस समय अद्भुत अद्भुत रस का आस्वाद लेता हुआ दुःख मुक्त हो जाता है । पाठक इस दृष्टिसे इस बातका विचार करें और अनुभव भी लें ।

### मनको धीरज देना ।

वेदमें ' मे छुदाता हूं ' इत्यादि प्रकार कई वाक्य हैं ' मे वाक्य मानस चिकित्सा ' या ' वाचिक चिकित्सा ' के सूचक हैं । अपने अंदरके आरोग्य पूर्ण विचार अपनी मानस शक्तिकी प्रेरणासे अपने शब्दों द्वारा रोगीके निर्बल मनमें प्रविष्ट करनेसे यह चिकित्सा साध्य होती है । इसमें रोगीके निर्बल मनको धीरज देना होता है । इस समय—

- १ त्वा शेन्निवात्...मुंचामि । ( मं० १ )
- २ त्वा मरुणा अनामसे कृणोमि । ( मं० १ )
- ३ त्वा गरुडि वन्तः वादधामि । ( मं० ५ )
- ४ यश्मात् अमुकयाः ( मं० ६ )
- ५ माह्याः उदसुवयाः । ( मं० ६ )

ऐसे वाक्य बोलके रोगीको धीरज देना होता है जैसा ' — ( १ ) तुझसे श्रेष्ठिय रोगसे मुक्त करता हूं । ( २ ) तुझे ईश प्रार्थना द्वारा निर्दोष करता हूं । ( ३ ) तुझको अति दीर्घ आयुवाला करता हूं । ( ४ ) तू जब यह रोगसे मुक्त हुआ है । ( ५ ) जकड़नेवाले रोगसे तू अब दूर हो गया है ' । इत्यादि प्रकारके वाक्योंसे रोगीको धीरज देकर उसके मनका आरिभक्त बल बढ़ाकर और उसमें दृढ़ विश्वास पैदा करके आरोग्य उत्पन्न करना होता है । यह बात अती महत्त्व विषय है । जो पाठक ईश प्रार्थना का बल जानते हैं, वेही इस बातको समझ सकते हैं ।



परमेश्वर पर जो दृढ विश्वास रखते हैं, उसकी उपासना करते हैं, उसकी भक्ति करने में जिनको प्रेम आता है, उनके पास बीमारिया कम आती हैं । पाठक देखेंगे तो उनको पता लग जायगा कि परमेश्वर के विश्वासी प्रायः आनन्द में मस्त रहते हैं और अविद्याकी ही रोगी होते हैं ।

पाठक यह विश्वास था बल अपने में बढ़ावें और अपना अत्यधिक लाभ करें ।

यह सूक्त भी तपसनाशन गण का है और यह इस गणके अन्ध सुक्तों के साथ पठने योग्य है ।

—:—:—

## आत्माके गुण

( ११ )

( कपिः-शुकः॥ देवता-कृत्याद्वर्णम् )

दृष्या दूर्ध्वरसि हेत्याहेतिरसि मेन्या मेनिरसि । आमुहि श्रेयांसमतिं सुमं क्राम ॥ १ ॥

स्रक्त्योऽसि प्रतिसुरोऽसि प्रत्याभिचरणोऽसि । आमुहि० ॥ २ ॥

प्रति तमभि चर योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विष्मः । आमुहि० ॥ ३ ॥

सुरिरसि वचोधा असि तनूपातोऽसि । आमुहि० ॥ ४ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि । आमुहि श्रेयांसमतिं सुमं क्राम ॥ ५ ॥

अर्थ— ( दृष्याः द्रुवि अस्ति ) दोष को दूषित करनेवाला अर्थात् दोषका दोषोपन हटानेवाला दृ है । ( हेत्याहेतिरसि ) श्रेयस्कारका श्रेयस्कार दृ है । ( मेन्याः मेनिः अस्ति ) वज्रदा वज्र दृ है । इसलिये ( श्रेयांसं ज्ञानुहि ) पान फट्टाणको प्राप्तकर और ( ममं धातिक्राम ) अपने समानसे अधिक आगे बढ़ ॥ १ ॥

( स्रक्त्यः अस्ति ) तु गतिशील है, ( प्रतिसुरः अस्ति ) तु आगे बढ़नेवाला है, ( प्रत्याभिचरणः अस्ति ) तु दुष्टाणाम् हमला करनेवाला है । ॥ २ ॥

( प्रति तमभिचर ) उसपर चढाईकर कि ( य अस्मान् देष्टि ) जो शकेला हम भयका द्वेष करता है तथा ( यं वयं द्विष्मः ) जिस शकेला हम सब द्वेष करते हैं । ॥ ३ ॥

( सुरिः अस्ति ) तू शानी है, ( वचोधाः अस्ति ) तू तेजस्रा धारण करनेवाला है तथा ( तनूपातः अस्ति ) शरीरका रक्षक नृदी है । ॥ ४ ॥

( शुक्रः अस्ति ) तू वीर्यवान् अथवा शुद्ध है, ( भ्राजः अस्ति ) तू तेजस्वी है, ( स्वरः अस्ति ) तू नासिक वाकि से युक्त है, ( ज्योतिः अस्ति ) तू तेज स्वरूपी है इसलिये तू श्रेय प्राप्त कर और समानोंके आगे बढ़ ॥ ५ ॥

भारार्थ—आत्मा दोषका दोष हटानेवाला है, वही शत्रोंका मदाघत्र और अशत्रुका मदा अघ्र दे० ॥ १ ॥

आत्मा प्रगति करनेवाला है, आगे बढ़नेका उसका स्वभाव है, और दुष्टाणाका दूर करनेवाला दे० ॥ २ ॥

जो अनेका दुष्ट मय सन्तानोंको धत ना दे, और जिस अनेके दुष्टका सब सम्जन विरोध करते हैं । उसको हटा दे० ॥ ३ ॥

तू शानी दे, तेजस्रा धारक दे, शरीरका सखा रक्षक नृदी दे० ॥ ४ ॥

गर्दी बनवान् दे, नृदी तेज दे तथा आतिनन्द दाय्य युक्त है, तू स्वर्ग प्रकाशक है, इसलिये तू समान लोगोंके आगे बढ़ और नि श्रेय अर्थात् सुख प्राप्त कर ॥ ५ ॥

## शरीरमें आत्माका कार्य ।

सगुणसाकार शरीरमें निर्गुण निराकार आत्माके गुण प्रत्यक्ष करनेका उपदेश इस सूक्तमें किया है । ये गुण अब देखिये—

( १ ) दूष्याः दूषिः अस्मि-दोषपनय को दोष देनेवाला अर्थात् दोषका दूर करनेवाला है । देखिये, अपने शरीरमें ही इस बातका अनुभव लीजिये । अपना शरीर मलपूर्ण होता हुआ भी उसको जावित रखा है और इसीका नन्दनवन इसने बनाया है । सड़नेवाले शरीरको न सड़ानेवाला, मरनेवाले शरीरको जावित रखनेवाला, दोषमय शरीरसे निर्दोष आनन्दधाम प्राप्त करनेवाला यह आत्मा है । ( मं० १ )

( २ ) ह्यत्याः हेतिः, मेन्याः मेनिः अस्मि = शस्त्रोंका शस्त्र और वज्रका वज्र यह अध्या है । शत्रुका नाश शस्त्र करता है परंतु शस्त्रको चला देनेवाला अर्थात् शस्त्रका भी शस्त्ररूप यह आत्मा शस्त्रके पछे न होगा, तो शस्त्र कैसे शत्रुका नाश करेगा ? इससे आत्माकी श्रेष्ठ शक्तिका महत्त्व ज्ञात हो सकता है । ( मं० १ )

( ३ ) स्वस्त्यः अस्मि = आत्मा गतिमान है । 'अत-सातल्लगमने' ( सतत गति करना ) इस धातुसे यह आत्मा शब्द बनता है । सतत प्रयत्नशीलताका यह द्योतक है । यही भाव इस शब्दमें है । छोटे शब्दमें क्या अपना बड़े मनुष्यमें क्या सतत प्रयत्न शीलता है । कोई भी तुरचाप बैठना नहीं चाहता, उसीगंथे अपनी उद्यति करनेकी इच्छा हरएक प्राणीमें स्पष्ट है । ( मं० २ )

( ४ ) प्रतिसरः अस्मि = आगे बढ़नेवाला, शत्रुपर हमला करके उसको दूर दूर करनेवाला, अपना अभ्युदय करनेवाला है । आत्मा 'ह्रस्व' है और यह सदा अरने शत्रुका पराभव करता ही है । ( मं० २ )

( ५ ) प्रत्यभिचरणः अस्मि = दुष्ट शत्रुको पराभूत करनेवाला । ( यह शब्द भी पूर्व शब्दके समान भाववाला ही है । ) ( मं० २ )

यहाँतक इन दो मंत्रोंके इन पांच शब्दों द्वारा आत्माके उन गुणोंका वर्णन हुआ है कि जिनका बाहरके शत्रुओंसे संबंध है । अब आत्माके आन्तरिक स्वकीय निज गुणोंका वर्णन शत्रुओं और परम मंत्रके द्वारा करते हैं—

( ६ ) स्वरिः अस्मि = तू शानी है । आत्मा चित्स्वरूप होनेसे ज्ञानवान है, अब अब उसे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है । ( मं० ४ )

( ७ ) चर्वो-धाः अस्मि = तेज बल ओज आदिघा घाण करनेवाला है । शरीर में जब तक आत्मा रहता है तब तक ही इस शरीर में तेज बल ओज आदि रहता है, यह हरएक जान सकते हैं । ( मं० ४ )

( ८ ) तनु-पानः अस्मि = शरीरका रक्षक है । जबतक आत्माका निवास इस शरीरमें रहता है तबतक ही शरीरकी रक्षा उत्तम प्रकार होती है । जब यह आत्मा इस शरीरमें चले जाता है तब शरीर सड़ने लगता है । इससे स्पष्ट होता है कि शरीरका सच्चा रक्षक यह आत्मा है । ( मं० ४ )

( ९ ) शुक्रः अस्मि = सार्यवान्, यलवान् तथा शुद्ध है । आत्माही ही 'शुक्र' ( यत्न ४०।८ में ) कहा है । इसलिये इसका अधिक विचार करना आवश्यक नहीं है । ( मं० ५ )

( १० ) भ्राजः अस्मि = तेजस्वी है अर्थात् दूसरोंको प्रकाश देनेवाला है । आत्मा ही सबका प्रकाशक है, यह मन्त्रमें रहता हुआ सबको तेजस्वी बनाता है । ( मं० ५ )

( ११ ) स्वः अस्मि = अमिक बलसे युक्त है ( स्व+रू ) अपने निज बलसे युक्त है । अर्थात् यह स्वयं प्रकाश है । ( मं० ५ )

( १२ ) श्वोतिः अस्मि = स्वयं उज्योति है । प्रकाश स्वरूप है । ( मं० ५ )

ये सब शब्द आत्माका स्वभाव धर्म बता रहे हैं । मनुष्य स्वयं अपने आपको अलंन निर्बल, कमजोर और पुनः पराजित मानता है और अज्ञानसे वैषा अनुभव भी करता रहता है । इस लक्ष्णे आत्माके स्वयं वयुधधर्म बताये हैं । जिनकेविष ( ये पाठकोंका निश्चय होगा कि यह आत्मा निर्बल नहीं है । दूसरों में वैषेही प्रमात्र लो गुणमें हैं कि जिनके वरमग्गमें हैं । यह भा मा शरीर, पुष्ट, धी, प्रयत्नशील, स्वयंश्वोति, प्रमात्रशाली, कल्पान्, तथा शरीर रक्षक है । इसलिये अपने आपको सदा सर्वदा कमजोर मानना और समस्तः बोध नहीं । यद्यपि यह छे टा है तथा नि दुष्टकी शक्ति विद्याय भी सर्वदा शत्रु की बली है ।

# मनका बल बढ़ाना ।

( १२ )

( ऋषिः-भरद्वाजः । देवता-द्यावापृथिव्यादिनानादैवतम् । )

द्यावापृथिवी उर्व॑न्तरिक्षं क्षेत्रं॑स्य पत्न्युरु॑ग्रायोऽद्भुतः ।  
 उ॒तान्तरिक्ष॑मु॒रु वा॒र्तगो॑षं त इह॑ तप्यन्तां॑ मायि॑ तु॒प्यमाने॑ ॥ १ ॥  
 इदं॑ दे॒वाः शृणु॑त ये य॒ज्ञिया॑ स्थ भर॒द्वाजो॑ मह्य॑मु॒क्यानि॑ शंसति ।  
 पा॒शे स ब॒द्धो दु॑रि॒ते नि पुं॑ज्यतां॒ यो अ॒स्माकं॑ मनं॑ इदं॑ हिनस्ति ॥ २ ॥  
 इ॒दमिन्द्र॑ शृणुहि सोम॑प॒ यत्त्वा॑ ह॒दा शोच॑तां जा॒ह्नवीभि॑ ।  
 वृ॒ध्यामि॑ ते कु॒लिशे॑नेव यु॒क्षं यो अ॒स्माकं॑ मनं॑ इदं॑ हिनस्ति ॥ ३ ॥  
 अ॒ग्नी॒तिभि॑स्ति॒सृभिः॑ सा॒मगे॑भि॒रादित्ये॑भिर्व॒सुभि॑रि॒क्षीरो॑भिः ।  
 इ॒ष्टापूर्त॑र्मवतु॒ नः पि॒तृणा॑मा॒सुं द॑दे॒ हर॑सा॒ दैव्ये॑न ॥ ४ ॥

अर्थ—[ द्यावापृथिवी ] सुलोक, और पृथिवी लोक, [ उरु अंतरिक्षे ] विशाल आकाश, ( क्षेत्रस्य पत्नी ) क्षेत्रका पालन करनेवाली पृथि [ अद्भुतः उरगाय० ] अद्भुत और बहुत प्रशंसनीय सूर्य [ उत ] और [ वातगोत्रे उरु अन्तरिक्षे ] वायुको स्थान देनेवाला अन्तरिक्ष आदि सब [मायि तप्यमाने] में गल होने पर [इह ते तप्यन्तां] यहाँ ये सब गलत होवें ॥ १ ॥

हे [ देवाः ] देवो ! ( ये यज्ञियाः स्थ ) जो तुम साकार करने योग्य हो, वे सब [ इदं गृणुत ] यह सुनो, कि [ भरद्वाजः मह्यं उक्यानि शंसति ] बल बढ़ाने वाला तुमको ब्रह्म उपदेश देता है । परन्तु [ यो अस्माकं इदं मनः हिनस्ति ] जो हमारे इस मनको बिगाड़ता है, [ सः दुरिते पाशे बद्धः निपुञ्जताम् ] यह पापके पाशमें बंधा आकर निपनमें रखा जावे ॥ २ ॥

हे [ सोम-य इन्द्र ] सोमपान करनेवाले इन्द्र ! [ शृणुहि ] सुन कि [ यत्त्वा शोचता ददा जोहवीभि ] जो शोचपूर्ण द्रव्यसे मैं पुकारता हूँ । [ य० भरद्वाजः इदं मनः हिनस्ति ] जो हमारा यह मन बिगाड़ता है, [ मे ] उतको [ वृक्षं कुलिशेन हय ] वृक्षको कुलाहीसे काटनेके समान [ वृथाभि ] काट दाय ॥ ३ ॥

[ त्रिधाभिः अग्नीतिभिः सामगेभिः ] तीन छंदोंसे अग्नी अग्नेरी द्वारा सामपान करनेवालोंके साथ तथा [ आदित्येभिः वसुभिः अग्नीरोभिः ] आदित्य वसु और अग्निरोके साथ [ पितृना इष्टापूर्त नः जयतु ] पिताओं द्वारा दिया हुआ पदपापदिनाम कर्म हमारी रक्षा करे । मैं [ दैव्येन हरसा अमुं आदरे ] दिव्य शक्ति या बलसे हय को पचरता हूँ ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवीं अनु मा दीधीयां विश्वे देवातो अनु मा रभध्वम् ।

आङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमाछित्वपक्रामस्य कृता ॥ ५ ॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दित्पत्किपमाणम् ।

तपूपि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विपं द्यौरभिसंतपाति ॥ ६ ॥

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृथामि ब्रह्मणा ।

अया युमस्य सादनमुग्निदतो अरकृतः ॥ ७ ॥

आ दधामि ते पदं समिदे जातयेदसि ।

अग्निः शरीरं वेवेष्टुसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

अर्थ- [ द्यावापृथिवी मा अनुमादीधीयां ] शुद्धोक्त और शुद्धोक्त मेरे अनुमूल होकर प्रकाशित हों । हे [ विश्वे देवाः ] सब देवो ! [ मा अनु मा रभध्वं ] मेरे अनुमूल होकर कार्यारम्भ करो । हे [ आङ्गिरसः सोम्यासः पितरः ] अंगिरस सोम्य पितरो ! [ पापमाछित्वपक्रामस्य कृतां ] पापों को छोड़कर करनेवाला पापको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

हे [ मरुतः ] मरुतो ! [ यः अतीव मन्यते ] जो अपने आपको ही बहुत भारी समझता रहे, [ यः वानः कियमानं ब्रह्म निन्दित्पत् ] जयश जो हमारे किये जानेवाले ज्ञान की निन्दा करे । [ वृजिनानि तस्मै तपूपि तपुः ] सब कार्य इसके किये तादृश हो । तथा [ योः ब्रह्मद्विप संतपाति ] शुद्धोक्त उस ज्ञानविरोधीको बहुत तप देवे ॥ ६ ॥

[ ते वान् सप्त प्राणान् ] तेरे उन सात प्राणों को और [ अष्टौ मन्यः ] आठ मज्जाप्रदियों को मैं [ ब्रह्मणा वृथामि ] ज्ञानके शब्दों से छेड़ता हूँ या खोडता हूँ । तू [ अग्निदतः अरकृतः यमस्य सादनं अयाः ] अग्निका वृद्ध बनकर भिक्षु होकर यमके घरमें जा ॥ ७ ॥

[ समिदे जातयेदसि ] प्रदीप्त अग्निमें [ ते वदं जादधामि ] तेरा स्थान रखता हूँ । [ अग्निः शरीरं वेवेष्टु ] पर अग्नि

का उपाय कदा, उसी की पूर्ति करने कोलिखे इन सूक्तों मानसिक शक्ति विकास का उपाय बताया है, क्योंकि आत्मिक शक्ति विकास के लिये मानसिक शुद्धताकी भी आवश्यकता है । मन मलिन रहा तो आत्मिक बल बढ़ ही नहीं सकता ।

## मानस शक्ति विकासके साधन ।

### त्यागभाव ।

मानसिक बल बढ़ानेवाला नाम इस सूक्तमें ' भरद्वाज, ' अर्थात् '( भरत् + वाजः ' = वाजः + भरत् ) बल करनेवाला ब्रह्मा है । ' वाजः ' का अर्थ घो, अज, जल, प्रार्थना, अर्पण, यज्ञ, शक्ति, बल, धन, वेग, गति, युद्ध, शब्द ' यह है । इसमें घो, अज, जल ये तदार्थ शारीरिक बलकी पुष्टि करनेवाले हैं, परंतु वेही श्रद्धा सात्विक सेवन किये जाय तो मनकी भी सात्विक बनाते हैं । जन्म प्राणों के बलके साथ संबन्धित है । धन आर्थिक बलका चोतक है । अर्पण, आत्मसमर्पण, यज्ञ जिसमें आत्मसमर्पणकी आहुति देना प्रधान अंग होता है, ये यज्ञरूप कर्म आत्मिक बल बढ़ाते हैं । युद्ध क्षात्र बल बढ़ाता है । परमेश्वरकी प्रार्थना मानसिक बलकी वृद्धि करती है । वाज शब्दके जितने अर्थ हैं इनकी संगति इस प्रकार है । यही बल बढ़ाने वाले साधनोंका भी ज्ञान हुआ । पाठक यदि इस बातका विचार करेंगे, तो उनको इससे अपना बल बढ़ानेके उपाय प्राप्त हो सकते हैं । यह बल जो भर देता है, उसका नाम ' भरद् - वाजः ' होता है । यह भरद्वाज आत्मिक बल बढ़ाने का साधन इस प्रकार सब को कथन करता है—

### शुभवचन ।

भरद्वाजः मयं वक्ष्यामि श्रुयति ॥ ( मं० २ )

' बल बढ़ानेवाला मुझे सूक्त कहता है ' अर्थात् उत्तम वचन अथवा ईश सुगुणानके स्तोत्र कहता है । ये शुभवचन कटनेसे, इनका मनन करनेसे, इनको अपने मनमें स्थिर करने से ही मनकी शक्ति बढ सकती है । परमेश्वर शक्ति, उपासना, उद्गा-वनाका मनन यही सूक्तोपन है । इससे मनकी पवित्रता होने द्वारा मानसिक शक्ति विकसित होती है ।

### ज्ञान ।

इस ' ज्ञानमि ' की ही ' ज्ञात—वेद अग्नि ' कहते हैं, जिससे वेद प्रकट हुआ है यही अग्नि ज्ञातवेद है । जिसमें ज्ञान प्रकाशित हुआ है, यह अग्नि है । इसीको ज्ञानमि, ज्ञानाग्नि, आत्माग्नि, ज्ञातवेद, आदि अनेक नाम हैं । मानसिक शक्ति विकास, या आत्मिक बल वृद्धि करनेकी जिसकी दृष्टि है, उसको इस अग्निकी चरण लेना योग्य है । इस विषयमें अष्टम अंशमें कहा है—

ऊर्ध्वमूलमधः शालमश्वत्थं प्राहुरन्ययम् ।

छन्दासि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १ ॥

अथश्रोध्वं प्रसृतास्तस्य शारदा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः ।

अथश्च मूढान्यनुमन्तकानि कर्मानुषन्धीनि मनुष्यलोके ॥ २ ॥

न रूपमस्यद तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।

अथत्यमेन सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्वा ॥ ३ ॥ गीता म० १५

‘ ऊपर मूल और नीचे शाखा विस्तार फैला है ऐसा यह अथर्व वृक्ष है । ऊपर नीचे इसकी शाखाएँ बहुत फैली हैं । इन शाखाओंको अलग-अलग छेद करके वड़ा इसको ठीक करना चाहिए ’ तत्पश्चात् सन्नतिका मार्ग विदित हो सकता है । इस विषयमें सप्तम मंत्रमें कहा है, वह अब देखिये—

सप्त प्राणानथौ मन्यस्तांस्ते वृक्षामि मद्गणा ।

अथा यमस्य सादनमाप्सिदूतो अरंकृतः ॥ ( म० ७ )

‘ सात प्राणोंको और आठ प्रथियोंको मैं ज्ञानसे काटता हूँ या छेदता हूँ अथवा खोलता हूँ । तू इस अमिका सिद्ध इत बनकर यम के घरको जा । ’ इस सप्तम मंत्रमें सात प्राणोंको और आठ गजप्रथियोंको ( वृक्षामि ) काटनेका उल्लेख है । और वहाँ काटनेका शस्त्र ‘ मद्ग ’ अर्थात् ‘ शूच, भोके, प्रार्थना, रपासना, स्तोत्र ’ इत्यादि प्रकार का है । मद्ग शब्दका ज्ञान आदि अर्थ प्रसिद्ध है । पाठक यहाँ विचार करें कि क्या कभी ‘ ज्ञान अथवा ईश रपासना ’ ( मद्गगा वृक्षामि ) शस्त्र बनकर किसी को काट सकते हैं ? यदि ये शस्त्र बन कर किसीको काटने लगें तो किसको काटते हैं ? यह विचार करना चाहिए ।

असंगस्य और मद्गस्य ।—गीतामें ‘ असंगस्य ’ से वृक्ष काटनेका उल्लेख है, वहाँ नादा वासनाओंको असंग शस्त्रे काटनेका भाव है । वासनाएँ भी भोग की इच्छासे ही फैलती हैं और भोग भी इंद्रियोंके विषयों के ही होते हैं । अर्थात् असंग शस्त्रे जिन शाखाओंको काटता है, वे शाखाएँ इंद्रियभोग की वृत्तिरूप ही हैं । अगवर्तीताका यह आशय मनमें लेकर यदि हम इस मंत्र के सप्त प्राणोंको मद्ग शस्त्रे काटनेका वर्णन देखेंगे तो स्पष्ट होगा कि यहाँ भी एक विशेष अलंकार ही है, दोनों रसानोंमें त्रिविधा अर्थ एक ही है—

अथाये... असंगस्येण छित्वा ॥ ( म० गीता १५ । १ )

सप्त प्राणान् ... मद्गणा वृक्षामि ॥ [ अथर्व० २ । १२ । ७ ]

‘ वृक्षामि ’ का अर्थ भी ‘ छेदन ’ ही है । दोनों रसानोंके शस्त्र भी अभैतिक हैं । ( असंग ) वैराग्य, और ( मद्ग ) ज्ञान उपासना; यथैव वैराग्य और ज्ञान ये दो अश्वद भिन्न हैं, तथापि एकही बानमें सायं होनेवाले हैं, अस्मसाश्वाकारमें ये दोनों परस्पर उपचारक ही होते हैं । वैराग्य के बिना आत्मज्ञान होना कठिन है या अश्वभव है । इस प्रकार विचार करनेसे पता लगता है कि त्रिगुण सांग्यविस्तार को अगवर्तीता काटना चाहनी दे रही सांग्यविस्तारको यह वेद मंत्र काटना चाहता है । इसकी सिद्धता करनेके लिये हमें ‘ सप्त प्राण ’ बौन हैं इसकी खोज करना आवश्यक है—

शिश और मुख है, इन सातोंके क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, काम और भावण ये सात भोग हैं । इनके कारण उत्पन्न मन्थन अथवा निरुद्ध गति इस मनुष्यकी होती है । दोनों मतोंका तत्पर्य इतनाही है, कि जिन इन्द्रियोंके साधनसे यह मनुष्य वासनाओंके जालमें फँसता है और भोग भोगनेकी इच्छासे रोगके भयमें ग्रस्त होता है, ये सात इंद्रियोंकी शाखाएँ ज्ञानके शस्त्रसे काटना चाहिये । जिस प्रकार माली अपने उद्यान के वृक्षोंकी टेढ़ा टेढ़ा बढने नहीं देता, उसी प्रकार इस शरीरके क्षेत्रमें कार्य करनेवाला यह जीवन्मा रूपी माली है, उसको अपने उद्यान के इन सप्त वृक्षोंकी टेढ़े मंडे बढने देना उचित नहीं है, वैसे बढने लगे तो ज्ञानकी कैचीसे मर्षादासे बाहर बढनेवाली शाखाओंको काटकर उनको अपनी मर्षादामें ही रखना उचित है ।

इसका स्पष्ट आशय यह है कि ये ही इन्द्रिय यदि सुरे व्यवहार करने लगे तो उनकी अशुद्धके नियमसे नियम बद्ध करके संयमपूर्णशरीरसे दमन करना चाहिये । इन्द्रिय दमन से ही आध्यात्मिक शक्ति विकसित हो सकती है । शाखा छेदन का तात्पर्य यही है ।

**आठ ग्रंथी—** इस सप्तम मन्त्रमें ( अष्टौ मन्थाः ) आठ ग्रंथी, या धमनियाँ हैं, उनकी भी छेदन करने का विधान किया है । ये आठ मन्था ग्रंथियाँ हैं उनसे विलक्षण जीवन रस शरीरमें प्रवाहित होते हैं । गुदा, नाभि, पेट, हृदय, कण्ठ, तालु, मूत्राशय, मस्तिष्क इन स्थानोंमें ये प्रधान आठ मन्था ग्रंथियाँ हैं और इनसे जो जीवन रस आता है उससे एक स्थानमें जीवन प्राप्त होता है । इससे प्राप्त होने वाला जीवन रस तो आवश्यक ही है, परंतु यदि इसीसे हीन प्रवृत्ति होने लगी तो उस हीन वासना का नाश करना चाहिये । देखिये गुदाके पास की मन्था ग्रंथीसे कीर्षके साथ जीवन रस प्राप्त होता है । इसीसे स्त्रीपुरुष विषयक काम होता है और इसके अतिरिक्तसे मनुष्य गिरता भी है; तथापि धर्ममार्गके अंदर काम रहा और शेष ब्रह्मचर्य पालन हुआ तो यश की ही दिव्य शक्ति ईश्वरके भेंट परिलभ होती है । इसी प्रकार अन्धान्य ग्रंथियोंके विषयमें समझना चाहिये । इससे पठक समस्त गये होंगे कि जिस प्रकार बाहर दिखनेवाली इंद्रियोंका संयम आवश्यक है; उसी तरह इन ग्रंथियोंकी स्वाधीनता भी अत्यंत आवश्यक ही है । योगमें इसके 'ग्रंथिभेद, चक्रभेद' आदि संघर्ष हैं । इसका अर्थ इतना ही है कि जिस प्रकार अपनी मनकी प्रेरणासे हाथ बाँधना हिलना या न हिलना होता है, उसी रीतिसे इन अष्ट ग्रंथियोंका कार्य भी अपनी इच्छानुसार हो । इंद्रियोंकी और इन वेद्योंकी पूर्णतया अपने आधीन रखनेका नाम वही शाखा छेदन है । यह श्रेष्ठ संयम है । और यही शाखाछेदन ( ब्रह्मणा नृच मि ) ज्ञान रूपी शस्त्रसे होना समभव है । अब यहाँ मंत्रोंकी संपत्ति देखिये—

**संयमका मार्ग—** १ समिद्धे जातवेदसि परं = जिसने प्रदीप्त जातवेद अर्थात् ज्ञान अग्निमें अपना स्थान स्थिर किया है ( मं० ८ ) । २ अग्निः शरीरं वेष्टेनु = जिसके शरीरके रोमरोममें यह ज्ञान अग्नि भटक उठा है ( मं० ८ ) । ३ वायु अग्निं भस्मं गच्छेनु = जिसकी वाणी भी प्राणवताको अर्थात् जीवित दशाको प्राप्त हुई है । ( मं० ८ ) । ४ सप्त प्राणाश्च पूज्यामि = सप्त प्राणोंका अर्थात् सप्त इंद्रियोंका शाखा छेदन निश्चय किया है अर्थात् इंद्रियों को यशमें किया है ( मंत्र ० ) । ५ अष्टौ मन्थान्पूज्यामि = आठ मन्था वेद्योंकी भी छेदन किया है अर्थात् अष्ट चक्रभेद द्वारा उनकी वशवर्त्ता किया है ।

**मरनेकी विद्या—** यही आत्मिक बल से चलवाना होगा और यही मृत्युधन्य मृत्यु करेगा अथवा निरर होकर दमक पर जायगा । सब प्राणी मरते ही हैं, परंतु निरर होकर मरना और बात है और कर कर के मरना और बन है । सब लोग मृत्युसे डरते रहते हैं, मृत्युका डर दूर करनेकी विद्या इस सूत्रने कही है । देखिये मंत्र के शब्द—

अर्कहृतः अग्निदूतः यमस्य तादृगं जयाः ( मं० ७ )

\* ( अर्कहृत ) अर्कहृत ( अग्नि— ) शालाग्रामिका ( वृत्तः ) गेयक बनकर बनके पर जा । \* क्योंकि अब मुझे मरना यह डर नहीं है जो अज्ञानावस्थामें था । यह मृत्युधन्य कर दूर करने दिया है । मानो यह मरनेकी विद्या है । अविनाशकमें यह विद्या प्राप्त करना चाहिये । जिसने इंद्रियोंका संयम किया है, जिसने अपनी जीवन शक्तियोंको अपने अधीन किया है, जिसका जीवन ज्ञानचर परिशुद्ध प्रचलिततम कर्मफल हुआ है, और जो सज्जनके प्रचारके लिये अपने अंतर्गत समर्पण करने हुआ अज्ञाना जीवनही जननिमें समर्पण करता है, क्या कभी वह मृत्युसे डर सकता है ? वह तो निरर होकर ही मृत्युके पथ पर पहुँचेगा । इसी प्रकार देखिये—

**निर्भय ऋषिकुमार**— कठे पनिशदने कहा है कि, नचिकेता ऋषिकुमार यम के पास गया था । वह तीन रात्री यमके घर रहा, उसको देखकर यमको भी भय मालूम हुआ । उसको प्रथम चरनेके लिये यमने तीन वर दिये । ये तीन वर मानो तीन प्रबल शक्तियाँ थीं, परंतु इस ऋषिकुमारने इन तीन शक्तियोंसे अपने भोग नहीं बढ़ाये; परंतु ज्ञान प्राप्तिमें ही इन शक्तियों का व्यवहारे किया । यमने नाना भोग उसके समुख रखे, परंतु ऋषिकुमारने अपने ज्ञानाक्षसे वासना रूपी शाखाओंका छेदन किया था, इसलिये भोगोंको स्वीकारनेकी रुची नहीं थी, भोगोंको छोड़कर ज्ञान प्राप्तिकी ही उसने इच्छा की और इस त्यागश्रुतिसे अन्त में उसने ज्ञान प्राप्त किया । यमके साथ बराबरीके नातेसे यह ऋषि कुमार रहा, बराबरीके नातेसे बोलो और बराबरीके साथ वहाँसे वापस आया । ऐसा क्यों हुआ ? पाठको । विचार तो कीजिये । नचिकेता ऋषिकुमार अग्नि का दूत बनकर, क्षीनका सेवक बन कर, भोगेच्छाका त्याग करके यमके पास गया था, इसलिये वह निडर था । जो लोग भोगेच्छासे यम के पास जायेंगे वे डरते हुए जायेंगे, इसलिये वरके जराये । वही भेद है साधारण मृत्युमें और ज्ञानीकी मृत्युमें । वही वेदकी मृत्युविद्या है ।

### आत्मवद्भाव । एकके दुःखसे दूसरा दुःखी ।

यहा तक जो आत्मोच्छेत्ता वर्णन किया है उसका विचार करनेसे ज्ञानीमें उच्चावचार्थाकी कल्पना पाठकोंकी हो सकती है । उस ज्ञानिके मनमें ' आत्मवद्भाव ' इस समय जीवित और जाग्रत होता है, सब भूतोंकी यह आत्मसमान भावसे देखने लगता है । जो जैसा सुख दुःख इसको होता है, वैसा ही सुख दुःख दूसरोंको होता है ऐसा इसका भाव इस समय बन गया है । वह अपनेमें और दूसरोंमें भेद नहीं देखता; दूसरोंके दुःखों से अपनेको दुःखी और दूसरोंके सुखसे अपनेको सुखी मानने लक उसकी वच मनोऽवस्था इस समय बन चुकी होती है । इसलिए जिस समय वह सच्चमुच सतत होता है, उस समय सब अन्य प्राणीमान सन्तप्त हो जाते हैं । जब दूसरोंका दुःख ज्ञानी मनुष्य अपनेपर भेजे लगता है, और सब जगत् के दुःखका भार आत्म-दश स्वीकारता है, उस समय इसके दुःखमें जो सब जगत् हिस्सेदार होता है । यद नियम ही है । यह परस्पर संवेदनाका सार्वत्रिक नियम है । जिस प्रकार एक स्त्रीमें मिलायी हुई तन्तुवायकी तारें एक बगई जनेपर अन्य सब स्त्रियाँ बजने लगती हैं, इसी प्रकार यह ज्ञानीके ' सर्वात्मभाव के जीवन ' से सब जगत्के साथ समान संवेदना उत्पन्न होती है । यह ' आत्मवद्भाव ' की परम उच्च अवस्था है । यही इस सूक्तके प्रथम मंत्रने बताया है—

समि सत्यमाने ते ह्य त्वय्यम्भो [ मं० १ ]

' मेरे सन्तप्त हो जाने पर वे यही सतप्त हों । ' भूमि, अंतरिक्ष, पृथ्वी, वायुका अथवा अणु, अणुके अणु, सूर्य आदि जितना भी ब्रह्म स्थान है और उस सर्वपूर्ण स्थानमें जो भी भूतमात्र हैं उनके क्लेशोंको मैं अपने ऊपर लेता हूँ, जगत् की सुखी करनेके लिये मैं अपने आपको समर्पित करता हूँ, मैं जगत् को दुःखी नहीं देख सकता, जगत् सुखी हो और उसका दुःख मुझपर आजाय, इस प्रकार की भावना जिसके शेष शेष में मरी है, जिसके दैनिक जीवन में टाली गई है, वह अपने अपने को जगत् के साथ एकत्र देखना है, जगत् की अपने आत्माके समान समझता है, या यों कहो कि वह जगत् के दुःखसे दुःखी होता है । ऐसा महत्त्वा जिस समय संतप्त होता है उस समय सब भूत भी सन्तप्त हो जाते हैं । यह अवस्था प्रथम मंत्रद्वारा बतायी है ।

यह मनुष्य या तत्त्विकी परम उच्च अवस्था है, इस अवस्थामें पुरुषा हुआ ज्ञानी दूसरोंके दुःखोंसे दुःखी होता है और इसके दुःखसे भी सब दूसरे दुःखी होते हैं । इस पूर्ण अवस्था में जगत् के साथ इसकी समान संवेदना होती है । मनका मत करने पर तो और आत्माकी शक्ति करने पर तत्त्व मनुष्य यही तक कर्त्ता हो सकता है । अब जो लोग इस जगत् के विरोधी होते हैं उनमें भी क्या अवस्था होती है, यह देखना है—

**ज्ञानके विरोधी**— जो ज्ञानके विरोधी होते हैं, जो अपने मनको गिराने योग्य कार्य करते हैं, जो दूसरोंके मनको निर्वल करनेके लक्ष्यमें रहते हैं उनका दशा क्या होती है, यह इस सूक्तके अन्तमें बताया है । देखिये—

१ वाः अतोय मन्परे अ ओ अने धारो ही यमरथे उवा समज्ञा है, अपने से और अधिक अथ कोई नहीं है ऐसा जो म नग २, ( मं० १ )



२ क्रियमाणं न ब्रह्म य निन्दितम् = किया जानेवाला हमारा ज्ञानसंग्रह जो निंदा है, हमारे ज्ञानसंपादन, ज्ञानरक्षण और ज्ञानवर्धनके प्रयत्नोंकी जो निंदा करता है, ( मं ६ )

३ वृत्तिमानि तस्मै तथूपि सन्तु = सब कर्म उसके लिए तात्पादक हों, उसको हरएक कर्मसे बड़े कष्ट होंगे, किसीभी कर्म से उसको कभी शांति नहीं मिलेगी, ( मं ७ )

४ धौः प्रज्ञाद्विषं अभि सं तपायि = प्रकाशमान बुद्धिके ज्ञानके विद्वेषीकी चारों ओरसे संतप्त करता है, ज्ञानके विद्वेषीकी किसी ओरसे भी शांति नहीं मिल सकती ( मं ७ )

ज्ञान के विरोधी ( ब्रह्माद्विष ) का उत्तम वर्णन इस मंत्रमें हुआ है यह इतना स्पष्ट है कि इसका अधिक दृष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । अत्यधिक घबरेल करना भी अज्ञान या मिथ्या ज्ञानका ही चोतक है, और यह अत्यंत घातक है । यदि स्वयं ज्ञान वर्धन का प्रयत्न कर नहीं सकते तो न सही, परंतु दूसरे पर रहें हैं उनका तो विरोध करना नहीं चाहिये । परंतु यदि स्वयं मिथ्याज्ञानसे मगलन हुआ मनुष्य दूसरे ज्ञानियोंको घताने लगे, तो वह अधिक ही गिर जाता है । इस प्रकारके गिरनेवाले अज्ञानी मनुष्यका हरएक प्रयत्न कष्टबंधक ही होता है, उसके कर्मसे जैसे उसके कष्ट बढ़ते हैं वैसे जनताके भी कष्ट बढ़ते हैं, क्योंकि उसका अज्ञान और मिथ्याज्ञानके कारण वह जो करता है वह भ्रात चित्तसेही करता है, इस कारण जैसा उसका नाश होता है वैसा उसके साथ संबंध रखनेवालेका भी नाश हो जाता है । यह बात इस छंदे मंत्रने बताई है । अब इस घुरे कर्मके कहांकी अवस्था बाँचेके चार मंत्रोंने बताई है, वह देखिए—

१ अपकामस्य कर्ता पार्य भाः श्रष्टुः । ( मं ५ )

२ यः अस्माकं इदं मनः दिनस्ति स दुरिते पातो बद्धः निवृत्तपणाम् । ( मं २ )

३ अमुं दैव्येन हरसा आदुदे [ मं ४ ]

४ यः अस्माकं इदं मनः दिनस्ति स कुलितान वृष्टानि । ( मं ३ )

“( १ ) इस कुर्मके करनेवालेकी पण लगे । [ २ ] जो हमारा मन बिगाड़ता है उसको पापके पापमें बाँधकर निवर्तमें रखा जावे । [ ३ ] उसको दिव्य क्रोध या बलसे पकड़ रखा है । [ ४ ] जो हमारा इस मनको बिगाड़ता है उसको शत्रुसे खाटता है । ”

ये चार मंत्रोंके चार अलग वाक्य हैं ये एकसे एक अधिक दृष्ट बना रहे हैं । पहिले वाक्यने कहा है कि उसको पाप लगे । दूसरे वाक्यने कहा है कि उसको बाँध कर निवर्तमें रखा जावे वहाँ निवर्तमें रमनेका आशय आराधनमें रमनेका है । तीसरे वाक्यमें देवताओंका बोध उपपन्न हो ऐसा कहा है और चतुर्थ वाक्यमें शत्रुसे उसका विराट्पण्डित काटने की बात कही है । वह एकसे एक कही सजा जिसको ही जगद्गुरु विप्रेका बोधाष्टा विचार नहीं करना प्यार है । मनको बिगाड़नेका पाप क्या मारी है, परंतु जो एक बार ही इस प पकी करता है और एक मनुष्यके संबंधमें करता है उसका आराधन न्यून है और जो मनुष्य अपने विदेश संग्रहारी दूसरी अतिशय मन बिगाड़नेका प्रयत्न करता है, या जातिही ज्ञान प्राप्तिमें बाधा डालता है उसका पाप बड़ कर होता है । इस प्रकार तुलनाय पापकी न्यूनतापिना समझने योग्य है और आराधनके अनुष्ठान दबक देना उचित है । वह दण्ड भी स्वयंके देना नहीं होता प्रत्युत राजधमा द्वारा देना होता है ।

दूसरे की ज्ञानवृद्धिमें बाधा डालना बहामारी पाप है, इससे जैसी दूसरेकी वंशी हरयं अपनी भी अभ्यास ही की है । इसलिये कोई मनुष्य इस प्रकारका पापकर्म न करे ।

आनुवंशिक संस्कार— सबसे पहिली बात आनुवंशिक संस्कार की है । जिसका वंश शुद्ध होता है, जिसके पदमें गुरु-रूप हुए हैं, जिसके मात पिता शुद्ध भक्त-करणीके होते हैं; अर्थात् बचन में जिसके चरमें शुद्ध धार्मिक वाचु संस्कार होना है वह आत्ममें वंश जनेका संभव कम है, इस विषयमें मंत्र कहना है—

विमभिः असीतिभिः सामगभिः वसुभिः अहिमोभिः अहिमैः मेः

विष्णोः इन्द्राणां नः अवनुः ( मं ५ )

‘वसु, रुद्र, आदित्य देवोंका सामगान पूर्वक हमारे पितरों द्वारा किया हुआ यज्ञ याग आदि शुभ कर्म हमें मचावे ।’ परिवारमें जो जो प्रशस्ततम कर्म होता है वह निःसंदेह पारिवारिक जनोंको बुरे संस्कारोंसे बचाता है । मातापिताओंका किया हुआ शुभ कर्म इसी प्रकार बालबच्चोंको शुभ धर्मपथपर सुरक्षित रखता है । येही आनुवंशिक शुभसंस्कार हैं । हम यह नहीं कहते कि जिनको ऐसे शुभ संस्कार नहीं होंगे वे अधम मार्गपर ही जाते रहेंगे, परंतु हम यही कहते हैं कि ये शुभ कर्म अवश्य सहायक होते हैं । इसलिये परिवारों के मुख्य पुरुषों को उचित है कि वे स्वयं ऐसे कर्म करें कि भविष्य उनके पारिवारिक जनोंपर शुभ संस्कार ही होते रहें, यह उनका आवश्यक कर्तव्य है ।

### ईश प्रार्थना ।

आनुवंशिक संस्कार अपने आधीन नहीं होते क्योंकि उन कर्मोंको करनेवाले पूर्वज होते हैं । इसलिये यदि वे अच्छे हुए तो अच्छा ही है, परंतु यदि वे बुरे संस्कार हुए तो भी कोई खरनेकी बात नहीं है । स्वयं अपनी शुद्धिका प्रयत्न करनेपर निःसंदेह सिद्धि मिलेगी । इस दिशासे आत्मशुद्धिके प्रयत्न करनेके लिये ईशप्रार्थना मुख्य साधन है, परन्तु यह प्रार्थना दिलके जलनेसे ही होनी चाहिये इस विषयमें, इस सूक्तके शब्द बड़े मनन करने योग्य हैं—

हे सोमय इन्द्र ! शृणुहि । यत्रा सोचता हृदा जोहवीमि ॥ ( मं० १ )

‘हे ज्ञानियोंके रक्षक प्रभु! सुनो, जो मैं जलते हुए हृदय से तुमसे कह रहा हूँ ।’ हृदयके अंदरसे आवाज आना चाहिये, अपनी पूर्ण भावनासे प्रार्थना होनी चाहिये, हृदयकी उष्मतासे तबे हुए शब्द होने चाहिये, शोकपूर्ण हृदयसे प्रार्थना निकलनी चाहिये । ऐसी प्रार्थना अवश्य सुनी जाती है । तथा—

ये यत्निषाः ह्य से देवा इदं शृणु । ( मं० २ )

‘जिनका यजन किया जाता है वे देव मेरी प्रार्थना सुनें ।’ इस प्रकार देवोंके विषयमें श्रद्धाभक्तिके साथ दिलसे शब्द निकले, तो वे सुने जाते हैं, तथा—

द्यानाष्टयिषी मा अनु दीधीषाम् । विवेदेवाप्तो मा आवारभजम् ॥ ( मं० ५ )

‘द्यानाष्टयिषी मुझे अनुकूल होकर प्रकाशित हों और सब देव मुझे अनुकूल होकर कार्यरत करें ।’ अर्थात् देवोंकी इच्छा मेरा मार्ग प्रकाशित हो और देवोंकी अनुकूलता के साथ मेरा कार्य चलता रहे । कोई भी ऐसा कार्य मुझसे न होवे, कि जो देवताओंके प्रतिकूल या विरोधी हो । मेरे अंतःकरणमें देवताओंकी कृपासे शुद्ध स्फूर्ति होती रहे, उस स्फूर्तिके अनुकूल ही मुझे उत्तम कर्म होते रहें । देवोंके साथ अपने आपको एक रूप करना चाहिये और इस प्रकार अपने अपने अपने देवतामय अनुभव करना चाहिये ।

अपने चारों ओर देवोंका मन्दिर करना चाहिये, तभी वहाँ अशुभ विचार नहीं आवेंगे और सदा वहाँ वैसी शुभ विचार ही कार्य करेंगे । इस प्रकार देवोंका जामय निशचर अपने विचारोंके अंदर भावरूपसे होने लगा तो फिर अपने मानसिक बलकी वृद्धि होनेमें देरी नहीं लगेगी और जो जो फल मानसोद्यति और आत्मोन्नतिके इस सूक्तके प्रारंभिक विवरणमें कहे हैं वे सब उस उपाय से अवश्य प्राप्त होंगे ।

# प्रथम वस्त्र-परिधान ।

[ १३ ]

( ऋषिः-अथर्व । देवता-अग्निः, नानादेवताः । )

आयुर्दा अग्रे जरसे वृणानो घृतप्रतीको घृतप्रष्टो अग्रे ।

घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेवं पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥ १ ॥

परि धत्त धत्त नो वर्षसेमं ज़रामृत्युं कृणुत दीर्घमार्युः ।

वृद्धस्पतिः प्रार्यच्छ्रद्धासं एतस्तोमार्यु रात्रे परिधातुवा उं ॥ २ ॥

परीदं वासो अधिधाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामंभिश्चस्तिषा उं ।

श्रुतं च जीवं श्रुदः पुरुची रायश्च पोषमुपसंव्ययस्य ॥ ३ ॥

अर्थ-हे [ अग्नि अग्ने ] तेजस्वी भस्ते । तू [ आयुः-दा ] जीवनका दाता, [ जरसे वृणान ] स्तुतिका स्वीकार करनेवाला, [ घृत-प्रतीकः ] घृतके समान तेजस्वी और [ घृत-घृष्टः ] पीका सेवन करनेवाला है । अतः [ मधु चारु गव्यं घृतं पीत्वा ] मीठा सुंदर गाय का पी पीकर [ वित्त पुत्रान् हव ] वित्त पुत्रोंकी रक्षा करनेके समान तू [ हमें अभिरक्षणात् ] हमकी सभ ओरसे रक्षा कर ॥ १ ॥

[ नः हमें ] हमारे इस पुरषको [ परिधत्त ] चारों ओरसे धारण कराओ, [ वर्षसा धत्त ] तेजसे युक्त करो, इसका [ दीर्घ आयुः ज़रामृत्युं कृणुत ] दीर्घ आयु तथा वृद्धावस्थाके पश्चात् शृणु करो ॥ [ वृद्धस्पतिः एतस्मात् वासः ] वृद्धस्वामिने यह कपडा [ सोमाय रात्रे परिधत्तये ] सोम राजाको पहननेके लिये [ व प्रायश्चित्त ] निश्चयसे दिया है ॥ २ ॥

[ इदं वासः स्वस्तये परि भविषाः ] यह वस्त्र अपने कल्याणके लिये धारण करो, [ पृष्टीनां अभिशस्तिषाः व अभूः ] तू मनुष्योंको विनाशसे बचानेवाला निश्चयसे हुआ है । इस प्रकार [ पुरुचीः धादः शय च जोष ] परिपूर्ण सौ वर्षतक जीओ । और [ रायः पोषं च तप सं व्यपश्य ] धन और पोषणका कपडा बनो ॥ ३ ॥

भावार्थ-हे तेजस्वी देव । तू जीवन देनेवाला, मनुष्योंको सुखेवाला, तेजस्वी और दृढतादिसे भी का जीवन करनेवाला है; अतः मधुर सुंदर गायका पी पीकर इस बालक को ऐसी उत्तम रक्षा कर कि जैसी वित्त अपने पुत्रोंको उत्तम रक्षा करता है ॥ १ ॥

इस बालक को चारों ओरसे वस्त्र धारण कराओ, इसका तेज बढ़ाओ, और इसकी आयु अनिदीर्घ करो, अर्थात् अतीवृद्धावस्थाके पश्चात् ही इसका शृणु हो । यह वस्त्र सबसे प्रथम कुलशुभ वृद्धस्वामिने सोम राजाके पहननेके लिये बनाया था, जो इस बालकको पहनाया जाता है ॥ २ ॥

यह वस्त्र अपने कल्याणको वृद्ध करनेके लिये धारण करो, मनुष्योंको विनाशसे बचानेका यहो उत्तम कपडा है । इतने प्रकार भी वर्षोंके दीर्घ आयु प्राप्त करो और धनका साधन और पोषण बना कर यह वस्त्र उत्तम प्रकारसे बनो ॥ ३ ॥

एह्यश्मानमा तिष्ठाश्मा भवतु ते तनुः ।

कृण्वन्तु विश्वे देवा आर्युष्ट शरदः श्रुतम् ॥ ४ ॥

यस्य ते वासः प्रथमवास्व्यं हरांस्त्वं त्वा विश्वेऽवन्तु देवाः ।

तं त्वा भ्रातरः सुभृथा वर्धमानमनु जायन्तां बृहवः सुजातम्

॥ ५ ॥

अर्थ—[ पृथि, अश्मान आदिष्ठ ] आ, शिला पर चढ़, [ त्वि तन् अश्मा भवतु ] तब शरीर पर्याय जैसा बढ बने । [ विश्वे देवा ] सब देव [ त आर्युः शरदः दातृकृण्वन्तु ] तेरी आयु सौ वर्षकी करे ॥ ४ ॥

[ यस्य ते प्रथमवास्व्यं वास हाराम ] निम तेरे लिये पहले प्रथम पहनने योग्य ऐसा यह वस्त्र हम लाते हैं [ त त्वा विश्व देवा भवतु ] उस तेरी सब देव उत्तम रक्षा करें । [ त त्वा सुजातं ] उस तुझ उत्तम जन्मे हुए और [ वर्धमान ] बढ़ते हुए बालकके [ बृहव सुभृथाः भ्रातर अनु जायन्तां ] पीछेसे बहुतसे उत्तम बढ़नेवाले भाई उत्पन्न हों ॥ ५ ॥

भावार्थ— यहा आ, इस शिलापर खड़ा रह, तेरा शरीर पर्यायजैसा सुदृढ़ बने, और इससे सब देव तेरी आयु सौ वर्षकी बनावे ॥ ४ ॥

हे बालक ! तेरे लिये यह पहिले पहिनने के लिये वस्त्र हमने लाया है, सब देव तेरी पूर्ण रक्षा करें, तू इस उत्तम कुतर्मे प्रन्मा है और यहा तू उत्तम प्रसार से बढ रहा है, इसी प्रकार तेरे पीछे बहुतसे दृढपुष्ट और बलवान् भाई उत्पन्न हों, और तेरे इलसी वृद्धि हो ॥ ५ ॥

### प्रथम वस्त्र परिधान ।

बालक के शरीरपर प्रथम वस्त्र परिधान करानेका समारम्भ इस सूक्तद्वारा बताया है । इस सूक्तका प्रथम मन्त्र घृतका इवन अग्निमें हो आनेका विधान करता है, अर्थात् इवनेके पूर्वका सब विधान इससे पूर्व होचुका है, ऐसा समझना उचित है । अग्निके शरीर परमात्माकी वासि दे, इस अग्निका धी आदिष्ट प्रदात किया जाना है, और उसकी साक्षीमें वस्त्र परिधान आदि विधि किया जाता है । समा संस्कार अग्निमें इवन करनेके साथ होते हैं । परमेश्वर स्तुति, प्रार्थना, उपासना, शांति, अमयवाचनदि पूर्वक इवन होकर प्रथम मन्त्रमें प्रभुकी प्रार्थनाकी गई है कि वह परम पिता हम सब पुत्रोंकी रक्षा करें । इस प्रकार वस्त्र परिधानकी पूर्ण विधारी होनेके पश्चात् वस्त्र लाया जाता है—

### पुत्रके लिये वस्त्र ।

यहां स्मरण रखना चाहिये कि यह वस्त्र मूल्य देकर दुकानसे लाया नहीं रहता । परन्तु अपने पुत्रके लिये माताही बचाने लगी है, इस विषयमें वेदमें अन्यत्र कहा है वह यहां देखिये—

वित्तवत्ते धियो अस्मा अग्राणि वस्त्रा

पुत्राय मातरो वयन्ति ॥ ऋग्वेद ५।४।६

इस मन्त्रमें दो वाक्य हैं और वे विचार करने योग्य हैं । देखिये इनका अर्थ—

( १ ) मातर पुत्राय वस्त्राणि वयन्ति = मातारें अपने पुत्रके लिये कपडे बुनती हैं । और—

( २ ) अग्ने धिय अग्राणि वित्तवत्ते = इस वचनके लिये सुविचारों और सत्कर्मोंका उपदेश देती हैं ।

यह मन्त्र पुत्रनिषेधक माताओंका कर्त्तव्य बता रहा है । माताएं अपने पुत्रके लिये कपडा बुनती हैं इसमें प्रत्येक वाक्यका अर्थ मना प्रेम उस कपडेके लानेमें सुना जाता है । इसका विचार पठक अवश्य करें । यह वपदा केवल नपदा नहीं है परन्तु इसे लक्ष्य मन्त्रमें कहा है, कि—

राय. च पोष उपमरयस्व । ( मं० ३ )

“ यदा कपडेका लाता देखेंगे और वना पुष्टि है । इस प्रकार यह कपडा बुना जाता है । ” सबसुख ऐसीही है, “ ( १ ) माता अपने पुत्रप्रेमसे अपने छोटे बालकके लिये कपडा बुनती होगी । धन्य है वह माता और वह बालक जो इस

प्रकार परस्पर प्रेमसे अपने कुटुंबके भूयगभूत होते हैं । इस प्रकार का कपडा उस छोटे बालक को पहनाया जाता है, उस समय का मंत्र यह है—

परिधत्त, धत्त, मो वर्चसा इमम् ।

जराभृत्यं कृत्युत, दीर्घमायुः ॥ ( मं० २ )

“ पहनाओ, पहनाओ इस हमारे बालकको यह वस्त्र, तेजके साथ यह दीर्घ आयु प्राप्त करे और इमका। पृथिवस्थाने पश्चात् ही मृत्यु हो अर्थात् अकाल मृत्युसे यह कदापि न मरे । ” जब माता अपने पुत्रके लिये प्रेमसे कपडे चुनकर तैयार करती है, तब वह प्रेमही उस बच्चेकी रक्षा करनेमें समर्थ होता है, इसलिये ऐसी प्रेममयी माताके पुत्र दीर्घायु ही होते हैं ।

आगे इसी द्वितीय मंत्रमें कहा है कि “ देखोके कुत्रगुरु वृक्षपातने सोमराजाको भी इसी प्रकार वस्त्र पहनाया था । ” अर्थात् यह प्रथा सनातन है । कुलका पुरोहित माता का बनाया हुआ कपडा अपने आशीर्वाद पूर्वक बच्चेको पहनावे और तब उपस्थित सज्जन बालक का शुभ चिन्तन करे । यह हूय वैदिक रीतिका साराग्रसे स्वरूप है । पाठक इच्छा विचार करने यह शुभ-संस्कार अपने घरमें कर सकते हैं ।

### चरित्र धरमें चुननेका प्रयोजन

चरित्र धरमें क्यों चुना जावे और बाजारसे क्यों खरीदा न जावे, इस विषयमें तुर्राय मंत्रका कथन मनन करने योग्य है, इसमें इस चरेल व्यवसायसे चार लाभ होनेका वर्णन है ।

### १ स्वस्ति ।

इदं वासः स्वस्त्वयि अग्नि याः । ( मं० ३ )

“ यह कपडा अपनी स्वस्तिके लिये धारण करो । ” स्वस्ति का अर्थ है ‘ पुनःप्रतिग ’ अर्थात् उत्तम अस्तिग, उत्तम दारित । अपनी शिष्टि उत्तम होनेके लिये अपना मुनाहुभा कपडा पहनना चाहिए । दूसरेका मुना हुभा कपडा पहननेसे अपना शिष्टि भूरी होती है, बिगड जाती है । अपना मुना कपडा पहननेसे अपना ‘ स्वस्ति ’ अर्थात् कल्याण होता है, इस लिये अपना मुना हुभा कपडा ही पहनना चाहिये ।

यदि इसी प्रकार दूसरा बालक हो गया तो पहिले के पाँचवें वर्ष दूसरे बालक का जन्म होना समझ है । अर्थात् पहिले बालकको माताका दुध अच्छीतरह मिलेगा जिससे पुत्रकी पुष्टि भी अच्छी प्रकार होगी, माताके अवयव भी द्वितीय गर्भ धारण के लिये योग्य होंगे और सब कुछ ठीक होगा । जहाँ प्रतिवर्ष गर्भ धारणा होती है, वहाँ दुध न मिलनेके कारण बच्चे कमजोर होते हैं बीचमें पूर्ण विश्राम न मिलनेके कारण माता भी कमजोर होती है और सब प्रकार भय ही भय होता है । इसलिये पाठक इसका योग्य विचार करें और यदि यह प्रथा अपन परिवारमें खाने योग्य प्रतीत हो, तो खानेका यत्न करें ।

हमने प्रतिवर्ष, प्रति तीन वर्ष, प्रति पांच वर्ष और प्रति सात वर्ष संतानोत्पत्ति का कर्म करनेवाले कुटुंब देखे हैं । पहिले की अपेक्षा दूसरेकी और दूसरेकी अपेक्षा तीसरेकी शारीरिक निरोगता हमने अधिक देखा है । यह विचार विशेष महत्त्व पूर्ण है इसलिये कुछ विस्तारसे यहाँ किया है । पाठक इसे अखील न समझें क्योंकि इसके साथ परिवारके स्वास्थ्यका विचार सम्बन्धित है ।

✓ आशा है कि पाठक इस सूक्तका योग्य विचार करें और लाभ उठावेंगे ।

— ० —

## विपत्तियोंको हटानेका उपाय ।

( १४ )

[ श्रुति-चातनः । देवता-शालाभिदैवत्यं । ]

निःसालां धृष्टं धिषणमेकान्यां जिघ्रस्तृप्तिं सर्वाश्विण्डस्य नृप्योनिश्रयामः सुदान्ताः ॥ १ ॥  
निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षाभिरुपानसात् । निर्वो मग्न्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥  
असौ यो अधराद् गृहस्त्वत् सन्त्रराय्यः । तत्र सेदिर्नृच्यत्तु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

अर्थ—[ निःसालां ] घरदार न होना, [ धृष्टं ] भयभीत रहना, अथवा दूसरोंको डराना, [ एवमाद्यो ] प्रियण पित्र स्व ] नियमपूर्ण पुरुष भाषण करनेवाली निश्चयारमक बुद्धिका नाश करनेवाली, तथा [ नृप्यो ] कोषकी मय की सम सन्तानें और [ स—दान्ता ] दानवोंकी राक्षस वृत्तियोंका हम [ नाशयामः ] नाश करते हैं ॥ १ ॥

[ व. गोष्ठात् नि ] अजामसि ] तुमको हमारी गोष्ठाळासे हम निकाल देते हैं, [ नृप्यात् नि ] हमारी दृष्टि बाहर तुमको करते हैं, [ उपानसात् निः ] अक्षयानके गड्ढे स्थानसे तुमको हटाते हैं, [ मग्न्या ] वः नि ] मने मोह से तुमको हटाते हैं । हे [ दुहितरः ] दूर रहने योग्य 'तुम्हें [ गृहेभ्यश्चातयामहे ] घरोंसे हटाते हैं ॥ २ ॥

[ असौ यः अधरात् गृह ] यह जो नाश घराना है [ तत्र अराय्य स तु ] यहाँ विपत्तियाँ रहें [ तत्र सेदि ] यहाँ ही छुट [ नि स्रपत्तु ] निवास करे [ सर्वा यातुधान्यः ] सब दुष्ट वहाँ ही जाय ॥ ३ ॥

भावार्थ—आमुरी भावनाओंसे प्राप्त हेतुवाची कई विपत्तियाँ हैं उनमें कुछ ये हैं—

( १ ) घरदार कुछ भी न होना,

( २ ) वृद्धा औरोंका भय प्रभाव होना या दूसरोंको डराना,

भूतपातिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।

गृहस्य घृष्टा आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणार्थं तिष्ठतु

॥४॥

यदि स्थ क्षेत्रियाणां यदि वा पुरुषेपिताः । यदि स्थ दस्युभ्यो जाता नश्यतेतः सदान्वाः ॥५॥

परि धामान्यासामाशुर्गाग्नामिवासरन् । अजैषु सर्वाणांजीन्वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥६॥

अर्थ—[भूतपातिः इन्द्रः] प्रजापालक राजा [सदान्वाः इतः निरजतु] राजसी वृत्तियोंको यहाँसे दूर करे । [ गृहस्य घृष्टा आसीनाः ] घरकी जड़में निवास करनेवाली दुष्टताएं [ इन्द्रः वज्रेण अर्थात् तिष्ठतु ] इन्द्र अपने वज्रसे हटादेवे ॥ ४ ॥

हे [ स दान्वाः ] आसुरी वृष्टिसे होनेवाली पीडाओ ! [ यदि क्षेत्रियाणां स्थ ] यदि तुम यदा संबंधी रोगसे उत्पन्न हुई हो, [ यदि वा पुरुषेपिताः ] यदि मनुष्य की प्रेरणासे उत्पन्न हुई हो [ यदि दस्युभ्यः जाताः ] यदि तुम डाकुओंसे हुई हो, तुम सब [ इतः नश्यत ] यहाँसे हट जाओ ॥ ५ ॥

[ आशुः गाग्ना इव ] जैसे घोडा अपने स्थान को पहुँचता है उसी प्रकार [ आसा धामानि परि सरन् ] इन विपत्तियोंके मूल कारणको हट कर निकाल दो । [ वः सर्वाण् आजीन् अजैषु ] तुम्हारे सब संगमनों को जीत लिया है मिसने है [ सदान्वाः ] पीडाओ ! [ इतः नश्यत ] यहाँ से हट जाओ ॥ ६ ॥

( ३ ) निष्कारणक एक बुद्धि कमी न होना अर्थात् सदा संदेह रहना,

( ४ ) मन सदा कोपग्रस्तिते युक्त होना, ये सब विपत्तियाँ हैं, इनको पुष्ट्यार्थसे हटाना चाहिये ॥ १ ॥

जिसप्रकार पुत्रियाँ की विवाहादि करके घरसे दूर करती हैं उसी प्रकार इन विपत्तियोंको भी अपने पाससे दूर हटाना चाहिये । गीशा, लोखे, पारों, अपनी दृष्टिसे, अज्ञान या याँही रथ आदिके स्थानसे तथा मनकी वृत्ति से विपत्तियोंको हटानेका पुष्ट्यार्थ करना चाहिये ॥ ३ ॥

जो नीच वृत्तियोंको पर हैं वही विपत्ति, प्राप्ता तथा दुष्ट दुराचारोंभी रहते हैं ॥ ३ ॥

प्रजापालक राजाको चाहिये कि ऐसे दुष्टोंको अपने सुयोग्य साधनद्वारा दूर करे । किछी भी घरके अंदर दुष्टभाव आग्रह करने न पड़े ॥ ४ ॥

इन पाँदाओंमें कई तो आनुवंशिक रोगसे होनेवाली पीडाएँ होती हैं, कई तो मनुष्यके अपने व्यवहारसे उत्पन्न होती हैं, कई तो डाकुओंसे होती हैं इन सबको दूर करना चाहिये ॥ ५ ॥

जिसप्रकार घोडा अपना पाँव उठा कर प्रत्यक्ष स्थानपर पहुँचता है उसीप्रकार इन सब विपत्तियोंके मूल कारण देखकर, उन मूल कारणोंको अपनेमेंसे हटाना चाहिये । सब जीवनकालमें अपना चित्रक निःस्पन्द हो जाये, ऐसी अपनी तैयारी करने से और इच्छुक जीवनमुक्तमें आपत रहते हुए जिसप्रकार करीबों की ये सब पीडाएँ हट सकती हैं ॥ ६ ॥

**विपत्तियोंका स्वरूप ।**

इन मूलमें अनेक विपत्तियोंका वर्णन किया है यह प्रमत्ता देखिये—

१. नि. सत्ताला = सत्ता अर्थात् पर दार न होना, निषाग रथन न होना, बिध्र मटे लिये कोई स्थान न होना । ( मं० १ )

२. भृशु = यदा मयभीत रहना, दुर्गति करने रहना, अधिकतरबेसे या धर्मात्माभोगे करना, ऐसे कुछ कुर्म करने कि प्रियसे मनमें सदा डर रहे कि कोई आकर मुझे लकटे । इसका दृष्टा अग्निद अर्थ दूरियोंका करना भी है । भृशोंको मय दिग्गन्ता, पर्वता, दुर्गोंको मयभीत करके अपना स्वार्थ साधन करना २० ( मं० १ )

३. एषयायां धिनयो जिघत्स्य = एक निषय करनेवाली बुद्धि का नाश करनेवाला यात पातका स्वभाव । बुद्धि का नाश करनेवाला निषय देना है, इस निषयमयक बुद्धि का नाश करनेवाला स्वभाव । जिघत्से निषयमयक बुद्धि नहीं रहती होती, वही भेदमें ये रहना है । ( मं० १ )

४ चण्डस्य सर्वा नश्यः = कोषकी सब संतान । अर्थात् कोषसे जो जो आपत्तियाँ आना संभव है वे सब आपत्तियाँ । ( मं० १ )

५ स-दान्वाः ( स-दानवाः ) = अनुयोंका नाम दानव है । दानवका अर्थ है घान पात करनेवाले; गाँतमें आसुरी संपत्तिका वर्णन विस्तार पूर्वक है, उस प्रकारके लोक जो घात पात करने हैं उनका यह नाम है । दानव भावसे युक्त होना यह भी बड़ी भारी आपत्ति ही है । ( मं० १ )

६ अ-राध्यः = कंजुसीका भाव, निर्धनता, ऐश्वर्यका अभाव । ( मं० ३ )

७ सेदिः = क्रेश, महाक्रेश । शारीरिक कुशला, दुर्बलता । कुछ मो कार्य करनेकी सामर्थ्य न होना । ( मं० ३ )

८ यातुधान्यः = धन्यता न होना । चोर डकैति करनेवाले लोग और उनके सँसे घृणित भाव । ( मं० ३ )

ये सब आपत्तियाँ हैं। इनका विशेष विचार करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि प्रायः सबका परिचय इनके साथ है, अंशतः सब इनके क्षेत्रोंसे परिचित हैं । इसलिये सभी चाहते होंगे कि ये सब क्रेश दूर हों। इनके तीन भेद होते हैं—

### तीन भेद ।

१ क्षत्रियाः = अर्थात् कई आपत्तियाँ ऐसी होती हैं कि जो मनुष्य के स्वभावमें क्षत्रसे आयी होती हैं, वंशपरंपरासे प्राप्त होती हैं, जन्म स्वभावसे होती हैं । ( मं० ५ )

२ पुत्रवेष्टिता = दूसरी आपत्ति ऐसी होती है कि जो ( पुश्य-क्षेत्रा ) अन्य मनुष्योंकी कुटिल प्रेरणाओंके कारण होती हैं । ( मं० ५ )

३ दस्युभ्यः आताः = तीसरी आपत्तियाँ ऐसी हैं कि जो दस्यु चोर डाकू आदि दुष्टोंसे उत्पन्न होती हैं । ( मं० ५ ) आपत्तियोंके तीन भेद हैं ( १ ) अपने जन्म स्वभावसे होनेवाली, ( २ ) दूसरे पुष्टियोंकी कुटिल प्रेरणासे होनेवाली और ( ३ ) दुष्टोंके कारण होनेवाली । इन सब आपत्तियोंको अवश्य दूर करना चाहिये ।

कई आपत्तियाँ खानपान आदिके स्थानसे ही उत्पन्न होती हैं जैसे रोगादि आपत्तियाँ हैं, उनको दूर करनेके लिये उनके उद्गम स्थानमें ही प्रतिबंध करना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्रका कथन देखिये—

### आत्मशुद्धि और गृहशुद्धि ।

१ गोष्ठात् निः अजामसि— गोष्ठात् गोष्ठात् के कुपबंध में जिन रोगादि आपत्तियोंकी उत्पत्ति हो सकती है उसको दूर करना है । गोष्ठात्की वृत्तता करनेसे इन अश्लीलोंका नाश हो सकता है । ( मं० २ )

२ अपानसात् निः अजामसि — अपानके मल, अपवा वाहन आदिके स्थानमें जो कुछ दूष होये आपत्ति उत्पन्न होती है उनको शुद्धतासे इन आपत्तियोंको नष्ट होता है । ( मं० २ )

३ अक्ष्वात् निः अजामसि— अपनी दृष्टिके दोषसे जो जो पुत्र माव पैदा होते हैं, उनकी शुद्धि करने द्वारा मैं अपने अंदरके दोषोंको दूर करता हूँ । इस प्रकार संपूर्ण इन्द्रियोंके शुद्धिकरण द्वारा बहुतसी आपत्तियोंको दूर किया जा सकता है । आत्मशुद्धि की सुचना यहाँ मिलती है । ( मं० २ )



## नीचतामें विपत्तिका उगम ।

विपत्तिबोका उगम नीचतामें है इस बातको अधिक स्पष्ट करनेके लिये तृतीय मंत्रका उपदेश है । इसमें कहा है कि— 'जो यह (अथरात् गृहः) नीच घराना है वहा ही सब कञ्चुधियों, विपत्तियों, नाश, ऐश, कृशता और चोरी आदि दुष्ट भाव रहते हैं ।' नीच घरमें इनको उत्पत्ति है । 'अथर' शब्द यहा नीचताका व्योतक है । जो ऊपरवाला नहीं वह नीचेवाला है । जहां हीनता होगी वही आपत्तियोंका उगम होगा, इसमें कोई संदेह ही नहीं है ।

## राजाका कर्तव्य ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि ' (भूतपतिः इन्द्रः) प्राणिमात्रोंका पालन कर्ता राजा अपने वज्रसे (सदान्वाः) सब ऋकुओं को और (गृहस्थ सुप्र आर्वाणाः) घरके अंदर छिपे हुए सब दुष्टोंको दबा देवे ।' अर्थात् राजा अपने सुकथस्थित राजप्रबंधसे दुष्टोंको दूर करे और अपना राज्य सज्जनोंका घर जैसा बनावे । इस प्रकार उत्तम राजसूयन द्वारा दुष्टोंको प्रतिबंध होनेसे सज्जनोंका मार्ग सुल जाता है । सुराज्य होना भी एक बड़ा साधन है कि जिससे आपत्तियां कम होती हैं, या दूर जाती हैं ।

## जीवनका युद्ध ।

आपत्तियोंके स प झगडा करना, विपत्तियोंसे लड़ना और उनका पराभव करके अपना विजय घोषादन करना, यह एक मान्य उपाय है, जिससे आपत्तियां दूर हो सकती हैं । पाठक विचार करेंगे, तो उनको पता लग जायगा कि यह युद्ध हर एक स्थानपर करना पड़ता है । शरीरमें व्यापियोंसे झगडना है, समाजमें ऋकुतया दुष्टोंसे लड़ना होता है, राष्ट्रमें विदेशी शत्रुओंसे युद्ध करना होता है और विश्वमें अतिशुद्ध अनाशुद्ध अशुद्ध आदिसे युद्ध करना पड़ता है । इस छोटे मोटे कार्यक्षेत्रोंमें छोटे मोटे युद्ध करने ही होते हैं । इन युद्धोंको छिपे बिना और बड़ा अपना विजय प्राप्त छिपे बिना सुखमय जीवन होना असंभव है । वही बात इस सूक्तके पष्ठ मंत्रमें कही है—

यः सर्वान् आजीन् अजैपम् । ( मं० ६ )

'सब युद्धोंमें मैं विजय पाता हूं ।' इस प्रकार सब युद्धोंमें विजय पानेसे ही मनुष्यके पाससे सब विपत्तियां दूर हो जाती हैं और मनुष्य ऐश्वर्य सेवक हो जाता है । प्रत्येक युद्धमें अपना विजय होने सेतय चाकि अपने अंदर बडानी चाहिए । अन्यथा विजय होना असंभव है । शत्रुशक्तिके अपनी चाकि बड़ी रही तभी विजय हो सकता है अन्यथा पराजय होगा । पराजय होनेसे विपत्तियां बढ़गी । इस लिये शत्रुशक्तिकी अपेक्षा अपनी चाकि बडानी चाहिये और अपना विजय घोषादन करना चाहिये । विपत्तियों को दूर करकेना यह सुगम उपाय है, इसका विचार पाठक करें और अपनी विपत्तियों दूरानेके प्रयत्नोंमें दृढधार्य हो ।

पहिले जिनकी भी आपत्तियां मिली हैं उन सबके निवारण करनेके लिये यही एक मान्य उपाय है । इससे पहिले कई उपाय बताये हैं । राज साधन गुणबंध, आत्मशुद्धि, भाव शुद्धि, आदि सभी उपाय उत्तम ही हैं, परंतु सर्वत्र इस आत्मशुद्धि के उपाय की विशेषता है, यह बात भूलना नहीं चाहिये ।

प्रत्येक प्रकार पोषा चक्रकर अपने प्राप्तस्व स्थानपर पहुँचना है, उभी प्रकार मनुष्य भी प्रदान करके ही प्रत्येक स्थान पर पहुँचना है । इसलिये मनुष्य प्रयत्न करके ही पुनः योगे शिष्टिको प्राप्त करे । प्रत्येक सुखस्थान मनुष्यको पुनरागमे ही प्राप्त हो सकता है । पुनरागम प्रयत्नके बिना विपत्तियां दूर होना असंभव है ।

विपत्तियोंकी हटानेके विषयमें यह सूक्त बड़े महत्त्व पूर्ण आदेश दे रहा है । पाठक यदि इसका उत्तम विचार करेंगे तो उनको अपनी विपत्तियां हटानेका और संवत्सरा प्राप्त करनेका मार्ग अवश्य दिगाई देगा । आशा है कि पाठक इस सूक्तसे लाभ प्राप्त करेंगे ।

# निर्भय जीवन ।

( १५ )

[ ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः ]

यथा द्यौश्च पृथिवी च न विभीतो न रिप्यतः । एवा मे प्राण मा विभेः ॥ १ ॥  
 यथाईश्वरात्री च न विभीतो न रिप्यतः । एवा० ॥ २ ॥  
 यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न विभीतो न रिप्यतः । एवा० ॥ ३ ॥  
 यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न विभीतो न रिप्यतः । एवा० ॥ ४ ॥  
 यथा सत्यं चानृतं च न विभीतो न रिप्यतः । एवा० ॥ ५ ॥  
 यथा भूतं च भव्यं च न विभीतो न रिप्यतः । एवा मे प्राण मा विभेः ॥ ६ ॥

अर्थ- ( यथा द्यौः च पृथिवी च ) जिस प्रकार द्यौः और पृथिवी ( न विभीतः ) नहीं करते इसलिये ( न रिप्यतः ) नहीं घबराते, ( एवा ) ऐसे ही ( मे प्राण ) हे मेरे प्राण । ( मा विभेः ) तुम मत डर ॥ १ ॥

जिस प्रकार ( ब्रह्मः च क्षत्री च ) दिन और रात्री नहीं करते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते ॥ २ ॥

जिस प्रकार सूर्य और चन्द्र ॥ ३ ॥

ब्रह्म और क्षत्र ॥ ४ ॥

सत्य और अनृत ॥ ५ ॥

भूत और भविष्य नहीं करते इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते, इसी प्रकार हे मेरे प्राण । तुम मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ- धुल्लोक पृथ्वी, दिन रात्रि, सूर्य चन्द्र, मन्त्र क्षत्र, राजा क्षत्र, सत्य अनृत, भूत भविष्य अदि सब किछीसे भी डरते नहीं, इसलिये विनाशको प्राप्त नहीं होते । इस से बोध मिलता है, कि निर्भय कृति से रहनेसे विनाशसे बचनेकी संभावना है, अतः हे प्राण । तू इस क्षीरमे निर्भय कृतिसे साथ रह और अनुमृगुके भय को दूर कर ॥ १-६ ॥

## निर्भयतासे अमरपन ।

इस सूक्तका मुख्य उपदेश यह है कि ' जो नहीं करते जो निर्भयतासे अपना कार्य करते हैं वे नाशको प्राप्त नहीं होते । ' उदाहरणके लिये द्यौः पृथ्वी, दिन रात्रि, सूर्यचन्द्र, ब्रह्मा नाम इस सूक्तमें लिखा है । दिन रात्रि या सूर्यचन्द्र बिगुना भय न करते हुए निःपरशतासे अपना कार्य करते हैं । सम्य होता हो उदय होना या अस्तको जाना अदि इनके लय कार्य पर्याप्त न चलते रहते हैं । किसीकी चर्चा नहीं करते, किसीकी विचारण नहीं सुनते, किसीपर दया नहीं करने भयान किसीपर क्रोध भी नहीं करते । अपना नियत कार्य करते जाते हैं इसलिये वे किसीसे डरते नहीं; अतः वे विनाशको भी प्राप्त नहीं होते । इसलिये जो मनुष्य निरह होकर अपना कर्म्मवर्धन करना, वह भी निरह को प्राप्त नहीं होगा । ( सं० १-६ )

तुम्हें अपना कर्तव्यकर्म योग्य रीतिसे करते जाय । जिन ब्राह्मण क्षत्रियोंने ऐसे निन्द्य भावसे अपने कर्तव्य कर्म किये हैं वे अपने घर से इस समय तक जीवित रहे हैं । और आगेभी वे मार्गदर्शक बनेंगे । ऐसे आदर्श ब्राह्मणों और आदर्श क्षत्रियोंका उदाहरण नम्रुख रखकर अन्य लोग भी मय छोड़कर अमरवृत्तिसे अपने कर्तव्य कर्म करते रहेंगे तो वे भी अमर बनेंगे ।

### सत्य और अनृत ।

सत्य और अनृत भी इसी प्रकार किसीकी अपेक्षा नहीं करते । जो सत्य होता है-वही सत्य होता है और जो असत्य होता है वही असत्य होता है । कई प्रसंगोंमें सत्ताधारी मनुष्य अपने अधिकारके बलसे सत्यको असत्य और असत्य सत्य कर देते हैं; परंतु यह बात थोड़े समयके बाद प्रकट होजाती है और अधिकारियोंकी पोल भी उसके साथ खुल जाती है । इस लिये धृष्ट माय किसीके दबावसे कुछ न कुछ बन जाय यह बात अलग है; परंतु अंतमें जाकर सत्य और अनृत अपने असलरूपमें प्रकट होने बिना नहीं रहते । इसलिये सदा सत्य पक्षका ही अवलंब करना चाहिये, जिससे मनुष्य निर्मम बनकर शाश्वत पदका अधिकारी होता है ।

### भूत और भविष्य ।

पद्य मंत्रमें भूत और भविष्य इन दो कालोंके विषयमें कहा है कि, वे किसीके करते नहीं । यह बिलकुल सत्य है । सबका एक वर्तमान कालमें ही होता है । जो करनेवाले बादशाह थे, जिन्होंने अपनी तलवारके डरसे लोगोंको सत्तावा, वे अब भूतकालमें होगये हैं । उनका डर अब नहीं रहा है और वे अपने असली रूपमें जनताके सम्मुख खड़े होगये हैं । साधारणसे साधारण इतिहास तत्त्वका विचार करनेवाला भी उनको अपने मतसे दोषी ठहराता है और वे अब उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सकते । क्योंकि वे भूत कालमें दब गये हैं । इसलिये बड़े प्रतापी राजा भी भूत कालमें दब जानेके पश्चात् एक साधारण मनुष्य के सदृश असहाय हो जाते हैं । इतना भूतकालका प्रभाव है । पाठक इस कालके प्रमाश को देखें । समस्त समर्थ भी इस भूतकालमें जब दब जाता है, तब उसका सामर्थ्य कुछ भी नहीं रहता । परंतु जो धर्मात्मा सत्यनिष्ठ सत्पुरुष होते हैं, उनकी शक्ति अभी भूतकालसे मजबूती आती है । रावणका पशुबल उसी समय हरएकको भी दबा सकता था, परंतु भगवान् रामचंद्रजीका आत्मिक बल उस समयही विजयी हुआ, इतनाही नहीं प्रायुत आज भी अनंत लोगोंको मार्गदर्शक हो रहा है । यह भूत कालका महिमा दोखिये । भूतकाल निन्द्य है किसीकी पराई नहीं करता और सबको असली रूपमें सबके सामने कर देता है ।

भावित्य काल भी इसी प्रकार है । अशक्तोंको भविष्य कालमें भी अपने सत्पक्षका विजय होनेकी आशा रहती है । अथमेंके शासनके अंदर दबे लोग भविष्य कालकी ओर देखकर ही जीवित रहते हैं । क्योंकि वर्तमान कालका डर भविष्यमें नहीं रहता जहां भूत कालका डर आज भी रहता है ।

पाठक इससे जान गये होंगे कि, भूत और भविष्य इन दो कालोंके निन्द्य होनेका तात्पर्य क्या है । इस बातको देखकर मनुष्य मात्र यह बात समझे कि सत्यका ही जय होगा है, इसलिये सत्यके आधारसे ही मनुष्य अपना व्यवहार करे और निन्द्य पक्ष पर अपना कर्तव्य चलन करे ।

अमर वृत्तिसे ही अमरपन प्राप्त हो सकता है ।

# विश्वंभर की भक्ति ।

( १६ )

( ऋषिः-ब्रह्मा ) देवता-प्राणः, अपानः, आयुः )

प्राणापानौ मृत्योर्मां पातुं स्वाहा	॥ १ ॥
द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातुं स्वाहा	॥ २ ॥
सूर्यं चक्षुषा मा पाहि स्वाहा	॥ ३ ॥
अग्नें वैश्वानरं विश्वेर्मा देवैः पाहि स्वाहा	॥ ४ ॥
विश्वंभरं विश्वेन मा भरता पाहि स्वाहा	॥ ५ ॥

मर्थ-हे प्राण और अपान ! तुम दोनों ( मृत्योः मा पातुं ) मृत्युमे मुझे बचाओ ( स्वाहा ) मैं आप समर्पण करता हूँ ॥ १ ॥

हे शुद्धोक्त और पृथ्वी लोक ! ( द्यापृथ्वी मा पातुं ) अन्न वाकिते मेरी रक्षा करो ॥ २ ॥

हे सूर्य ! ( चक्षुषा मा पाहि ) दर्शन वाकिते मेरी रक्षा कर ॥ ३ ॥

हे वैश्वानर भग्न ! ( विश्वेः देवैः मा पाहि ) संतुल देवोंके साथ मेरी रक्षा कर ॥ ४ ॥

हे विश्वंभर ! ( विश्वेन भरता मा पाहि ) संतुल पोषण वाकिते मेरी रक्षा कर, ( स्वाहा ) मैं आपसमर्पण करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ-प्राण और अपान मृत्युमे बचावें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी भवण वाकिते सदापताउ, सूर्य दर्शन वाकिते मेरा बचाव करे ॥ २-३ ॥

विश्वंभरक सुवर्ण तथा विश्व वाकिते द्वारा तथा विश्वंभर ईश्वर भग्नके संरक्षण वाकिते द्वारा मेरी रक्षा करे मैं भग्न आपकी उनीची रक्षामें समर्पित करता हूँ ॥ ४-५ ॥

यह जगत्पालक मुख्य पुंश भी सर्व जगत् में व्यापक हो रहा है । सर्व चन्द्रादि सब ( विश्वैः देवैः ) अन्य देव इषीके वशमें रहते हैं और अपना अपना कार्य करते हैं । इसीकी आज्ञा पालन करनेवाले सब अन्य देव हैं । ये अन्य देव इषीके सहचारी देव हैं ।

### एक उपास्य ।

पाठक इस सूक्तके ये दो शब्द 'विश्वंभर और वैश्वानर' देखें और इनके मननसे अद्वितीय उपास्य परमात्म देवकी भक्ति करना सीखें । वह सब जगत्का भरण पोषण करनेवाला है इस लिये वह हमारा भी भरण पोषण करेगा ही इसमें क्या संदेह है । जिसने जन्म देनेके पूर्व ही माताके स्तनोंमें बालकके लिये दूध तैयार रखा होता है, उसकी सार्वत्रिक भरण पोषण शक्ति कितनी विशाल है, इससे कल्पना हो सकती है । ऐसे अनन्त सामर्थ्यशाली विश्वंभरकी भक्ति करना ही मनुष्य मात्रका कर्तव्य है ।

### देवोंद्वारा रक्षा ।

सूर्य मैत्र इन्द्रियमें दर्शन शक्ति रख कर मनुष्य की रक्षा कर रहा है, वाया पृथिवीमें तारों और फैली हुई दिशाएं कर्ण इन्द्रियकी श्रवण शक्तिद्वारा मनुष्यकी रक्षा कर रही हैं । इसी प्रकार प्राण और अपान शरीरमें रक्षा कर रहे हैं यह बात हरएकको यदा प्रत्यक्ष हो सकती है । इसी तरह अन्यान्य देव अन्यान्य स्थानोंमें रहते हुए हमारी रक्षा कर रहे हैं ।

यह सब उषी विश्वंभर की कृपासे हो रहा है इस का अनुभव करके उषी एक अद्वितीय प्रभुकी भक्ति करना हरएक मनुष्यके लिये योग्य है । आज्ञा है कि इस रीतिसे विश्वंभरकी भक्ति करके पाठक शाश्वत कल्याणके भागी होंगे ।

## आत्मसंरक्षण का बल ।

( १७ )

(ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-प्राणः, अपानः, आयुः)

ओजोऽस्योर्जो मे	दाः	स्वाहा	॥ १ ॥
सहोऽसि सहो मे	दाः	स्वाहा	॥ २ ॥
बलमसि बल मे	दाः	स्वाहा	॥ ३ ॥
आयुर्स्वायुर्मे	दाः	स्वाहा	॥ ४ ॥
धेत्रमसि धेत्र मे	दाः	स्वाहा	॥ ५ ॥

अर्थ—( ओजः बल ) ए सांसारिक सामर्थ्य है, ( मे ओजः दाः ) मुझे शरीर सामर्थ्य दे ॥ १ ॥

ए ( सहः असि ) सहज शक्तिसे मुक्त दे ( मे सहः दाः ) मुझे सहजशक्ति दे ॥ २ ॥

ए बल स्वरूप दे मुझे बल दे ॥ ३ ॥

ए ( आयुः बल ) आयु लयांग जीवनशक्ति दे मुझे यह जीवनशक्ति दे ॥ ४ ॥

ए ( धेत्र ) धनशक्ति दे मुझे यह धनशक्ति दे ॥ ५ ॥

चक्षुरसि चक्षुर्मे द्राः स्वाहा

॥ ६ ॥

परिणामसि परिपाणं मे द्राः स्वाहा

॥ ७ ॥

( इति तृतीयोऽनुवाकः । )

अर्थ—तू ( चक्षुः ) दर्शन शक्ति है मुझे दर्शन शक्ति दे ॥ ६ ॥

तू ( परिपाणं असि ) सब प्रकारसे आत्मरक्षा करनेकी शक्ति है मुझे आत्मसंरक्षण करनेकी शक्ति दे । ( स्वाहा ) मैं आत्मसमर्पण करता हूँ ॥ ७ ॥

भावार्थ—हे ईश्वर ! तू सामर्थ्य, पराक्रम, बल, जीवन, अथवा, दर्शन और परिपालन इन शक्तियों से युक्त है, इसलिये मुझे इन शक्तियोंका प्रदान कर ॥ ( १-७ )

( १८ )

( ऋषिः-चातनः । देवता-अग्निः )

आतुव्यक्षर्यणमसि आतुव्यचातनं मे द्राः स्वाहा

॥ १ ॥

सपत्नक्षर्यणमसि सपत्नचातनं मे द्राः स्वाहा

॥ २ ॥

अरायक्षर्यणमस्यरायचातनं मे द्राः स्वाहा

॥ ३ ॥

पिश्राचक्षर्यणमसि पिश्राचचातनं मे द्राः स्वाहा

॥ ४ ॥

सदान्वाक्षर्यणमसि सदान्वाचातनं मे द्राः स्वाहा

॥ ५ ॥

अर्थ—तू ( आतुव्यचातनं ) वैरघोका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है मुझे वह बल दे ॥ १ ॥

तू सपत्नघोका नाश करनेकी शक्तिसे युक्त है, मुझे वह बल दे ॥ २ ॥

तू ( अ-राय-क्षरणं ) निर्धनताका नाश करनेका बल रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ३ ॥

तू ( पिश्राच-क्षरणं ) मांस चूसनेवालोंका नाश करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे ॥ ४ ॥

तू ( स-दान्वाक्षरणं ) आसुरी वृत्तियों को दूर करनेकी शक्ति रखता है, मुझे वह बल दे, मैं ( स्वाहा ) आत्मसमर्पण करता हूँ ॥ ५ ॥

भावार्थ—वैरी, शत्रु, कंजुष, सूतचूष और आसुरीवृत्तिवाले इनसे बचनेकी शक्ति तेरे अंदर है, वह शक्ति मुझमें स्थिर कर, मैं अपने आप को तेरे लिये अर्पण करता हूँ ॥ १-५ ॥

बलकी गणना ।

इन दो सूक्तोंमें आत्म संरक्षणके लिये आवश्यक बलोंकी गणना की है, वह बल ये हैं—

१ ओजः—शुल सरीरकी शक्ति, पुष्टीका बल,

२ सहाय—शीत तप्य अथवा अन्यथा इन्द्र सहन करनेकी शक्ति । अपना कर्तव्य करनेके समय जो भी कष्ट सहन करनेकी आवश्यकता हो, वे कष्ट आनन्दसे सहन करनेकी सदा तैयारी रखनेका नाम सहा है । शत्रुपक्ष इसका आग्रह तो उठाने में काम तथा अपना स्थान न छोड़ना, अर्थात् शत्रुका हमला आग्रह तो भी अपने स्थानमें ठहरना । वह भी एक सहा शक्ति ही है । सहज ही में शत्रुसे पराभूत न होना, इतना ही नहीं परंतु शत्रुसे बन्धी वास्तविकता ही न होना । शत्रुके हमले सहन करके सम्मानमें स्थिर रहना और शत्रुको परास्त करना या शत्रुके ऊपर आक्रमण करना ।

३ बल—सब प्रकारके बल । आभिक, बौद्धिक, मानसिक, इंद्रिय विवरक आदि शिष्टों में बल शत्रुपक्षी उड़नेके लिये आवश्यक होने है वे सब बल ।

४ आयुः—दीर्घ आयु, आरोग्य पूर्ण दीर्घायु ।

५ श्रोत्रं—कान आदि इंद्रियोंकी शक्तिया । श्रवणसे प्राप्त हेमिवाली अप्रत्यक्ष शब्दविद्या ।

६ चक्षुः—चक्षु आदि इंद्रियोंकी शक्तिया । प्रत्यक्ष प्रयोगजन्य विज्ञान ।

७ परिणामं—परिणाम की शक्ति । अपनी ( पूर्ण ) संरक्षण करनेकी शक्ति । ( परि ) सब प्रकारसे अपना ( पाणं ) संरक्षण करनेकी शक्ति ।

८ ज्ञातृव्य—क्षयणं—ज्ञातृव्य शब्दका अर्थ यहा विशेष मनसे देखना चाहिये । दो भाईयोंके पुत्र आपसमें ज्ञातृव्य कहलाते हैं । यह घरमें ज्ञातृव्यपन है । इसी प्रकार दो राजा आपसमें भाई होते हैं और उनकी प्रजा आपसमें “ ज्ञातृव्य ” कहलाती है । इनमें बारंबार युद्ध प्रसंग होते हैं । ऐसे राष्ट्रीय युद्धमें क्षत्रु पक्षका निराकरण करनेकी शक्ति अपनेमें बढानी चाहिए तभी विजय होगा । अन्यथा पराभव होगा । राष्ट्रीय चतुरंग खेलकी सिद्धता करनेकी बात इस शब्द द्वारा बताई है । यह राष्ट्रके बाहरके क्षत्रुसे युद्ध है ।

९ सपनस्रवणं—एक राज्यके अंदर पक्ष प्रतिपक्ष हुआ करते हैं । इन पक्ष भेदों का नाम “ सपन ” है क्योंकि ये एकही पक्षके अंदर हुआ करते हैं । इनमें विविध प्रकारकी स्पर्धा होना स्वाभाविक है । इस स्पर्धामें विजय प्राप्त करने वा अन्य घराणोंकी हटाकर अपना विजय सिद्ध करनेका यह नाम है । यह राष्ट्रके अंतर्गत युद्ध है ।

१० अरायक्षयणं—राय शब्द घनका वाचक है और अराय शब्द निर्धनताका वाचक है । यह निर्धनता सब प्रकारसे दूर करना आवश्यक है । वैश्यों और कारीगरोंके लक्ष्यसे यह बात साध्य हो सकती है ।

११ विषाचक्षयणं—रक्तमांस चूसनेवालोंका नाम विषाच है । ( पिशितायु-विषाच ) रक्त पीनेवाले रोग भी हैं जिनमें रक्त की क्षीणता होती है । मनुष्योंमें ये रोग कि ओ रक्त मांस भोजी होते हैं । इनमें भी कच्चा मांस खानेवाले विशेषकर विषाच कहलाते हैं । समाज से इनको दूर रखना योग्य है ।

१२ स दान्वाक्षयणं—( स—दानव—क्षयणं ) अथुर राक्षसोंका नाश करना, या उनको दूर करना । यह घुराणोंमें “ देवा ” दूर युद्ध ” नामसे प्रसिद्ध है । आज भी अपने समाजमें क्या तथा अन्य समाजोंमें क्या देवाघुरोंके झगडे चलहा रहे हैं और उनमें अघुरोंका पराभव होना ही आवश्यक है यह सब बात स्पष्ट होनेके कारण इसका अधिक विचार यहाँ करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

### स्वाहा विधि ।

ये बारह बल अपने अंदर लाने चाहिये । इन बलोंका उपयोग करनेकी रीति भी विभिन्न हो सकती है । पाठक प्रत्येक बलक और उसके प्रयोग होनेका अच्छी प्रकार मनन करेगें तो उनको इस बातका पता लग सकता है । दूशोंका घातघात करनेके कार्य में अपने बलका उपयोग करना तो सब जानतेही हैं, परंतु इन दो सूक्तोंमें इन बालों का उपयोग “ स्वाहा ” विधिसे करनेकी कहा है । “ स्वाहा ” विधिको तात्पर्य ‘ आत्मसर्वस्वका समर्पण ’ करना है । पूर्णकी अलाईके लिये अंशका यज्ञ करना स्वाहाया तात्पर्य है ।

इस स्वाहा यज्ञ द्वारा उक्त शक्तियाँ अपने अंदर बढजाय और इसी स्वाहा विधि द्वारा उनका उपयोग किया जाय, यह उपदेश इन सूक्तोंमें विशेष महत्त्व रखता है ।

स्व = अपना  
हा = त्याग } — आत्म—सर्वस्व—समर्पण ।

यह विधि आत्मयज्ञ ही दूरा नाम है । यह विधि शक्तियोंका उपयोग करनेकी आद्यप्रवृत्ति बता रहा है । शास्त्रादि पद-निर्मे तो दूशोंका विनाश मुख्य बात है और आत्मयज्ञविधि स्वाहा अर्थात् आत्मसमर्पण मुख्य बात है । सब क्षत्रुनाश या क्षत्रु-घार एही विधिसे पैदा करना यह एक बड़ी समस्या है । परंतु पाठक इसका बहुत विचार करेगें तो इस समस्याका हल स्वयं ही बचना है । क्योंकि यह स्वाहाविधि यज्ञका मुख्य अंगही है ।

दोनों सूक्तोंमें बारह मंत्र हैं । प्रत्येक मंत्र में जो शक्ति पायी है, उसके साथ " स्वाहा " का उल्लेख हुआ है । पाठक विचार करेंगे तो उनको पता लग सकता है कि यह एक प्रचंड शक्ति है । यदि ये शक्तियाँ मनुष्यमें विकसित हो गई और साथ साथ उसमें स्वायत्त भी बढ़ता गया तो कितनी दानों की संभावना है । एकही शारीरिक शक्तिकी बात देखिए । कोई बड़ा मज्ज है, बड़ा बलवान् है, यदि वह स्वायत्त खुदगर्ज हुआ तो वह बहुत कुछ दानि कर सकता है । परंतु यदि वह मज्ज अपनी विशाल शक्तिका उपयोग परोपकारके धर्ममें करेगा, अथवा अपने शारीरिक बलको परमात्मसमर्पणमें लगावेगा, तो कितना काम हो सकता है । इसी प्रकार अन्योन्य शक्तियोंके विषयमें जानना चाहिए । आत्म समर्पणसेही शक्तिका सच्चा उपयोग हो सकता है । और सच्चाहित भी हो सकता है ।

इस लिए इन दो सूक्तोंमें बारह बार " स्वाहा " का उच्चार करके आत्मसमर्पण का सबसे अधिक उपदेश किया है । जो जो शक्ति अपनेमें बढेगी, उस उस शक्तिका उपयोग में आत्मसमर्पण की विधिसे ही करेगा ऐसा विषय मनुष्य को करना चाहिए तभी उसकी उन्नति होगी और उसके प्रयत्नसे जनताकी भी उन्नति हो सकती है ।

## शुद्धि की विधि ।

( १९-२२ )

( ऋषिः-अथर्व । देवता १९ अग्निः, २० वायुः, २१ सूर्यः २२ चन्द्र, २३ आपः )

( १९ ) अग्ने॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ योऽस्मान्दे॒ष्टी यं वृ॒षं द्रि॒ष्मः ॥ १ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ योऽस्मान्दे॒ष्टि ० ॥ २ ॥

अग्ने॒ यत्तेऽर्चि॑स्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो० ॥ ३ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ शोचि॑स्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो० ॥ ४ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तेज॑स्तेन॒ तम॑तेज॒सं कृ॒णु॒ यो० ॥ ५ ॥

( २० ) वायो॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो० ॥ १ ॥

वायो॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो० ॥ २ ॥

वायो॒ यत्तेऽर्चि॑स्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो० ॥ ३ ॥

वायो॒ यत्ते॒ शोचि॑स्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो० ॥ ४ ॥

वायो॒ यत्ते॒ तेज॑स्तेन॒ तम॑तेज॒सं कृ॒णु॒ यो० ॥ ५ ॥

( २१ ) सूर्य॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो० ॥ १ ॥

सूर्य॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो० ॥ २ ॥



सूर्यं यत्तुऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो०	॥ ३ ॥
सूर्यं यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो०	॥ ४ ॥
सूर्यं यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो०	॥ ५ ॥
( २२ ) चन्द्रं यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो०	॥ १ ॥
चन्द्रं यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो०	॥ २ ॥
चन्द्रं यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो०	॥ ३ ॥
चन्द्रं यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो०	॥ ४ ॥
चन्द्रं यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो०	॥ ५ ॥
( २३ ) आपो यद्वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो०	॥ १ ॥
आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो०	॥ २ ॥
आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चित यो०	॥ ३ ॥
आपो यद्वो शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो०	॥ ४ ॥
आपो यद्वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विष्मः॥ ५ ॥	

अर्थ—हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, और आप देवता । आपके अंदर जो ( तपः ) तपानेकी शक्ति है उससे ( तं प्रति तप ) उसको तप करो ( यः अस्मान् देष्टि ) जो अकेला हम सबका द्वेष करता है और ( यं वयं द्विष्मः ) जिसका हम सब द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर ( हरः ) हरण करनेकी शक्ति है उससे उसका ( प्रतिहर ) दोष हरण करो जो हमारा द्वेष करता और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ २ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर ( अर्चिः ) दीपन शक्ति है उससे उसका ( प्रत्यर्च ) संदीपन करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर ( शोचिः ) शुद्ध करनेकी शक्ति है उससे उसको ( प्रति शोच ) शुद्ध करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ४ ॥

हे देवो ! जो आपके अंदर ( तेजः ) तेज है उससे उसको ( अतेजसं ) अतेजस्वी करो जो हमारा द्वेष करता है और जिसका हम द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भाषार्थ—हे अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप देवो ! आपके प्रत्येकके अंदर तप, हर, अर्चि, शोचि, और तेज ये पांच शक्तियाँ हैं, इसलिये कृपा करके हमारे देवोंको इन शक्तियोंसे परिशुद्ध करो; क्योंकि उनको तपाकर, उनके दोषोंको हटाकर, उनमें आंतरिक प्रकाश उत्पन्न करके, उनकी शुद्धि कराके और उनको आपके दिव्य तेज से प्रभावित करके शुद्धि करो । जिस से वे कभी किसीका द्वेष न करेंगे और मिलजुल कर आनंदसे रहेंगे ॥

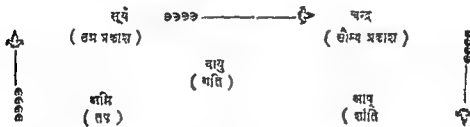
## पांच देव

इन पांच सूक्तोंमें पांच देवताओंकी प्रार्थना की गई है अथवा दुष्टोंके सुधारके कार्य में उनसे शक्तियोंकी याचना की गई है । ये पांच देवताएं ये हैं—

“ अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र, आपः ”

अग्निमें तपानेकी शक्ति, वायुमें हिलानेकी शक्ति, सूर्यमें प्रकाश शक्ति, चन्द्रमें सौम्यता, और आप ( जल ) में पूर्ण शक्ति है । अर्थात् ये देवताएं इस व्यवस्थासे एकके पश्चात् दूसरी आगई हैं कि पहिले तपानेसे प्रारंभ होकर सबसे अन्तमें शक्ति मिल जावे । अंतिम दो देव चंद्र और आप पूर्ण शक्ति देनेवाले हैं । अग्नि और सूर्य तपाने वाले हैं और वायु प्राणगति या जीवन गतिका दाता है । यदि पठक यह व्यवस्था देखेंगे तो उनको दुष्टोंका सुधार करनेकी विधि निश्चयसे ज्ञात होगी ।

## पंचायतन ।



पहिले अग्नि तपाता है, वायु उसमें गति करता है और ये दोनों सूर्यके उग्र प्रकाशमें उभे रखे होते हैं । उसके पश्चात् चंद्रमाका सौम्य प्रकाश आता है और पश्चात् जल सबसेकी पूर्ण शक्ति या शान्तिमय जीवन उसे प्रप्त होता है । शुद्ध होनेका यह मार्ग है । यह क्रम विशेष महत्त्वपूर्ण है । और इसी लिए इन पांचों सूक्तोंका विचार यहां इच्छा किया है ।

## पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ ।

पांच देवोंकी पांच शक्तियाँ इन सूक्तोंमें वर्णन की हैं । उनके नाम ये हैं ।

“ तपः, हरः, अग्निः, गोचिः, तेजः ” ये पांच शक्तियाँ हैं । ये पांचों वाधियों प्रत्येक देवके पाठ हैं । इन्हें पठकर जान सकते हैं कि हर एक का ये शक्तियाँ भिन्न हैं । अग्निका तेज, सूर्यका तेज और जलका तेज भिन्न होनेमें विशेषता भी पाई नहीं हो सकती । इसलिए प्रत्येक देवताके पाठ ये पांच शक्तियाँ हैं, परंतु उनका हर एक और कार्य भिन्न भिन्न ही है । जैसा ‘हरः’ नामक शक्ति विषयमें देखिये । हरः का अर्थ है “ हरण करना ” हर लेना । यहां इस एकही शक्तिका उपयोग पांच देव क्रिप्र प्रचार करते हैं, देखिये—

लिए पत्नीसंछाननियोंसे छाना जानेकी आवश्यकता है, यह बात पाठक विचार करनेसे सहज हीमें जान जायेंगे ।

यह शुद्धिकी विधि देखनेके लिए हमें यहा इन पांच गुण शाक्तियोंका अवश्य विचार करना चाहिये—

१ तपः तपान्, तपना । इसका अर्थवत् यहा भारी है । सुवर्णादि धातु अग्निमें तपनेसे ही शुद्ध होते हैं । काविक वाचिक मानसिक तपसे ही मनुष्यकी शुद्धि होती है । तपना अनेक प्रकारसे होता है । तप बहुत प्रकारके हैं उन सब का उद्देश्य शुद्धि करना ही है ।

२ हर—हरण करना, हरलेना । दोषोंकी हरण करना, दोषोंको दूर करना । सुवर्णादि धातुओंकी अग्निमें तपानेसे दोष दूर होते हैं और उनकी शुद्धता होती है । इसी प्रकार अन्योन्य तप करनेसे दोष दूर होवें हैं और शुद्धि होती है ।

३ अर्चिः—अर्च धातुका अर्थ 'पूजा और प्रकाश' है । पूर्वोक्त दो विधियों द्वारा शुद्धता होनेके पश्चात् यह पूजा या उपासना का प्रकाश सब मनुष्यके अंदर फैला जाता है । दोष दूर होनेके पश्चात् ही यह होना है इससे पूर्व नहीं ।

४ तोचि—शुचि धातुका अर्थ शोधन करना है । शुद्धता करना । तप, दोषहरण और अर्चनके पश्चात् शोधन हुआ करता है । शोधन का अर्थ बारीकसे बारीक दोषोंकी हटाना । हरण और शोधन में जो भेद है वह पाठक अवश्य देखें । स्थूल दोषोंका हरण होता है और सूक्ष्म दोषोंका शोधन हुआ करता है इस प्रकार शोधन होनेके पश्चात्—

५ तेजः—तेजन करना है । तिज् धातुका अर्थ तेजकरना और पालन करना है । राज्ञ की धारा तेज की जाती है इस प्रकारका तेजन यहा अर्थात् है । सीखा करना, तेज करना, शुद्धिकी तीव्रता संपादन करना ।

उदाहरण के लिये सोहा लीजिये । पहेले ( तपः ) तपाकर उसकी गर्म किया जाता है, पश्चात् उसके दोष ( हरः ) दूर किए जाते हैं, पश्चात् उसकी किसी आकारमें ढाला, अर्चिः ) जाता है, मंतर ( तोचि ) पानीमें छुसाकर जल मिलाया जाता है और तत्पश्चात् ( तेजः ) उस पदार्थकी तेज किया जाता है । यह एक चक्कर घूरी आदि बातोंकी साधारण बात है, इसमें भी न्यूनाधिक प्रमाणसे इन विधियोंकी उपयोगिता होती है । फिर मनुष्य जैसे अष्ट जीवोंकी शुद्धताके लिये इनकी उपयोगिता अत्यन्त रीतियोंसे होगी इसमें कहनेकी क्या आवश्यकता है ! तात्पर्य " तपन, हरण, अर्चन, शोधन, और तेजन " यह पांच प्रकारका शुद्धिका विधि है, जिससे दोषी मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । शुद्ध मनुष्य का सुधार करके उसको पवित्र महात्मा बनानेकी यह वैदिक रीति है । पाठक इसका बहुत मनन करें ।

### मनुष्यकी शुद्धि ।

अब यह विधि मनुष्यमें किस प्रकार प्रयुक्त होती है इसका विचार करना चाहिए । इस कार्य के लिए पूर्वोक्त देव मनुष्यमें कहा और किस रूपमें रहते हैं इसका विचार करना चाहिए । इसका निश्चय होनेसे इस शुद्धिकारण विधिका पता स्थूल लग सकता है । इस लिये पूर्वोक्त पांच देव मनुष्यके अंदर कहा और किस रूपमें विराजमान हैं यह देखिये—

### देवतापंचायतन ।

मनुष्यमें अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र, और आप् ने पांच देवताएं निरालिखित रूपसे रहती हैं—

१ अग्नि [ अग्निर्वाक् भूत्वा मुखं प्राविशत् ] = अग्नि नाभीया रूप धारण करके मनुष्यके मुखमें प्रविष्ट हुआ है । अर्थात् मनुष्यके अंदर अग्नि का रूप वाक् है ।

२ वायुः ( वायुः प्राणो मूर्त्वा नासिकं प्राविशत् ) = वायु प्राण का रूप धारण करके नासिका द्वारा अंदर प्रविष्ट हुआ है ।

३ सूर्यः ( सूर्यः अक्षर्भूत्वा अक्षिणी प्राविशत् ) = सूर्य नेत्रेन्द्रिय बनकर आँखोंमें प्रविष्ट हुआ है ।

४ चन्द्रः ( चन्द्रमा मनो मूर्त्वा हृदयं प्राविशत् ) = चंद्र देव मन का रूप धारण करके हृदयमें आ गया है ।

५ आपः ( आपो रेतो मूर्त्वा निरन प्राविशत् ) = जल रेत बन कर शिफ्टके स्थानपर गया है ।

ये पांच देव इन पांच रूपोंमें अपने आपको ढाल कर मनुष्यके देहमें आकर इन स्थानोंमें बसे हैं । यह बात विशेष विस्तार पूर्वक ऐतरेय उपनिषद्में लिखी है, वहांही पाठक देखें । यही जो वाक्य ऊपर लिखे हैं वे ऐतरेय उपनिषद् ( ऐ० उ०— ११२ ) मेंसेही लिए हैं । इन वाक्योंके मननसे पता लगेगा कि इन देवोंका शरीरमें निवास कहाँ है । अब ये अर्थ लेकर पाँच मंत्रोंसे अर्थ देखिए—

सूक्त १९ = [ अग्नि-वाणी ] = हे वाणी ! जो तेरे अंदर तप है उस तपसे उसको तप्त कर जो हमारा देव करता है । तथा जो तेरे अंदर हरण शक्ति है, उससे उसीके दोष हरण कर, जो तेरे अंदर दीपन शक्ति है उससे उसीका अंतःकरण प्रकाशित कर, जो तेरे अंदर बोधक गुण है उससे उसकी शुद्धी कर और जो तेरे अंदर तेज है उससे उसीकी तेजस्वी बना । १—५ ॥

सूक्त २० = [ वायु = प्राण ] = हे प्राण ! जो तेरे अंदर तप, दोष-हरण-शक्ति, दीपन शक्ति, बोधन शक्ति और तेजनशक्ति है, उन शक्तियोंसे उसके दोष दूर कर कि जो हम सबका देव करता है ॥ १—५ ॥

इसी प्रकार अन्योन्य सूक्तोंके विषयमें जानना योग्य है । प्रत्येक की पांच शक्तियाँ हैं और उनसे जो शुद्धता होती है, उसका मार्ग निश्चित है, वह इस अर्थसे अब स्पष्ट हो चुका है । जो वायु देवताएँ हैं उनके अंतः हमारे अंदर विद्यमान हैं, उन अंतोंका अनुकूलता प्रातिकूलतासे ही मनुष्यका सुधार या असुधार होता है । यह जानकर इस रीतिसे अपनी शुद्धता करनेका यत्न करना चाहिये, तथा जो देव करनेवाले दुर्जन होंगे उनके सुधारका भी इसी रीतिसे यत्न करना योग्य है ।

### शुद्धिकी रीति ।

शुद्धिकी रीति पंचविध है अर्थात् पांच स्थानोंमें शुद्ध होनी चाहिए तब दोषगुण मनुष्यकी शुद्धता हो सकती है । इसका संक्षेपसे वर्णन देखिए—

१ वाणीका तप—सबसे पहिले वाणीका तप करना चाहिए । जो शुद्ध होना चाहता है या जिसके दोष दूर करने हैं, तब भी सबसे प्रथम वाणीका तप करना चाहिये । सत्य भरण, मौन आदि वाणीका तप प्रविष्ट है । वाणीके अंदर जो दोष होंग उनको भी दूर करना चाहिये । वाणीमें प्रत्यक्ष या प्रसन्नता लानी चाहिए, जो बोलना है वह उसपरानिधि परेगुप्त विचारों से युक्त ही बोलना चाहिए । इस प्रकार वाणीकी शुद्धता करनेका यत्न करनेसे वाणीका तेज अर्थात् प्रभाव बहुत बढ जाता है और हरएक मनुष्य उससे शब्द सुननेके लिए उत्प्रेरित हो जाता है । ( सू० १९ )

२ प्राणका तप—प्राणशमसे प्राणका तप होता है जिस प्रकार धाँकनीसे वायु देनेसे अग्नीया कील होता है उसी प्रकार प्राणशमसे शरीरके नसनाडीयोंकी शुद्धता होकर तेज बढ जाता है, शरीरके दोष दूर हो जाते हैं, प्रत्यक्ष बढता है, बोधन

अग्नि ( वाणी ), वायु ( प्राण ), सूर्य ( नेत्र आदि इंद्रिय ), चन्द्रमा ( मन ), आपः ( वीर्य ) इन देवोंके आश्रयसे मनुष्य की शुद्धि होनेका मार्ग यह है । प्रत्येक देवता की पांच शक्तियोंसे मनुष्यके दोष दृष्टजते और उसमें शुण्ण बढते जाते हैं । इस प्रकार क्रमशः मनुष्य शुद्ध होता हुआ उन्नत होता जाता है ।

### द्वेष करना ।

इन सूक्तोंके प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि, जो ( द्वेष्टि ) द्वेष करता है, उसकी शुद्धता तप आदि द्वारा करना चाहिए । दूसरी ओर द्वेष करना इतना बुरा है ? इससे अधिक बुरा और कोई कार्य नहीं है । यह सबसे बड़ा भारी पतन का साधन है ।

आज कल अखबारों और मासिकोंमें देखिए दूसरों का द्वेष अधिक लिखा जाता है और उन्नति का सच्चा मार्ग कम लिखा जाता है । ये चार गिन हवट्टे बैठें या मिले तो उनकी जो बातचित, शुरू होती है, वह भी किसी आत्मोन्नतिके विषयपर नहीं होती, परन्तु किसी न किसीकी निन्दा ही होती है । पाठक अपने अनुमन का भी विचार करेंगे तो उनकी पता लग जायगा कि मनुष्य जितना कुछ बोलता है उनमेंसे बहुतसा भाग दूसरेकी निन्दा या दूसरेका द्वेष होता है । मनुष्योंके व्यवहारा यह प्रधान कारण है । यदि मनुष्य यह द्वेष करना छोड़ दे, तो उसका कितना कल्याण हो सकता है । परन्तु दूसरेका द्वेष करना बड़ा प्रिय और रोचक लगता है, इसलिए मनुष्य द्वेषही करता जाता है और गिरता जाता है ।

इसलिये इन पांच सूक्तोंके प्रत्येक मंत्र द्वारा उपदेश दिया है कि “ जो ( द्वेष्टि ) द्वेष करता है, उसकी शुद्धि तप आदिसे होनी चाहिये । ” क्योंकि सबसे अशुद्ध यदि कोई मनुष्य होगा तो दूसरेका द्वेष करनेवाला ही है । यह स्वयंभी गिरता है और दूसरोंको भी गिराता है ।

मन जिसका चिंतन करता है वैसा बनता है । यह मनका धर्म है । पाठक इसका स्मरण करें । जो लोग दूसरोंका द्वेष करते हैं वे दूसरोंके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करते हैं, इस कारण प्रतिदिन इनके मनमें दुर्गुणों की संख्या बढती रहती है, किसी कारण भी वह कम नहीं होती । पाठक विचार करें कि मनही मनुष्यकी अवस्था निश्चित करता है । जैसा मन वैसा मानव वह नियम अटल है । अब देखिए, जो मनुष्य दूसरेके दुर्गुणोंका निरंतर मनन करता है उसका मन दुर्गुणमय बनता जाता है । अतः निरपेक्ष मनुष्य दिन ब दिन गिरता जाता है ।

इसी लिए द्वेष करनेवालेको पश्चात्ताप आदि तप अवश्य करना चाहिए । और अपनी शुद्धि करना चाहिए । तथा आगेके लिए निन्दाशुद्धि छोड़ना भी चाहिए । अन्यथा धीरे धीरे कपड़ोंकी फिर कीचड़में फँकनेके समान दुर्बल्याका सुधार हो ही नहीं सकता ।

पाठक इन सब बातोंका विचार करके अपने परीक्षा करें और अपनी पवित्रता करने द्वारा अपने सुधारका मार्ग आक्रमण करें । जो धर्ममें नष्ट प्रविष्ट या शुद्ध हुए मनुष्य होंगे उनकी सचमुच शुद्धि करनेका अनुष्ठान भी इन सूक्तोंके मननसे ज्ञान हो सकता है । नव प्रविष्टोंकी इस प्रकार अनुष्ठान द्वारा सच्ची शुद्धि करनेका मार्ग उनके लिए खुला होनेसेही उनकी सच्ची उन्नति हो सकती है और वैदिक धर्मकी विशेषता भी उनके मनमें स्थिर हो सकती है । पाठक इन सब बातोंका विशेष विचार करें और इन वैदिक आदेशोंका काम चढ़ावें ।

# डाकुओंकी असफलता ।

( २४ )

( ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-आयुष्यम् )

शेरभक्त शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्होतिः किमीदिनः।	
यस्य स्थ तमस्तु यो वः प्रहृत्तमस्तु स्वा मांसान्यंच	॥ १ ॥
शेवृधक्त शेवृध पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ २ ॥
म्रोकारुम्रोक्त पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ३ ॥
सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ४ ॥
जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्होतिः किमीदिनीः ।०	॥ ५ ॥
उपन्दे पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ६ ॥
अर्जुनि पुनर्वो यन्तु ०।०	॥ ७ ॥
भरुजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्होतिः किमीदिनीः ।	
यस्य स्थ तमस्तु यो वः प्रहृत्तमस्तु स्वा मांसान्यंच	॥ ८ ॥

अर्थ-हे ( शेरभक्त शेरभ ) वध करनेवाले ! हे ( किमीदिनः ) लुटेरे लोगो ! ( या यातवः ) तुम्हारे अनुयायी और तुम्हारे ( हेतिः ) दास ( पुनः पुनः यन्तु ) छोटकर बागस जाय । ( यस्य स्थ ) जिसके सामो लू हो ( तं भक्ष ) उसको खाओ । ( या वः प्रहृत्तमस्तु ) जो तुम्हें छटके लिये भेजता है उसीको खाओ भयवा ( स्वा मांसानि भक्ष ) अपनाही मांस खाओ ॥ १ ॥

हे ( शेवृधक्त शेवृध ) दासदास करनेवाले ०।० ॥ २ ॥

( हे म्रोक्त मनुम्रोक्त ) हे और और घोरोके साथी ! ०।० ॥ ३ ॥

हे ( सर्प मनुसर्प ) हे साँके समान शिरके हमला करनेवाले ! ०।० ॥ ४ ॥

हे ( जूर्णि ) बिनाराक ! ०।० ॥ ५ ॥

हे ( उपन्दे ) चिटानेवाले ! ०।० ॥ ६ ॥

हे ( अर्जुनि ) दुष्ट मनवाले ! ०।० ॥ ७ ॥

हे ( भरुजि ) भीष ब्रुतिवाले ! तुम सबके ( यातवः ) अनुयायी और ( हेतिः ) दास तथा ( किमीदिनीः ) दूर करनेवाले जो हों सब तुम्हारे पास ही ( पुनः पुनः ) बारंबार चले जायें । जिसके अनुयायी तुम हो ( तं भक्ष ) वहीको खाओ जो तुम्हें भेजता है वहीको खाओ, भयवा भयवा ही मांस खाओ ॥ ८ ॥ ( पंडित किसी हमारे को क्या न हो । )

दुष्टोंमेंसे कोई भी किसी दूसरे सज्जनमेंसे लट न सके । इनके अनुयायी कृतकारी न होते हुए वापस लौट जाय, इनके शस्त्र व्यर्थ हो, ये लाकृष्ण भूले मरने लगे । ये लोग कहीं भी सफलता को प्राप्त न कर सकें । विफल मनोरथ होते हुए ये डाकू आपसमें मार पीट करके एक दूसरेको खाकर स्वयं ही नष्ट हो जाय ॥ १-८ ॥

### दुष्ट लोग ।

नगरमें सज्जन नागरिक रहते हैं और जङ्गलोंमें डाकू चोर छुट्टे रहते हैं । ये डाकू रात्रिके या दिन के समय नगरों पर हमला करते हैं और लूटमार करके भाग जाते हैं । इस प्रकार लूट मार पर ये अपना निर्वाह करते हैं ।

राजाका सुराज्यका प्रबंध ऐसा हो कि ये किसी भी समय सफल मनोरथ न हो सकें । सर्वदा इनका हमला निष्फल होते । प्रतिसमय इनका हमला निष्फल होनेसे ये लोग भूले मरने लगेंगे । पश्चात् आपसमें लड़ेंगे और आपसमें लड़ कर मर जावेंगे । इनके पासरात्र जो दूसरोंके लिये ये बेड़ी इन पर गिरेंगे, ये जो दूसरोंके मांस खाते थे वेही अपने मांस खावेंगे, क्योंकि दूसरोंके मांस इनको मिलेंगे नहीं और दूसरोंकी संपत्तियां इनको लूटमारके लिये प्राप्त नहीं होगी ।

राज प्रबंध द्वारा ऐसी व्यवस्था होना और चोर छुट्टे भूले मरने लगना ही उन दुष्टोंके सुधारका मार्ग है । ऐसा सुप्रबंध होनेसे डाकू लोग नागरिक बनने लगते हैं और उनको डाकूके व्यवहार से हानि और उत्तम नागरिक बननेसे लाभ प्रतीत होता है । पाठक विचार करें और देखें कि यह भी एक दुष्टोंके सुधारके मार्ग है और जो विचार पूर्वक अमलमें लाया जाय तो निःसंदेह लाभकारी होगा ।



## पृश्निपर्णी ।

[ २५ ]

( ऋषिः-चातनः । देवता-वनस्पतिः )

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यां निर्ऋत्या अकः । उग्रा हि कण्वजम्भनी ताममंशित्वा सहस्रवतीम् ॥ १ ॥  
सहमानेयं ग्रथुमा पृश्निपर्ण्यजायत । तयाहं दुर्णाम्नां शिरों पृश्नामिं शकुनेरिव ॥ २ ॥

अर्थ-[ देवी पृश्निपर्णी नः सं ] देवी पृश्निपर्णी औषधी हमारे लिये सुख और [ निर्ऋत्यै अ-कः ] व्याधिपोकित्त लिये दुःख [ अकः ] करती है । [ हि उग्रा कण्व-जम्भनी ] क्योंकि यह प्रचट रोग बीज नाशक है । [ सहस्रवतीं तां अमंशित्वा ] बरबरी उस औषधिकामें सेवन करता हूँ ॥ १ ॥

[ हयं मयमा सहमाना पृश्निपर्णी अजायत ] यह पदार्थ विषयी पृश्निपर्णी प्रकट हुई है । [ तया दुर्णाम्नां तामः पृश्नामिं ] इस वनस्पतिसे मुझे नामवाले रोगोंका हार में कुछकटा हूँ [ शकुनेः इव ] जिस प्रकार छोट पक्षीका निर तोरते हैं ॥ २ ॥

आचार्य-पृश्निपर्णी औषधी मनुष्योंके गुण होती है और रोगोंकी ही अततो देः वह रोगबीजोंको दूर करती है, रोगोंको भगती दे, इसलिये इसका सेवन करना योग्य है ॥ १ ॥

इस कर्मके अर्थ यहो गुण औषधी है, इससे मालो कुछ रोगोंका निरादी दूर जाता है ॥ २ ॥

अरार्यमसुक्पावानं यथ स्फूर्ति जिहीर्षति । गर्भं कर्षं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥३॥  
गिरिर्मेना आ वैशय कर्षाञ्जीवितयोपनान् । तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यागिरिचानुदहन्निहि ॥४॥  
पराच एनान्प्र पुं दु कर्षाञ्जीवितयोपनान् । तमांसि यत्र गच्छन्ति तत्कृष्यादौ अजीगमम् ॥५॥

गर्भं— हे पृश्निपर्णि ! [ माराय ] गोमा हटानेवाले, [ कर्षू-पावानं ] रक्त पीनेवाले [ यः च स्फूर्ति जिहीर्षति ] जो पुष्टिको रोक्ता है, उसको तथा [ गर्भ-वधे ] गर्भ खानेवाले, [ कर्षं नाशय ] रोगबीजका नाश का और [ सहस्व ] उसको जीत लो ॥३॥  
हे [ देवि पृश्निपर्णि ] देवी पृश्निपर्णी माँपणी । तू [ एनान् जीवितयोपनान् ] इन जीवित का नाश करनेवाले [ कर्षान् ] रोगबीजोंको [ गिरिं जनिवाय ] पहाड़पर ले जाओ और [ त्व तान् ममि हव मनुदहन् ] तू उनको ममिके समान जलाती हुई [ इदि ] मांस लो ॥ ४ ॥

[ एनान् जीवित-योपनान् ] इन जीवितका नाश करने वाले [ कर्षान् पराचः प्रमुद ] रोगबीजोंको अधोमुखसे दकेज दे । [ यत्र तमांसि गच्छन्ति ] जहाँ भंषकार होता है [ तत् ] वहाँ [ कृष्यादः अजीगमम् ] मांस भक्षण रोगोंको प्राप्त किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो रोग शरीरको शोभा हटाते हैं, रक्त कम करते हैं, पुष्टि का नाश करते हैं, गर्भको मुखाने हैं, उन रोगों का नाश पृश्निपर्णी करती है ॥ ३ ॥

जिनको ये रोगबीज घातते हैं उनको पहाड़पर वज्राभो और पृश्निपर्णी का सेवन उनसे कराओ जिससे वह पृश्निपर्णी उसको रोग बीजोंको जला देगी ॥ ४ ॥

आग नाश करनेवाले इन रोग बीजोंको नीचेके मार्गसे दूर करो । जहाँ भंषेरा रहता है वहाँ ही रक्त और मांस का नाश करनेवाले ये रोगबीज रहते हैं ॥ ५ ॥

### पृश्निपर्णी ।

इय पृश्निपर्णी को चित्रपर्णी कहते हैं । भाष्यमें इसके ' पीठवन, पीतवन, पठनी ' कहते हैं । इसके गुण ये हैं—

त्रिदोषघ्नी घृणोष्ण मधुरा सख ।

हन्ति दाहउषारवासरकातिसारपृथ्वमी ६

भाष्य पृ. १ भाग. गुह्य० बर्ग.

' यह पीठवन औषधी त्रिदोषनाशक बलवर्धक, उष्ण, मधुर और वारक है, इससे दाह, उषा, शूल, रक्तनिष्ठार, मूला और वमन दूर होता है । ' इय वनरजिका वर्गमें इस सूत्रने किया है । इस सूत्रमें यिन रोगोंके नाश करने के लिये इस औषधी का उपयोग लिखा है उनका वर्णन अब देखिये—



३ स्फाति जिहीयन्ति—पुष्टि हयता है । शरीरका मांस कम करता है, शरीरको सुखाता है । शरीर कृश होता जाता है । शरीर का सुवैलपन कम होता है । अर्थात् शरीर क्षीण होता है । ( म० ३ )

४ गर्भदि ( गर्भ—अर्ध ) = गर्भकी खानेवाला रोग । मत्तकि गर्भमें ही गर्भको बढने न देनेवाला, सुखानेवाला, अन्नक करनेवाला अथवा गर्भको घृत करनेवाला रोग । ( म० ३ )

५ कषथ—जिस रोगमें रोगी अशक्तताका ( कण्ठि ) शब्द करते हैं, भाँड़े मारते हैं, हाथ हाथ करते हैं अथवा किसी प्रकार अपनी अशक्तता व्यक्त करनेवाला शब्द करते हैं । यह नाम रोग बीजका है जिससे पूर्वोक्त रोग ज्ञात होते हैं । ( म० १, ३—५ )

६ निर्मृतिः—( श्रुति ) सरल व्यवहार, योग्य सत्य रक्षाका मार्ग । ( निः—कृतिः ) तेरा चल चलन, अयोग्य अथवा क्षयका मार्ग । इस प्रकारके व्यवहारसे उक्त रोग होते हैं । ( म० १ )

७ दुर्नामा—( दु—नामा ) दुष्ट यथावाला रोग । अर्थात् जो रोग दुष्ट व्यवहार से उत्पन्न होते हैं । ( म० २ )

ये छत शब्द रोगोंके लक्षण बता रहे हैं अंतिम ( ६ निर्मृति, ७ दुर्नामा ) ये दो शब्द रोगोत्पत्तिका कारण बता रहे हैं । अर्थात् मद्यचर्यादि सुनियमोंका पालन न करने आदि तथा दुष्ट दुराचारके व्यवहार करनेसे रक्त दोष हुआ करता है और पाण्डु रोग, क्षय रोग आदि होते हैं । ये दो कारण बता कर इस सूक्तने पाठकाको सावध किया है कि ये इन पातक रोगोंसे अपना बचाव करें । अर्थात् जो लोग मद्यचर्यादि सुनियम पालन करेंगे और धर्माचार से रहेंगे वे इन रोगोंसे बच सकते हैं ।

### रोगका परिणाम ।

इन रोगोंका परिणाम कितना भयानक होता है यह बात यहाँ बताया है देखिए—

जीवित-मोचन ॥ ( मं ४—५ )

“ जीवित का नाश करनेवाला यह रोग है । ” सूत्र विगडकर पांडुरोग क्षयरोग रक्तपित्त आदि रोग हुए तो सबसे जीवित नष्ट होने की ही सम्भावना रहती है । ये रोग बड़े कष्ट साध्य होते हैं । इसलिए अपने आपको बचाता ही बोध्य है ।

### उत्पत्तिस्थान ।

इन रोग बीजोंका उत्पत्तिस्थान भी इस सूक्तने स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है, देखिए—

समांसि यत्र गच्छन्ति

सत्यव्यवहारे अजीर्णमम् ॥ ( म. ५ )

“ जहाँ अपेक्षार रहता है, ऐसे स्थानोंमें रक्त मांस खाने वाले ये रोग बीज प्रसू होते हैं । ” जहाँ यदा अपेक्षार रहता है । यहाँ मनु तहाँ पशुवत्ता, जहाँ सूर्य प्रकाश नहीं आ सकता, ऐसे अपेक्षार स्थानोंमें इन रोग बीजोंकी उत्पत्ति होती है अथवा ऐसे स्थानोंमें ये रोग बीज होते हैं । अर्थात् जो लोग यदा अपेक्षार कमरोंमें निवास करते हैं, स्वच्छ वायु वाले कमरोंमें नहीं रहते सूर्य प्रकाश न पहुँचनेवाले कमरोंमें रहते हैं । अथवा भिनके निवास गृह ऐसे हैं जहाँ ये रोग बीज होते हैं । परंतु जो लोग स्वच्छ वायुवाले स्थानों तथा सूर्य प्रकाश प्रतिदिन आनेवाले स्थानोंमें निवास करते हैं उनको ये रोग कष्ट नहीं पहुँचा सकते । इसलिए पशुरोग सत्य यदि सूत्र तथा मांस कम करनेवाले रोगोंसे बचाव करनेके लिए सूर्य प्रकाश और शुद्ध वायु जहाँ परिलब्ध हो ऐसे परिशुद्ध स्थानोंमें निवास करना चाहिए ।

### व्यापका उपाय ?

रोग रोग के पद पर व्यापका उपपन्न इस सूक्तने कहा है वह अथ देखिए—

जीवितमोचनम् एषात् व्यापकात् ।

गिरि जीविष्य ॥ ( मं ४ )

“ जीवितका नाश करनेवाले ये रोगबीज जिनके अंदर प्रविष्ट हुए हैं अर्थात् जिन को ये रोग हो गये हैं, उनको पड़ाव पर लेजाओ । ” पहली बात यह है कि ऐसे रोगियों को उत्तम वायु ले पर्वतके उत्तम स्थान पर ले जाओ । यह सबसे उत्तम उपाय है । इन रोगियोंको नगरोंमें मत रखो, जन सड़कोंमें मत रखो, परंतु पड़ावपर ले जाओ । क्योंकि रोगबीज अंधेरे शुद्धवायुशील और सूर्य प्रकाशहीन स्थानोंमें उत्पन्न होते हैं, इसलिए इन रोगबीजोंका नाश भी ऐसे स्थानोंमें होना संभव है कि जहां विपुल प्रकाश शुद्धवायु और अंधेरा न हो । नगरोंमें यकान पास पास होनेके कारण यही वायु योग्य नहीं होता, अतः रोगीको पड़ावपर ले जाना ही योग्य है । इस मंत्रमें प्राणनाशक रोगबीज ( जीवितोपन कण ) को पड़ाव पर लेजाने को कहा है, उसका अर्थ उक्त रोग बीजवाले रोगियोंको पड़ावपर ले जाना है । क्योंकि आगे इसी मंत्रमें रोगीके लिए औषधि पयोग भी लिखा है, देखिए—

देवि पृथिव्याणि ! त्वं तान् क्षमिः हव  
अनुदहन् इदि ॥ ( मं० ४ )

“ यह दिव्य औषधि पिठवन उन रोगबीजोंको अपने समान जल की हुई प्राप्त होगी । ” अर्थात् पड़ाव पर ले जा रोगियोंको इस औषधिका सेवन करानेसे उनके अंदर प्रविष्ट हुए सब रोगबीज जल आर्द्रता और रोगबीज दूर होनेसे रोगी आरोग्य पूर्ण होगा । क्योंकि—

हृदं प्रथमा पृथिव्यां सदुमान् अजायत । ( मं० २ )

“ यह पहली पिठवन विजयी होती है । ” किंवा रोगपर विजय प्राप्त करनेके लिए यह सबसे ( प्रथमा ) मुख्य औषधि है । इसके सेवनसे निःशेदह विजय प्राप्त होगी और रोगबीज दूर होंगे ।

कण्वजम्बनी उन्ना वि  
तां सदस्वतीं अमक्षि ॥ ( मं० १ )

यह एक सुखानेवाले रोगका नाश करनेवाली अत्यंत प्रबल औषधि है । इसका सेवन ( कण्वजम्बनी ) बीर्यवती वा बलवती होनेकी अवस्थामें ही करना चाहिए । “ इस कारण भी रोगीका पर्वत पर होना आवश्यक है, क्योंकि ये सब समयमें ताजी बनरू-  
ति पर्वत परसे ही निकालकर ताकाल उसको सेवन कराया जा सकता है । वहासे बनरूति उखाड़कर नगरमें आनेसे बहुरूप-  
हीन होना संभव है ।

देवी पृथिव्यां नः वा  
निर्जलया न—शं अरुः ॥ ( मं० १ )

“ यह दिव्य औषधी पीठवन मनुष्यको प्राप्त देती है और रोगोंको ही दुःख देती है । ” अर्थात् रोगोंको जलसे डूटाती है तथा—

तया महं दुर्गांशो निरः वृषामि । ( मं० २ )

“ इस औषधिले मैं इन दुष्ट रोगोंका नाश करता हूँ । ” मैं जो दुष्टा शिर ही तोड़ देता हूँ, यदि वे रोग अपना शिर फिर ऊपर न उठा सकें ।

जीवित—योपनान् कण्वान्  
पनान् वराचः प्रणुइ ॥ ( मं० ५ )

वेदमें जहाँतक हमने देखा है एक औषधि प्रयोग (singledrug system) ही लिखा है । अर्थात् एकही औषधिका सेवन करना । साथ साथ अनेक औषधियाँ मिलाकर सेवन करनेका उल्लेख कम है । सेवन के लिए पानीमें घोलना या कदाचित् साथ मिश्रीमें मिलाना यह बात और है, परन्तु एक समय रोगीको एकही औषधि सेवनके लिए देना तथा शुद्ध जल वायु, शुद्ध स्थान, सूर्य प्रकाश आदि निरर्ग देवताओंसे ही रुहायता प्राप्त करना यह वैदिक चिकित्साकी पद्धति प्रतीत होता है । इसलिए जो पाठक सक्त रोगीमें इस पद्धतिवत्ता उपयोग करके लाभ उठाना चाहते हैं वे ज्ञानी वैद्यके निरीक्षणमें इसका प्रयोग करें और लाभ उठावें ।

## गो-रस ।

( २६ )

[ ऋषिः-सविता । देवता-पशवः । ]

एह यन्तु पशवो ये परेर्गुर्धायुर्धेयाँ सहचारं जुजोष ।

स्वष्टा येपाँ रूपधेयाँनि वेदास्मिन् तान्गोष्ठं सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

इमं गोष्ठं पशवः सं संवन्तु बृहस्पतिरानयतु प्रजानन् ।

सिनीवाली नयत्वाग्रमेवामाजग्मुषाँ अनुमते नि यच्छ ॥ २ ॥

सं सं संवन्तु पशवः समश्वाः समु पूर्णपाः ।

सं घान्यस्सु या स्फातिः संस्त्राव्येणि हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

अर्थ- [ पशवः इह आपन्तु ] पशु यहाँ आजाये । [ ये परा-हेयुः ] जो परे गये हैं । [ येवो सहचारं वायुं जुजोष ] जिनका सादृश्य वायु करता है । [ येपाँ रूपधेयाँनि स्वष्टा वेद ] जिनके रूप स्वष्टा जानला है । [ तान्गोष्ठं वायुं सविता नि यच्छतु ] इस गोशालामें उनको सविता बाँधकर रखे ॥ १ ॥

[ पशवः इमं गोष्ठं संघवन्तु ] पशु इस गोशालामें मिलकर आ जायें । [ बृहस्पतिः प्रजानन् आनयतु ] बृहस्पति आनवा आ उनको ले जाये । [ सिनीवाली यपाँ अग्रं आनयतु ] सिनीवाली इनके अग्रभागको ले जाये । दे [ अनुमते ] अनुमते । आ जग्मुषः नि यच्छ ] आनेवालोंको नि यममें रख ॥ २ ॥

[ पशवः अश्वाः न पूरणाः सं सं सं घवन्तु ] पशु, घोड़े और मनुष्यभी मिल जुलकर बनें । [ या घान्यस्सु स्फातिः सं ] जो घान्य को बढती दे बढ भी मिलकर बने । मे [ सं स्त्राव्येणि हविषा जुहोमि ] मिलानेवाले हविसे हवन करता हूँ ॥ ३ ॥

भाष्य- जो पशु शुद्ध अन्धकारमें अग्रगते लिगे गये हैं वे मिलकर पुनः गोशालामें आजायें । इनके बिगड़ों तथा नष्टों को सविता उनको गोशालामें बाँधकर रखे ॥ १ ॥

एव पशु मिलकर गोशालामें आजायें, आननेवाला बृहस्पति उनको ले आये । सिनीवाली अग्रभागको ले गये और अनुमते रूप आनेवालों को नि यममें रखे ॥ २ ॥

यके अर्धे एव पशु तथा मनुष्यभी मिल जुलकर बनें और बनें । घान्यभी मिलकर बने । एवको मिलानेवाले हवसे मे एक हवन हूँ ॥ ३ ॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।

संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपती

॥ ४ ॥

आ हंरामि गवां क्षीरमाहार्यं धान्यं १ रसम् ।

आहूता अस्माकं वीरा आ परनीरिदमस्तकम्

॥ ५ ॥

( इति चतुर्थोऽनुवाकः । )

अर्थ— [गवां क्षीरं सं सिञ्चामि] गौओंका दूध सींचता हूँ । [ बलं रसं आज्येन ] बलवर्धकरसको घीके साथ मिलाता हूँ । [ अस्माकं वीराः संसिक्ताः ] हमारे वीर सींचे गये हैं । [ मयि गोपती गावः ध्रुवा ] सुप्त गोपतिमें गौये स्थिर होँगी ।

[ गवां क्षीरं आ हंरामि ] गौओंका दूध मैं लाता हूँ । [ धान्यं रसं, आहार्यं ] धान्य और रस मैं लाता हूँ । [ अस्माकं वीरा आहूताः ] हमारे वीर लाये गये हैं । वीर [ परनी, इदं अस्तक आ ] परिनर्पा को इस घरमें लायी गई हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ— मैं गौओंसे दूध लेता हूँ तथा बलवर्धक रसके साथ घी को मिलाकर सेवन करता हूँ । हमारे वीरों और बालकोंको यही पेय दिया जाता है । इस कार्यके लिये हमारे घरमें गौयें स्थिर रहें ॥ ४ ॥

मैं गौओंसे दूध लेता हूँ, और वनस्पतियोंसे रस तथा धान्य लेता हूँ । हमारे वीरों और बालकोंको इकट्ठा करता हूँ, पात्रों परिनर्पा भी लाई जाती हैं और सब मिलकर उक्त पौष्टिक रसका सेवन करते हैं ॥ ५ ॥

### पशुपालना ।

घरमें बहुत पशु अर्थात् गौयें, घोड़े, बैल आदि बहुत पाले जाय । यह एक प्रकारका धन ही है । आज कल हरगोको ही धन माना जाता है, परंतु उपयोगकी दृष्टिसे देखा जाय तो गाव आदि पशु ही सचा धन हैं । इनकी पालना योग्य रीतिसे करने के विषय मैं बहुतसे आदेश इस सूत्रके पहले दो मंत्रोंमें दिये हैं । आजकल प्रायः घरमें गौ आदि पशुओंकी पात्रना नहीं होती है, कृषिद किशोके घरमें एक दो गौएँ होतीं तो बहुत हुआ, नहीं तो प्रायः कोई नागरिक लोग पशु पालने ही नहीं । नगरके लोग प्रायः दूध आदि मील ही लेते हैं । इतना रिशत बदल जानेके कारण इस सूत्रके आदेश स्वयं से प्रतीत होने । परंतु पाठक-जग अपना दृष्टि वैदिक कालमें ले आये और यह देखें कि ऋषिकालमें ऋषियोगोंके पास हजारों गौयें होती थीं और सभी प्रमाणसे अन्वयान् पशु भी बहुतसे होते थे । ऐसे पक्षोंके लिये ये आदेश फलीभूत हो सकते हैं ।

### अमण और वापस आना ।

गाय आदि पशुओंकी शुद्ध वायुमें अमण के लिये लेजाना आवश्यक है, उनका संचार शुद्ध वायुमें होनेके बिना तथा एवं प्रकाशमें उनका अमण होनेके बिना न तो उनका स्वास्थ्य ठाक रह सक्ता है । अंग रज उनका दूध गुणकारी ही पकना है । इसलिये—

येषां सहचारं वायुः तुजोष । ( मं० १ )

“ जिनका सहचर्य वायु करता है ” यह प्रथमश्रुका वाक्य योंके अंगेयके लिए उनका शुद्ध वायुमें अमण अवश्य आवश्यक है यह बात न । रहा है तथा—

- १ खटा येषां रूपाणि वेद । ( मं० १ )
- २ सविता अस्मिन् गोष्ठे तावु नियच्छतु । ( मं० १ )
- ३ बृहस्पतिः प्रजान् आनयतु ॥ ( मं० २ )
- ४ मिनीवाली येषां अग्र आनयतु । ( मं० २ ]
- ५ अनुमते । आजन्मपुः निवच्छ । ( मं० २ )

इन मंत्रों में देवताओं के नाम श्लोक कार्य के लिए आगये हैं । इन शब्दों के देवता वाचक अर्थ प्रसिद्ध ही हैं, परंतु इनके मूल भावार्थ भी यहाँ देखिए—

- १ खटा—सूक्ष्म कानेवाला, कुशल कारीगर । ( खड्ग-तनुकरणे )
- २ सविता—प्रेरक । ( सु-प्रेरणे ) । चलावेवाला ।
- ३ बृहस्पतिः—ज्ञानवान्, ( बृहत् ) बड़ेका ( पति ) स्वामी । पुरोहित, निरीक्षक ।
- ४ मिनीवाली—( मिनी ) अचक ( वाली ) बलसे युक्त । अक्षवाली स्त्री ।
- ५ अनु-मतिः—अनुकूल मति रखनेवाली स्त्री ।

इन पाँच देवता वाचक शब्दों के ये मूल शब्दार्थ हैं और इन अर्थों के साथ ही ये शब्द यहाँ प्रयुक्त हुए हैं । ये मूल अर्थ लेकर इन मंत्र भागों का अर्थ देखिए—

‘ कुशल कारीगर गाय आदि पशुओं के आकारों की जानता है । २ प्रेरक उनको गोशाला में क्रमपूर्वक नियम में रखे । ३ उनकी जगनेवाला पशुओं को लावे । ४ अक्षवाली स्त्री पशुओं के आगे चले । और ५ अनुकूल कार्य करनेवाली आनेवाले पशुओं के साथ चले ।

यहाँ पशु पालने के आदेश मिलते हैं । इनका विचार यह है—“ ( १ ) पशुओं के पालन कर्म में एक ऐसा अधिष्ठात्री होवे, कि जो पशुओं के सब लक्षण जानता हो, ( २ ) इसका कार्यकर्ता ऐसा हो कि जो निरीक्षण करके देखे कि सब पशु यथा स्थान पर आगये हैं वा नहीं, तथा उनका अग्न्य खानपानका प्रबंध ठीक हुआ है वा नहीं, ( ३ ) सावधान निरीक्षक ऐसा होवे कि जो पशुवृक्ष इत्यादि विधाओं अर्द्धों प्रकार जाननेवाला हो, यही पशुओं को लावे लेजानेका प्रबंध देखे, ( ४ ) जब पशु घर में आता है तो उनकी पान पान देनेवाली स्त्री हो जो सबके आगे जवे, उनके साथ पशुओं को देने योग्य अन्न हो, ( ५ ) तथा उसके पीछे चलने वाली पशुओं के अनुकूल कार्य करनेवाली पीछे पीछे चले । ” इस रीतिसे सब पशुओं का योग्य प्रबंध किया जावे । पुरोहिता अनेका विभिन्न प्रेम पूर्वक उत्तम प्रबंध कराते हैं इस लिए अतिम दो कार्यों को नियुक्त करनेकी सूचना वेदने दी है यह देख ही दें ।

जहाँ खेती और हज रों में वे पशु जाती हो ऐसे स्थानों में ऐसा सुयोग्य प्रबंध अवश्य आवश्यक ही है । आश्विन जहाँ गोशाला अग्न्य खा हो गया है वहाँ ऐसे बड़े प्रबंध की आवश्यकता नहीं है, यह स्पष्ट ही है । यह आश्विन की प्रगति दे जो हमें पृथिवी पर रखा है, इसका पाठक आरक्षण विचार करें । जिस घर में दश पाँच गोवंश कम्पसे कम हो उस घर के मनुष्य गोशाला की ओर देखे हुए हुए होते हैं और जिस घर में गोवंश नहीं होता, उस घर के मनुष्य कैसे मरिदमले होते हैं इसका विचार करनेसे जो पालने के गाय लक्ष्मण की का सम्यक् चिन्ता पनेट है इसका पता लग सकता है । वहाँ तक पारित दो मंत्रों का विचार हुआ । तृतीय मंत्र में सबके निरन्तर रहने से लाभ देता यह बात बड़ी है । पशु कवा और मनुष्य तथा सब मिलजुलकर परस्पर उपयोगी रहकर अपनी पूँटें करें, सब निरन्तर पश्य प्राप्त करें अपनी रानी घर के धर्म की तरफ करें । इस प्रकार पश्य, बनरहाते सब और गोशाला मनुष्य प्रमाण में प्रत्यक्ष करके उष के द्वारा अपनी पृथिवी बनाते हुए अपनी उत्पत्ति करें । ( मं० ३ )

### दृष्ट और पोषक रस ।

दृष्ट, यही सकलान्, यो, इति आदि सब प्रकार के गोशाला तथा अग्न्यारण्य पशु रस विभक्त प्रमाणों पान करने वाले हैं, और उनकी खेती भी पश्य प्राप्त करने का विधि, इस विषय में मंत्र ४ और ५ स्पष्ट शब्दों द्वारा आदेश दे रहे हैं । इस मंत्र में

‘वीराः’ शब्द है, इस शब्दका प्रसिद्ध अर्थ शूरवीर है, परंतु वेदमें इसका अर्थ, ‘पुत्र, बालबच्चे संतान’ भी है । यहां इन मंत्रोंमें ‘पत्नी’ के साहचर्यके कारण यही अर्थ विशेषतः लक्ष्य है ।

‘मैं’ गौओंसे दूध लाता हूं, वनरक्षित्योंका बलवर्धक रस और धान्य लाता हूं, यो भी लाया है । घरमें भर्मपरिनया है और बालबच्चे भी इकट्ठे हुए हैं अथवा इष्ट मित्र नार पुत्र भी जमा हुए हैं, इन सबको इच्छाके अनुसार यह सब साधोय विना जाता है । ( मं० ४—५ )

इन दो मंत्रोंका यह आशय है । ‘ संसृष्टता अस्माकं वीराः ’ हमारे वीर या बालबच्चोंके ऊपर यह रस सोचा गया, जिस प्रकार वृष्टिमें जानेसे सब भीग जाता है उस प्रकार बालबच्चोंपर दूध यो आदि सब रसोंकी वृष्टि की गई है । ‘संसृष्ट’ धान्यका अर्थ उत्तम प्रकारसे सिंचन करना, मिश्रीना है । बालबच्चे दूध दही मक्खन यो, रस आदिमें पूरे पूरे भीग जाय इतना गौरस घरमें आदिसे । दृष्टानुप्राता तो तब आ सकती है । वैदिक भर्मे वैदिक धर्मियोंके यह उपदेश दे रहा है कि अपनी शूर व्यवस्था ऐसी करो कि जिससे घरमें इतना विपुल गौरस प्राप्त हो और उसका सेवन करके सब बालक दृष्टपुत्र हों । आनकन नाना प्रकारकी बीमारियां बढनेका कारण ही यह है कि गौरस न्यून होनेके कारण मनुष्यमें जीवन शक्ति ही कम होगई है । पाठक इसका विचार करें और इस विषयमें जो हो सकता है करके अपनी जीवन शक्ति बढायें । सब अन्य आरोग्य जीवन शक्तिकी वृद्धि होनेसे ही प्राप्त होगी । गौरसण, गोवर्धन तथा गोसंशोधन करनेकी कितनी आवश्यकता है और राष्ट्रीय किंवा जातीय जीवन की दृष्टिसे भी इस विषयकी कितनी आवश्यकता है इसका पाठक विचार करें ।

वैदिक आदेश व्यवहारमें लानेका विचार जो लोग कर रहे हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना योग्य है क्योंकि यह आदेश ऐसा है कि इसके व्यवहारमें लाते ही लाभ होने का प्रत्यक्ष अनुभव आवेगा ।

## विजय-प्राप्ति ।

( २७ )

(ऋषिः-कपिञ्जलः । देवता-१-५ वनस्पतिः, ६ रुद्रा, ७ इन्द्रः । )

नेच्छन्नः प्राशं जपाति सहमानाभिभूरसि ।

प्राशं प्रतिप्राशो जस्रसन्कृण्वोवधे

॥ १ ॥

सुपर्णस्त्वान्विन्दत्सुकूरस्त्वाखनक्षसा । प्राशं०

॥ २ ॥

अर्थ—[ अनुः शरां न हृत् जपाति ] प्रतिपश्री मेरे प्रभवर नहीं निमग्नसे विजय प्राप्त कर सकता । क्योंकि तू [ मर-माना अभिभूः जसि ] जवलील जीव प्रमादशयी है । [ प्राशं प्रतिप्राशः जसि ] प्रत्येक प्रभवर प्रतिप्राशोको जीव को । [ औवधे । आमात् हृत् ] है औवधे । तू प्रतिप्राशोको जीव कर ॥ १ ॥

[ सुपर्णः त्वा अनु जविन्दत् ] गरुडने तुझे प्राप्त किया है और [ सुकूरः त्वा जखनत् ] शूकरने तुझे मारकर कोरा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मेरे प्रभवे प्रतिपश्री का पराजय होगा । क्योंकि मेरी यह शक्ति जब प्राप्तिनी और प्रभवरपुत्र है । एवं मेरे प्रत्येक प्रभवे प्रतिपश्रीका पराजय होगा । और जो प्रतिपश्रीको शूक बनने ॥ १ ॥ इस वनरक्षितो गरुडपक्षी मार करण है और शूकर कोदता है ॥ २ ॥



इन्द्रो ह चक्रे त्वा वाहावसुरेभ्यु स्तरीतवे । प्राशं०

॥ ३ ॥

पाटामिन्द्रो व्याश्रादसुरेभ्यु स्तरीतवे । प्राशं०

॥ ४ ॥

तयाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव । प्राशं०

॥ ५ ॥

रुद्र जलापमेपज्ज नीलशिखण्ड कर्मकृत् ।

प्राशं प्रतिप्राशो जह्वरसान्कृण्वोपधे

॥ ६ ॥

तस्य प्राशं त्वं जहि यो न इन्द्राभिदासति ।

अधि नो ब्रूहि शक्तिभिः प्राशि मामुत्तरं कृधि

॥ ७ ॥

अर्थ— [ इन्द्रः असुरेभ्यः स्तरीतवे रवा बाहो ह चक्रे ] इन्द्रने असुरोंसे अपनी रक्षा करनेके लिये तुझे बाहुपर धारण किया था ॥ ३ ॥

[ असुरेभ्यः स्तरीतवे ] असुरों से यथाव करनेके लिये [ इन्द्रः पाटा व्याभात् ] इन्द्रने इस पाटा वनस्पतिको खाया था । ॥ ४ ॥

[ तयाहं शत्रून्त्साक्षे ] मैं उस वनस्पतिसे शत्रुओंको परास्त करता हूँ [ इन्द्रः सालावृकाँ इव ] जैसे इन्द्र भेद नादियोंको दूर करता है ॥ ५ ॥

हे [ जलाप-मेपज्ज ] जलसे विकसित करनेवाले [ नील-शिखण्ड ] नील शिखावाले [ कर्मकृत् रुद्र ] पुनरायी रुद्र । [ प्राशं प्रतिप्राशः ] प्रत्येक प्रसक्त प्रति प्रतिवादीको [ जहि ] जीत लो । [ ओपधे जरसान् कृणु ] हे औपधे । हे प्रतिपक्षीको शुष्क कर ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! [ यः नः अभिदासति ] जो हमें दास बनाता चाहता है [ तस्य प्राशं त्वं जहि ] उसके प्रसक्तों को जीत लो [ शक्तिभिः नः अभिब्रूहि ] शक्तियों के साथ हमें कह और [ प्राशि मा उत्तरं कृधि ] प्रसक्तप्रतिप्रसक्तों से मुझे अधिक बलम कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— इन्द्रने यह औपधि असुरोंके पराभव करनेके लिये अपने शरीरपर धारण की थी ॥ ३ ॥

तथा उधीने इसका भक्षण भी किया था ॥ ४ ॥

उधीसे शत्रुओंको भगा देता हूँ ॥ ५ ॥

हे जलविकसित नील शिखाधारी उत्तम पुण्यार्थो रुद्रदेव । प्रति प्रसक्ते प्रतिवादीको परास्त कर और हे औपधे । तु प्रतिपक्षीको शुष्क बना दे ॥ ६ ॥

हे इन्द्र ! जो हमें दास बनानेकी चेष्टा करता है उसको प्रतिप्रसक्त में जीत लो, प्रतिप्रसक्तमें मेरा विजय कर और शक्तिसे साथ हमें बलम कर ॥ ७ ॥

### विजय के क्षेत्र ।

एक विजय व द विवादमें होता है, दूसरा युद्धमें होता है । इन दोनों बीजबोधी प्राप्ति करनेके लिये विभिन्न शक्तियों की आवश्यकता रहती है ।

### वादी और प्रतिवादी ।

प्रसक्त कहनेवाला 'प्राश' अर्थात् बर होना है और उसके प्रतिपक्षीको 'प्रतिप्राश' कहते हैं । 'वादी और प्रतिवादी' इन दो शक्तियों के समझीये 'प्राश' और 'प्रतिप्राश' शब्द हैं । पृष्ठक इनमें समानता देखें । पहिला शब्द तथा आगे भी कई संज्ञाएँ बताई हैं कि प्रसक्तों को समझने कि उत्तर वाणी भी अपने पक्षका हल इत्यादि, और इस प्रकार युक्तता है प्रसक्त को कि दृष्ट हो वा

बोधसे प्रशंसित है। प्रतिपक्षीका सुख काँका पडजाय । कई चतुर लोग ऐसे होते हैं कि वे ज्ञातिसे एक दो पक्ष ऐसे देखते पृथक्ते हैं कि उन प्रशंसकों उत्तर देते देते प्रतिपक्षी स्वयं परास्त हो जाते हैं । अपने विषयका ज्ञान इतना प्राप्त करना और प्रथमपक्षका कौशल्य अपनेमें ऐसा बढाना कि जिससे सङ्ग ही में वाद विवादमें विजय प्राप्त हो सके । इस लक्ष्यके मंत्र मार्गमें ऐसी तैयारी करनेकी सूचना कई बार दी है । वाद विवादमें विजय प्राप्त करनेका अन्तम विचार अपने अन्दर हो और किसी प्रकारका संदेह न हो । यह वाद विवादके विजय के विषयमें हुआ ।

### युद्धमें विजय ।

यह दूसरा विजय युद्धमें वाजुओंपर प्राप्त करनेका है इसमें भी अपनी आवश्यक पूर्व तैयारी करना योग्य ही है । जिस तैयारी से अपने विजय का निश्चय हो सके और कदापि संदेह न रहे ।

दोनों युद्धोंमें पूर्व तैयारी अत्यंत आवश्यक है और जितनी पूर्व तैयारी अधिक होगी उतनी ही विजयकी संभावना अधिक होगी ।

### पाटा औपधी ।

इस युद्धमें उन्नत विजयके लिये एक औपधि प्रयोग लिया है । इस औपधिका नाम 'पाटा या पाठा' ( सं० ४ ) है इस औपधिके गुण ये हैं—

तिष्ठता गुरुदण्डा वातपित्तज्वरघ्नी ।

सप्तसंज्ञानकरी पित्तदाहातीसारमूकघ्नी च । राज नि० ब. १

श्वेपसी मुखलाघिका । कफकण्ठक्षयवाह । मावम० ।

'यह पाटा या पाठा वनस्पति तिष्ठत, गुरु, दण्ड है, वात पित्त ज्वर नाशक, दूधेदुपको ओदनवाली, पित्त दाह भातिघार का नाश करनेवाली है । यह अमकारिणी, मुखमें वाणीके शीघ्र दूर करनेवाली, तथा कण्ठकी पीकाको हटानेवाली है ।' मापामें इस पाठा वनस्पतिको " कफपाठा, काकनामी, निमुखा " करते हैं ।

वादविवाद के समय यह वल्ली सुखमें घरेलवे या कण्ठपर बांधनेसे बोलनेके समय कण्ठ लज्जत रहता है और वक्त्रमुखसे होने-वाले कष्ट नहीं होते । यह वात संक्षयकाशादि ग्रंथोंमें भी कही है । कण्ठमें कफ होने या अन्य प्रकार का दृक्कृत न होने आदिके को कष्ट होते हैं वे इसके प्रयोगसे नहीं होते । इसलिये इस औपधिके वादविवादमें विजय प्राप्त होनेका वर्णन इस युद्धमें किया है । इसके आतिरेक यह और उत्तेजक होनेसे यकपाठनी नहीं होती । इससे भी विजय होनेमें सहायता होती है ।

युद्धमें भी यह वनस्पति इसलिए उपयोगी है कि इसके दूधेदुप अवयव ओले जाते हैं, पाच शीघ्र कर जाते हैं । महाभारतमें भी देखते हैं कि बहाने वीर युद्धसमाप्तिके अंतरालमें वनस्पति सेवन करते थे तथा शरीरपर सेवन भी करते थे । त्रिषष्ठे रात्रौ मृत्योत्तं होते श्री वीर पुनः युद्ध करनेके लिए सिद्ध हो जाते थे । नहीं तो शरिरके दिनोंके युद्धमें पाचन द्रव्य शीघ्र दूधरे दिन फिर किस प्रकार युद्ध कर सकते थे, इस संकाश उत्तर इस वेद अंजने बताया है । महाभारतमें कहीं औपधिका नाम नहीं दिया, केवल औषधिके जहाँ बूटी सेवन की जाती थी इतना ही लिखा है । इस युद्धमें " पाटा " नाम दिया है । जहाँ वैद्य इसका अन्य-पण करें कि यह वनस्पति कौनकी है और उसका उपयोग कैसे किया जाता था ।

यह औपधि अपने दास रक्षना, शत्रुपर या शत्रुसे दृष्टाना, सुखसे पारण करना अपना पेटमें सेवन करना उन्नत रीतिसे सामग्री है, देखिये—

१ इन्द्रः कारौ चके । ( सं० १ )

२ इन्द्रः पाटां व्याधार । ( सं० ४ )

इन मंत्र मार्गोंमें शरीरपर पारण करने और पेटमें सेवन करनेकी बात लिखी है । यदि जहाँ वैद्य इस वनस्पतिको दास शीघ्र करते, और सेवनविधि का नियम करते तो बड़े उपकार हो सकते हैं । मार्गों युद्धके समय वाद, मंत्र इत्यादि उपयोग,



करते थे और लाभ उठाते थे । बाणोंसे रक्त प्रसृत हुए वीर तथा घोंडे सायंकाल इसके सेवन करनेसे पुनः दूसरे दिन युद्ध करने-में समर्थ हो जाते थे । यदि यह केवल कथित्वना न होय और यदि इस मंत्रमें जो वही बात हम देखते हैं तो इसका अन्वेषण होना योग्य है ।

### शक्तिके साथ वक्तृत्व ।

सप्तम मंत्रमें एक बात विशेष महत्त्वकी कही है देखिए—

शक्तिभिः अधिद्विह । ( मं० ७ )

“ अनेक शक्तियोंको अपने साथ रखकर ही जो बोलना हो सो बोल दो । ” अपने पास शक्तियों न रहते हुए बोलना और बड़ा वक्तृत्व करना कुछ प्रयोजन नहीं रखता, उस शक्तिहीन वक्तृत्वसे कुछ प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता, इस लिए अपने पास और अपने पीछे कार्यकारिणी शक्ति कितनी है, इसका विचार करके ही जो कुछ वक्तृत्व करना हो तो वह उस शक्तिके प्रमाणसे ही करना योग्य है । अपनी शक्तिके अत्यधिक किया हुआ वक्तृत्व न शत्रुपर प्रभाव उत्पन्न कर सकता है और नाही अपना बल घटा सकता है । इसलिए वेदकी यह महत्त्वपूर्ण सूचना पाठक अवश्य स्मरण रखे । तथा—

यः नः अभिदासति तं जहि । ( मं० ७ )

“ जो हमें दास बनाना चाहता है उसे जीत लो । ” यह उपदेश भी पूर्णों आदेशके अनुसंधानसे कार्यमें लाया जाय तो बड़ा लाभकारी हो सकता है । अपना बल बढ़ाना, उतना ही बोलना कि जितना करके दिखाया जा सकता है, इतना होनेके पश्चात् अपने को दास बननेवालेका परामर्श करना । यह अपनी शक्ति बढ़ाकर अपने कार्यक्षेत्रका विस्तार करनेका योग्य मार्ग है ।

### अभिदासन का निषेध ।

वेद में हम देखते हैं कि अभिदासन का पूर्ण और तान निषेध स्थान स्थानपर किया है । यहाँ तक यह निषेध है कि “ अभिदास ” का अर्थ “ विनाश ” ही माना है । पूर्ण नाश होना और दास बनना यह वेदकी दृष्टिसे एकही बात है । किसी भी अवस्थामें वेद दास श्लाम- बनना पसंद नहीं करता । पाठक इस बातका यहाँ मनन करें और धर्ममयी वीरशक्ति अपने अंदर बढानेका यत्न करें ।

### जलचिकित्सक ।

यह मंत्रमें जलचिकित्सक, नीलशिखावाले, पुरुषार्थो दक्ष वर्णन है । “ जलाप मेघम् ” शब्द जलचिकित्साका भाव बता रहा है । जलाप का अर्थ जलही है । नील शिखण्डका अर्थ नील शिखावाले हैं, यह तक्षण जबान आरोपण पूर्ण मनुष्य का बोध करता है । दृढ़की शिखा श्वेत होती है, तक्षणकी ही नीली या काली होती है । “ कर्म—दृढ ” शब्द पुरुषार्थका वाचक है । अपने विशिष्ट कर्म में कुशल । “ दृढ ” शब्द का कार्यही ( दृढम् ) कलनेवाले रोगोंको हटानेवाला है । ये सब शब्द उत्तम चिकित्सकका भाव बताते हैं । यह चिकित्सक का नाम यहाँ इसलिये आया है कि यहाँ सुद्धमें जगितोप बीरोंको आरोग्य प्राप्त करा नेका संबंध है । तथा पादा औषधिका प्रयोग भी करना है । इसलिए सुविज्ञ वैद्यकी आवश्यकता है ।

यह सूक्त जिस विषयका प्रतिपादन कर रहा है वह प्रत्यक्ष अनुभवका विषय है, इसलिये ज्ञानी वैद्योंको ही इसकी प्रत्यक्षता करनेका यत्न करना चाहिये, अन्यथा यह विद्या केवल शब्दों में ही रहेंगी ।

# दीर्घायुष्य प्राप्ति ।

( २८ )

[ ऋषिः-शमभ्युः । देवता-जरिमा, आयुः ]

तुभ्यमेव जरिमन्वर्षतामयं मेममन्ये मृत्यवो हिंसिषुः श्रुतं ये ।

मातेर्व पुत्रं प्रमना उपस्थं मित्र एनं मित्रिवात्पात्वर्हसः ॥ १ ॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जुरामृत्युं कण्ठो संविदानी ।

तद्वाग्रिहोता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये ज्ञाता ज्व वा ये जनित्राः ।

मेमं प्राणो हासीन्मो अप्रानो मेमं मित्रा वधिषुर्भो अमित्राः ॥ ३ ॥

अर्थ-हे ( जरिम् ) वृद्धावस्था । ( तुभ्यं एव अयं वर्षताम् ) तेरे लिये ही यह अनुग्रह रहे । ( हम ये अन्ये बातें सुनते हैं ) हमको जो ये सी अपराध हैं ( मा हिंसिषु ) मग हिंसित करें । ( प्र-मनाः माया पुत्र वपस्य हव ) प्रसन्न मन वाली माया पुत्रको जैसे गोदमें लेती है उसी प्रकार ( मित्र मित्रिवात् एतस एन वात् ) मित्र मित्रमर्षी वापसे इसको बचावे ॥ १ ॥

( मित्रः रिशादस वरुण वा ) मित्र और वायुनामक वरुण ( सविदानी एन जुरामृत्यु कण्ठो ) दोनों मित्रहर इसको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करें । ( होता वयुनानि विद्वान् जनिम् ) दाया और सच कर्मोंकी वयावत् ज्ञाननेवाला जनि ( वत् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ) इसको सब देवोंके जन्मों को कहना है ॥ २ ॥

( ये ज्ञाता ज्व वा ये जनित्राः ) जो जन्मे हैं और जो जन्मनेवाले हैं इन ( पार्थिवानां पशूनां एव हिंसिषे ) पृथ्वी के ऊपर के प्राणियोंका संस्वामी है । ( हम प्राण मा, अप्रान व मा हासीन् ) इसको प्राण और अप्रान न छोड़ें । तथा ( मित्राः हमं मा वधिषुः ) मित्र इसे न मारे और ( अ-अमित्राः ) शत्रु भी न मारे ॥ ३ ॥

भावार्थ- अनुग्रह पूर्ण वृद्धावस्थाके दीर्घायुकी होवे । बीचमें कुछछा आराम पुत्रपुत्र करनेपर भी इसे न मार गड़े । जिन प्रकार अपने मित्रपुत्र की माया गोदमें लेकर देखने वाले बचती है, उसी प्रकार वरुण मित्र देव इन पुत्रपुत्रों मित्र छेदने वाला बचावे ॥ १ ॥

द्यौर्धा पिता पृथिवी माता जराभृत्यं कृणुतां संविद्वाने ।

यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥

इममग्न आयुषे वर्षसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्रराजन् ।

मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्थासत् ॥ ५ ॥

अर्थ— ( द्यौः पिता पृथिवी माता संविद्वाने ) द्यौष्विता और पृथ्वी माता मिलकर ( स्वा जराभृत्यं कृणुतां ) तुमको वृद्धावस्थाके पश्चात् मरनेवाला करो । ( यथा अदितेः उपस्थे ) जिससे मातृभूमिकी गोदमें ( प्राणापानाभ्यां गुपितः ) प्राण और अपानसे सुरक्षित होकर ( शतं हिमाः जीवाः ) सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ४ ॥

हे ( अग्ने मित्र वरुण राजन् ) अग्ने और मित्र तथा वरुण राजा ! ( मियं रेतः ) मिय भोग और वीर्य का बल देकर ( इमं आयुषे वर्षसे नय ) इसको दीर्घ आयुष्य और तेज प्राप्तिके लिये ले जा । हे ( अदिते ) आदिशक्ति ! तू ( माता स्व शर्म शर्म यच्छ ) माता के समान इसे सुख दे । हे विश्व देवो ! ( यथा जरदष्टिः असत् ) यह मनुष्य जिससे वृद्धावस्था तक जीवित रहे वैसी सहायता करो ॥ ५ ॥

भावार्थ— गुपितः सूर्य और मातृभूमि ये दोनों मिलकर इसको अति दीर्घ आयुष्यतक जीवित रखें और यह मनुष्य अपनी मातृभूमिकी गोदमें प्राण और अपानसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्षकी दीर्घ आयुतक जीवित रहे ॥ ४ ॥

हे अग्ने वरुण मित्र राजन् ! इसको मिय भोग और वीर्य का बल देकर दीर्घ आयुसे युक्त तेजस्वी जीवन प्राप्त कराओ । आदिशक्ति माता के समान इसे सुख दे । और अन्यान्य सब देव इसको ऐसी सहायता करें कि यह सुख से अतिदीर्घ आयुष्य प्राप्त कर सके ॥ ५ ॥

### दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा ।

“ शतायु ” शब्द दीर्घ आयुष्यकी मर्यादा बता रहा है । इस सूक्तके ( मं० ४ ) में भी ( शतं हिमाः जीवाः ) “ सौ वर्षतक जीवा ” कहा है इससे सौ वर्षका दीर्घायु प्राप्त करना, इस सूक्तका उद्देश्य है । छोटी आयुके बालक को यह आशीर्वाद दिया जाता है, और सब दिलसे चाहते हैं कि वह सौ वर्षतक जीवित रहे । तथा—

ये अन्ये शतं मृत्यवः ते इमं मा हिंसिषुः । ( मं० १ )

“ जो सैकड़ों अमृत्यु है वे इसका बीचमें ही न मार सकें । ” अर्थात् सौ वर्षके पूर्व कोई अमृत्यु इसका नाश न कर सके । बीचमें किसी किसी समय कोई अमृत्यु इसके पास आ भी गया, तो वह इसके पास सफल मनोरथ न हो सके, यह वहाँ रहना है । लोग अपनी दीर्घ आयु करनेके लिए ऐसे दृढमती हों, और खान पान भोग व्यवहारादिके नियम ऐसे दृढ़तासे पालन करें कि वे बीच हीमें मृत्युके वशमें कभी न चले जाय ।

### साधन ।

दीर्घजीवन प्राप्त करनेका साधन चतुर्थ मंत्रमें संक्षेप से कहा है, देखिए—

प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमा जीवाः । ( मं० ४ )

“ प्राण और अपानसे सुरक्षित होता हुआ सौ वर्ष जीओ । ” इस मंत्र आगमें दीर्घ जीवन का साधन कहा है । यदि यथा विचार मनुष्य करेगा, तो प्रायः यह दीर्घायु प्राप्त कर सकेगा । प्राण और अपानसे अपनी सुरक्षितता प्राप्त करना चाहिए । मर्याद प्रणवा और अपान का बल अपनेमें बढ़ाना चाहिए । नयमके ऊपर प्रणवा राज्य है और नीचे अपानका राज्य है । ये दो शरीरमें मित्र और वरुण हैं । इनका सम्बन्ध इसी सूक्तमें अन्यत्र ( मं० २, ५ में ) पाठक देख सकते हैं । इसी एक साधनसे मनुष्य दीर्घ आयु प्राप्त कर सकता है ।

## इनका कार्य क्षेत्र ।

श्वास और उच्छ्वास रूप प्राणका कार्य हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है । प्राणायामसे इस प्राणका बल बढ़ता है और इनकी सब क्रियाएं भी ठीक प्रकार चल सकती हैं । साधारण भ्रमा और उज्जायी प्राणायाम इस अनुष्ठानके लिए पर्याप्त हैं । भ्रमा प्राणायाम धौकनीकी गतिके समान बेगसे श्वास उच्छ्वास करनेसे होता है । यह थोड़े समय तक ही होता है । अधिक होनेवाला सुगम प्राणायाम उज्जायी है । जो स्वायुक्त और शांत बेगसे श्वासेच्छ्वास नाकसे करनेसे होता है । श्वासका भी शब्द हो और उच्छ्वास का भी हो । इच्छानुसार कुंभक किया जावे या न किया जावे । यह अतिशुगम और सुसाध्य प्राणायाम है और बिना आयास जिस समय चाहे हो सकता है । यह सौम्य होता हुआ भी इस कार्यके लिए अति उपयोगी है ।

इस प्रकार प्राणका बल बढ़ानेका अनुष्ठान होनेसे इसी का परिणाम अपान क्षेत्र पर भी होता है । और अगानके कार्य भी उत्तम रीतिसे होने लग जाते हैं । अपानके कार्य मलमूत्रारसर्ष और कोष्ठगत वायुका नीचे भागसे गमन आदि हैं, ये इससे होते हैं । अन्यथाय योगसाधन भी सुविज्ञ साधकसे जाने जा सकते हैं ।

इस योजनसे प्राण और अपानका बल बढ़ानेसे दीर्घायु प्राप्त करनेका हेतु छिद हो सकता है । हितमित्र पच्य भोजन, संयमश्रुति, ब्रह्मचर्य आदि जो धर्ममार्गके साधन हैं, वे हरएक अवस्थामें आवश्यक हैं वे सर्व साधारण होनेसे जनका विचार बढ़ा करनेकी आवश्यकता नहीं है । प्राणअपानके बलसे अपने आपकी सुरक्षित करना यह एक मात्र अनुष्ठान यहाँ इस कार्यके लिए इस सूत्रके बतावा है और वह योग्य ही है ।

ये दोनों कार्य ठीक प्रकार होने लगे, तो शीघ्रशुद्धिके संबंधमें कोई क्लेश नहीं होगा, भूख उत्तम लगेगी, छातीमें भी कोई कफादिकी बाधा नहीं होगी । इस प्रकार शरीरके सब व्यवहार बिना कष्ट होने लगेंगे, तो समझना कि दीर्घायुकी प्राप्ति के मार्ग पर अपना पग है । परंतु यदि इनके कष्ट होने लगे तो समझना योग्य है, कि अपना पग दूसरे मार्गपर पड़ा है । यही तृतीय मंत्रमें कहा है ।

१. इमं प्राणः मा हातीत्य, मा अपानः [ मं० ३ ]

“ प्राण अथवा अपना इसे बीचमें ही न छोड़ दें । ” अर्थात् यह मनुष्य उसी बर्रदी पूर्ण आयु तक उत्तम प्रकार जीवित रहे और इसके शरीरमें अन्ततक प्राण और अपान अपना अपना कार्य ठीक रीतिसे करते रहें । जो पाठक अपने स्वास्थ्यके धर्म-धर्म विचार करते हैं उनको अपने अंदरके प्राण और अपानके कार्यका विचार करना चाहिए, क्योंकि ये कार्य ठीक चलने रहे तो ही शरीरका स्वास्थ्य ठीक रहेगा ।

स्वास्थ्य की तथा दीर्घ आयु प्राप्त होने की यह कुंजी है । { प्राणायामांशो ध्यातव्यः } प्राण और अपान द्वारा जो, सुरक्षित होता है, वह निव्ययसे उसी रूपे जीवित रहेगा । इसलिए दीर्घायुष्य के इच्छुक लोग अपने शरीरके अंदर इन दोनों कर्तव्यें बजावें ।

## ईशप्रार्थना ।

इमं मिश्राः मा वधिषुः मा अमिश्राः ( सं० ३ )

“ हे ईश्वर ! तेरी कृपासे मिश्र इसका वध न करे और अमिश्र भी न करे । ” तृतीयमंत्र परमेश्वर प्रार्थना विषयकी है, “ भूत भविष्य कालके सब प्राणियों का एक ईश्वर है, सबका पालन बढ़ी करता है, उसी की कृपासे इस मनुष्यका वध न होवे और इसका स्वास्थ्य भी उत्तम रहे । ” यह तृतीय मंत्रका भाव ईश प्रार्थनाका बल प्राप्त करनेकी सूचना देता है । सब चराचर जगत् का पालनद्वारा परमात्मा है, उसकी भक्ति करनेसे जो श्रद्धाका बल बढ़ता है, वह अर्पण है । श्रद्धावान् लोग ही इस बलका अनुभव करते हैं । और श्रायः यह अनुभव है कि श्रद्धा भक्तिसे परमात्म भक्ति करनेवाले उपासक उत्तम स्वास्थ्यसे संपन्न होते हैं । इस लिये इस दीर्घायुष्य प्राप्तिके सूक्तमें ( एवं ईशिषे ) इस तृतीय मंत्रद्वारा जो ईश भक्तिका पाठ दिया है वह दीर्घायु प्राप्त करनेके लिए अत्यन्त आवश्यक है । पाठक इस बलसे वंचित न रहें । इस बलके प्राप्त होने पर अन्य साधन लाभकारी हो सकते, हैं परन्तु इस बलके न होने की अवस्थामें अन्य साधन कितने भी पास हुए तो भी वे इतना लाभ नहीं पहुँचा सकते । पाठक इसका विचार करके ईशभक्तिका बल अपने अंदर बढ़ावे जिससे सब विघ्न दूर हो सकते हैं ।

## देवचरित्र श्रवण ।

दीर्घ आयु प्राप्त करनेके लिए श्रवण अथवा पठन देवताओंके चरित्रोंका ही करना चाहिए । देवों अर्थात् देवताके समान सारुस्थोंके जीवन चरित्र श्रवण करने चाहिए, उनकी प्रशंसा पठन करना चाहिए और उनके चरित्रोंकाही मनन करना चाहिए ।

आज कल उपन्यास आदि पुस्तकें ऐसे धुलित क्या कलापोंसे युक्त प्रकाशित हो रही हैं कि जिन के पठन पाठनसे पढ़ने वालोंमें रागद्वेष बढ़ते हैं, वीर्य क्षय होता है, मद्रस्ययें टूट जाती हैं, और नाना प्रशारकी आपत्तियाँ बढ़ जाती हैं । परंतु वे पुस्तक आज कल बंद रहे हैं, अपने देशमें क्या और इतर देशोंमें क्या हानि देंगे के लोग लेखन व्यवसाय में आनेके कारण हीन सारस्वत प्रचलित हुआ है, इससे सब प्रकारकी हानि ही हानि हो रही है, इस से बचने के उद्देश्यसे इस सूक्तने सावधानी की सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है, देखिए—

ययुनानि विद्वान् होता अग्निः

यत् विद्या देवानो जनिमा विवक्ति ॥ ( सं० २ )

“ गुण कर्मोंको यथावत् जाननेवाला दाता अग्निके समान तेजस्वी उपदेशक सब देवोंके जीवन चरित्र उघे सुनावे । ” यह मंत्र कई दृष्टियोंसे मनन करने योग्य है । इसमें सबसे पहिले उपदेशक के गुण कहे हैं, उपदेशक दाता उदार गनवाला होने, अपने सर्वस्वका ( होता ) हवन करनेवाला हो, ( अग्निः ) अग्नि के समान तेजस्वी हो और ( ययुनानि विद्वान् ) कर्तव्य-कर्तव्य को यथावत् जाननेवाला । इसी प्रकारका प्रबुद्ध उपदेशक लोगोंका मार्गदर्शक बने, लोगोंको धर्म मार्गका उपदेश करे और लोगोंको ( देवता जनिमानि देवताओंके जीवचरित्र सुन वे । देवोंने अपने जीवन में कैसे शुभ कर्म किये हैं, रीतियों परीक्षण किया, जनताका उद्धार कैसे किया, इत्यादि सभी बातें लोगोंको समझा देवे । राक्षसों और विद्यावृत्तोंके जीवन चरित्र पढ़ने नहीं चाहिए अपितु देवोंके दिव्य चरित्र ही अपने सामने रखने चाहिए । आदर्श जीवन देवोंका हुआ करता है । राक्षस और विद्यावृत्त, धूर्तों और दासुओंका जीवन तो न सुनने योग्य होता है । यही ठीक जीवन मनुष्य अपने सामने आदर्शके लिए रखे तो उनके जन्मोंका भी गुणार होगा और उनकी आयु भी बढ़ेगी । आयु बढ़ानेके लिए भी यह एक उत्तम साधन है कि जोत धीरामर्त्यका जीवन अपने आदर्शके लिए ली और राक्षसका जीवन न ले । आजकल की उपन्यासादि पुस्तकें जो मानवी अंतःकरण का ही विगाह कर रही हैं, उनसे बचन की सूचना यही वेदने का है । इसका पालन जितना हो सकता है उतना लाभकारी होगा ।

आज कल जो चरित्र मिलने दें वे मनके विचार कटनेवाले मिलने दें । संयम बलिता बढ़ानेवाले चरित्र कम हैं । इस मित्र धारण पठन यह एक आजकल दुःसाध्य बात हो रही है । तथापि ज्ञानियोंकी आज्ञासे रामायण महाभारत मंत्र तथा-

अन्यान्व्य ऋषिश्रणीत चरित्र है, उनका मनन करनेसे बहुत लाभ हो सकता है । जो लोग इस बातकी आवश्यक समझते हैं उन को उचित है कि वे ऐसे सचरित्र अथवा श्रेष्ठ प्रिय निर्माण करें और बतावें कि जिनके पठन पाठन से आगामी संतान सुधारके पथपर सुगमतासे चल सके । अस्तु । इस मंत्र भागने “ दिव्यचरित्रोका श्रवण और मनन ” यह एक साधन दीर्घायुष्य प्राप्तिके लिए कहा है वह अत्यंत आवश्यक है, इसलिए जो दीर्घायु प्राप्त करना चाहते हैं वे ऐसे चरित्रोंका ही मनन करें ।

पापसे बचाव । दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके लिए पापसे अपना बचाव करनेकी आवश्यकता है । पापसे पतन होता है । और रोगादि बढ जानेके कारण आयुष्य क्षीण हो जाता है, इसलिए इस सूक्तके पहिले ही मंत्रने पापसे बचनेकी सूचना दी है, देखिए—

मित्र एवं मित्रियात् नृहसः पातु । ( मं० १ )

“ मित्र इस मनुष्यको मित्रबंधी पापसे बचावे । ” शत्रु संबंधसे होनेवाले पापसे तो बचना ही चाहिए । कई लोग मनुष्य ऐसा मानते हैं कि मित्र के लिए मित्रके हित साधनेके लिए, कुछ भी गुरागुरा किया जाय तो वह हानिकारक नहीं है । परंतु पाप जो है वह हमेशाही पाप होता है वह किसीके लिए किया जाये, जब पापाचरण होगा तब उसका गिरावटका परिणाम अवश्य ही भोगना होगा । इसलिए जो मनुष्य दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको अपने आपको पापसे बचाना चाहिए । मित्र अपने मित्रको पापकर्म करनेसे रोकें और उसको धीमे धीमे मार्गपर चलाने की सलाह देवें । मनुष्य स्वयं भी विचार करके जाने कि पाप कर्मसे पतन अवश्य होगा, इसलिए हर एक मनुष्य अपना मित्र एवं और अपने आपकी सुरे मार्गसे बचावे । मनुष्य स्वयंही अपना मित्र और अपना शत्रु होता है इसलिए कभी ऐसा कार्यन करे कि जिससे स्वयं अपना शत्रु समान बन जाय तात्पर्य यह है कि दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना हो तो अपने आपको पापसे बचाना चाहिए । पाप कर्म करते हुए दीर्घ आयुष्य प्राप्त करना असंभव है ।

## भोग और पराक्रम ।

मनुष्यको भोग भी चाहिए और पराक्रम भी करना चाहिए । परंतु भोग बहुत भोगनेसे रोग बढ़ते हैं और वीर्यका संवर्धन करनेसे ही आरोग्य पूर्ण दीर्घ आयु प्राप्त हो सकती है । मनुष्यको भोग शिव लगते हैं । और भोगोंमें अपने वीर्यका मांश करना साधारण मनुष्यके लिए एक कदम ही सी बात है, इसलिए इसका योग्य प्रमाण होना चाहिए यह बात पंचम मंत्रमें स्पष्ट की गई है, देखिए—

इमं प्रियं रेतः आयुषे लब्धसे नव । ( मं० ५ )

“ इस मनुष्यको शिव भोग देकर, तथा वीर्य पराक्रम भी देकर दीर्घ आयुष्यके साथ प्राप्त होनेवाले तेजके लिए मे चला । ” अर्थात् यह मनुष्य अपने लिए शिव भोग भी योग्य प्रमाणमें भोगे और वीर्य रक्षण द्वारा पराक्रम भी करे, परंतु यह सब ऐसे सुयोग्य प्रमाणमें हो कि जिससे उसका आयुष्य और तेज बढ़ता जाय । परंतु भोग भोगने और वीर्यके हार्दमें प्रमाणका अतिरेक कभी न हो, जिसमें बीच हीमें अकाल मृत्यु इसके प्राणोंको ले चले । अपना समय भोग और पराक्रमके कामोंके लिए ऐसा बांटना चाहिए कि भोग भी प्राप्त हो और वीर्यके सब कर्म भी बन जाय, और यह सब दीर्घायु और तेजको प्रमिमें बाधा न डाल सके । अपने कार्य इस सूचनाके अनुसार करने चाहिए । रेतके योग्य उपयोगमें संग्रहित भी होनी दे, बढ भी बढ़ता है, परंतु उनके अतिरेक से मनुष्य वयं नाश द्वारा नष्ट प्रसरके बढ लग्न होतें हैं । इसी प्रकार अन्वय भोग भी कामोंके विषयमें समझना योग्य है । इस आयुष्य को ध्यान में धारण करके यदि मनुष्य अपना व्यवहार करे तो उनको भोगभी

३ विधे देवाः । जरदीष्टः यथा असत् । [ मं० ५ ]

“ मित्र और शत्रुनाशक वरुण ये दोनों मिलकर इसकी दीर्घ आयु करें ॥ शुक्रोक्त और मातृभूमि मिलकर इसकी दीर्घायु करें ॥ हे अविनाश आदि शक्ति ! तू माता के समान सुख दे ॥ हे सब देवों ! इसको पूर्ण आयुवाला अतिवृद्ध करो ॥ ”

यहां मित्र, वरुण, सूर्य, पृथिवी, आदिति और सब अन्य देव इसकी दीर्घ आयु करने में सहायक हों, यह प्रार्थना की है। इस से स्पष्ट होता है कि दीर्घ आयु चाहने वाले मनुष्य को इन देवों के साथ अविरোধी वर्तन करना चाहिए। यदि इनकी अनुकूलता से आयुष्यकी वृद्धि होनी है तो उनके साथ विरोध करना योग्य नहीं यह स्पष्ट हो चुका। सूर्य देव अपने प्रकाश से सर्वत्र शुद्धता करता है और हमें दीर्घ आयु देता है, परंतु सूर्य प्रकाश से बंचित नहीं रहना चाहिए, अन्यथा वह हमें सहायता कैसे पहुंचावेगा ? वरुणदेव समुद्रका देव है, समुद्रजल, वृष्टिजल, सामान्य जल उसीके जीवन सागर हैं। यदि मनुष्य इन जलों से अपनी निर्मलता करे अथवा अन्य रीति से लाभ उठावे तब ही जलदेव वरुणसे लाभ प्राप्त हो सकता है। मातृभूमि की योग्य उपासना करनेसे जो राष्ट्रीय स्वातंत्र्य प्राप्त होता है, उससे मनुष्य कार्यक्षम और दीर्घजीवी हो सकता है, इसी प्रकार अन्यान्य देवोंका संबंध है जिसका विचार पाठक करें और उनसे लाभ प्राप्त करके दीर्घजीवी बनें ।

## दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा ।

( २९ )

( ऋषिः-अथर्वा । देवता-नाना देवताः । )

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्त्रोऽत्रै चैले ।

आयुष्यमिस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आ धाद्रुहस्पतिः

॥ १ ॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वष्टरधिनिधेदस्मै ।

रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै श्रुतं जीवाति श्रदुस्तवायम्

॥ २ ॥

अर्थ-हे ( देवाः ) देवो ! अग्नि सूर्य और धाद्रुहस्पति ( ऋषयः ) इस मनुष्य के किये ( पार्थिवस्य तवः भगस्य ) पार्थिव शरीरके पृथक् संस्पर्धो ( रसे बले ) रस और बलके अंदरसे प्राप्त होनेवाला ( आयुष्य वर्चः ) दीर्घ आयुष्य और तेज ( वा यात् ) देवे ॥ १ ॥

हे ( जातवेदः ) शान देनेवाले देव ! ( अस्मै आयु धेहि ) हमके किये दीर्घ आयु दे । हे ( त्वष्टा ) रचना करनेवाले देव ! ( अस्मै प्रजां अधि निधेहि ) हमके किये प्रजा दे । हे ( सविता ) मेरुके देव ! ( अस्मै रायः पोष आ सुव ) हमके किये धन और पुष्टि दे । ( तव अर्थ प्राप्त वारदः जीवाति ) मेरा वह बनकर तू अपने जीवित रहे ॥ २ ॥

मार्थ-हे देवो ! इस मनुष्यका अग्नि सूर्य धाद्रुहस्पति आदि देवताओंकी श्रुतिसे देगा दीर्घ आयुष्य प्राप्त हो, कि त्रिवेदे पाषाण पार्थिव पृथक् युक्त अन्न रस बल तेज और वीर्य जीवन होते हैं ॥ १ ॥

हे देवो ! इसको उत्तम घन्टान, पृथक् युक्त उत्तम, पुष्टि, और दीर्घ आयुष्य दो ॥ २ ॥

आशीर्णं ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दधौ धत्तं द्रविणं सचेतसो ।

जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृपानो अन्यानर्षरान्सुपत्नान्

॥ ३ ॥

इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टो मरुद्भिरुग्रः प्रहितो न आगन् ।

एष वां द्यावापृथिवी उपस्थे मा क्षुधन्मा तृपत्

॥ ४ ॥

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम् ।

ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अंघातां विश्वे देवा मरुत् ऊर्जमापः

॥ ५ ॥

शिवाभिष्टु हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिपीष्ठाः सुवर्चाः ।

सवासिनो पिपतां मन्यमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम्

॥ ६ ॥

इन्द्र एतां संसृजे विद्वो अग्र ऊर्जां स्वधामुजरां सा तं एषा ।

तया त्वं जीव श्रद्धः सुवर्चा मा त आ सुलोद्धिपजंस्ते अक्रन्

॥ ७ ॥

अर्थ—(यः आशीः) हमारे लिये आशीर्वाद भिजे तथा हे (सचेतसां) उत्तम मनवालो! (ऊर्जं तव सौप्रजास्त्वं) बल तथा उत्तम सन्तान, (दधौ द्रविणं) दक्षता और धन हमें (धत्तं) दो । हे इन्द्र ! (अयं सहसा) यह अचानक बलसे (क्षेत्राणि जयं) विविध क्षेत्रों और विजयको प्राप्त (कृपानः) करता हुआ (अन्यानर्षरान्सुपत्नान्) अन्य ऋषियोंकी भीषण दयावा है ॥ ३ ॥

यह (इन्द्रेण दत्तो) प्रभुने दिया है, (वरुणेन शिष्टः) वासुकीके द्वारा वासित हुआ है, (मरुद्भिः प्रहितः) उरसाही वीरों द्वारा प्रेषित हुआ है और इस कारण (उग्रः नः आगन्) उग्र बनकर हमारे पास आया है । हे (द्यावापृथिवी) पृथ्वी और पृथिवी ! (वां उपस्थे) आपके पास रहने वाला (एषः) यह (मा क्षुधन्मा तृपत्) सुखा और तृप्तिके पीहित न हो ॥ ४ ॥

हे (ऊर्जस्वती) हे अश्वशाली ! (अस्मै ऊर्जं धत्तं) हमसे लिये अश्व दो, (पयस्वती अस्मै पयः धत्तं) हे वृषशाली ! हमसे लिये वृष दो पृथ्वी और पृथ्वीलोक (अस्मै ऊर्जं अंघातां) हमसे लिये बल देते हैं । तथा (विश्वे देवा मरुतः आपः) सब देव, अद्व, आप ये सब हमसे लिये (ऊर्जं) शक्ति प्रदान करते हैं ॥ ५ ॥

(शिवाभिः) हे हृदयं ऊर्जमायि । वरुणप्रभो शिवाभिः द्वारा त्वे वरुणप्रभो मे वरुण करता है । (सुवर्चाः) निरोग और (सुवर्चाः) उत्तम तेजस्वी होकर (मोदिपीष्ठाः) आनन्दित हो । (सवासिनो) मित्रर मित्राय करनेवाले तुम दोहों (अश्विनोः रूपं) अश्विद्वयके रूपको और (मायां परिधाय) बुद्धि तथा काम शक्तिको प्राप्त होकर (एत मन्त्रे विभक्तं) इस रसका पान करो ॥ ६ ॥

(विद्वः इन्द्रः) मर्क किया हुआ प्रभु (एतां अजरा ऊर्जां स्वधामुजरां) इस असीम अश्वपुत्र सुखा की उत्पत्ति करता है, देता है । (सा एषा तं) वह यह सब त्वे भिजेही है । (तया त्वं जीव श्रद्धः जीव) त्वमेक द्वारा ए उत्तम तेजस्वी बनकर बहुत वर्ष जीवित रह । (ते मा आमुष्यो) त्वे लिये देवर्षे न बडे (ते विभक्तं अक्रन्) त्वे लिये वीरोंने उत्तम रसयोग बनाये हैं ॥ ७ ॥

मार्शय—हे देव ! हमें आशीर्वाद दे, हमें बल, सुप्रजा, दक्षता और धन प्रदान हो । मनुष्य अपने मित्रमित्रों मित्रिण करके अपने मित्र प्राप्त करे, और ऋषियोंकी नीचे मुख किए हुए मया देवे ॥ ३ ॥

यह मनुष्य परमात्मा द्वारा बनाया, शुरुके द्वारा मिलान बना, वीरों द्वारा उत्पन्न हुआ है, इन्द्र यह उत्पन्न बनकर हमारे अन्दर आया है, और कार्य करता है । आत्मावृषी की उत्पत्ति करनेवाला यह वीर मुख और उत्पत्ति वीरों की प्रजा न हो ॥ ४ ॥



सूर्य पिता और भूमि माता इसको अग्नि, रश्मि, बल और ओज देंगे । जल आदि सब देव इसकी सहायता करें ॥ ५ ॥

शुभ विद्याओं द्वारा तेरे हृदय को वृद्ध करता हूँ । तू नीरोग और तेजस्वी बनकर सदा आनन्दित हो जाओ । मिलकर रहो और अपना सौंदर्य, अपनी बुद्धि और कर्मों की शक्ति बढ़ाकर इस रश्मि को पोषो ॥ ६ ॥

प्रभुने ही यह बलवर्धक अमृतस्य प्रार्थने उत्पन्न किया है, इसका सेवन करके तेजस्वी और बलिष्ठ बनकर तू दीर्घ आयु की समाप्ति तक जीवित रह । तेरी आयु में ऐश्वर्य की न्यूनता कभी न हो । और तेरे लिए वैद्य लोग उत्तम योग तैयार करें, जिससे तू नीरोग और स्वस्थ रहकर उन्नति को प्राप्त हो ॥ ७ ॥

### रश्मि और बल ।

हमारा स्थूल शरीर पार्थिव शरीर कहलाता है, क्योंकि यह पार्थिव परमाणुओं का बना है । पृथ्वी से उत्पन्न होनेवाले विविध रसों के सेवनसे इसकी पुष्टि होती है और उचित रस न मिलनेसे इसकी क्षीणता होती है । ज्योंही शरीर का बल बढ़ाना हो तो पार्थिव रसों का सेवन करना अत्यंत आवश्यक है । शरीरका ऐश्वर्य, बल, आयुष्म और तेज इन्हीं रसोंसे बनकर निर्भर है ।

पार्थिव रसोंका पार्थिव शरीरके संवर्धनमें यह संबंध है इतना माननेसे अग्नि, सूर्य आदि देवताओंका संबंध इससे बिल्कुल नहीं है ऐसा नहीं सिद्ध हो सकता; क्योंकि अग्निसे उष्णता; सूर्य किरणोंका (सायनगुण और जलका) रश्मि इन सबका संमिश्रण होकर ही पृथ्वीसे रस उत्पन्न होता है । इन सम्पूर्ण देवताओंके अंश इस रश्मिमें होतेसे ही यह रश्मि मानो देवताओंका ही रस है । इसलिये सबके सेवनसे देवताओंके सखाया का ही सेवन होता है । जिस प्रकार गौ घास खाकर दूध क्षीर जीवित रस देती है, इसी प्रकार यह भूमि अपने योग्य पदार्थों सेवन करके घृत, फल, शाक, कंद, मूल आदि रूपसे रस देती है । पाठक विचार करके देखेंगे तो उनकी पता लग जायगा कि मद्यपि यह रश्मिसे उत्पन्न होता है, तथापि सबके साथ आप, अग्नि, वायु, सूर्य, चंद्र आदि सब देवोंका घनिष्ठ संबंध है । यदि कोई वनस्पति मृत् प्रकाशसे पोषित रखी जाय अर्थात् ऐसे स्थानपर रखी जाय कि जहां सूर्य प्रकाश नहीं है, तो वह दुर्बल हो जाती है । यह बात देखनेसे पाठक स्वयं ज्ञान सकते हैं कि पृथ्वीसे रस उत्पन्न होनेमें सूर्यादि देवोंका भी भारी संबंध है । पाठक यदा अनुभव करें कि, ये सब देव मनुष्य मानके लिए अन्धादि अंगों सेवार करनेमें कैसे दक्षिण होकर कार्य कर रहे हैं ! यही इन देवोंकी पालक शक्ति है, जो प्राणीमात्रका पालन कर रही है ।

“ अग्नि सूर्य वृद्धयति आदि सब देव पार्थिव ऐश्वर्यके रक्षके और शारीरिक बलसे उन्नत आयुष्य और तेज देते हैं । ” यह प्रथम मंत्रका कथन उक्त तात्पर्य बताता है । इसलिये दीर्घायु आरोग्य और बलयुक्त तेज चाहनेवाले लोग सूर्यादि देवोंसे मिलनेवाले लाभ प्राप्त करें और उक्त गुणोंसे युक्त अन्धादि रस लेकर अपना बल बढ़ावें । यह प्रथम मंत्रका बोध है । ( मं० १ )

### अतापु घनो ।

द्वितीय मन्त्र कहना है कि “ जातवेदसे आयु, स्वशास्त्रे सुप्रज्ञा, सवितासे पुष्टि और घन प्राप्त करके यह मनुष्य भी सर्व जीवित रहता है । ” ( मं० २ ) इस मन्त्रमें दीर्घायु प्राप्त करनेकी बुद्धि बताई है । जातवेद, त्वष्टा और धमिरा ये तीन देव हैं कि जिनकी कृपासे दीर्घायु प्राप्त होती है । इसलिये इनका विशेष विचार करना आवश्यक है—

१ जातवेदः— ( जात-वेदस् ) जिससे वेद अर्थात् ज्ञान बना है; जिससे ज्ञान का प्रवाह चलता है । जिसके पास ज्ञान है और जिससे वह ज्ञान बारीं और फैलाता है । ( जातं वेति ) जो बने हुए पदार्थों मात्रको जानता है अर्थात् पदार्थों मात्रके गुणधर्मोंको जाननेवाला ज्ञानी । ( जातस्य वेदः ) उत्पन्न हुए वस्तु मात्र का ज्ञान । इस अर्थमें यह शब्द पदार्थविद्याका वाक्य है । किन्तु भी प्रकार विचार किया जाय तो यह शब्द ज्ञानवाचक स्पष्ट है, अर्थमें कहा है कि यह आयु देता है, इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि “ ज्ञानी अथवा ज्ञानवी प्रवृत्ततासे आयु बढ़ाई जा सकती है । ” यदि आयु बढ़ाना अर्थात् हो तो वस्तुमात्रका ज्ञान अर्थात् पदार्थ विद्या प्राप्त करना चाहिए और तब विद्यासे अजरघादिकोंका योग्य सेवन करके अपनी आयु बढ़ानी चाहिए ।

२ त्वष्टा—कारीक करना, बारिकईसे कार्य करना, कुशलता से कार्य करना, कारीगरीका कार्य करना, इत्यादि कार्य करनेवाला त्वष्टा नाम है । परमेश्वर स्व जगत् वा ब्रह्मा भारी कारीगर है, इसलिए उसको त्वष्टा कहते हैं । अन्य कारीगर भी छोटे त्वष्टा हैं । “ त्वष्टा इस मनुष्यके लिए प्रजा देवे ” यह हम मन्त्रभाषणा कथन है । योग्य सन्तति बनाना इमांके आधोन है, परमात्माकी कृपासे इसको योग्य और उत्तम सन्तति प्राप्त हो । जो मनुष्य कारीगरीके कार्योंमें कुशल होता है, उसमें सुन्दरताका ज्ञान अन्तर्निहित अधिक होता है, इसलिए ऐसे मनुष्यको अन्तर्निहित अनेक अधिक सुदौल सन्तान होना सम्भव है । मातापिताके अन्दर सुन्दरताकी कल्पना जितनी अधिक होगी उतनी सुन्दरता अथवा सुदौलपन सन्ततियोंमें आना सम्भव है । त्वष्टासे प्रजा का सम्बन्ध यह है ।

३ सविता—प्रेरणा देनेवाला और रसक प्रदान करनेवाला । सूर्य सबको जगता है और वनस्पतियोंमें रसका सञ्चार करता है इसलिए उसका नाम सविता होता है । यह भूमिक ऊपर वनस्पति आदिकोंमें रस वरान करके प्राणियोंको ( पोषण ) पुष्टि करता है और सन्तति ( रायः ) पोषा या ऐश्वर्य मा बढ़ाता है ।

इस रीतिसे ये देव मनुष्यकी महायत्ना करत हैं और हमको दार्ष्टन्य देते हैं । मनुष्योंको चाहिए कि वह इससे यह लाभ प्राप्त करें ।

## अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय ।

आगे तृतीय मन्त्रमें मनुष्यकी सम्पूर्ण आकांक्षाओंका वर्णन संक्षेपसे किया है । ‘ हमें अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय प्राप्त हो और शत्रु नीचे दब जाय । ’ यही सब मनुष्योंकी मनकामना होना स्वाभाविक है । अच्छे शरीर की भूषण प्राप्त होती है, उससे बल बढ़ता है; धन हर एक व्यवहार का साधक होनेसे सब चाहते ही हैं, इसके पश्चात् बंधविस्तार के लिए सुसन्तानकी अभिलाषा मनुष्य करता है । इसके अनन्तर अपने विजयका इच्छुक होता है । वह प्रायः हर एक मनुष्यकी इच्छा है, परन्तु यह सिद्ध कैसे हो, इसका उपाय पूर्व दो मन्त्रोंमें कहा है । उन्हे यह सब प्राप्त हो सकता है । इसके साथ साथ स्थान रखने योग्य विशेष महत्त्वकी बात इस मन्त्रमें कही है; उसकी बातनेवाला मन्त्रमार्ग यह है—

अयं सहसा जयं कृषवानः क्षत्राणि । ( मं० ३ )

‘ यह अपने बलसे विजय करता हुआ क्षत्रियोंकी प्राप्त करे । ’ इस मंत्र भागमें ( सहः ) अर्थात् अंदर के बल का संदेश है । ‘ सहः ’ नाम है ‘ निजबल ’ का । जिस बलसे शत्रु का हमला सदा जाता है, जिस बलसे शत्रु का हमला अपने पर भी अपना नुकसान कुछ भी नहीं होता है, उसका नाम सह है । मनुष्यको यह ‘ सह ’ संश्लक्ष बल अपने अंदर बढ़ाना चाहिए । यह बल जितना बढ़ेगा उतना ही विजय प्राप्त होगा और विविध कार्य क्षेत्रोंमें सन्तति हो सकेगी । और इसीके प्रमाणसे शत्रु परास्त होगे । इसके अ होनेकी अवस्थामें अन्य साधनोपसाधन दितने भी पाषाण ही तो उनका कोई प्रमाण नहीं होगा । इसलिए इस मंत्र भागमें जो “ सह ” संश्लक्ष बल अपने अंदर बढ़ानेकी सूचना दी है, उसकी धन्यता ध्यान करके, यह सब अपने अंदर बढ़ावे और उसके आधारसे अन्न, बल, धन, सुसन्तान आदिके साथ विजय कमावे ।

चतुर्थ मंत्रमें कहा है कि यह मनुष्य दावावृत्ति के अंदर जो आशा है वह “ इन्द्रेण आशा दिया हुआ, बलम द्वारा साधित बना हुआ, और महतो द्वारा चलाया हुआ आशा है, इसलिए यह वहां आकर भूषण और पदार्थसे युक्त हो बने । ” ( मं० ४ ) मल्लिक मनुष्य अपने आपकी इन दौलतों द्वारा प्रेरित हुआ समझे । अपने पीछे इतने देव प्रेरणा करने और रक्षा करनेवाले हैं, यह बात मनमें लभने मनकी शक्ति बड़ी प्रभावशाली बन जाती है । मेरे उदाहरणकी इतने देव हैं यह विश्वास बना बल बढ़ाने वाला है । जिस मनुष्य की सन्तति करने के लिए इतने देव कार्य करते हैं, भूमि जगत् अन्न मूल्य आदि देव इसके लिए आज तोषार करते हैं, इन्होंने इसे इतना देना है, जगत्के देव छोटे बिया देता है, सूर्य तेज देता है, अग्निग्नेय देवोंकी अवधारणा की उदाहरण करते हैं और रक्षा भी करते हैं, क्या ऐसा मनुष्य अपनी शक्तियोंमें आगे बढ़े बिना मन्त्र मन्त्र करने शत्रुओंकी दूर नहीं कर सकता ? कर सकता है, परन्तु इसकी कठिनाई होकर अपने परिवार सदा होना पड़ेगा ।

“ अन्नं व ली भूमि इमे अन्नं अर्पणं करोति हैं, दूधवाली गौयें इसके लिए दूध देती हैं, चावा पृथिवी इसके लिए बल देती हैं और आप देवता इसे वीर्य प्रदान करती हैं । ( मं० ५ )

पाठक इसका अनुभव करें । इतनी देवताएँ मनुष्यको सहायता कर रही हैं, कुछ न मांगती हुई सहायता देती हैं । इतनी सहायता परमात्माकी मंगलमयी योजनासे हो रही है । इसके बाद भी यदि मनुष्य अपना बल न बढ़ावे और विजय न प्राप्त करे; तो फिर दोष किसका हो सकता है ! कृपया सब पाठक इसका उत्तर दें और अपना उत्तरदातृत्व जानकर अपना पुरस्कार करनेके लिए कटिबद्ध हों । मनुष्य अपनी उन्नतिके लिए कटिबद्ध हुआ तो ये सब देव उसके सहायक होते हैं और उसको अखण्ड उन्नति हो सकती है ।

## हृदयकी तृप्ति ।

अन्न प्राप्त हुआ, शरीरका बल भी बढ़ा, संतति भी बहुत हुई, तथा अन्यान्य भोग और ऐश्वर्य भी मिले, तो भी हृदयकी तृप्ति नहीं हो सकती । जबतक हृदयकी तृप्ति नहीं होती, तबतक शान्ति भी नहीं मिल सकती । इसलिए पूर्वोक्तों ने द्वारा अभ्युदयका मार्ग बताकर पक्ष मंत्रमें निःश्रेयसका मार्ग बताया जाता है । हृदयकी तृप्तिका मार्ग यह है—

ते हृदयं शिवायामिः तर्पयामि । ( मं० ६ )

“ तेन हृदयं मंगल वृत्तियोगे तृप्तं करता हूँ । ” शिवा शब्द शुभता का वाचक है । जो मंगलमय है वह शिव है, फिर वह भावना हो सकती है, कामना हो सकती है और विद्या भी हो सकती है । कुछभी हो जो शिव है उसीसे हृदयकी सन्तुष्टि होती है, किसी अन्य बातसे नहीं । पाठक यहाँ अनुभव करके कि जब कभी घुरा विचार उनके मनमें आता है, तब मन कैसा अशांत होता है और जब कभी शुभ भावना आती है तब मन कैसा प्रसन्न हो आता है । शुभ विचार, शुभ उच्चार और शुभ भावना ही मनुष्यके हृदयका संतोष कर सकता है । इनके मनमें स्थिर होनेसे मनुष्यका हृदय तृप्त शान्त और मंगलमय हो जाता है । इस हृदयकी शोभन अवस्थाके मनुष्य दीर्घायु, नीरोग, तेजस्वी, वर्चस्वी, तथा बलवान् होता है और ऐसे शान्तिपूर्ण मनुष्यको ही सुखान्त होती है । पाठक यहाँ देखें कि हृदयकी शान्तिका महत्त्व कितना है और हृदयकी अशांतिके हानि कितनी है । यहाँ १८ आगेके मंत्र भागमें कहें—

अनमीवाः सुवर्चाः मोदिषीष्टाः ( मं० ६ )

“ नीरोग और उत्तम तेजस्वी होकर आनन्दित हो सकते हैं, इसलिए मनुष्यको उचित है कि वह अपने अंतःकरणको शान्त और मजल-मजल और अशांतिके दूर रहे । इतनाही नहीं परन्तु अशान्त अवस्था चारों ओर खड़ी होने पर भी अपना अंतःकरण शान्त और शुभ मंगल कामनाओंसे परिपूर्ण रखे । यह तो अंतःकरण के निखलत्व के विषयमें उपदेश हुआ । बाह्यका व्यवहार आ करना चाहिए इस विषयमें इसी मन्त्रका उत्तरार्थ देखिए—

सवामिनौ माया परिधाय मन्त्रं विवर्तम् । ( मं० ६ )

“ सब मिलकर एक स्थानपर रहते हुए वीर्यत्वको धारण करके रख का पान करो ” इसमें निम्नलिखित उपदेशोपक्रम मजल पूर्व हैं—

१ स-वामिनौ—एकत्र निवास करनेवाले, समान अधिकारसे एक स्थानपर रहनेवाले । उच्चनीच भेदको न बढ़ाते हुए मान विचरते इच्छते रहने वाले । एक प्रकारके आचर व्यवहारसे रहनेवाले ।

यह शब्द एकनामा बल अपने समाज में बढ़ानेका उपदेश दे रहा है । परस्पर विद्वेष न बढ़े, परन्तु एकताका बल बढ़े । सब यही स्मरण रखने योग्य है ।

२ माया परिधाय—माया का अर्थ कुशलता, हुनर, कर्म करनेकी प्रवीणता, मौलाल आदि प्रकार का है । यह शब्द बुद्धि और कर्मशक्ति के समानतया प्रयुक्त होता है । कुशलतासे कार्य करनेकी बुद्धि और शक्ति धारण करने की एवना इस

शब्दद्वारा मिलती है । जगत् का व्यवहार करनेके लिए यह कुशलता अत्यन्त आवश्यक है । कुशलताके बिना कार्य करनेवाला यशका भागी नहीं हो सकता ।

एकता के साथ, समताभावके साथ रहनेवाले और कुशलतासे कार्य व्यवहार करनेवाले लोग ही भोगरूपी रस पान करने आनन्द प्राप्त कर सकते हैं । पाठक इस आशय को मनमें रखकर इस मंत्रका विचार करें और बोध प्राप्त करें ।

### स्वधा ।

मंत्र ७ में ' स्वधा अजर और बलवती है, यह इन्द्रकी बनाई है, इसका सेवन करके तेजस्वी बनकर सो वर्ष जीओ यह उपदेश है । यह स्वधा क्या चीज है, इसका विचार करना चाहिए—

' स्वन्धा ' अपनी धारण शक्तिका नाम स्वधा है । जिस शक्तिके अपने शरीरके विविध अणु इकट्ठे रहते हैं उसको स्वधा शक्ति कहते हैं । यह स्वधा शक्ति जितनी मनुष्यमें होती है उतनी ही उसकी आयु होती है । शरीरकी स्वधाशक्ति कम होनेपर कोई औषधि सहायक नहीं होती । जबतक यह स्वधाशक्ति शरीरमें कार्य करती है तबतक ही मनुष्य जीवित रह सकता, बल सकता और विजय पा सकता है । यह स्वधा शक्तिका मूलत्व है । इसके बिना मृत्यु निश्चित है । इसीलिए सप्तम मन्त्रमें कहा है कि " यह स्वधाशक्ति अजर है " अर्थात् यह जरा वाली नहीं है, इससे ( जरा ) मुझपा जलदी नहीं आता, इन्द्र आयुमें भी जवानों रहती है । यह स्वधा ( ऊर्जा ) बल बढ़ानेवाली है, इसीकी सहायतासे मनुष्य ( सुवर्चा ) उत्तम कान्तिवाला तेजस्वी और प्रभु बशाला होता है और ( शत जीव ) सो वर्षकी पूर्ण निरोग आयु प्राप्त कर सकता है ।

इसलिए ब्रह्मचर्यादि सान्निध्यको पालन करके तथा आयुष्ययुगके सुखोंमें कहे उपदेशोंके अनुकूल आचरण करके मनुष्य अपनी स्वधाशक्तिकी बढाव और मनुष्यके प्राप्त होनेवाले अनेक कार्यक्षेत्रोंमें विजय कमावे तथा इस सुखके पष्ठ मन्त्रमें क उपदेशानुसार अपने अन्तःकरणको शुभ भावोंसे शान्त और गर्भीर बनावे और इह पर लोकमें कृपण्य धने । यही—

“ नः आशीः ”

“ हमारा लिए आशीर्वाद मिले ” और सर्वत्र निर्दोषता और शान्ति का बर आनन्द हो ।

# पति और पत्नीका मेल ।

( ३० )

( ऋषिः-प्रजापतिः । देवता-अश्विनौ )

यथेदं भूम्या अधि तूष्णं वातौ मथायति ।

एषा मथनामि ते मनो यथा मां कामिन्यसौ यथा मन्त्रार्पणा असः ॥ १ ॥

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्षथः ।

सं वां भर्गामो अगमतु सं चित्तानि ससु व्रता ॥ २ ॥

यत्सुपर्णा विवक्ष्वो अनमीवा विवक्ष्वः ।

तत्र मे गच्छताद्वै शल्य इव कुर्मलं यथा ॥ ३ ॥

यदन्तरं तद्वाहं यद्वाहं तदन्तरम् । कन्यानि विस्मृणाणां मनो गृमायौषधे ॥ ४ ॥

अर्थ—( यथा वाता ) जैसा वायु ( भूम्न्याः अधि । भूमिपर ( इदं तूष्णं मथायति ) यह मान हिक्काता है, ( एषा से मनः मथनामि ) जैसा ही तरा मन मैं हिक्काता हूँ जिससे तू (मां कामिनी) अम मेरी इच्छा करनेवाली होवे और यथा मन्त्रार्पणाः न समः ) मुझसे दूर जानेवाली न होवे ॥ १ ॥

( ऐ कामिनौ अश्विनौ ) परस्पर क मना करनेवाले दो चलवानो! ( च इत् सं नयाथः ) मिलकर चलो, ( सं चेन्नयाथः ) और मिलकर आगे बढ़ो । ( वा भर्गामो सं अगमतु ) तुम दोनों को ऐश्वर्य इच्छा प्राप्त हो, ( चित्तानि स ) तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिले और ( मन्त्रानि स ) तुमद्वारे काम भी परस्पर मिल जुल कर हो ॥ २ ॥

( यत् ) यहाँ ( विवक्ष्वः सुपर्णा ) बोलनेवाले सुंदर पक्षपात पक्षी जाते हैं और ( विवक्ष्वः अनमीवाः ) बोलनेवाले नीरोग मनुष्य आते हैं, ( तत्र ) यहाँ ( मे इव गच्छताम् ) मेरी प्रेरणातुसार जानो, ( यथा शल्यः कुर्मलं इव ) जैसा शाल की गोठ निगानेपर जाती है ॥ ३ ॥

( यत् अन्तरं तद् वाहं ) जो अंदर है वही बाहर है और ( यत् बाह्यं तत् अन्तरं ) जो बाहर है वही अंदर है । ( यद्वाहं ) ( विस्मृणाणां कन्यानां ) विविध रूपवाली कन्याओंका ( मनः गृमाय ) मन ग्रहण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जगत्पति वयु पाछा हिलाता है तब तब तब मैं तेरा मन हिलाता हूँ, जिससे तू मेरे ऊपर प्रीति कामेश्वरी होकर । तू मेरे मन रहनेवाली तथा मेरेसे दूर न होनेवाली हो ॥ १ ॥

दे परस्पर प्रेम करनेवाले छी पुरुष । तुम दोनों मिलकर चलो, मिलकर आगे बढ़ो, मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करो, तुम दोनोंके चित्त परस्पर मिले रहें और मुझसे काम भी मिल जुल कर होते रहें ॥ २ ॥

जहाँ ऊपर वस्तु न पड़ी शब्द करते हैं और जहाँ नीरोग मनुष्य ग्रहण करते जाते हैं ऐश्वर्य प्राप्त करनेपर तू मेरी प्रेरणा से चल ॥ ३ ॥

जो हमारे अंदर है वही बाहर है । और जो बाहर है वही अंदर है । मैं निष्पट्ट भावसे वर्तित करता हूँ और इस निष्पट्ट भावस्थिति में विविध रूप की कन्याओंका मन अर्हण करता हूँ ॥ ४ ॥

एयमगुपतिंकामा जनिंकामोऽहमायमम् ।

अश्वः कनिक्दद्यथा भगेनाहं सहायमम्

॥ ५ ॥

अर्थ—( इयं पति-कामा जा अगम् ) यह कन्या पतिकी इच्छा करती हुई आयी है और ( जाने कामः अहं जा अगम् ) स्त्री की इच्छा करनेवाला मैं आया हूँ । ( अहं भगेन सह जा अगम् ) मैं धनके साथ आया हूँ, ( यथा कनिक्दत् अश्वः ) जैसा दिनदिनाता हुआ घोड़ा आता है ॥ ५ ॥

भावार्थ— पतिकी इच्छा करनेवाली यह स्त्री प्राप्त हुई है और स्त्री की इच्छा करनेवाला घोड़ेके समान दिनदिनाता हुआ मैं धनके साथ आया हूँ । हम दोनोंका इस रीतिसे मेल अर्थात् विवाह हुआ है ॥ ५ ॥

अश्विनी देव ।

यह सूक्त विवाह के विषयमें बड़े महत्त्वपूर्ण उपदेश दे रहा है । इस सूक्त की देवता 'अश्विनी' है । ये देव सदा युग्ममें रहते हैं, कभी एक दूसरेसे पृथक् नहीं होते । विवाहमें भी अश्विनी एकवार विवाह हो जानेपर कभी पृथक् न हों, आश्विन विवाह बंधन से बंधे रहें, इस उद्देश्यसे इस सूक्तकी यह देवता रखी है । जिस प्रकार अश्विनीदेव सदा इच्छे रहते हैं कभी विपुक्त नहीं होते, उसी प्रकार विवाहित अश्विनीयुग्ममें इच्छे रहें और परस्परसे विपुक्त न हों अर्थात् विवाह बंधन तोड़कर नवैर वर्तन कभी करनेवाले कभी न बनें ।

द्वितीय मंत्रमें " कामिनी अश्विनी " कहा है, अर्थात् परस्पर की कामना करनेवाले अश्विनी देव जिस प्रकार एक कार्यमें इच्छे रहते हैं; उसी प्रकार विवाहित स्त्री पुरुष युद्धस्थाश्रममें मिल जुलकर रहें और एक दूसरे से विभक्त न हों । वहाँ " अश्विनी " शब्द ' अश्वशक्तिसे युक्त ' होनेका भाव बता रहा है । पुरुष गर्भधान करनेमें समर्थ होनेके लिये वैद्य शास्त्रमें " वाजीकरण " के प्रयोग लिखे हैं । वाजीकरण, अश्वीकरण ये शब्द समानार्थक ही हैं । अश्विनी अश्विनी हैं, इसका अर्थ वाजीकरणसे प्राप्त होनेवाली शक्ति से युक्त हों, अर्थात् गर्भधान करनेकी शक्तिसे युक्त पुरुष हो, और गर्भधारण करनेकी शक्तिसे युक्त स्त्री हो । " अश्वि " शब्दका यह रूपार्थ वहाँ पाठक अवश्य देखें । स्त्री पुरुष परस्पर " कामिनी " अर्थात् परस्परकी इच्छा करनेवाले हों, स्त्री पुरुष की प्राप्तिकी इच्छा करे और पुरुष स्त्रीकी प्राप्तिकी इच्छा करे । इस शब्दसे विवाहका समय भी निश्चित हो सकता है । देखिए—

विवाह का समय ।

मंत्र पांचमें निम्नलिखित मंत्र भाग आता है, उससे विवाहका काल निश्चित हो सकता है—

इयं पतिंकामा जा अगम् ॥

अहं जनिंकामः जा अगम् ( मं० ५ )

" यह स्त्री पतिकी इच्छा करती हुई आई है और मैं स्त्रीकी इच्छा करता हुआ आया हूँ । " यह समय है जो विवाहके लिए योग्य है । स्त्रीके अंदर पतिकी प्राप्तिकी इच्छा और पतिके अंदर स्त्री की प्राप्तिकी इच्छा प्रबल होनी चाहिए । इस समय विवाह करना चाहिए । परंतु वहाँ यह भी संभव माना जा सकता है कि यह गर्भधानका समय हो । सिर सजावट करनेके पूर्व विवाह करनेकी बात प्रथम काण्ड सूक्त १२ में लिखी है । यदि विवाह पड़ेले हुआ तो यह समय गर्भधान का मानना पड़ेगा । तथापि निश्चय यही प्रतीत होता है कि वक्ष्यमाण समाप्तिके पश्चात् ग्रीष्म और गृद्धस्थाश्रम योग्य स्त्री पुरुष होनेके पश्चात् ही विवाह करना चाहिये । इस विषयमें इसी मंत्रमें आगे देखिए—

यथा कनिक्दत् अश्व ।

अहं भगेन सह जायमम् ॥ ( मं० ५ )

' जैसा दिनदिनाता हुआ घोड़ा आता है वैसे मैं धनके साथ आया हूँ । ' यहाँ उत्तम तारण्य और गर्भधान की आवश्यकता शक्ति जिसके शरीरमें है ऐसे तरणका वर्णन है; यही विवाह के लिए योग्य है । विवाह के लिए न केवल ताण्य और

वीर्य की आवश्यकता है, प्रत्युत ( मग ) धनकी भी आवश्यकता है । कुटुंब का पालन पोषण करनेके लिए आवश्यक धन कमा नेकी योग्यता पुरुष प्राप्त करे, धन कमाने लगे और तत्पश्चात् विवाह करे, यह बोध यहां मिलता है । पहले ब्रह्मचर्य पालन करे, तदुप बने, वीर्यवान और बलवान् हो, धन कमाने लगे और पश्चात् सुयोग्य स्त्रास विवाह करे । यह पचम मन्त्रका आशय सतत ध्यानमें धारण करने योग्य है ।

द्वितीय मन्त्रमें “ कामिनौ अश्विनौ ” शब्द हैं, इनका आशय इससे पूर्व बताया जा चुका है । ‘ कामिनौ ’ शब्दका विशेष स्पष्टीकरण पचम मन्त्रके पूर्वार्धने किया है और ‘ अश्विनौ ’ का स्पष्टीकरण पचम मन्त्रके तृतीय चरण द्वारा हुआ है । यह बात पाठक मनन पूर्वक देखेंगे, तो ‘ अश्विनौ ’ शब्द यहां उत्तम तात्पर्यसे युक्त पतिपत्नीका वाचक है और ‘ अश्व ’ शब्द वाजाकरण सिद्ध वीर्यवान् पुरुष का विशेषतया वाचक है, यह बात स्वयं स्पष्ट हो जायगी ।

पचम मन्त्रमें धन कमानेके पश्चात् विवाह करनेका उपदेश तो विशेष ही मनन करने योग्य है । ‘ धीः, श्री, ह्री ’ यह वैदिक ऋम प्रसिद्ध है ।

### निष्कपट वर्ताव ।

स्त्री पुरुषोंका परस्पर वर्ताव, पतिपत्नीका परस्पर व्यवहार निष्कपट भावसे और हृदय की एकता से ही होना चाहिए । तमा गृहस्थाश्रमी पुरुषों को सुख प्राप्त हो सकता है । इस विषयमें चतुर्थ मन्त्रका उपदेश विशेष महत्वपूर्ण है—

यदतर तदाह्य यद्वाह्य तदन्तरम् । ( म० ४ )

‘ जो अंदर है वही बाहर, जो बाहर है वही अंदर है । ’ यह निष्कपट व्यवहारका परम उत्कृष्ट आदर्श है । पति पत्नीके विषयमें तथा पत्नी पतिके विषयमें अतर्बाह्य एक जैसा व्यवहार करे, अंदर एक भाव रखते हुए बाहर दूसरा भाव न रखे । गृहस्थियोंके लिए व्यवहारका आदर्श यही वेदने सुयोग्य शब्दोंद्वारा बताया है । वैदिक धर्मका पालन करनेवाला गृहस्थी इसका अवश्य आचरण करे और अपना गृहस्थपनका सुख बढ़ावे ।

विश्वरूपानां कन्यानां मन गृभाय ॥ ( म० ४ )

‘ विविध रूपवाली कन्याओंका मन इसी प्रकार आकर्षित किया जावे । ’ कोई तदुप किसी कन्याके साथ बातचीत करने तथा अन्य व्यवहार करनेके समय अपना अंदर बाहरका वर्ताव सीधा और कपट रहित रखे । कपट भावसे कन्याको भोला देकर उसको फसानेका यत्न कोई न करे । घरल निष्कपट भावसे ही अपनी धर्मपत्नी बननेके लिए किसी कन्याका मन आकर्षित किया जाय । कभी कोई छल या कपट न किया जाय । स्त्री पुरुष व्यवहारके विषयमें इस मन्त्रका यह उपदेश अत्यंत महत्वपूर्ण है, गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेवाले और प्रविष्ट हुए पाठक इस मन्त्रका बारबार मनन करें ।

### आदर्श पतिपत्नी ।

चतुर्थ मन्त्रमें परस्पर निष्कपट व्यवहार करनेका उपदेश दिया है, उस उपदेशके पालन करनेसे आदर्श कुटुंब बन सकता है इसमें कोई संदेह ही नहीं है, इसका पाठाला नमूना द्वितीय मन्त्रमें बताया है, इसमें पांच उपदेश हैं, देखिए—

१ सनपय — समानगते चलो और चलाओ । एक मत से चलो । एक मतसे घरबार चलाओ । स्त्री और पुरुष एक दिग्ग चले और परिवारको चलावे ।

२ सवस्य — मिलकर आगे बढ़ो । स्त्री और पुरुष एक विचारधारा आगे बढ़ने तथा उत्तम धनदान करनेका प्रयत्न करें ।

३ मग म स जगमत — उष मिलकर ऐश्वर्य प्राप्त करें । मिलकर ऐसा प्रयत्न करें कि जिससे विपुल धन प्राप्त हो जावे ।

४ चिनामि म — आपका चित्त मिले हुए हो ।

५ मतामि म — आपके चरित्र भी मिलजुग बन दिए जाव ।

अर्थात् पतिपरनीमें वैर भाव, द्वेष भाव या कठोर भाव न हो । यहाँ तक एकता का भाव हो कि ये दोनों मिलकर एक ही शरीरके अवयव हैं ऐसा माना जावे । यद्वाकि ये शब्द यद्यपि सामान्यतः पतिपरनीके कर्तव्य बतानेके लिए प्रयुक्त हुए हैं, तथापि सामान्यतः ऐक्य प्रतिपादन परक भी इस मंत्रका भाव लिया जा सकता है और इस दृष्टिसे यह मंत्र सामाजिक ऐक्य भावका उत्तम उपदेश दे रहा है । पाठक इस दृष्टिसे भी इस मंत्रका विचार करें और आदर्श पतिपरनीके विषयमें इसका सज्जल उपदेश स्मरण रहें ।

### भ्रमण का स्थान ।

पतिपरनीको मिलकर भ्रमण के लिए जाना हो, तो किस प्रकारके स्थानमें जाय, इस बातका उपदेश तृतीय मंत्रमें किया गया है उसको भी यहाँ देखिये—

यत् सुपर्णा विवक्षवः ॥

अनमोवा विवक्षवः ॥

तत्र मे हव्यं गच्छतात् ॥ ( मं० ३ )

“जहाँ छुंदर पंखवाले पक्षी शब्द करते हैं और जहाँ नारोग पुष्ट वातावरण पाते हुए जाते हैं, वहाँ भ्रमणानुसार जाय ।” ऐसे स्थानमें पतिपरनी परस्परकी इच्छानुसार अथवा भ्रमणानुसार, परस्परकी स्वीकृत अवकूल भ्रमण के लिये जाय । जहाँ छुंदर छुंदर पक्षी मंजुल शब्द कर रहे हैं और जहाँ नारोग मनुष्य जानेके इच्छुक होते हैं वहाँ जाय । यह स्थानका वर्णन कितना मनोरम है ! पाठक ही इसका अनुभव अपने मनमें कर लें । उत्तम भावसे ही ऐसे वन अथवा उद्यान की पुरुषोंको भ्रमण के लिए प्राप्त हो सकते हैं । यहाँ वेदने आदर्श स्थानही भ्रमण के लिए बताया है, यदि ऐसा स्थान हर एक परिवारके लिए न मिला, तो इसी प्रकारका कोई अन्य स्थान भ्रमण के लिए पसंद करें और निष्कण्ट भावसे उत्तम वातावरण करते हुए भ्रमण करें ।

### स्त्रीके साथ वर्ताव ।

पुरुष स्त्रीके साथ कैसा वर्ताव करे और स्त्री भी पुरुषके साथ कैसा वर्ताव करे, इस विषयमें एक उत्तम उपमा प्रथम मंत्रमें दी है और इस विषयका उपदेश किया है । “जिस प्रकार वायुसे घास दिलाया जाता है उस प्रकार स्त्रीका मन दिलाता हूँ ।” ( मं० १ ) यह कथन बड़ा बोधप्रद है । वायुके अंदर प्रचण्ड शक्ति है, वायु धीमे धीमे चलने लगा, तो बड़े बड़े वृक्ष भी झुक जाते हैं; परंतु वही वायु कोमल घासको नहीं तोड़ता, परंतु केवल दिलाता है । इसी प्रकार वीर पुरुषका कोप प्रबल शत्रुको छिन्न भिन्न कर सकता है, परंतु वही वीर पुरुष द्रिष्टोक्षे वैसा क्रूरताका वर्ताव न करे । जिस प्रकार शत्रुओंको तोड़नेवाला वायु घासको केवल दिलाता है, उर्ध्व प्रकार शत्रुको नष्टप्रष्ट करनेवाला पुरुष भी स्त्रियोंसे कोमल सीत्तिवे ही वर्ताव करे । कठोर व्यवहार कभी न करे ।

स्त्रियाँ भी अपने अंदर घासके समान कोमलता धारण करें और प्रचण्ड वायु चलने पर भी जैसा घास झूटता नहीं, उसी प्रकार अपने ऊर्ध्वके स्थानसे कभी विचलित न हों ।

यहाँ इस उपमासे दोनोंके उत्तम कर्तव्य बताये हैं । इस उपमाका विचार कितना अधिक किया जाय उतना अधिक बोध मिल सकता है । यह पूर्ण उपमा है, इसी योग्य उपमा अन्यत्र नहीं मिल सकती । पाठक इसका विचार करें और बोध लें और वह बोध अपने परिवारमें ढाल दें ।

यह सूक्त पतिपरनीके शुद्धस्थमंत्रका आदर्श बता रहा है, यदि पाठक इसका अधिक विचार करेंगे, तो उनकी बहुत उत्तम उपदेश मिल सकता है । विवाद विषयक अन्यान्य सूक्तोंके साथ पाठक इस सूक्तका विचार करें ।



# रोगोत्पादकं क्रिमि ।

( ३१ )

( ऋषिः-कण्वः । देवता-मही )

इन्द्रस्य या मही दूषत्किमेर्विश्वस्य तर्हणी ।

तया पिनप्ति सं किमीन्दुपदा खल्वी इव

॥ १ ॥

दुष्टमदृष्टमदृष्टमथो कुरूमदृष्टम् ।

अलगण्डून्तसर्वाञ्छलुनान्किमीन्वचसा जम्भयामसि

॥ २ ॥

अलगण्डून्हन्मि महता वधेन दूना अदूना अरसा अभूवन् ।

शिष्टानशिष्टान्नि तिरामि वाचा यथा क्रिमीणां नकिञ्छिषाते

॥ ३ ॥

अन्वान्यं शीर्षण्यमथो पाष्ट्यं क्रिमीन् ।

अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन्वचसा जम्भयामसि

॥ ४ ॥

अर्थ—[ इन्द्रस्य या मही दूषत् ] इन्द्रकी जो बही शिखा है जो [ विश्वस्य क्रिमिः तर्हणी ] सब क्रिमियोंका नाश करनेवाली है [ तया किमीन् सं पिनप्तिम् ] इससे मैं क्रिमियोंको पीस डाल [ दृष्टं खल्वी इव ] जैसे पत्थरसे चर्मोंको पीसते हैं ॥ १ ॥

[ दुष्टमदृष्टमदृष्टमथो ] दोखने वाले और न दिखाई देनेवाले इन दोनों प्रकारके क्रिमियोंका मैं नाश करता हूँ । [ अथो कुरूमदृष्टम् ] और भूमिपर रहनेवाले क्रिमियोंको भी मैं नष्ट करता हूँ । [ सर्वाञ्छलुनान् ] सब विस्तरे आदि मैं रहनेवाले तथा [ शलुनान् ] देगसे दूधर उधर चलनेवाले सब [ किमीन् ] क्रिमियोंको [ वचसा जम्भयामसि ] बचाके द्वारा हटाता हूँ ॥ २ ॥

[ अलगण्डून् महता वधेन हन्मि ] विविध स्थानोंमें रहनेवाले क्रिमियोंको बड़े आघातसे मैं मारता हूँ । [ दूनाः अदूनाः अरसाः अभूवन् ] चलनेवाले और न चलनेवाले सब किमीं रसहीन होगये । [ शिष्टान् अशिष्टान् वाचा नि तिरामि ] बचे हुए और न बचे हुए भी सब क्रिमियोंको बचासे मैं नाश करता हूँ । [ यथा क्रिमीणां नकिञ्छिषाते ] जिससे क्रिमियोंसे कोई भी न बचे ॥ ३ ॥

[ अन्वान्यं ] आतोंमें होनेवाले, [ शीर्षण्यं ] सिरमें होनेवाले [ अथो पाष्ट्यं किमीन् ] और पसलियोंमें होनेवाले क्रिमियोंको तथा [ अवस्कवं ] रहनेवाले और [ व्यध्वरं ] घुरे मार्गपर होनेवाले सब क्रिमियोंको मैं [ वचसा जम्भयामसि ] बचा औपधिले हटाता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब प्रकारके क्रिमियोंका नाश करनेमें समर्थ इन्द्र अर्थात् आत्माको दृढ शक्ति दे उससे मैं रोगोत्पादक क्रिमियोंका नाश करता हूँ ॥ १ ॥

आखड़े दिखाई देनेवाले और न दिखाई देनेवाले तथा भूमिपर रहनेवाले अनेक प्रकारके क्रिमियोंको बचा औपधिले हटाता हूँ ॥ २ ॥

बचा औपधिले मैं सब क्रिमियोंको हटाता हूँ जिससे एक भी न बच सके ॥ ३ ॥

आतोंमें, सिरमें, पसलोंमें जो भूमि कुपार्ग के आचरणसे होते हैं उन सबको मैं बचा से हटाता हूँ ॥ ४ ॥

ये क्रिमयः पर्वतेषु वनेष्वोपधीषु पशुष्वप्यन्तः ।

ये अस्माकं तन्मित्रानिभूः सर्वे वद्धन्मि जनिम रक्षणीषाम्  
( इति पञ्चमोऽनुपाक । )

॥ ५ ॥

अर्थ [य पर्वतेषु क्रिमय ] जो पहाड़ियों पर निमि होत हैं, (वनेषु ओषधीषु, पशुषु, अप्यन्त ) वन, औषधि, पशु, जत्र आदिमें होत हैं, और ( ये अस्माकं तन्मित्रानिभू ) जो हमारे शत्रुओं में घबिष्ट हुए हैं [ तन् क्रिमिणां सर्वे जनिम-रक्षन्मि ] वह क्रिमियोंका सम्पूर्ण जन्म मैं नष्ट करता हू ॥ ५ ॥

भावार्थ—जा पर्वतोंमें, वनोंमें, औषधियोंमें, पशुओं तथा जलोमें क्रिमि होते हैं तथा जा हमारे साथीमें घुसते हैं उन सब क्रिमियोंका मैं नाश करता हू ॥ ५ ॥

### क्रिमियोंकी उत्पत्ति ।

शेगोलादक क्रिमियोंको उ पति 'पर्वत, वन, औषधि, पशु, और जत्र इनके बीच में होते हैं' ( म० ५ ) तथा ये क्रिमि—

अस्माकं तन्मित्रानिभूः । ( म० ५ )

'हमारे शत्रुओंमें घुसते हैं' और पाडा करते हैं, इसलिये इन क्रिमियोंका हननकर अरोग्य खानन करना चाहिये । यह धन्य मंत्रका कथन विशेष विचार करने योग्य है । जलमें सहायक होनेसे विविध प्रकारके क्रिमि हाव हैं, पशुके शरीर में अमक अंतु होते हैं, हरी वनस्पतियोंपर अनेक क्रिमि हाते हैं, वनों में अहां दलदलके स्थान रहते हैं वंश भा विविध जाति के क्रिमि होते हैं और इनका सघष मनुष्य शरीरके साथ होनेसे विविध रोग उ पन्न होते हैं । शरीरमें ये कष्ट जाते हैं इसका वर्णन मंत्र ४ कर रहा है—

अन्वाग्न्य हरीर्वण्य अधो पाट्य क्रिमिन् । ( म० ४ )

"आतों, धिरमें, पसलियोंमें ये क्रिमि जने हैं और वहां बढते हैं ।" इस कारण वहां नाश प्रसारक रोग उत्पन्न होते हैं । इसलिये आरोग्य चाहनेवालों को इनको दूर करना चाहिये । इनकी उत्पत्ति के विषयमें मंत्र ४ में दो शब्द बड़े महत्व के हैं ।—

" अवश्कद, इयश्वर " ( म० ४ )

१ अवश्कद—( अव+इकद ) नीचे गमन । नीच स्थलमें गमन करनेसे इनको उ पति होता है । यही व्यापक शी शायता समुत्पत्ता योग्य है ।

२ इयश्वर—( वि+अश्+र ) विरुद्ध मार्ग पर रमना । धर्म विरुद्ध व्यवहारके जो जो मार्ग हैं उनपर रमनस रागके बीच सापन्न होते हैं । प्रज्ञानपूर्वक निषेधोंका न पालन करना आदि बहुतेरे धर्म विरुद्ध व्यवहार हैं जो रागपन्न करनेमें हेतु होते हैं । इस दृष्टिसे ये दोनों शब्द बड़े महत्वके हैं ।

### दूर करनेका उपाय ।

इन क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय दो प्रकारका इस सूक्तमें कहा है—

१ अवा-ववा नामक यन्त्रपुनित्र उपयोग करना । भाषामें इसको बच कहते हैं । क्रिमि नाशक औषधियोंमें इसका महत्त्व समझे अधिक है । इसका चूर्ण शरीरपर लगाते हैं क्रिमि बाध नहीं होती, अवाक मणि यत्नमें या क्षारपर धारण करवन भी क्रिमिपादा दूर होती है और जलमें घोलकर भी इसका धवन करनेसे बंक अदरके क्रिमियोंको दूर हो जाते हैं। औषधि जत्र उपर्यमें यह सुखम और निश्चिन्ता उपाय है ।

२ इयश्वर मन्त्रे इयद-इयका बडा पत्र । इस नामका कोई पदार्थ है या यह अत्याधिक साक्षिका नाम है, इस विषय में अभीतक कोई निश्चय नहीं हो सहा । इन्द्र नामक अर्थ जथा है, उपरका बल पत्रपर अर्थात् जिघांसा उत्कृष्ट खाद्य व रोग जत्र पर जाते हैं वह उत्तरी प्रबल ज वन शक्ति है । आ म साक्षिके सुकायकमें इन रोग क्रिमियोंको कुछक साक्ष ठहर नहीं सक्ती । यह सब ठीक है, परंतु इस विषयमें अधिक ज्ञान होनेको अवश्यवत्ता है । ये क्रिमि इयन शक्ति होते हैं, कि आसन्न दिखाई नहीं देते ।

१-११६ ( अ. सु. भा. कां० २ )

( अट्ट ) , दूसरे ऐसे होते हैं कि जो आखड़े दिखाई दत्त हैं । कई शरीर पर होते हैं, कर्मोंपर चिपकते हैं बिस्तरमें होते हैं, इस प्रकार विविध स्थानोंमें इनका उत्पत्ति होता है । इनका नश उक्त प्रकार करनेसे इनकी पीडा दूर होता है और आरोग्य मिलता है ।

## किमि-नाशन ।

[ ३२ ]

( ऋषिः काण्वः । देवता-आदित्यः )

उद्यन्नादित्यः किमीन्हन्तु निघ्नोचन्हन्तु राक्षसिभिः । ये अन्तः किम्यो गवि ॥१॥

विश्वरूपं चतुरक्षं किमि मारुज्जमर्जुनम् । युगाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥२॥

अत्रियद्वंः क्रिमयो हन्मि कण्वज्जमदाग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनम्यहं कुमीन् ॥३॥

हवो राजा क्रिमीणामुत्तैषां स्थपतिर्हवः । हवो हवमाता क्रिमिर्हवभ्राता हवस्संसा ॥४॥

अर्थ—[ उद्यन् आदित्य किमीन् हन्तु ] उदय होता हुआ सूर्य किमियोंका नाश करे । [ निघ्नोचन् राक्षसिभि हन्तु ] परमको जाता हुआ सूर्य भी अपने किरणोंसे किमियोंका नाश करे । [ य क्रिमय गवि अत्र ] जो किमि भूमीपर हैं ॥१॥  
[ विश्वरूप ] अनेक रूपवाले [ चतुरक्ष ] चार आलशये, [ सारमर्जुन किमि ] रीगनेशाले केदारगके किमि होते हैं ।  
[ अत्रियद्वी शृणामि ] इनकी हाड्डियोंको मैं तोड़ता हूँ । [ अपि यत् सार वृश्चामि ] इनका जो सिर है वह भी तोड़ता हूँ ॥ २ ॥

हे [ क्रिमय ] किमियो ! [ अत्रियद्व कण्वज्जम, अमर्जुनवत् ] अग्नि, कण्व और अमर्जुन के समान [ य हन्मि ] तुमको मार डालता हूँ । [ अह अगस्त्यस्य ब्रह्मणा ] मैं अगस्त्यकी विद्यासे [ कुमीन् स पिनाग्नि किमियोंको पीस डालता हूँ ॥ ३ ॥

[ किमीणा राजा हव ] किमियोंका राजा मारा गया । [ उत यथा स्थपति हव ] और इनका स्थानपति भी मारा गया । [ हव-माता हवभ्राता, हव स्वसा किमि हव ] किमीकी माता, भाई, बहीन तथा वह किमि भी मारा गया है ॥४॥

अर्थ—सूर्य उदय होनेके पश्चात् अस्त होने तक अपने किरणोंसे रोगोत्पादक किमियोंका नाश करता है । ये किमि भूमिपर रहते हैं ॥ १ ॥

ये किमि बहुत प्रकारके विविध स्वरूपवाले होते हैं, कई श्वत होते हैं और कई अन्य रंगोंके होते हैं । इनसे कईयोंको चार अथवा अनेक आँखें होते हैं ॥ २ ॥

आत्र, कण्व, अमर्जुन और अगस्त्य इन नामों द्वारा उद्धृत होनेवाले उपाय हैं कि जिनसे इन रोग बीजोंका नाश हो जाता है ॥ ३ ॥

इन उपायोंसे इन किमियोंके मूल बीज नष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेद्यसः ।

अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते किमयो हताः

॥ ५ ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याम्या वितुद्रायसि । भिनभि ते कुपुम्भं यस्तं विपचानः ॥ ६ ॥

अर्थ—[अस्य वेशसः हतासः] इसके परिचारक मार गये । [परिवेद्यसः हतासः] इसके सेवक पीसे गये । [अथो यः क्षुल्लका इव] अब जो क्षुल्लक किमी हैं [ते सर्वे किमयो हताः] वे सब किमी मार गये ॥ ५ ॥

[ते शृणो प्र शृणामि] तरे दोनों सीग तोड़ डालता हूँ [याम्या वितुद्रायसि] जिनसे तू कटता है । [ते कुपुम्भं भिनभि] तेरे विपके आशयको मैं तोड़ता हूँ [यः ते विपचानः] जो तेरा विपका स्थान है ॥ ६ ॥

भावार्थ—इनके सब परिवार पूर्णतासे दूर हो जाते हैं ॥ ५ ॥

इनमें जो विपका स्थान होता है उसका भी पूर्वोक्त उपायोपे ही नाश हो जाता है ॥ ६ ॥

### सूर्यकिरण का प्रभाव ।

सूर्य किरणोंमें ऐसी जीवन शक्ति है कि जिससे संपूर्ण प्रकारके रागबीज दूर होते हैं । इसलिए जिस स्थानपर रोग जन्म-  
 ओके बहनेसे रोग उत्पन्न हुए हों, उस स्थानमें सूर्य किरण पहुंचानेसे वे सब रोग दूर हो जाते हैं । जिस घरमें रोग उत्पन्न हुए  
 हों, उस घरके छप्परमें से सूर्य किरण विपुल प्रमाणमें उस घरमें प्रविष्ट करनेसे बहाने रोग दूर हो जाते हैं । क्योंकि रोगवाच-  
 को हटानेवाला सूर्यके समान प्रभावशाली दूसरा कोई भी नहीं है ।

### किमियोंके लक्षण ।

इस सूक्तके द्वितीय मन्त्रमें इन किमियोंके कुछ लक्षण कहे हैं, देखिए ( मं० २ )—

१ अर्जुन —श्वेत रंगवाला,

२ सारग —विविध रंगवाला, चिन्नविचिन्न वर्ण वाला, घबरे-जिसके शरीरपर हैं ।

३ चतुरक्षर—चार नेत्र वाला, चारों तरफ़ जिसके शरीरमें नेत्र हैं ।

४ विषरूप —विविध रंगरूप वाला ।

इन लक्षणोंसे ये किमि पहचाने जा सकते हैं ।

### रोग बीजोंके नाशकी विद्या ।

इन रोग बीजोंका नाश करनेकी विद्या तृतीय मन्त्रमें कही है । इस मन्त्रमें इस विद्याके चार नाम आगये हैं, देखिए—

( १ ) अग्नि, ( २ ) ऋषय, ( ३ ) जमदग्नि और ( ४ ) अगस्त्य के ( ब्रह्मणः ) ब्रह्मसे अर्थात् इनकी विद्यासे मैं रोग  
 बीजभूत किमियोंका नाश करता हूँ । रोगबीजों का नाश करनेकी विद्याके ये चार नाम हैं । प्राचीन विद्याकी खोज करनेवालोंकी  
 चिन्तित है कि ये इन विद्याओंकी खोज करें । इस समय तक हमन जो खोज की उत्पत्ति कुछभी परिणाम नहीं मिलता है ।

### त्रिपस्थान ।

इन किमियोंके शरीरमें एक स्थान ऐसा होता है कि वहाँ विप रहता है, ( मं० ६ ) यह विप ही मनुष्य के शरीरमें  
 पहुंचता है और वहाँ विविध रोग उत्पन्न करता है । इसलिए इनसे बचने के उपाय भी शक्ति ऐसी चाहिए कि जिससे यह विप  
 दूर हो जाय और मनुष्य के शरीर पर यह विप अजिष्ट परिणाम न कर सके ।

**यक्ष्म नाशन ।**

( ३३ )

( ऋषिः-ब्रह्मा । देवता-यक्ष्मविवर्द्धनं, चन्द्रमाः, आयुष्यम् । )

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुंकादधि ।

यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिहाया वि वंशामि ते ॥ १ ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः क्रीकसाभ्यो अनूकयात् ।

यक्ष्मं दोषण्यंमंसाभ्यां बाहुभ्यां वि बृंहामि ते ॥ २ ॥

हृदयात्ते परि क्लेशो हलीक्षणात्पार्श्वाम् ।

यक्ष्मं मर्तस्नाभ्यां छिद्दो यक्नस्ते वि ग्रहामसि ॥ ३ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो च निष्ठोरुदरादधि ।

यक्ष्मैः कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या नि घृहामि ते ॥ ४ ॥

ऊरुभ्यां ते अष्टौवद्भ्यां पाणिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।

यक्ष्मं भस्मं शुश्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि ब्रह्मामि वे ॥ ५ ॥

अस्थिम्यस्ते मज्जम्यः स्नातम्यो घृणम्यः ।

यक्ष्मं पाणिभ्यामङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि ब्रूहामि ते ॥ ६ ॥

अर्थ- ( ते मक्षीया नासिकाया ) तेरे नाँसे और दोनों मधुनोसे ( कर्णाया ध्रुवकाव जवि ) कानोसे, और टोटीमेंसे, ( ते मस्तिष्कात् जिह्वाया ) तरे मस्तकसे तथा जिह्वासे ( शीर्षपं यइव वि वृद्धामि ) सिर संबंधी रोग को दृष्टाना ह ॥ १ ॥

( ते प्रोक्षय्य दग्धिहायय ) तेरे गले से और मुझे की नारीसे ( कीकसाय्य शनूक्या ) हंसली की हाडिगोसे और शीडमे और ( ते भमायां, ते बाहुयां ) तरे कपोसे और शुभाशोमे ( दोषयय यदम वि वृहामि ) मुच्छके रोगको दशावा ह ॥ ३ ॥

( वे द्दयान्, श्लोघ, दक्षीणान् ) तरे हृदये केन्द्रसे और पिचानायसे, यथाश्रया परि ) दोनों कांसे । ( मग्ननाश ) तरे गुंसे ( लघु. यन ) तिष्ठन् और जगिसे ( यन्म विवृणामि ) रोग को हटाता हूं ॥ १ ॥

(ते क्षान्द्रप्रभ गुदाग्रभ.) तेरी कांतोसे और गुदासे (चविष्ठो बढागद अरि) मखस्थानसे और उदरसे (ते कुम्भिका प्रातोः नाभ्या) तेरी कोलोंसे बंदर की यँनीसे और नाभसे (यद्भ विष्टाभि) रोग हटाटा हूँ ॥ ४ ॥

( त ऊदरयो भयोजयौ ) तैरी जयाप्रति भां गुनोति ( पारिजयः प्रवदन् ) पदयोति नीर पौति, ( ते भोजि यो ) ते कु होति (सप्तमः समयः भावपद) गुणस्याने कतिं संभवत गुण (पद्मं विवृणामि) रोगको भे हटाता हु ॥ ५ ॥

( ते आस्थिष्य मज्जथ ) त्री दृष्टिर्वात और मज्जाते ( रत्नावस्थ धम्मनिष्ठ ) पुष्टीसे और नाशियोंसे ( ते पाणिम्मां अगुल्लंघ्य मज्जथः ) चरे हाथ, अगुल्ल और नाशियोंसे ( यद्धम विपुलमि ) होम को इष्टता हृष १ ॥

अङ्गेअङ्गे लोमिलोमि यस्ते पर्वणिपर्वणि ।

यक्ष्मं त्वचस्पृते वृयं कश्यपस्य वीवृहेण विष्वञ्चं वि वृहामसि

॥ ७ ॥

अर्थ—(यः ते) जो तेरे (अङ्गे अङ्गे लोमि लोमि पर्वणि पर्वणि) प्रत्येक अंग प्रत्येक रोम और प्रत्येक गांठमें (ते त्वचस्पृते विष्वञ्चं यक्ष्मं) तेरी त्वचा संबंधी कैन्नेवाले क्षय रोगको (कश्यपस्य वीवृहेण) कश्यपके उपायसे (वयं विवृहामसि) हम हटा देते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—आँख नाक कान बाहु अदि स्थूल शरीरके मोटे अवयवोंसे, हृदय श्रोत्रा मूत्रा आदि पातरिक अवयवोंसे, आरिष मन्त्रा आदि पातुओंसे अथवा जहाँ जहाँ रोग हो वहाँमे कश्यप की विद्यासे हम रोगको हटा देते हैं १-७ ॥

कश्यप-विब्रह्मण ।

पूर्व सूक्तमें अग्नि, कश्यप, जमदग्नि और अगस्त्य नामकी रोगदूरीकरण की विद्या आगई है । उसी प्रकारकी कश्यप विब्रह्मण नामक विद्याका उल्लेख इस सूक्तमें आया है । खोज करनेवालोंको उन विद्याओंके साथ इस विद्याकी भी खोज करना चाहिये । इस समय तो यह विद्या अज्ञात ही है ।

[ यह सूक्त कुछ पाठ भेदसे क्र० १०११३३ में आया है ]

## मुक्ति का सीधा मार्ग ।

( ३४ )

( ऋषिः-अथर्वा । देवता-पशुपतिः । )

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ।

निष्क्रीतः स गृह्णियं भागमेतु रायस्पोषा यजमानं सचन्ताम्

॥ १ ॥

प्रमृश्वन्तो भुवनस्य रेतां गातुं घत्त यजमानाय देवाः ।

उपाकृते शशमानं यदस्यात्प्रियं देवानामप्येतु पार्थः

॥ २ ॥

अर्थ—[ य पशुपति ] जो पशुपति [ य द्विपदा उत चतुष्पदा ईशे ] द्विपद और चतुष्पदीका स्वामी है [ स निष्क्रीतः ] वह पूर्ण रीतिसे प्राप्त हुआ हुआ [ गृह्णियं भागं एतु ] यजनीय विभागको प्राप्त होवे । [ रायः पोषा-यजमानं सचन्ताम् ] धन और पुष्टियों वश करनेवालेको प्राप्त हों ॥ १ ॥

हे [ देवाः ] देवो ! [ सुवनस्य रेतां प्रमृश्वन्तः ] सुवन के वीर्यका दात करते हुए [ यजमानाय गातुं घत्त ] यश करनेवाले के लिए सम्मान प्रदान करो । [ यत् शशमानं उपाकृतं देवानां प्रियं पाथ अस्मभ्यः ] जो सोमरूप सुमंस्कृत देवोंका प्रिय अन्न है वह हमें [ एतु ] प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो द्विपद और चतुष्पद आदि सब प्राणियोंका स्वामी एक ईश्वर है, वह नि शेष रीतिसे प्राप्त होनेके पथ पर पूज के स्थानमें पूजित होता है और उनकी कृपासे सब प्रकारके धन और पुष्टियों का प्राप्त होता है ॥ १ ॥

सब देव इस उपासक को संभारका वीर्य प्रदान करते हुए सम्मान बताने और वनहारी सबकी सुमंस्कृत देवोंक निरूपित ऐश जो अन्न होता है वह इसको देते हैं ॥ २ ॥

ये ब्रूयमानमनु दीर्घ्याना अन्वैक्षन्त मनसा चक्षुषा च ।

अग्निष्ठानग्रे प्र प्रमोक्तु देवो विश्वकर्मा प्रजया संरराणः ॥ ३ ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः ।

वायुष्ठानग्रे प्रमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

प्रजानन्तः प्रति गृह्णन्तु पूर्वे प्राणमङ्गेभ्यः पर्याचरन्तम् ।

दिवं गच्छ प्रति तिष्ठा शरीरैः स्वर्गं याहि यथिभिर्देवयानैः ॥ ५ ॥

अर्थ—[ये दीर्घ्यानाः] जो प्रकाशमान [ब्रूयमानं अनु] बधे हुए को अनुकूलता के साथ [मनसा च चक्षुषा अन्वैक्षन्त] मनसे और आँखसे देखते हैं, [ विश्वकर्मा प्रजया संरराणः देवः अग्निः ] विश्वकर्ता प्रजासे रमनेवाला प्रकाशमान देव [ तान् अग्रे प्रमोक्तु ] उनको सबसे पहले सुकृत करे ।

[ ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः ] जो ग्रामीण विविधरंग रूपवाले पशु [ बहुधा विरूपाः संतः, एकरूपाः ] बहुत करके अनेक रूपवाले होनेपर भी एक रूप होनेके समान ही हैं ( प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः ) प्रजाके साथ रमने वाला प्रजापालक प्राण देव [ तान् अग्रे प्रमोक्तु ] उनको पहले सुकृत करे ॥ ४ ॥

[ पूर्वे प्रजानन्तः ] पहले विसर्प जन्मेवाले ज्ञानो [ परिज्याचरन्तं प्राणं ] चारों स्थानोंमें भ्रमण करनेवाले प्राणको [ अंगेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु ] सब जगोंसे ग्रहण करें । [ शरीरैः प्रतिगच्छ ] सब शरीरोंमेंसे प्रविष्टित रह, पश्चात् [ देवयानैः ] यथिभिः स्वर्गं याहि, दिवं गच्छ ] देवोंके जाने योग्य जगोंसे स्वर्गको जा, प्रकाशमान स्थानको प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ— जो तैजस्वी ज्ञानी पुरुष अपने मनसे और आँखसे बद्ध दृष्टिमें रहे हुए प्राणोंको अनुकम्पा की दृष्टिसे देखते हैं, उनको— ही विद्वत्का निर्माण करनेवाला और प्रजाओं में रमनेवाला प्रकाशमान देव सबसे पहले सुकृत करता है ॥ ३ ॥

प्र रूप पशु जो वास्तवमें विविध रंगरूपवाले होते हुए भी एक रूपवाले जैसे होते हैं, उनको भी सब प्रजाओंके साथ रहनेवाला प्राणोंका प्राणदेव पहिले सुकृत करता है ॥ ४ ॥

जो ज्ञानी लोग सब शरीरमें संचार करनेवाले प्राण की गण जंगों और अवयवोंसे इष्टा करके अपने अधिकारमें लाते हैं, वे शरीरसे सुदृढ होति हुए दिव्य मार्गसे सीधे स्वर्ग को जाते हैं और प्रकाश वा स्थान प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

### प्राणका आयाम ।

शरीरमें प्राण एक अद्भुत शक्ति है । वास्तवमें यह एकही प्राण शरीरिक विभिन्न अवयवों और अंगोंमें कार्य करनेके कारण अनेक प्रकारका माना जाता है और इसी एकको अनेक नाम भी दिए जाते हैं । ईश्वरी नियमसे एक प्राण अनेक अवयवोंमें जाता है और वहाँमें स्नेहछाँसे निवृत्त होता है । यदि इस प्राणपर मनुष्यकी इच्छाका स्वाभाव होगा अर्थात् मनुष्यकी इच्छाके अनुसार प्राणका अंगों और अवयवोंमें गमन होगा, और इच्छानुसार इसकी शरीरमें स्थिति हो सकेगी, तो शरीरका कोई भी अवयव कभी रोगी न होगा और इच्छा मरण की सिद्धि भी प्राप्त होगी । यह सब बात प्राणपर प्रभुत्व प्राप्त होने पर ही निर्भर है । इसी लिए पद्म पत्रमें कहा है—

प्रजानन्तः पूर्वे पर्याचरन्तं प्राणं अङ्गेभ्यः प्रतिगृह्णन्तु । ( मं० ५ )

“ जाननेवाले बड़े लोग पंचार करनेवाले प्राणको सब जगोंसे इष्टा करके अपने स्वाधीन कर लेते । ” इस मंत्रमें इस कर्मके अधिकारी कोन है यह भी कहा है, प्राणका कार्य बग़ावा है और प्राणको स्वाधीन करनेवा भी उपदेश दिया है, इसका अनुप्राण देखिए—

१ प्र—जानन्तः पूर्वे = ( प्र—जानन्तः ) विशेष जाननेवाले अर्थात् शरीर घात और योगशास्त्रके विशेष ज्ञाता । प्राणायामके शास्त्रको उत्तम प्रकारसे जाननेवाले योगी ( पूर्वे ) पहले, अर्थात् नवीन साधनेवाले नहीं, जो पुराने अनुभवी हैं । वे लोग अपने अंगों और अवयवोंसे प्राणको इष्टा करके अपने आधीन करें ।

२ पर्याप्तान्तं प्राणं—( परि+आचरन् ) चारों ओर संचार करनेवाले प्राणको स्वाधीन करें । प्राण संपूर्ण शरीरमें संचार कर रहा है, रवेच्छासे संचार कर रहा है, उसको अपनी इच्छासे कार्य करनेमें लगावें । प्राणका संचार जहाँ योग्य रीतिसे नहीं होता है वहाँ रोग होते हैं; इसलिए प्राणको अपनी इच्छासे प्रेरित करनेकी शक्ति प्राप्त हो गई तो सब शरीर नीरोगी रखना और दीर्घ आयु प्राप्त करना भी संभवनीय है ।

३ अङ्गेषु प्राणं प्रतिगृह्णन्—शरीरके अंगों और अवयवोंसे प्राणको इष्टा करना और अपनी इच्छानुसार उसे शरीरमें प्रेरित करना यहाँ सूचित किया है ।

योग शास्त्रमें प्राणायाम विधि कही है । इसके अनुष्ठान से यह सिद्धि प्राप्त हो सकती है । जो पाठक इस विषयमें अधिक परिश्रम करना चाहते हैं, वे अच्छे योगीके पास रहकर ब्रह्मचर्य आदि सुविधायोंका अनुष्ठान करके अपनी इष्ट सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं । अपने शरीरके सब अंगों और अवयवोंसे प्राणको इष्टा करना और पुनः प्रत्येक अवयवमें उसकी भेजना यह सब केश अपने आधीन होनी चाहिए, इससे कौनसी सिद्धि हो सकती है इसका वर्णन इसी मंत्रमें देखिए—

शरीरं प्रतिष्ठि । ( मं० ५ )

“अपने शरीरोंके साथ स्थिर हो” यह पहिली सिद्धि है । स्थूल सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर हैं, इसी प्रकार सात शरीर भी भिन्ने जा सकते हैं, अंगों और अवयवोंकी गिनती करनेसे बहुत सूक्ष्म विचारमें जाना पड़ेगा, इसलिये वह विचार हम छोड़ देते हैं । इन शरीरोंके साथ मनुष्य सुदृढ़ और सुस्थितिष्ठि हो सकता है । जो पूर्वोक्त साधन कर्मों और प्राणको अपने आधीन बनायेगा, वह शरीरसे नरोग, सुदृढ़ तथा दीर्घायु हो सकता है । यह तो प्रत्यक्ष लाभ हुआ, परंतु प्राणायाम साधन करनेसे अप्रत्यक्ष भी बहुत से लाभ होते हैं । इस अप्रत्यक्ष लाभ के विषयमें यही मंत्र इस प्रकार कहता है—

दिवं गच्छ । देवयानैः पथिभिः स्वर्गं गच्छि । ( मं० ५ )

“प्रकाशमय स्थान प्राप्त कर । देवोंके मार्गसे स्वर्गमें जा” यह है अन्तिम सिद्धि, जो इस प्रकाशके मार्गसे और प्राणके वशीकरणसे प्राप्त हो सकती है । योग साधनके द्वारा प्राप्त होनेवाली यह अन्तिम सिद्धि है, जो प्रायः सब धर्म मंत्रोंमें वर्णित हो चुकी है ।

## पञ्चपति रुद्र ।

पूर्वोक्त पंचम मंत्रमें प्राण का वर्णन किया है, उसके वशीकरणसे लाभ बताये और उसकी विधि भी कही है । इसी प्राणको वेदमें “रुद्र, पञ्चपति” आदि नाम आवे हैं । प्राण शब्द परमात्माका वाचक हो, या शरीरस्थ प्राणका वाचक हो, दोनों अवस्थामें ये शब्द उसके वाचक होते हैं । ऋग्वेदके रुद्राध्यायमें ये रुद्रके वाचक कहे हैं और प्राण रुद्र है, यह बात षाट्पद्यादि शास्त्राणोंमें अनेक-वार कही जा चुकी है । इसलिये पञ्चपति शब्द रुद्र और प्राण एकही अर्थमें प्रयुक्त होनेमें किसीको संदेह नहीं हो सकता ।

शरीरमें “पञ्चभाव” है, स्थूलशरीरमें पाचवी बल रहता है, इंद्रियोंमें भोगेच्छा, काम क्रोध आदि पञ्चभाव हैं, मनमें सुवासना आदि पञ्चभाव हैं, इस प्रकार स्थूल सूक्ष्म कारण शरीरोंके क्षेत्रोंमें बहुतसे पञ्च विद्यमान हैं, उनको वशमें रखनेवाला, उनका स्वामी यह प्राणही है । प्राणके वशमें होनेसे ये सब पञ्च वशमें हो जाते हैं और कोई कष्ट नहीं देते । पञ्चपति होना यह भी एक बड़ी मारी सिद्धि है, जो प्राणको वश करनेसे प्राप्त हो सकती है । प्राणका वर्णन अन्वय प्रतीति प्रकार हुआ है—

प्राणाय नमो यत्न सर्वमिन्द्र वशी ।

यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्सर्वं प्रतिष्ठितम् । अथर्व. ११ ( ६ ) १११

“प्राणके लिये प्रणाम है जिसके वशमें यह सब है, जो सबका स्वामी है और जिसमें सब ठहरा है ।” यह प्राणका वर्णन देखिये और इस सूक्तका प्रथम मंत्र देखिये—“द्रिदा और चतुष्पाद पञ्चभोज जो पञ्चपति स्वामी हैं वह अपना बननेके पश्चात् वह पूज्य स्थानमें जाता है और धन तथा पुष्टि का उपासकको मिलती है ॥ ” ( मं० १ )



द्विपाद और चतुष्टय दोनों शरीरोंका चलावनाला प्राणही है, इसके होनेसे सब इंद्रिय कार्य करते हैं और इसके चले जानेसे यह शरीर मुर्दा हो जाता है, इसलिए द्विपाद चतुष्टयादोंका स्वामी प्राण है। यह प्राण(नि-क्रीतः)पूर्ण रीतिसे खरीदा जाय, तभी वह आधोन हो जाता है। कोई पदार्थ खरीदा जाने परही अपने-स्वामीत्व में आ जाता है। यह प्राण किम रीतिसे खरीदा जा सकता है, इसका विचार करना चाहिए।

द्रव्य देकर अन्य पदार्थ खरीदे जाते हैं, वैसा यह प्राण घनसे खरीदा नहीं जा सकता। इसको योगानुष्ठानरूपी तपके द्वारा खरीदनेधी आवश्यकता है। वैराग्य और अमृत्यस द्वारा यह खरीदा जाता है अर्थात् यह पूर्ण स्वाधीन हो जाता है। स्वाधीन होनेके पश्चात् " यद् ( अक्षिप्त मां ) पूजके स्थानमें प्राप्त होता है, " यह स्थलमें यह प्राप्त होता है, जोगी जन इसकी प्राप्ता-वाम द्वारा उपपन्ना करते हैं, जिससे—

रायस्पोषाः यजमानं सचन्ताम् । ( मं० १ )

" सोमा और पुष्टिमा यजमानको मिलती हैं । " मंत्रमें ' राय ' शब्द है जो ' घन, सोमा ' आदिका वाचक है। गोग-मार्गसे प्राणको उपपन्ना करनेसे यह प्रत्यक्ष फल प्राप्त होता है। इसके साथ " शरीर—प्रतिष्ठा " अर्थात् शरीर स्वरूप्य रूप फल जो कि मंत्र ५ में कहा है, वह भी यज्ञ देखने योग्य है, क्योंकि " शरीरकी प्रतिष्ठा " भी शरीरकी सोमा और पुष्टि होने से ही हो सकती है।

### बीजशक्ति ।

इस प्रणके अनुष्ठानसे और एक महत्त्व पूर्ण शक्ति प्राप्त होती है, उसका वर्णन द्वितीय मंत्र द्वारा हुआ है—

भुवनस्य रेवः प्रमुञ्चन्तः देवाः गान्धु धत । ( मं० २ )

" त्रिभुवनका बीज फैलानेवाले देव इसको योग्य मार्ग देते हैं । " त्रिभुवनके अंदर अनंत पदार्थ हैं और उन पदार्थोंके अनंत सूक्ष्म बीज हैं, यही त्रिभुवनका ' रेव ' अथवा बीज है। यह बीज सूर्यादि देवोंके पास है। वह बीज शक्ति इन देवोंसे इस पुष्टिको प्राप्त होती है जो प्राणको पूर्णतः प्रसर वदा करता है। ब्रह्मवर्ष प्रतिष्ठासे जो बीज लाभ होनेका वर्णन योगदर्शनमें है वह बीज यही है। पाठक विचार करके देखेंगे तो उनकी पता लग जायगा कि बीजमें केन्द्रीभूत शक्ति होती है और वह यही माती शक्ति है, उसका निरंतर अपरिमित हो सकता है। यह बीजशक्ति यदि अपने अंदर आगई, बढी या घुटित हो गई, तो अपनी शक्ति बहुत ही बढ सकती है। योगीके अंदर जो चिह्नलक्षण शक्ति अती है उसका कारण यही है कि, वह सूर्यादि देवोंसे बीजशक्ति प्राप्त करता है और उसका उपयोग करता है।

### योगीका अन्न ।

द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें योगीके सेवन करने योग्य सात्विक अन्नका वर्णन हुआ है—

यद् वाशमानं उपार्कृतं देवानां प्रियं पायः अस्यात्

तद् अपि पतु ॥ ( मं० २ )

" जो वनद्वर्गत संबंधी उत्तम घरेरार किया हुआ देवोंको प्रिय अन्न होता है वह अन्न हमें प्राप्त हो । " इसमें दिव्य अन्नका यथोक्त वर्णन है। अन्न नरम अर्थात् सुपच हो, हाजमा बिगाड़नेवाला न हो। " वाशमान " शब्द चन्द या सोम औषधि का वाचक है। यह देवोंका अन्न है। सोम वनस्पतिको रस ही है। इस रसमें गोधा साजा दूध मिलाया जाता है और सत्तु भी मिला होता है। यह रस पुष्टि कर्त्तित और बल बढानेवाला है। अन्न (देवानां प्रियं) देवताओंके लिए प्रिय हो, देव शब्दका अर्थ इन्द्रिय भी है। यह अर्थ लम्बेसे अन्न ऐसा हो कि जो इंद्रियोंका हित करनेवाला, अर्थात् इन्द्रियोंके लिए हितकारी हो, यह अर्थ इसी वाक्यसे मिला है। कोई पदार्थ ऐसा नहीं लेना चाहिए कि जो शरीरकी हानि करनेवाला हो और इन्द्रियोंको निर्बल करनेवाला हो। इस मन्त्रका " पाय " शब्द भी पीने योग्य अन्नका बोध करता है। यह सब वनस्पतिजन्य रसपूर्ण बलवर्धक और पुष्टिकारक अन्नका बोध करनेवाला वर्णन है। दूध के साथ सोमरस या अन्न, अथवा औषधिरस अदि सेवन करना योग्य है। सोमरस पातकी विधि यज्ञप्रकरणमें प्रसिद्ध है।

## मुक्तिका मार्ग ।

तृतीय मंत्रमें मुक्तिका ओषा मार्ग बताया है, जो हर एक को मनमें धारण करना चाहिए—

ये दीध्यानाः मनसा चक्षुषा च बध्यमानः अनुस्मरेन्मृतः । ( मं० ३ )

“ जो तेजस्वी लोग बद्ध हुए वो मनसे और आँखसे अनुस्मृती की दृष्टिसे देखते हैं, ” वे मुक्तिके अधिकारी हैं। वेही बंधनसे छूट सकते हैं और केवल ध्याना में पहुँच कर विराजमान हो सकते हैं ।

स्वयं ( दीध्यानाः ) तेजस्वी होते हुए, पूर्वोक्त उपनिष्ठानसे अपना तेज मिलाया और बढाया है, उनकी चाहिए, कि वे अपने ( मनसा ) मनसे, अपने अन्तःकरण के सहारे अपने तथा अपने ( चक्षुषा ) आँखसे बंधनमें पड़े, गुलामीमें सड़नेवाले, परस्पर जीव पर दया की दृष्टिसे देखें अर्थात् यहाँ केवल आँखसे ही देखना नहीं है अपितु अंतःकरणसे उनकी हीन अवस्था की सोचना है, उस अवस्था में दिलमें मना करना है और उनकी सहायता करने के लिए अपनी ओरसे जहा तक हो सक्ता है वहा तक यत्न भी करना है । उनकी सहायता के लिए आत्मसमर्पण करना है । जो महात्मा दीनोंके उद्धार के लिए आत्म समर्पण करते हैं वेही मुक्तिके अधिकारी हैं । परमात्मा को दीनोंके अंत कालमें अनुभव करके उनकी सेवा करना, अथवा दीनोंके उद्धार के प्रयत्नसे परमात्मा की उपासना करना, अदि कार्य जो करते हैं वे मुक्तिके अधिकारी हैं । इनकी सहायता कैसे होती है यह भी देखिये—

प्रजया सरराणः विश्वकर्मा अग्निः देव

अग्निं तान् प्रमुनीकतु । [ मं० ३ ]

“ प्रजाके साथ रहनेवाला विश्वकर्मा कनो तेजस्वी देव पहले उनको मुक्त करे । ” इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दों द्वारा कहा है कि ईश्वर प्रजाके साथ रहता है, अर्थात् प्रजाजनोंके अन्तःकरण में रहता है । दीन प्रजाओंमें उसको जो बंध होते हैं, वे बंध दीन प्रजा की सेवा करनेसे ही दूर होनेके कारण दीन प्रजा की सेवा करना ही परमात्मा की भक्ति करना है । इसीलिये इस मंत्रके पूर्वार्थमें कहा है कि “ बद्ध स्थितिमें दीन और दुःखी बने हुए जनोको अनुकंपा की दृष्टिसे मनसे और आँखसे देखनेवाले सबसे पहले मुक्त होते हैं । ” पाठक यहाँ परमात्मा की उपासना का सच्चा मार्ग देखें और उस मार्गसे चलकर मुक्तिके अधिकारी बनें ।

## विश्वरूपमें एकरूपता ।

विश्वका रूप अनेक प्रकारका है, विविधता इस विश्वमें स्थान स्थानपर दिखाई देती है, एकसे दूसरा भिन्न और दूसरे से तीसरा भिन्न, यह भेदकी प्रतीति इस जगत्में सर्वत्र है । विचार होता है कि क्या यह भेद सदा रहना है अथवा इसका अन्त होनेकी कोई युक्ति है । चतुर्थ मंत्र कहता है कि भेदमें अभेद देखनेका अभ्यास करो, जैसा—

विश्वरूपा विरूपाः सन्तः बहुधा एतेषाः । ( मं० ४ )

‘ विश्वमें दिखाई देनेवाले रूप विविध प्रकारके रूप होनेपर भी वे बहुत प्रकारसे एकरूप ही हैं । ’ उदाहरण प्रथम पशु की लीजिये— गौर्वे रूप रंग और आकारसे भिन्न हैं, यह भेद दृष्टि है । हम दृष्टिसे देखनेसे भिन्नता अनुभवमें आती है । अब यह दृष्टि छेड़ दें और “ गौ-पन ” ( गौत्व ) की सामान्य दृष्टिसे सब गौओंको देखिये, इस दृष्टिसे सब विविध गौर्वे एक गोजातिमें मिल जाती हैं । जाति दृष्टिसे अभिन्नता और व्यक्ति दृष्टिसे भिन्नता का इस प्रकार अनुभव आता है । अब सामान्य पशुओं में गौ, बैल, घोड़ा, घोडा, बकरी, मेंढी, गधा, गध्या आदि अनेक पशु आते हैं, ये परस्पर भिन्न हैं इसमें किसी को भी शक नहीं हो सकती । परंतु यह सब एक भिन्नता भिन्नता “ पशुत्व ” सामान्य में आया है, यह सब “ पशु ” हैं, इस दृष्टिसे देखनेसे छूट हो जाती है और पशुभाव में सब एक दिखाई देते हैं । पशु और मनुष्य निःसंदेह भिन्न हैं, परंतु “ प्राण ” होनेके कारण दोनोंकी एकता “ प्राणी ” भावमें होती है । इसी प्रकार भिन्नता और अभिन्नता का विचार करना उचित है और किंचि दृष्टिसे भिन्नता अनुभवमें आती है और किंचि दृष्टिसे अभिन्नता दिखाई देती है, इसका निश्चय करना चाहिये । चतुर्थ मंत्र कहता है कि “ विविध रूप होनेपर भी बहुत प्रकार से एक रूपता है ” और इस एकरूपता का ही विचार करना चाहिए । अपने शरीरमें ही देखिये, प्राण दस स्थानोंमें विभक्त होनेके कारण उसको दस नाम प्राप्त होते हैं, परंतु वह दस प्रकारका नहीं है, विभिन्न दस कार्य करने पर भी वह सब मिलकर एक ही है ।

विभिन्न प्राणोंमें अभिन्न प्राणके कार्यको देखना ही शस्त्रकी दृष्टि है । इसी प्रकार विभिन्न इंद्रियोंमें अभिन्न इन्द्रकी ( आत्माकी ) शक्ति कार्य कर रही है, यह अनुभव करना आध्वकी दृष्टिसे देखना होता है । इंद्रियोंकी मिश्रता बच्चा भी जान सकता है, परंतु उनमें एक आत्माकी शक्ति समान नियमसे कार्य कर रही है, यह देखना विशेष अभ्यास से ही साध्य हो सकता है । इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, सूर्य आदि विभिन्न तैत्तिरीय देवताओंमें एक अभिन्न आत्माकी परम शक्ति कार्य कर रही है, विविध प्रकारके विभिन्न जगत्में अभिन्न रीतिसे यह ओतप्रोत हुई है, इस दृष्टिमें जगत् की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिको अवस्था है, इस उच्च दृष्टिसे जगत्की ओर देखना यह एक उच्च दृष्टिको अवस्था है, इस उच्च दृष्टिमें देखनेवाले महारमा मुक्तिके अधिकारी हैं । इस विषयमें चतुर्थ संवत्सरा उत्तरार्ध देखिये—

प्रजया संरराणः प्रजापतिः वायुः देवः

सान् अग्ने प्रमुमोक्तु ॥ ( मं० ४ )

“प्रजाके साथ रनेवाला प्रजाका पालक प्राग देव उन सदात्माओंको पड़ले मुक्त करे” जो विविध प्रकारके विभिन्न जगत् में अभिन्न एक शक्तिके कार्यका अनुभव करते हैं। पूर्वोक्त मुक्तिके अधिकारीका यह भी एक लक्षण है । इस रीतिसे इस सूक्तमें मनुष्यकी आरंभिक उन्नति का मार्ग क्रमशः बताया है । यदि पाठक इस दृष्टिमें इस सूक्त का अन्वय करे तो उनकी बड़ा बोध प्राप्त हो सकता है । मुष्मन् के लिये यही संक्षेपमें फिर सारांश कह दते हैं—



१ सामी योगी अपने सब परीरमें सवार करनेके प्रणको अपने सब अवयवों और इन्द्रियों इकट्ठा करके अपने आपनि करे । इसमें शरीरकी दृष्टता होगी और ब्रह्माण्डके दिव्य मार्गमें स्वर्गकी प्राप्ति ही होगी । ( मं० ५ )

२ प्राण सब द्विपद जन्तुवादीनां संपालक दे, वह स्वार्पण होनेपर पुच्छी और शोभा ब्रह्मा दे । ( मं० १ )

३ प्राणकी मर्मा में बरनेके विषयवाक्य सूर्यदि देवीके चर्चा केवर्षों वाक्य प्राप्त होता है, इसके लिये दिव्य सुगंधार विवा । अः ओं न करमा संवत्सरे ॥ ( मं० २ )

४ जो अपने मनसे और आँखसे दुनियाँको अनुकंपा की दृष्टिसे देखता है और उनके उद्धार करनेके लिये आत्मसमर्पण करता है, उसको विश्वकर्ता देव सबसे पहले सुख करता है ( मं० ३ )

५ अगत् की विविधतामें जो एक शक्तिकी अभिधृष्ट एकताका अनुभव करता है, उसको प्रजापालक देव सबसे पहले सुख करता है । ( मं० ४ )

यह सारांशसे इस सूक्तका तात्पर्य है । पाठक यदि इस दृष्टिसे इस सूक्तका विचार करेंगे तो उनकी इस दिव्य मार्ग संबंधी अनेक बाधा हट हो सकने दें ।

## पशु ।

पशु वाचरु शब्द प्रयोग द्वारा इस सूक्तमें बड़ाही महत्त्व पूर्ण उपदेश दिया है । यहाँ पशु शब्दसे गाय घोड़े आदि पशु ऐसा अर्थ समझने की आवश्यकता नहीं है । क्योंकि मनुष्य भी एक पशुही है । जब तक इसके पशु भावका पूर्णतया नाश नहीं होता है तब तक यह पशुही रहता है । जितने प्रमाण इसका पशु भाव दूर होगा, उतने ही प्रमाणसे इसके मनुष्यत्व की विकास होगा । मनुष्य शरीरके अंदर सब इंद्रिया पशुका ही हैं । इस शरीररूपी रथकी ये हड्डिने पशु जैते हैं । इन पशुओंके उन्मत्त होनेसे इसका सर्वस्व नाश हो सकता है । इसलिये इन पशुओंको दशाधीन करनेका प्रयत्न मनुष्यको करना चाहिये । मनके अंदर भी काम क्रोधादि पशुभाव हैं । इन सब पशुओंको सुशिक्षित बस करना चाहिये और मनुष्यत्व ( मननशीलत्व ) की विकास करना चाहिये । मनुष्य बननेका आरंभ होनेके पश्चात् ही इस सूक्तके उपदेशका अनुष्ठान करनेका अधिकार मनुष्यको प्राप्त हो सकता है । इत्यादि विचार पाठक करें और इस सूक्तसे अधिकसे अधिक लाभ प्राप्त करनेकी पराकाष्ठा करें ।

## यज्ञमें आत्मसमर्पण ।

( ३५ )

( ऋषिः-अंगिराः । देवता-विश्वकर्मा )

ये भूक्षयन्तो न वसून्पानुधुर्पानुप्रयो अन्वत्त्वन्त विष्णोः ।

या तेषामवया दुरिष्टिः स्विष्टि नस्तां कृणवद्विषकर्म ॥ १ ॥

यज्ञर्पतिगुप्य एनस्तादुर्निर्वक्तं प्रजा अनुतुष्यमानम् ।

मृथव्यान्तिस्तोकानप यान्तराघ मं नृष्टेभिः सृजत विश्वकर्म ॥ २ ॥

वर्ण-( ये भूक्षयन्तः ) जो मनुष्य अथ सेवन करते हुए भी ( वसूनि अन्वृणुः ) अच्छी बागोंकी पृष्ट नहीं करत, तथा ( पानु धिष्या अग्रयः ) जिनके संबंधमें बुद्धिके आग्नि ( अन्वत्त्वन्तः ) प्रमाणान् करते हैं, ( तेषां या अवया दुरिष्टिः ) उनकी जो अवयविकाक सदोष दृष्टिकी प्रवृत्ति है, ( विश्वकर्मा तौ नः सुप्रदंष्टि वृणवत् ) विपदा रचयिता देव हमको हमारे लिये उत्तम दृष्टि बनाये ॥ १ ॥

( प्रजाः अनुतुष्यमानः ) प्रजाओंके संबंधमें अनुताप करनेवाले ( यज्ञर्पति आग्रयः एतमा निर्भक्तं बाहुः ) यज्ञदे पाँच को ऋषि प्राप्तसे दृष्टक करते हैं । ( यान्तराघात् रतोवात् अथ राघ ) जिन गणने योग्य वसुमातीकी समर्पित अग्रय, रदा ( विश्वकर्मा तैभिः न सं गृजत ) विश्व की रचना करनेवाला उनके साथ हमें संगुप्त करे ॥ २ ॥

अदान्यान्तसोमपान्मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्तसंभवे न धीरः

यदेमंश्चक्रुवान्वद् एष तं विश्वकर्मन्प्र मुञ्चा स्वस्तये

॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुष्यर्देषां मनसश्च सत्यम् ।

बृहस्पतये महिष द्युमन्त्रो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान्

॥ ४ ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा ओत्रेण मनसा जुहोमि ।

इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः

॥ ५ ॥

अर्थ- ( सोमपान् अदान्यान् मन्थमानः ) सोमपान-यज्ञ करनेवालों को दान देने अयोग्य समझनेवाला ( न यज्ञस्य विद्वान् ) न तो यज्ञ का ज्ञाता होता है और ( न समवे धीरः ) न समवे पर धैर्य धरनेवाला होता है । ( एषः बद्धः यद् एनः चक्रुः ॥ ३ ॥ ) यह बद्ध हुआ मनुष्य जो पाप करता है, है ( विश्वकर्मन् ) विश्वके रचयिता । ( तं स्वल्पे प्रमुञ्च ) उसको कष्टवाणके लिये मुञ्च कर दो ॥ ३ ॥

( ऋषयः घोराः ) ऋषि लोग बड़े तेजस्वी होते हैं, ( एभ्यः नमः आतु ) इनके लिये नमस्कार होवे । ( यद् एष चक्षुः मनः च मरय ) क्योंकि इनका आँख और मन सत्यभावमें पूर्ण होता है । है ( महिष विश्वकर्मन् ) विश्वके बलवान् रचयिता । ( बृहस्पतये द्युमन्त्रः ) ज्ञान पतिके लिये स्वयं नमस्कार हो, ( अहम्वा पाहि ) हमारी रक्षा कर, ( तं नमः ) तारे लिये नमस्कार हो ॥ ४ ॥

( यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिः मुखं च ) जो यज्ञका आँख, भरणकर्ता और मुखके समान है उसको ( वाचा ओत्रेण मनसा जुहोमि ) वाणी कान और मनसे मैं अर्पण करता हूँ । ( सुमनस्यमानाः देवाः ) उत्तम मनव ले देव ( विश्वकर्मणा विततं इमं यज्ञं आयम्तु ) विश्वके कर्ताहो। फैलावे हुए इस यज्ञके प्रति आजाय ॥ ५ ॥

भाष्य- दुही प्रजाओं के संबंध में दृढ़ते तपनेवाले यज्ञकर्ता पुरुषको विष्वाय समझते हैं, जो सोम का मन्थन करके दान करता है उनसे पाप विश्वकर्मा की कृपासे हमारा संबंध जुड़ आय ॥ ३ ॥

जो यज्ञ करनेवाले यज्ञकर्ता को दान देनेके लिए अवेद्य समझता है, न उद्यो यज्ञा तस्य समस्ता होता है और न वह घनघनर पी दिग्गनेम समर्थ होता है । यह अज्ञानी मनुष्य इस बद्ध अवस्थामें जो पग करता है, उद्यो विश्वकर्मा ही उद्ये मनुष्ये मौर उद्यो कस्याय कते ॥ ३ ॥

अर्थ बड़े तेजस्वी और समावशाली होते हैं क्योंकि उनके मनमें और आँखमें कार्य चमकता रहता है । उद्ये ज्ञानी के लिए दान प्रणाम करते हैं, वे उद्ये उद्ये मन विश्वके कर्ता । हमारी छत्र प्रकाशसे रक्षा कर, तारे लिए हम नमन करते हैं ॥ ४ ॥

मं अहम्वा पाहि कन आहं मनुष्ये यज्ञ के चक्षु पेट और मुखमें आभाषण करता है क्योंकि विश्वकर्माने यह यज्ञ फैलाया है, जिसमें सब देव आकर कार्य करते हैं ॥ ५ ॥

ब्रह्मण्य श्रेष्ठ होते हैं, इस विषयमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता । परंतु “ जो मनुष्य ऐसे श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको भी दानके लिए पात्र नहीं समझता, न तो उसको यज्ञका तत्त्व और न उसको समय का महत्व समझा होता है । यह उसकी बद्ध स्थिति है, इस स्थितिमें जो वह कुछ कर्म करता है वह तो पापमय होनेमें संदेह ही नहीं है, परमात्माही उसे इस पापसे बचावे और सम्भोगपर चलावे । ( मंत्र० ३ ) ”

इस रीतिसे इन दो मंत्रोंमें अयाजकोंकी निन्दा की है ।

### याजकोंकी प्रशंसा ।

द्वितीय मंत्रमें याजकोंकी प्रशंसा की है । “ जो दीन और दुखी प्रजाकी ओर अनुतापकी भावनासे देखता है और उनके कल्याणका चिन्तन करता है वह याजक निश्चय है, ऐसे याजकोंके साथ परमात्माही कृपासे हमारा स्थिर संबंध होने । ” ( मंत्र० २ ) यज्ञसे ही पाप दूर होता है और दूसरोंकी मलाईके लिए आत्मसमर्पण करना यज्ञ है जो पाप दूर करनेमें समर्थ है ।

### ऋषियोंकी प्रशंसा ।

तृतीय मंत्रमें ऋषियोंकी प्रशंसा इस प्रकार की है— “ ऋषि सदैव तेजस्वी हैं और उनके मनमें तथा आत्ममें सत्य रहता है, इन ऋषियोंके लिए समस्तकार है । ” ( मंत्र० ४ )

इस वर्णनमें ( चोरा ऋषयः ) ऋषियोंके लिए “ चोर ” यह विशेषण आया है । इसका अर्थ “ लुब्ध ” श्रेष्ठ उन्नत एवम् होता है । ऋषि उन्नत होनेका हेतु इस मंत्रमें यह दिया है कि “ उनके मनमें और आत्ममें सदा सत्य रहता है । ” वे असत्य विचार कभी मनमें नहीं लाते और उनकी दृष्टि सत्यसे उज्ज्वल हुई होती है । यह बात तो ऋषियोंके विषयमें हुई । परंतु यद्यपि हमें भीय मिलता है कि जिसके मनमें और आत्ममें भीतप्रोत सत्य सवेगा, वह पुण्य भी ऋषियोंके समान दृष्ट बननेगा, सच होनेका यह उपाय है । सत्यकी पालना करनेसे मनुष्य उन्नत होता है ।

# विवाहका मंगल कार्य ।

( ३६ )

( ऋषिः-पतिवेदनः । देवता-अग्नीषोमौ )

आ नो अग्रे सुमतिं संभूतो गमोद्विमां कुमारीं सह नो भर्गेन ।

जुष्टा वरेषु समनेषु वरुणोपं पत्या सौमगमस्त्वस्यै ॥१॥

सौमंजुष्टं ब्रह्मंजुष्टमयं ग्णा संभूतं भर्गम् । धातुर्देवस्य सत्येन कृणोमि पतिवेदनम् ॥२॥

इयमैव नारी पतिं विदेष्टु सोमां हि राजा सुभगां कृणोति ।

सुव्रान् पुत्रान्माहिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥३॥

यथाखरो मध्वंश्चाकरोप त्रियो मृगाणां सुपदां वृध्वं ।

एवा भर्गस्य जुष्टवर्मस्तु नारी सर्मिण्या परपार्विराधयन्ती ॥४॥

अर्थ— हे ऋषे ! ( भर्गेन सह ) धनके साथ ( सं-भक्तः ) उत्तम वक्ता पति ( इमो नः यः सुमतिं कुमारीं ) इस हमारी उत्तम बुद्धिवाली कुमारी कन्याको ( या गमत् ) प्राप्त होवे । ( नस्यै पत्या सौमगा भरतु ) इसको पतिके साथ सौभाग्य प्राप्त होवे । क्योंकि यह कन्या ( वरेषु जुष्टा, समनेषु वरुणु ) श्रेष्ठोत्तम त्रिव और उत्तम मनुष्यालोके मनोरम है ॥ १ ॥

( सोमंजुष्टं ) सोम द्वारा सेवित, ( ब्रह्मंजुष्टं ) ब्राह्मणों द्वारा सेवित, ( जयं ग्णा संभूतं भर्गं ) भेष मनवालोके श्रेष्ठ किया हुआ धन ( धातुः देवस्य सत्येन ) धातु देवके सत्य नियमसे ( पति-वेदनं कृणोमि ) पतिकी प्राप्ति के लिये योग्य करता हू ॥ २ ॥

हे ऋषे ! ( इयं नारी पतिं विदेष्टु ) यह स्त्री पतिकी प्राप्त करे । ( हि सोम-राजा सुभगां कृणोति ) क्योंकि सोम राजा इसको सौभाग्यवती करता है । यह ( पुत्रान् सुव्रान् माहिषी भवाति ) पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी होवे । यह ( सुभगा पतिं गत्वा विराजतु ) सौभाग्यवती पतिकी प्राप्त करके सोमित हो ॥ ३ ॥

हे ( मध्वन् इन्द्र ! ) यथाखर आपसः जैमा यह गुहाका स्थान ( मृगाणां त्रिव सुपदां वृध्वं ) पशुनके लिये त्रिव और घटने योग्य स्थान होता है ( एवा ) वैसे ही ( एवा न विराधयन्ती ) पतिते विरोधन करती हुई और ( भगवन् जुष्टा इयं नारी ) ऐश्वर्यसे सेवित हुई यह स्त्री पतिके लिये ( स प्रिया ) उत्तम प्रिय ( नस्तु ) होवे ॥ ४ ॥

मावार्थ-जयने धन प्राप्त किया है, ऐसा उत्तम विद्वान् वक्ता पति इस हमारी बुद्धिमती कुमारीको प्राप्त देवे । यह हमारी पत्नी श्रेष्ठोत्तम त्रिव और उत्तम मनुष्यालोके पुत्र दे, इस स्त्रिय इस कन्याको इस पतिके साथ उत्तम सुख प्राप्त होवे ॥१॥

सौमगा, शान और भद्रमन द्वारा संगृहीत और सचमगैष प्राप्त किया हुआ यह धन केवल पतिके लिये है ॥२॥

यह श्री पतिकी प्राप्त करे, परमेश्वर इसे सुखी बनावे, यह स्त्री घरमें (मांके समान) बनकर पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई सुखी होकर शोभित होवे ॥ ३ ॥

भगस्ये नावमा रोह पुणामनुपदस्वतीम् । तयोपप्रतारय यो वरः प्रतिकाम्यः ॥५॥

आ क्रन्दय धनपते वरमार्मनसं कृणु । सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥६॥

हुदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अयो भगः ।

एते पतिभ्यस्त्वामंदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

आ ते नयतु सविता नयतु पतिर्यः प्रतिकाम्यः । त्वमस्यै घेहोपघे ॥ ८ ॥

इति पष्ठोऽनुवाकः ।

( इति द्वितीयं काण्डम् । )

अर्थ- हे स्त्री ! ( पूर्ण अनुपदस्वती ) पूर्ण और बहुत ( भगवत् नाव आरोह ) देवर्ष की हृत् नौकापर चढ़ और ( तथा उपप्रतारय ) उससे उसके पास लैकर जा कि ( यः वरः प्रतिकाम्यः ) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥ ५ ॥

हे धनपते ! ( वरं क्रन्दय ) अपने वर को गुला और ( आ मनसं कृणु ) अपने मन के अनुकूल वातावरण कर । ( सर्वं प्रदक्षिणं कृणु ) सब उसके दहिनी ओर कर कि ( यः वरः प्रतिकाम्यः ) जो वर तेरी कामना के योग्य है ॥ ६ ॥

( हुदं गुल्गुल्वयं हिरण्यं ) यह उत्तम सुवर्ण है, ( अयं औक्षः ) यह रत्न है और ( अयो भगः ) यह धन है । ( एते त्वां पतिकामाय वेत्तवे ) ये तुझे पतिको कामना के लिये और घरे लाल के लिये ( पतिभ्यः मंदुः ) पतिको देने हैं ॥ ७ ॥

( सविता ते आ नयतु ) सविता तुझे चलावे । ( यः प्रतिकाम्यः पतिः ) जो कामना करने योग्य पति है वह ( नयतु ) तुझे ले जावे । हे औपसे ! ( एवं मस्यै घेहि ) तू इसके लिये धारण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ-यह स्त्री पतिसे कभी विरोध न करे और ऐश्वर्यसे बेमिन्न होती हुई सबको प्रिय होवे ॥ ५ ॥

स्त्री इस गृहस्थाधम कपी पूर्ण और सुदृढ़ लोभ पर चढ़े और अपन प्रिय पतिके साथ संसार का समुद्र पार करे ॥ ५ ॥

जो वर अपने मनके अनुकूल हो उस वरके युनाकर उसके साथ अपने मनके अनुकूल बातें शर करके उसके साथ सम्मान पूर्वक व्यवहार करे ॥ ६ ॥

यह उत्तम सुवर्ण है, यह गाय और बैल है, और यह धन है । यह सब पतिको देने हैं इसलिये कि तुम पति प्रप्त होवे ॥ ७ ॥

सविता तुम मार्ग बतावे, तेरा पति तेरी कामनाके अनुकूल चलता हुआ तुम उत्तम मार्गसे ले चले । औपधियोंने तुमको पुष्टि प्राप्त हो ॥ ८ ॥

चरकी योग्यता ।

विवाह का कार्य आरंभ मंगलमय है, इसलिये उसके संबंधके जो जो वर्तमान हैं, वे भी मंगल मानना चाहें और विवाह के मंगल कार्यों पर वर और श्वर का संबंध प्रधान स्थान होना है । इसलिये इनके विषयमें इन मूल्योंके आदेश प्रथम देखेंगे । वरके विषय में इस सूत्रमें निम्नलिखित बातें कही हैं-

१ संमलः = ( सं + मलः ) उत्तम प्रधारण्य स्थान करनेवाला । ( मं० १ ) जो किसी विषयका उत्तम प्रचारण करने वाला । विशेष विधानम् ।

यह चरकी वरकी विद्वता बना रहा है । वर विद्वान् ही, शास्त्रज्ञ साया ही, अनुर और सम्मान्य मित्रान् हो, केवल विद्वान् होनेमें पर्याप्त नहीं है, उर्वर पौष्टिकके लिये आवश्यक धन कम न होना भी चाहिये, इस विषयमें कहा है-

> मंगलं यद् वरुणाभिः अगमैरु-धनके साथ आकर वरुणाको प्रणम करे ( मं० १ ) । अर्थात् पहले धन वरुणाके और पश्चात्



सन्दात्रो प्राप्त करे, विवाह करे । धन प्राप्त न होने की अवस्था में विवाद न करे, क्योंकि विवाद होनेके पश्चात् कुटुम्बका परिवार बहंगा, इसलिये उसके पोषण करनेकी योग्यता इसमें अवश्य होनी चाहिये ।

३ पतिः नयतु—पति अपनी धर्मपत्नीकी सन्तर्पणसे चलावे । धर्मनैतिक मार्गसे चलावे, परन्तु साथ साथ वह ( प्रति-कायः ) पत्नीको मन कामनाके अनुकूल भी चले । इसका तात्पर्य यह है कि पति अपनी धर्मपत्नीके साथ अन्य कारणसे कभी झगडा न करे, धर्मपत्नीपर प्रेम करे, परन्तु उसको सचे धर्म मार्गपर चलानेका यत्न करे । ( मं० ८ )

इस सूत्र में इतने आदेश पतिके लिये दिये हैं । इससे पूर्व विवाह विषयक कई सूत्र आ चुके हैं, उनमें पतिके गुण धर्म और कर्म बताये हैं; उनके साथ इस सूत्रके आदेशोंका विचार करना चाहिये ।

### वधूकी योग्यता ।

वधूके विषयमें बहुतसे उपदेश इस सूत्रमें कहे हैं जो पारिवारिक जगतमें रहनेवालोंके अवश्य मनन करना योग्य है । देखिये—

१ कुमारी—कुमार और कुमारी ये शब्द बड़े महत्त्वपूर्ण हैं । पूर्ण सद्गुणों से परिपूर्ण होनेका भाव सूचित करनेवाले ये शब्द हैं । तरुण स्त्री पुरुषोंमें जो विकारी भाव मनके अन्दर उत्पन्न होता है, वह जिसके मनमें उत्पन्न नहीं हुआ, उनको " कुमारी " कहते हैं । यह शब्द अलङ्कारिक सद्गुणों धारण करनेवाले का सौन्दर्य है । जब तक मनमें कुमार भाव रहता है, तबतक शीर्षशेष उत्पन्न होता ही नहीं । इस प्रथम मंत्रमें " कुमारी " शब्द आया है, जो कन्याका बोध कराता है । कन्या ऐसी हो कि जो कुमारी हो अर्थात् पुष्ट विषयक काम विकार संघर्षा चंचलभाव मिथके मनमें विचित्र भी उत्पन्न न हुए हो । यही विवाह के लिये योग्य कुमारी का धर्मन किंवा है । निम्नमे तात्पर्यके कारण उपन्यस्य होनेवाले दोष मिथ कन्यामें उत्पन्न न हुए हों उसका बोध होता है । इससे छोटी आयुमें विवाह करने की प्रवृत्ति बर्तार जायी है ऐसा मानना अनुचित है, क्योंकि इससे पूर्व बताया ही है कि " पतिकी इच्छा करनेवाली स्त्रीका विवाह है । " [ देखो का० १ सू० ३० ] इसलिये इस सूत्रमें छोटी आयुमें विवाह करने की संभावना नहीं है । इस कारण यदाका " कुमारी " शब्द ऐसी कन्याका बोध करता है कि जो शीघ्र तो हो, पतिकी इच्छा ही करती हो, परन्तु मनके चंचल विकारोंसे पूर्णतया अलिप्त हो । पाठक इसके समर्थमें कि वेदकी दृष्टिसे कन्याओंकी शिक्षा कभी होनी चाहिये और विवाहके पूर्व उनके मन ऐसे पवित्र रहने चाहिये । ( मं० १ )

२ सुमति—कन्या उत्तम मतिवाली हो, उत्तम बुद्धिवाली हो । जिसके मनपर सुखकारक हुए हैं ऐसी पवित्र मति धारण करनेवाली कन्या हो । ( मं० ३ )

३ सुमनेषु वेषु जुष्टा वक्षु—उत्तम मनसि प्रेष्ट पुरुषोंमें सेवा करने योग्य और सुंदर कन्या हो । सनताके विचार मनमें रखनेवाले, विषम भावना मनमें न रखनेवाले जो धैर्य लेग होने हैं उनमें जाकर विद्याका मनन करनेवाली और अपने शरीरत्वके कारण मनोहर ऐसी परिशुद्ध विचारवाली कन्या हो । ' येषामे जने योग्य ' ( नेषु जुष्टा ) इतना कहने मात्रसे कन्याका धार्मिक दृष्टिसे पवित्र बोधित होता है । कन्या ऐसी हो कि जिसका आचरण काया वाचा मनसे कभी बुरा नहीं हुआ है । शुद्ध आचारसे संपन्न हो और साथ साथ मनोरम तथा दर्शनीय भी हो । कन्याएं ऐसी बनें, इस प्रकारकी शिक्षा उनके मितर्था चाहिये । ( मं० १ )

इस रीतिसे कन्याके शुद्धाचारके विषयमें वेदशा आदेश है । यह दृष्टिकोण धर्मिकी वदा मनमें धारण करने योग्य है । कुमार और कुमारीकी पवित्रता रखकर उनके विवाह संबंधमें जोडाका वेदको अभीष्ट है । इसलिये विवाह के पूर्व कुमार और कुमारीका भेद इस प्रकारका भेद अभीष्ट नहीं है कि जो अनातिके मार्गमें उनको ले जानेकी संभावना रहा सुकर हो । पाठक इसके सब कुछ समझ लें ।

### विवाहके पश्चात् ।

विवाह होनेके पश्चात् पुरुषपुत्रोत्पत्ति परस्पर कर्मान्नेषा हो इस विषयमें इस सूत्रमें अत्यंत उत्तम उपदेश दिये हैं—

भगव्य जुष्टा इयं पत्नी, पाया अभिषापयन्की,

सप्रिया मरुतु ॥ ( मं० ४ )

“ ऐश्वर्य को प्राप्त हुई यह स्त्री, पतिसे विरोध न करती हुई, पतिसे अत्यंत प्रिय हो ” विवाह होनेके पश्चात् स्त्री अधिक ऐश्वर्य में जाती है, इसलिये यह मंत्र सूचित करता है, कि विधेय माग्य और ऐश्वर्य में पहुँचने के कारण यह स्त्री उन्नत न हो, परंतु पतिके साथ प्रेमसे रहे और पतिसे कभी विरोध न करे । चर्महर्म आकर पतिका अपमान कभी न करे, परंतु ऐसा आचरण करे कि जिससे दोनोंका प्रेम दिन प्रतिदिन बढजाय । तथा—

सर्वे प्रदाक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः । ( मं० ६ )

“ जो करना है वह पतिकी प्रदाक्षिण करके कर जो वर तेरी कामना रूप है । ” प्रदाक्षिण करनेका आशय है सम्मान करना आदर प्रदर्शित करना, सत्कार करना । पतिका सत्कार करते हुए जो करना है करना चाहिये । पत्नी का “ प्रति-काम ” पति ही होता है । अपने मनके अंदर जो ( काम ) इच्छा होता है उसका जो भाग्य स्वरूप होता है उसको “ प्रति काम ” कहते हैं । अपना रूप होता है और दाहिमें जो दिशाई देता है उसको “ प्रतिक्रिया ” कहते हैं, लेखकी दूसरी प्रति करने का नाम “ प्रति लेख ” है । इसी प्रकार स्त्रिके मनके अंदर के कामका “ प्रति काम ” पति है । पत्नी अपने पतिकी अपना “ प्रतिकाम ” समझ और उसका सत्कार करके हरएक कर्तव्य करे । तथा—

पत्या नश्ये सौभाग्यं नश्यु । ( मं० ७ )

“ पतिसे इसकी शोभा प्राप्त हो । ” स्त्री की शोभा पति ही है । पतिविरहित स्त्री शोभा रहित होती है । वह भाग्य मनमें रखकर धर्मपत्नी मनमें समझे कि अपनी संपूर्ण शोभा पतिके कारण ही है और उस कारण मनसे पतिका सदा सत्कार करे । तथा—

पति गत्वा सुभगा विराजतु ॥

पुत्रान् सुवाना मेदिनी भवाति । ( मं० ८ )

“ यह स्त्री पतिको प्राप्त करके ऐश्वर्यसे विराजती रहे और उत्तम पुत्रोंको उत्पन्न करती हुई घरकी रानी बने । ” यहाँ पतिको प्राप्त करके पतिके साथ रहना, पतिके ऐश्वर्यसे अपने आपको ऐश्वर्यवती समझना, पुत्रोंको उत्पन्न करना और घरकी स्वामिनी बनना स्त्रीका कर्तव्य बताया है । कई शिक्षित त्रिया संतान उत्पन्न करनेके अपने कर्तव्यसे पण्डित होती हैं । यह योग्य नहीं है । स्त्रीकी शारीर रचना ही इस कर्तव्यकी सूचना देती है और वही बात इस मंत्र द्वारा बताई है । सुवर्तति, सुदृढ संतान उत्पन्न करना विवाहित स्त्रीका कर्तव्य ही है । यह बात ध्यानमें रखकर उत्तम धैर्य निर्याग करने योग्य अपना शारीरव्यवस्था करनेमें त्रिया प्रथमसे ही दक्षिण हो । जो जिन्दा रहलेखे अपने स्वास्थ्यका विचार नहीं करती, वे भाग्य संतानोत्पत्ति करनेमें असमर्थ हो जाती हैं । इसलिये त्रियोंके स्वास्थ्यका विचार प्रारंभसे ही करना योग्य है ।

### ऐश्वर्य की नौका ।

पञ्चम मन्त्रमें गृहस्थाधमनो ऐश्वर्यकी नौका की उपाय दी है । यह उपाय वही बोधप्रद है । देखिये—

पूर्णा अनुप-दृष्टवती भगव्य भावं जारोह ।

यः प्रतिकाम्य वरः, तथा रूप प्रदाय ॥ ( मं० ५ )

“ सब प्रकारसे परिपूर्ण और कभी न टूटनेवाली ऐश्वर्यकी नौका यह है, उत्तरर अक्ष और जो तेरा पति है उसकी इस नौका के आश्रयसे परतार पर ले जा । ” यह गृहस्थाधमनो नौका है, मित्रवर पति पत्नी, बहुरूप इच्छा की उत्तरर होती है; परंतु स्त्री घरकी स्वामिनी होनेके कारण इस नौका की नौका जमानेवाली इस मंत्रसे कहा है । यह स्त्रीय नौका भागी सम्मान देनेसे दिया है और उस नौका की हाथमें बधा भारी आधिकार भी दिया है । बहुरूप पर दृष्टि दी है, इच्छा पर घर मही है । इसी प्रकार स्त्रीके हृदये ही गृहस्थाधम होता है और जो उसे होनेसे गृहस्थाधम नहीं रहता । इसप्रकार गृहस्थाधमने स्त्रीका गृहस्थ विशेष ही है । इस देवदेव इस मंत्रमें स्त्रीके उद्देश्यसे कहा है कि इस गृहस्थाधमनो नौका को उत्तरर स्त्री पति और इस नौका को ऐसे संगठे बतले कि यह नौका अपने पुरुषवर्गके रक्षणरक्षा की वृद्धि और वर्धनमें कोई बधा न हो । इसी प्रकार स्त्रीके आधिकार के विषयमें निम्न लिखित मंत्र भाग देखिये बतले है—

धनपते । वरं वाक्रन्द्य । आमानसं कृणु । ( मं० ६ )

“ हे गृहस्थाश्रमके संपूर्ण धनके स्वामिनि ! अपने पतिको तुलाकर उसकी अपने मनके अनुकूल कर । ” यह अधिकार है गृहस्थाश्रममें प्रविष्ट स्त्रीका । यह स्त्री गृहस्थाश्रमके संपूर्ण ऐश्वर्य की स्वामिनी है और यदि पति हीन मार्गपर चलने लगे, तो उसकी सम्मार्गपर लानेका उसका अधिकार ही है । स्त्रियोंको यह अपना अधिकार जानना चाहिए और इस अधिकारके चलने-फूटनेकी योग्यता अपने अंदर लानेका स्थान भी उनको करना चाहिए ।

### पुरुषका स्थान ।

जब स्त्रीको गृहस्थाश्रम में इतना अधिकार प्राप्त हुआ है, तब पुरुषका स्थान गृहस्थाश्रममें कहाँ है, इसका भी विचार करना यहाँ प्राप्त है, देखिए यह स्थान—

यः प्रतिकाम्यः पतिः नयतु । ( मं० ८ )

“ कामनाके अनुकूल पति है वह चलावे ” अर्थात् गृहस्थाश्रम का रण चलावे । स्त्रीकी सम्मार्गपर चलावे, गृहस्थाश्रममें यदि कुछ मुटियाँ रही, तो उनको ठीक करे, गृहस्थवस्थाको दोषमुक्त रहने न दें । यह पुरुष गृहस्थाश्रममें रहता हुआ—

सविता से वा नयतु ( मं० ८ )

“ यह पति सूर्यके समान स्त्रीको ले आवे । ” यह पति घर में सूर्यके समान है । जिस प्रकार सूर्य अपनी मद्द माताका संचालक है, उसी प्रकार यह गृहस्थाश्रमका सूर्यपति संपूर्ण गृहस्थाश्रमका चालक है । यह पति की राय लेकर संपूर्ण गृहस्थाश्रम को चलावे । यहाँ पाठक स्मरण रखें कि गृहस्थाश्रम का चलाना तो केवल पतिसे नहीं हो सकता और ना ही केवल स्त्री ही सकता है । दोनोंके द्वारा वस्तुतः यह गृहस्थाश्रम चलाया जाता है । इसीलिए इस सूक्तमें स्त्रीको भी कहा है कि वह गृहस्थाश्रम चलावे और पुरुषको भी वैसाही कहा है । इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि, दोनों मिलकर परस्परों के विचार से गृहस्थाश्रम चलावें । दोनोंका समान अधिकार होनेसे दोनोंको समान आज्ञा द्वारा कहा है । यह देखकर गृहस्थाश्रममें स्त्री पुरुष अपने-अपने अधिकारों को जानकर मिलजुलकर समानतया अपना कार्यका भोज उठावें और आनन्दसे इस संसार यात्रा को पूर्ण करें । तथा—

सोमो हि राजा सुभगां कृणोति । ( मं० १ )

“ सोम राजा इस स्त्री को ऐश्वर्य मुक्त करता है । ” यह पति घरमें राजाके समान है । पत्नीको महारानी इससे पूर्व कहा ही है । जब पत्नी रानी है, तब पति राजा होनेमें कोई शंका नहीं है । यह राजा रानी एक मतेसे इस गृहस्थाश्रमका राज्य चलावें । परस्पर में विरोध न होने दें । एक दूसरेके सहायक बनकर उन्नति करते जायें ।

इस दृष्टसे वेदने पति का स्थान गृहस्थाश्रममें निश्चित किया है । दोनोंको उचित स्थान दिया गया है । इसका विचार करके दोनों अपने-अपने स्थानके योग्य व्यवहार करके आदर्श गृहस्थी बनें ।

### पतिके लिए धन ।

पत्नीकी ओरसे अथवा बधूके घरसे कुछ धन घरको दिया जाता है । देहेजके रूपमें यह धन बधूके घरसे घरके पास आता है, इस विषयमें सप्तम मंत्र बड़ा स्पष्ट है—

इदं सुखमुल हिरण्यं, अयं औशः, अयो अगः,

पुनेत्वा पतिभ्यः नयतु ॥ ( मं० ७ )

“ यह सुदूर सुवर्ण है, ये गोवं और बैल हैं, यह धन है, यह सब पतिको दिया है । ” यहाँ सम्मान के लिए पति शब्दका प्रयुचन हुआ है । विवाहके मंगल कार्यमें पति का ही विशेष सम्मान होना उचित है । यहाँ स्मरण रहे कि यद्यपि यह देहेज पत्नी परसे पतिके घर आता है, तथापि यह धन कुमार्गसे कमाया नहीं होना चाहिए । इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिए—

सोमजुष्टं, ब्रह्मजुष्टं, अर्यम्णा संयुतं यगम् ।

धातुर्देवस्य सत्येन पतिवेदनं कृणोमि ॥ ( मं-२ )

“ सोम्यश्रुतिसे, ज्ञानसे और धेष्ट मनोश्रुतिसे प्राप्त और इकट्ठा किया हुआ धन विधाता ईश्वरकी सत्यनिष्ठासे पतिको प्राप्त होने योग्य करता हूँ । ”

“ सोम, ब्रह्म और अर्यमा ” ये तीन शब्द क्रमशः ‘ सोम्य श्रुति, विद्या—ज्ञान और धेष्ट मन ’ के बोधक हैं । ‘ अर्य—मन ’ का अर्यमन् बना है, जो धेष्ट मनशालेका चोतक है । भिक्षा उच्च मन है वह अर्यमा कहलाता है । ब्रह्म शब्द ज्ञान और विद्याका वाचक प्रसिद्ध है, सोम शब्द सौम्यता का केन्द्र होनेमें शक्य नहीं है । ये तीन शब्द सात और धेष्ट विद्यामें सुसंस्कृत मनोश्रुतिके वाचक हैं । इस मनोश्रुतिसे कमाया हुआ, संगृहीत किया हुआ और बढ़ाया हुआ धन परमेश्वर विषयक सत्यनिष्ठाके साथ पतिको समर्पित किया जाना चाहिए । अथवा इस प्रकार प्राप्त किया हुआ धन पतिको समर्पित करना चाहिए । हीन श्रुतिसे इकट्ठा किया हुआ धन पतिको नहीं देना चाहिए । वहाँ कन्या विचार करे कि जो धन पतिको दहेजके रूपमें दिया जाता है, वह किस रीतिसे कमाया हुआ है । हीन श्रुतिसे कमाया धन पतिके घरमें हीनता उत्पन्न करेगा । इसलिए सावधानीसे और विचारसे दहेजका धन पतिको देना चाहिए । जो दिया जाय वह पवित्र विचारसे कमाया हुआ हो और पवित्र विचार के साथ दिया जाय ।

इस प्रकार इस विवाहके मङ्गल कार्यका विचार इस सूक्तमें दर्शाया है । इस सूक्तका विचार विवाह विषयक अन्य सूक्तोंके साथ पाठक करेंगे, तो उनको बहुत बोध प्राप्त हो सकेगा है और ऐसे तुलनात्मक विचारसे वैदिक विवाहकी पद्धति भी ज्ञात हो सकती है ।

यही षष्ठ अङ्कशक और

द्वितीय भाग समाप्त ।





सूक्त	विषय
११ वौ सूक्त ...	आत्माके गुण,
१२ ,, ...	मन का बल बढ़ाना,
१७, १८ ,, ...	आरमसरक्षण का बल,
३४ ,, ...	सुफिका सीधा मार्ग,
१५ ,,	निर्भय जीवन,
३५ ,,	यशमें आत्मसमर्पण ।

ये सात सूक्त और पूर्वोक्त तीन सूक्त मिलकर दस सूक्त अध्यात्म विषयक इस द्वितीय काण्ड में आये हैं। प्रथम काण्डकी अपेक्षा यह विषय इस काण्डमें सुलभतया विशेष प्रतिपादन किया है। पाठक इसलिये इन दस सूक्तोंका साथ साथ मनन करें और उचित रोध प्राप्त करें। अथर्ववेदका यही मुख्य विषय है, इसलिये पाठक इस विषयकी ओर उदासीनतासे न देखें।

सू० १२ “मानसिक बल बढ़ाना,” और सू० १५ “निर्भय जीवन” ये दो सूक्त अध्यात्म विषयके अतिरिक्त रत्नतम महत्त्व रखते हैं और आरोग्य विषयके साथ भी संबंध रखते हैं, तथापि इनका विशेष संबंध अध्यात्मविषयके साथ होनेसे ये यहाँ दिये हैं।

२ आरोग्य और स्वास्थ्य—द्वितीय काण्डका तीसरा सूक्त “आरोग्य” विषय का प्रतिपादन करता है। इसके साथ—

सूक्त ४ ...	जज्ञिष्ठ मणि से आरोग्य,
,, ८ ...	केनियरोग दूर करना,
,, ९ ..	सन्धिवात ,, ,,
,, २५ ...	युधिष्ठासे आरोग्य,
,, ३३ ..	यक्ष नाशन,
,, ३१, ३२	रोगोत्पादक किमियोंका दूर करना ।

आरोग्य और स्वास्थ्य से संबंध रखनेवाले इतने सूक्त इस द्वितीय काण्डमें हैं। पाठक इन सूक्तोंका इच्छा विचार करेंगे, तो उनकी आरोग्य और स्वास्थ्यके साथ साथ वेदकी अमूल्य विद्या का भी पता लग सकता है। सप्रथम सूक्तमें “जज्ञिष्ठ मणि” धारणसे आरोग्य प्राप्त होनेका अद्भुत उपाय कहा है। यह अपने वेदकी विशेष विद्या है। जो वेद इस विषयकी खोज करना चाहें वे अथर्ववेदमें इसी प्रकारके कई विषय देखेंगे। कई लोग “मणि” शब्दका अर्थ बदल कर इन सूक्तोंके अन्य अर्थ करना चाहते हैं। यह प्रथम उनकी अज्ञानता का प्रकाशक है। वेदके विषयका ऐसा विवरण करना किसीको भी उचित नहीं है। “मणि धारण विधि” वह शास्त्रीय उपाय है इसलिये पाठक इसकी खोज प्रेमके साथ करें। विशेष कर युधिष्ठिर वैद्य यदि इसकी खोज करेंगे तो विश्वसाक्ष एक नया मार्ग निकाल सकते हैं।

३ दीर्घायुष्य प्राप्ति—पूर्वोक्त विषयके साथ ही यह विषय संबंधित है। चिकित्साका अथवा वैद्यशास्त्र का नाम “आयुर्वेद” है। इसमें भी वैद्य शास्त्र का संबंध “दीर्घ आयुष्य” से खूब मिलता है यह बात पाठक ज्ञान सकते हैं। इस विषयके सूक्त इस चर्चमें निम्न लिखित हैं—

सूक्त १८ ...	दीर्घायुष्य,
,, २९	दीर्घायु, पुष्ट और शुभला ।

ये दो सूक्त इस विषयमें इच्छा रखने योग्य हैं।

४ पुष्टि—पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें पुष्टिका संबंध है । इस पुष्टिके साथ २६ वौ “गोरस” का वर्णन करनेवाला सूक्त बड़ा संबंध रखता है । गोरससे ही मनुष्योंकी पुष्टि होती है ।

५ विवाह—पूर्वोक्त २९ वें सूक्तमें सुप्रजा का वर्णन है, विवाहसे ही सुप्रजा निर्माण होता संबंध है । इस विवाह विषयका उपदेश देनेवाले तीन सूक्त इस काण्डमें हैं—

सूक्त	३०	...	पति और पत्नीका मेल,
”	३६	..	विवाहका मंगल कार्य,
”	३३	...	प्रथम वर परिधान ।

इनमें सू० १३ “प्रथम वर परिधान” का वर्णन करनेवाला सूक्त विवाहित स्त्री पुरुषोंका कर्तव्य बताता है । इसलिये इन तीन सूक्तोंका विचार इच्छा करना योग्य है ।

६ धर्मधर्म—धर्मधर्म का वर्णन करनेवाले निम्न लिखित दो सूक्त इस काण्डमें हैं

सूक्त	१	...	आरक्षण धर्मका वर्णन
”	५	...	क्षत्रिय धर्मका वर्णन,

इसके साथ संबंध रखनेवाले निम्न लिखित चार सूक्त हैं, इस कारण इनका विचार इच्छा ही होना योग्य है—

सूक्त	२७	...	निजय की प्रति,
”	२४	,	राक्षसोंकी अक्षमता,
”	१४	...	विपत्तियोंकी हटाना,
”	१०	...	दुर्गतिसे बचना ।

ये चार सूक्त क्षत्रिय धर्मके साथ संबंध रखनेवाले हैं और आरक्षण धर्मसे संबंध रखनेवाले सूक्त निम्नलिखित छ हैं ।

सूक्त	७	...	शापकी शंका देना
”	१९-२३		शुद्धिकी विधि

इस प्रकार इन सूक्तोंका विषयानुसार विभाग है । जो पाठक वेदका अध्ययन मननपूर्वक करनेके इच्छुक हैं, वे इस प्रकार सूक्तोंका विषयानुसार विभाग देखकर एक एक विषयके सूक्त साथ साथ मनन करते जायेंगे, तो वेदके मर्मोंकी अधिक गाम्भीर्यपूर्ण समर्थ होंगे ।

## विशेष द्रष्टव्य ।

### निर्भय जीवन ।

विषयके महत्त्व की दृष्टिसे इस द्वितीय काण्डमें कई ऐसे विषय हैं, कि जिनकी ओर पाठकोंका ध्यान विशेष रीतिसे आकर्षित आवश्यक है । इस प्रकारका विषय सूक्त १५ में “निर्भय जीवन” नामसे आया है, वह पाठक अवश्य ध्यानपूर्वक देखें ।

मनुष्य मृत्यु है, जिसके मनमें भय है, जो सदा डरता रहता है, उस डरसे मनुष्यको आनंद कदापि प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् भय और आनंद कदापि एकत्र नहीं रह सकते । मनुष्य तो आनंद प्राप्तिके लिए पाल करनेवाला प्राणी है, इसलिए उसके अपने आदरकी मर्यादा कायना दूर करना आवश्यक है, अन्यथा वह आनंद का भागी कदापि नहीं हो सकता । इस पंक्षरूपमें कहा है कि “निर्भय होनेके कारण सर्व शोक नहीं होता” इसका अर्थ यह है कि जो कोई निर्भय होकर अपना कर्तव्य पालन करेगा वह भी कदापि शोक, अशक्त अवस्था दुर्बल नहीं होगा इतना ही नहीं, शत्रुत्व बढ़ता जायगा । शरीरकी पुष्टि, मन की बलिष्ठता, अस्माकी शक्ति सब प्रकारसे निर्भयतापर अवलंबित है । निर्भयता के बिना मनुष्यको उन्नति किसी रीतिसे नहीं हो सकती । चार धर्मोंके कर्तव्य, चार आश्रमोंके व्यवहार अथवा जो कर्म मनुष्यको करने होते हैं वे ठीक प्रकार करनेके लिए सबसे प्रथम निर्भयता की आवश्यकता है । पाठक इस गुण का इतना महत्त्व जानकर इस गुणको अपने अंदर बसावें और अपनी उन्नति का ध्यान करें ।

जो पाठक निर्भयता का संबंध मानवी उत्पत्तिके साथ देखते अथवा अनुभव कर सकते हैं, वेही इस सूक्त का गंभीर उपदेश जान सकते हैं ।

### शुद्धि कारण ।

इसी प्रकार ' शुद्धिकरण विधि ' का अत्यंत महत्त्व है । सूक्त १९ से २३ तक के पांच सूक्त इस एकही विषयका प्रकाश कर रहे हैं । इनमें उपदेश देनेका ढंगही और है, अन्त्योक्ति अलंकार भी अपूर्व शैली यहाँ पाठक देख सकते हैं । वैदिक उपदेश में ' अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्र और आप ' ये पांच देवताएँ कितना महत्त्व रखती हैं, इसकी साक्षी इन सूक्तोंके मननसे मिल सकती है । वेदका उपदेश जिस समय होता है उस समय सूर्य, चन्द्र आदि देव जड़ नहीं रहते, वे जीवित और जाग्रत रूपमें उपदेशका अयुक्त देते हैं ।

वायु देवताओंके अंशान्वित, अपने शरीरमें बड़ा और केन्द्र हैं और उनका वायु जगत् से तथा अपनी उत्पत्तिसे क्या संबंध है, इस बातका ज्ञान जिनको हुआ है, वेही इन पांच सूक्तोंका ठीक प्रकार समझ सकते हैं । अन्य लोग उतना लाभ प्राप्त नहीं कर सकते । क्योंकि वेदका ज्ञानामृत पान करनेके पूर्व उक्त बात ठीक प्रकार समझमें आना अत्यंत आवश्यक है । इन सूक्तोंके स्पष्टीकरणमें इस अपूर्व वैदिक पद्धतिके थोड़ासा आविष्कार किया है । जो पाठक मनपूर्वक इन सूक्तोंका अभ्यास करेंगे वे इस पद्धतिसे समझ सकते हैं ।

### मुक्तिका सीधा मार्ग ।

द्वितीय काण्डके ३४ वें सूक्तमें हम मुक्तिके सीधे और सरल मार्गका उपदेश हुआ है । मुक्तिका मार्ग बतानेवाले ग्रंथ आर्य शास्त्रों में अनंत हैं, परंतु जो बात अन्य ग्रंथों में नहीं भी नहीं कही है, वह अपूर्व बात इस सूक्तमें बही है और इस दृष्टिसे इस सूक्त का महत्त्व अत्यंत है ।

' दीन और दुःखी जनोकी सेवा करके उनके कष्टोंको दूर करना ' यह एक मात्र सच्चा मार्ग है जो सीधा मनुष्यको मुक्ति प्रप्त तक ले जाता है । परमेश्वर जैसा ज्ञानी शूद्र और धनी मनुष्यों के अंतःकरणों में रहता है, उसी प्रकार दीन, दुःखी और अनाथ जनोके हृदयों में भी रहता है । परंतु पूर्वोक्त तीनों लोग समर्थ होनेके कारण वे दूसरोंसे सेवा अपने अधिकारसे ही ले सकते हैं । परंतु जो दीन और अनाथ रहते हैं, उनके कष्ट कौन दूर कर सकता है ? वे तो दुःखमें घटते ही रहते हैं । दीन जनोकी जो अपने परिवारमें देखता है, नहीं नहीं, जो दीन जनोकी अपना ही समझता है, और अपना सुख देखनेके समान माथे जो दीनोको सुधी करके विचार करता है और तदनुकूल आचरण करता है वही मुक्तिके सीधे मार्ग पर है । जो दीन और दुःखी मनुष्योंको अपना कहता है, वही महात्मा है और परमात्मा वही रहता है । किसी दीन मनुष्यको दुःखी देखकर जो सुखका अनुभव कर नहीं सकता, परंतु जिसका आत्मा सहकृपा रहता है वही मुक्तिदा अधिकारी है । निराश्रित, दीन और दुःखी मनुष्योंकी रक्षा करनेके लिए ही श्रेष्ठ पुरुषोंने आत्मार्पण किया और उसी कारण वे पूज्य बने हैं ।

इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंद्वारा मुक्तिका सीधा मार्ग बतानेका वेद का ही अधिकार है । पाठक यहाँ वेदकी अमूर्तता देखें और इस सीधे मार्ग पर चलते हुए मुक्तिका परम आनंद प्राप्त करें ।

ओम् शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।



# अथर्ववेद का सुबोध भाष्य ।

## द्वितीय काण्ड की विषय सूची ।

सबका पिता	२	ब्राह्म उपासना का कल	२१
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य		अपने लहरकी जीवनशक्ति	"
द्वितीय काण्ड	३	प्राण का प्राण	२२
मार्तप-देवता-छ द-स्थी	"	ऐसा क्यों कहा है ?	"
अपिक्रमसे सूक्त	६	विरोधाळङ्कार	२३
देवताक्रमसे सूक्त	"	गवहाराकी बात	"
अथर्ववेदका सुबोध भाष्य		जहचेतन का सन्धि-प्राण	"
द्वितीय काण्ड		स्थूलसे सूक्ष्मका ज्ञान	२४
१ गुह्य-अध्यात्म-विद्या	७	प्रत्यक्षसे अप्रत्यक्ष	"
गुह्यविद्या	८	प्राणों का आना और जाना	२५
गुह्यविद्याका अधिकारी	९	प्राणों का पति	"
पूर्व तैयारी ( प्रथम अवस्था )	"	महागण देह	२६
द्वितीय अवस्था	१०	सारांश—	"
तृतीय अवस्था	"	३ आरोग्यसूक्त	२७
पूर्णावस्था	११	औपधि	२८
सूत्राग्राह्य	१२	शस्त्रों का उपयोग	"
अमृतका धाम	"	४ अङ्गिष्ठ मणि	२९
गुह्य	"	सण और जह्मिह	३०
कारभाग	१३	अङ्गिष्ठ मणि के छाम	३१
एकरूप	"	मणिधारण	३२
अनुभवका स्वरूप	१४	मणिपर संस्कार	३३
मगएका ताना और बाना	१५	जोड़की दिशा—	३४
एकके अनेक नाम	"	जह्मिह मणिसे दीर्घायुपुत्र	"
बह एकही है	"	बड़ा रण	"
देवोंका अमृतपान	१६	बहचर्पन	३५
२ एक पूजनार्थ ईश्वर	१७	बह और विजय	"
गपप और अमरा	१८	दूरन	"
महान् गन्धर्व	१९	जनि	३६
महाकी ब्राह्म उपासना	२०	५ क्षत्रिय का धर्म	३७
बामरमरम	२१	क्षत्रिय के गुण	३८

क्षत्रिय के कर्तव्य—	३९	मनको धीरज देना	६१
राज्यशासन	४०	११ आत्माके गुण	६२
प्रजासे सम्मान, भोग	४१	शरीरमें आत्माका कार्य	६३
सोम और मद्य	४२	श्रेयः प्राप्ति, उद्यतिका मार्ग	६४
जीवन संग्राम	४३	१२ मनका यत्न बढ़ाना	६५
६ ब्राह्मणधर्म का आदेश	४४	मानस शक्तिका विकास	६६
वसिष्ठा स्वरूप	४५	स्वभाव, शुभवचन, ज्ञान	६७
दीर्घायुष्य, ज्ञान, सत्य	४६	जीविजवाणी, शास्त्रादेदन	६८
तेजका वर्धन	४७	असंगम्य और प्रज्ञा, द्य	६९
तेजका प्रकार, ऐश्वर्य	४८	सप्तप्राण	७०
स्वपक्षियों की उन्नति	४९	आठ ग्रंथी, संयमका मार्ग	७१
अपने घरमें आगना, असाह पुरुषार्थ	५०	मरनेकी विद्या,	७२
मित्रभाव, चित्तवृत्तियोंका सुधार	५१	निर्भयऋषिकुमार	७३
अभ्योक्तिप्रलंकार—	५२	आत्मबद्धाव, एकके दुःखसे दूसरा दुःखी	७४
आग्निपर्वसे अग्नि	५३	ज्ञानके विरोधी	७५
७ शापको लोटा देना	५४	आनुवंशिक संस्कार	७६
शापका स्वरूप	५५	हंसप्रार्थना	७७
दूतोंका उपयोग	५६	१३ प्रथम यज्ञ परिधान	७८
मनोविकारोंसे हानि	५७	पुत्रके किये वध	७९
शापको वापस करना	५८	घरमें वध करनेका प्रयोजन	८०
योग्य मित्र	५९	स्वस्ति, विनाशसे बचाव	८१
दुष्ट हृदय	६०	धन, पुष्टि, दीर्घायु	८२
८ क्षेत्रिय रोग दूर करना	६१	सुदृढ शरीर	८३
क्षेत्रिय रोग, दो औषधियाँ	६२	१४ विपत्तियोंको दूर करनेका उपाय	८४
९ सन्धिवातको दूर करना	६३	विपत्तियोंका स्वरूप	८५
संधिवात	६४	सौमभेद, आत्मशुद्धि और शुद्धि	८६
दशवृक्ष	६५	नीचतासे विपत्तिका उद्गम	८७
उत्तम वैद्य	६६	राजा का कर्तव्य, जीवनयुद्ध	८८
प्रवीणताकी प्राप्ति	६७	१५ निर्भय जीवन	८९
१० दुर्गतिसे बचनेका उपाय	६८	निर्भयतासे अमरपन	९०
दुर्गतिका स्वरूप	६९	प्रज्ञा-क्षय,	९१
एक मात्र उपाय, ज्ञानका फल	७०	सत्य और अनृत भूत और भविष्य	९२
उद्यतिका मार्ग	७१	१६ विश्वेश्वरकी भक्ति	९३
अलंकारकी भाषा—	७२	वैश्वानर,	९४
स्वकीय प्रयत्न	७३	एक उपाय देवों द्वारा रक्षा	९५
मार्थनाका फल	७४	१७, १८ आत्मसंरक्षण का यत्न	९६-९७

बलकी गणना	८५	२९ दीर्घायु, पुष्टि और सुप्रजा	११०
स्वाहा विधि	८६	रस और बल	११२
१२-२३ शुद्धिको विधि	८७	शतायु	"
पांच देव, पंचायतन	८९	अन्न, बल, धन, सुसन्तान और जय	११३
पांच देवोंकी ' पांच शक्तियाँ '	"	हृदयकी सृष्टि	११४
मनुष्यकी शुद्धि, पंचायतन	९०	स्वधा	११५
शुद्धिकी रीति	९१	३० पति और पत्नीका मेल	११६
क्षेप करना	९२	अग्निनी देव	११७
२४ डाकुओंकी असफलता	९३	विवाहका समय	"
हुष्ट लोग	९४	निन्दपत्र बर्ताव	११८
२५ पृश्निपर्णी	"	आदर्श पतिपत्नी,	"
रक्त क्षेप	९५	भ्रमणका स्थान	११९
रोगका परिणाम, उत्पत्तिस्थान बचावका उपाय	९६	स्त्रीके साथ बर्ताव	"
२६ गोरस	९८	३१ रोगोत्पादक क्रिमि	१२०
पशुपालना	९९	क्रिमियोंकी उत्पत्ति	१२१
भ्रमण और वापस आना	"	क्रिमियोंको दूर करनेका उपाय	"
दूध और पोषक रस	१००	३२ क्रिमिनाशन	१२२
२७ विजय—प्राप्ति	१०१	सूर्य क्षिणका प्रभाव	१२३
विजय के क्षेत्र, वादी और प्रतिवादी	१०२	क्रिमियों के लक्षण	"
युद्धमें विजय	१०३	रोगबीजनाश की विद्या, विवस्थान	"
पाटा औषधी	"	३३ यक्ष्मनाशन	१२४
शक्ति के साथ बलवृत्त	१०४	कश्मप—विषईण	१२५
अभिदासन का नियम	"	३४ मुक्तिका सौधा मार्ग	"
जलचिह्निलक	"	प्राणका आवास	१२६
२८ दीर्घायुष्य प्राप्ति	१०५	पशुपति रुद्र	१२७
दीर्घ आयुष्य की मर्यादा साधन,	१०६	बीजनाफे	१२८
कार्यक्षेत्र, वध	१०७	योगीन्द्र जल	"
हंतावर्धना	१०८	शुद्धि का मार्ग	१२९
देवचरित्रप्रवण	"	विषमार्गमें पकड़ना	"
पानसे बचाव, योग और पराक्रम	१०९	पशु	१३१
देवोंकी सहायता	"		

३५ यज्ञमें आत्मसमर्पण	१३१	देवयंकी नौका	१३०
अपात्रकोंकी निन्दा	१३२	पुरुषका स्थान	१३८
यात्रकोंकी प्रशंसा	१३३	पत्तिके द्विमे घन	"
ऋषियोंकी प्रशंसा	"	अथर्ववेद द्वितीय काण्डका घोडासा मनन	१४१
विद्वद्वर्ग की पूजा	"	गणविभाग	"
३६ दियोद्द का मंगलकार्य	१३४	विषयविभाग	"
प्राची योग्यता	१३५	विशेष मृष्ट्य	१४३
अपूची योग्यता	१३६	निर्भय जीवन	"
विशदके पद्याश्च	"	सुदिकरण	१४४
		शुद्धिका साध मागं	"

अथर्ववेदका  
द्वितीय काण्ड समाप्त



# अथर्ववेद

का

सुबोध भाष्य

तृतीयं काण्डम्

लेखक

पं. श्रीपाद दामोदर सातवलेकर

अध्यक्ष- स्वाध्याय-मण्डल, साहित्य-याचस्पति, गीतालङ्कार

तृतीय वार

स्वाध्याय मण्डल, पारडी

\*

संवत् २०१६, शक १८८१, सन १९९९

# अपने राष्ट्रका विजय !

★

★ ★

समूहमेपां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।  
वृथामि शत्रूणां चाहन्तेन हविषाहम् ॥ २ ॥  
नीचैः पयन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मध्वानं पृतन्यान् ।  
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥  
एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि ।  
एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेऽेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

अथर्व० का० ३।१९

“ मैं इन अपने लोगोंके राष्ट्रको बल, वीर्य और प्रभावसे युक्त करता हूँ, तथा मैं शत्रुओंके बाहुओंको इस आह्वानके साथ काटता हूँ ॥ २ ॥

हमारे शत्रु नीचे गिर जाय, जो हमारे ज्ञानियों और धनिकोंपर सेनासे हमला चढ़ाते हैं ये नीचे गिर जाय ॥ ३ ॥

मैं इनके आयुष्योंको तीक्ष्ण बनाता हूँ, मैं इनका राष्ट्र उत्तम वीरतासे युक्त कराके बढ़ाता हूँ, इनका क्षात्रतेज अजर और विजयी हों, इनके चित्तको सब देव सचेत करें ॥ ५ ॥ ”





# अथर्ववेदका स्वाध्याय ।

## तृतीय काण्ड ।

इस तृतीय काण्डका प्रारंभ 'अभि' शब्दसे हुआ है। यह अभि देवता प्रकाशकी देवता है। अंधेरका नाश करना और प्रकाशको फैलाना इस देवताका कार्य है। प्रकाश मनुष्यका सहायक और मित्र है और अंधेरा मनुष्यका घातक और शत्रु है। प्रकाशमें मनुष्य बढ़ता है और अंधेरेमें घटता है। इस लिये प्रकाशके देवताका महारव अधिक है और इसलिये इसका नाम मंगल-कारक समझा जाता है। ऐसे मंगल वाचक अभि शब्दसे इस काण्डका प्रारंभ हुआ है।

जिस प्रकार प्रथम काण्डमें बार मंत्रवाले सूक्त और द्वितीय काण्डमें पाँच मंत्रवाले सूक्त अधिक थे, इसी प्रकार इस तृतीय काण्डमें छः मंत्रवाले सूक्त विशेष हैं, देखिये—

- १ मंत्रवाले १३ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या ७८ है,
- ७ मंत्रवाले ६ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या ४१ है,
- ८ मंत्रवाले ६ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या ४८ है,
- १ मंत्रवाले २ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या १० है,
- १० मंत्रवाले २ सूक्त हैं, इनकी मंत्रसंख्या २० है,
- ११ मंत्रवाले १ सूक्त है, इसकी मंत्रसंख्या ११ है,
- ११ मंत्रवाला १ सूक्त है, इसकी मंत्रसंख्या ११ है।

सूक्तोंमें मंत्रोंकी जो संख्या होती है वह उसकी प्रकृति होती है, जैसा प्रथम काण्डके सूक्तोंकी प्रकृति 'मंत्र बार' है अर्थात् इस काण्डके सूक्तोंमें बार मंत्रवाले सूक्त अधिक हैं और जो अधिक मंत्रवाले सूक्त हैं वे भी बड़े सूक्तोंमें बार मंत्रवाले बनाये जा सकते हैं, इसी प्रकार द्वितीय काण्डकी प्रकृति पाँच मंत्रकी है और तृतीय काण्डकी छः मंत्रकी है, इस विषयमें अथर्व सर्वांगुक्रमणीका कथन यह है—

येनस्तादिति प्रभृतिराकाण्डपरिसमाप्तेः

पूर्वकाण्डस्य चतुर्कचप्रकृतिरित्येवमुत्तरोत्तर काण्डेषु पष्ठं यावदेकैका तावत्सूक्तपृथगिति विज्ञानीयात् । ( अथर्व० पू० सर्वांगु. १।१।१ )

अग्निः इति ... पष्टुचं प्रकृतिरन्या विज्ञाते-

रिति विज्ञानीयात् । ( अथर्व० पू० सर्वांगु. २।१।१ )

'पहिले काण्डकी बार अवाओंकी प्रकृति, द्वितीय काण्डकी पाँच अवाओंकी प्रकृति, इस प्रकार छठे काण्डमें एक एक अवा सूक्तमें बढ़ती है। तृतीय काण्डकी छः अवाओंकी प्रकृति है, अन्य विज्ञाने हे ।'

अर्थात् यह विकृति है। यह विकृति इस कारण हुई है कि 'एवाह स्वा ०-० स्ताम्।' यह मन्त्रभाग इस सूक्तमें बारबार आगया है। यदि यह बारबार आया हुआ मन्त्रभाग अलग किया जाय और एक मन्त्रके साथ ही रखा जाय और शेष मन्त्रभागोंके दो दो चरणोंके मन्त्र माने जाय तो केवल पाँच मन्त्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है। इसी प्रकार कई अन्य

रीतियाँ हैं कि जो अन्य सूक्तोंकी लग सकती हैं और विकृतिकी श्रुति बनाई जा सकती है। इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी सुद्धिपूर्वक ही हुई है और इसके होनेसे सूक्तकी प्रकृतिमें कोई दोष नहीं आता है। इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके क्रमशः ऋषि, देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
<b>प्रथमोऽनुवाकः । प्रथमः प्रपाठकः ।</b>				
१	६	अथर्वी	सेनामोहन, बहुदेवत्य	त्रिष्टुप्, २ विराट्गर्भा भूरिक्, ३, ६ अनुष्टुभ ५ विराट्पुररत्नणिम् ।
२	६	अथर्वी	बहुदेवत्य	त्रिष्टुप्, २-४ अनुष्टुम् ।
३	६	अथर्वी	अग्नि, नानादेवता	त्रिष्टुप्, ३ च. भूरिक् पङ्क्तिः, ५, ६ अनुष्टुम् ।
४	७	अथर्वी	इन्द्र	त्रिष्टुप्, १ जगती, ४, ५ भूरिक्
५	८	अथर्वी	सोम	अनुष्टुप्, १ पुरोऽनुष्टुप् त्रिष्टुप्, ८ विराट्पुरोवृहती ।
<b>द्वितीयोऽनुवाकः ।</b>				
६	८	जगद् बीज पुरुष	वानरपत्न्याश्रयदेवत्य	अनुष्टुम् ।
७	७	भृगु अगिरा	यक्षमनाशन बहुदेवता	अनुष्टुम्, ६ भूरिक् ।
८	६	अथर्वी	मित्र विधेदेवाः	त्रिष्टुप्, २, ६ जगती, ४ च विराट्पुहतीगर्भा, ५ अनुष्टुम् ।
९	६	वामदेव	वावाणुयित्री, विधेदेवा	अनुष्टुप्, ४ च. निचूद् वृहती ६ भूरिक् ।
१०	१३	अथर्वी	अदवता	अनुष्टुप्, ४, ६, १२ त्रिष्टुप्, ७ च ५ विराट्गर्भातिजगती ।
<b>तृतीयोऽनुवाकः ।</b>				
११	८	मद्रा-भृगु-अगिरा	इन्द्र, अग्नि, आयुष्य, यक्षमनाशन	त्रिष्टुप्, ४ दक्षशरीरगर्भा जगती, ८ च. ५ वृहतीगर्भा जगती, ५, ६ अनुष्टुप्, ७ उतिगर्भा हतीगर्भा पथ्यापङ्क्ति ।
१२	९	मद्रा	वाभ्योपपतिः, धाला	त्रिष्टुप्, ३ वृहती, ६ दक्षशरीरगर्भा जगती, ७ आशिमनुष्टुप्, ८ भूरिक्, ९ अनुष्टुप्



अर्थात् यह विकृति है । यह विकृति इस कारण हुई है कि 'एवाह त्वा ०-० स्ताम् ।' यह मन्त्रभाग इस सूक्तमें बारबार आगया है । यदि यह बारबार आया हुआ मन्त्रभाग अलग किया जाय और एक मन्त्रके साथ ही रखा जाय और शेष मन्त्रभागोंके दो दो चरणोंके मन्त्र माने जाय तो केवल पाँच मन्त्रोंका ही यह सूक्त हो सकता है । इसी प्रकार कई अन्य

रीतियाँ हैं कि जो अन्य सूक्तोंको लग सकती हैं और विकृतिही प्रकृति बनाई जा सकती है । इससे पाठक जान सकते हैं कि यह विकृति भी सुदिपूर्वक हा हुई है और इसके होनेसे सूक्तों प्रकृतिमें कोई दोष नहीं आता है । इस प्रकार इस काण्डकी प्रकृतिका विचार करनेके पश्चात् अब हम तृतीय काण्डके सूक्तोंके ऋषय ऋषि, देवता और छन्द देखते हैं—

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	छन्द
प्रथमोऽनुवाकः । प्रथमः प्रपाठकः ।				
१	६	अथर्वी	सेनामोहन, बहुदैवत्य	निष्टुप्, २ विराट्गर्मा भूरिक्, ३, ६ अनुष्टुभ ५ विराट्पुराणिष् ।
२	६	अथर्वी	बहुदैवत्य	निष्टुप्, २-४ अनुष्टुम् ।
३	६	अथर्वी	अग्नि, नानादेवता	निष्टुप्, ३ च, भूरिक् पङ्क्ति, ५, ६ अनुष्टुम् ।
४	७	अथर्वी	इन्द्र	निष्टुप्, १ जगता, ४, ५ भूरिक्
५	८	अथर्वी	सोम	अनुष्टुप्, १ पुरोऽनुष्टुप् निष्टुप्, ८ विराट्गोवृहती ।

### द्वितीयोऽनुवाकः ।

६	८	जगद् बीज पुरुष	वानस्पत्याश्वत्थदेवत्य	अनुष्टुम् ।
७	७	सृष्ट अगिरा	यक्षनाशन बहुदेवता	अनुष्टुम्, ६ भूरिक् ।
८	६	अथर्वी	मित्र, विधेदेवाः	निष्टुप्, २, ६ जगती, ४ च विराट्गोवृहतीगर्मा, ५ अनुष्टुम् ।
९	६	वामदेव	द्यावापृथिवी, विधेदेवा	अनुष्टुप्, ४ च, निचृद् गृहती ६ भूरिक् ।
१०	१३	अथर्वी	अष्टका	अनुष्टुप्, ४, ६, १२ त्रिष्टुप्, ७ च ५ विराट्गोवृहतीजगती ।

### तृतीयोऽनुवाकः ।

११	८	मदा-सृष्ट-अगिरा	इन्द्र, अग्नि, आनुष्य, यक्षनाशन	त्रिष्टुप्, ४ शक्वरागर्मा जगती, ८ च ५ गृहतीगर्मा जगती, ५, ६ अनुष्टुप्, ७ त्रिष्टुप् गृहतीगर्मा पय्यापङ्क्ति ।
१२	९	मदा	वायव्यपति, बाला	त्रिष्टुप्, ३ गृहती, ६ शक्वरागर्मा जगती, ७ आर्तिभुष्टुप्, ८ भूरिक्, ९ अनुष्टुप्

सूक्त	मन्त्रसंख्या	अपि	देवता	छन्द
१३	५	भृगु	वरुण, सिन्धु	अनुष्टुप्, १ निचृत्, ५ विराट् जगती, ६ निचृदनुष्टुप्
१४	६	मङ्गा	नागदेवता गोष्ठदेवता	अनुष्टुप्, ६ आर्षोऽनुष्टुप्
१५	८	अथर्वा ( पथ्यद्याम )	विश्वदेवा इन्द्राग्नी	त्रिष्टुप्, १ भूरिक्, ४ ज्य, ५ बृहतीगमो विराट्छाष्टि, ५ विराट्जगती, ७ अनुष्टुप्, ८ निचृत् ।
अनुष्टुप् अनुवाकः । द्वितीयः प्रपाठकः ।				
१६	७	अथर्वा	बृहस्पतिः बहुदेवार्थं	त्रिष्टुप्, १ आर्षोऽजगती, ४ भूरिक्पक्षि ।
१७	९	विश्वामित्र	सीता	अनुष्टुप्, १ आर्षो गायत्री, २, ५, ९ त्रिष्टुप्, ३ पथ्यापक्षि, ७ विराट्पुरज्जिह्व ८ निचृत् ।
१८	६	अथर्वा	वनस्पति	अनुष्टुप्, ४ अनुष्टुप्गमो अनु० सर्गिह्व, ६ ज्योतिषगमो पथ्यापक्षि ।
१९	८	वसिष्ठा	विश्वेदेवा, चन्द्रमा, इन्द्र	अनुष्टुप्, १ पथ्यापृहती, ३ भूरि- पृहती, ६ ज्य व त्रि क. गमोतिजगती, ७ विराट्छाष्टि- पक्षि, ८ पथ्यापक्षि ।
२०	१०	वसिष्ठ	अग्नि मन्त्रेश्वरदेवताः	अनुष्टुप्, ६ पथ्यापक्षि, ८ विराट्जगती ।
पञ्चमोऽनुवाकः ।				
२१	१०	वसिष्ठा	अग्निः	त्रिष्टुप्, १ पुष्योऽनुष्टुप्, २, ३, ८ भूरिक्, ५ जगती, ६ त्रिष्टु- ष्टि विराट्छाष्टि, ७ विराट्गमो, ९ निचृदनुष्टुप्, १० अनुष्टुप् ।
२२	६	वसिष्ठा	बृहस्पति, विश्वेदेवा	अनुष्टुप्, १ विराट्त्रिष्टुप्, ३ पथ्यापक्षि, ५ विराट्छाष्टि, ७ ४ पथ्यापक्षि, ९ जगती
२३	६	मङ्गा	चन्द्रमा, कोनि	अनुष्टुप्, ५ त्रिष्टुष्टि, ६ पृहती, ६ पृहती, ७ पृहती ।
२४	७	भृगुः	बृहस्पतिः प्रथमः	अनुष्टुप्, ७ निचृदपथ्यापक्षि ।
२५	६	भृगुः ( वायवाज्याम् )	विश्वदेवो वायुदेवः	अनुष्टुप्

सूक्त	मन्त्रसंख्या	ऋषि	देवता	
पद्योऽनुवाकः ।				
२६	६	अथर्वी	रुद्र अग्न्यादिवहुदेवता	त्रिष्टुप्, २ त्रिष्टुप् २, ५, ६ जगती, ३, ४ भुरिक् ।
२७	६	अथर्वी	ऋतु	अष्टि, २ अथष्टि ५ भुरिक् ।
२८	६	ब्रह्मा	यामिनी	अनुष्टुप्, १ अतिशक्नरीगर्मा च अ जगती, ४ यवमध्या विराट् ककुप, ५ त्रिष्टुप्, ६ विराट् गर्मा प्रस्तारपत्ति ।
२९	८	उद्दालक	श्रुतिपादवि ७ काम, ८ भूमि	अनुष्टुप्, १, ३ पथ्यापत्ति ७ इय प उपरिष्टाद्देवीवृहती ककुप, १० विराट्जगती। ८ अपरिष्टाद्देवीवृहती ।
३०	७	अथर्वी	चन्द्रमा सोमनख	अनुष्टुप्, ५ विराट्जगती। ६ प्रस्तारपत्ति ७ त्रिष्टुप् ।
३१	११	ब्रह्मा	पाप्म-हा	अनुष्टुप्, ४ भुरिक्, ५ विराट् प्रस्तारपत्ति ।

तृतीय काण्डके सूक्तोंके ये ऋषि देवता और छन्द हैं । अब इनका विभाग ऋषिक्रमानुसार देखिये—

१ अथर्वी १-५, ८, १०, १५, १६, १८ २६,  
२७, ३० ये तेरह सूक्त ।

२ ब्रह्मा-११ १२, १४, २३ २८, ३१ ये छ सूक्त ।

३ यत्तिष्ठ-१९ २० २१ २२ ये चार सूक्त ।

४ भृगु-१३ २४ २५ ये तीन सूक्त ।

भृगु-अग्निरा.-७, ११ ये दो सूक्त ।

५ जगद्गीज पुरुष-६ वों एक सूक्त ।

६ यामदेव-९ वों एक सूक्त ।

७ विश्वामित्रा-१७ वों एक सूक्त ।

८ उद्दालका-२९ वों एक सूक्त ।

ये ऋषिक्रमानुसार सूक्त हैं । अब देवताक्रमानुसार सूक्त देखिये -

१ यदुदेवस्य, नानादयता-१, २ ३, ७ १४,  
१६ २६ २७ ये आठ सूक्त ।

२ विश्वेदेवा-८, ९, १५ १९ २२ ये पाँच सूक्त ।

३ अग्नि-३, ११, २०, २१ ये चार सूक्त ।

४ इन्द्र-४, ११, १९ ये तीन सूक्त ।

५ चन्द्रमा-१९, २३, ३० ये तीन सूक्त ।

६ वृद्धस्पति-१६, २३ ये दो सूक्त ।

७ रुद्र-२६, २७ ये दो सूक्त ।

८ धनस्पति-१८, २४ ये दो सूक्त ।

९ यक्ष्म नाशन-७, ११ ये दो सूक्त ।

१० सेना मोहन-१, २ ये दो सूक्त ।

११ इन्द्राग्नी-१५ यह एक सूक्त ।

१२ सोम-५ यह एक सूक्त ।

१३ धनस्पर्शभ्यर्थ-६ यह एक सूक्त ।

१४ मित्र-८ यह एक सूक्त ।

१५ घावाघृथिषी-९ यह एक सूक्त ।

१६ वारुण-१३ यह एक सूक्त ।

१७ प्रजापति-२४ यह एक सूक्त ।

१८ मित्रायर्षणी-२५ यह एक सूक्त ।

१९ भूमि-२९ यह एक सूक्त ।

- २० अष्टका- १० यह एक सूक्त ।  
 २१ सिंधुः- १३ यह एक सूक्त ।  
 २२ सायुष्यं- ११ यह एक सूक्त ।  
 २३ वास्तोष्पतिः- १२ यह एक सूक्त ।  
 २४ शाला- १२ यह एक सूक्त ।  
 २५ गोष्ठाः- १४ यह एक सूक्त ।  
 २६ सीता- १४ यह एक सूक्त ।  
 २७ योनिः- २३ यह एक सूक्त ।  
 २८ कामेयुः- २५ यह एक सूक्त ।  
 २९ यामिनी- २८ यह एक सूक्त ।  
 ३० कामः- २९ यह एक सूक्त ।  
 ३१ सामनस्यं- ३० यह एक सूक्त ।  
 ३२ पाप्म-दा- ३१ यह एक सूक्त ।  
 ३३ शितिपादयिः- ३९ यह एक सूक्त ।  
 ३४ मंत्रोक्ताः- २० यह एक सूक्त ।

इस प्रकार इन सूक्तों के मंत्रों की देवताएं हैं । इनमें और भी देवताएं हैं जिनका संबंध पाठक विवरण के समय स्वयं समझ जायेंगे । अब इन सूक्तों के गणों का विचार देखिये—

### सूक्तों के गण ।

इस तृतीय काण्ड के सूक्तों के गण इस प्रकार लिये हैं—

- १ अपराजितगण- १९ वाँ सूक्त ।  
 २ तक्षमनाशनगण- ७, ११ ये दो सूक्त ।  
 ३ पंचस्यगण- १६, २२ ये दो सूक्त ।  
 ४ आयुष्यगण- ८, ११ ये दो सूक्त ।  
 ५ रौद्रगण- २१, २४ ये दो सूक्त ।  
 ६ अहोर्लिङ्गगण- ११ वाँ एक सूक्त ।

- ७ पाप्म-दा-गण- ३१ वाँ एक सूक्त ।  
 ८ वृद्धच्छान्तिगण- २१ वाँ एक सूक्त ।

इस प्रकार ये सूक्त इन गणों के साथ संबंध रखते हैं । इस काण्ड के अन्य सूक्तों के गणों का पता नहीं चलता । इस काण्ड के सूक्तों द्वारा कुछ शान्तियों सूचित होती हैं उनके नाम ये हैं—

- १ आंगिरसी महाशान्ति- ५, ६ ये दो सूक्त ।  
 २ कौमारी महाशान्ति- ७ वाँ एक सूक्त ।  
 ३ ब्राह्मी महाशान्ति- २२ वाँ एक सूक्त ।

इन सूक्तों का संबंध इन शान्तियों के साथ है । इस लिये अध्ययन करने के समय पाठक इस बात का विचार करें । सोच करनेवालों को चिन्तित है कि वे इस शान्ति प्रकरण की सोच करें अर्थात् इन शान्तियों का सापय क्या है और इनकी विधि भी कैसी होती है इत्यादि सोचना विषय है । संभव है कि इस सोच से अपूर्व ज्ञान प्राप्त होगा । इस काण्ड में शत्रुसेना के समोहन का विषय पहले दो सूक्तों में आया है और सामनस्य अर्थात् एकता का विषय तीसरे सूक्त में आया है—

- शत्रुसेनासंमोहनं- १, २ ये दो सूक्त ।  
 सामनस्यं- ३० वाँ एक सूक्त ।

ये सूक्त विशेष विचारपूर्वक इस स्थिति पढ़ने योग्य हैं । इसके अतिरिक्त इस तृतीय काण्ड का १५ वाँ 'इन्द्र महोत्सव' के विषय का सूक्त है, ऐसा कौशील की गुप्त में कहा है । इसमें इस इन्द्र महोत्सव के विषयों भी विचार होना चाहिये ।

ये सब विषय बड़े शरीर हैं इसलिये आशा है कि पाठक भी इसका विचार समीरणा के साथ करेंगे । इनकी भूमिका से साथ अब तृतीय काण्ड शुरू किया जाता है ।





## अथर्ववेद का सुकौष भाष्य ।

### तृतीय काण्ड ।

## शत्रुसेना का संमोहन ।

( १ )

( कविः— अथर्वा । देयता — सेनामोहनं, यदुद्देवत्यम् । )

अग्निर्नः शत्रुन्प्रत्येतु विद्वान्प्रतिदहन्नभिर्गस्तिमरातिम् ।

स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्ताथ कृणवज्जातर्वदाः

॥ १ ॥

युयमग्रा मरुत ईदृशे स्यामि प्रेतं मृणतु सहज्वम् ।

अमीमृणन्वसवो नायिता इमे अभिर्द्योषां दूतः प्रत्येतु विद्वान्

॥ २ ॥

अर्थ— ( विद्वान् अग्निः ) विद्वान् अभिगमान तेजस्वी वीर ( अभिशस्ति अरातिं ) घातघात करनेवाले शत्रुको ( प्रति दहन् ) अलाता हुआ ( नः शत्रुन् प्रत्येतु ) हमारे शत्रुओंपर चढ़ाई करे । ( सः जातवेदाः ) वह शत्रु ( परेषां सेनां ) शत्रुओंकी सेनाको ( मोहयतु ) मोहित करे ( च निर्हस्ताथ कृणवत् ) और उनको हस्तहीन करे ॥ १ ॥

हे ( मरु+उतः ) मरुतों लिये तैयार बानी । ( ईदृशे यूयं उग्राः रथः ) ऐसे धमकाने लुप्त बने वीर हो, इस लिये ( अभि-प्र-इत, मृणत, सहज्वम् ) आगे बढ़ो, काटो, और जीत लो । ( इमे नायिताः वसवः ) ये वनशान् वसनेवाले वीर ( अमीमृणन् ) काटते रहे हैं । ( येषां दूता विद्वान् अग्निः ) इनका दाहकता शाली अग्नि के समान तेजस्वी वीर ( प्रत्येतु ) विशेष चढ़ाई करे ॥ २ ॥

भाषार्थ— राजनातिके जाननेवाले विद्वान् और तेजस्वी पुरुष घातघात करनेवाली शत्रुसेनाको जनाने हुए शत्रुओंपर चढ़ाई करे । सेनासंमोहनकी विधाको जाननेवाले शाली शत्रुसेनाको मोहित करे और उनको हस्तहीन करे बना देवे ॥ १ ॥

हे मरुतों लिये मित्र हुए हुए बानी । ऐसे लुप्त समयमें लुप्त बने वीर हो, इस लिये आगे बढ़ो, शत्रुको काटो और उनको जीत लो । ये वनशान् भरन देशनिवासी वीर शत्रुको काटने हैं, इनका साथी शाली तेजस्वी वीर जो शत्रुको बनाता हुआ शत्रु-पर चढ़ाई करे ॥ २ ॥

अमित्रसेनां मघवन्नसाञ्छद्रूयतीमभि ।

युवं तानिन्द्र वृत्रहन्मिथं दहतं प्रति

॥ ३ ॥

प्रसूत इन्द्र प्रवत्ता हरिभ्यां प्र ते वज्रः प्रमृणन्तेतु शत्रून् ।

जहि प्रतीचीं अनूचः पराचो विष्वक्सत्यं कृणुहि चित्तमेपाम्

॥ ४ ॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।

अग्नेर्वीरस्य ध्राज्या तान्विपृचो वि नाशय

॥ ५ ॥

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो मन्त्वोजसा ।

चक्षूस्पगिरा दत्तां पुनरेतु पराजिता

॥ ६ ॥

अर्थ— हे ( मघवन् वृत्रहन् इन्द्र ) धनवान् शत्रुनाशक सम्राट् तथा ( च अग्निः ) हे ज्ञानी ! ( युवं ) तुम दोनों मिलकर ( अस्मान् शत्रूयतीं अमित्र-सेनां ) हमारी शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको ( अभि ) पराभूत करके ( तान् प्रति दहतं ) उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे ( इन्द्र ) नरेन्द्र ! ( प्रवत्ता ते हरिभ्यां ) वेगसे तेरे हरणशील देवों द्वारा ( प्रसूतः वज्रः ) बलाया हुआ वज्र ( शत्रून् प्रमृणन् प्र+पन्तु ) शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे । ( प्रतीचः, अनूचः, पराचः ) समुख, पीछे और परे मागनेवाले शत्रुओंको ( जहि ) हनन कर दे और ( एपां चित्त ) इन शत्रुओंके चित्तको ( सत्यं विष्वक् कृणुहि ) ठीक प्रकार चारों ओर भटका दे ॥ ४ ॥

हे ( इन्द्र ) नरेश ! ( अमित्राणां सेनां मोहय ) शत्रुओंकी सेनाको घबराओ । ( अग्नेः वातस्य ध्राज्या ) अग्निके और वायुके प्रबल वेगसे ( तान् ) उन शत्रुसैनिकोंको ( विपृचः विनाशय ) चारों ओर भटकाकर नाश कर डाल ॥ ५ ॥

( इन्द्रः सेनां मोहयतु ) नरेश शत्रुसेनाको मोहित करे, ( मरु+उतः ) मरनेके लिये सिद्ध हुए वीर ( ओजसा मन्तु ) वेगसे हनन करें । ( अग्निः चक्षूँषि आदत्तां ) अग्नि अर्थात् प्रकाश उनके आँखोंके ले लेवे । इस प्रकार शत्रुका ( पराजिता ) पराभूत हुई सेना ( पुनः पन्तु ) फिर भी पीछे हटे ॥ ६ ॥

भावार्थ— हे धनवान् शत्रुनाशक नरेश ! तथा हे तेजस्वी ज्ञानी वीर ! तुम दोनों मिलकर हमारा शत्रुता करनेवाली शत्रुसेनाको पराभूत करो और उनको जला दो ॥ ३ ॥

हे नरेश ! वेगसे बलाया हुआ तुम्हारा शस्त्रका समुदाय शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे । समुखसे, पीछे और चारों ओरसे मागनेवाली शत्रुसेनाका हनन करके उनके चित्तमें ऐसी घबराहट उत्पन्न करो कि जिससे वे चारों दिशाओंमें भाग जाय ॥ ४ ॥

हे नरेश ! अमृत्युके दाहसे और वायुव्याघ्रके वेगसे शत्रुसेनाको ऐसा घबराओ कि वे चारों दिशाओंमें भाग जाय और इस रीतिसे उनका नाश कर ॥ ५ ॥

नरेश शत्रुके श्रेष्ठको घबरावे, शूर वीर वेगसे शत्रुसेनाका हनन करें और शत्रुसेनाको ऐसी घबराहट करें कि जिससे उनको कुछ भी न दीख पड़े और इस प्रकार शत्रुका पूर्ण पराजय होकर उनका पूर्ण नाश हो जावे ॥ ६ ॥

इसी विषयका द्वितीय सूक्त है इसलिये उस सूक्तका भी अर्थ हम यहाँ पहले देखते हैं, और पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे । द्वितीय सूक्त यह है—

( २ )

( ऋषिः— अथर्वा । देवता — सेनामोहनं, यदुद्देयत्यम् । )

अग्निर्नो दूतः प्रत्येतुं विद्वान्प्रतिदहन्मभिशस्तिमरातिम् ।

स चित्तानि मोहयतु परेषां निर्हस्ताश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

अयमग्निर्ममूहवानि चित्तानि यो हृदि ।

वि वो धमन्वोर्कसुः प्र वो धमतु सर्वतः ॥ २ ॥

इन्द्रं चित्तानि मोहयन्नुवाडाकृत्या चर ।

अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान्विपूषो वि नाशय ॥ ३ ॥

व्याकृत्य एषामिताथो चित्तानि मुह्यत ।

अथो यदुद्येषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

अर्थ— ( तः दूतं विद्वान् अग्निः ) हमारा दूत ज्ञानी तेजस्वी वीर ( अभिशस्ति मरातिं प्रतिदहन् ) पात-पात करनेवाले शत्रुको जलाता हुआ ( प्रत्येतु ) चढ़ाई करे । ( सः जातवेदाः परेषां चित्तानि मोहयतु ) वह ज्ञानी शत्रुओंके चित्तोंका मोहित करे और उनको ( निर्हस्ताश्च कृणवज्जातवेदाः ) हस्तहीन जैसे करे ॥ १ ॥

( यानि च हृदि ) जो दुश्मनके हृदयमें संरक्षित हैं वे ( चित्तानि ) चित्त ( अयं अग्निः अमूमुह्यतु ) यह तेजस्वी वीर पचराहटमें बालता है । वह ( यः धोर्कसुः विधमतु ) दुश्मनके-शत्रुको-परसे निश्चल देने और ( यः सर्वतः प्रधमतु ) दुश्मनके-शत्रुको-सर्व प्रदेशसे हटा देवे ॥ २ ॥

हे ( इन्द्र ) वीर ! शत्रुके ( चित्तानि मोहयन् ) चित्तोंको मोहयुक्त करता हुआ तू ( आकृत्या अर्वाह चर ) शुभसङ्कल्पमें हमारे पास आ । ( अग्नेः वातस्य ध्राज्या ) अग्नि और वायुके वेगसे ( तान् विपूषः विनाशय ) उनको चारों ओरसे भष्ट भट कर दे ॥ ३ ॥

हे ( एषां ) इन शत्रुओंके ( आकृत्या ) संकल्पों । ( यि ) तुम वायुपर विरुद्ध हो जाओ, पचान् तुम ( इत ) हट जाओ ( अथो चित्तानि ) और इनके चित्तों । ( मुह्यत ) मोहित होओ । ( अथो मघ ) और आग्र ( यत् एषां हृदि ) जो इनके हृदयमें संरक्षित हैं ( एषां यत् परि निर्जहि ) इनका वह संकल्प पूर्णतः नाश कर ॥ ४ ॥

भाषार्थ— हमारे ज्ञानी स्वयंसेवक वीर पातगत करनेवाके शत्रुसेना पर चढ़ाई करे, शत्रुओंको पचराहटमें लाने और उनको हस्तहीन जैसे बना देवे ॥ १ ॥

शत्रुके चित्तोंका मर्दिन कर, उनको पराजित निश्चय देने और सब देशसे उनको हटा देवे ॥ २ ॥

दे राजा । तू शत्रुपक्षके चित्तोंको मोहित कर, अग्नि और वायुपक्षक वेगसे उनको चारों दिशाओंमें भंग दे और पथार विस्फूर्ण शुभ संकल्पमें हमारे पास आ ॥ ३ ॥

शत्रुओंके संकल्प आत्ममें एक पक्षके विरोधी हों, उनके दिनोंमें पचराहट पैदा हो, और उनके दिनों में संकल्प आग्र हों वे सबल्य कम तक भी स्थिर न रहें ॥ ४ ॥



अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृह्णाणाङ्गान्यप्ये परेहि ।

अभि प्रेहि निर्देह हस्तु शोकेर्ग्राह्याभिञ्जान्तमसा विध्य शत्रून्

॥ ५ ॥

असौ या सेनां मरुतः परंपामुस्रानैत्यम्बोजसा स्पर्धमाना ।

तां विध्यत तमसापर्वतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात्

॥ ६ ॥

अर्थ— हे (अप्ये) व्याधि । (अमीषां चित्तं प्रतिमोहयन्ती) इनके चित्तों मोहमें डालती हुई शत्रुसेनाके (अगाति गृह्णाण) अवयवोंका पकड़े रखो और (परा इहि) परे तक चली जा । (अभि प्र इहि) सब प्रकारसे आगे बढ़ । (हस्तु शोकेः निर्देह) हृदयके शोकोंके साथ शत्रुको जला दे । तथा (ग्राह्या तमसा) जकड़नेवाले रोगसे और मूर्च्छा रोगसे (अभिज्ञान शत्रून् विध्य) इष्ट शत्रुओंको प्रस्त कर दे ॥ ५ ॥

हे (मरु-उता) मरनेके लिये सिद्ध वीरो ! (परेषां असौ या सेना) शत्रुओंको यह जो सेना (स्पर्धमाना अस्मान् ओजसा अभि-जा-पति) स्वर्षा करती हुई हमपर येगल चढाई रखे आती है, (तां अपमतेन तमसा विध्यत) उसको कर्महीन करनेवाले अपकारसे मोहित कर डालो, (यथा) जिससे (एषां अन्य अन्यं न जानात्) इनमेंसे एक दूसरेको भी न जान सके ॥ ६ ॥

भाषार्थ— व्याधियां तथा अन्य भय भी शत्रुके दिलको भयभीत कर दे, शत्रुमैत्रिणोंके अगप्रत्यग व्याधियोंसे जकड़ जाय, शत्रुवैय रोगोंसे और नाना प्रकारके भयोंसे प्रत्य हो जाय । अधिवात और मूर्च्छा रोग शत्रुको घबरा देवे ऐसे कठिन समयमें उनपर हमला कर और शत्रुके हृदयोंको शोकसे जला दे ॥ ५ ॥

हे वीर पुत्रयो ! जो सेना हमारे साथ स्वर्षा करती हुई हमपर चढाई करके आरही है उसको ऐसा मोहित करो कि वे पुरुषार्थहीन होकर मूर्च्छितसे हो जाय और उनमेंसे एक मनुष्य दूसरेको जान भी न सके ॥ ६ ॥

### सेनाका संमोहन ।

ये दो सूक्त शत्रुसेनाका संमोहनका विषय बता रहे हैं । जो शत्रुकी सेना भारती और काटता हुई अपने राष्ट्रपर अपना अपने रीतिरोंपर चढाई करके आ रही है, वह मोहित करके, घबराकर पराभूत करनी चाहिये और उसको भगा देना चाहिये । इसका नाम है 'सेना-संमोहन' ।

बई लोग कल्पना करते हैं कि यह शत्रुकी सेनाका समोहन मप्रगामर्प्यसे होता है, परन्तु वास्तविक बात वैसी नहीं है । यह संमोहन केवल घबराहट ही है अर्थात् शत्रुसेना पर ऐसे हमले करने कि शत्रुमैत्रिणोंका कर्मव्यूह बन कर भाग जाना ही एक मार्ग जो बचानेके लिये आवश्यक है ।

ये दोनों सूक्त स्पष्ट हैं और इतने ही विषयका यही अधिक विवरण करनेकी भी कोई आवश्यकता नहीं है । तथापि इन सूक्तोंमें बई शब्दप्रयोग ऐसे हैं कि जिनका विशय स्पष्टीकरण करना अत्यन्त आवश्यक है, अतएव यथेष्ट ताल्ल होना उचित है । इन सूक्तोंमें 'अभि, इन्द्र, मरुत' आदि शब्द हैं, जिनके अर्थ देवता प्रद्वयमें अभि, विष्णु, बाहु आदि विदे

अते हैं, तथा अत्रायाम प्रद्वयमें बाणी, मन और प्राण विदे आते हैं, इस विषयका स्पष्टीकरण पूर्व काण्डोंमें आ चुका है । ये दोनों प्रयोग इन दोनों सूक्तोंमें नहीं हैं । इन सूक्तोंका विषय युद्ध है शत्रुसेना मोहनका संबध है, अपनी सेना और शत्रु सेनाका झगडा होनेका अवसर है, इस लिये यह न अत्यन्तमहा विषय है और न ही आधुनिकताका विषय है । प्रागैयिकोंके परस्परके संबधका वर्णन आधिभौतिक प्रकरणमें हुआ करता है । इस कारण आधिभौतिक प्रकरणकी प्राणि समाधि विषयका वर्णन कहा जाता है और इस प्रकरणमें उक्त शब्दोंके अर्थ प्राणि विषयक होते हैं अर्थात् यही मनुष्यप्राणि विषयक भव समझनी उचित है । अब उक्त शब्दोंके अर्थ देखिये—

### १ इन्द्र ।

(इन्द्र) शत्रुसेनाका भेदन करनेवाला, यह इसका भाषार्थ है परन्तु सुमित्रा इस अर्थमें इस शब्दका प्रयोग होता है, त्रेगा-युध इ = युधोका सुमित्रा, मिद, राग इ = पशुकोका सुमित्रा मरुतः भेद = मनुष्योंमें मनुष्य राजा अपना सम्राट् इन्द्र । इन्द्र शब्दके ये अर्थ प्रसिद्ध हैं परन्तु प्रायः लोग केवल 'इन्द्र'

शब्दका अर्थ 'राजा' करनेके समय करते हैं। उनको इन दो सूक्तोंका अच्छा मनन करना उचित है। इस मननसे उनको पता लग जायगा कि ऐसे प्रसंगोंमें मनुष्य विषयक ही इत्यादि शब्दोंका अर्थ लेना योग्य है। इस विषयको अच्छी प्रकार समझमें आनेके लिये इन दो सूक्तोंके कई वाक्य उदाहरणके लिये लेते हैं—

१ इन्द्र ! ते प्रसूतः वस्रः शत्रून् प्रमृणन् एतु ।

प्रतीचः अनूचः जहि ।

एषां चित्तं विष्यक् कृणुहि ॥ ( सू. १, मं. ४ )

२ इन्द्र ! अमित्राणां सेनां मोहय ।

अग्रेः चातस्य धात्र्या विपूयः तान् विनाशय ॥

( सू. १, मं. ५ )

३ इन्द्र ! सेनां मोहयतु ॥ ( सू. १, मं. ६ )

४ इन्द्र ! चित्तानि मोहयन् आकृत्या अयारुखर ॥

( सू. २, मं. ३ )

'( १ )' है राजन् । तेरे द्वारा बलाया हुआ शत्रु शत्रुओंको काटता हुआ आगे बढे । सब ओरके शत्रुओंका दहन कर । इन शत्रुओंके चित्तको चारों ओर भटकनेवाला कर ॥ ( २ )' है राजन् । शत्रुकी सेनाको मोहित कर । अमित्र और यशुके प्रवाससे शत्रुसेनाको चारों ओर भगा दे ॥ ( ३ ) राजा शत्रुसेनाको बकरा देवे ॥ ( ४ )' है राजन् । शत्रुसेनाको मोहित करके अपने शत्रु घेरेके लिये हमारे पास चला आ ॥ '

इस प्रकारके ये मंत्र इन्द्र शब्द द्वारा राजाका कर्तव्य बता रहे हैं । यहाँ 'राजा, मरेन्द्र, सखा' आदि प्रकारका ही इस शब्दका अर्थ है । यहाँ इन्द्र शब्द क्षात्रधरोमणी वीर राजाका वर्णन कर रहा है, जो स्वयं मुद्र भूमिमें उपस्थित रहकर अपनी सेनाको चलाता है, और केवल सेनापति पर ही निर्भर नहीं रहता है । इसी इन्द्रके अन्व पर्वीय भी इन सूक्तोंमें आये हैं वे अब देखोगे—

## २ मघवन् ।

'( मघ ) धन ( वन ) बाक । ' त्रिगुके पास धन है । जो राजा अपने पग बहुत धनसे रहता है वही मुझमें विजय पा गइला है । मुझमें विजय प्राप्त करनेका मद् एक बड़ा भारी साधन है, यकीन राजा यदि मुझका धारण करेगा तो उसके पासमून होनेमें कोई संदेह ही नहीं है । इस शब्दके बोध होने बगैर मद् अर्थ पाठक देखें और राजाका बल धनबोधमें होना देकर बात जान लें । '

## ३ वृत्रहन् ।

'( वृत्र ) घेरनेवाले शत्रुको ( हन् ) दहन, करनेवाला । अपर्ण जो शत्रु पेरकर हमला करता है अथवा मार्ग रोकता है उसको अपने शत्रुके प्रभावसे मारता है, उसका यह नाम है ।

इस प्रकार इन्द्रवाचक शब्द और उसके वर्णनपरक मंत्र वीर राजाके कर्तव्य बता रहे हैं । पाठक यह वैदिक शैली जानेंगे तो उनको बहुत मैथीका मैथीर आशय इस रीतिसे स्पष्टतया ध्यानमें आ सकता है । इन्द्रके साथ 'मघ' रहने हो है, इनके विषयमें अब देखिये—

## ४ मरुतः ।

( मरु+तन् ) मरनेके लिये जो उठकर खड़े हुए हैं, मरनेके लिये जो तैयार हुए हैं, शत्रुका पराभव करनेके लिये अपने प्राणोंकी आहुती देनेके लिये जो कटिबद्ध हुए हैं, उन वीरोंका यह नाम है । इन्द्रकी सेनाके मरु नामक जो वीर हैं उनका अर्थ वर्णन भी इस अर्थको सार्थकता बता रहा है । यह शब्द ऐतिह्यका वरसाह बता रहा है । इस प्रकारके वरसादी वीर भिन्न सेनामें होंगे उनका विषय निःसंदेह हो सकता है । इस शब्दका प्रयोग भिन्न मंत्रोंमें है उनके उदाहरण यहाँ देखिये—

१ हे मरुतः ! ईदृशे यूयं उमाः स्य । अभिप्रेत, मृण्यत, सहृष्यम् । ( सू. १, मं. ७ )

२ मरुतः ओजसा मग्नु । ( सू. १, मं. ९ )

३ हे मरुतः ! या असौ परेषां सेना कथमेताना अरमान् अयेति, तां अपमतेन तमसा विष्यत, यथा एषां अयः अयं न जानात् ॥ ( सू. २, मं. ९ )

'( १ )' है मरनेके लिये तैयार वीरों ! ऐसे प्रसंगमें तुम धन बंदे उभ हो । इस लिये आगे बढो, जाओ और वीरोंकी पराजय करो ॥ ( २ ) वीर लोग बलके साथ वीरोंको काटें ॥ ( ३ )' है वीरों ! यह जो वीरोंकी सेना हमारे साथ लड़ाई करती हुई हमपर आया कर रही है, उसको कर्तवीर मोहमय मयों दिव करो, जिससे उनका एक मनुष्य दूसरेको पराजय न करे ॥ '

ये मरुतके मंत्र स्पष्टतया ऐतिह्य वीरोंके वर्णन बता रहे हैं । मुझमें मेनके वीर ऐसा उभ बनें वीर, उनका उदाहरण यहाँ इस प्रकार मिल रहा है । इसका मन्त्र बलके धनसे ही युद्ध वीर पुरस्कारोंका अर्थ बता रहा है । इन्द्रके अन्व 'मघ' शब्द देखिये—

## ५ वसवः ।

वसनेवालोंका नाम ' वसु ' है । जो अपने राष्ट्रमें अपने अधिकारसे वसना चाहते हैं, शत्रुके हमले होनेपर भी स्वयं अपने स्थानसे हिलना नहीं चाहते वे ' वसु ' होते हैं । इन वसुओंके विषयमें अथर्ववेदमें ही अन्य स्थानमें कहा है—

संवसव इति वो नामधेय उग्रपश्या राष्ट्रभृतो  
हस्ताः ॥ ( अथर्व ७१०-९१६ )

' आपका नाम संवसु ( संवसव ) है आप देखनेके लिये अति उग्र हैं और राष्ट्रका भरण पोषण करनेवाले हैं और आप राष्ट्रके ( अक्षा ) आस ही हैं । ' इस मंत्रमें वसु सभ राष्ट्रमुख्य हैं ऐसा कहा है । इसलिये हम यहाँ इस सूक्तके प्रसंगमें ' वसु ' पदका अर्थ ' उग्र राष्ट्रमुख्य ' अर्थात् ' शूरवीर राष्ट्रीय स्वयंसेवक ' करते हैं । यह अर्थ लेनेसे प्रचलित सूक्तके मंत्रभागका अर्थ निम्न लिखित प्रकार होता है देखिये—

हमे नाधिता वसवः अमीमृणन् ।

एषां दूत, अग्नि, विद्वान् प्रयेतु ॥ ( सू. १, म २ )

' ये प्रभावशाली राष्ट्रमुख्य वैरी सेनाओंका काटते हैं । इनका विद्वान् दूत अग्नि वैरीपर बर्खास्त करे । ' इस मंत्रमें हमें पता लगता है कि यहाका अग्नि शब्द वसुओंमेंसे एक वसुका वाचक है अर्थात् यदि उक्त प्रकार ' वसु ' राष्ट्रमुख्य हैं, तो ' अग्नि ' भी वसुओंमेंसे एक राष्ट्रमुख्य अथवा राष्ट्रका दूत ' है जो समय-ज्ञ है और बड़ा चतुर भी है । इन्द्र और अग्निमें यह भेद है, पाठक इसका मनन करें । इन्द्र स्वयं सम्राट् अथवा राजा है, वह स्वयंसेवक या राष्ट्रमुख्य नहीं है, और अग्नि राजा नहीं है परन्तु राष्ट्रमुख्य है । अग्नि विद्वान् है और इन्द्र धनवान् है । ये विशेषणों द्वारा बताये भेद पाठक मननपूर्वक देखें और समझें । ये भेद ही वैदिक राज्यपद्धतिको स्वरूप स्पष्ट कर देते हैं । इस प्रकार वसु शब्दका अर्थ देखनेके पश्चात्, और अग्निमें उनमेंसे एक जाननेके पश्चात् अब अग्निका अर्थ देखते हैं—

## ६ अग्निः ।

वसु शब्दके जो लक्षण पूर्व शब्दके वर्णनके प्रसंगमें बताये हैं वे इसके साथ भी संगत होते हैं । यह प्रकाशका देव है, रात्रिके जलता है और उपासकको तेजप्रदान करता है । यह ( विद्वान् ) ज्ञानी है, समयज्ञ है, स्वयं अक्षरव्यक्तीकी ठीक प्रकार समझना है । यह ( जात-वेदा = ज्ञातं वेत्ति ) बने हुए वस्तु रिपुओंको यथाशक्त जाननेवाला है । पाठक देखें कि ऐसा योग्य राष्ट्रमुख्य ( दूत ) राष्ट्रका दूत, किन्तु उपस्थानी होता, और

ऐसे युद्धके प्रसंगमें इस प्रकारके राष्ट्रदूतकी सेवाका कितना लाभ राष्ट्रको हो सकता है ।

अग्नि ब्राह्म तेज और इन्द्र क्षात्रतेज व्यक्त करता है, जिस समय राष्ट्रपर आपत्ति आती है उस समय ये दोनों मिलजुलकर राष्ट्रकार्य करें, इस विषयका सूचना इन सूक्तोंमें मिलती है । इस विषयका मंत्र देखिये—

हे वृष्टहन् इन्द्र ! अग्निः च यूय तान् प्रतिदहतम् ।  
( सू. १, म २ )

' हे वीर राजन् ! तू और ज्ञानी राष्ट्रमुख्य दोनों मिलकर शत्रुको जला दो । ' यहाँ मिलकर कार्य करनेका उपदेश है । ब्राह्मतेज और क्षात्रतेज इकट्ठा होकर वैरीका नाश करे । ऐसा कभी न हो कि वैरी राष्ट्रके द्वारमें उपस्थित होवे और राष्ट्रके ये दोनों भाग आपसमें झगड़ते रहें । यह तो राष्ट्रघातकी अस्थिति होगी, इसलिये ब्राह्मण क्षत्रियोंको अपना अभेद्य ऐक्य रखना चाहिये और अपने राष्ट्रकी उन्नतिमें ही अपनी उन्नति देखनी चाहिये ।

## शत्रुको घबरानेकी रीति ।

वैरीको घबराना, उसको मोहित करना, उसको प्रमित करना और उसको परास्त करना, इत्यादिके उपाय इन दो सूक्तोंमें कहे हैं । जिनमेंसे हमले करनेकी कई विधियाँ इसके पूर्वके स्पष्टीकरणमें आ चुकी हैं । अब कुछ विशेष साधनोंका उल्लेख करना है जो यहाँ करेंगे—

१ अग्न्यष्ट्र और वायव्याष्ट्र के प्रयोगसे वैरीका नाश करनेकी पहिली रीति इन सूक्तोंमें कही है—

अग्नेः वातस्य धात्र्या तान् विनाशय ॥  
( सू. १, म ५ सू. २, म २ )

' अग्निके वेगसे और वायुके वेगसे उन शत्रुओंका नाश कर । यहाँ धात्री शब्द है, अग्निका ( धात्री ) महावेग और वायुका महावेग, इनके धकेले शत्रुका नाश करना लिखा है । धात्री शब्दका अर्थ केवल वेग, गति इतना ही नहीं है, जिस वेगके धकेले मनुष्य नष्टप्रण होते हैं, मनुष्य अपने स्थानपर उठर नहीं सकते, उस महावेगके प्रबल धकेला आशय इस ' धात्री ' शब्दमें है । इसलिये ऐसा प्रतीत होता है कि यहाँ ' अग्ने धात्री, वातस्य धात्री ' ये दो शब्द क्रमशः अग्न्यष्ट्र और वायव्याष्ट्र अथवा इसी प्रकारके शास्त्राक्ष विशेषके वाचक होंगे । इसी स्पष्टीकरणमें हमसे पूर्व अग्नि शब्दका अर्थ मनुष्य वाचक बताया है, परन्तु वह अर्थ यहाँ नहीं है । एक ही सूक्तमें एक ही अग्नि शब्दके दो परस्पर भिन्न अर्थ हैं यह बात यहाँ स्पष्ट

रखना चाहिये, अन्यथा अर्थका विपर्यास होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

• तमसास्त्र—तमसास्त्रका प्रयोग भी इसमें है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है—

तां विध्यत तमसापयतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् । ( सू २, म ६ )

‘ उस शत्रुसेनाको पुरुषार्थहीन करनेवाले तमसास्त्रके प्रयोगसे विद्ध करो जिससे उनका एक सैनिक दूसरे सैनिकको न पहचान सके । ’ इस मंत्रमें ‘ अपनत तम ’ शब्दका प्रयोग है । तम शब्दका अर्थ ‘ अन्धकार ’ है । अन्धतया अर्थ ‘ कर्महीन ’ है । दोनोंका तात्पर्य ‘ कर्महीन करनेवाला अपेरा ’ है । इससे शत्रुसेनाको बेध करना है । बेध करनेके लिये शत्रुसाक्षी चाहिये, अन्यथा बेध नहीं हो सकता । इसलिये इस मंत्रमें तमसास्त्रका उल्लेख है ऐसा स्पष्ट दाख रहा है । अन्धकारास्त्रके प्रयोगसे हा धैनिक एक दूसरेको पहचाननेमें असमर्थ होंगे । इसी अर्थका एक मंत्रमात्र प्रथम सूत्रमें है—

अग्निः चक्षुषि आदक्षाम् । ( सू १, म ६ )

‘ अग्नि शत्रुकी आँखों में डेरे ’ इस वाक्यका भी आशय तमसास्त्र प्रयोगका ही है क्योंकि यहाँ इराककी आँखों निकाल देनेका आशय नहीं है, परन्तु उनको कुछ भी न देख सके यही आशय है । तथा और देखिये—

अग्निमान् शत्रून् तमसा विध्य । ( सू २, म ५ )

‘ शत्रुओंको अन्धकारास्त्र विद्ध कर । ’ यहाँ ‘ त्वय ’ शब्द भी अक्षरूप तमसा सूचित करता है । यह मंत्र अन्यत्र आगमा है वह भी यहाँ देखिये—

अन्धेन तमसा अग्निमान् सजन्ताम् ।

( ऋ० १०।१०।१२, बृ० १०।४४, साम ३० १।१।५। नि० १।१३ )

तां गृह्यत तमसापयतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानात् । ( यजु० १।४।४० )

‘ शत्रुओंको अन्धतमसे बेध दो ’ इस वि मंत्रमात्रमें भी किसी प्रकारके अन्धका ही उल्लेख है अन्यथा बेध करना अर्थमय है ।

• अथवा, प्राही—सूत्र २, म ५ में ‘ अथवा और प्राही ’ इन दो शीर्षके द्वारा शत्रुके किसीको मारित करने

अथवा उनको नष्ट करनेका उल्लेख है । ‘ प्राही ’ शब्दका अर्थ संधिवात इत्यादि अथर्ववेदमें इससे पूर्व अनेक बार आया है । यह अर्थ यदि यहाँ लिया तो संधिवात जैसे अकउनेवाले रोगद्वारा शत्रुको शत करनेकी बात व्यक्त हो सकती है । अथवा शब्दका अर्थ रोग, व्याधि अथवा मय है । परन्तु यह कुछ प्रसंग है इस लिये इन शब्दोंके कोई दूसरा अर्थ भी होना समभव है । यद्यपि ठीक पता नहीं है तथापि ‘ प्राही ’ शब्दका अर्थ ‘ पाश ’ होना समभव है, जिससे शत्रुको पकड़ा जाय और अकडका बांधा जाय । ‘ अप-व ’ घातसे यदि ‘ अथवा ’ शब्द बनाया जाय तो ‘ वे ’ घातका अर्थ ‘ तत्त-घमान ’ होनेके कारण अथवा शब्दका अर्थ ‘ जल अथवा जाला ’ होना समभव है । मंत्रमें—

अप्ये ! परेहि, ममोपां चित्तानि प्रतिमोहयन्तो अज्ञानि गृहाण ॥ ( सू २, म ५ )

‘ हे अप्ये ! आगे बढ़, इनके चित्तोंको मोहित करके उनके अर्थोंको पकड़ रख । ’ यह अथवा अत्रका वर्णन स्पष्ट बता रहा है कि इस नामका किसी प्रकारका जाग शत्रुपर फैला जाता है, जिसमें पकड़ आनेके कारण शत्रु माहित हो जात है और पथात् उनके शरीर पकड़ वा अकडकर बांध आते हैं । इस मंत्रमें ‘ परेहि, अगानि गृहाण ’ आदि वर्णन यह ‘ अथवा ’ कोई शत्रुपर फैलने योग्य आलेख अत्र है एषा विध्य करता है । अर्थात् ‘ प्राही और अथवा ’ ये दोनों अनेक नामान शत्रुको पकड़नेके कुछ साधन विशेष होंगे ऐसा हमारा तर्क है, इस विषयके अग्रेके लिये इस समयक कोई प्रमाण हमें मिलता नहीं है । मोक्ष करनेवाले पाठक इस विषयका विशेष खोज करके अवधिधय करनेमें सहायता दें ।

मंत्रोंकी समानता ।

इन दोनों मंत्रोंमें दोनोंकी समानता है । दोनों सूत्रोंका पहला मंत्र कुछ सेके पाठभेदसे बरिब एक जैसा ही है । प्रथम सूत्रका ५ मी मंत्र और द्वितीय सूत्रका ३ वा मंत्र बरिब एक जैसा ही है । प्रथमार्थमें मोक्ष पाठभेद है । यह मंत्र नष्ट पठक अवश्य देखें ।

इन दोनों सूत्रोंके सननेसे कुछ विषयक बहुत ही बाध जन हो सकता है । अर्थात् है कि इस रश्मिसे पाठक इन सूत्रोंका अव्यवहन करने लग्य पड़ेंगे ।

# राजाकी स्वराज्यपर पुनः स्थापना ।

( १ )

( श्रापि- अथर्था । देवता- अग्निः, नानादेवताः )

अचिक्रदत्स्वपा इह भुवदग्ने व्यचिस्व रोदसी उरुची ।  
 युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्वेदेस आमुं नयु नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥  
 दूरे चित्सन्तमरुपास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् ।  
 यद्वायत्रो बृहतीमर्कमसौ सौत्रामण्या दधृपन्त देवाः ॥ २ ॥  
 अद्भ्यस्त्वा राजा वरुणो ह्यतु सोमस्त्वा ह्यतु पर्वतेभ्यः ।  
 इन्द्रस्त्वा ह्यतु विड्भ्य आभ्यः इयेनो भुत्वा विश आ पतेमाः ॥ ३ ॥  
 इयेनो हव्यं नयुत्वा परसादन्यक्षेत्रे अर्कद्वं चरन्तम् ।  
 अधिना पन्थां कणुतां सुगं ते इमं सजाता अभिसंविशन्वम् ॥ ४ ॥

अर्थ— ( इह इन्द्र-पाः भुवत् ) यहाँ अपना रहण करनेवाला मनुष्य होने ऐसा ( अचिक्रदत् ) पुकारकर कहा गया है । हे ( अग्ने ) अग्नि ! ( उरुची रोदसी व्यचस्व ) विस्तृत यावापृथिवीमें अपना तेज फैलाओ । ( विश्वेदेसः मरुतः ) तथा युञ्जन्तु ) सब जाननेवाले मरुत तुझे योग्य बनावे । ( रात-हव्य अमुं ) हवनीय पदार्थोंको देनेवाले इस पृथ्वी ( नमसा आनय ) नमस्कारपूर्वक यहाँ ला ॥ १ ॥

( दूरे चित् सन्तं विप्रं इन्द्र ) दूर रहनेवाले प्राज्ञ इन्द्रको भी ( मरुपासः सख्याय आच्यावयन्तु ) तैत्तिरीयों को मित्रताके लिये यहाँ ले आवे । ( यत् देवाः ) क्योंकि सब देव ( सो-त्रामण्या ) सौत्रामणीके द्वारा ( वायत्रो बृहती अर्कं अर्कं दधृपन्त ) वायव्यो बृहती रूप अर्चन इष्टक लिये धारण करते हैं ॥ २ ॥

( वरुणः राजा ) राजा वरुण ( अद्भ्यः त्या ह्यतु ) जलके लिये तुझे बुलावे, ( सोमः त्या पर्वतेभ्यः ह्यतु ) सोम तुझे पर्वतोंके लिये बुलावे ( इन्द्रः त्या आभ्यः विड्भ्यः ह्यतु ) इन्द्र तुझे इन प्रजाओंके लिये बुलावे । ( इयेनो भूत्या इमाः पिता आपत ) तू इयेन पर्वतके समान वेग धारण करके इन प्रजाओंमें आ जा ॥ ३ ॥

( अन्यक्षेत्रे अर्कद्वं चरन्तं हव्य ) अन्य देशमें छिपकर घूमनेवाले बुलाने योग्य राजाओं ( इयेनः परसात् आनयन्तु ) इयेनरा साम्राज्य पर देशले ले आवे । ( अधिनी सुगं ते पन्थां कणुतां ) दोनों अधिनी बुला करे योग्य लोग मार्ग बनावे । ( सजाताः इमं ममि स पिशर्यं ) यज्ञातीय लोग इष्टको प्रविष्ट करावे ॥ ४ ॥

ध्यायार्थ— इस जगत् मनुष्यों अपना रहण करने चाहिये, यह बात पुकार पुकारकर सब आमातुरोंने कही है । मनुष्य आमातुरों के समान हैं और अपना प्रकाश जगत्में फैलावे । ऐसे अपने राजाओं सब जाननेवाले और शक्तिमान हों और लोगों को नमस्कारपूर्वक अपने राज्यपर हार ग्याहित करें ॥ १ ॥

राजा हूँ भी क्यों मैं गया हूँ उनको अपने राज्यके दिगके जिसे तैत्तिरीयों की पुन ले आनी, लगभग रहण करनेके योग्य प्रबंध तथा लगभग मार्ग करें ॥ २ ॥

जगत्प्राप्त की राह के लिये जगत्प्राप्त, पर्वतोंकी तथाके लिये पर्वतोंका अधिकाारी, जनोंकी तथाके लिये मनुष्योंका अधिपति तथा मुक्तिदा गणेशों बुलावे, सब गणेश अपने प्रजाओंमें साम्राज्यके आधार बने ॥ ३ ॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृपत ।

इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन्

॥ ५ ॥

यस्ते हवै विवर्दस्तज्जातो यश्च निष्टयः ।

अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वायेममिहायं गमय

॥ ६ ॥

अर्थ— ( प्रतिजनाः त्वा ह्वयन्तु ) प्रत्येक प्रकारके लोग तुझे सुलवें। ( मित्राः प्रति अवृपत ) मित्र तेरा बल बढ़ावें। ( इन्द्राग्नी विश्वेदेवाः ) इन्द्राग्नी और सब देव ( विशि ते क्षेम अदीधरन् ) प्रजाजनोंमें तेरे लिये क्षेम धारण करें ॥ ५ ॥

हे ( इन्द्र ) नरेन्द्र ! ( यः सजातः ) जो सजातीय है ( च यः निष्टयः ) और जो विजातीय है ( ते हवै पिय-दत् ) तेरे आदरणीयताके विषयमें विवाद करे, ( तं अपाञ्च छरया ) उसको बाँहृत करके ( अय इमं इह अय गमय ) यथावत् इसको वहाँ लाओ ॥ ६ ॥

भाषार्थ— राजा संकट समयमें अन्य देशमें छिप छिपकर भी क्यों न रहता हो, उसको पुनः अपनी राजगद्दीपर लाकर बैठलाना उचित है, ज्ञानी उसका मार्ग सुझा करे और सजातीय लोग उसको अपने राज्यमें प्रविष्ट करावें ॥ ५ ॥

मित्रजन उस राजाका बल बढ़ावें और उसकी सहायता करें, सब देव प्रजाके समेत उस राजाका कन्याण करें ॥ ५ ॥ यदि सजातीय अथवा विजातीय कोई मनुष्य इस योग्य राजाका विरोध करनेवाला हो तो उसको राज्यसे बाहर करके बड़े आदर सरकारके राजाका प्रवेश अपने राज्यमें कराना चाहिये ॥ ६ ॥

यहां सूतीय सूक्तका अर्थ और भाषार्थ हुआ। इहाँके साथ चतुर्थ सूक्तका अलंकार पवित्र संबंध है इसलिये उसका अर्थ और भाषार्थ पहले देखकर पश्चात् दोनों सूक्तोंका मिलकर विचार करेंगे—

## राजा का चुनाव ।

( ४ )

( काविः— अथर्व । देयता— इन्द्र, नानादेयता । )

आ त्वा गन्ताष्टं सह वर्चसोर्दिष्टि प्राङ् विश्वां पतिरेकराद् त्वं वि रोज ।

सर्वांस्त्वा राजन्मृदिषी ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह

॥ १ ॥

अर्थ— हे राजन् ! ( राष्ट्रं त्वा गान्ताष्टं ) यह राष्ट्र तुमको प्राप्त हुआ है, अब ( यवैस्ता सह उत्सृष्टि ) तेजके साथ उसको प्राप्त हो । ( विश्वांपतिः प्राङ् एकराद् त्वं विराज ) प्रजाओं का स्वामी प्रभु एक गणपद् होकर नू विराजमान हो । ( सर्वाः पदिषाः ह्वयन्तु ) सब दिशा और उपदिशाएँ तुझे सुकारे और ( इह उपसदाः नमस्यः भवे ) यहाँ वष पटुंयने योग्य और ममरकारके लिये योग्य हो ॥ १ ॥

भाषार्थ— हे राजन् ! यह राष्ट्र अब तुमको प्राप्त हुआ है अब अपने तेजको प्रकाशित कर, सब प्रजाओंका एक गणपद् होकर विराजमान हो । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले सब लोग तुझे ही चढ़े और नू सबके लिये प्रभु होना चाहते हैं सबसे प्रशंसित हो ॥ १ ॥

१ ( अथर्व. भाष्य, चण्ड १ )

त्वां विशो वृणतां राज्यायि त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः ।  
 वर्धन्नाष्टस्य ककुदि श्रयस्व ततो न उग्रो वि भञ्ज वर्धनि ॥ २ ॥  
 अच्छ त्वा यन्तु हविनः सजाता अमिर्दूतो अजिरः सं चरातै ।  
 जायाः पुत्राः सुमनसो भवन्तु यद्दं वलि प्रति पश्यासा उग्रः ॥ ३ ॥  
 अश्विना त्वाग्ने मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्यन्तु ।  
 अधा मनो वसुदेवाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भञ्ज वर्धनि ॥ ४ ॥  
 आ प्र द्रव परमस्याः परावतः शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ।  
 तदयं राजा वरुणस्तथाह स त्वायमह्वत्स उपेदमहि ॥ ५ ॥

अर्थ— (विशः त्वां राज्याय वृणतां) प्रजायें तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें ( इमाः देवीः पञ्च प्रदिशः ) ये दिश्य पांच दिशायें ( त्वां वृणतां ) तुझको राज्यके लिये स्वीकार करें । त् ( राष्ट्रस्य वर्धनं ककुदि श्रयस्व ) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उस स्थानपर आश्रय कर ( ततः उग्रः ) पश्चात् उग्र वीर बनकर ( नः वसूनि वि भञ्ज ) हम सबके लिये धनको विभाग कर ॥ २ ॥

( हविनः सजाताः त्वा अच्छ यन्तु ) गुलानेवाले सजातीय लोग तुझको सम्मानपूर्वक मिलें ( अग्निः अजिरः दूतः संचरातै ) अग्नि वेगवाद् दूत संचार करे । ( जायाः पुत्राः सुमनसः भवन्तु ) त्रियां और पुत्र उत्तम मनवाले हों । ( उग्रः यद्दं वलि प्रति पश्यासं ) उग्र होकर तू बहुत भेंटको देख ॥ ३ ॥

( अग्ने ) आगे ( अश्विनौ, मित्रावरुणौ, विश्वेदेवाः, मरुतः ) अश्विनौ, मित्रावरुण, सब देव और मरुत ( त्वा ह्यन्तु ) तुझसे गुलावे । ( अध वसु-देवाय मनः कृणुष्व ) पश्चात् तू धनका दान करनेके लिये अपना मन कर ( ततः उग्रः नः वसूनि वि भञ्ज ) पश्चात् उग्र होकर हम सबको धनका भाग दे ॥ ४ ॥

( परमस्याः परावतः आ प्रद्रव ) अति दूर दशमें यहाँ आ । ( उभे द्यावापृथिवी ते शिवे स्तां ) दोनों द्यावापृथिवी तरे लिये य-भागकारी होंगे । ( तथा अयं राजा वरुणः ) देवा ही यह वरुण राजा ( तत् आह ) यह कहता है ( सः अयं त्वा अहत् ) यह यह तुझको गुलावे ( सः हृद उप-आ-इति ) यह तू इस राष्ट्रका प्राप्त कर ॥ ५ ॥

भाषार्थ— सब प्रजाएँ राज्य बनानेके लिये तेरा ही स्वीकार करें । सब दिशा और उपदिशाओंमें रहनेवाले प्रजाजन तुझे हा पगद करें । तू राष्ट्रके परम उस ऐश्वर्यवान् राज्यद्वर आहूत होकर, वीर बनकर, हम सबके लिये धनको योग्य विभागण बात दे ॥ २ ॥

तेरी दुष्टता करनेवाले सजातीय लोग सम्मानपूर्वक तेरे पक्षमें रहें, अग्निके समान तेरे सेवकता दूत चारों देशोंमें संचार करें । तेरे राष्ट्रमें धर्मवतित्वा और बालकके उत्तम मनवाले हों । तू क्षत्रीय होकर बहुत भेंट प्राप्त कर ॥ ३ ॥

सब देवताएँ तेरा सदावता करें । तू धनका दान करनेमें अपना मन खिच कर और शत्रुवीर होकर हम सबमें दोग विभागने बात बात दे ॥ ४ ॥

यदि तू दूर देशमें भी गया तो भी अपने राष्ट्रमें सीमा ही कायम आ । सब देव तेरी सहायता करें । तू पदा करने राष्ट्रमें ही रह ॥ ५ ॥

इन्द्रेन्द्र मनुष्याः परेहि सं राज्ञास्या वरुणैः संविदानः ।

स त्वायमह्वस्त्वे सधस्थे स देवान्यध्वत्स उ कल्पयाद्विशः ॥ ६ ॥

पथ्या रेवतीर्विदुषा विरूपाः सर्वाः सङ्गत्य वरीयस्ते अक्रन् ।

तास्त्वा सर्वाः संविदाना ह्वयन्तु दध्नीमुग्रः सुमना वज्रोह ॥ ७ ॥

अर्थ— हे ( इन्द्र-इन्द्र ) राजाओंके महाराजा । ( मनुष्याः परेहि ) मनुष्योंके समान परे जा और ( दि वरुणैः संविदानः ) वरिष्ठोंसे मिलकर तू ( स अह्वास्याः ) ठीक प्रकार जान सकता है । ( सः अयं सधस्थे इवा अह्वत् ) वह यह अपने घर तुझे बुलावे ( सः देवान् यध्वत् ) वह देवोंका गण करे, और ( स उ विशः कल्पयताम् ) वह मिथ्यसे प्रजाओंको समर्प करे ॥ ६ ॥

( पथ्याः रेवतीः ) सम्मार्गसे चलनेवाली घनवाली ( यदुषा विरूपाः सर्वाः संगत्य ) बहुत प्रकारसे विविध रूपवाली सब प्रजाएं मिलकर ( ते वरीयः अक्रन् ) तेरे लिये श्रेष्ठ स्थान बनाती हैं । ( ताः सर्वाः संविदानाः त्वा ह्वयन्तु ) ये सब एकमत होकर तुझे बुलावें पथात् तू ( इह उग्रः सुमनाः दशर्मा यश ) यहाँ उग्र और उत्तम मनवाला होकर दसवीं दशकतक राज्यको वरायती कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— तू शाधारण मनुष्योंके समान ही अपने आपको मानकर दशमें सर्वत्र भ्रमण कर और राष्ट्रके वरिष्ठ मनुष्योंसे मिलकर सब बातें ठीक प्रकार समझ लो । ऐसा करनेसे लोग अपने घरमें तुझे आदरसे बुलावेंगे और वे वरावाग भी करेंगे । इस प्रकार प्रजाओंके साथ मिलजुलकर सब प्रजाओंसे सब प्रकारसे समर्थ कर ॥ ६ ॥

प्रजा सम्मार्गसे चलनेवाली हो, और घनवाग हो । बहुत प्रकारसे रणक्षेत्रोंमें विभिन्न रहनेवाली भी सब प्रजा भिन्नकर एक भावसे तुझे श्रेष्ठ माने और सब एकमतसे तेरी प्रशंसा करे । इस प्रकार धीरतासे और शुभ मनोभावसे राज्य करता हुआ तू धी वर्यतक राज्य अपने वशमें रख ॥ ७ ॥



कर कहा गया है । ' इस जगत्में यदि मनुष्यको समानसे जीवित रहना है तो ( स्वपाः ) आत्मरक्षा करना उसके लिये अत्यावश्यक है । यह बात जैसी एक मनुष्यके लिये सत्य है वैसी ही एक समाज और एक राष्ट्रके लिये भी सत्य है । जिस समय एक समाज आत्मरक्षा करनेमें दक्ष नहीं रहता उस समय दूसरा समाज उसपर हमला चढ़ानेमें प्रवृत्त होता है । इसी प्रकार जिस समय एक राष्ट्र आत्मरक्षा करनेमें मग्न नहीं होता है, उसी समय दूसरा राष्ट्र उसपर आक्रमण करता है और उसको परतंत्र बनाकर उसपर अधिकार चलाने लगता है । आत्मरक्षा करनेकी असमयता बड़ा भारी अपराध है, जो राष्ट्र परतंत्र हुए हैं वे स्वानुभवसे इस वैदिक उपदेशका महत्त्व जान सकते हैं । आत्मरक्षाका अत्यंत महत्त्व है इसीलिये इस मंत्रने कहा है कि यह बात बारंबार पुकार पुकार कर कही है । जो बात अत्यंत महत्त्वकी होती है वही बारंबार पुकार पुकार कर कही जाती है । इस कारण जो बात वेदने अनेक बार पुकार पुकार कर कही है वह मनुष्यमात्रकी उन्नतिकी दृष्टिसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण है इसमें कोई संदेह ही नहीं है । पाठक इस दृष्टिसे इस आत्मरक्षाके वैदिक उपदेशका स्मरण रखें ।

आत्मरक्षाका सामर्थ्य न रखनेवाला राष्ट्र और उसका राजा ही पराजित होता है और आपत्तिमें गिरता है । आत्मरक्षा करनेवाले ही तेजोवृद्धि होती है इस विषयमें इसी मंत्रका अगला भाग देखिये—

अग्ने ! उरूची रोदसी व्यचस्य ॥ ( गृ. १, म १ )

' अग्नि के समान तेजस्वी । तू इस विशाल वायुशुषिकी के अंदर फैल जाओ । ' आत्मरक्षा करनेवालेका आदेश अग्नि है, यह अग्नि यदा उर्ध्व गतिसे जलता और प्रकाशता है । ' अग्ने, ज्योत्स्नलन ' अग्निही उत्पन्नकी गति उच्यति है । उच्यतिवाचि यदा उच्यत ही होने रहेंगे और अपना तेज फैलानेमें और संपूर्ण जगत्को प्रकाशमान करेंगे । आत्मरक्षा करनेवालोंका यश जगत्में चारों दिशाओंमें फैलता ही है । आत्मरक्षा करनेवालेकी गति तो अग्नि के प्रचंड प्रकाशसे बराबर है । जिसका निरुपदेशकर वैदिकधर्म आत्मरक्षा करनेके अनेक कर्तव्यको कभी न भूलें । अब देखिये कि आत्मरक्षा न करनेवालेकी अवस्था क्या होती है—

अभ्यक्षेत्रे अपगन्तुं परमन् ॥ ( गृ. १, म ४ )

' दृगो के देशमें प्रतिबंधमें मरकटा है । ' जो आत्मरक्षा नहीं करता वह दृगो के अधिकांशमें प्रतिबंधमें पड़ता है, दृगो के देशमें घिरा पड़ा रहता है, किसी पक्षि की प्रकार बंदिखानेमें

सड़ता रहता है । यह आत्मरक्षा न करनेका परिणाम है । यह परवशताका भयानक परिणाम आत्मरक्षा न करनेसे प्राप्त होता है यह जानकर मनुष्य, समाज, राष्ट्र तथा राजा आत्मरक्षाका अपना परमश्रेष्ठ कर्तव्य कभी न भूले; यह आदेश वेद इस सूक्तद्वारा देता है और बारंबार उद्घोषित करता है कि मनुष्य इस आत्मरक्षाकी बातको कभी न भूले ।

### सौत्रामणी याग ।

' सौत्रामणी ' नामक एक बड़ा भारी यज्ञ है । इसमें मुख्य ध्येय अथवा साध्य क्या है वह तैत्तिरीय संहिताके वचनसे स्पष्ट होता है—

इन्द्रस्य सुषुवाणस्य दशधेन्द्रियं वीर्यं परापतत् ।  
तदेवाः सौत्रामण्या सममरन् ॥

( तै. सं. ५।१।१।४ )

' इन्द्रका वीर्य दश दिशाओंमें विभिन्न मार्गोंसे विभक्त हो गया था, वह देवोंमें सौत्रामणी यागसे एकत्रित किया । ' अर्थात् इस सौत्रामणी यागका साध्य बिखरी हुई शक्तिकी इकट्ठा करना है । ' सुत्रामन् ' शब्दका अर्थ है ( घृ ) उत्तम ( ग्रामन् ) रक्षा करनेकी मुक्तिपूर्वक शक्ति । यह जिससे प्राप्त होती है उसकी ' सो-त्रा-मणी याग ' कहते हैं । पूर्वोक्त तैत्तिरीय संहिताके वचनमें भी बिखरी हुई इन्द्रकी शक्ति इकट्ठा करनेके लिये ही सौत्रामणी याग बनाया गया और उस यागसे वह शक्ति केन्द्रीभूत होगी इत्यादि बात स्पष्ट है । अर्थात् सौत्रामणी यागसे सगठन होता है और राष्ट्रीय शक्ति बढती है । इसीलिये इस तृतीय सूक्तके द्वितीय मंत्रमें सौत्रामणी यज्ञके द्वारा राज्यघट राजाको फिर राज गरीवर लाते हैं, ऐसा कहा है—

दूरे सन्तं विप्र इन्द्रं सखयाय अदयास ।  
आच्याययन्तु ।

( गृ. १, मं. १ )

' सखसे दूर हुए जानी नोन्द्रकी सम्पत्ति के लिये तेजस्वी लोग उस गुप्त स्थानसे यहाँ लायें । ' राज्यघट राजा जंगलमें था ( अन्य-क्षेत्रे अगच्छं चरन्तं । मं. ४ ) दूरे देशमें गिरा पड़ा रहता है उसको पुनः राज्यपर स्थापित करनेके लिये जानी लोग अपने राज्यमें ल आँवें; उसका सम्यक् पुनः जनताके साथ पुनर्बन्ध हो, और जानी इन्द्र ही राजगरीवर बैठ जावे, इसलिये वह सब प्रयत्न है । यह सब प्रयत्न करनेके लिये सौत्रामणी याग किया जाता है ऐसा इसी द्वितीय मंत्रके उत्तरार्धमें कहा है—

देवाः अग्ने यावन्नो मृदतो अर्धः सौत्रामण्या  
मृष्टयन्तु ।

( गृ. १, मं. १ )

‘ देव इस राजाके लिये गायत्री, शुद्धी आदि रूप अर्चन सत्कार सौनामणी यागके द्वारा करते हैं । ’ राजगद्दीपर राजाको बैठलानेका प्रबंध करनेके लिये सौनामणी याग करते हैं; इस यागसे अपनी बिखरी हुई शक्तिको इकट्ठी करते हैं और उस शक्ति द्वारा उस राजाको अपने राज्यमें लक्ष्मण उल्लासका सत्कार करते हैं । इस सत्कारका स्वरूप देखिये—

घरुणो राजा त्वा अद्भ्यः ह्यतु ।

सोमः त्वा पर्वतेभ्यः ह्यतु ।

इन्द्रः त्वा आभ्यः विद्भ्यः ह्यतु ॥

( सू. ३, मं. ३ )

अभिनवा ते सुगं पण्यां कृणुताम् ॥

( सू. ३, मं. ३ )

प्रतिजनाः त्वा ह्यन्तु, मित्राः प्रति अयूपत ॥

( सू. ३, मं. ५ )

‘ वरुण राजा जलस्थानोंके संरक्षणके लिये तुझे सुलावे, सोम राजा पर्वतोंकी रक्षाके लिये तुझे सुलावे, इन्द्र तुझे इन प्रजाजनोकी मुख्यवस्थाके लिये सुलावे । अभिनेव यदा भविका तेरा मार्ग सुगम करें । प्रलेख प्रजाजन आदरसे तुझे सुलावे और मित्र यदा तेरा बल बढ़ावें । ’

राज्य प्रबंधमें समुद्र किनारेका प्रबंध, पर्वत स्थानोंका प्रबंध ये दो प्रबंध अन्तर्राष्ट्रीय महत्वके हैं और प्रजाजनोके उपनेषका कार्य राष्ट्रके अंतर्गत व्यवहारका है । समुद्रमें लोका, जलदुर्ग आदिही रक्षाका प्रबंध करना होता है और पर्वतोंपर भी ढीले आदिका प्रबंध आवश्यक होता है । प्रजाकी मुख्यवस्थाका प्रबंध तो राज्यशासनका मुख्य भाग है ही, इसमें कोई संदेह नहीं है । इन प्रबंधोंको करनेके लिये राजाको पुनः राजगद्दीपर स्थापित किया जाय, वह लक्ष्य नहीं है । राजाके कर्तव्योंकी भी सूचना यदा मिलती है । सब देवताओंकी सहायता भी इस राजाको प्राप्त हो और इस प्रकार देवताओंकी सहायतासे बलवान बना हुआ अपने देशका राजा राज्यके लिये असह्य हो, यह इच्छा प्रजाजनोके नेताओंके अन्तःकरणमें रहना चाहिये । देखिये इस विषयमें अगला मंत्र ही कहता है—

इन्द्राग्नी विश्वे देवाः विशि ते क्षेमं अदीचरन् ।

( सू. ३, मं. ५ )

‘ इन्द्र, अग्नि और संपूर्ण अन्य देव प्रजामें तेरा कल्याण उपस्थित करें । ’ अर्थात् इन देवोंकी कृपासे तेरी प्रशंसा भी कल्याण होवे और प्रशंसे आनंदसे राज्य तेरा भी कल्याण होवे । यही—

ते क्षेमं विशि ।

( सू. ३, मं. ५ )

‘ तेरा ( राजाका ) कल्याण प्रजामें वसता है । ’ अर्थात् प्रजाजनोके कल्याण होनेसे ही राजाका कल्याण होना संभव है अन्यथा नहीं । जो राजा प्रजाके कल्याणके साथ अपने कल्याणका संबंध नहीं जानता वह सच्चा राजा ही नहीं है । यजुर्वेदमें भी कहा है कि—

विशि राजा प्रतिष्ठितः ।

( यजु. २०.१९ )

‘ प्रजाके आश्रयसे राजा सुप्रतिष्ठित होता है । ’ प्रजा न हो तो राजा कहाँ रहेगा ? परन्तु राजा न होनेकी अवस्थामें प्रजा रह सकती है, इस कारण कहते हैं कि राजा प्रजाके आश्रयसे रहता है, परन्तु प्रजा राजाके आश्रयके बिना भी रह सकती है । अतएव राजाका कल्याण प्रजाके कल्याणमें है । ‘ ते क्षेमं विशि ’ इस अर्थमें मंत्रका इस दृष्टिसे पाठक मनन करें । ऐसे राजाको सजातीय लोग अपने राज्यमें पुनः स्थापन करें, इस विषयमें इस सूक्तका चतुर्थ मंत्र देखिये—

सजाताः इमं ( राजानं ) अभि-सं-विधाच्यम् ॥

( सू. ३, मं. ५ )

‘ सजातीय लोग इस राजाको ( अभि ) चारों ओरसे ( सं ) ठीक प्रकार ( विधाच्यं ) प्रवेश करावें । ’ राजा अपने राष्ट्रमें आवे तो स्वजातीयोंके साथही आवे । वे उसकी सुरक्षितताका प्रबंध करें और चारों ओर सतत प्रबंध रखें, राजाकी सुरक्षितताके लिये सतत यत्न किया जाय और स्वराष्ट्रमें ऐसे सुप्रबंधके साथ उसका प्रवेश कराया जाय । स्वजातीय ( सजाताः ) लोग ही राजाके रक्षक हो सकते हैं, परजातीय लोग जिस समय होता दंगे इसका कोई नियम नहीं है, इसलिये राजा भी स्वजातीय लोगोंके ऊपर अधिक विश्वास रखे और सनका योग्य सम्मान करता रहे । नहीं तो कई राजा ऐसे होते हैं कि जो विदेशियों और परकीयोंपर तो अधिक विश्वास रखते हैं और स्वदेशियों तथा स्वजातीयोंपर अनिश्वास करते हैं । इन भासनापातके बर्तावका परिणाम उसको अनर्थ भरी तरह भोगना पड़ता है । इसलिये इस मन्त्रागमने स्वजातीय लोगोंको विश्वासमें लेनेकी सूचना की है जो राजनीतिमें विशेष महत्वकी है । जहाँ स्वजातीय भोग सहायताके लिये तैयार हैं वहाँ राजा विश्वासके योग्य हो जावे और अपना कार्य प्रारंभ करे, इस विषयमें यह मंत्र देखिये—

दयेन मृषा इमाः विदाः व्यापत ॥

( सू. ३, मं. १ )

‘ दयेन यानीके समान येषसे इन प्रजामें व्यापत ’ अर्थात् वहाँ प्रजाजनोके अद्भुत श्रद्धावान् करनेको तैयार हैं वहाँ राजाको स्वराके साथ पहुँचकर अपना प्रजाशासनका कार्य करना चाहिये ।

## विरोधी मनुष्य ।

सम्रातीय लोग प्रायः सदा राजाकी सहायताके लिये तैयार ही रहेंगे, क्योंकि राजाका गौरव बढ़नेसे उनका भी यश बढ़ता ही है, तथापि कई लोग शत्रुपक्षको मिलकर उत्तम राजाको राष्ट्रमें पुनः स्थापित करनेके विरोधी भी होना समभव है, उनका क्या किया जाय, यह शक्य यहाँ हो सकती है, इस शक्यता उत्तर इस मूलके षष्ठ मंत्रन दिया है, देखिये—

यः सजातः, यः न्य निष्टयः, ते ह्य धियदन्,  
त अपाञ्चं कृत्या, अथ हर्म इह अयममथ ॥

( गृ ३, मं ६ )

‘कोई समजातीय अथवा कोई विजाताय या विदेताय मनुष्य तेरे राज्यारोहणके लुग प्रणयके विश्व विवाद खडा करनेवाला हो। तो उसको बहिष्कृत करके, पगार दग राजाको यहाँ के आभा ।’

सब धमनिये त्रिष राजाको राज्यधी गरी ही जाती है, उगके विश्व कार्यवाही करनेवा यदि कोई मनुष्य हो तो (अवाध तं कृत्या) उसको अग करके ही अन्य श्रेष्ठ लोगोंको अगना प्रसन्न करनेवा करना चाहिये। राज्यकी अतर्गत व्याख्या करनेके प्रयोगे दग प्रहारके कई भागदे हो ही रहने हैं, इस लिये उगको दूर करनेका एक उपाय यही बताया है, उगके अनुसंधानके पाठक अन्य उपद्रव दूर कर सकते हैं ।

रखती थी ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है, इस सूत्रने इस वैदिक रीतिपर बहुत ही उत्तम प्रकाश डाला है, देखिये—

प्रदिशः देवीः इमाः पञ्च विशः त्वा राज्याय  
वृणताम् । ( गृ ४, मं १ )

‘दिशा उपदिशाओंमें रहनेवाली यह दिव्य पाँच प्रकारकी प्रजा तुमको राज्यके अधिपत्यके लिये चुनें ।’ प्रजा राज्यारोहण चलानेके लिये तोरा स्वीकार करे, ऐसा कहने मानसे राजाकी राजाको रखने या न रखनेका अधिकार प्रजाके अधीन है वह बात स्वयं सिद्ध होती है । अथर्ववेदमें इस बातको बतानेके कई मूल हैं, उनका विचार उनके स्थानपर क्यावशा होण, पाठक भी ऐसे स्थान स्थानपर आनिवाले उच्छेदोंको इकट्ठा करके गवक्षा मिलकर इकट्ठा विचार करेंगे तो उनको वैदिक राजन के साम्यका ज्ञान होगा । अस्तु । इस प्रकार राजाका पुनः व करके उनको राज्यपदके लिये स्वीकार करनेका अधिकार प्रजाका है वह बात इस मंत्रमाग द्वारा सिद्ध होगई, अब इस मूलके इसी भागके पौरक मंत्रमाग यहाँ देखिये—

हे राजन् । सर्वाः प्रदिशः (प्रजाः) त्वा दपन्तु ।  
( गृ ४, मं १ )

दपिनः सजाताः त्वा अप्छ यन्तु । ( गृ ४, मं १ )  
यद्वा पिरूपाः सर्वाः (प्रजाः) त्वगप्ये ते  
परीयः यप्रन् । ( गृ ४, मं २ )

ताः संघिदानाः सर्वाः (प्रजाः) त्वा दपन्तु ।  
( गृ ४, मं ३ )

१ राष्ट्रं त्वा आगन्,  
२ वर्चसा सदै उद्दिहि,  
३ विद्यां पति- प्राङ् पकराट् त्वं विराज,  
४ उपसद्यः नमस्यः च इह भव ॥ (सू. ४, मं. १)

'हे राजन् ! (१) अब तेरे पास यह राष्ट्र आ गया है, (२) अपने प्रकाशके साथ उदयको प्राप्त हो, (३) प्रजाका पाठक मुख्य एक राजा होकर नू विशेष प्रकाशमान हो, (४) तथा सब प्रजाओंको प्राप्त करने योग्य और नमस्कार करने योग्य बन ।' इस प्रथम मंत्रमें 'प्रजा-पति' बन, यह आदेश है । पति शब्दका यद्यपि प्रसिद्ध अर्थ रक्षार्थ या मालिक है तथापि यह शब्द 'पा' धातुमें बननेके कारण (पाति रक्षति) पालन करनेवालेका वाचक ही सुझायता यह स्पष्ट है । जो पालन करता है वही पति कहलाने योग्य है, इसलिये प्रजापति (विश्व पतिः) से शब्द प्रजापालन रूप राजाका कर्तव्य बताया है । राजा शब्द भी वस्तुतः अनियमित राजाका वाचक नहीं है, प्रसुत (रंजयति) प्रजाका रंजन करनेवाले उत्तम राजाका वाचक है । इस प्रकार यही प्रजापालन रूप राजाका मुख्य कर्तव्य बताया है । ऐसे राजाको ही प्रजा प्रमथ (नमस्यः) नमन करती है अर्थात् उर्ध्वादा स्तुति करती है । राजा ऐसा हो कि जो आवश्यकता पड़नेपर प्रजाको (उपसद्यः) मिल सके । जिसका दर्शन प्रजा कर सके ऐसा राजा हो । जो राजा यदा मंत्रियोंने भिरा रहता है और प्रभु प्रजाका दर्शन भी नहीं कर सकता वह प्रजासे नमस्कर कैसे प्राप्त कर सकता है ? इससे स्पष्ट हो सकता है कि प्रजाका नमस्कार प्राप्त करनेके लिये प्रजाको मिलना आवश्यक ही है ।

इस मंत्रके (राष्ट्रं त्वा आगन्) राष्ट्रतेरे पास आ गया है इस

निर्घन लोग पीछे जाते हैं । इसलिये राजाके आवश्यक कर्तव्योंमेंसे एक यह कर्तव्य वेदने बताया है कि वह प्रजाओंमें योग्य प्रमाणसे बहुविभाग करे । घनका विपमता प्रजामें न हो इस विषयमें वेदमें स्थान स्थानपर आदेश है—

१ राष्ट्रस्य वर्धन् कृद्दि ध्यस्व  
ततः उग्रः (भूया) नः वसूनि वि भज ॥  
(सू. ४, मं. २)

२ अध मनः वसुदेवाय ह्युग्र  
ततः उग्रः (भूया) नः वसूनि धि भज ॥  
(सू. ४, मं. ४)

'(१) राष्ट्रके ऐश्वर्यमय उद्य स्थानपर चढकर, उग्र बनकर हमारे लिये धनको विभक्त कर । (२) पथात् अपना मन धनके दानके लिये अनुकूल कर, उग्र बनकर हमारे लिये धनका विभाग करके बाँट दे ।' इन दो मन्त्रमार्गोंमें पहले कहा है कि 'हे राजन् ! तू सबसे पहले राष्ट्रके अर्थात् उद्य स्थानपर अर्थात् राजगद्दीपर आम्ह हो, पथात् उग्र बन अर्थात् नरम दिलवाला न बन और प्रजामें धनका विभाग कर ।'

यद्यपि राजा प्रजाको अनुमतिसे ही राजगद्दीपर बैठना दे तथापि उत्तरो गद्दीपर बैठनेके पथात् उग्र बनना चाहिये । यदि वह नरम दिलवाला बनेगा तो उद्य स्थान राजाके कर्तव्य ठीक प्रकार निभाये जाना अशक्य है । धर्मधर्मका निर्णय करके अपमानकरण करनेवालेको योग्य शासन करनेका कार्य उग्र बननेके बिना नहीं हो सकता । इसलिये राजाको उग्र बनना अत्यंत आवश्यक है । उग्र बनकर और पशुपात टोडकर अपना कार्य राजाको करना चाहिये ।

### शुभसंकल्प ।

प्रजात्राणोऽं शुभसंकल्पनां यनानां भी राजाका एक मुख्य कर्तव्य है, इसका प्रारम्भ राष्ट्रकी माताओं और राष्ट्रके सुपुत्रों से होना योग्य है इस विषयमें देखिये—

जायाः पुत्राः सुमनसाः भवन्तु । ( सू. ४, म. ३ )

हे राजन् । तू अपने राज्यमें शिक्षाका प्रबंध ऐसा कर कि जिनमें ' प्रियां और बालबच्चे उत्तम विचारवाले बनें । ' जिस राष्ट्रकी माताएं और बालबच्चे सब उत्तम विचारवाले बने हों उस राष्ट्रकी गणना स्वर्गमें ही हो सकती है । सुविचारवाली कन्याएं और शुभसंकल्पवाले कुमार राष्ट्रमें बढनेसे ही ब्रह्मचर्यका वायुमंडल बन सकता है, अन्यथा जो होना संभव है वह आजकल प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहा है । राष्ट्रमें वियाके अधिकारी, शिक्षक तथा अन्य प्रबंधके शासनाधिकारी जिस समय उत्तम मद्राचारी हो सकते हैं उस समय ही राष्ट्रकी सब कन्याएं और सब कुमार उत्तम संकल्पवाले हो सकते हैं । पाठक इस बातका स्पष्ट विचार करें । यह एक अपूर्व उपदेश वेदने यहाँ बताया है जो प्राचीन समय व्यवहारमें आया था, परन्तु अब वह फिर क्षीप्त व्यवहारमें आरिगा ऐसा दिखाई नहीं देता । क्योंकि अवैदिक वायुमंडल बढ रहा है । इसलिये वैदिकधर्मी आर्योंको उचित है कि वे कुमारी और कुमाराके अन्धर पवित्र विचारका वायुमंडल स्थापन करनेका प्रयत्न करें और यह आदर्श अपने मनमें सदा जाग्रत रहें ।

### राजाका रहना सहना ।

राजाका व्यवहार साधारण हो, राजा साधारण मनुष्य जैसा बनकर किसी किसी समय राष्ट्रमें भ्रमण भी करे और प्रत्यक्ष जनताका दुःख-दुःख अवलोकन करे । इस विषयमें आदेश देखिये—

इन्द्रेन्द्र ! मनुष्याः ( यत् ) परेदि,

परुषाः संविदानाः स मयास्थाः ॥

स मयं तथा स्ये सधस्ये अदन्तु,

स उ देवान् यशन्तुः विद्याः वक्ष्यन्ताम् ॥

हरबारां यात्राको अलग करके स्वयं साधारण मनुष्योंके वेषमें होकर साधारण मनुष्योंके समान बनकर नगरोंमें भ्रमण करे और अपने आँखोंसे देखे कि अपने प्रजाकी अवस्था कैसी है, क्या प्रजा किसी प्रकार कष्टमें है या सुखमें है । अपने कर्मचारी प्रजाके साथ कैसा व्यवहार करते हैं । वहाँके जो ( वरुणः = वरः ) प्रमुख लोग हों जो विशेष समझदार हों उनसे मिलकर सब अवस्थाको जान लो कि किस बातमें सुधार करके प्रजाका सुख बढाना चाहिये । ऐसा स्वयं देखनेसे तुम्हें पता लग जायगा कि राज्यप्रबंधमें दोष कहा है और गुण कहा है ।

दूसरी बात इधी मन्त्रमें जो कहा है वह यह है कि प्रजाके लोग राजाको विशेष समय अपने घर बुलावें, राजा वहाँ जावे, उनके साथ मिलजुलकर बातचीत करे, सब मिलकर दश, दान आदि करे; इस रीतिसे राजा प्रजाकी समस्यां बनाये और प्रजाकी उन्नति करे ।

ये सभी उपदेश उत्तम हैं और जैसे राजाको वैसे ही राष्ट्र-पुरवोंकी भी सदा मनन करने योग्य हैं ।

### दूतका संचार ।

राजा स्वयं अपने राज्यमें भ्रमण करे और सब व्यवस्था स्वयं अपने आँखोंसे देखे, इस विषयमें ऊपर कहा ही है; परंतु अनेका राजा कदातक भ्रमण कर सकता है और कदातक देख सकता है, राजा लोग दूतोंके आँखोंसे ही देर सकते हैं, इसलिये दूतोंका संचार करानेके विषयमें तृतीय मन्त्रमें कहा है—

( सू. ४, म. ३ )

यजिरः दूताः संचरन्ति ।

‘ युवा दूत संचार करे । ’

राजा सब जानने योग्य बातें जान लेवे । और इस ज्ञानसे अपने शासन प्रबंधमें जो कुछ म्यूनाधिक करना हो वह करण रहे । अर्थात् दूत संचार यह शासनका एक आवश्यक अंग है क्योंकि इन्हीं राजाका शासन विषयक प्रजाके दुःख-दुःखों का पता लगता है । इस प्रकार ज्ञान प्राप्त करते अपना शासन चालनेवाला राजा प्रजाके अत्यंत प्रिय होता है, इसलिये प्रजा भी उस राजाका सफ़ाकार विधि प्रचारकी भेंट देकर बर्तती है ।

( १ ) ते धावापृथिवी शिवे स्ताम् । ( सू. ४, मं. ५ )

( २ ) उग्रः सुमनाः इह दशर्मा यथा ।

( सू. ४, मं. ७ )

( १ ) ' हे राजन् ! तेरे लिये धावापृथिवी कन्यापूर्ण हो, और ( २ ) तू उग्र तथा उत्तम मनवाला बनकर वहाँ धी वर्ष तक राज्यको अपने वशमें कर । ' इसी प्रकार ' सब देवोंकी सहायता इस राजाको मिले ' ( मं. ४ ) इत्यादि प्रकारकी इच्छा लोग उसी समय करते कि जिस समय राजा भीमका मुख सड़नेमें दशापित होता हो । जो राजा प्रजाके सुखकी पर्याप्त न करता हो उसके हिताहितकी किक प्रजा भी नहीं करती । इसलिये हर एक राजाकी सदा ध्यानमें यह बात रखना चाहिये कि ' मेरे पास जो राजपद आया है यह प्रजापालन करनेके लिये आया है, न कि अपने सुखयोग भोगनेके लिये । ' यह भाव मनमें रखता हुआ राजा अपना कर्तव्य योग्य रीतिसे पालन करे ।

वरुण ।

यहाँ एक वैदिक वर्णन शैलीकी विशेषता आ गई है वह अवश्य देखने योग्य है । इन्द्र, वरुण आदि शब्द देवतोंके वाचक हैं । होते हैं अन्य किसीके वाचक नहीं हो सकते । ऐसा सामान्य-तया साधारण लोग समझते हैं । परन्तु ये शब्द कभी कभी विशेषण रूप होकर किसी अन्यके गुणगोचक होते हैं और कभी स्वयं किसी अन्य पदार्थके वाचक भी होते हैं । यहाँ वरुण शब्द बहुवचनमें आया है इसलिये यह वरुण देवता वाचक निःसंदेह नहीं है, क्योंकि जिस समय वरुण देवताका वाचक यह शब्द होता है उस समय यह सदा एकवचनमें ही होता है । यह बहुवचनमें होनेके कारण यह यहाँ प्रजाजनोंका वाचक है । ' वरुण, वरुण, वर्ण ' इस प्रकार यह ' बार वर्णोंके लोगों ' का वाचक हो सकता है किंवा बार अर्थात् श्रेष्ठोंका भी वाचक हो सकता है । यहाँ हमारे मतसे ' वर्ण ' अर्थ लेना अधिक योग्य है, तथापि दुष्का अधिक विचार पाठक करें ।

## राजा और राजाके बनानेवाले ।

( ५ )

( ऋषिः — मथर्वा । देवता — सोमः )

आयमगन्पर्णमणिर्वली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान् ।

ओजो देवानां पय ओपधीनां चर्चसा मा जिन्वत्प्रयावन्

॥ १ ॥

मर्मि शत्रं पर्णपण्डे मर्मि पारपत्तद्विष् ।

अहं राष्ट्रस्यामीवर्गं निजो भूयाममुत्तमः

॥ २ ॥

अर्थ— ( आय यली पर्णमणिः ) यह बलवान् पर्णमणि ( बलेन सपत्नान् प्रमृणन् ) अपने शत्रुओंका नाश करता हुआ ( आ अगन् ) आया है । यः ( देवानां ओजः ) देवोंका बल और ( ओपधीनां पयः ) ओपधीनोंका रस है । यः ( अमयावन् चर्चसा मा जिन्वत् ) शिरोध न करता हुआ तेजसे मुझे शृंगुष्ट करे ॥ १ ॥

हे पर्णमणे ! ( मर्मि शत्रं ) मुझमें शत्रुबल और ( मर्मि पारपत्तान् ) मुझमें भय पारण कर । ( अहं राष्ट्रस्यामीवर्गं ) मैं राष्ट्रके आत्मपुरुषोंमें ( उत्तमः निजः भूयासं ) उत्तम निज बनकर रहूँ ॥ २ ॥

भाषार्थ— यह पर्णमणि बन बननेवाला, अपने बलसे शत्रुओंका नाश करनेवाला, देवोंका शक्तिमान् और ओपधीनोंके रससे बननेवाला है, यह मुझे अपने तेजसे मुष्ट करे ॥ १ ॥

दुर्गे मुझमें शत्रुबल और श्रेष्ठ बने और मैं राष्ट्रका हितायन करनेवाला, अर्थात् राष्ट्रका निजकेवर्ग बनकर रहूँ ॥ २ ॥

५ ( अर्थ. मन्त्र, पाठ १ )

यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम् ।

तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे

॥ ३ ॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण द्रुचो वरुणेन शिष्टः ।

तं प्रियासं बृह्म रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय

॥ ४ ॥

आ मारुक्षत्पर्णमणिर्महा अरिष्टतातये ।

यथाहमुत्तरोऽसान्यर्यम्ण उव संविदः

॥ ५ ॥

ये धीवानो रथकाराः कर्मारो ये मनीषिणः ।

उपस्तीन्पर्णं मह्यं त्वं सर्वाङ्कणुभितो जनान्

॥ ६ ॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामप्यश्च ये ।

उपस्तीन्पर्णं मह्यं त्वं सर्वाङ्कणुभितो जनान्

॥ ७ ॥

अर्थ— ( यं गुह्यं प्रियं मणिं देवाः वनस्पतौ निदधुः ) जिस गुण और प्रिय मणिको देवीने वनस्पतिमें धारण किया था, ( तं देवाः अस्मभ्यं आयुषा सह भर्तवे ददतु ) उस मणिको देव हमें आयुके साथ पोषणके लिये देवें ॥ ३ ॥

( इन्द्रेण द्रुचः ) इन्द्रे दिया हुआ, ( वरुणेन शिष्टः ) वरुण द्वारा संस्तुत बना ( सोमस्य पर्णः ) सोम देवताका यह पर्णमणि ( उग्रं सहः आ अगान् ) उग्र बलसे युक्त होकर प्राप्त हुआ है । ( तं ) उस मणिके लिये ( बृह्म रोचमानः ) बहुत तेजस्वी मैं ( दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ) दीर्घ आयुके लिये और शत वर्षके जीवनके लिये ( प्रियासं ) प्रिय बरके ॥ ४ ॥

( पर्णमणिः मह्यं अरिष्टतातये ) यह पर्णमणि बड़े बरताणके पैलानेके लिये ( मा आ अरुक्षत् ) मुझपर आकृष्ट हुआ है । ( यथा अहं अर्यम्णः ) जिससे मैं थोड़ा मनबाले ( उव संविदः ) और ज्ञानी भी ( उत्तरः असानि ) अधिष्ठ थोड़ा हो जाऊँ ॥ ५ ॥

( ये धीवानः रथकाराः ) जो बुद्धिमान और जो रथ करनेवाले हैं तथा ( ये मनीषिणः कर्मारो ) जो बुद्धिमान हूँ, ( ये पर्णं ) पर्णमणि । ( रथं सर्वाङ्कणुभितो मह्यं उपस्तीन् कणु ) तू सब जनोको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ६ ॥

( ये राजानः राजकृतः ) जो राजा और जो राजाओंकी बनानेवाले हैं, ( ये सूताः ग्रामपयः च ) और जो सूत और ग्रामके नेता हैं, ( ये पर्णमणिः ) तू सब जनोको मेरे चारों ओर उपस्थित कर ॥ ७ ॥

भाषार्थ— जिस मणिको देवीने वनस्पतिमें बनाकर धारण किया था, उस मणिको देव हमें आयु और पुष्टिको इन्ड्रे के लिये देवें ॥ ३ ॥

यह वनस्पतिमें बना हुआ, वरुणसे सुवर्णकायुक्त किया हुआ और इन्द्रे हमें पहले दिया हुआ, दीर्घ और शतवी इन्ड्रे देवता मणि है । उग्र मणिको मैं भी बर्षकी दीर्घ आयुके लिये प्रेम्पूर्ण धारण करता हूँ ॥ ४ ॥

यह मणि मेरे शरीरपर धारण करनेसे मेरा गुण बढ़ावे और इन्ड्रे मैं थोड़ा मनबाले और ज्ञानी पुत्रपुत्री भी अधिष्ठ मेरा होकेगा ॥ ५ ॥

जो बुद्धिमान रथकार और ज्ञान हूँ मैं सब मेरे पास उपस्थित हों ॥ ६ ॥

जो राजा और राजाका पुत्रपुत्री सब मेरे राजाको बनानेवाले हैं और जो सूत और ग्रामके नेता हैं मैं सब मेरे चारों ओर उपस्थित हों ॥ ७ ॥

पर्णोऽसि तनूपातः सयोनिर्योरी धीरेण मया ।

संवत्सरस्य तेजसा तेर्न यन्नामि त्वा मणे

॥ ८ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— हे ( मणे ) पर्णमणि । तू ( पर्णः तनूपातः असि ) पर्णरूप और शरीररक्षक है, ( मया धीरेण सयोनिर्योरी ) मुझ बोरके साथ समान उत्पत्तिवाला बोर है, इसलिये मैं ( त्वा संवत्सरस्य तेन तेजसा यन्नामि ) तुझसे संवत्सरके उस तेजके साथ बांधता हूँ ॥ ८ ॥

भावार्थ— यह मणी उत्तम शरीररक्षक है और बोरताका उत्साह बढ़ानेवाला है, इसको मैं एक वर्षपर्यंत स्थिर रहनेवाले तेजके साथ धारण करता हूँ ॥ ८ ॥

### पर्ण मणि ।

इस सूक्तमें पर्णमणिके धारणका उल्लेख है । अथर्ववेद काण्ड २, सू. ४ में कृत्रिह मणिका वर्णन है, उस प्रसंगमें मणिधारणके विषयमें ओं लेख लिया है वह पाठक यहाँ भी देखें । यह पर्ण-मणि इसलिये कहा जाता है कि यह औषधियोंके स्वरूपसे बनाया होता है, देखिये—

१ पर्णमणिः औषधीनां पयः । ( सू. ५, मं. १ )

२ पर्णः ( पर्णमणिः ) सोमस्य उर्मं सहः ।  
( सू. ५, मं. ४ )

३ देवाः ( पर्णः ) मणिं वनस्पती निदधुः ।  
( सू. ५, मं. १ )

( १ ) ' पर्णमणि औषधियोंका दूध ही है । ( २ ) यह पर्णमणि सोमवृक्षाका उर्म बल है । ( ३ ) देवोंने पर्णमणिकी वनस्पतिमें रखा है । ' ये इसके वर्णन स्पष्टतया बता रहे हैं कि यह मणि वनस्पतिवशसे दूधसे बनाया जाता है । ' पर्ण-मणि ' यह शब्द भी शब्द अपना अर्थ व्यक्त कर रहा है कि यह ( पर्ण ) पत्तोंका मणि है अर्थात् वनस्पतिके पत्तोंके रसमें बना है । इसके धारणसे वनस्पति-रसके बौद्धिक कारण शरीरपर बड़ा प्रभाव होता है, इस विषयमें देखिये—

१ अयं पर्णमणिः पत्नी । ( सू. ५, मं. १ )

२ पर्णः तनूपातः । ( सू. ५, मं. ८ )

३ पत्नेन सपत्नान् प्रमृणन् । ( सू. ५, मं. १ )

४ देवानां भोम ... मा पर्यसा त्रिप्यवुः ।  
( सू. ५, मं. १ )

५ मयि शत्रं मयि रयि धारयताम् । ( सू. ५, मं. १ )

६ आयुषे मर्तये च तं अस्मभ्यं ददतु ।  
( सू. ५, मं. १ )

७ पर्णः उर्मं सहः ... दीर्घायुर्वायुः शतदारुवायुः ।  
( सू. ५, मं. ४ )

८ पर्णमणिः अरिष्टनातये मा आदत्तम् ।  
( सू. ५, मं. ५ )

( १ ) ' यह पर्णमणि बल वृद्धिकारक है, ( २ ) यह ( तनू-पातः ) शरीरका रक्षक है, ( ३ ) यह अपने वस्तुमें रोगकारी शत्रुओंकी नाश करता है, ( ४ ) यह ( देवानां ) इन्द्रियोंका बल वृद्धिकारक है यह मेरा पैर बढ़ावे, ( ५ ) यह मुझमें शत्रुत्व और शरीरकी कान्ति बढ़ावे, ( ६ ) दीर्घ आयुष और शरीरकी पुष्टि इसके बड़े, ( ७ ) यह मणि बड़ा बल वृद्धिकारक है, इसके को बड़ी दीर्घायु मुझे प्राप्त हो, ( ८ ) यह मणि शरीरपर धारण करनेपर मेरी कान्ति बढ़े । '

इस प्रकारके वर्णन बता रहे हैं कि इन ' पर्णमणि ' के अंदर बड़ा प्रभाव है और इसके शरीरपर भाग्य करनेमें शरीरमें नित्य उज्ज्वल रहना है, वज्रके बलमें वज्रके बलसे शरीरकी कान्ति होती है, शरीरका तेज बढ़ता है और वस्तु-वस्तुमें रोगियोंके कारण प्रभावकारी दिखाई देता है । यह वनस्पति-रसोंका प्रभाव है । वेद कीम इस मणिरी शक्ति की ।

राहुका निज बनना ।

' राहुका निज ' बनकर रहनेवाला शरीर इस सूक्तमें शिरो-मनन करने योग्य है । जो ओषध सूक्तों में दे दी गई वनस्पति



रहेंगे तो ही राष्ट्रका भला हो सकता है; इस विषयमें द्वितीय मंत्र मनन करने योग्य है—

अहं राष्ट्रस्य अर्थावर्गे निजो भूयात्समुत्तमः ।

( सू ५, मं. २ )

‘ मैं इस राष्ट्रके हितचिन्तक वर्गमें उत्तम निज बनकर रहूँगा । ’ यही राजा, राजगुरु, अधिकारी वर्ग आदि सब राष्ट्रके निज बनकर रहें यह उपदेश स्पष्ट है । राष्ट्रमें रहता हुआ कोई मनुष्य राष्ट्रके लिये पराया बनकर न रहे । यहाँ निज बनकर रहनेका भाव क्या है और पराया बनकर रहनेका भाव क्या है यह अवश्य देखना चाहिये । अपने यहाँवा ही उदाहरण लीजिये । इस भारतवर्षमें जापानी, चीनी, अमेरिकन और मेसोपोयन आते हैं और रहते भी हैं, परंतु इनमेंसे कोई भी ‘ भारतवर्षका निज ’ बनकर नहीं रहता । जो ये आते हैं वे ‘ उपरी ’ बनकर आते हैं, उपरी बनकर यहाँ रहते हैं, उपरी बनकर यहाँका कारोबार करते हैं और पश्चात् चले जाते हैं । इस कारण इनके उपरी भावसे भारतवर्षका अहित ही होता है । इनलिये उारी भावसे रहना राष्ट्रके लिये घातक है । जो ‘ निजभाव ’ से रहेंगे, राष्ट्रका जो हित और अहित है वह अपना हित और अहित है, इस दृष्टिसे व्यवहार करेंगे उनसे राष्ट्रका अहित नहीं होगा । यह तो वापारण मनुष्योंकी बात होगई है, परन्तु जो राष्ट्रके कर्मचारी हैं, यदि वे उपरी या पराय भावसे राष्ट्रमें रहने लगें, तो राष्ट्रका नुकसान चिन्ता होगा दृष्टा दिसाव लगाना कठीन है । इस दृष्टिसे पाठक देखें कि ‘ राष्ट्रका निज ’ बनकर रहनेका मत किन्ना उचित है और राष्ट्रहितकी दृष्टिसे किन्ना आवश्यक है । ‘ निजभाव ’ ही रहनेके कारण विदेशी लोग भी गृहभीके समान राष्ट्रहित करने वाले बनेंगे और ‘ निज भाव ’ न रहनेवर्मे विदेशी लोग भी विदेशी लोगोंके समान राष्ट्रहित घात करनेवाले बनेंगे । यहाँ पाठक ‘ राष्ट्रका निज ’ बनकर रहनेका चिन्ता गहराव दे यह देखें और अपने राष्ट्र निज बनकर रहें ।

## राजाकी निर्माण करनेवाले ।

इस सूक्तके सप्तम मंत्रमें ‘ राज-कृतः ’ शब्द है इसका अर्थ ‘ राजाकी निर्माण करनेवाले ( King makers ) ’ है । राजाको किस रीतिसे निर्माण करते हैं यह प्रश्न यहाँ उपपन्न हो सकता है । इसका उत्तर इसके पूर्वके चतुर्थ सूक्तने ही दिया है, राजाका चुनाव प्रजा द्वारा होता है और राजगुरुवर आता है, इसीकी प्रजा द्वारा राजाका निर्वाचन, राजाका स्वीकार, राजाका नियोजन अवधवा राजाका चुनाव कहते हैं । जिसका चुनाव प्रजा करती है, उसका मानो ‘ निर्माण ’ ही प्रजा करती है । इस प्रकार राजाके पितृ या मातृगणमें प्रजा होती है, दृष्टिलिये राजसमाके सदस्य राजाके ‘ पितर ’ हैं ऐसा वेदमें ही अन्यत्र कहा है ( देखो अथर्व का. ७, सू. १२, मं. १-२ ) । प्रजाके जो महाजन नेता अवधवा शिष्ट लोग होते हैं वे राजाका चुनाव करते हैं और उसको निर्माण करते हैं, इसीलिये प्रजाही रखा करना राजाका परम श्रेष्ठ कर्तव्य है । मातृगणके समान ही प्रजारक्षक यह राजघर्म है ।

मंत्र ६ और ७ में कहा है कि रथकार, सुतार, लुहार, शस्त्री पुरुर, संघी, सूत, प्रामनेता, सरदार तथा राजाका चुनाव करनेवाले ये सब लोग राजाके पाव रहें, राजाके अनुगामी बनें, राजाके साथ रहकर राजाकी भोग्य पलाह हों । इस प्रकार राज्यका शासन प्रजाके द्वारा निष्पन्न किये राजगुरुओं द्वारा प्रजाके हितके लिये प्रजाकी अनुमतिसे चलाया जावे । इसीसे राष्ट्रका उत्था हित हो सकता है ।

यद्यपि यह सूक्त वस्तुतः वर्णमणिका वर्णन करता है, तथापि प्रसंगसे राष्ट्रका निज बनकर रहना, राजाका चुनाव प्रजाद्वारा करना इत्यादि महत्वपूर्ण बातोंका उपदेश देनेके लिये वैदिक राजनीतिशास्त्रकी दृष्टिसे यह सूक्त बड़े महत्त्वपूर्ण आदिता दे रहा है । इनलिये पाठक भी इसी दृष्टिसे इस सूक्तका मनन करें ।

यह सूक्त अनुयाक राजप्रकरणका ही उपदेश देता है ।

॥ यहाँ प्रथम अनुयाक समाप्त ॥

# वीर पुरुष ।

( ६ )

( कृषिः - जगद्बीजं पुरुषः । देवता - यानस्पतिः, अभ्युदयः )

पुमान्पुंसः परिजातोऽध्वर्युः संहिरादधि ।

स हन्तु शत्रून्मामकान्पानहं द्वेष्टि ये च माम् ॥ १ ॥

तानध्वर्यु निः शृणीहि शत्रून्नैवाधुदोर्धतः ।

इन्द्रेण वृत्रमा मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

यथाध्वर्यु निरभनोऽन्तर्महत्पुण्ये ।

एवा तान्तसर्वाभिर्महृग्धि यानहं द्वेष्टि ये च माम् ॥ ३ ॥

यः सहमानध्वरसि सासहान ईव क्षपमः ।

तेनाध्वर्यु त्वया व्यं सुपत्नान्तसहिषीमहि ॥ ४ ॥

अर्थ— जैसा ( पदिरात् अधि अभ्युदयः ) धरके पुरुषे ऊपर अध्वर्यु पुरुष होता है इसी प्रकार ( पुंसः पुमान् परिजातः ) वीर पुरुषके वीर पुरुष उत्पन्न होता है । ( स मामकान् शत्रून् हन्तु ) वह मेरे शत्रुओंका वध करे ( यान् अहं द्वेष्टि, ये च माम् ) जिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ १ ॥

हे ( अभ्युदय ) अध्वर्युके समान शक्तिशाली वीर । ( तान् धैयाधुदोर्धतः शत्रून् ) उन विविध बाधा करनेवाले शत्रुओंको ( निः शृणीहि ) मार डाल और ( इन्द्रेण मित्रेण वरुणेन च मेदी ) पुरुषका नाश करनेवाले इन्द्र, मित्र और वरुणसे मित्रता कर ॥ २ ॥

हे अध्वर्यु । ( यथा मदति अर्णये निरभनः ) जैसे बड़े समुद्रमें तू भेदन करता है ( एव ) उसी प्रकार ( तान् सर्वाभिर्महृग्धि ) उन सबको उध्व मित्र कर ( यान् अहं द्वेष्टि ये च माम् ) जिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ३ ॥

हे अध्वर्यु । ( यः सहमानः सासहानः ) जो तू शत्रुको दबानेवाला क्षपमान ( क्षपमः इव ) बड़े समान शीघ्र ( चरसि ) चिक्कता है, ( तेन त्वया व्यं सुपत्नान् सहिषीमहि ) उस तेरे साथ हम शत्रुओंको पराजित करते हैं ॥ ४ ॥

भाषार्थ— धरके पुरुष अध्वर्यु पुरुष उत्पन्न है और उत्पन्न करनेवाला है, इसी प्रकार वीर पुरुषके वीर पुरुष उत्पन्न होता है और वीरके साथ ही रहता है । ऐसे वीर हमसे बैरमें ही होता है ॥ १ ॥

हे वीर । तू शत्रुनाश करनेवाले वीरोंके साथ मिलकर विभिन्न बाधा करनेवाले शत्रुओंको मार डाल ॥ २ ॥

हे धर । त्रिग प्रकार की बाधा करनेवाले शत्रुओंके पार होने दें उन प्रकार तू उन सब शत्रुओंका भेदन करनेवाला हो ॥ ३ ॥

हे बलवान् । जो तू शक्तिशाली शीघ्र शत्रुको दबानेवाला क्षपमान है, उस तेरी सहाय्यसे हम अपने सब शत्रुओंको पराजित कर सकते हैं ॥ ४ ॥

सिनात्वेनान्निर्गतिर्मुक्त्योः पाशैरमोक्यैः ।

अश्वत्थं शत्रून्मामकान्यानुहं द्वेष्टि ये च माम्

॥ ५ ॥

यथाश्वत्थं वानस्पत्यानारोहन्कणुपेऽधरान् ।

एषा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्णुभिन्दि सहस्रं च

॥ ६ ॥

तेऽधराश्चः प्र पृवतां छिन्ना नौरिव वन्धनात् ।

न वैवाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति नियतनम्

॥ ७ ॥

प्रेणांनुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।

प्रेणान्वृक्षस्य शासंपाश्रुत्यस्य नुदामहे

॥ ८ ॥

अर्थ— हे अश्वत्थ ! ( निर्गतिः मुक्त्योः अमोक्यैः पाशैः एनान् मामकान् शत्रून् सिनात् ) आपत्ति घट्युक्त न दूढ़नेवाले पाशोंसे इन मेरे शत्रुओंको बांध देवे जिनका मैं द्वेष करता हूँ और जो मेरा द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

हे अश्वत्थ ! ( यथा आरोहन् वानस्पत्यान् अधरान् कणुपे ) जैसा तू ऊपर रहता हुआ अन्य वृक्षोंको नीचे करता है, ( एषा ) इसी प्रकार ( मे शत्रोः मूर्धानं विष्णुभिन्दि ) मेरे शत्रुओंके शिरोंको सय ओरछ तोड़ दे और ( सहस्रं च ) सयका जीत लो ॥ ६ ॥

( वन्धनात् छिन्ना नौरिव ) वन्धनसे छूटी हुई नोकाके समान ( ते अधराश्चः प्र पृवतां ) वे अधोगतिक मार्गसे बहते चले जावे ( वैवाधप्रणुत्तानां पुनः नियतनं न अस्ति ) विशेष बाधा करनेवालोंका पुन लौटना नहीं होता है ॥ ७ ॥

( एनान् मनसा प्र नुदे ) इन शत्रुओंको मनसे मैं हटाता हूँ । ( चित्तेन उत ब्रह्मणा प्र ) मैं चित्तसे और ज्ञानसे हटाता हूँ । ( अश्वत्थस्य वृक्षस्य शासंपाश्रुत्या ) अश्वत्थ वृक्षकी शाखासे ( एनान् प्र नुदामहे ) इनको हम हटा देते हैं ॥ ८ ॥

भाषार्थ— हे शक्तिमान् ! मेरे वैरी आपत्तियोंके पाशोंसे बांधे जावे अर्थात् वे आपत्तियोंमें पड़ें ॥ ५ ॥

जिस प्रकार पीपलका श्व अन्य वृक्षोंपर उगता है और उनको नीचे दबाता है उसी प्रकार धीरे धीरे शत्रुओंको नीचे दबा देवे और उनके शिर तोड़ देवे ॥ ६ ॥

विशेष बाधा करनेवाले शत्रु अधोगतिक नीचेकी ओर गिरते जायेंगे । ऐसे एक बार गिरे हुए फिर कभी उठने नहीं ॥ ७ ॥

मनसे, चित्तसे और अपने ज्ञानसे मैं शत्रुओंको दूर करता हूँ ॥ ८ ॥

रखा हो जाता है । जिस प्रकार वीर पुरुष शत्रु के सिरको अपने पावके नीचे दबाता है उसी प्रकार मानो पाँचलका यह दृश्य है । इसलिये अथर्व श्रुति अन्वयेकिले इस सूक्तमें शूर पुरुषका वर्णन किया है । पाठक इस दृष्टिसे यह सूक्त पढ़ें ।

### आनुवंशिक संस्कार ।

इस सूक्तके प्रथम ही मंत्रमें कहा है कि 'पुंसः पुमान् परिजातः' वीरसे वीर संतान उत्पन्न होती है, वीरके कुलमें वीर उत्पन्न होते हैं । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अन्य कुलमें वीर उत्पन्न नहीं हो सकते; परंतु यही वीर संतान उत्पन्न होनेके योग्य वायुमंडल कहाँ रहता है यही दिखाया है । बचपनसे वीरताकी भाँति ध्वज करनेके कारण वीरके संतान वीरतासे युक्त होना अत्यंत स्वाभाविक है, यही यहाँ कहेका तात्पर्य है । यह वीर सब प्रकारके शत्रुओंकी हटा देवे, यही सब मंत्रोंमें कहा है और मंत्रोंका यह आशय सरल होनेसे इसका अधिक स्पष्टीकरण करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ।

### शत्रुका लक्षण ।

इस सूक्तमें 'वै-बाध' (विशेष बाधा करना) यही एक पैरी होनेका लक्षण कहा है (मं १; ७) । वैयक्तिक, सामाजिक, धार्मिक, राजकीय आदि अनेक प्रकारके शत्रु हो सकते हैं और इन केन्द्रोंमें वे शत्रु विशेष प्रकारकी बाधा भी करते हैं । यह अनुमान पाठकोंको है ही । ये सब शत्रु दूर करने चाहिये और जनताका सुख बढाना चाहिये । यह इस सूक्तके उपदेशका सार है । शत्रुको दूर करनेका उपाय इस प्रकार करना चाहिये—

मनसा, चित्तोन्नत प्रज्ञाया एतान् प्र मुदे ।

( सू. ६, मं. ८ )

'मन, चित्त और ज्ञानसे शत्रुओंको दूर करनेके उपाय छोड़ने चाहिये' और उन उपायोंका मनन करना चाहिये । मनसे शत्रुनाश करनेका मनन करना चाहिये, चित्तसे इसी वात्सा चित्तन करना चाहिये, और अन्तः ज्ञान बढाकर उस ज्ञानमें ऐसी योजनाएँ करना चाहिये कि शत्रुसे शत्रु धीरे धीरे मर हो जावे । तात्पर्य इसके प्रकारकी मुक्ति करके शत्रुको हटाना चाहिये ।

यन्धनात् छिन्ना नौः इव, ते अधराक्षः प्र  
श्रुवताम् । धैयाघप्रणुत्तानां पुनः निवर्तनं नास्ति ॥

( सू. ६, मं. ७ )

'बंधनसे नौका जैसी छूटती है और जलप्रवाहसे बढ़ती जाती है उस प्रकार वे जनताके विशेष कष्ट देनेवाले दुष्ट लोग अधोगतिसे नीचेकी ओर गिरते जाते हैं । उनके उठनेकी कोई आशा नहीं है । जो दुष्ट जनताको विशेष बाधा करते हैं और उस कारण पतित होते जाते हैं, उनके ऊपर उठनेकी कोई आशा नहीं है ।'

इस मंत्रने पाठकोंको सावधान किया है कि वे अपने चरित्रका आलोचन करें और सोचें कि अपनी ओरसे तो शिष्टीकी कष्ट नहीं होते हैं ? क्योंकि जो दूसरोंकी कष्ट देते हैं उनकी उन्नतिकी कोई आशा नहीं है । एक मनुष्य दूसरे मनुष्यकी कष्ट देगा, एक जानी दूसरी जातीकी कष्ट देगी, एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रको सतायेगा, तो यह माननेवाले अन्य रीतिसे गिरते जाते हैं और उनके उठनेकी कोई आशा नहीं होती है । जो राष्ट्र दूसरे देशोंकी परतंत्रन में रहते हैं वे इसी प्रकार गिरते जाते हैं । साम्राज्यवादके कारण भी इस प्रकार गिरावट होती जाती है । यदि किंग्सके दबाकर एक स्थानपर रहना हो ता जैसा दबे हुएसे वहाँ दबकर रहना पड़ता है, उसी प्रकार दबाये-वालेको भी वहाँ ही रहना पड़ता है । इसी प्रकार अन्य भाँति पाठक जान सकते हैं । तात्पर्य यह है कि कोई भी जाति जो दुश्मनोपर आचार करती है, स्वयं अधोगति के मार्गसे गिरती जाती है और जबतक वह अपना आचार बद नहीं करती, जबतक उसके उठनेका कोई मार्ग नहीं होता है । यह जानकर कोई किसी दुश्मनपर कभी आचार न करे । दुश्मनोपर आचार न करनेसे ही उन्नति का मार्ग सुगम हो सकता है ।

### विजयकी तिथारी ।

इस सूक्तमें 'महमान, मगधान' (मं. ४) वे दो राष्ट्र हैं, अन्य कथाओंमें 'महमान, मगध' के रूप में, जो विजयकी तिथारी के सूक्त हैं—

१ महमान— राष्ट्र के हमारे दोस्तर को अपना स्थान नहीं छोड़ता ।

# आनुवंशिक रोगोंका दूर करना ।

( ७ )

( अग्निः — सृष्ट्यद्विताः । देवता — हरिणः, तारके, आप, यक्षमनाशनम् )

हृदिणस्य रघुपदोऽर्थि शीर्षणि मेपुत्रम् ।

स धेत्रियं विषाणया विपूचीनमनीनश्व

॥ १ ॥

अनु त्वा हरिणो वृषो पुद्भिभुतुभिःकमीत् ।

विषाणु रि स्य गुप्तिते यदस्य धेत्रियं हृदि

॥ २ ॥

अदो यद्वरोचंते चतुष्पदमिष च्छुदिः ।

तेनो ते मयि धेत्रियमङ्गोभ्यो नाशयामगि

॥ ३ ॥

अम् ये द्विवि मुमगे विचृतौ नाम तारके ।

रि धेत्रियस्य सुशतामघमं पार्श्वमुत्तमम्

॥ ४ ॥

आषु इहा उ मेपुजीराषो अमीमुचातनीः ।

आषो रिधस्य मेपुजीराभ्यो मुशन्तु धेत्रियात्

॥ ५ ॥

यदासुतेः क्रियमाणायाः क्षेत्रियं त्वा व्यानये ।

वेदाहं तस्य भेषजं क्षेत्रियं नाशयामि त्वत्

॥ ६ ॥

अपवासे नक्षत्राणामपवासे उपसामुत् ।

अपासत्सर्वं दुर्भूतमप्य क्षेत्रियमुच्छतु

॥ ७ ॥

अर्थ— ( यत् क्रियमाणाया आसुतेः ) यदि बिगड़नेवाले रसके (क्षेत्रिय त्वा व्यानये) क्षेत्रिय रोग तेरे अन्दर व्यापा है । तो ( तस्य भेषजं अहं वेद ) उसका औषध मैं जानता हूँ और उससे मैं ( त्वत् क्षेत्रिय नाशयामि ) तुमसे क्षेत्रिय रोगको नाश करता हूँ ॥ ६ ॥

( नक्षत्राणा अपवासे ) नक्षत्रोंके छिपनेपर ( उत उपसां अपवासे ) उसके चले जानेपर ( सर्वं दुर्भूतं अस्सत् अप ) सब अनिष्ट हम सबसे दूर होवे तथा ( क्षेत्रियं अप उच्छतु ) क्षेत्रिय रोग भी हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ— यदि बिगड़े जलक निमित्तके तेरे अन्दर क्षेत्रिय रोग प्रकट हुआ है तो उसके लिये औषध मैं जानता हूँ और उससे रोग भी दूर करता हूँ ॥ ६ ॥

नक्षत्र छिपनेपर और उपा चलो जात हो सब रोगबीज हम सबसे दूर होवे और हमारा क्षेत्रिय रोग भी दूर होवे ॥ ७ ॥

मातापितासे संतानमें आये क्षेत्रिय रोग ।

जो रोग मातापितासे संतानमें आते हैं उनको क्षेत्रिय रोग कहते हैं । य क्षेत्रिय रोग दूर होना कठिन होता है । इनकी चिकित्सा इस सूत्रमें कहा है ।

हरिणके सींगसे चिकित्सा ।

जो कृष्ण मृग होता है, जिसके सींग बड़े भारी होते हैं, उन सींगोंमें क्षेत्रियरोग दूर करनेका गुण होता है । 'हरिणके सिरमें औषध है जो सींगमें आता है जिसके कारण क्षेत्रिय रोग दूर होते हैं । ( म १ )' हरिणके सींगके विषयमें वैद्यप्रयका—

मृगच्छक मरुमहद्वारेणैः त्रिकशूलद्वारेणैः शस्त्रैः ।

— वैद्यक शब्द सिधु ।

' मृगका सींग भस्मरोग, हृदयरोग और त्रिक शूलद्वारेणै रोगोंके लिये प्रयत्न है ।' यह वचन इस सूत्रके कथनके साथ संगत होता है ।

हृदय रोग ।

इस सूत्रके द्वितीय मन्त्रमें 'हृदि सुषिप्तं क्षेत्रियं' ( म. २ ) हृदयमें रहनेवाला गुप्त क्षेत्रिय रोग, यह प्रायः हृदयरोग ही होगा । तृतीय मन्त्रमें ' अमग्न्यः क्षेत्रियं ' ( म. ३ ) सब अग्नौक्षेत्रिय रोग दूर करनेकी बात कही है । प्रथम मन्त्रमें सामान्य क्षेत्रिय रोगका वर्णन है । ये सब रोग हरिणके सींगसे

५ ( अथर्व भाष्य, काण्ड ३ )

दूर होते हैं । हरिणका सींग चदनके समान पथरपर जलमें पिघकर सिरपर लगाया जाता है अथवा थोड़ा थोड़ा अल्प-प्रमाणमें पेटमें भी लेते हैं । इस प्रातम छोटे बालकोंको उक्त प्रकार किंचित जलमें पोलकर पिलाते भी हैं और माताएँ कहता है कि इससे संतानोंको आरोग्य होता है । सिरमें गर्मी चढ़नेपर सिरपर लगानेसे गर्मी दूर होती है । मस्तिष्क पाण्डु होनेकी अवस्थामें यह उत्तम औषध है ।

औषधि चिकित्सा ।

चतुर्थ मन्त्रमें ' शुभगा और तारका ' ये दो शब्द हैं । इषी प्रकारका मन्त्र काण्ड २, सू. ८ में आया है, देखिये—

भगवती और तारका ।

भग-घती विघृतौ नाम तारके ॥

( कां २, सू. ८, म. १ )

इसके साथ इस सूत्रका मन्त्र भी देखिये—

शु-भगे विघृतौ नाम तारके ॥

( कां. २, सू. ७, म. ४ )

इसमें विधानकी समता है । इसलिये द्वितीय काण्डके अष्टम सूत्रके प्रथममें ' भगवती और तारका ' वनस्पतिवीक्षे विषयमें जो लिखा है, वही यही पाठक सममें । शुभगा और भगवती ये दो शब्द एक ही वनस्पतिके वाचक होंगे । और तारका शब्द दूसरी वनस्पतिके वाचक होगा । ये दो वनस्पतियों

क्षेत्रियरोगको दूर करती है । इनसे किसका बोध लेना है इस विषयमें का. २, सू. ८, मं. १ का विवरण देखिये ।

### शुलोक और मूलोकमें समान औपधियाँ ।

वनस्पतियोंके साथ शुलोकका संबंध बताया है । सोम शुलोकमें है और पृथ्वीपर भी वनस्पतिरूप है । इसी प्रकार 'सुमगा ( भगवती ) और तारका ' ये दो औपधियाँ भी वनस्पतिरूपसे पृथ्वीपर हैं और तेजस्वरूपे शुलोकमें हैं । यह वर्णन वनस्पतिका प्रशंसापरक प्रतीत होता है ।

### जलचिकित्सा ।

क्षेत्रिय रोग दूर करनेके लिये जलचिकित्सा करनेका उपदेश इस सूक्तके पंचम मंत्रमें है । इस मंत्रमें कहा है कि ' जल सब रोगोंकी एक दवा है इसलिये क्षेत्रिय रोग भी इससे दूर हो

सकते हैं । ' जलके आरोग्यवर्धक गुणके विषयमें कां. १, सू. ४-६ ये तीन सूक्त देखिये ।

षष्ठ मंत्रका आशय यह है कि यदि रोग अथवा क्षेत्रिय रोग बिगड़े खान या पानसे हुए हों, तो पूर्वोक्त प्रकार दूर हो सकते हैं । अर्थात् पूर्वोक्त पाच मंत्रोंमें कहे उपाय ही सब रोग दूर करनेके लिये पर्याप्त हैं ।

उक्त उपायोंसे अति जोड़े समयमें रोग दूर हो सकते हैं । यदि रोगका प्रारंभ भान हुआ है तो रात्रीके तारागण छिप जानेके समय तथा अर्धकाल दूर होकर दिनका प्रकाश शुरू होते ही ये सब रोग दूर होते हैं । यदि यह वर्णन कठ्यपरक माना जाय तो उसका अर्थ इतना ही होगा कि ' अतिसौष्ट रोग दूर होंगे । '

## राष्ट्रीय एकता ।

( < )

( ऋषिः— अथर्वा । देवता— मित्रः, विश्वेदेवाः, मानादेवता )

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेश्यन्पृथिवीमुस्त्रियाभिः ।

अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्वृहद्राष्ट्रं संवेश्यं दधातु

॥ १ ॥

घाता रातिः सविदेदं जुपन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति द्यन्तु मे वचः ।

हुवे देवीमर्दिति शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्टा यथासानि

॥ २ ॥

अर्थ— ( उस्त्रियाभिः पृथिवीं संवेश्यन् ) किण्वोषे पृथ्वीको संयुक्त करता हुआ ( ऋतुभिः कल्पमानः मित्रः ) ऋतुओंके साथ समर्थ होता हुआ ( मित्रः ) मित्र ( आयातु ) आवे ( अथ ) और ( वरुणः वायुः अग्निः ) वरुण, वायु और अग्नि ( अस्मभ्यं संवेश्यं वृहत् राष्ट्रं ) हम सबके लिये उत्तम प्रकार रहने योग्य बड़े राष्ट्रको ( दधातु ) धारण करें ॥ १ ॥

( घाता रातिः सविता ) धारण कर्ता, दाता रातिता ( मे इदं वचः ) मेरा यह वचन ( जुपन्तां ) प्रार्थित्य प्रने भर ( इन्द्रः त्वष्टा ) इन्द्र और त्वष्टा कारीगर ( मे इदं वचः प्रति द्यन्तु ) मेरा यह वचन स्वीकार करें । ( शूरपुत्रां देवीं अर्दिति हुवे ) शूरपुत्रोंवाली अर्दीन देवी माताको मे बुलाता हूँ ( यथा सजातानां मध्यमेष्टाः यथासानि ) जिसमें मे अन्नाभियोनि मध्य-प्रमुख स्थानपर रहनेवाला होकर ॥ २ ॥

आवाच्यं— अग्निं किण्वोषे पृथ्वीको प्रकाशित करनेवाला और ऋतुओं के साथ सामर्थ्य बढ़ानेवाला एवं, वरुण, वायु और अग्नि में यह देव हमें ऐसा बना दिया कि राष्ट्र देव कि ओ हमारे रहने योग्य हो ॥ १ ॥

यथा धारणकर्ता, दाता रातिता और इन्द्र तथा त्वष्टा मे मेरा वचन सुने और मानें, तथा मे शूर पुत्रोंकी माता देवी अर्दिनि की वरुण इ कि इन यथा ऐसा वदाम्य मुझे प्राप्त हो कि जिसमें मे अन्नाभियोनि विशेष प्रमुख स्थानपर शिराजमान होनेकी संस्था प्राप्त कर राष्ट्र ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्यौ अहमुत्तरत्वे ।

अयमभिर्दीदायद्दीर्घमेव संजातैरद्वोऽप्रतिबुवद्भिः ॥ ३ ॥

इहेदंसाथ न परो गमायेयौ गोपाः पुष्टपतिर्व आर्जत् ।

अस्मै कामायोपं कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसंयन्तु ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकृतीर्नमामसि ।

अमी ये विव्रता स्थन तान्वाः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

अहं गृष्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत ।

मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अर्थ— (अहं सोमं सवितारं विश्वान् आदित्यान्) मैं सोम, सविता और सब आदित्योंको (उत्तरत्वे) अधिक श्रेष्ठताकी प्राप्तिके लिये (नमोभिः हुवे) अनेक चत्वारोंके साथ बुलाता हूँ । (अ-प्रति-बुवद्भिः संजातैः इहः) विरुद्ध साधन न करनेवाले सज्जातीयोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ (अयं अग्निः) वह अग्नि (दीर्घ एव दीदयत्) बहुत कालतक प्रकाशित रहे ॥ ३ ॥

(इह इत् असाथ) यहाँ ही रहो, (परः न गमाय) दूर मत जाओ । (इयं गोपाः) अश्वपुष्प, गौका पालन करनेवाला (पुष्टपतिः सः आर्जत्) पीषण करता हुआ तुमको यहाँ लावे । (विश्वे देवाः) सब देव (अस्मै कामाय) इस कामनाकी पूर्तिकी (कामिनीः वः) इच्छा करनेवाली तुम प्रजाओंको (उप उप संयन्तु) एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

(सं वो मनांसि सं) तुम्हारे मनोंको एक भावसे युक्त करो, (व्रता सं) तुम्हारे कर्मोंको एक भावसे युक्त करो, (आकृतिः स नमामसि) संकल्पोंको एक भावसे युक्त करें । (अमी ये विव्रताः स्थन) यह जो तुम परस्पर विरुद्ध कर्म करनेवाले हो (तान् वः सं नमयामसि) उन सब तुमको एक विचारमें हम झुकाते हैं ॥ ५ ॥

(अहं मनसा मनांसि गृष्णामि) मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको लेता हूँ । (मम चित्तं चित्तेभिः अनु आ-इत) मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंको बनाकर आओ । (मम वशेषु वः हृदयानि कृणोमि) मेरे वशमें तुम्हारे हृदयोंको मैं करता हूँ । (मम यातं अनुवर्त्मानः आ-इत) मेरे बालचलनके अनुकूल चलनवाले होकर यहाँ आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ— मैं नमन पूर्वक सोम, सविता तथा सब आदित्योंको बुलाता हूँ कि वे मुझे ऐसी सहायता दें कि मैं अधिक श्रेष्ठ योग्यता पाके योग्य होऊँ । परस्पर विरोध न करनेवाले सजातीय लोगोंके द्वारा जो यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि प्रदीप्त किया गया है वह बहुत देरतक हमारे लोगोंमें जलता रहे ॥ ३ ॥

तुम सब यहाँ एक विचारसे रहो, परस्पर विरोध करके एक दुसरेसे दूर न हो जाओ । अश्व अपने पात्र रखनेवाला कृषक और गौओंका पालन करनेवाला, तुम्हारी पुष्टि करनेवाला वैश्य तुमको इच्छा करके यहाँ लावे । एक इन्द्रादिक पूर्तिके लिये प्रयत्न करनेवाली सब प्रजाओंको सब देव एकताके विचारसे संयुक्त करें ॥ ४ ॥

तुम्हारे मन एक करो, तुम्हारे कर्म एकताके लिये हों, तुम्हारे सम्बन्ध एक हों जिससे तुम सद्भावनिष्ठ युक्त हो जाओगे । जो ये आपसमें विरोध करनेवाले हैं उन सबको हम एक विचारसे एकत्र झुका देते हैं ॥ ५ ॥

सबसे प्रथम मैं अपने मनसे तुम्हारे मनोंको आकर्षित करता हूँ । मेरे चित्तके अनुकूल तुम अपने चित्तोंको बनाकर यहाँ आओ । मैं अपने वशमें तुम्हारे हृदयोंको करता हूँ । मैं जिस मार्गसे जाता हूँ उस मार्गपर चलते हुए तुम मेरे पीछे पीछे चले आओ ॥ ६ ॥



## अधिक उच्चता ।

मनुष्यके अंदर अधिक उच्चताकी प्राप्ति करनेकी इच्छा स्वभावतः रहती है । कोई भी मनुष्य मनसे यह नहीं चाहता कि अपनी उन्नति न हो । हरएक मनुष्य जन्मतः उन्नति ही चाहता है । इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन विचारणीय है—

ह्रये सोमं सविता रं नमोभिः ।

विभ्वानादित्यौ अहमुत्तरस्ये ॥ ( सू. ८, मं. ३ )

‘सोम, सविता और सव आदित्योंको उच्च होनेकी स्पर्धामें सहायताके लिये मुझता हूँ ।’ अर्थात् मैं देवताओंसे ऐसी सहायता चाहता हूँ कि जिससे मैं दिव्य मार्गसे उन्नतिकी प्राप्ति कर सकूँ ।

‘उत्, उत्तर’ ये शब्द एहमे एक बटकर अवस्थाके द्योतक हैं । साधारण अवस्थामें ‘उत्’ अवस्था पड़कर और उससे ‘उत्तर’ अवस्था अधिक प्रेष्ठ होती है । मनुष्य सदा ‘उत्तरव’ की प्राप्तिचा प्रयत्न करे यह तृतीय मंत्रकी सूचना है । अर्थात् मनुष्य अपनेमें उच्च अवस्थामें गढ़नेका ध्यान तो अवश्य ही करे परन्तु उचित भी एक सीढ़ी ऊपर होनेका ध्येय अपने गन्मुख रहे । ‘उत्-तर-स्य’ शब्दमें यह सब अर्थ हैं जो पाठकोंकी अवश्य देयता चाहिये ।

यह अधिक उच्च अवस्था देवमार्गसे ही प्राप्त करना चाहिये । ‘धेय और प्रेय’ अथवा ‘देव और अग्र’ ऐसे मार्ग मनुष्यके गन्मुख आने हैं, उनमेंसे धेय अर्थात् देव मार्गका अङ्गभवन करनेसे मनुष्यका वरुण होना है और प्रेय मार्गपर चलनेसे मनुष्यकी दानि हो जाती है । आशु मार्गको दूर करनेके लिये और धेय मार्गपर जानेकी प्रेरणा करनेके लिये ही इस मंत्रमें ‘देवताओंकी नमनार्थक प्रार्थना’ करनेकी सूचना दी है । देवताओंकी नमनार्थक प्रार्थना करनेवाला मनुष्य सरमा निरुद्ध मार्गपर अपना पांव नहीं रखा गइता । देवताओंकी सहायताकी प्रार्थना इस प्रकार मनुष्यके निकगइता देता है । एक बार इस देवी मार्गपर अपना पांव रखनेके बाद भी कई मनुष्य आगरी स्थानाओंमें रूढ़ होते हैं । इस प्रकार की गिरावटसे बचानेके हेतु चतुर्थ मंत्र ब्रह्मा दे कि—

पाठक इस सूचनाकी ध्यानमें धारण करेंगे तो निःसंदेह इससे उनका बचाव हो सकता है ।

## उन्नतिका मार्ग ।

मनुष्यकी उन्नतिके लिये, मनुष्य सामाजिक प्राणी होनेके कारण, उसकी सांघिक जीवनमें रहना आवश्यक है । यह अलग अलग रहकर उन्नत हो नहीं सकता । वैयक्तिक जीवनके लिये इतने स्वार्थत्यागकी आवश्यकता नहीं है जितनी कि सामुदायिक जीवनके लिये आवश्यकता है । इस कारण सामुदायिक जीवन व्यतीत करनेवाले मनुष्योंके लिये उचित है कि वे अपना व्यवहार ऐसा करें कि जिससे समाजमें परस्पर विरोध पैदा न हो, इस विषयमें पंचम मंत्रका उपदेश देखिये—

यः मनांसि सं, यः प्रतानि सं, यः आकूनीः सम् ।  
( सू. ८, मं. ५ )

‘तुम्हारे मन, तुम्हारे र्म और तुम्हारे चरित्र सम्पूर्ण होनेसे एकताको गढ़ानेवाले हों ।’ इस मंत्रमें जो ‘सं’ उपसर्ग है वह ‘उत्तमता और एतता’ का द्योतक है । मनुष्योंके संस्पर्ध, उनके मानसिक विचार और सब प्रकारके कर्म ऐसे हों कि जो एकताकी तथा उत्तमताकी दृष्टि करनेवाले हों । कई लोग यह सोचेंगे कि ईश्वर कार्य करेंगे नहीं, परन्तु मनमें ऐसे घुरे विचार और घुरे संकल्प करेंगे, कि जिनका परिणाम आपसमें विचार मचानेका देता बने । ऐसा नहीं होना चाहिये । संकल्प, विचार और कर्म सभी सदा शुभ होने चाहिये और सभी ईश्वर मार्ग उभयमें नहीं आना चाहिये । यदि अपने तानत्रने कोई इच्छा निरुद्ध व्यतीत करनेका हो तो उसको भी समझाए गन्मार्गपर खाना चाहिये, इस विषयमें पयम मन्त्रका वक्तव्य देखने योग्य है—

अमी ये विद्यता रभन तान्त्रः रं नमयासि ॥  
( सू. ८, मं. ५ )

## सुधारका प्रारंभ ।

हमेशा यह बात ध्यानमें धारण करना चाहिये कि सुधारका प्रारंभ अपने अन्त करणके सुधारसे होता है । जो लोग अपने अन्त करणके सुधार करनेके बिना ही दूसरोंके सुधार करनेके कार्यमें लगते हैं, वे न तो उस कार्यको निभा सकते हैं और न स्वयं उन्नत हो सकते हैं । इसलिये वेदने इस सूक्तके छठे मन्त्रमें अपने सुधारसे जगत्का सुधार करनेका उपदेश दिया है, वह अवश्य देखिये—

अहं मनसा मनांसि शुष्णामि ।

मम यदेषु वः हृदयानि रुणोमि ॥

( सू. ८, मं. ६ )

‘ मैं अपने मनसे अन्य लोगोंके मन आकर्षित करता हू । इस प्रकार मैं अपने वशमें अन्योके हृदयोंको करता हू । ’

इस मन्त्रमें ‘ अपने शुभाचरणसे अन्योके दिलोंको आकर्षित करनेका उपदेश ’ हरएकको ध्यानमें रखने योग्य है । पाठक ही विचार करें और अपने चारों ओर देखें कि कौन दूसरोंके मनोको आकर्षित कर सकता है ? क्या कभी कोई दुराचारी अशुभ संकल्पवाला मनुष्य जनताके मनोको आकर्षित कर सकता है ? ऐसी बात कभी नहीं होती । सत्पुरुष और शुभ संकल्पवाले पुण्यात्मा ही जनताके मनोको आकर्षित कर सकते हैं । जीवित अवस्थामें ही नहीं प्रत्युत मरनेके पश्चात् भी उनके सद्भावप्रेरित शब्द जनताके मनोका आकर्षण करते रहते हैं । यह उनमें सामर्थ्य उनके शुभ और सत्य संकल्पोंके कारण ही उत्पन्न होता है । ऐसे पुरुष जो बोलते हैं वैसा जनता करती है, यह उनकी सत्पत्ताका फल है । हरएक मनुष्यको यह सामर्थ्य प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिये । अपने संकल्पोंकी पवित्रता करनेसे ही यह बात सिद्ध हो जाती है । जो अपनी पवित्रता जितनी करेगा उतनी सिद्धि उसको प्राप्त होगी । इसके पश्चात् वह पुण्यात्मा कह सकेगा कि—

मम चित्तं चित्तेभिः अनु पत ।

मम यातं अनु चरमानं पत ॥ ( सू. ८, मं. ६ )

‘ मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंकी बनाओ, मेरे अनुकूल चलते हुए मेरे मार्गसे चलो । ’

परन्तु जो पुण्यात्मा सत्य मार्गपर चलके अपने शुभ संकल्पोंसे जनताके मनोको आकर्षित करते हैं उनके लिये यह सिद्धि अनायास ही प्राप्त होती है । अर्थात् उनके कहनेके बिना ही अन्य लोग उनके अनुकूल अपने चित्तोंकी करते हैं और उनके मार्गसे ही चलनेका यत्न करते हैं । यह सत्य होता रहता है । परन्तु जनताको ‘ अपने मार्गसे चलो ’ ऐसा कहनेका यदि

किसीको अधिकार होगा तो ऐसे पुण्यात्माओंको ही होता है, यह बात यहाँ कही है । इस प्रकार अपना सुधार करनेवाले पुण्यात्मा जनताके मार्गदर्शक होते हैं । जगत्का सुधार करनेका सच्चा मार्ग इस प्रकार आत्मसुधारमें ही है । इसलिये जो प्रयत्न अयोग्य पुरुष जनताके सुधारके लिये करते हैं, उतना प्रयत्न यदि वे आत्मसुधारके लिये करेंगे तो अधिक मत्वा हो सकता है । जो शक्ति आती है वह आत्मसुधार करनेके कारण ही आती है । आत्मसुधार करनेके मार्गके बिना सच्चे सुधारका कोई मार्ग नहीं है । जब इस मार्गसे शक्तिकी वृद्धि होती है और जब वह अपने मनसे दूसरोंके मनोको आकर्षित कर सकता है, तभी उसको जनताके ‘ अपने पीछे चलो ’ ऐसा कहनेका अधिकार आता है । वह कहता है कि—

‘ मेरे मार्गसे मेरे साथ साथ चलो । मेरे चित्तके अनुकूल अपने चित्तोंकी बनाकर चलो ( म. ६ ) । ’ अर्थात् जिस मार्गसे मैं जाता हू उसी मार्गसे तुम आओ । इसी मार्गसे चलनेपर तुम्हारा मत्वा होगा । इस प्रकार इस अवस्थामें यह मनुष्य जनताका मार्गदर्शक होता है । उसका आचरण और उसका जीवन अन्य जनोके लिये मार्गदर्शक अर्थात् आदर्श होता है ।

## संवेद्य राष्ट्र ।

उक्त प्रकारके मार्गदर्शक आदर्श जीवनवाले धर्मात्मा और पुण्यात्मा जिस राष्ट्रमें अधिक होते हैं और जहाँके लोग उनके अनुकूल अपने आचरण बनाकर चलते हैं, उस राष्ट्रको ‘ संवेद्य राष्ट्र ’ कहते हैं, क्योंकि उसमें ( संवेदन ) प्रवेश करके वहाँ रहने योग्य वह राष्ट्र होता है । मनुष्य वहाँ जाय और रहें और आनन्द प्राप्त करें । इस प्रकारका राष्ट्र हमें देवताओंकी कृपासे प्राप्त हो यह प्रथम मंत्रमें प्रार्थना है, देखिये—

अस्मभ्यं चूडद्वाष्टं संवेद्यं दधातु ।

( सू. ८, मं. १ )

‘ हम सबके लिये देव प्रवेश करने योग्य बड़ा राष्ट्र दें । ’ अर्थात् देवोंकी कृपासे हमें ऐसा उत्तम आदर्श राष्ट्र प्राप्त होवे अथवा हमारा राष्ट्र वैसा ही बने । इस प्रकारके राष्ट्रमें ‘ मैं प्रमुख बनूँगा ’ यह महत्त्वाकांक्षा जनताके अन्तःकरणमें रहेगी, क्योंकि इसमें किसी कारण भी किसीका हाथ पड़पात नहीं होगा, इसका सूचक वाक्य द्वितीय मंत्रमें है—

यथा सज्जितानां मध्यमेष्टा अस्मानि ।

( सू. ८, मं. २ )

‘ सज्जितोंकी समामें मुख्य स्थानमें बैठनेके योग्य मैं होऊँगा । ’ यह इच्छा ऐसे राष्ट्रके लोगोंके अन्तःकरणमें रहेगी,

इस विषयमें विशेष कहनेकी आवश्यकता नहीं है । जो पूर्वोक्त आरम्भसुधारके मार्गसे अपनी शक्ति का विकास करेंगे वे उक्त स्थानमें जाकर विराजेंगे, अन्य लोग अपनी अपनी योग्यताके अनुसार अपने योग्य स्थानमें अपना कर्तव्य करेंगे । परन्तु किसीको भी उन्नतिके मार्गमें प्रतिबंध नहीं होगा । सब लोग अपने पुरुषार्थसे अपनी उन्नतिका साधन करेंगे और सब मिलकर अपने राष्ट्रको उन्नतिके शिखरपर ले जायेंगे । इस विषयमें एक प्रकारकी सार्वत्रिक स्पर्धा ही होती है जिसको तृतीय मंत्रने ' उत्तरत्यक्ती स्पर्धा ' कहा है । इस स्पर्धामें परस्परका घात नहीं होता प्रत्युत परस्परकी उन्नति होती है । सब जनताके मनुष्य एक भावसे इस राष्ट्रीयताका अग्नि प्रदीप्त करते हैं और उसमें अपने अपने कर्मोंकी आहुति या डालते हैं, इस विषयमें तृतीय मंत्रका उत्तरार्ध देखिये—

### राष्ट्रीय अग्नि ।

अयमग्निर्दीदायदीर्घमेव सजातैरिन्द्रोऽप्रतिमुद्यद्भिः ।  
( सू. ८, मं. ३ )

( अ-प्रति-मुद्यद्भिः ) आपसमें विरोधका भावण न करनेवाले ( स-जाते ) सजातियोंके द्वारा प्रदीप्त किया हुआ यह एक राष्ट्रीयताका अग्नि बहुत दीर्घकालतक प्रदीप्त स्थितिमें रहे । अर्थात् यह बीचमें अथवा अल्पकालमें ही न गुप्त जाने । क्योंकि इसी अग्निको गर्मासे सब राष्ट्रीय मनीषण सफल और सुफल होते रहते हैं । इसलिये यह राष्ट्रीय अग्नि सदा प्रदीप्त रहना चाहिये । यह अग्नि वे ही मनुष्य प्रचलित रख सकते हैं कि जो ( अ-प्रति-मुद्यद् ) आपसमें विरोधके शब्द नहीं बोलते, आपसमें झगडा नहीं करते, आपसमें द्वेष नहीं बढ़ाते; प्रत्युत आपसमें मेल मिलाप करनेकी ही भावा बोलते हैं । ऐसे सज्जन ही राष्ट्रीयताके महान् अग्निका चयन करते हैं ।

इस सूक्तमें ' सजात ' शब्द आया है और यह शब्द वेद-मंत्रोंमें अनेक बार आया है । ' सजातीय, समान जातीय, स्वजातीय ' इत्यादि अर्थमें यह शब्द प्रयुक्त होता है । जिनमें जातिभेदकी भिन्नता नहीं है ऐसे एक जातिवाले, एक राष्ट्रीयतावाले लोग, यह अर्थ इस शब्दका है । जातिभेदके कारण एक दूसरेसे लड़नेवाले लोग ' सजात ' नहीं कहलायेंगे । एक राष्ट्रके लोग परस्पर ' सजात ' ही होते हैं, परन्तु उनमें राष्ट्रीयताकी भावना प्रबल रहनी चाहिये और छोटी जातपातकी भावना गौण होनी चाहिये । ऐसे लोग जब आपसमें एकताके प्रेमसे कोई कार्य करते हैं तब उनमें एक विलक्षण शक्ति उत्पन्न होती है, वही अग्नि शब्द द्वारा राष्ट्रीय मंत्रमें बड़ी है । वही

राष्ट्रभक्तिका अग्नि है जो कि संपूर्ण राष्ट्रकी उन्नतिमें सहायक होता है ।

### राष्ट्रका पोषक ।

इस प्रकारके राष्ट्रके सब पोषक दोही लोग होते हैं, उनका वर्णन चतुर्थ मंत्र द्वारा हुआ है—

इयों गोपा पुष्टपतिर्व आजत् । ( सू. ८, मं. ४ )

( इयः ) अन्नका उत्पन्न करनेवाला और ( गो-पा ) गौओंकी रक्षा करनेवाला ये दो आप लोगोंकी पुष्टि करनेवाले हैं । ' यह मंत्रभाग बहुत मनन करने योग्य है । अन्नकी उत्पत्ति करनेवाला किसान और गौओंकी रक्षा करनेवाला गवालिया ये दो वर्ग राष्ट्रकी पुष्टिके लिये आवश्यक हैं । राष्ट्रकी बुनियाद ठीक करनेका कार्य ये लोग करते हैं, इसलिये राज्यशासनमें इनकी स्थिति अच्छी करनेका विशेष प्रबंध होना अत्यंत आवश्यक है । यदि अन्न उत्पन्न करनेवाले किसान और गोरक्षक ये दो वर्ग राष्ट्रमें अवनत हुए तो राष्ट्रकी कदापि पुष्टि नहीं हो सकती । पाठक इस दृष्टिसे इनका महत्त्व जानें और यह उपदेश इस प्रसंगमें देनेमें वेदने कितनी महत्त्वपूर्ण बात कही है यह भी स्मरण रखें ।

### शूरपुत्रोंवाली माता ।

राष्ट्रकी बुनियाद ' धैर्य ' है । पुत्र और पुत्रियाँ ही राष्ट्रका सारा उत्कर्ष या अथर्व करनेवाली होती हैं । इनकी सच्ची शिक्षा माताके द्वारा होती है । माता अपने बालबच्चोंको किस प्रकार शिक्षा देवे इसकी सूचना द्वितीय मंत्रमें दी है । इस विषयके सूचक शब्द ये हैं—

शूरपुत्रो अदितिर्देवीं हवे । ( सू. ८, मं. २ )

' शूर पुत्रोंकी अदीना देवी माताको मैं बुलाता हूँ । ' अथवा उनको मैं प्रशंसा करता हूँ । यहाँका ' अ-दिति ' शब्द ' अदीन ' प्रतिबंधमें न रहनेवाली, राष्ट्रके स्वाधीनताके विचार रखनेवाली, इत्यादि भाव रखता है । ' शूरपुत्रा ' शब्दका भाव स्पष्ट है । राष्ट्रमें देवियाँ ऐसी हों जिनको अदीन और वीरपुत्रा कहा जावे । ' वीरपूर्वम् ' अर्थात् वीर पुत्र उत्पन्न कर यह वैदिक आशीर्वाद सुप्रसिद्ध है । वही बात अन्य रीतिसे यहाँ बताई है ।

### राष्ट्रीय शिक्षा ।

इस प्रकारकी वीरमाताएं जहाँ होंगी वहाँ ही राष्ट्रीयताके भाव परम उत्कर्षतक पहुँच सकते हैं । देवियोंको, बहनोंको और पुत्रियोंको किस ढंगसे शिक्षा देना चाहिये इसका विचार भी यहाँ मिश्रित हो जाता है । जिस शिक्षासे माताएं वीरपुत्र उत्पन्न करनेवाली हों ऐसी शिक्षा उनको देनी चाहिये ।

## देवी सहायता । .

उक्त राष्ट्रीयताके विचारोंकी पूर्णता होकर सपूर्ण जनता इस रीतिसे समर्थ राष्ट्राधिकारें युक्त होवे, इस विषयमें बहुतों भ्रम देखिये—

अस्य कामायोप कामिनीर्विभ्ये यो देवा उप-  
सन्तु ॥ ( सू. ८, म. ४ )

‘सब देव इस कामनाका पूर्तिकी इच्छा करनेवाली तुम सब प्रजाओंको एकताके विचारसे युक्त करें ।’ अर्थात् तुम सब लोगोंमें एकताका विचार बढ जावे । यह एक प्रकारसे पूर्ण और सच्च आशीर्वाद है । जो पाठक परमेश्वर भक्तिपूर्वक राष्ट्राधिकारिके

लिये प्रयत्नशील होंगे वे ही इस आशीर्वादको प्राप्त करनेके अधिकारी हो सकते हैं ।

**आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक ।**

इस सूक्तके अन्य मन्त्रभागमें ‘मित्र, वरुणादि देवोंकी सहायता हमें राष्ट्रशक्ति बढानेके कार्यमें प्राप्त हो’ यह आशय है । यह आशय आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक कार्यक्षेत्रमें देखकर अर्थबोध लेनेकी रीति इससे पूर्व कई प्रयोगोंमें वर्णन की है । ( विशेषकर काण्ड १, मू. ३०, ३१ के विवरण देखिये ) इसलिये समझा यहा पुन विचार करनेकी आवश्यकता नहीं है । उक्त दृष्टिसे पाठक इस सूक्तका अधिक विचार करें और बोध प्राप्त करें ।

## केश-प्रतिबन्धक उपाय ।

( १ )

( ऋषिः - यामदेवः । देवता - याचापृथिवी, देवाः )

कुशफंस्य विशफंस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।

यथाभिचक्र देवास्तथाप कृणुता पुनः

॥ १ ॥

अश्रेष्माणो अधारयन्तथा तन्मनुना कृतम् ।

कृणोमि वधि विष्कन्धं मुष्काबर्हो गवामिव

॥ २ ॥

अर्थ— ( कुश+फंस्य = कुशस्य ) कुश अथवा निर्बलका अथवा उसी प्रकार ( विश+फंस्य ) प्रबलकी भा ( माता पृथिवी ) माता पृथ्वी है और उनका ( पिता द्यौः ) पिता सुलोक है । हे ( देवा ) देवा ! ( यथा अभिचक्र ) जैसा पराक्रम किया या ( तथा पुनः अपकृणुत ) उसी प्रकार फिर शत्रुओंका प्रतिकार करो ॥ १ ॥

जैसे ( अ-श्रेष्माणः अधारयन् ) न सक्नेवाले ही किसीका धारण करते रहते हैं ( तथा तत् मनुना कृतम् ) उसी प्रकार वह कार्य मननशीलने भी किया होता है । ( मुष्काबर्हः गवामिव ) जैसा अण्डकोश तोड़नेवाला मनुष्य बैलोंको निर्बल कर देता है उसी प्रकार मैं ( वि-स्कन्धं वधि कृणोमि ) रोषादि विघ्नका निर्बल करता हू ॥ २ ॥

भावार्थ— बलवान् और निर्बल इन दोनोंके माता-पिता भूमि और सुलोक हैं । अर्थात् ये दोनों प्रकारके लोग आपसमें भाई हैं । देवता लोग पराक्रम करके शत्रुका पराभव करते हैं, शत्रुका हरा देते हैं और निर्बलोंका संरक्षण करते हैं ॥ १ ॥

न यकते हुए परिश्रम करनेवाले ही विशेष कार्य करनेमें समर्थ होते हैं । मननशील मनुष्य या बैना ही उपर्याप्य करते हैं । मैं भी उसी प्रकार शत्रुको तथा विघ्नोंको निर्बल करता हू, जिस प्रकार अण्डकोश तोड़नेवाले बैलका अण्डकोश ताड़कर उसको निर्वाय कर देते हैं ॥ २ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।

श्रवस्यं शुष्मं कावचं वध्नि कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

येनां श्रवस्यवध्नेरथ देवा ईवासुरमायया ।

शुनां कपिरिव दूषणो बन्धुरा कावचस्य च ॥ ४ ॥

दुष्टयै हि त्वा भस्त्र्यामि दूषयिष्यामि कावचम् ।

उदाश्वो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

एकशतं विष्कन्धानि विष्टिता पृथिवीमनु ।

तेषां त्वामग्नु उज्जहर्मुनिं विष्कन्धदूषणम् ॥ ६ ॥

अर्थ—(वेधसः) श्वानी लोग (पिशङ्गे सूत्रे) भूरे रंगके सूत्रमें (तत् खृगलं आवध्नन्ति) उस मणिको बाँधते हैं । (बन्धुरः) बधन करनेवाले (श्रवस्यं शुष्मं कावचं) प्रतिद्ध प्रबल शोषक रोगको (वध्नि कृण्वन्तु) निर्बल करे ॥ ३ ॥

हे (श्रवस्पवः) वशस्वी पुरुषो ! (येन) जिससे (असुरमायया देवाः इव चरथ) जीवन दाताही कुशलतासे मुक्त देवोंके समान आचरण करते हो तथा (कपिः शुनां दूषणः इव) बंदर जैसा कुत्तोंको मुच्छ मानता है वैसे (बन्धुरा कावचस्य च) बंधन करनेवाले रोगका अथवा दुःखका प्रतिबंध करते हैं ॥ ४ ॥

(दुष्टयै हि त्वा भस्त्र्यामि) दुष्टताके इटानेके लिये मैं तुझे बाधूँगा । और (कावचं दूषयिष्यामि) विश्वको निर्बल बना दूँगा । (आश्वः रथाः इव) शीघ्र चलनेवाले रथोंके समान तुम (शपथेभिः उत् सरिष्यथ) शपथोंके बंधनसे दूर हो जाओगे ॥ ५ ॥

(एकशतं विष्कन्धानि) एक सौ एक विघ्न (पृथिवीं अनु विष्टिता) पृथ्वीपर रहे हैं । (तेषां अग्ने) उनके सामने (विष्कन्धदूषणं त्वां मणिं) कठनासक दुष्ट मणिको (उत् उज्जहः) ऊँचा उठाया है । सबमें बड़ेकर माना है ॥ ६ ॥

भावार्थ—भूरे रंगके सूत्रसे श्वानी लोग मणिको बाँधते हैं जिससे प्रतिद्ध शोषक रोगको निर्बल बना देते हैं ॥ ३ ॥

यशस्वी पुरुष जीवनके देवी मार्गसे जाते हैं और मनुष्यको दूर करते हैं, बंदर वृक्षपर रहता हुआ कुत्तोंको मुच्छ मानता है, इसी प्रकार रोग प्रतिबंधकी विद्या जाननेवाले रोगको दूर करते हैं ॥ ४ ॥

दुष्ट स्थितिको दूर करनेके लिये योग्य प्रतिबंध करना चाहिये, उसी प्रकार रोगादि विघ्नोंको निर्बल करना चाहिये । जैसे बंधवाले रथसे मनुष्य पशुचनेके स्थानपर शीघ्र पहुँच जाता है, उसी प्रकार उक्त मार्गसे मनुष्यदुष्ट अवस्थासे मुक्त हो जाता है ॥ ५ ॥

पृथ्वीपर एकको विघ्न और दुःख है । उनके प्रतिबंधक उपायोंमें अग्निप्रतिबंधक मणि विशेष प्रभावशाली है जिसकी धारण किया जाता है ॥ ६ ॥

यदि एक समझनेके लिये बड़ा कठिन और अत्यंत दुर्बोध है । इस सूत्रके 'कपि', विशक, खृगल, वायव' ये शब्द अत्यंत दुर्बोध हैं और बहुत प्रयत्न करनेपर भी इन शब्दोंका समाधानकारक अर्थ दण समयतक पता नहीं लगता । जो पाठक वेदके अर्थकी खोज कर रहे हैं वे इस शिवकी खोज अवश्य करें ।

सचके माता पिता ।

प्रथम मंत्रके प्रथमार्धमें एक महत्त्वपूर्ण बात कही है वह सबके बंधुभाष्यकी बात है ।

कशोकस्य विशफस्य चोः पिता पृथिवी माता ।  
(सू. १, मं. १)

जगतमें दो प्रकारके मनुष्य हैं, एक ( कर्श+फ = कृश ) अशक्त बलहीन अथवा जगतकी स्पृधामि ( कर्+श+फ ) घुरे खुरवाले अर्थात् जो अपना बचाव कर नहीं सकते, और दूसरे ( विश+फ ) अपने आपका प्रवेश दूर दूरकर कर सकते हैं और दूसरोंका पराजय करके अपना अधिकार दूसरोंपर जमा देते हैं । इसी शब्दका दूसरा अर्थ यह है कि ( विन्+शफ ) विशेष खुरवाले अर्थात् जो पशु दूसरोंको लाथें मारनेमें समर्थ होते हैं । ' विशफ ' के दोनों अर्थोंमें समान भाव यह है कि ' पाशवी शक्तिसे युक्त । '

### विश्वबन्धुत्व ।

जगतमें ये दो प्रकारके लोग हैं, एक ( विन्+शफ ) पाशवी शक्तिसे युक्त और दूसरे ( कर्श+फ ) पाशवी शक्तिसे हीन । सदा ही ऐसा देखा जाता है कि पाशवी शक्तिसे यकी बने हुए लाख निर्बल लोगोंसे दबते रहते हैं । इस कारण सामाजिक, राजकीय और धार्मिक विषयमा बढ जाती है और वसी प्रमाणसे जनताके क्लेश बढते जाते हैं । इन क्लेशोंके निवारणका एक मात्र उपाय यह है कि ' सब लोग परस्पर भाई हैं और एक परम पिता और एक परम माताकी सत्तामें हैं ' इस उच्च भावको जाग्रत करना । यदि निर्बल और सबल दोनों मानेंगे कि ' हम सबका परम पिता और परम माता एक ही है, इसलिये हम सबमनुष्य आपसमें भाई भाई हैं ' तो पश्चात् एक दूसरेसे झगडा करनेका कारण ही नहीं रहेगा । क्योंकि जो झगडा होता है वह परकीयताके भावसे होता है, वह परकीय भाव इस प्रकार दृष्ट गय। तो झगडा ही नहीं रहेगा । सामाजिक, राजकीय और धार्मिक झगडे इष्टानेका पदला उपाय वेदने यह बताया है ।

मातृभूमिकी अपनी माता मानना और सूर्य, सुलोक अथवा प्रकाशमय देवको अपना पिता समझना, यह झगडा मिटानेके लिये उत्तम उपाय है । मातृभूमिकी भक्ति यदि जनताके मनमें जाग्रत हो गई तो उन सबकी एकता होनेमें मिलब नहीं लेगेगा । मातृभूमिकी भक्ति ही एसी एक वस्तु है कि जो राष्ट्रीय एकताको विकसित कर देता है और सममें अद्भुत सामर्थ्य उत्पन्न कर देता है । मातृभूमिकी भक्तिमें विशिष्टतः स्वदेशप्रेम ही आता है परन्तु भूमिमाताका विस्तृत अर्थ केनेपर विश्वबन्धुत्वकी कल्पना भी आती है ।

### पराक्रम ।

मातृभूमिका हित करनेका उद्देश्य अपने समुच्च रक्षक, उस सर्वपथमें उत्पन्न होनेवाले अपने कर्तव्य करनेके लिये और उस उच्च कार्यके लिये आवश्यक साधन करनेके लिये मनुष्योंको

६ ( अथर्व. भाष्य, काण्ड ३ )

सिद्ध रहना चाहिये । जिस प्रकार देवासुर युद्धमें देव असुरोंको हटानेके कार्यमें बडा पराक्रम करते हैं, असुरोंपर आक्रमण करते हुए उनको हटा देते हैं, उसी प्रकार शत्रुओंको हटानेके कार्यमें बडा पुष्टार्थ करना चाहिये । शत्रुका पराभव करना और उनको दूर करना ये दो बातें इस पुष्टार्थमें मुख्य हैं—

यथाऽभिचक्र देवास्तथाऽप कृणुता पुनः ॥

( सू. ९, म. १ )

' जैसा ( अभिचक्र ) शत्रुपर हमला करना चाहिये वैसा ही ( अपकृणुता ) उनको दूर करना चाहिये । ' हमला करके शत्रुका पराभव करना चाहिये और उनका अपने स्थानसे परे भी हटाना चाहिये । इतना सब करके अशक्तोंका रक्षण करना चाहिये ।

यह सब होनेके लिये, सब लोगोंका बहुपक्ष व परामारमाके सबका माता पिता मानना, इन दो बातोंकी आवश्यकता है । पाठक इस अतिश्रेष्ठ उपदेशका अच्छी प्रकार मनन करें ।

### परिश्रमसे सिद्धि ।

परिश्रम करनेके बिना कुछ भी सिद्धि प्राप्त नहीं होती है । जो सिद्धि हाती है वह प्रयत्नसे साध्य होती है । जो भी विजयी लोग हुए हैं वे यथावदसे प्रयत्न नहीं करते थे । वे परिश्रम करनेके लिये करते नहीं थे, इसीलिये उनमें धारक शक्ति उत्पन्न हुई और वे जातियों, समाजों और राष्ट्योंका धारण कर सके । इसीलिये भूमिमें कहा है—

अध्रेष्माणो अधारयन्

तथा तममुना कृतम् ॥ ( सू. ९, म. २ )

' जो परिश्रम करनेसे नहीं थकते वेही धारण करते हैं । मननशीलने भी वैसा ही कर लिया था । ' परिश्रम करनेके बिना धारक शक्ति नहीं आ सकती । और जो मननशील लोग हैं वे भी अपनी मनन शक्तिसे इसी परिणामतक पहुँचे हैं । प्रयत्नशीलता ही मनुष्य जातिका उद्धार करनेवाली है । इस लिये हरएक मनुष्यको प्रयत्नशीलताका महत्त्व जानकर पुष्टार्थ प्रयत्नसे अपना उद्धार करना चाहिये और अपने राष्ट्राका भी अभ्युदय साधन करना चाहिये ।

परिश्रमी पुष्ट्य अपने प्रयत्नसे सब विघ्न दूर कर सकता है, उसके लिये सब ही अवस्थाएँ प्रयत्न साध्य होती हैं, उसके लिये अशक्त्य और अप्राप्य ऐसा कोई स्थान नहीं होता है, वह निश्चयपूर्वक कहता है कि—

कृणोमि चात्रि विष्कन्धं मुक्तायहो गवामिव ।

( सू. ९, म. २ )

‘मै निश्चयसे विप्रको निर्बल करता हूँ जिस प्रकार अण्ड-कोशको तोड़नेवाले लोग बैलोंको निश्चयसे विवर्धित करते हैं।’ पुरुषार्थ प्रयत्नसे सब विघ्न, सब प्रतिबंध, सब आधिभ्याधियोंके कष्ट दूर हो सकते हैं। पुरुषार्थ प्रयत्नसे सम्मुख ये विघ्न ठहर ही नहीं सकते।

यद्वा बैलोंके अण्डकोश तोड़कर उनको प्रजननके कार्यके लिये असमर्थ बनानेकी विद्याकी सूचना है। खेतीके लिये इसी प्रकारके बैलोंका उपयोग होता है।

### अमुर-माया ।

‘अमुरमाया’ का विषय चतुर्थे मन्त्रमें आया है। ‘माया’ शब्दका अर्थ ‘कौशल्य, हुनर, कला, प्रवीणताका कर्म’ है। ‘अमुर’ शब्दका अर्थ ‘(अ-मुर) दैत्य अथवा (अमुर-र) जीवनकी विद्या जाननेवाले और उस विद्याका प्रकाश करनेवाले’ है। इसलिये ‘अमुर-माया’ का अर्थ ‘अमुरोंके पासका कला-कौशल, हुनर अथवा जीवनके साधन प्राप्त करनेकी विद्या’ है। यह अमुर माया अपनी अपनी वैयक्तिक देवोंके पास भी रहती है और दैत्योंके पास भी होती है। देव सम्पूर्ण प्रकारका यह विद्या प्राप्त करते हैं और अपनी उन्नति सिद्ध करते हैं और श्रेष्ठत्व प्राप्त करते हैं, इस विषयमें कहा है—

अमुरमाया देवा इव ध्रुवस्य चरथ ।

(सू. १, म. ४)

‘जगत् जीवनकी विद्यासे जैसे देव चलते हैं, वैसे तुम भी यशस्वी और प्रशंसित होकर चलो।’ देव जैसे इस जीवन विद्यासे यशस्वी होते हैं वैसे ही तुम भी होओ। यह चतुर्थे मन्त्रका कथन मनुष्योंका पुरुषार्थके मार्गपर चलानेके लिये ही है। जो मनुष्य इस मार्गसे चलेंगे, वे देवोंके समान पृथिवी पर होंगे और यशसे भी मार्ग धरेंगे।

### सैरुटों विघ्न ।

इस पृथ्वीपर विघ्न तो सैरुटों हैं, यवज, यमाज, जाती और रात्रौ उभनिये सैरुटों विघ्नके विघ्न होते हैं। जो भी पुरुषार्थ करनेवाला कार्य बना हो, उभनिये विघ्न तो अवश्य ही होंगे, परंतु उभन करना नहीं चाहिये। इन विघ्नोंके विषयमें कहा है—

एवदासं विप्रबन्धानि पिष्टिमा पृथिव्यामनु ।

(सू. १, मं. ५)

‘सैरुटों विघ्न पृथ्वीपर हैं।’ जब ये विघ्न हैं और हर एक कार्यमें ये रहेंगे ही तब उभन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं

है। उनको प्रतिबंध करते हुए भागे रहना चाहिये। भागे बढ़नेके लिये अपना वेग बढ़ाना चाहिये—

आशयो रथा इव शपथेभिः उत् सरिन्धय ।

(सू. १, मं. ५)

‘श्रीधर्मामी रथ जैसे शीघ्र भागे बढ़ते हैं उसी प्रकार पुरुषार्थ प्रयत्न करनेसे तुम भी विघ्नोंको पीछे धाककर भागे बढ़ जाओगे।’ अपना वेग बढ़ानेसे विघ्न पीछे हटते हैं, परंतु जो अपना वेग कम करते हैं, वे विघ्नोंसे प्रसक्त होते हैं। इसलिये अपनी पुरुषार्थ शक्ति बढ़ानेसे मनुष्य विघ्नोंको परास्त करके विजयका मार्ग सुचारु सकते हैं। इस विषयके उदाहरण देखिये—

जुनां दूषणः कपिः इय । (सू. १, म. ४)

‘जुनोंका तिरस्कार करनेवाला बंदर जैसा होता है।’ बंदर वृक्षपर रहते हैं इसलिये वे जुनोंकी पनाह नहीं करते। वे जुनोंको वृक्ष समझते हैं क्योंकि वे जुनोंकी अपेक्षा बहुत ऊंचे स्थानपर रहते हैं, अतः जुने उन बंदरोंकी कोई विचार नहीं सकते। इसी प्रकार जिन स्थानोंमें विघ्न होते हैं उन स्थानोंको छोड़कर उनसे ऊंचे स्थानोंमें रहनेसे कोई विघ्न, कष्ट नहीं दे सकते। जैसे बंदर वृक्षपर रहनेके कारण जुनोंके कष्टोंसे बचे रहते हैं, इसी प्रकार हर एक विप्रस मनुष्य अपने आपको बचावे। विप्रस जो स्थान होगा उच्चसे अपने स्थान ऊंचा करनेसे मनुष्य उनसे दूर रह सकता है। इसी विषयके सूक्त निम्न लिखित मंत्र हैं—

अयस्युं क्षुप्ते काययं यधिं छण्वन्तु यन्धुरा ॥

(सू. १, म. १)

काययस्य च यन्धुराः ॥ (सू. १, म. ४)

(सू. १, म. ५)

काययं दूययिष्यामि ॥

‘विप्रोंका प्रतिबंध करनेवाले लोग प्रविष्ट होकर विप्रोंका निर्बल करें। विप्रस प्रतिबंध करें। मैं विप्रोंको परास्त करूंगा।’

ये सब विधान विप्रोंका प्रतिबंध करनेके सूक्त हैं। विप्रोंको परास्त करना अथवा विप्रोंको दूर करना यह मनुष्यका ध्येय है और इसके लिये उद्योग पूर्व दिखे ही है। धार्मिक भाषितोंके अपने आपका बचाव करनेके लिये मणि धारणका उपाय इसके पूर्व बड़े सूत्रोंमें कहा गया है। (देखो काण्ड १, सूक्त ४) इस प्रकारके मणि धारणसे रोगोंका प्रतिबंध हो जाता है इससे मणि धारणकी सूचना देनेके लिये इस सूक्तमें निम्नलिखित मंत्र मंत्र हैं—

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा यधन्ति चेधसः ।

( सू १, मं १ )

दुष्टपै द्वित्वा भत्स्यामि ।

( सू १, मं. ५ )

तेषां त्वामम उज्जदस्मणि विष्कन्ध-दूषणम् ॥

( सू १, मं. ६ )

‘भूरे रंगवाने सूत्रमें ज्ञानी लोग इस मणिको बांधते हैं ।

दुरवस्था हटानेके लिये तुम बाधुंगा । मणिको बिछोका निर्वन्त करनेवाला सबसे मुख्य उपाय मानकर ऊपर उठाते और धारण करते हैं ।’

इन मंत्र भागोंसे स्पष्ट होजाता है कि व्यक्तिके शारीरिक रोगरूपी आधिभ्याधियोंको हटानेके लिये यह मन्त्रधारण एक उत्तम उपाय है । सामाजिक और राष्ट्रीय विघ्नोंको दूर करनेके लिये विघ्नबंधुत्तकी कल्पनाका फैलाव करनेका उपाय प्रमुख स्थान रखता है । तथा अन्यान्य संपूर्ण विघ्नोंको हटानेके लिये परिश्रम करने अर्थात् पुरुषार्थ करनेकी शक्ति मनुष्यमें पर्याप्त है । इस सूक्तका अच्छा मनन पाठक करेंगे तो उनके अपनी उन्नतिको मार्ग विस्मरहित करनेका उपाय निःसंदेह प्राप्त हो सकता है ।

## कालका यज्ञ ।

( १० )

( ऋषिः — अथर्वा । देवता — एकाएका, नानादेवता )

प्रथमा ह च्युवांसु सा धेनुरंभवद्यमे ।

॥ १ ॥

सा नः पर्यस्वती दुहामृशंसामुचरां समां

यां देवाः प्रतिनन्दन्ति रात्रिं धेनुर्मपायतीम् ।

॥ २ ॥

संवत्सरस्य या पत्नी सा नो अस्तु सुमङ्गली

संवत्सरस्य प्रतिमां यां त्वां रात्र्युपासहे ।

॥ ३ ॥

सा न आयुर्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं संज

अर्थ—( प्रथमा ह च्युवांसु ) पदनी उषाकी बेल उदयको प्राप्त हुई । ( सा यमे धेनुः अभवत् ) वह नियममें घेतु जैसी हुई । ( सा पर्यस्वती ) वह दूध देनेवाली घेतु ( नः उत्तरां उत्तरां समां दुहां ) हमारे लिये उत्तरी-तार अर्वादि आनेवाली वर्षोंमें दूध देती रहे ॥ १ ॥

( देवाः ) देव ( यां उपायतीं रात्रिं घेतु ) जिस आनेवाली रात्री कृपी घेतुको देखकर ( प्रतिनन्दन्ति ) आनन्दित होते हैं । ( या संवत्सरस्य पत्नी ) जो संवत्सरकी पत्नीरूप है ( सा नः सुमङ्गली अस्तु ) वह हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली होवे ॥ २ ॥

हे ( रात्रि ) रात्री ! ( यां रवा ) जिस तुझको ( संवत्सरस्य प्रतिमां ) संवत्सरकी प्रतिमा मानकर ( उपासहे ) हम सब भजते हैं, ( सा नः आयुर्मतीं प्रजां ) वह हमारी दीर्घ आयुवासी प्रजाको ( रायः पोषेण संसृज ) धनकी पुष्टिसे संयुक्त कर ॥ ३ ॥

भावाार्थ— पदनी उषा उदयको प्राप्त हुई है । जो सुनियमोंका पालन करता है उसके लिये यह बेल कामघेतु जैसी अमृत रस देनेवाली बनती है । इसलिये यह बेल हमारी अधिभ्याको आयुमें हर्ष की अमृत रस देनेवाली बने ॥ १ ॥

प्राप्त होनेवाली इस रात्री कृपी कामघेतुको देखकर देव आनन्दित होते हैं । यह संवत्सरकी पत्नी कृपी बेल हमारे लिये उत्तम मंगल करनेवाली बनो ॥ २ ॥

संवत्सरकी प्रतिमा रूप यह रात्री है, इसकी उपासना हम करते हैं, इसलिये यह हमारे संतानोंको दीर्घ आयु, धन और पुष्टि देवे ॥ ३ ॥



इयमेव सा या प्रथमा व्योच्छदास्त्रिरासु चरति प्रविष्टा ।

महान्तो अस्यां महिमानो अन्वर्धूजिगाय नवगजनित्री ॥ ४ ॥

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रतु हविष्कृष्वन्तः परिवत्सरीणम् ।

एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रथीणाम् ॥ ५ ॥

इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय ।

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥

आ मां पुष्टे च पोषे च रात्रिं देवानां सुमतो स्याम ।

पूर्णा दधे परां पतु सुपर्णा पुनरा पत ।

सर्वान्यज्ञान्तसंभुजन्तो नृणां नृणां नृणां नृणां ॥ ७ ॥

अर्थ— ( इयं एव सा ) यही वह है कि ( या प्रथमा व्योच्छत् ) जो पहली प्रगट हुई और जो ( आसु इतरासु प्रविष्टा चरति ) इन इतरों में प्रविष्ट होकर चलती है । ( अस्यां अन्तः महान्तः महिमानः ) इसके अन्दर बड़ी महिमा है । ( नव-गत् वधूः जनित्री जिगाय ) यह नूतन कुलवधू जननी होती हुई विजय करती है ॥ ४ ॥

( परिवत्सरीणं हविः कृष्वन्तः ) सांख्यिक हवनका अन्न बनावेवाले ( वानस्पत्याः ग्रावाणः घोषं अक्रतु ) वनशक्ति के साथ संघर्ष करनेवाले परस्पर शब्द कर रहे हैं । ( एकाष्टके ) एक अष्टका । ( वयं सुप्रजसः सुवीराः ) हम सब उत्तम सन्तानवाले और उत्तम वीरोंवाले तथा ( रथीणाम् पतयः स्याम ) धनके स्वामी होंगे ॥ ५ ॥

( जातवेदः ) उत्पन्न पदार्थोंको जाननेवाले अग्नि ! ( इडायाः घृतवत् सरीसृपं पदं प्रति ) गौ के पीछे पुष्प रखनेवाले स्थान पर प्रति ( हव्या गृभाय ) हव्यको प्रदत्त कर । ( ये ग्राम्याः विश्वरूपाः पशवः ) जो ग्रामीण अनेक रूपवाले पशु हैं ( तेषां सप्तानां रन्तिः मयि अस्तु ) उन प्राणियों की शक्ति मुझमें होवे ॥ ६ ॥

( रात्रिं ) रात्री । ( पुष्टे च पोषे च मा आ भर ) पुष्टि और पोषणके संबंधमें मुझमें भर दे । हम ( देवानां सुमतो स्याम ) देवोंकी सुमतिमें रहें । ( दधे ) चमत् । नृ ( पूर्णा परा पत ) पूर्ण भरी हुई दूर जा और ( सुपर्णा पुनः आपत ) उत्तम पूर्ण होकर पुनः पाव आ । ( सर्वान् संभुजन्तो ) सब यज्ञोंका उत्तम प्रकार से उत्पन्न करती हुई ( नृणां नृणां नृणां नृणां ) हमारे लिये अन्न और यत्न लाकर भर दे ॥ ७ ॥

भाषार्थ— यही बेला वह है कि जो पहले प्रगट हुई थी और जो अन्य बेलाओंके साथ संयुक्त होकर चलती है । हम बेला में अनेक गहरवपूर्ण शक्तियाँ हैं । यह बेला विजय करती है जिन प्रकार नवीन कुलवधू प्रथम सन्तान उत्पन्न करती हुई कुलरायणा बनाती है ॥ ४ ॥

आज मौखिक हवनकी सामग्री बनावेवाले— सोमरस निरालेवाले— पशु और काष्ठयंत्र आग्न कर रहे हैं । ( एकाष्टके ) हम सब उत्तम सन्तान पुष्प और उत्तम वीरोंके पुष्प होकर बहुत धनके स्वामी बने ॥ ५ ॥

( जातवेदः ) नृ गौ के पीछे पुष्प तथा जिनमें गौका पी चूल्हा है वे गौका घासे पूर्ण भिगा हुआ हव्य प्रदत्त कर । जो अनेक रंगवर्णोंके सम्यक् साधन पशु हैं वे मेरे ऊपर प्रेम करते हुए मेरे साथ रहें ॥ ६ ॥

( रात्री ) हमें बहुत पुष्टि और शक्ति दे । देवोंकी संगमयमी मी हमें गहरा देती रहे । ( दधे ) चमत् । नृ पूर्ण पूर्ण होकर आग्न में आहुति देनेके लिये आगे बढ़, और बड़ी-बड़ी देवी-देवताओंके पूर्ण होकर हमारे पास ही लौट आ और हमारे लिये अन्न और यत्न लाकर भर दे ॥ ७ ॥

आयमगन्तसंवत्सरः पतिरिकाष्टके तव ।

सा न आयुष्मती प्रजां रायस्पोषेण सं सृज

॥ ८ ॥

ऋतुर्न्यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।

समाः संवत्सरान्मासान्भूतस्य पतये यजे

॥ ९ ॥

ऋतुर्भ्यष्टार्तवेभ्यो माद्ध्यः संवत्सरेभ्यः ।

धात्रे विधात्रे समुधे भूतस्य पतये यजे

॥ १० ॥

इड्या जुह्वतो वयं देवान्भूतवता यजे ।

गृहानलुभ्यतो वयं सं विशिमोष गोमतः

॥ ११ ॥

एकाष्टका तर्पसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् ।

तेन देवा व्यसिहन्तु शत्रूंन्हुन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः

॥ १२ ॥

अर्थ— हे ( एकाष्टके ) एकाष्टके । ( अय संवत्सरः ) यह संवत्सर ( ते पतिः ) तेरा पति होकर ( अयमगन्तु ) आया है । ( सा ) वह नृ ( नः आयुष्मती प्रजां ) हमारी दीर्घायुवाली प्रजाकी ( रायः पोषेण सं सृज ) धनकी पुष्टिसे युक्त कर ॥ ८ ॥

( मासान् ऋतून् आर्तवान् ऋतुपतीन् ) मास, ऋतु, ऋतुसंबंधी ऋतुपतियोंकी तथा ( उत हायनान् समाः संवत्सरान् यजे ) अयनवर्ष, समवर्ष और संवत्सरकी अर्पण करता हूँ और ( भूतस्य पतये यजे ) भूतके स्वामीके लिये यज्ञ करता हूँ ॥ ९ ॥

( माद्ध्यः ऋतुभ्यः आर्तवेभ्यः संवत्सरेभ्यः ) मद्भिने, ऋतु, ऋतुसे संबंध रखनेवाले तथा वर्ष इन सबके लिये और ( धात्रे, विधात्रे, समुधे ) धाता, विधाता तथा समृद्धिके लिये ( भूतस्य पतये यजे ) भूतके पतिके लिये मैं अर्पण करता हूँ ॥ १० ॥

( इड्या भूतवता जुह्वतः ) गौ द्वारा प्राप्त धीसे युक्त अर्पण द्वारा हवन करनेवाले ( वयं देवान् यजे ) हम सब देवोंका यजन करते हैं । ( अलुभ्यतः गोमतः गृहान् ) विषम न्यूनता नहीं है, जो गौओंसे युक्त है, ऐसे परामे ( वयं उप सं विशेम ) हम प्रवेश करेंगे ॥ ११ ॥

( एकाष्टका तर्पसा तप्यमाना ) यह एक अष्टका तर्पसे तर्पता हुई ( महिमानं इन्द्रं गर्भंजजान् ) बड़े महिमानवाले इन्द्र रूपी गर्भको प्रकट करती रही । ( तेन देवाः शत्रूंन् वि-असिहन्तु ) उससे देवोंने शत्रुओंको और लिया । ( दस्यूनां हुन्ता शचीपतिः अभवत् ) क्योंकि शत्रुओंका नाश करनेवाला शक्तिशाली प्रगट हुआ है ॥ १२ ॥

भावार्थ— हे एकाष्टके । यह संवत्सर तेरा पतिरूप है, उसकी पत्नीरूप नृ हमारे बालबच्चोंके लिये दीर्घ आयुष्य, धन और पुष्टि दे ॥ ८ ॥

मैं अपने दिन, पक्ष, मास, ऋतु, काल, अयन और संवत्सर आदि कालावयवोंकी भूतपति परमेश्वरके यजनके लिये समर्पित करता हूँ अर्थात् अपनी आयुको यज्ञके लिये अर्पण करता हूँ ॥ ९ ॥

मास, ऋतु, [ शीत, उष्ण, वृष्टिसंबंधी तीन ] काल, अयन, संवत्सर आदि मेरी आयुके कालविभागोंकी धाता, विधाता, समृद्धिकर्ता भूतपति परमात्मके लिये अर्थात् यज्ञके लिये समर्पित करता हूँ ॥ १० ॥

गौके धीसे मैं देवोंका यजन करता हूँ और ऐसे यज्ञ करता हुआ मैं अयन परामे प्रवेश करता हूँ । हमारे परामे बहुतसी दूध देनेवाली गौएँ सदा रूँद और हमारे परामे कभी किसी पशुओंकी न्यूनता न हो ॥ ११ ॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितारिं प्रजापतेः ।

कामान्साकं पूरयु प्रति गृह्णाहि नो हविः

॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥ १ ॥

अर्थ— हे ( इन्द्रपुत्रे ) इन्द्र जैसे पुत्रवाली । हे ( सोमपुत्रे ) चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली । तू ( प्रजापतेः दुहिता अस्ति ) तू प्रजापतिकी दुहिता है, ( नः हविः प्रति गृह्णाहि ) हमारा हवि तू स्वीकार कर ( अस्माकं कामान् पूरय ) और हमारी कामनाओंको पूर्ण कर ॥ १३ ॥

भावार्थ— यह एकाष्टका तप करती हुई बड़े प्रभावशाली इन्द्र नामक यमोंको धारण करती है और पश्चात् प्रकट करती है । इस इन्द्रके प्रभावसे शत्रु दूर भाग जाते हैं अथवा पूर्ण परास्त होते हैं । यह शक्तिशाली इन्द्र शत्रुओंका नाशक है ॥ १३ ॥

हे इन्द्रकी जन्म देनेवाली । और हे सोमकी जन्म देनेवाली अष्टके । तू प्रजापतिकी दुहिता है । इस यज्ञमें जो हवि हम अर्पण कर रहे हैं उसका स्वीकार कर और हमारी संपूर्ण इच्छाएं पूर्ण कर ॥ १३ ॥

### कामधेनु ।

काल अर्थात् समय अथवा वेला, वह एक बड़ी शक्तिशाली कामधेनु है । यह किस मनुष्यके लिये कामधेनु होती है और किसके लिये नहीं होती, इस विषयमें प्रथम मंत्रका कथन मनन करने योग्य है—

प्रथमा ह व्युवास, सा धेनुरभवधमे ॥

( सू. १०, मं. १ )

‘ पहली उषा प्रकाशित हुई है, वही नियमोंका पालन करनेवालेके लिये दूध देनेवाली गौ जैसी होती है । ’ उषा ही वेलाकी सबसे प्रथम अवस्था है, इस उषासे कालके आपनका प्रारंभ होता है । यह वेला ‘ यम ’ के लिये ही दूध देनेवाली गोमाता बनती है । यह यम कौन है ? यम यह है—

यम ।

अहिंसासत्यस्तेयमहाचर्यापरिग्रहा यमाः ।

( योगदर्शन )

‘ अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच यम हैं । ’ ये मनुष्यके बालचलनके नियम हैं, इन्हींके साथ ‘ शौच, सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरार्पण ये पांच नियम लगे हैं । ’ इनका पालन करनेवाला अर्थात् इन नियमोंपरनियमोंके अनुसार अपना आचरण करनेवाला ‘ यम ’ कहलाता है । नियमसे चरनेवाला मनुष्य बड़ा प्रभावशाली महात्मा होता है, इसी मनुष्यके लिये यह ‘ समय ’ कामधेनु बनता है । परन्तु अनियमसे स्वयंदास करनेवालेके लिये यह काल

मयानक कालरूप बनता है । इसलिये उन्नति चाहनेवाला मनुष्य उत्तम नियमोंके अनुकूल चले, समयका उपयोग उत्तम रीतिसे करे और अभ्युदय तथा निःश्रेयस प्राप्त करके यशका भागी बने । हरएक मनुष्य चाहता है कि—

सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम ॥

( सू. १०, मं. १ )

‘ वह काल हमारे लिये उपरोत्तरकी आयुमें अमृत रख देनेवाला होवे । ’ यह हरएककी इच्छा रहना स्वाभाविक है, क्योंकि सुख तो हरएकको चाहिये । परन्तु बहुत बड़े लोग कालका उपयोग उत्तम रीतिसे करना जानते हैं और यमनियमोंका उत्तम रीतिसे पालन करनेवाले तो उनसे भी बड़े होते हैं । इसलिये हरएककी इच्छा होते हुए भी बहुतसे मनुष्योंके लिये काल प्रतिवृत्त होता है और जो पूर्वोक्त प्रकार यमनियमोंसे अपने आपका आचरण सुयोग्य बनाते हैं, उनके लिये ही यह अनुकूल होता है । पाठक यह नियम सबसे प्रथम ध्यानमें धारण करें, क्योंकि उन्नतिके लिये यह सबसे प्रथम आवश्यक है ।

उषासे यह काल प्रारंभ होता है, कालका प्रारंभ उषामें है । सब यह जानते हैं कि उषासे दिनका प्रारंभ होता है, इसलिये कई स्थानोंमें उषाको दिनकी माता कहा है । रात्री प्रायः निद्रामें जाती है इसलिये ‘ नियमोंको आचरणमें लाना, कालका योग्य उपयोग करना ’ इत्यादि बातें प्रायः दिनके साथ संबंध रखती हैं । रात्रीका सात आठ घण्टोंका समय निद्रामें जाता है, इसको छोड़कर जो कार्य या समय अवसिष्ट रहता है, उषाका

सदुपयोग अथवा दुरुपयोग मनुष्य करता है और उन्नत या अवनत होता है ।

एक पूर्ण दिनमें 'दिन और रात्री' ये दो विभाग हैं । इसने समयके आठ प्रहर होते हैं । आठ प्रहरोंका नाम 'अष्टक अथवा अष्टका' है, एक पूरे दिनकी यह 'एकाष्टका' है अर्थात् प्रहरोंका समय है । दिनमें चार प्रहर और रात्रीमें चार प्रहर होते हैं, इन सबका मिलकर नाम 'एकाष्टका' है, यही इस सूक्तकी देवता है । दिनके आठ प्रहरोंका उत्तम उपयोग कैसा करना यह बताना इस सूक्तका उद्देश्य स्पष्ट है । प्रत्येक दिनका योग्य उपयोग होता रहा तो सब आयुका उत्तम उपयोग होगा । सब आयुका यज्ञ करना यही तात्पर्य है ।

### अंधकारमयी रात्री ।

दिनमें प्रकाश रहता है इसलिये मनुष्य प्रायः निर्भय रहते हैं । रात्रीमें अन्धकार होनेके कारण मनुष्य भयभीत होते हैं इसलिये प्रकाशमय दिनके सवधमें कुछ कथन करनेकी अपेक्षा अन्धकार पूर्ण रात्रीके विषयमें ही कुछ कहना आवश्यक होता है, यह कार्य द्वितीयके चतुर्थतक तीन मंत्रों द्वारा हुआ है, इन मंत्रोंका आशय यह है—

'देव भयदायिनी अन्धकारमयी रात्रीका भानन्दसे स्वागत करते हैं, क्योंकि यह रात्री सवत्सरकी पत्नी है, वह हम सबके लिये उत्तम मंगल करनेवाली बने ( म २ ) । इस रात्रीकी सवत्सरकी छोटी प्रतिमा मानकर उपका स्वागत करना चाहिये, वह हमें दीर्घायु प्रजा, धन और पुष्टि देवे ( म ३ ) । यह है कि जिसके पहली छपा उदित हो गई थी, यही इतर बेला विभागोंमें प्रविष्ट होकर चमकी है । इस रात्रीमें पत्नी महिमाएँ हैं, यह कीर्ति पुत्रको अन्य देनेवाली कुलवधुके समान यशस्विनी रात्री है ( म ४ ) ।'

यह भाषाई इन तीन मंत्रोंका है । इन मंत्रोंमें रात्रीकी मयानकता दूर करके उसकी मंगलमयता बताया है । जिस रात्रीको साधारण भाग बरानवी मानते हैं, उसीको वह एसी मंगलमयी, अर्थात् महिमाओंस युक्त और कुलवधुके समान भावा सबकी सुख बतलाता है । सृष्टिकी घटनाओंकी ओर देखनेका वह वेदका पवित्र दृष्टिकान है । पाठक इसी दृष्टिकोणसे जगत्की ओर देखें और उसमें परमात्माकी महिमा अनुभव करें । जैसा दिनमें प्रकाशमय स्वरूप परमात्माका दिखाई देता है उसी प्रकार रात्रीमें उसीका रात स्वरूप प्रकट होता है, दिनमें विविधताका अनुभव होता है और रात्रीमें वह विविधता मिट जाती है । इस प्रकार दिनमें और रात्रीमें

परमात्माका भगवत् स्वरूप देखना चाहिये यही वेदको अर्थाष्ट है ।

### संवत्सरकी प्रतिमा ।

तृतीय मंत्रमें रात्रीकी सवत्सरकी प्रतिमा कहा है । सवत्सर वर्षका नाम है । वर्ष बड़े आकारवाला है उसकी प्रतिमा यह रात्री है । प्रतिमाका अर्थ 'प्रतिमान' है अर्थात् मापनेका साधन । दिन रात्री या दोनों मिलकर अहोरात्र सवत्सरका माप करनेका साधन है, दिनसे ही वर्ष मापा जाता है । यही रात्री सवत्सरकी पत्नी है । सवत्सर पति है और रात्री उसकी पत्नी है । वार्षिक कालका विशाल रूप सवत्सर है और छोटा रूप दिन या रात्री है । यह रात्री—

सा नो अस्तु सुमंगली । ( सू १०, म २ )

सा न आयुधमर्ता प्रजां रात्रस्पोषण स सृज ।

( सू १०, म ३ )

महान्तो व्यस्यां महिमानो भन्तः ।

( सू १०, म ४ )

'यह रात्री हमें भगलमयी होवे । यह रात्री हमें धन और पुष्टिके साथ दीर्घायु प्रजा देवे । इस रात्रीमें बड़े महिमा हैं ।' यह रात्रीका वर्णन निःसंशय सत्य है । रात्री सचमुच सुमंगली है । इसी रात्रीमें निराशे विश्राम लेते हुए मनुष्य इतना आराम प्राप्त करते हैं कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता और जिसका अनुभव हरएकको है । 'जो रात्रीमें रतिक्रिडा करते हैं वे, ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं । ( मध उप० १।१३ )' यह उपनिषद्वाक्य कहता है कि शुद्धस्त्री लोग शुद्धस्वधर्मके नियम पालनपूर्वक रात्रीकालमें रति करते हुए और उस आधर्मिक योग्य आचरण करते हुए भी ब्रह्मचर्य ही पालन करते हैं । इससे उत्तम सुख-तान उत्पन्न होती है जो दार्ष्टायि और तेजस्वी भी होती हैं । इस प्रकार इस रात्रीमें अनेक महिमाएँ हैं और इस कारण रात्री बड़ी उपकारक है । पाठक इस रीतिले रात्रीका उपकार देखें और इस रात्रीका स्वागत करें । कई कहेंगे कि रात्रीमें चोरादिकोंका तथा हिंसक प्राणियोंका उपद्रव होता है इसलिये रात्री भयदायक है, तो यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि उसी कारण आत्मरक्षाकी वांछ मनुष्यामें उत्पन्न होती है और उससे चैत, क्रोध, मोह, मर्म, पराक्रम आदि गुण बढते हैं । इस दृष्टिले भी रात्रीके बड़ा उपकार ही है ।

### हवन ।

आगे यचम मंत्रमें पत्यरोंके द्वारा खाद्य औषधिका रस निकालना और यज्ञमें हवन करनेके लिये रवि तैयार करनेका वर्णन

है। पष्ठ मंत्रमें हरएक प्रकारका हवि घोसे पूर्णतया भिगे कर, धो चूता है ऐसी अवस्थामें हवन सामग्रीकी आहुतिया डालनी चाहिये इत्यादि वर्णन है। यह सब याजकोंके लिये लक्ष्यपूर्वक देखने योग्य है। घोंके अन्दर हवाका दोष दूर करनेका सामर्थ्य है, इस कारण हवा शुद्धिके लिये हवन इष्ट ही है। मनुष्य अपने व्यवहारसे अनेक प्रकारके विष हवामें फैकता है, इसलिये उन रोगोत्पादक विषोंका उपशम करनेके लिये इस प्रकारका हवन करना अत्यंत आवश्यक है। इस प्रकार हवननादि द्वारा पापुकी शुद्धता करनेसे गृहस्थी लोग सुखी, बलवान्, नीरोग और सुप्रजसि युक्त होंगे, यह सूचना पंचम मंत्रके उत्तरार्धमें मिलती है, वह सूचना हरएक गृहस्थोंकी मनमें धारण करना चाहिये। पष्ठ मंत्रके 'उत्तरार्धमें प्रामोण सप्त पशु मनुष्योपर प्रेम करते हुए घरमें रहें' ऐसा कदा है। यह गृहस्थाश्रमका स्वरूप है। गृहस्थके घरमें गाय बैल, घोड़े घोड़ीयाँ, भेड़ बकरी आदि पशु और उनके बछड़े रहें, यह घरकी शोभा है, इबका उपयोग भी है।

सप्तम मंत्रके द्वितीय भागसे आहुति डालनेवाले चमसका वर्णन करते हुए एक बड़े महत्त्वपूर्ण बातका उपदेश किया है। 'आहुति देनेवाला चमस पूर्ण भरकर अग्निमें पास चला जावे और बड़ास अमिकी तेजसिवता लेकर वापस आवे और वह हवन करनेवालेकी तेजसिवता बढावे।'।

पूर्णां दधं परापत, सुपूर्णा पुनरा पत ।

( ए. १०, मं. ७ )

'चमस पूर्ण भरकर दान देनेके लिये आगे बढ़े और वापस आनेके समय भी वहाँसे तेज भरकर वापस आवे।' इसमें चमसका भरकर जाना और भरकर आना लिखा है। दान देनेके समय चमस भरकर यज्ञके पास जावे और अपनी आहुति दे देवे, दान देनेके समय कजूषी न की जावे, यह बोध यहाँ मिलता है। निध देवताको दान दिया है उस देवताके प्रशंसित गुण उस चमसमें आते हैं, चमस खाली होते ही मानो वह देव अपने गुण उस चमसमें भर देता है। उन गुणोंका प्रहण करके वह चमस वापस अपने और दानदाताकी पुनी बनावे। यह आशय यहाँ है। इस मंत्रके मतमें पाठक बहुत बोध प्राप्त कर सके हैं। 'यज्ञ' का 'दान और दानदान' इस मंत्रके मतमें अस्ती प्रकार ज्ञान ही गहता है। जो अपने पास दे वह दूसरेके हितार्थ दान देना और दूसरोंमें जो प्रेय गुण हों उनको अर्चना। यह यज्ञाश्रम इस मंत्रके स्पष्ट हो रहा है। पाठक इसका मनन करें।

अगे अष्टम मंत्रका आशय द्वितीय और तृतीय मंत्रोंके

आशयके समान ही है इसलिये इस मंत्रपर अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं है।

## कालका यज्ञ ।

नवम और दशम मंत्रोंमें कालके अवयवोंका नामनिर्देश करके उन कालावयवोंका यज्ञ करनेके संबंधमें बड़ा महत्त्वपूर्ण उपदेश है—

( १ ) मास= महिना । ( २ ) ऋतु= दो मासका समय । ( ३ ) अर्तव काल= दो ऋतुओंसे बननेवाला काल, शीत काल, उष्ण काल, वर्षा काल । ( ४ ) अयन= तीन ऋतुओंका समय, वर्षके दो अयन होते हैं, दो अयनोंके मानसे भिन्न हुए वर्षका नाम 'हायन' होता है। ( ५ ) समा= तीस दिनोंका एक मास, ऐसे बारह मासोंका अर्थात् ३६० दिनोंका एक वर्ष 'समा' नामसे प्रसिद्ध है क्योंकि इस प्रकारके वर्षके महिनोंके दिन समखण्डावाले होते हैं। ( ६ ) संवत्सर= सौर वर्ष, इस वर्षके ३६५ दिन होते हैं, और मासोंके दिनमें न्यूनाधिकता होती है। [ इसके अतिरिक्त चांद्रवर्ष होता है इसका उत्पत्ति यहाँ नहीं किया है उसके दिन ३५४ होते हैं, इसके महिनोंके दिनोंकी संख्या भी न्यूनाधिक होती है। ]

इस प्रकारका 'जो मेरी आयुका काल है वह सब मैं सब भूतोंका पालन करनेवाला जो परमात्मा है उसके लिये समर्पित करता हूँ, अर्थात् मेरी आयुका यज्ञ मैं करता हूँ। अपनी आयुका विनियोग जनताकी भलाई करनेके कार्यमें करनेका नाम ही आयुयज्ञका यज्ञ है। परमात्माका कार्य 'सज्जनोंका पालन और दुर्जनोंका दण्डन करना' है। यही जनताके हितका कार्य है, इस कार्यके लिये अपना सर्वस्व तन, मन, धन अर्पण करना 'आत्म यज्ञ' करना ही है। इस प्रकारका अपनी आयुका यज्ञ करनेका उपदेश नवम और दशम मंत्रोंमें है, इसलिये ये मंत्र अत्यंत मनन करने योग्य हैं।

## यज्ञका कार्य ।

इन मंत्रोंमें जो यज्ञ करना है वह 'धात्रे, विधात्रे, सधृषे, भूतस्य पतये । यं. १-१०'। धारक, निर्माता, सृष्टिकर्ता, और भूतोंके पालनकर्ताके लिये करना है, अपनी आयु इन कार्योंके लक्ष्यके लिये समर्पित करना है। ( १ ) जो प्रजापति पालन करता है, ( २ ) जो जनताके लिये राजापालन निर्माण करता है ( ३ ) जो जनताकी सृष्टिकर्ता गृह्णी करता है और ( ४ ) जो उन सबका पालन करता है उनके लिये निःस्वार्थ अपनी आयुका समर्पण करना आत्मयज्ञका तात्पर्य है। अपौरुषेयकृतिके इतने कार्योंके लिये अपनी आयुका विनियोग करना

नाम यज्ञ है । इस प्रकारका आत्मयज्ञ जो करने हैं वे लोकोत्तर दिव्य पुरुष सर्वत्र पूजनीय होते हैं ।

ग्यारहवें मंत्रमें यज्ञका ही वर्णन करते हुए कहा है, कि—

**अलुभ्यतः वयं गृहान् उप संघिशेम ।**

( सू. १०, मं. ११ )

‘ लोभ न करते हुए अपने घरमें हम प्रवेश करेंगे । ’ अर्थात् हम लोभ न करते हुए घरमें व्यवहार करेंगे, अथवा हमारे घरोंका वायुमंडल ही ऐसा होगा कि वहाँ किसीका लाभ या स्वार्थ करनेकी आवश्यकता नहीं होगी । जो लोभ अपनी आयुका पूर्वोक्त प्रकार यज्ञ करते हैं उनके घरोंका वायुमंडल ऐसा ही होगा इसमें कोई सन्देह नहीं है ।

### शत्रुनाशक इन्द्र ।

बारहवें और तेरहवें मंत्रम एकाष्टकाके गर्भधारण करनेका और इन्द्र नाम पुत्रको जन्म देनेका वर्णन है । एकाष्टका अहोरात्री है और इसीके गर्भमें सूर्य रहता है और रात्रीके प्रसूत होनेपर सूर्य बाहर आता है, जो प्रकाशके शत्रुओंका पूर्ण नाश करता है । जो लोग कालका यज्ञ पूर्वोक्त प्रकार करते हैं उनके प्रयत्नसे भी इन्द्र संज्ञक ऐसा विशाल तेज उत्पन्न होता है कि उससे

उनके सब शत्रु परास्त होते हैं । यह केला बड़ी महिमाएं अपने अन्दर रखती है, इसीका पुत्र ( इन्द्र ) प्रकाशका उग्र देव है और इसीका पुत्र ( सोम ) शान्तिका देव भी है । ( म. १३ )

रात्रीका अथवा उषाका पुत्र सूर्य है, इसीको दिवस्पुत्र भी वेदने कहा है । रात्रीका दूसरा पुत्र चन्द्र है इसीको सोम भी कहते हैं । ये दोनों प्रकाशका फैलाव और अन्धकारका नाश करते हैं और जनताको प्रकाश देते हुए मार्ग बता देते हैं । वेदमें इनका विविध प्रकारसे वर्णन हुआ है और बड़ बड़ा शोधप्रद है ।

इससे यह बोध लेना होता है कि मनुष्य स्वयं ज्ञान प्राप्त करे और दूसरोंको अपने ज्ञानका प्रकाश देवे । कलानिधि चन्द्रमाके समान मनुष्य भी स्वयं विविध कलाओंमें पूर्ण प्रवीणता संपादन करके स्वयं कलानिधि बन दूसरोंको कलाओंका अर्थात् हुनरोंका ज्ञान देकर जनताको उन्नति करे । माताएं अपने सतानोंको इस प्रकारकी शिक्षा देकर बालकोंकी पूर्ण उन्नति करे ।

यह इसकी महिमा जानकर प्रत्येक मनुष्य इस सुक्तके उपदेशके अनुसार अपनी आयुका उत्तम यज्ञ करे और यज्ञका भागी बने ।

॥ यदां द्वितीय अनुवाक समाप्त ॥

# हवन से दीर्घ आयुष्य !

( ११ )

( ऋषिः — ब्रह्मा, भृगुवह्निराः । देवता — इन्द्राग्नी, आयुष्य, यक्षमनाशनम् )

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कर्मज्ञातयक्ष्माद्भुत राजयक्ष्मात् ।

प्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

यदि क्षितायुर्पादि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव ।

तमा हिरामि निश्चितैरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ २ ॥

सहस्राधेर्ण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहर्षिमेनम् ।

इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति बिभ्रस्व दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छुतम् वसन्तान् ।

शतं च इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहर्षिमेनम् ॥ ४ ॥

अर्थ— ( कं जीवनाय ) मुञ्चार्हेक दीर्घ जीवनके लिये मैं ( त्वा ) तुमको ( अज्ञान-यक्ष्मात् उत राज यक्ष्मात् ) अज्ञात रोगसे और राजयक्ष्मा नामक क्षयरोगसे ( हविषा मुञ्चामि ) हवनसे छुड़ाता हूँ । ( यदि प्राहिः एतत् एनं जग्राह ) यदि जकड़नेवाले रोगने इसको इस प्रकार पकड़ रखा हो तो ( तस्याः इन्द्राग्नी एनं प्रमुमुक्तं ) वह बीरसे इन्द्र और अग्नि इसको छुड़ावे ॥ १ ॥

( यदि क्षितायुः ) यदि समाप्त आयुवाला अपना ( यदि वा परेतः ) यदि मरनेके करीब पहुँचा हो किंवा ( यदि मृत्योः अन्तिकं नीतः एव ) यदि मृत्युके समीप भी पहुँचा हुआ क्यों न हो, ( तं निश्चितः उपस्थात् आहरामि ) उसको मैं निनाशके पाशसे बांध लता हूँ और ( एनं शतशारदाय अस्पार्शम् ) इसको सौ वर्षके दीर्घायुके लिये मुक्ति करता हूँ ॥ २ ॥

( सहस्राधेर्ण शतवीर्येण शतायुषा हविषा एनं आहार्यं ) सौ शक्तियोगे युक्त, सौ वीर्यसे युक्त, शतायु देने वाले हवनसे इसको मैंने आया है । ( यथा बिभ्रस्व दुरितस्य पारम् ) जिससे बहुत दुखोंके पार होके ( एनं इन्द्रो शरदः अति नयति ) इसको इन्द्र सौ वर्षकी पूर्णरुके में परे पहुँचावे ॥ ३ ॥

( वर्धमानः शत शरदः जीव ) बढ़ता हुआ सौ शरदः ऋतुओं तक जीवता रहे ( शतं हेमन्तान्, शतं च वसन्तान् ) सौ हेमन्त ऋतुओं तक तथा सौ वसन्त ऋतुओं तक जीवता रहे । ( इन्द्रः अग्निः सविता बृहस्पतिः ते शतं ) इन्द्र, अग्नि, बृहस्पति और सविता, तेरे लिये सौ वर्षकी आयु देव । ( एनं शतायुषा हविषा आहार्यं ) मैंने इसको सौ वर्षकी आयु देनेवाले हविसे यहाँ लाया है ॥ ४ ॥

प्र विंशतं प्राणापानावनुद्वाहविष युजम् ।  
 व्य॑न्ये यन्तु मृत्यवो याना॑दुरितरान्छ्रुतम् ॥ ५ ॥  
 इहैव स्तं प्राणापानौ मापं गातमितौ युषम् ।  
 शरीरम॑स्याङ्गानि ज॒रसे॑ वहतुं पुनः ॥ ६ ॥  
 ज॒रायै॑ त्वा परि॑ ददामि ज॒रायै॑ नि धु॑वामि त्वा ।  
 ज॒रा त्वा भ॒द्रा मेष्ट॑ व्य॑न्ये यन्तु मृत्यवो याना॑दुरितरान्छ्रुतम् ॥ ७ ॥  
 अ॒भि त्वा ज॒रिमाहि॑तं गामु॒क्षणमि॒व रज्ज॒वा ।  
 य॒स्तवा॑ मु॒त्पु॒रभ्य॑र्घत्त जायमानं सुपाश्या ।  
 तं ते॑ स॒त्यस्य॑ ह॒स्ताभ्या॑नु॒दमु॒ञ्चद॒बृह॒स्पतिः॑ ॥ ८ ॥

अर्थ— हे ( प्राणापानौ ) प्राण और अपान ! ( प्र विंशतं ) प्रवेश करो ( अवनुद्वाहौ वनं इव ) जैसे बैल गोशाला में प्रवेश करते हैं । ( व्यन्ये मृत्यवः वि यन्तु ) इससे अनेक अपमृत्यु दूर हो जायें, ( यान् इतरान् शतं आहुः ) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ५ ॥

हे ( प्राणापानौ ! ) प्राण और अपान ! ( युवं इह पय स्तं ) तुम दोनों यदा ही रहो, ( इतः मा अप गातं ) महासे मत दूर जाओ । ( अस्य शरीरं ) इसका शरीर और ( संगानि ) सब अवयव ( जरसे पुनः वहतुं ) वदा-वस्थाके लिये फिर के चलो ॥ ६ ॥

( त्वा जरायै परि ददामि ) तुझे वृद्धावस्थाके लिये अर्पण करता हूँ । ( त्वा जरायै निधुवामि ) तुझको वृद्धावस्थाके लिये पहुँचाता हूँ । ( त्वा जरा भद्रा मेष्ट ) तुझे वृद्धावस्था सुख देवे, ( व्यन्ये मृत्यवः वि यन्तु ) अन्य अपमृत्यु दूर हो जायें, ( यान् इतरान् शतं आहुः ) जिनको इतर सौ प्रकारके कहा जाता है ॥ ७ ॥

( उक्षणं गां इव रज्ज्वा ) जैसे बैलकां अथवा गौको रस्सीसे बांध देते हैं उस प्रकार ( जरिमा त्वा अभि माहृत ) शुद्धाग्ने तुझको बांधा है । ( यः मृत्युः जायमानं त्वा सुपाशया अभ्यर्घत्त ) जिस घृत्युने उत्पन्न होते हुए ही तुझको उत्तम पाशसे बांध रखा है ( ते तं ) तेरे उस घृत्युको ( सत्यस्य हस्ताभ्यां बृहस्पतिः उदमुञ्चत् ) सत्यके दोनों हाथोंसे बृहस्पति छुड़ा देता है ॥ ८ ॥

भाषार्थ— मैंने तुझे सौ वर्षकी आयु प्रदान करनेवाले देवनोंसे घृत्युसे बांध ल्याया है । इन्द्र, अग्नि, सविता और बृहस्पति तुझे सौ वर्षकी आयु देवे । अब तू सब प्रकारसे नडता हुआ सौ वर्षतक जीवित रह ॥ ५ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इस मनुष्यमें ऐसे प्रवेश करो जैसे बैल गोशाला में प्रवेश करते हैं । अन्य सैकड़ों अपमृत्यु इससे दूर भाग जायें ॥ ५ ॥

हे प्राण और अपान ! तुम दोनों इसके शरीरमें निवास करो, यहाँसे दूर मत जाओ । इसके शरीरको और संपूर्ण अवयवोंको पूर्ण वृद्ध अवस्थातक अच्छी प्रकार चलाओ ॥ ६ ॥

हे मनुष्य ! मैं अब तुझको वृद्धावस्थाके लिये समर्पित करता हूँ । वृद्धावस्थातक मैं तुझको आयु देता हूँ । तुझे आरोग्यपूर्ण सुखापा प्राप्त हो और सब अन्य अपमृत्यु तुझसे भय दूर हों ॥ ७ ॥

जैसे गाव या बैलको एक स्थानपर रस्सीसे बांध देते हैं वैसे अब तेरे साथ वृद्धावस्थाकी पूर्ण आयु बाँधी गई है । जो अपमृत्यु जन्मते ही तेरे साथ लगी हुआ था सब अपमृत्युसे तुझको सत्यके हाथोंसे बृहस्पति छुड़ा देता है ॥ ८ ॥



## हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति ।

हवनकी बड़ी भारी शक्ति है, इससे आरोग्य, बल, दीर्घ आयुष्य आदि प्राप्त हो सकता है । यज्ञयागोंमें हवन होता है, ये यज्ञयाग ऋतुओंकी संधियोंमें किये जाते हैं और इनसे ऋतु-परिवर्तनके कारण होनेवाले रोगादि दूर हो जाते हैं इस विषयमें कहा है—

### औषधियोंके यज्ञ ।

मेघजययथा वापते। तस्मादृतुसन्धिषु प्रयुज्यन्ते ।  
ऋतुसन्धिषु व्याचिर्यन्ते ॥

( गो. प्रा. उ. प्र. १।११ )

' ये औषधियोंके महामुख हैं, इसलिये ऋतुसंधियोंमें ये यज्ञ किये जाने हैं इसका कारण यह है कि ऋतुसंधियोंमें व्याधियाँ होती हैं । '

ऋतुपरिवर्तनके कारण हवा बिगड़ती है, इससे रोग होते हैं । इन रोगोंका प्रतिबंध करनेके लिये ये औषधियाग किये जाते हैं । रोगनाशक, आरोग्यवर्धक और पुष्टिकारक तथा बलवर्धक औषधियोंका इनमें हवन किया जाता है । जो यज्ञ रोगनाशक, आरोग्यवर्धक, पुष्टिकारक और बलवर्धक होंगे वे दीर्घ आयु देनेवाले निःसंदेह होंगे इधमें किसीको भी संदेह नहीं हो सकता । इसलिये इस सूक्तमें जो हवनसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करनेका संदेश दिया है वह आशय निवार करने योग्य है ।

### हवनसे रोग दूर करना ।

हवनसे रोग दूर करनेके विषयमें इस सूक्तका कथन गनन करने योग्य है—

अज्ञातपद्मात् उत राजयद्दमात् त्वा मुञ्चामि ।

( ए. ११, मं. १ )

तस्याः ( मात्याः ) दग्धाग्नी एनं प्रमुञ्चमुः ।

( ए. ११, मं. १ )

एक रोग बताता है तो दूसरा वैय दूसरा ही रोग बताता है । इस प्रकार रोग ज्ञात हो अथवा अज्ञात हो, उसको हवन द्वारा दूर किया जा सकता है, अर्थात् अग्निमें योज्य औषधियोंका हवन करनेसे रोगी रोगमुक्त हो जाता है । विविध रोगोंकी निवृत्तिके लिये अन्यान्य औषधियोंका हवन करनेकी आवश्यकता है और कुछ पदार्थ ऐसे भी हमनमें होते होंगे कि जिनसे सामान्यतया आरोग्य प्राप्त होता हो । ऐसे योज्य औषधियोंके संमिश्रित हवनसे मनुष्य पूर्ण नीरोग और दीर्घायुष्य मुक्त हो जाता है ।

### हवनका परिणाम ।

हवनका परिणाम यदातक होता है कि आसन्न मरण रोगों भी रोगमुक्त होकर आरोग्य प्राप्त करता है । इस विषयमें द्वितीय मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कहता है कि, ' यदि यह रोगी दरीय मरनेकी अवस्थातक पहुँच चुका हो, मृत्युके पास भी गया हो, इसकी आयु भी समाप्त हो चुकी हो, तो भी हवनसे इसकी रोग आपत्ति दूर हो सकती है और इसकी वी बर्षकी पूर्ण आयु प्राप्त हो सकती है । ' ( मं. २ )

### शतायु करनेवाला हवन ।

इस वर्णनसे हवनका अपूर्व आरोग्यवर्धक परिणाम ज्ञात हो सकता है । तृतीय मंत्रमें हवनका नाम हो ' शतायु इति ' कहा है अर्थात् इस हवनसे सौ बर्षकी आयु प्राप्त हो सकती है । इस ' शतायु इति ' के अंदर शतवार्य अर्थात् सौ प्रकारके वन होते हैं और ( राक्षस-अथ ) हजार प्रकारकी शक्तियाँ होती हैं । इहके-

नयात्यति विभ्वस्य दुरितस्य पारम् ।

( ए. ११, मं. १ )

' जब दुरितको दूर किया जाता है । ' दुरित नाम पापका है । यदि ' दुरित ' ( दु-इत ) यह देखि जो दुःख उत्पन्न करनेवाला शरीरमें पुका होता है; यदि शरीरमें प्रचण्ड नाश प्रचमकी पीडाएँ उत्पन्न करता है । हवनमें यह दुरित अपूर्ण

पंचम और षष्ठ मंत्रोंमें प्राण और अपानको आदेशपूर्वक कहा है कि— 'हे प्राण और अपान ! तुम अब इसी पुण्यके देहमें सुखो, यहा ही अपने कार्य करो और इसके शरीरकी तथा संपूर्ण इन्द्रियोंकी पूर्ण आयुकी समाप्तिक अपने अपने कार्य करनेके योग्य रहो । तथा इसके शरीरसे पृथक् न होओ । तुम्हारे कार्यसे इसके संपूर्ण अपमृत्यु दूर हो जावे' ( सं. ५-६ ) । जब पूर्ण आरोग्य प्राप्त होता है और हवनसे शरीरमें नवजीवन संचारित होता है; तब शरीरमें स्थिर रूपसे प्राणपान रहेंगे ही । यह हवनका परिणाम है ।

सप्तम मंत्रमें कहा है कि— 'हे मनुष्य ! अब मैं तुझको वृद्ध अवस्थाके लिये समर्पण करता हूँ, तुझे सुखमयी वृद्ध अवस्था प्राप्त होवे और सब अपमृत्यु तुझसे दूर हो जावे' ( सं. ७ ) । वृद्ध अवस्थाकी गोदमें समर्पण करनेका तात्पर्य यही है कि पूर्ण वृद्धावस्था होनेतक अर्थात् सौ वर्षकी पूर्ण आयुतक जीवित रहना ।

### मरणका पाश ।

अष्टम मंत्रमें एक बडा भारी धिक्कार कहा है कि हरएक मनुष्य जन्मते ही मृत्युके पाशसे बांधा जाता है—

यस्त्वा मृत्युरभ्याघत जायमानं सुपाशया ।

( सं. ११, मं. ९ )

'मृत्यु तुझके अर्थात् हरएक प्राणिमात्रको जन्मते ही उत्तम पाशसे बांधकर रखता है ।' कोई मनुष्य अथवा कोई प्राणी मृत्युके इस पाशसे छूटा नहीं होता । जो जन्मको प्राप्त हुआ है वह अवश्य किसी न किसी समय मरेगा ही । सब उत्पन्न हुए प्राणिमात्रोंकी मृत्युने अपने पाशोंसे ऐसा जकड़ कर बांधा है कि वे इधर उधर जा नहीं सकते और सब मृत्युके वशमें होते हैं ।

'सब जन्म लेनेवाले प्राणियोंकी एक बार अवश्य मरना है । यह इस मंत्रका कवन हरएककी अवश्य विचार करने योग्य है । हरएककी मरण रचना चाहिये कि अपने सिरपर मृत्युने पाव रखा हुआ है । इस विचारमें मनुष्यकी सख भयंका पालन करना चाहिये । सख ही इस मृत्युसे बचानेवाला है ।

### सत्यसे सुरक्षितता ।

मृत्युके पाशसे बचानेवाला एकमात्र उपाय 'सत्य' है यह अष्टम मंत्रने बताया है—

तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ।

( सं. ११, मं. ८ )

'बृहस्पति तुझे सत्यके सरक्षक हाथोंसे उस मृत्युसे बचाता है ।' अर्थात् जो मनुष्य सत्यका पालन करता है उसका बचाव परमेश्वर करता है । वस्तुतः सत्यसे ही उसका बचाव होता है । सत्यका रक्षण ऐसा है कि जिससे दूसरे किसी रक्षककी तुलना नहीं हो सकती, अर्थात् एक मनुष्य अपना बचाव सत्यके हाथोंसे करता है और दूसरा मनुष्य अपना बचाव शस्त्रास्त्रोंसे करता है तो सत्यसे अपना बचाव करनेवाला मनुष्य अधिक सुरक्षित है, अपेक्षा उसके कि जो अपने आपको शस्त्रोंसे रक्षित समझता है । सत्याग्रहसे अपनी रक्षा करना ब्राह्मण है और शस्त्रास्त्रोंसे अपनी रक्षा करना क्षात्रबल है । क्षात्रबलसे ब्राह्मण अधिक श्रेष्ठ है इसमें किसीकी संदेह ही नहीं है ।

### सत्यपालनसे दीर्घायुकी प्राप्ति ।

यहां हमें सूचना मिलती है कि दीर्घायुकी प्राप्ति करनेकी इच्छा करनेवालेको सत्यका पालन करना अत्यंत आवश्यक है । सत्यके संरक्षक हाथोंसे सुरक्षित हुआ मनुष्य ही दीर्घजीवी हो सकता है ।

इस मंत्रमें जो हवनका महत्त्व वर्णन किया है वह यज्ञशास्त्रमें प्रसिद्ध है । यज्ञसे जगत्की भलाई, आरोग्यप्राप्ति आदि होनेका वर्णन सब यज्ञ शास्त्र कर रहे हैं । इस दृष्टिसे यह सूक्त एक आरोग्यप्राप्तिशास्त्रकी सघन साधन बता रहा है ।

किस रोगके दूर करनेके लिये किस हवन घाममीका हवन होना चाहिये इस विषयमें यहाँ कुछ भी नहीं कहा है, परन्तु हवनका सर्वसामान्य परिणाम ही यहाँ बताया है । हरएक रोगके दूर करनेके लिये विशेष प्रकारके हवनोंका ज्ञान अन्याय्य सुक्तोंसे प्राप्त करना चाहिये । वैदिक विद्याओंकी खोज करने-वालोंके लिये यह एक बडा महत्वपूर्ण खोजका विषय है । खोज करनेवाले दुष्टभी खोज अवश्य करें । दुष्टसे जैसा व्यक्तिगत भला हो सकता है, वैसा ही राष्ट्रका भी भला हो सकता है ।

# गृह निर्माण ।

( १० )

( कथिः — ग्रहा । देवता — शाला, वास्तोष्पतिः )

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमं तिष्ठाति घृतमुखमाणा ।  
तां त्वां शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥

इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वत्वाती गोमती सुनुतावती ।  
ऊर्जस्वती घृतवती पर्यस्तुत्युच्छ्रयस्य महते सौभगाय ॥ २ ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पृतिधान्या ।  
आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ घेनर्वः सायमास्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

इमां शालां सविता वापुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन् ।  
उक्षन्तुद्रा मरुतो घृतेन मगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

अर्थ— ( इह एव ध्रुवां शालां निमिनोमि ) इही स्थानपर छद्म शालाको बनाता हूँ । यह शाला ( घृतं उक्षमाणा क्षेमे तिष्ठाति ) की धाँवती हुई हमारे कल्याणके लिये ठहरी रहेगी । हे ( शाले ) पर ! ( तां त्वा सर्ववीराः अरिष्टवीराः सुवीराः उप संचरेम ) तेरे चारों ओर हम सब वीर विनष्ट न होते हुए उत्तम पराक्रमी बनकर विरते रहेंगे ॥ १ ॥

हे शाले ! तू ( अश्वत्वाती गोमती सुनुतावती ) धौधौवाली, गौधौवाली और मधुर भावशैवाली होकर ( इह एव ध्रुवा प्रति तिष्ठ ) यही ही स्थिर रह । तथा ( ऊर्जस्वती घृतवती पर्यस्तुत्यस्य ) अजबाली, धौवाली और दृषवाली होकर ( महते सौभगाय उच्छ्रयस्य ) बड़े सौभाग्यके लिये तबी बनकर यही रह ॥ २ ॥

हे शाले ! ( बृहत्-छन्दाः पृतिधान्या ) बड़े छतवाती और पवित्र धान्यवाली तथा ( धरुणी असि ) पान्थादिवा भण्डार धारण करनेवाली तू हूँ । ( इमां वत्सः कुमारः आ गमेत् ) तेरे अंदर बछड़ा और बालक आ जाये । ( आस्पन्दमाना घेनर्वः सायं आ ) गूदती हुई शौर्व धार्यदालके समय आ जावे ॥ ३ ॥

( इमां शालां ) इस शालाकी सविता, वायु, इन्द्र और बृहस्पति ( प्रजानन् निमिनोति ) जानता हुआ निर्माण करे । ( मरुतः उद्रा घृतेन उक्षन्तु ) मरुत गण जन्मे और चपे होयें, तथा ( मगः राजा नः कृषिं नि तनोतु ) भाग्यवान् राजा हमारे लिये शक्ति बढावे ॥ ४ ॥

मानस्य पत्ति शरणा स्योना देवी देवेभिर्निमितास्वये ।

तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयि दाः ॥ ५ ॥

श्रुतेन स्थूणामर्थि रोह वंशोग्रो विराजन्नर्ष वृद्धश्च शत्रून् ।

मा ते रिपन्तुपसत्तारो गृहाणां शले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

एमां कुमारस्वरुण आ वत्सो जगता सह ।

एमां परिस्रुतः कुम्भ आ दुष्णः कलशैरगुः ॥ ७ ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारांममृतेन संमृताम् ।

इमां पातूनमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

इमा आपः प्र भराभ्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः ।

गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ ९ ॥

अर्थ— हे (मानस्य पत्ति) संमानकी रक्षक, (शरणा स्योना देवी) अंदर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, दिव्य प्रकाशमान ऐसी ( देवेभिः अग्रे निमिता अस्ति ) देवीं द्वारा पहले बनायी हुई है । ( तृणं वसाना त्वं सुमनाः असः ) पाषाणों पहले हुए तू लज्जित मनवाली हो ( अथ अस्मभ्यं सहवीरं रयि दाः ) और हम सबके लिये वीरोंसे युक्त धन दे ॥ ५ ॥

हे ( वंश ) बाघ ! तू ( श्रुतेन स्थूणां अधिरोह ) अपने सीधेपनसे अपने आधारपर बैठ और ( वज्रः विराजन् शत्रून् अपवृद्धश्च ) लज्जित बनकर प्रकाशित हुआ शत्रुओंको हटा दे । ( ते गृहाणां उपसत्तारः मा रिपन् ) तेरे घरके आश्रयसे रहनेवाले हिंसित न होंगे । हे शालि ! हम ( सर्ववीराः शतं शरदः जीवेम ) सब वीरोंसे युक्त होकर भी कर्ष जीते रहेंगे ॥ ६ ॥

( इमां कुमारः आ ) इस शालाके पास बालक आवे, ( तरुणः आ ) तरुण पुत्र आवे, ( जगता सह घरसः आ ) चलनेवालोंके साथ बैठना भी आवे । ( इमां परिस्रुतः कुम्भः ) इसके पास मधुरखसे भरा हुआ घटा ( दुष्णः कलशैः आ अगुः ) दहीके कलशोंके साथ आ जावे ॥ ७ ॥

हे ( नारि ) ली ! ( एतं पूर्णं कुम्भं ) इस पूर्ण भरे घड़ेको तथा ( अमृतेन संमृतां घृतस्य धारां ) अमृतघे मरी हुई घीकी धाराको ( प्र भर ) अच्छी प्रकार भरकर ला । ( पातून् अमृतेन सं अङ्ग्धि ) पीनेवालोंकी अमृतघे अच्छी प्रकार भर दे । ( इष्टापूर्तं एनां अभिरक्षति ) यज्ञ और अन्नदान इस शालाकी रक्षा करते हैं ॥ ८ ॥

( इमाः यक्ष्मनाशिनीः अयक्ष्माः आपः ) ये रोगनाशक और खरों रोगग्रहित जल ( प्र आभराभि ) मैं भर लाता हूँ । ( अमृतेन अग्निना सह ) अमृत आगिके साथ ( गृहानु उप प्र सीदामि ) घरोंमें जाकर बैठता हूँ ॥ ९ ॥

भाषार्थ— घर अंदर निवास करने योग्य, सुखदायक है, यह एक संमानका साधन भी है । पहले यह देवीं द्वारा बनाया गया था । पाषाणके छपरसे भी यह बनता है । ऐसे घरसे हमारा मन श्रम संकष्टशाला होवे और हमें वीरोंसे युक्त धन प्राप्त हो ॥ ५ ॥ सीधे शतम पर सीधे बाघ रहे जगि और इस रीतिसे विरोधीओंको हरा किया जावे । परोंके आश्रयसे रहनेवाले दुःखी, कष्टी या विनष्ट न हों । इसमें रहनेवाले सब वीर होकर सब संपन्नक जीवित रहें ॥ ६ ॥

इस घरके पास बालक, तरुण आदि सब आ जायें । बैठते और अन्य घरके पशु, पक्षी भी घूमते रहें । इस घरमें घाहरेके मीठे खरसे भरे हुए घड़े तथा दहीसे भरे हुए घड़े बहुत हों ॥ ७ ॥

यिषो इन घड़ोंको भरकर लायें और घीके घड़े भी बहुत लायें और पीनेवालोंको यह दूध, दही, घी आदि सब रख, भरपूर पिलायें । योंकि इनका दान ही घरकी रक्षा करता है ॥ ८ ॥

घरमें पीनेके लिये ऐसा जल लाया जावे कि जो रोगनाशक और आरोग्यवर्धक हो । घरमें जगती भी हों । शिष्टके पास जलर सोप शीतका निवारण करते आनंद प्राप्त करें ॥ ९ ॥

### घरकी बनावट ।

जो गृहस्थी हैं उसको घर बनाकर रहना आवश्यक है, फिर वह घर घाससे बनाई हुई (तृणं यसाना । म. ५) शीपकीके समान हो अथवा बड़ा सौध हो। घर किसी भी प्रकारका हो, परंतु गृहस्थीके लिये वह अवश्य चाहिये, नहीं तो गृहस्थका 'गृह-स्थ-पन' ही नहीं सिद्ध होगा।

### घर बनाने योग्य स्थान ।

घरके लिये स्थान भा योग्य होना चाहिये, रमणीय होना चाहिये और आरोग्यकारक होना चाहिये, इस विषयमें इस सूक्तमें निम्नलिखित निर्देश देखने योग्य हैं—

१ क्षेमे (म. १) = सुरक्षित, शांति देनेवाला, सुखकारक, आरोग्यदायक, निर्भय, ऐसा स्थान घरके लिये हो।

२ ध्रुवा (म. १, २) = स्थिर, सुदृढ़, जहां सुनिश्चित स्थिर और दृढ़ हो सकती है।

इस प्रकारकी भूमिपर घर बनाना चाहिये और वह घर अपनी सामर्थ्य अनुसार सुदृढ़, (ध्रुवा) स्थिर और मजबूत बनाना चाहिये, ताकि यावहार उसकी मरम्मत करनेका म्यय उठाना न पड़े।

### घर कैसा बनाया जावे ?

घरक कमरे जहांतक हो सके बड़ातक विस्तार्य बनाये जावें। 'गृहत् छदाः' (म. ३) अर्थात् बड़े बड़े छतवाले कमरोंसे युक्त घर हो। घरमें सञ्चित स्थान न हो क्योंकि छोटे छोटे कमरोंमें रहनेवालोंके विचार भी सञ्चित बनते जाते हैं। इस लिये अपनी शक्तिके अनुसार जहांतक विस्तार्य बनाना सम्भव हो बड़ातक प्रयास घर बनाया जावे, जहां बहुत इष्टमित्र अतिथि आदि (शरणाः म. ५) आ जाय और (स्थोनाः म. ५) विधामे ल सके।

### समानता स्थान ।

पर गृहस्थीके लिये बड़ा समानता (शाला मानस्य पत्नी। म. ५) स्थान है, अपना निजका घर होनेसे वह एक प्रतिष्ठाका स्थान हो जाता है। इष्टमित्रोंको सुख पहुंचानेका यह एक बड़ा स्थान होता है। इसलिये पूर्वोक्त प्रकार घर बनाना चाहिये। घर बनते ही घरमें अत्यान्य साधन इकट्ठा करने चाहिये, इस विषयमें निम्न लिखित संकेत विचार करने योग्य हैं—

१ अभ्यायती (म. २) = घरमें पोके हों, अर्थात् गृहस्थाके पास पोके, पोटीया हों। यह शौचका साधन है।

२ गोमती (म. २) = घरमें गाँव हो। यह पुष्टिका साधन है, गाँव दूध मिलता है जिसको पीकर मनुष्य पुष्ट होते हैं। बैलेंसे खेती होती है।

घनघः आस्पन्दमानाः सायं वा (म. ३) = सायं कालके समय गाँव आनदसे नाचती हुई आ जावें।

३ पयस्वती (म. २) = घरमें बहुत दूध हो।

४ घृतघती (म. २) = घरमें विपुल घा हो।

५ घृतं उक्षमाणा (म. १) = घा देनेवाला, अर्थात् अतिथि आदिके लिये विपुल घा देनेवाला घर हो। घरके लोग अन्नदानमें कजूची न करें।

६ ऊर्जस्वती (म. २) = घरमें बहुत अन्न हो, खानपानके पदार्थ विपुल हों।

७ धरणी (म. ३) = जिसमें धान्यादिका बड़ा भंडार हो, जिसमें समृद्धस्थान हो, और वहां सब प्रकारके पदार्थ उत्तम अवस्थामें मिलें।

८ पूतिघान्या (म. ६) = घरमें पवित्र धान्य हो, जो रोगादि उत्पन्न करनेवाला न हो, उत्तम अवस्थामें हरएक प्रकारके पदार्थ हों, जो खानेसे शरीरकी पुष्टि और मनका समाधान हो। घरमें धान्य लानेके समय वह केवल सस्ता मिलता है इसलिये लाया न जाय, परंतु लानेके समय देखा जाय, कि वह पवित्र, शुद्ध, नारीक और पोषक है वा नहीं।

९ परिस्तुतः कुम्भ (म. ७) = घरमें गृहस्थ भरा हुआ घटा अथवा अनेक घड़े घरमें सदा रहें।

१० दध्नः कलशैः (म. ७) = दहीसे परिपूर्ण भरे हुए कलश घरमें हों।

११ घृतस्य कुम्भम् (म. ८) = उत्तम घीसे भरे हुए घट घरमें हों।

१२ अयक्ष्मा यक्ष्मनाशिनीः आपः (म. ९) = नारीक और रोग दूर करनेवाले शुद्ध जल घड़ोंमें भर कर घरमें रखा जावे।

इत्यादि शब्दों द्वारा इस सूक्तमें घरका वर्णन किया है। इन शब्दोंके मननसे पाठक स्वयं जान सकते हैं कि घरमें कैसी व्यवस्था रखना चाहिये और घर कैसा घनधान्यसंपन्न बनाना चाहिये। तथा—

१ यस्तः आगमेत् (म. ३, ७) = घरमें बछड़े खेतों रहें, घरके पाग बछड़े नाचते रहें।

२ कुमार आ गमेत् ( म ३, ७ ) = परम और बाहर बालक, कुमार और कुमारिकाएँ आनन्द से खेलकुद करते रहें ।

३ तरुण आ गमेत् ( म ७ ) = युवा तरुण पुरुष और तरुणीया परम और बाहर भ्रमण करें ।

### प्रसन्नताका स्थान ।

अर्थात् घर ऐसा हो कि जिसमें बालक से खेलते रहें और तरुण तथा अर्थात् आयुवाले छी पुरुष अपन अपन कार्यमें आनन्द से दत्तचित्त हों । एक सुखपर आनन्द दाख और घरका प्रत्येक मनुष्य प्रसन्नताका मूर्ति दिखई देवे । हर एक मनुष्य इसका कहे कि—

गृहान् उप प्र सीदामि । ( सू १२, म ९ )

‘ मैं अपनी पराकाष्ठा करके अपने घरका प्रसन्नताका रमण्य स्थान बनाऊंगा । ’ यदि घरका प्रत्येक मनुष्य अपने घरको ‘ प्रसन्नताका स्थान ’ बनानेका प्रयत्न करेगा तो सबसुख यह घर प्रसन्नताका केन्द्र अवश्यमन्त्र बन जायगा ।

पाठक इस उपदेशका अधिक मनन करें क्योंकि इससे हर एक पाठकपर एक विशेष उत्तरदायित्व आता है । अपन प्रयत्नसे अपन घरका ‘ प्रसन्नताका स्थान ’ बनाना है वह कार्य दूसरेपर छोड़ा नहीं जा सकता, यह तो हर एकको हा करना चाहिये । यह उपदेश दनक यथात् हर एक पाठकसे वह पृष्ठगा कि ‘ क्या इस उपदेशानुसार अपना कर्तव्य तुमन किया ? ’ पाठक इसका योग्य उत्तर देनेकी तैयारी करें । घरका प्रसन्नताका स्थान बना नके लिये ऊपर लिख हुए साधन इच्छ तो करने ह। चाहिये परन्तु केवल इतनेसे ही वह प्रसन्नता नहीं आवेगा कि आ वदको अमाष्ट है, इसलिये वेदने और भी निर्देश दिये हैं, देखिये—

१ स्मृतायनी ( म २ )— घरमें सभ्यताका सत्ता मापन हा, प्रेमपूर्वक वार्तालाप होता हा सत्ता उन्नतिके सत्ता मापन हा, छल, कपट, धोखा आदिके मापन न हों ।

२ सुमना ( म ५ )— उत्तम मनसे उत्तम व्यवहार करनेवाले मनुष्य घरमें कार्य करें ।

घरका मंगलमय बनानेके लिय जेसे खानपानके अच्छे यदार्थ परम बहुत चाहिये उसा प्रकार घरके छोपुरुषोंक अत करण भी भ्रष्ट विचारोंक युक्त चाहिये । तन्ना हा घर प्रसन्नताका स्थान बन सकता है । परम धनहीनता से बहुत रहा, और परवालोंक

८ (अपर्व माध्य, काण्ड ३ )

मन छली घोर कपटा हुए तो उस घरको घर कोई नहीं कहेगा वह तो एक दुःख स्थान होगा । इसलिये पाठक— जा अपने घरको प्रसन्नताका स्थान बनाना चाहते हैं वे— इन शब्दोंक सचत बोध प्राप्त करें । शीत कालमें तथा गृष्टिक । दर्शनों सदा बहुत हाता है इसलिये शीतके निवारणक लिये घरमें अगनी रखना चाहिये जिसस शीतसे तन्ना मनुष्य केक लहर आनन्द प्राप्त कर सकता है । दूसरी बात यह है कि ‘ अमृत अग्नि ’ ( म ९ ) जो परमेश्वर है उसका उपासनाका एक स्थान घरमें बनना चाहिये, जहा अग्निहोत्र द्वारा अग्न्युपासनाक लहर ध्यानधारणा द्वारा परमात्मोपासनाक सब प्रकारकी उपासना करक मनुष्य परम आनन्दको प्राप्त करे । जिस घरमें ऐसा उपासना हाता है वहा घर सबसुख प्रसन्नताका कन्द्र हासकता ह । इसा प्रकारका घर—

महते सौभाग्या उच्छ्रयस्य । ( सू १२, म २ )

‘ बड़ा शुभमंगलका प्राप्तिके लिये यह घर उत्तम सत्ता हावे । अर्थात् यह घर इस प्रकारसे बड़ा सौभाग्य प्राप्त कर । जिस घरम पूर्णक प्रकार अतर्बाग्य व्यवस्था रहेगी वहा बड़ा शुभमंगल निवास करना हयम कई सदह ही नहीं है ।

### वीरतासे युक्त धन ।

सौभाग्य प्राप्तिके अन्तर ‘ भय ’ अर्थात् धन कमाना भी समिलित है । परन्तु धन कमानके पथात् उसकी रक्षा करनकी शक्ति चाहिये और उसके शत्रुओंको दूर करनके लिये शौर्य, धैर्य, शक्ति आदि गुण मा चाहिये । अथवा कमाना हुआ धन दूसरे लोग लूट लप । इसलिये इस सूक्त राजधानीकी सूचना दा है—

अस्मभ्य सहचरि रथि दा । ( सू १२ म ५ )

‘ हमारा लिये वीरताक युक्त धन दे । ’ धन प्राप्त हो और साथ साथ उसक सभालनके लिये आवश्यक वीरता मा प्राप्त हो । हमारा घर वीरताक वायुमंडलसे युक्त हो—

१ सर्ववीरा सुवीरा अरिष्टवीरा उप स चरेम ।

( सू १२, म १ )

२ शत जीवेम शरद् सर्ववीराः ।

( सू १२, म ६ )

हम सब प्रकारसे वीर, उत्तम वीर, नाशक न प्रस हान वाले वीर, सौ वर्षे जावित रहकर धर्मही रा । करनेके लिये तैयार रहनेवाले वीर दाखर अपने अपने परामे सवार रहेंगे ।

ये मंत्र स्पष्ट शब्दों द्वारा कह रहे हैं कि घरोंका वायुमंडल 'वीरताका वायुमंडल' चाहिये । भीरुताका विचारलक वहा आना नहीं चाहिये । घरोंके पुरुष धर्मवीर हों और स्त्रियों वीरयोगनाएं हों, ऐसे स्त्री-पुरुषोंके जो संतान होंगे वे 'कुमार-वीर' ही होंगे इसमें क्या संदेह है ? इसीलिये वेदमें पुरुषका नाम 'वीर' आता है । पाठक इसका विचार करें और अपने घरका वायुमंडल ऐसा बनायें ।

### अतिथि सत्कार ।

ऐसे मंगलमय वीरताके युक्त घरोंमें रहनेवाले धर्मवीर पुरुष अतिथि सत्कार करेंगे ही । इस विषयमें कहा है—

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं धृतस्य धाराम-  
भूतेन संभृताम् । इमां पातूनमृतेना समर्द्धा-  
ष्टापूर्तमनि रक्षाल्येनाम् ॥ ( सू. १२, मं. ८ )

'गृहपरनी अतिथियोंको परोपनेके लिये चौका चढ़ा लावे, मधुरससे सरा चढ़ा लावे और पनिचालोंकी जितनी चाहिये सतना पिलावे, कंजूसी न करे । इस प्रकारका अन्नदान करना ही परकी रक्षा करता है ।'

अतिथि सत्कारमें अन्नपान अथवा अन्य पदार्थोंका दान लूले हाथसे देना चाहिये, उसमें कंजूसी करना योग्य नहीं है । क्योंकि दान ही परका संरक्षण करता है । भिक्षु घरमें अतिथि-योंका चरकार होता है उस परका यश बढ़ता जाता है ।

यहां अतिथियोंके लिये अन्न परोपनेका कार्य करना भिद्योंका कार्य सिखा है । यहा पदार्थ नहीं है । परंतुवाले घरोंमें अतिथिको भोजन देनेका कार्य या तो भौकर करता है अथवा परका मांलिक करता है । यह अतिथि चरकारकी अवैदिक प्रथा है । अतिथिके लिये भोजन, खानपान आदि गृहपरनीको देना चाहिये यह वेदका आदेश महा है, जिसकी ओर घरमें परकी प्रथा रखनेवाले पाठकोंका मन आकर्षित होना आवश्यक है ।

### देवों द्वारा निर्मित घर ।

घर देवोंने प्रारंभमें बनाया इस विषयमें यह निम्न लिखित मंत्र देखना चाहिये—

अरणास्थोना देवो ( शाला ) देवेभिर्निमितास्यग्रे ।  
सृणं यसाना सुमनाः ... ॥ ( सू. १२, मं. ५ )

'अन्दर आश्रय करने योग्य, सुखदायक, घासके छप्परवाला, परंतु उत्तम विचारोंके युक्त दिव्य घर प्रारंभमें देवोंने बनाया ।' दिव्य वीर पुरुषोंके द्वारा जो पहला घर निर्माण हुआ वह ऐसा था । यद्यपि इसपर बाँधका छप्पर था तथापि उसके अन्दर उत्तम विचार होते थे, अन्दर जानेसे आराम मिलता था और सुख भी होता था । इसका तात्पर्य यही है कि घर छप्परका ही क्यों न हो परंतु वह दिव्य विचारोंका दिव्य घर होना चाहिये, वह दूर विचारोंका 'राष्ट्रप्रभवन' नहीं होना चाहिये । 'देवोंका घर' धनघ्न नहीं होता है प्रत्युत अन्दरकी शांति और प्रसन्नतासे होता है । पाठक प्रयत्न करके अपना घर ऐसा 'देव भवन' ही बनायें और वैदिक धर्मको अपने घरमें प्रकाशित रूपमें प्रकट करें ।

### देवोंकी सहायता ।

घर ऐसे स्थानमें बनाया जावे कि लडा सूर्य, चंद्र, वायु, इन्द्र, आदि देवोंसे सहायक कृति विपुल प्रमाणमें प्राप्त होती रहे—

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो गृहस्पतिर्नि-  
मिनोतु प्रजानन् । उक्षन्तूद्गामसतो धृतं  
भगो सो राजा नि कृषितनोतु ॥ ( सू. १२, मं. ४ )

'सूर्य, वायु, इन्द्र, गृहस्पति जानते हुए इत परकी सहायता करें । मरुत नामक वर्षाती वायु जलसे सहायता करें और भग राधा कृषि फलनेमें सहायक हो ।'

घरके लिये सूर्यप्रकाश विपुल मिले, शुद्ध वायु मिले, इन्द्र शक्ति द्वारा सहायता करे, इष्टि करनेवाले वायु योग्य इष्टिसे सहायता करें और इष्टिका देव भूमिसे कृषिकी योग्य उत्पत्ति करने द्वारा सहायक हो । घर ऐसे स्थानमें अपना देशमें बनाया चाहिये कि अहां सूर्योदय देवताओं द्वारा योग्य धर्मोंकी सहायता अच्छी प्रकार मिल जाय, भूमि उपजाऊ हो, वायु निर्दोष हो, जल आरोग्यदायक और पाचक हो, इस प्रकारके उत्तम देशमें गृहका निर्माण करना चाहिये ।

# जल ।

( १३ )

( अग्निः — भृगुः । देवता — वरुणः, सिन्धुः, आपः, इन्द्रः )

यदुदः संप्रयुतीरहावर्नदता हते ।

तस्मादा नद्योऽु नाम स्थ ता वो नामानि सिन्धवः ॥ १ ॥

यत्प्रेषिता वरुणनाच्छीमं समववहत ।

तदाभोदिन्द्रो वो युतीस्तस्मादापो अनु छन ॥ २ ॥

अपकामं सन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।

इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद्धानाम वो हितम् ॥ ३ ॥

एको वो देवोऽप्यतिष्ठत् सन्दमाना यथावृष्म ।

उदानिपुर्महीरिति तस्मादुदकमुच्यते ॥ ४ ॥

‘ अर्थ— हे ( सिन्धवः ) नदियो । ( सं-प्र-युतीः ) उगम प्रसारसे सदा चलनेवाली तुम ( आदौ हते ) मेघके हनन होनेके पश्चात् ( उदः यत् अनदत् ) यह जो बड़ा नाद कर रही हो, ( तस्माद् मा नद्यः नाम स्थ ) उस कारण तुम्हारा नाम ‘ नदी ’ हुआ है ( ताः यः नामानि ) वह तुम्हारे ही योग्य नाम हैं ॥ १ ॥

( यत् आत् वरुणेन प्रेषिताः ) जब इससे वरुण द्वारा प्रेरित हुए तुम ( शीमं समववहत ) धीमे ही मिलकर चलने लगी, ( तत् इन्द्रः यतीः यः आपोत् ) तब इन्द्रने गमनशील ऐसे तुमको ‘ प्राप्त ’ किया, ( तस्मात् अनु आपः स्थन ) उसके पश्चात् तुम्हारा नाम ‘ आपः ’ हुआ ॥ २ ॥

( सन्दमानाः यः ) बहनेवाले तुम्हारी गति का ( इन्द्रः हि अप-कामं कं अवीवरत ) इन्द्रने विशेष कार्यके लिये सुखपूर्वक नि ‘ वारण ’ किया ( तस्मात् देवीः यः याद् नाम हितं ) तबसे देवी जैसे तुम्हारा नाम ‘ वारि ’ रख है ॥ ३ ॥

( एकः देवः यथावदं सन्दमानाः यः ) अकेले एक देवने जैसे चाहे वैसे बहनेवाले तुमको ( अपि अतिष्ठत् ) अधिकारसे देखा और कहा कि ( महीः उदानिपुः ) बड़ी शक्तियाँ ऊपरको आस लेती हैं, ( तस्मात् उदकं उच्यते ) तबसे तुमको ‘ उदक ’ [ उत्-अक ] नामसे बोला जाता है ॥ ४ ॥

मायार्थ— मेघकी छट्टिसे भगवा बर्फ पिघल जानेसे जब नदियोंको महार आ जाता है तब जलका बड़ा नाद होता है, यह ‘ नाद ’ होता है इसीलिये जनप्रवाहोंको ‘ नदी ’ ( नाद करनेवाली ) कहा जाता है ॥ १ ॥

जब वरुणराजसे प्रेरित हुआ जल क्षीप्र गतिसे चलने लगता है, तब इन्द्र उसे प्राप्त करता है, ‘ प्राप्त ’ होनेके कारण ही जलका नाम ‘ आपः ’ ( प्राप्त होने योग्य ) होता है ॥ २ ॥

जब मेघसे बहनेवाले जनप्रवाहोंके मार्गको इन्द्रने विशेष कारणके लिये सुखपूर्वक बहनेके हेतु विशिष्ट मार्गसे चलनेके लिये निवारित किया, तब उस कारण जलका नाम ‘ वार ’ ( वारि = निवारित किया गया ) हुआ ॥ ३ ॥

खेचछासे बहते जानेवाले जल प्रवाहोंको जब एक देवने अधिकारमें लाया और उनको ऊपर गतिसे ऊपरकी ओर चलाया, तब इस जलका नाम ‘ उदक ’ ( उत् अक = ऊपरकी ओर प्राण गति करना ) हो गया ॥ ४ ॥



आपो भद्रा घृतमिदाम् आसन्नश्रीपोमौ विभ्रत्वाप इत्ताः ।

तीव्रो रसो मधुपृष्ठांमरंगम आ मां प्राणेन सह वर्चसा भमेत् ॥ ५ ॥

आदिस्पृश्याभ्युत वां शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाह मांसाम् ।

मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अर्तपं यदा वः ॥ ६ ॥

इदं व आपो हृदयमुयं वत्स क्रतावरीः ।

इहेत्यमेतं शकरीर्यत्रेदं वेश्यामि चः ॥ ७ ॥

अर्थ— ( आपः भद्राः ) जल कल्याण करनेवाला और ( आपः इत् घृतं आसन् ) जल नि संदेह तेज बढ़ानेवाला है । ( ता इत् आपः अश्रीपोमौ विभ्रतः ) यह जल अमि और घीम धारण करते हैं । ( मधुपृष्ठांमरंगमः तीमः रसः ) मधुरताधि परिपूर्ण कृति करनेवाला तीव्र रस ( प्राणेन वर्चसा सह ) जीवन और तेजके साथ ( मा आगमेत् ) मुझे प्राप्त होवे ॥ ५ ॥

( आत् इत् पश्यामि ) निधयसे मैं देखता हूँ ( उत वा शृणोमि ) और सुनता हूँ ( आसां घोषः वाह मा आगच्छति ) इनका घोष और शब्द मेरे पास आता है । हे ( हिरण्यवर्णाः ) चमकनेवाले वर्णवाले ! ( यदा यः अर्तपं ) जब मैंने तुम्हारे सेवनसे कृति प्राप्त की ( तर्हि अमृतस्य भेजानः मन्ये ) तब अमृतके भोजन करनेके समान मुझे प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

हे ( आपः ) जलो ! ( इदं वः हृदय ) यह तुम्हारा हृदय है । हे ( क्रतावरीः ) जलधाराओ ! ( अयं घरसः ) यह भी तुम्हारा बच्चा हूँ । हे ( शकरीः ) शक्ति देनेवालो ! ( इत्थं इदं वा इत् ) इस प्रकार यदा आओ । ( यत्र यः इदं चेद्यामि ) जहाँ तुम्हारे अन्दर यह मैं प्रवेश करता हूँ ॥ ७ ॥

भाषार्थ— यह जल नि संदेह कल्याणकारक है, यह निधयपूर्वक तेज और पुष्टिको बढ़ानेवाला है । अमि और घीम द्रव्य धारण करते हैं । यह जल नामक रंग रस मधुर रस है कि यह पान करनेसे कृति करता है और जीवनके तेजसे युक्त करता है ॥ ५ ॥

मनुष्य जलसे आगसे दोनों दे, और जलका शब्द दूरसे सुन भी सकता है । छुट्ट निर्मल जल स्फटिकके समान चमकता है । जब मनुष्य इनको पीता है तब उसको अमृतपान करनेके समान आनन्द होता है ॥ ६ ॥

जलका यह आन्तरिक तत्व है, मनुष्य जलका ही पुत्र है, जल मनुष्यपर आता है और मनुष्य भी जलमें जाता लगाता है ॥ ७ ॥

अपनी इच्छासे जैसे चाहे वैसे प्रशस्ति होनेवाले जलको नहर आदि कृत्रिम मार्गोंके द्वारा अपनी खेती आदिके विशेष कार्योंको सिद्ध करनेके लिये जो अपनी इच्छानुसार चलाया जाता है उसको ' वारि ' ( वार्, वारं ) कहा जाता है ।

जो जल-सूर्यकिरणों द्वारा बनी भापसे हो या अग्नि द्वारा बनी हुई भापसे हो- पहले भाप बनकर फिर उस भापको शीतलता लगाने द्वारा जो फिर उसका जल बनता है उसको ' उदक ' कहते हैं । ( उद् ) भाप द्वारा ऊपर जाकर जो ( आनिपुः ) जो ऊपरले प्राणके साथ मिलकर वापन आता है उसका नाम उदक है । मेघोंकी वृष्टिसे प्राप्त होनेवाले उदकका यह नाम मुख्यतया है । कृत्रिम रीतिसे छुड़ाकर द्वारा बनाये जलको भी यह गौण वृत्ति दी जा सकती है ।

विविध प्रकारके जलोंके ये नाम हैं यह स्वयं इस सूक्तने ही कहा है, इसलिये इन शब्दोंके ये अर्थ लेना ही योग्य है । यद्यपि संस्कृत भाषामें ये सब उदक वाचक शब्द पर्याय शब्द माने जाते हैं और पर्याय समतद्धर उपयोगमें भी लाये जाते हैं, तथापि संस्कृत भाषामें एक वस्तुके वाचक अनेक शब्द वस्तुतः

सब वस्तुके अन्तर्गत भेदोंके वाचक होते हैं, यह बात इस सूक्तके इस विवरणसे ज्ञात हो सकती है ।

यह जल ( भद्राः १ म. ५ ) कल्याण करनेवाला है, बल, पुष्टि और तेज देनेवाला है, तथा जीवनका तेज बढ़ानेवाला है । ( मं ५ )

शुद्ध स्फटिक जैसा निर्मल जल पीनेसे ऐसी वृत्ति होती है कि जो वृत्ति अमृत भोजनसे मिल सकती है ।

प्राणिमान जलके कारण जीवित रहते हैं इसलिये जलसे ही इनकी उत्पत्ति मानना योग्य है, अतः ये जलके पुत्र हो गये । जल इन सबकी माता है इसलिये जलको ' माता ' वेदमें अन्यत्र कहा है । इस माताका आश्रय करनेसे मनुष्य नीरोग पुष्ट और बलवान हो सकते हैं ।

मनुष्य जलमें प्रविष्ट होकर निम्न ज्ञान करें अथवा वैद्यी तैरने आदिकी समाधान हो तो अन्य प्रकारसे जल प्राप्त करके ज्ञान अवश्य करें । यह जलज्ञान बड़ा आरोग्यप्रद होता है । इत्यादि उपदेश पचम और षष्ठ मंत्रोंके शब्दोंके मननसे प्राप्त हो सकते हैं ।

## गोशाला ।

( १४ )

( ऋषिः— ब्रह्मा । देवता— जानादेवता, गोष्ठदेवता )

सं वो गोष्ठेन सुपदा सं रय्या सं सुभृत्या ।

अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि

॥ १ ॥

अर्थ— हे गौओं ! ( वः सुपदा गोष्ठेन स ) तुमको उत्तम बैठने योग्य गोशालासे युक्त करते हैं, ( रय्या सं ) उत्तम खलसे युक्त करते हैं और ( सु-भृत्या सं ) उत्तम रहने सहनेसे अथवा उत्तम प्रजननसे युक्त करते हैं । ( यत् अहर्जातस्य नाम ) जो दिनमें श्रेष्ठ वस्तु मिल जाय ( तेन वः सं सृजामसि ) उससे तुमको युक्त करते हैं ॥ १ ॥

भाषार्थ— गौओंके लिये उत्तम, प्रशस्त और स्वच्छ गोशाला बनायी जाय । गौओंके लिये उत्तम जल पीनेको दिया जाय, तथा गौओंके उत्तम गुणयुक्त सतान उपजल करानेकी दृष्टता रुदा रखी जाय । गौओंके दूधका भ्रम दिया जाय कि दिनके समय गौंके योग्य उत्तमसे उत्तम पदार्थ प्राप्त कराकर वह उनकी अर्पण किया जाय ॥ १ ॥

सं वः सृजन्वयमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।

समिन्द्रो यो धनञ्जयो मयि पुष्यतु यद्वसु

॥ २ ॥

संजग्माना अविभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।

विभ्रंतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन

॥ ३ ॥

इहैव गाव एतनेहो शकैव पुष्यत ।

इहैवोत प्र जायध्वं मयि संजानंमस्तु वः

॥ ४ ॥

शिवो यो गोष्ठो भवतु शारिशकैव पुष्यत ।

इहैवोत प्र जायध्वं मया वः सं संजामसि

॥ ५ ॥

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं यो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः ।

रायस्पोषेण बहूला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम

॥ ६ ॥

अर्थ— ( अयमा यः स सृजतु ) अयमा तुमको मिलावे, ( पूषा सं, बृहस्पतिः सं ) पूषा और बृहस्पति भी तुम्हें मिलावे । ( यः धनञ्जयः इन्द्रः सं सृजतु ) जो धन प्राप्त करनेवाला इन्द्र है वह तुमको धनसे समृद्ध करे । ( यत् वसु ) जो धन आपके पास है वह ( मयि पुष्यत ) मुझमें तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

( अस्मिन् गोष्ठे संजग्मानाः अ-विभ्युषीः ) इस गोशालामें मिलकर रहती हुई और निर्मम होकर ( करीषिणीः ) गोबरका उत्तम खाद उत्पन्न करनेवाली तथा ( सोम्यं मधु विभ्रंतीः ) शायत मधुरास-दूध-का धारण करती हुई ( अन्-अमीयाः उपेतन ) नोरोग अवस्थामें हमारे पास आओ ॥ ३ ॥

दे ( गावः ) गौओ ! ( इह एव पतन ) यहाँ ही आओ । और ( इहो शका इव पुष्यत ) यहाँ साँढे समान पुष्ट होओ । ( उत इह एव प्र जायध्वं ) और यहाँ ही बच्चे उत्पन्न करके बड़ो । ( यः संजानं मयि अस्तु ) आपका लगन-प्रेम-सुझमें होवे ॥ ४ ॥

( यः गोष्ठः शिव भवतु ) तुम्हारी गोशाला तुम्हारे लिये हितकारी होवे । ( शारि-शका इव पुष्यत ) शालिओ साँढे समान पुष्ट होओ । ( इह एव प्र जायध्वं ) यहाँ ही प्रजा उत्पन्न करो और बड़ो । ( मया यः सं संजामसि ) मेरे साथ तुमको प्रेमगर्भ लिये ले जाता हूँ ॥ ५ ॥

दे ( गावः ) गौओ ! ( मया गोपतिना सचध्वं ) मुझ गोपतिके साथ मिलो रहो । ( यः पोषयिष्णुः मयं गोष्ठः इह ) तुमको पुष्ट करनेवाली यह गोशाला यहाँ है । ( रायः पोषेण बहूलाः भवन्तीः ) शोभाही शक्ति के साथ बहुत बड़ी हुई और ( जीवन्तीः यः जीवाः उप सदेम ) जीवित रहनेवाली तुमको हम सब प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

### गो संवर्धन ।

यह सूक्त अत्यंत सुगम है, इसलिये इसके अधिक प्रवर्ण करनेका कोई आवश्यकता नहीं है । इसमें जो बातें कही हैं उनका सारांश यह है कि 'गौओंके लिये उत्तम गोशाला बनाई जावे और वहां उनको रहने सहने, घास, दानापाना आदिका सब उत्तम प्रबंध किया जावे । खासा गौवंस प्रेम करें और गौवं खासीसे प्रेम करें । गौवं अनभयतासे रहें उनको अधिक भयभात न किया जावे, क्योंकि भयभात गौओंके दूधपर बुरा परिणाम होता है । सतान उपपन्न करानेके समय अधिक दूध वाली और अधिक नोरीय सतान उपपन्न करानेक विषयमें

दखता रखी जाय । गौओंकी पुष्टि और नारागताके विषयमें विशेष दखता रखी जाय अर्थात् गौओंकी पुष्टि किया जाय और उनसे नाराग सतान उपपन्न हो ऐसा सुप्रबंध किया जाय । गोपालनका उत्तमस उत्तम प्रबंध हो, जिस प्रकारकी उनमें बामारी उत्पन्न न हो । उनको गाबर आदिस उत्तम खाद करके उस खादका उपयोग शाला अर्थात् चावल आदि धा योंके लिये किया जावे ।'

इत्यादि प्रकारका बोध इस सूक्तके पठनसे मिल सकता है । यह सूक्त अति सुगम है इसलिये पाठक इसका मनन करें और सावत् बाध प्राप्त करें ।

## वाणिज्य से धनकी प्राप्ति ।

( १५ )

( ऋषि — अथर्वी ( पण्यकाम ) । देवता — विश्वेदेवा, इन्द्राग्नी )

इन्द्रं महं वाणिजं चोदयामि स न ऐतं पुरयुवा नो अस्तु ।

नुदन्नराति परिपन्थिनं मृग स ईशानो धनं दा अस्तु मयम् ॥ १ ॥

ये पन्थानो बहवो देवयानां अन्तरा द्यावापृथिवी सुचरन्ति ।

ते मां जुपन्ता पर्यसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनं माह्राणि ॥ २ ॥

अर्थ— ( वह वाणिज इन्द्र चोदयामि ) मैं वाणिज इन्द्रका श्रुति करता हूँ ( स न ऐतं पुरयुवा ) वह हमारे प्रति आवे और ( न पुर-पतत अस्तु ) हमारा अशुभ होव । ( परिपन्थिनं मृग अराति नुदन्न ) मार्गपर लट्ठ करनेवाक पाशवी भावसे युक्त शत्रुकी अलग करता हुआ ( स ईशानः महा धनं दा अस्तु ) वह ससमर्थ मुझे धन देनेवाला होवे ॥ १ ॥

( ये देवयाना बहव पन्थान ) जो देवोंके जान जोरप बहुतसे मार्ग ( द्यावापृथिवी अन्तरा सुचरन्ति ) द्यावापृथिवीका बीचमें चलते रहते हैं ( ते पर्यसा घृतेन मां जुपन्ता ) वे दूध और घास सुग्न तृण करें ( यथा माह्राणा धनं मां ह्रासि ) जिससे कयावकय करके मैं धन प्राप्त कर लूँ ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं वाणिज्य करनेवाले इन्द्रका प्रार्थना करता हूँ कि वह हमारा अशुभ भाव और हमारा अधगामी बने । वह प्रभु हमें धन देनेवाला होव और वह हमारे शत्रुओंका अर्थात् यन्मार लुटार और पाशवी शत्रिय हमें सतानवाककी हमारा मार्गसे दूर करे ॥ १ ॥

पुलोक और पृथ्वीक मध्यमें जल-आनेके आदि मध्य मार्ग हैं व हमारे लिये दूध और घास भरपूर हों, जिन मार्गोंसे जाकर और व्यापार करके हम बहुत लाभ प्राप्त कर सकें ॥ २ ॥

इच्छेनाग्र इच्छमानो धृतेन जुहोमि हव्यं तस्मै चलाय ।  
 यावद्देशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥  
 इमामग्रे शरणिं भीमृपो नो यमध्वानुमगाम दुरम् ।  
 शुनं नो अस्तु प्रपणो विक्रयथ प्रतिपणः फलिनं मा कृणोतु ।  
 इदं हव्यं संविदानौ जुपेयां शुनं नो अस्तु चरितमृत्थितं च ॥ ४ ॥  
 येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।  
 तन्मे भूयो भवतु मा कनीयोऽग्रे सातध्नो देवान्हविषा नि पेष ॥ ५ ॥  
 येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः ।  
 तस्मिन् इन्द्रो रुचिमा दधातु प्रजापतिः सविता सोमो अग्निः ॥ ६ ॥

अर्थ—हे अग्ने ! ( इच्छमानः इच्छेनाग्र धृतेन तस्मै चलाय हव्यं जुहोमि ) मैं लाभही इच्छा करनेवाला इन्धन और पौष्टि संकटसे बचनेके लिये और बल प्राप्तिके लिये इवन करता हूँ । ( यावद् देशे इमां देवीं धियं ब्रह्मणा वन्दमानः शतसेयाय ईशे ) जिसमे इस बुद्धिका ज्ञान द्वारा सम्मान करता हुआ मैं सैकड़ों सिद्धियोंकी प्राप्ति करनेके योग्य होऊँ ॥ ३ ॥

हे ( अग्ने ) अग्ने ! ( नः इमां शरणिं भीमृपोः ) इस हमारी अशुद्धिही समा कर । ( यं दूरं मध्यमानं अग्रम् ) त्रिग दूरके मार्गतक हम आ गये हैं । ( नः प्रपणः विक्रयः च शुनं अस्तु ) वहाँका हमारा कप और विक्रय लाभकारक हो । ( प्रतिपणः फलिनं नः कृणोतु ) प्रत्येक व्यवहार सुसही लाभदायक होव । ( इदं हव्यं संविदानौ जुपेयां ) इस हविषे जानकर केवन करो । ( नः चरितं उरिष्यत च शुनं अस्तु ) हमारा व्यवहार और हमारा उपायान लाभदायक होवे ॥ ४ ॥

हे देवाः ! ( धनेन धनं इच्छमानः ) मूल धनसे लाभही प्राप्तिही इच्छा करनेवाला मैं ( येन धनेन प्रपणं चरामि ) त्रिग धनसे व्यापार करता हूँ ( तत् मे भूयः भवतु ) यह मेरे लिये अधिक होवे और ( मा कनीयः ) कम न होवे । हे अग्ने ! ( हविषा सातध्नो देवान् निपेष ) इवनसे गुप्त होकर लाभदा नाश करनेवाले शिनाहियोंका निपेष कर ॥ ५ ॥

हे देवाः ! ( धनेन धनं इच्छमानः ) धनसे धन कमनेही इच्छा करनेवाला मैं ( येन धनेन प्रपणं चरामि ) त्रिग धनसे व्यापार करता हूँ ( तस्मिन् मे रुचिं ) उद्योग मेरी रुचिसे ( इन्द्रः प्रजापतिः सविता सोमः अग्निः ) इन्द्र, प्रजापति, सविता, सोम, अग्नि देव ( आ दधातु ) स्थिर कर देवे ॥ ६ ॥

भाषार्थ— मैं लाभ तथा बल प्राप्त करना और संकटोंका दूर करना चाहता हूँ, इसलिये मैं पौ और वसिष्ठसे इच्छा करता हूँ । इन्धन मैं ज्ञान प्राप्तिरहित उद्योग मुझसे प्रशस्त कर्मोंकरता हुआ अनेक व्यापारीमें सिद्धियों प्राप्त करके लाभ प्राप्त करेगा ॥ ३ ॥

उप त्वा नर्मसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।

स नः प्रजास्वात्मसु गोपुं प्राणेषु जागृहि

॥ ७ ॥

विश्वार्हा ते सदमिद्भरेमाश्वयिषु तिष्ठते जातवेदः ।

रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम

॥ ८ ॥

इति तृतीयोऽनुयायः ॥ ३ ॥

अर्थ— हे ( होतः वैश्वानर ) याज्ञक वैश्वानर ! ( वयं नमसा त्वा उप स्तुमः ) हम नमस्कारसे तेरा स्तवन करते हैं । ( सः नः आत्मसु प्राणेषु प्रजासु गोपु जागृहि ) वह तू हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौओंमें रक्षणके लिये जागता रह ॥ ७ ॥

हे ( जातवेदः ) जातवेद ! ( विश्वार्हा ते इत् सदं भरेम ) प्रतिदिन तेरे ही स्थानको हम भरेंगे ( तिष्ठते अश्वयिषु इव ) जैसा स्थानपर बंधे हुए घोड़ेको अन्न देते हैं । ( रायः पोषेण इषा सं मदन्तः ) धन, पुष्टि और अन्नसे आनंदित होते हुए ( ते प्रतिवेशा मा रिषाम ) तेरे उपासक हम कभी नष्ट न होंगे ॥ ८ ॥

भाषार्थ— अपने मूल धनसे व्यापार करके मैं बहुत धन कमाना चाहता हूँ, इसके लिये धन लगाकर उससे भी व्यवहार मैं करना चाहता हूँ, इसमें प्रभुकी कृपासे मेरी सबि लाभ होनेतक स्थिर होवे ॥ ६ ॥

हे प्रभो ! मैं तुझे नमस्कार करता हूँ और तेरी स्तुति करता हूँ, तू संतुष्ट होकर हमारे आत्मा, प्राण, प्रजा और गौ आदि पशुओंकी रक्षा कर ॥ ७ ॥

हे प्रभो ! जिस प्रकार अश्वशालामें एक स्थानपर रखे हुए घोड़ेको खिलानेका प्रबंध प्रतिदिन किया करते हैं उसी प्रकार हम तेरे उद्देशसे प्रतिदिन स्तवन करते हैं । तेरी कृपासे हम बहुत धन, पुष्टि और अन्न प्राप्त करेंगे, बहुत आनंदित होंगे और कभी दुःखसे प्रसन्न न होंगे ॥ ८ ॥

### वाणिज्य व्यवहार ।

बनिया जो क्रय विक्रयका व्यवहार करता है उसका नाम वाणिज्य व्यवहार है । व्यापारके पदार्थ किसी स्थानसे खरीदना और किसी स्थानपर उसको बेचना और इस क्रयविक्रयमें योग्य लाभ प्राप्त करना इस व्यापार व्यवहारसे होता है । कुशल बनिये इसमें अच्छा लाभ प्राप्त करते हैं ।

### पुराना बनिया !

इस सूक्तके पहले मंत्रमें सब जगत्के प्रभु ( इन्द्र भगवान् ) को ' वाणिजे इन्द्र ' ( वाणिज् इन्द्र ) कहा है, यह बहुत ही काव्यमय वर्णन है और इसमें अद्भुत उपदेश भरा है । परमेश्वर सर्वत्र उपिष्ट है और प्रयाग करनेपर भी दिखाई नहीं देता, इसलिये उसको एक मंत्रमें ( तायु । ऋ. १।१५।१ ) पौर भी कहा है । जिस प्रकार यह अद्भुत अलंकार है उसी प्रकार प्रभुकी बनिया कहना भी अलंकार है ।

९ ( अथर्व. भाष्य, काण्ड ३ )

जिस प्रकार बनिया एक रु. लेकर उतने मूल्यका ही धान्य आदि देता है, न अधिक और न कम, इसी प्रकार यह पुराना शनसे कहा बनिया ' मनुष्योंको सुखदुःख उसी प्रमाणसे देता है कि जितना माला घुरा कर्म मनुष्य करते हैं अथवा जितना अर्पण ने परोपकारार्थ करते हैं उतना ही उनको पुण्य मिलता है । इस प्रकार इस इन्द्र बनियाने जगत्के प्रारंभसे यह अपना व्यापार चलाया है, न यह कमी पक्षपात करता है और न कमी उपचारका व्यवहार करता है । इस प्रकार यह सबने पुराण पुरुष बनियाका व्यवहार करता है, उसको जितना दिया बाय उतना ही उससे वापस मिलेगा । इसलिये मनुष्यको यत् आदि कर्म करने चाहिये जिनको देकर उससे पुण्य खरीदा जाय, यह उपदेश यहाँ मिलता है ।

व्यापारका व्यवहार बताते हुए भी वेदने उसमें परमात्माके सब व्यवहारका उपदेश देकर बताया है कि व्यापार भी धर्म-

स्वरूप परमेश्वरकी निद्रासे ही होता चाहिये और छल, कपट तथा धोखा उद्यमों कभी करना नहीं चाहिये ।

हवनका निर्देश म ३ और ५ इन दो मंत्रोंमें है । हवनका अर्थ है 'अपना समर्पण' । अपने पासके पदार्थ परमार्थके लिये अर्पण करना और स्वार्थका भाव कम करना यही यज्ञ है । ऐसे यज्ञों ही जगत्का उपकार होता है, इच्छित्ये ऐसे सत्कर्म परमात्मके पास पहुँचते हैं और उनका यश कर्ताको मिलता है । इसलिये व्यापार-व्यवहारसे धन प्राप्त करनेपर उसका योग्य भाग परोपकारके लिये समर्पण करना चाहिये अर्थात् उसको यज्ञमें लगाना चाहिये । धन कमानेवाले इस आदेशका योग्य विचार करें । जो कमाया हुआ धन स्वयं उपभोग करता है वह पापी होता है । इसलिये कमाये धनमेंसे योग्य भाग परोपकारमें लगाना योग्य है ।

### व्यापारका स्वरूप ।

इस सूत्रमें व्यापार विषयक जो शब्द आ गये हैं वे अथ देखिये—

- १ धनं = मूल धन, सरमाया, जिस मूल धनसे व्यापार किया जाता है । (म ५, ६)
- २ धन = लाभ, लाभसे प्राप्त होनेवाली रकम । (म ५, ६)
- ३ घणिकः = व्यापारी, क्रयविक्रय करनेवाला । (म, १)
- ४ धनदा = व्यापारके लिये धन देनेवाला धनपति, जिससे धन लेकर आद छोटे व्यापारी अपना काम थका करते हैं । साहुकार । (म. १)
- ५ प्रपणः = पौदा, खरीद परोप । (म ५)
- ६ विक्रयः = मरीदा हुआ साठ बेचना । (म ४)
- ७ प्रतिपणः = प्रत्येक शीदा । (म ४)
- ८ फली (फलिन्) = लाभ शुद्ध होना । (म ४)
- ९ मुनं = बन्ध्यापकारी, लाभकारी, दितकर । (म ४)
- १० धरिन् = व्यापार करनेके लिये दलबल करना । (म ४)
- ११ उरिषतं = उठाव, चढाई । प्रतिस्पर्धाले साथ स्पर्धाले लिय चढाई करना । (म. ४)
- १२ भूयः (धन) = व्यापारके लिय पदार्थ सरमाया जाना । (म ५)

प्रथम मूल धन व्यापार-व्यवहारमें लगाना चाहिये । यदि अपने पास न हो तो किसी साहुकार (धन-दा) के पाससे लेकर उस धनपरसे अपना व्यवहार चलाना चाहिये । जिस पदार्थका व्यापार करना हो उस पदार्थका 'कम' कदा करना योग्य है और उसका 'विक्रय' कदा करनेसे अधिकसे अधिक लाभ हो सकता है इसका विचार करना चाहिये । किन दिनोंमें, किस देशमें खरीदी और किस स्थानपर बिक्री (प्रतिपण) करनेसे अधिक लाभ होना सम्भव है, इसका योग्य अनुसन्धान करनेसे नि शब्देह लाभ हो सकता है । इसीका नाम ऊपर लिखे शब्दोंमें 'चरित' कहा है ।

इन सब शब्दोंमें 'उरिषत' शब्द बड़ा महत्त्व रखता है । उठाव, उठाना, चढाई करना इत्यादि अर्थ इसके प्रसिद्ध हैं । मालका उठाव करनेका तात्पर्य सब जानते ही हैं । इस उरिषतके दो वेद होते हैं, एक 'वैयक्तिक उत्थान' और दूसरा 'समुदायिक समूह समुत्थान' है । एक व्यक्ति चढाईकी मोलिये व्यापार करती है उसको वैयक्तिक उत्थान कहते हैं और जहाँ अनेक व्यापारी अपना सप बनाकर उठाई करते हैं उसको 'समूह समुत्थान' कहते हैं । व्यापारमें बैलत ऊपर लिखा 'चरित' ही कार्य नहीं करता, पण्ड यह दोनों प्रकारका उत्थान भी बड़ा कार्यकारी होता है । पाठक इसका उत्तम विचार करें ।

### व्यापारके विरोधी ।

- १ सात्तमः = (घात) साभका (प्र) नाश करनेवाला । जिसके कारण व्यवहारमें हानि होती है । (म ५)
- २ सात्तमः देघ = लाभदा नाश करनेवाला ज़ेराय, सिताही, (दिव- 'जुवा खेलना') इस घातसे वह देघ हान्य बना दे । व्यवहारमें हानि होनेवाली आदों वाला मनुष्य । (म ५)
- ३ परिपिण्डन् = चढमार, चार, छुटो, मार्गपर उतरा आनेवालेवाले जो छूटो है । (म १)
- ४ मृगः = पशु, पशुभाववाला मनुष्य । (म. १)
- ५ ध-राति = कटव, दान न देनेवाला । (म १)
- ६ कनीय (धन) = व्यापारके लिये किन्ना धन कनीय मतना न होना, धनही कमी । (म ५)

हैं । पाठक देवोंकी यहाँ विप्रकारी देखकर आश्चर्यचकित हो जायेंगे । परंतु ऐसा भय करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है । 'देव' शब्दके अर्थ 'लुभावी, खेलमें समय बितानेवाला' ऐसा भी होता है । यह अर्थ 'दिव' धातुका 'ज्वा खेलना' अर्थ है उस धातुसे सिद्ध होता है । जो व्यापारी अपना समय ऐसे कुकर्मोंमें खर्च करेंगे वे अपना नुकसान करेंगे और अपने साथियोंको भी हुवा देंगे । यह उपलक्षण मानकर जो जो व्यवहार व्यापारमें दानि करनेवाले होंगे उन व्यवहारोंको करनेवाले 'सातप्र देव' समझना यहाँ उचित है । (सात) लामका (प्र) नाश करनेवाले (देव) व्यवहार करनेवाले लोग यह इसका शब्दार्थ है । 'देव' शब्द 'व्यवहार करनेवाले' इस अर्थमें प्रचलित है ।

'परिपयि' शब्दका प्रसिद्ध अर्थ ऊपर दिया ही है । इसका दूसरा अर्थ यह होता है कि 'जो लोग कुमार्गसे जानेवाले हैं।' सीधे राजमार्गसे न जाते हुए अन्य कुमार्गसे जाना बहुत समय हानिकारक होता है । विशेष कर यह अर्थ यहाँ अभिप्रेत है ऐसा हमारा विचार है ।

व्यापारका मूल धन अथवा सरमाया भी कम नहीं रहने चाहिये अन्यथा अन्य सब बातें ठीक होते हुए भी व्यापारमें लाभ नहीं हो सकता । इसलिये पंचम मंत्रकी सूचना कि (मा कनीयाः) मं. ५) अत्यंत ध्यान देने योग्य है । बहुत व्यवहार लामकारी होते हुए भी आवश्यक धनकी कमी होनेके कारण वे नुकसान करनेवाले होते हैं । जो नुकसान इस प्रकार होगा वह किसी अन्य मुक्तिसे या बुद्धिकी कुशलतासे पूर्ण नहीं होता, क्योंकि यह कमी हरएक प्रसंगमें हकाबट लपक करनेवाली होती है । व्यापार करनेवाले पाठक इससे थोम थोधा प्राप्त करें ।

### दो मार्ग ।

व्यापार करनेके लिये देशदेशांतरमें जाना आवश्यक होता है । अन्यथा बड़ा व्यापार होना अशक्य है । देशदेशांतर और दीपदीपान्तरमें जानेके लिये उत्तम और सुरक्षित मार्ग चाहिये । देशान्तरमें जानेके कई मार्ग सुरक्षित होते हैं और कई अय-दायक होते हैं । जो सुरक्षित मार्ग होते हैं उनको 'देवयानाः' पन्थानः' (मं. २) कहा है । देवयान मार्ग वे होते हैं कि जिनपर देवता सहस्र लोग जाते आते हैं, इस कारण वे मार्ग रक्षित भी होते हैं ऐसे मार्गपर लटमार नहीं होती, व्यापारी लोग अपना माल सुरक्षित रीतिसे ले जाते हैं और ले आते

हैं । जहां आनेजानेके ऐसे सुरक्षित मार्ग हों वहां ही व्यापार करना लाभदायक होता है ।

दूसरे मार्ग राक्षसा, असुरों और पिशाचोंके होते हैं जिनपर इन निशाचरोंका आना जाना होता है । ये ही 'परिपन्थी' अर्थात् बटमार, चोर छुटेरे बनकर सार्यवाहोंकी छट देते हैं । इन मार्गोंसे जानेसे व्यापार व्यवहार अच्छा लाभदायक नहीं हो सकता । इसलिये जहाँके मार्ग सुरक्षित न हों वहाँके मार्ग सुरक्षित करनेके लिये प्रयत्न होना आवश्यक है । वाणिज्यकी बुद्धि करनेके लिये यह अत्यंत आवश्यक कर्तव्य है ।

व्यापार अच्छी प्रकार होनेके लिये दूसरी आवश्यकता इस बातकी है कि मार्गमें जहाँ जहाँ मुकाम करना आवश्यक हो वहाँ खानपानके पदार्थ मनके अनुकूल सुगमतासे मिलने चाहिये । रहने सहने और खानपान आदिका सब प्रबंध बनाबनाशा रहना चाहिये । उचित धन देकर सहनेका प्रबंध विना आयाज होना चाहिये, इस विषयमें द्वितीय मंत्र देखिये—

ते (पन्थानः) मा जुपन्तां पयसा घृतेन ।

तथा ज्रीत्या घनमाहरामि ॥ (सू. १५, मं. १)

'वे देशदेशान्तरमें जाने आनेके मार्ग सुखे सुखपूर्वक दूध, घी आदि उपभोगके पदार्थ देनेवाले हों, जिससे मैं क्रय आदि करके धन कमानेका व्यवहार कर सकूँ ।' बात तो साफ है कि यदि देशदेशांतरमें भ्रमण करनेवालेको भोजनादिका सब प्रबंध अपना स्वयं ही करना पड़े तो उसका समय उसीमें बला जायगा, अनेक कष्ट होंगे, विदेशमें रहानका परिचय न होनेके कारण सब आवश्यक सामान इकट्ठे करनेमें ही व्यर्थ समय बला जायगा । इसलिये मंत्रके कथनानुसार, 'मार्ग ही उपभोगके पदार्थोंसे तैयार रहेंगे' तो अच्छा है । यह उपदेश बड़ा महत्व पूर्ण है और व्यापार बुद्धिके लिये सर्वत्र इस प्रबन्धके होनेकी अत्यंत आवश्यकता है ।

### ज्ञानयुक्त कर्म ।

हरएक कार्य ज्ञानपूर्वक करना चाहिये । इस विषयमें तृतीय मंत्रका कथन अत्यंत विचारणीय है—

देवो धियै ब्रह्मणा चन्द्रमानः शतसेयाय ईदो ।

(सू. १५, मं. ३)

'दिव्य बुद्धि और कर्मशक्ति ज्ञानसे सरकार करता हुआ मैं सैकड़ों सिद्धियोंको प्राप्त करनेका अधिकारी बनता हूँ ।'



यहाँका ' धी ' शब्द ' प्रज्ञा, बुद्धि और कर्मशक्ति ' का वाचक है । ज्ञानपूर्वक हर एक कर्म करना चाहिये । जो काम करना हो, उस विषयमें जितना ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है उसना पहले करना और पश्चात् उस कार्यका आरंभ करना चाहिये । तभी सिद्धि प्राप्त हो सकती है । यह सिद्धि सरल मार्ग है । दूसरी बात जो सिद्धिके लिये आवश्यक है वह यह है कि आरंभ किये कार्यमें रुकी स्थिर होनी चाहिये—

तस्मिन् स्थिं वा दधानु । ( सू. १५, मं. ६ )

' उस कार्यमें रुकी स्थिर होवे ' यह बात अत्यंत आवश्यक है । नही तो कई लोगोंकी ऐसी चंचल हृति होती है कि वे आज एक कार्य करते हैं, कल तीसरा हाथमें लेते हैं और परसू

पाँचवेंका विचार करते हैं । ऐसे चंचल लोग कभी सिद्धिको प्राप्त नहीं कर सकते ।

### परमेश्वर भक्ति ।

सब कार्यकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करनी चाहिये । इस विषयमें सप्तम और अष्टम मंत्रोंका कथन बड़ा मननीय है । ' ईश्वरकी नम्रतापूर्वक स्तुति, प्रार्थना, उपासना करना चाहिये । ' क्योंकि वही ज्ञान जाने योग्य है और उसीकी शक्तिद्वारा सबकी रक्षा होती है । प्रतिदिन नियत समयपर उसकी उपासना करनी चाहिये । जिससे वह सब कामधन्देमें सहा देगा, और धन, पुष्टि, सख्त आदि प्राप्त होंगे और कभी गिरावट नहीं होगी । ईश्वर उपासना को सबकी उत्पत्तिके लिये अत्यंत आवश्यक है । संपूर्ण सिद्धियोंके लिये इसकी बहुत आवश्यकता है ।

॥ यहाँ तृतीय अनुवाक समाप्त ॥



# प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना ।

( १६ )

( ऋषिः — अथर्वा । देयता — बृहस्पतिः, बृहदेवत्यम् )

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना ।  
 प्रातरभर्गं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥  
 प्रातर्जितं भर्गमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमर्दितेयो विधुर्ता ।  
 आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुराश्विद्राजा चिद्यं भर्गं मधीत्याहं ॥ २ ॥  
 भग प्रणेतुर्भग सत्यराधो भगो मां धियमुदवा ददन्नः ।  
 भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥ ३ ॥

वर्ण्य— ( प्रातः अग्नि ) प्रात काल अग्नि, ( प्रातः इन्द्र ) प्रात कालमें इन्द्रकी, ( प्रातः मित्रावरुणौ ) प्रात - कालके समय मित्र और वरुणकी, तथा ( प्रातः अश्विनौ ) प्रात काल अश्विनी देवोंकी ( हवामहे ) हम स्तुति करते हैं । ( प्रातः पूषण ब्रह्मणस्पति भर्ग ) प्रात काल पूषा और ब्रह्मणस्पति नामक भगवान्की ( प्रातः सोम उत रुद्र हवामहे ) प्रात काल सोम और रुद्रकी हम प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

( वयं प्रातर्जितं अर्दितेः उग्र पुत्र भग हवामहे ) हम प्रात कालके समय अर्दितके विजयी हुए पुत्र भगकी प्रार्थना करते हैं, ( यः विधुर्ता ) जो विशेष प्रकार धारण करनेवाला है । ( आध्रः चित् ) अशक्त भी और ( तुरः चित् य ) बलवान् भी जिसकी तथा ( राजा चित् ) राजा भी ( य मन्यमानः ) जिसका सम्मान करता हुआ ( ' भग भक्षि ' इति आह ) ' धनदा भाग मुझे दे ' ऐसा कहता है ॥ २ ॥

हे ( भग ) भगवन् । हे ( प्र-नेता ) बड़े नेता । हे ( सत्यराधः भग ) सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो । ( हमारा धिय ददन् नमः उत् अव ) इस बुद्धिको देता हुआ तू हमारी रक्षा कर । हे ( भग ) भगवन् । ( गोभिः अश्वैः नमः प्रजनय ) गौओं और घोड़ोंके साथ सतानवृद्धि कर । हे ( भग ) भगवन् । हम ( नृभिः नृवन्तः स्याम ) अच्छे मनुष्योंके साथ रहकर मनुष्योंसे युक्त होंगे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— प्रात कालमें हम अग्नि, इन्द्र, मित्रावरुणौ, अश्विनौ, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम और रुद्र नामक भगवान्की प्रार्थना करते हैं ॥ १ ॥

हम इस प्रात कालके समय अर्दितताके वीर भगवान्की प्रार्थना करते हैं, जो भगवान् सबका विशेष प्रकारसे धारण करने-वाला है और जिसको अशक्त और सशक्त, रक्त और राजा, सभी एक प्रकारसे परम पूज्य मानते हुए, ' अपनेकी भाग्यवान् ' करनेकी इच्छासे प्रार्थना करते हैं ॥ २ ॥

हे हम सबके बड़े नेता ! हे सत्य सिद्धि देनेवाले प्रभो ! हे भगवन् ! हमारी इस पुत्र बुद्धिकी वृद्धि करता हुआ तू हमारी रक्षा कर । गौओं और घोड़ोंकी वृद्धिके साथ साथ हमारी सतान वृद्धि हेमि दे । तथा हमारे साथ सदा येष्ट मनुष्य रहें, ऐसा कर ॥ ३ ॥

उ॒तेदा॒नीं भ॒गव॒न्तः स्या॒मो॒त प्र॒पि॒त्वं उ॒त म॒ध्ये अ॒ह्नाम् ।  
 उ॒तोदि॒तौ म॒घव॒न्त्सूर्य॑स्य व॒यं दे॒वानां॑ सु॒मतौ स्या॑म ॥ ४ ॥  
 भ॒ग ए॒व भ॒गवाँ॑ अस्तु दे॒वस्तेनां॑ व॒यं भ॒गव॒न्तः स्या॑म ।  
 तं त्वां भ॒ग॒ सर्व॑ इ॒ज्जो॑हवी॒मि स नो॑ भ॒ग पुर॑ए॒ता भ॑वे॒ह ॥ ५ ॥  
 स॒म॒ध्वरा॑योप॒सो न॑म॒न्त द॒धिका॑र्वे॒व शु॒चये॑ प॒दार्थ॑ ।  
 अ॒र्वा॒ची॒नं व॑सु॒विदं॑ भ॒गं मे॒ रथ॑मि॒वाश्वा॑ वा॒जिन॑ आ व॒हन्तु ॥ ६ ॥  
 अ॒श्वाव॑ती॒र्गोम॑ती॒र्न उ॒पासो॑ वी॒रव॑तीः स॒दमु॑च्छ॒न्तु भ॒द्राः ।  
 घृ॒तं दु॒हाना॑ विश्व॒तुः प्र॒पी॒ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॑ सदा॑ नः ॥ ७ ॥

अर्थ— ( उ॒त इ॒दा॒नीं भ॒गव॒न्तः स्या॒म ) हम इस समय भाग्यवान् होवें ( उ॒त प्र॒पि॒त्वं उ॒त म॒ध्ये अ॒ह्नाम् ) और सार्यकालमें भी और दोपहरमें भी । हे ( म॒घव॒न् भगवन् ) ! ( उ॒तो सूर्य॑स्य उ॒दि॒तौ ) और सूर्यके उदयके समय ( व॒यं दे॒वानां॑ सु॒मतौ स्या॑म ) हम देवोंकी सुमतिमें रहें ॥ ४ ॥

( भ॒गवान् भ॒गः दे॒वः अस्तु ) भगवान् भगदेव मेरे साथ होवें ( तेन व॒यं भ॒गव॒न्तः स्या॑म ) उसकी सहायतासे हम भाग्यवान् होवें । ( हे भ॒ग ) भगवन् ! ( तं त्वां स॒र्वः इ॒ज्जो॑हवी॒मि ) उस तुमको मैं सब रीतिसे भजता हूँ ( भ॒ग ) भगवन् ! ( सः नः पुर॑ए॒ता इ॒ह भ॒व ) वह तू हमारा अनुता यहाँ हो ॥ ५ ॥

( उ॒प॒सः अ॒ध्वरा॑य स॒ं नम॑न्त ) उपसों यज्ञके लिये उत्तम प्रकार शुकती रहें । ( शु॒चये॑ प॒दार्थ॑ द॒धिका॑या इ॒व ) त्रिस प्रकार शुद्ध स्थानपर पद रखनेके लिये पोछा च्छादता है । ( वा॒जिनः अ॒र्वा॒ची॒नं व॑सु॒विदं॑ भ॒गं मे॒ आ व॑दन्तु ) घोड़े इस और धनवाले भगवान्को मेरे पास ले आवें ( अ॒श्वा रथ॑ इ॒व ) जैसे घोड़े रथको लाते हैं ॥ ६ ॥

( अ॒श्वाव॑तीः गो॒मतीः॑ वी॒रव॑तीः भ॒द्राः उ॒पा॒सः ) घोड़े, गौएँ और घोँसे युक्त कल्याणमयी उपसों ( नः स॒र्वे उ॒च्छ॑न्तु ) हमारे परोकी प्रकाशित करें । ( घृ॒तं दु॒हानां॑ ) पीछे प्राप्त करते हुए ( वि॒श्वतः॑ प्र॒पी॒ताः ) सब प्रकार दूधपूँ होकर ( यू॒यं स्व॒स्तिभिः॑ सदा॑ नः पा॑त ) हम सब अनेक कल्याणोंके साथ सदा हमारी रक्षा कर ॥ ७ ॥

मा॒वा॒र्थ— हम प्रातःकाल, दोपहरके समय और सार्यकालके समय ऐसे शुभकर्म करें कि त्रितये हम भाग्यशाली बनने जाय । हम सूर्यके उदयके समय देवोंकी उत्तम मतिके साथ युक्त हों ॥ ४ ॥

भ॒गवान् पर॑मेश्वर हमें भाग्य देनेवाला होवे, उसकी कृपासे हम भाग्यशाली बनें । हे भगवन् ! हम सब तेरा भजन करते हैं, दयसे तू प्रसन्न हो और हम सबकी योग्य मार्गपर चलानेवाला हमारा सुधिया बन ॥ ५ ॥

उ॒प॒स॒काल॑क समय अ॒हि॒राम॑व, अ॒जि॒ल, स॒र्गम॑री दि॒शाधी॑ और शु॒क्र जा॒व और उन॑ कर्मोंसे धनवान्, भ॒गवान् हमारे अधि॒ष्ठ स॒मिध॑ होने जाय ॥ ६ ॥

त्रि॒न उ॒पा॒र्भोके॑ समय घोड़े, गौएँ और बीसपुष्ट उ॒पा॒दसे का॒र्षोर्षे॑ लगे होते हैं ऐसी उ॒पा॒र्ष हमारे परोकी प्र॒क॒शित॑ करें । और ऐसी ही उ॒पा॒र्षे पु॒न॒ही प्र॒त॒क॒रनी॑ हुई और सबकी सु॒ख॒वा॒न करा॒नी हुई॑ अनेक क॒ल्या॒णोंके साथ हम सबकी रक्षा करें ॥ ७ ॥

## प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना ।

प्रातःकाल उठकर प्रभुको प्रार्थना करना चाहिये । अपना मन शुद्ध और पवित्र बनाकर एकाग्रताके साथ यह प्रार्थना होनी चाहिये । इस समय मनमें कोई विरोधका विचार न उठे और परमेश्वरकी भक्तिका विचार ही मनमें जायता रहे । ऐसे शुद्ध भावसे उसके पवित्र समयमें की हुई प्रार्थना परमेश्वर देव सुनते हैं । इसलिये—

### सबका उपास्य देव ।

आभ्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरग्निद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ ( सू. १६, मं. २ )

इस मुख्य 'निर्बल और बलशाल, प्रज्ञालन और राजा समान भावसे प्रभुका आदर करते हुए उसकी प्रार्थना करते हैं और उसके पास अपने भाग्यका भाग मांगते हैं ।' क्योंकि निर्बल और बलवान्, शासित और शासक ये उसके सम्मुख समान भावसे ही रहते हैं । इस मंत्रके शब्द अधिक विचारकी दृष्टिसे देखने योग्य हैं इसलिये उन शब्दोंके अर्थ अब देखिये—  
१ आभ्र = आभार देने योग्य, जिसके दूसरेके सहारेकी आवश्यकता होती है, निर्बल, अशक्त, निर्धन ।

२ तुरः = स्वायुज, क्षीप्रगति कार्य करनेवाला, वेगवान्, आगे बढ़नेवाला, बलवान्, सामर्थ्यवान्, धनवान्, अपनी शक्तिसे आगे बढ़नेवाला ।

३ राजा = शासन करनेवाला, दृढमत करनेवाला, दूसरोंपर अधिकार करनेवाला ।

इस राजा शब्दके अनुसंधानसे यहाँ शासित होनेवाली प्रजाका भी बोध होता है । निर्बल, अशक्त, निर्धन, शासित, आदि लोग तथा बलशाली, समर्थ, धनी और शासन करनेवाले लोग ये सब यद्यपि जगतमें सप्ताण दृष्टिसे नीच और उच्च समझे जाते हैं, तथापि जगत्त्रियन्ता प्रभुके सम्मुख ये समान भावसे ही रहते हैं, उसके सामने न कोई उच्च है और न कोई नीच है, इसलिये उस प्रभुकी प्रार्थना जैसा दीन मनुष्य करता है उसी प्रकार राजा भी करता है, और दोनों उसकी कृपासे अपने भाग्यकी प्राप्ति होगी ऐसा ही समझते हैं । इस प्रकार यह भगवान् परमपिता सबका एक जैसा पालक है । यह—

यः विद्यतां । ( सू. १६, मं. २ )

'सबका विशेष रीतिसे धारण करनेवाला है' अन्य साधारण धारणकर्ता बहुत हैं, परन्तु यह प्रभु तो धारकोंका भी आधार है, इसलिये इसकी विशेष धारक कहते हैं । यह—

प्रातर्जितं अदितेः पुत्रं भगं । ( सू. १६, मं. २ )

'( प्रातः पित ) प्रातःकालमें ही विजयी है, अर्थात् अन्य वीर तो युद्ध करते और पश्चात् विजयी होंगे, इस कार्यके लिये उनको विजय कमानेके लिये कुछ समय अवश्य लगेगा, वेधा इसके लिये नहीं है । यह तो सदा विजयी हा है, काल शुरू होनेका प्रारंभ उस कालसे होता है, उस उप-कालके प्रारंभमें ही यह विजयी होता है अर्थात् पश्चात् तो इसका विजय होगा ही, परंतु इसका प्रारंभ ही विजय हुआ है, यह बात यदा बतायी है ।

### अदीनताका रक्षक ।

'दिति' नाम पराधीनता या दानताका है और 'अदिति' का अर्थ है स्वतंत्रता, स्वाधीनता या अदीनता । इस स्वाधीनताका यह ( पु-त्र = पुनर्गत च जायते च दिति पुनः ) पौत्र-प्रता युक्त तारण करनेवाला है । इसलिये यह भाग्यवान् होनेसे 'भग' कहलाता है । जो कोई इस पवित्रताके साथ स्वाधीनताही रक्षा करेगा वह भी भाग्यवान् होगा और ऐश्वर्यवान् भी होगा । 'अ-दितिका पुत्र' होना बड़े पुरुषार्थका कार्य है, यह साधारण बात नहीं है । परमात्मा तो स्वयंशुद्ध स्वाधीनताका रक्षक है, इसलिये उसको यह सिद्धि स्वभावसे ही सिद्ध है अर्थात् बिना प्रयत्न प्राप्त है । पुत्रवर्षा मनुष्य अपनेपुत्रवर्षसे स्वाधीनताका रक्षक होता है, इसको यह सिद्धि परमात्मोपासनासे ही प्राप्त हो सकती है । इसकी उपासना कौन किस रूपमें करते हैं इसका वर्णन प्रथम मंत्रमें दिया है—

### उपासनाकी रीति ।

'अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अश्विनी, पूषा, ब्रह्मणस्पति, सोम, रुद्रपुत्र भगकी इस उपासना करते हैं । ( मं. १ )' यह इस मंत्रका कथन है । एक ही परमात्म देवके ये गुणबोधक विशेषण हैं । इस सूक्तमें 'भग' अर्थात् ऐश्वर्यको प्रधानता होनेसे इस सूक्तमें 'भग' शब्द मुख्य और अन्यशब्द उसके विशेषण हैं । परन्तु यदि किसीको अन्य गुणोंकी उपासना करनी हो तो उस गुणका वाचक शब्द मुख्य मानकर अन्य शब्दोंको उसके विशेषण माना जा सकता है । जैसा—

( १ ) भाग्यप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'भग' नामको मुख्य मानकर उपासना करे । ( २ ) ज्ञानप्राप्तिकी इच्छा करनेवाला 'ब्रह्मणस्पति' नामको मुख्य मानकर उपासना करे । ( ३ ) प्रभुत्वका सामर्थ्य चाहनेवाला 'इन्द्र' नामको मुख्य मानकर उसीकी उपासना करे । ( ४ ) पुष्टि चाहनेवाला 'पूषा' नामको मुख्य मानकर उसकी उपासना करे । ( ५ ) शक्ति चाहनेवाला 'सोम' नामको मुख्य मानकर अन्य नामोंकी उसके

विशेषण माने और उपासना करे । ( ६ ) उन्नताकी इच्छा करने-  
वाला 'इन्द्र' नामकी मुख्य मानकर उपासना करे, इसी प्रकार  
अन्यन्य नामोंकी मुख्य या गौण अपनी कामनाके अनुसार माने  
और उसी प्रभुकी उपासना कर अपनेमें उस गुणकी वृद्धि करे ।  
उसी एक प्रभुके ये नाम हैं, क्योंकि 'एक ही प्रभुके अग्नि आदि  
अनेक नाम होते हैं, एक ही सदस्तुका कवि लोग भिन्न भिन्न  
नामोंसे वर्णन करते हैं ' इस वैदिक शैलिके अनुसार इस प्रथम  
मंत्रमें आये सब शब्द एक ही परमात्माके वाचक हैं । इस  
कारण किसी गुणको प्रधान मानकर प्रभुकी उपासना की जाय  
तो उसीकी उपासना होती है और जिस गुणका चिन्तन किया  
जाय उसीकी वृद्धि होती जाती है । मन जिसका ध्यास लेता है  
वह गुण मनमें बढ़ता है, इस नियमके अनुसार वह उपासना  
होती है । इन गुणोंका चिन्तन करनेकी सुविधा होनेके लिये यहाँ  
इन शब्दोंके विशेष अर्थ देते हैं—

- १ अग्निः = तेज, प्रकाश उष्णता, और गति करनेवाला ।
- २ इन्द्रः = शत्रुओंको दूर करनेवाला, ऐश्वर्यवान्, निषामक,  
शासन करनेवाला, राजा ।
- ३ मित्रः = मित्र दृष्टिसे सबोंपर प्रेम करनेवाला, सबका हित  
करनेवाला ।
- ४ वरुणः = धैर्य, निष्पक्षपाततासे सत्यासत्यका निरीक्षण  
करनेवाला, वरिष्ठ ।
- ५ अश्विनौ = धन और ऋण शक्तिके युक्त, वेगवान् । गर्व-  
ध्यायक, गर्वत्र उपस्थित ।
- ६ भगः = भाग्यवान्, ऐश्वर्य युक्त, धनवान् ।
- ७ पूषा = पोषक, पृष्ठ करनेवाला ।
- ८ वसवोऽस्यः = शानका स्वामी, शान्ती ।
- ९ सोमः = शीत, आनन्ददायक, उत्थानिधि, उत्थावान्,  
मधुर, प्रगल्भता करनेवाला ।
- १० रुद्रः = सय, प्रवृद्ध, भयानक, गर्जना करनेवाला, वीर,  
धूर्त, वीरभद्र, शत्रुविष्वसक वीर, शत्रुको मरनेवाला ।

**उपासना --( और उससे सिद्ध होनेवाली )-- धारणा ।**

**मंत्रका शब्दार्थ --( और उससे उद्गीर्णित होनेवाला )-- मुद्रिका भाव ।**

**प्रथम मंत्र ।**

( अग्नि ) तेजस्वी, परन्तु ( सोम ) शीत मीठ अमृतवाचक  
( मित्र-वरुण ) मित्र दृष्टिसे सबको देखनेवाला और निष्पक्ष-  
पाती होकर गवायय देखनेवाले ( पूषा ) पोषकनी  
( वसवोऽस्य ) वसवानी देखी गर्वना में मात्र शत्रुके  
वर्णन है ।

प्रथम मंत्रोक्त दस शब्दोंके ये अर्थ हैं । पाठक इन शब्दोंके  
मननसे प्रभुकी उपासना कर सकते हैं । जिस गुणको अपनेमें  
बढ़ानेकी इच्छा हो उस गुणवाचक शब्दसे प्रभुका ध्यान करना  
और अन्य शब्द उसके गुणबोधक विशेषण मानना यह उपा-  
सनाकी रीति है । इस प्रकार मनन और निदिध्यासन करनेसे  
मनका वायुमें डल ही उस प्रकारका बनता है और आवश्यक गुण  
मनमें विरसित होने लगता है । यहाँ पाठक स्मरण रखें कि,  
अपनी सन्नतिके लिये अपने मनके अंदरका वायु में डल बैठा  
बनानेकी आवश्यकता है, इसीलिये तृतीय मंत्रमें कहा है—

**धारणा ।**

**हमां धियं ददन्नः उदय । ( सू १६, मं. १ )**

' हम मुद्रिकों यद्यते हुए हमारी उन्नत अवस्था करके हमारी  
रक्षा कर ' यहाँ प्रार्थनामें धन नहीं मागा है, परन्तु ' मुद्रि '  
मागी है, यह ' धारणावती मुद्रि ' जो कर्म शक्तिके युक्त रहती  
है यह है, यह बात विशेष रीतिसे ध्यानमें धरना आवश्यक है ।  
भाग्य प्राप्त करना हो, धन ऐश्वर्य बढ़ाना हो अथवा प्रभुत्व  
संपादन करना हो, तो इस सबके लिये पुष्टपाय करनेमें समर्थ  
धारणावती मुद्रिकी आवश्यकता है, इसके बिना उन्नति असंभव  
है । धी शब्दमें जैसा मुद्रिमत्ताका भाव है उसी प्रकार पुष्टपाय-  
मयी कर्मशक्तिका भी भाव है यह भूलना नहीं चाहिये । यह  
धी जितनी बढ़ेगी उतनी मनुष्यकी योग्यता बढ़ जाती है ।  
जिस मुद्रिमें शानशक्ति पुष्टपाय शक्तिके साथ समिलित रहती  
है वह मुद्रि हमें चाहिये यह इच्छा ' हमां धियं ' शब्दोंमें है ।  
प्रथम और द्वितीय मंत्रोंमें जो मुद्रि और कर्मशक्ति विकसित  
करनेका उपदेश किया गया है वह मुद्रि यहाँ तृतीय मंत्रमें  
( हमां धियं ददन्नः ) ' इस मुद्रिको दो ' इन शब्दोंमें मागी  
है । यहाँ प्रश्न होता है कि कौनसी मुद्रि प्रथम द्वितीय मंत्रोंमें  
कही है । इसका उत्तर उक्त मंत्रोंके मननसे मिल सकता है ।  
मनन करनेके लिये हमसे पूर्व शब्दार्थ दिये हो हैं, परन्तु रीति  
स्पष्टताके लिये यहाँ सीधेसाथ स्पष्टीकरण करते हैं—

( १ )

- ( १ ) तेजस्वी शत्रुना, परन्तु ( २ ) शीत और मीठ  
अमृत धारण करके, ( ३ ) मित्रदृष्टिसे सब भूतमात्रको देखकर,  
( ४ ) निष्पक्षपाती गवाययकी परीक्षा करने, ( ५ )  
अग्नीको यथायोग्य उत्थापना देखकर सबका पोषण करने और  
( ६ ) अपने अन्दर शान बसाकर ।

( अश्विनी ) वेगवान् धनरक्षण शक्तिवाले और ( रज ) शत्रुको हलानेवाले ( मग ) भाग्य युक्त ( इन्द्र ) शत्रुओंको दूर करनेवाले शासनकर्ता प्रभुकी मैं प्रातःकालक समय प्रार्थना करता हूँ ।

### द्वितीय मंत्र ।

( प्रातर्जितं ) नित्य विजयी ( उग्र ) उग्र शूरवीर प्रभुकी मैं प्रातः काल प्रार्थना करता हूँ । इसी प्रभुकी शक्ति अशक्त और सशक्त, रक्त और राजा सभी करते हैं और अपने भाग्यका भाग उससे मागते हैं, क्योंकि वह ( विभर्ता ) सबका धारक और ( अदिते ) घटन रहित अवस्थाका ( पुनः ) पवन-कर्ता और तारणकर्ता है ।

( १ ) मैं अपना वेग बढ़ाकर ( २ ) शत्रुको हलाने योग्य पराक्रम युद्धमृगिपर कृपा और ( ३ ) भाग्यवान् धनकर अपने सब शत्रुओंको दूर करके उत्तम व्यवस्थासे शासन करूँगा ।

### ( २ )

मैं प्रातः कालमें अपने विजय साधनका विचार करता हूँ, उसके लिये आवश्यक उपग्रह धारण करूँगा और परमेश्वर भक्तिपूर्वक अपनी अदीनता और स्वाधीनताको रक्षार्थ लिये अहर्निश यत्न करूँगा तथा अपने अन्दर सब प्रकारकी पवित्रता बढ़ाता हुआ अपने अन्दर रक्षकशक्ति भी बढ़ाऊँगा ।

### सत्यका मार्ग ।

उपासनाके मन्त्रोंसे धारणा किस प्रकार होती है यह रीति यज्ञा दी है । पुनः पिताके समान बनता है, पिता करता है वह पुत्र करने लगता है, यही बात परम पिताके गुणगानके सबधसे होती है । क्योंकि इस जीवामरूप अमृत पुत्र ने परमात्माके समान सत्विदानन्द स्वस्वकी प्राप्ति करना ही है, उसी मार्गपर वह चल रहा है और इसीलिये वह उपासना करता है ।

( १ ) ' परमेश्वर ज्ञानी है ' इतना वाक्य कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी ज्ञानी बनूँगा और अधिक ज्ञान प्राप्त करूँगा । ' ( २ ) ' परमेश्वर शत्रुनिवारक है ' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी शत्रुओंका निवारण करके शत्रुरहित हो जाऊँ । ' ( ३ ) इसी प्रकार ' परमेश्वर ऐश्वर्यमय है ' इतना कहते ही मनमें भावना उठती है कि ' मैं भी ऐश्वर्य कमानेका प्रयत्न करूँ । ' ( ४ ) इसी रीतिसे ' परमेश्वर इस सब विश्वका कर्ता है ' इतना कहते ही मनमें यह भावना खड़ी होती है कि ' मैं भी कुछ हुनर बनाऊँ । ' इसा प्रकार अभ्यास्य उपासनाका धारणासे संबन्ध है । यह जो बुद्धिमें स्थिर रूपसे विशिष्ट विचारकी भावना जन्म जाती है उसका नाम ' भी ' है । पाठक अब समझ गये होंगे कि प्रथम और द्वितीय मन्त्रकी उपासनासे जो धारणावर्ती बुद्धि बनती है वह कर्मयोगी ज्ञानशक्ति कैसी है और वह मनुष्य मात्रका उद्धार करनेके लिये किस प्रकार सहायक हो सकती है ।

हर्मा धियं ददन् नः उत्तमः । ( सू. १६, म. ३ )  
' इस धारणावर्ती बुद्धिके देकर हमारा उन्नती करते हुए हमारी रक्षा कर । '

इस तृतीय मन्त्रके उपदेशमें कितना महत्त्वपूर्ण भाग है, इसका विचार पाठक करें और इस दंगसे मन्त्रोंकी उपासनामय भाषीसे अपने उद्धारका मार्ग जानकर पाठक अपने अभ्युदय और निःशेषसका साधन करें ।

१० ( अर्ध, माध्य, काण्ड ३ )

तृतीय मन्त्रमें ' प्रणेता ' और ' सत्याराध ' ये दो शब्द विशेष महत्त्वके हैं । ' प्र-णेता ' का अर्थ ' उत्कर्षकी ओर ले जानेवाला नेता ' तथा ' सत्य-राध ' का अर्थ ' सत्यके मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाला ' है । ये दोनों शब्द परमात्माके गुण बता रहे हैं । परमात्मा सबका उन्नतिकी मार्गकी ओर ले जा रहा है और सत्यमार्गसे ही सबकी सिद्धि देता है, इसलिये ये दो शब्द परमराममें साथ होते हैं । ये दो शब्द मनुष्योंके वाचक भा होते हैं, उस समय इनका अर्थ बड़ा बोधप्रद है । मनुष्य तथा मनुष्योंके नेता इन शब्दोंको अपने आचरणसे अपनेमें चरितार्थ करें । मनुष्योंके नेता अपने अनुयायियोंकी उत्कर्षके मार्गसे ल जायें और सिद्धि लिये सत्यके साथ मार्गसे ही अपना कार्य करें और यश प्राप्त करें । ऐसे सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करनेवाले मनुष्योंको ही ' नृ अपवा नर ' कहते हैं और ऐसे श्रेष्ठ सत्य नेताओंके साथ रहनेसे ही मनुष्योंकी मनुष्योंके साथ रहनेका सुख प्राप्त हो सकता है, इसलिये कहा है—

नृभिः नृपन्तः स्यात् । ( सू. १६, म. ३ )

' श्रेष्ठ मनुष्योंके साथ होनेसे हम मनुष्य युक्त बनेंगे । यहीना ' नृवान् ' शब्द ' मातृमान्, पितृमान् ' शब्दके समान अर्थवाला है, जैसा — ( मातृमान् ) प्रसन्ननीय गुणवाली मातामय युक्त, ( पितृमान् ) प्रशन्ननीय गुणवाले पितामय युक्त, इसा प्रकार ( नृवान्, नृपान् ) प्रशन्ननीय श्रेष्ठ मनुष्योंसे युक्त । नहीं तो हरेष्टक मनुष्योंके साथ कैसे भी मनुष्य रहते ही हैं । क्योंकि साथ भी उनके साथी रहते ही हैं, तथापि उनचारोंमें ' नृमान् ' नहीं कहा जा सकता । अच्छे मनुष्योंके साथ रहनेसे ही मनुष्यका अभ्युदय होता प्रभव है, इसलिये ' अपने साथ अच्छे मनुष्य रहें ' ऐसी इच्छा यहाँ प्रष्ट की गई है । इस प्रकार

अन्धे मनुष्यों की साथ मिलनेसे नि संदेह मनुष्योंका कल्याण हो सकता है ।

### देवोंकी सुमति ।

‘ हम प्रातः काल, दोपहरके समय और सायंकाल ऐसे कर्म करें, कि जिससे हम ( भगवन्त ) भाग्यवान् बनते जाय । तथा हम देवोंकी उत्तम मतिमें रहें । ( म. ४ ) ’ यह चतुर्थ मन्त्रका कथन है । यहाँ दिन भर पुरुषार्थ प्रशस्त करनेकी सूचना है । प्रातः काल क्या, दोपहरके समय क्या और सायंकालके समय क्या अपना ऐश्वर्य बढ़ानेका पुरुषार्थ करना चाहिये । सत्यमार्गसे चलते हुए ऐसे कर्म करना चाहिये कि जिससे भाग्य प्राप्त हो ।

जहाँ भाग्य प्राप्त होना है, वहाँ मनुष्यमें स्थायं उत्पन्न हो सकता है और सत्य तथा असत्य मार्गका विचार भाग्यकी धुरी रह नहीं सकता, इसलिये भाग्यप्राप्तिवा सत्य करनेका उपदेश करनेवाले इस मन्त्रमें कहा है कि—

धर्मं देवानां सुमतौ स्याम । ( सू. १६, म. ४ )

‘ हम देवोंकी सुमतिमें रहें । ’ अर्थात् भाग्य प्राप्त करनेके समय हमसे ऐसा आचरण हो कि जिससे देव असंतुष्ट न हों, हमारे ऊपर अभिज्ञान न हो, प्रत्युत हमारे विषयमें उत्तम भाव ही जनके मनमें सदा रहे । हमसे ऐसे कर्म हों कि जिनसे वे सदा संतुष्ट रहें । इस मन्त्रमें यह धारणाकी सूचना अत्यन्त महत्व रखती है, क्योंकि भाग्य और ऐश्वर्य ऐसे पदार्थ हैं कि ओ प्राप्त होनेसे अथवा जिनकी प्राप्तिकी इच्छासे मनुष्य दुर्गमार्ग पर रहना कठिन है । परन्तु वेदको दुर्गमार्गपरसे मनुष्योंको चलते हुए ही जनको भाग्य देना अभीष्ट है, इसलिये जहाँ गिरनेकी सम्भावना होता है वहाँ ही इस प्रकारकी धारणाकी सूचना दी होती है । ताकि मनुष्य न भिरे और भाग्य भी प्राप्त करें । पंचम मन्त्रमें—

स्त नी भगः पुरयता भवेत् । ( सू. १६, म. ५ )

‘ वह मनुष्यात्मा ही हमारा अगुवा बने ’ यह उपदेश कहा है वह भी इहाँ उत्तरमें है, कि मनुष्य परमात्माका ही अपना अनुयायी समझे और अपने आपको उसके अनुयायी समझे और उसीके प्रकाशमें कार्य करते हुए अपनी उत्पत्तिके कार्य करते हुए अपनी उत्पत्तिके कार्य करें । गतिपटलके बचानेके हेतुसे यह उपदेश है । सर्वशः परमेश्वर अपना निर्दोषक है यह विश्वास मनुष्योंको गिरावले बहुत प्रकारसे क्या सकता है ।

### अहिंसाका मार्ग ।

चतुर्थ मन्त्रमें अन्धरे मार्गसे जानेका उपदेश है, यह अन्धकार

मार्ग देखनेके लिये अन्धर शब्दका अर्थ ही देखना चाहिये—

अन्धर— ( अ-ध्वरा ) अकुटिलता, जहाँ तेजापन नहीं है, जहाँ सीधा भाव है, जहाँ हिंसा नहीं है, जहाँ दूसरोंका घातपात करनेका भाव नहीं है, जहाँ दूसरोंको कष्ट देकर अपना स्वार्थ साधन करनेका विचार नहीं है ।

ये ‘ अ-ध्वर ’ शब्दके अर्थ इस मार्गका स्वरूप बता रहे हैं । इस अहिंसाके मार्गसे जाना और पंचम मन्त्रका ‘ परमेश्वरको अपना अगुवा बनाना ’, चतुर्थ मन्त्रको ‘ देवोंकी सुमतिमें रहना ’, और तृतीय मन्त्रको ‘ सत्य मार्गसे सिद्धि प्राप्त करना ’ एक ही बात है । इस दृष्टिसे ये चारों मन्त्र मिल मिल उपदेशों एक ही आशय बता रहे हैं । पाठक यहाँ देखें कि इस सूत्रों यह एक ही बात कितने विविध प्रकारोंसे कही है, इससे स्पष्ट पता लग सकता है कि वेदका कटाक्ष अहिंसामय सत्यमार्गसे लोगोंकी चलानेके विषयमें कितना अधिक है ।

### गौर्व और घोडे ।

इस सूत्रके तृतीय मन्त्रमें ‘ गौर्वों और घोडोंके साथ हमें युक्त कर ’ ऐसा कहा है । सप्तम मन्त्रमें भी वही बात फिर दुहराई है । इससे पर्यन्त गौर्व और घोडे रहना वेदकी दृष्टिसे परका भूषण है, यह बात सिद्ध होती है ।

सप्तम मन्त्रमें ( घृत दुहाना ) ‘ घीका दोहन करनेवाली ’ और ( विश्रुत प्रणीता ) ‘ सब प्रकार दुग्धपान करानेवाली ’ यह उपाका वर्णन सबरोंके समय दुग्धका दोहन करना, दोहन होते ही ताजा दूध पीना, मज्जनसे पी लेना करना इत्यादि बातोंका सूचक है । घरमें गौर्वोंकी इत्थलिये रखना होता है कि उनका ताजा दूध पीनेके लिये मिले और कच्चे दूधके दहीमें आलू निहाला हुआ मज्जन लेकर उसका आज ही पी बनाकर सेवन किया जाय । ऐसे घोडों ‘ दैत्यगवीन घृत ’ करते हैं । यह घृत खाने या पीनेसे शरीरकी पुष्टि होता है और इसके दहनसे दवा नीरोम भी होती है ।

### अन्नपान ।

द्वय प्रकार दुग्धपान करनेके पश्चात् घोडापर सवार होकर अन्नपानके लिये बाहर जाना चाहिये और पशु दो कच्चे घोडों सवारी करते पश्चात् घा आकर अपने कार्यको लगना चाहिये । बहुत घोडे पाठक ऐसे होंगे जिनको भाने परकी घोडा लगाने दुष्कृत्य लगे किन्तु मित्रता हो और अपने उत्तम घोडेपर सवार होकर सबरोंके प्राणप्रद वायुमें प्रमग्न करनेका योग्याय प्राप्त होता हो । आज्ञाका अन्तर्गत विपरीत है । इस समयमें ऐसी नीति रीतिवा वैदिक स्मरणमें हो रखना चाहिये ।

# कृषिसे सुख-प्राप्ति ।

( १७ )

( ऋषिः — विश्वामित्रः । देवता — सीता )

सीरां युञ्जन्ति कृवयो युगा वि तन्वते पृथक् ।

वीरां देवेषु सुम्नयो

॥ १ ॥

युनक्त सीरा वि युगा तनोत कृते योनौ वपतेह बीजम् ।

विराजः श्रुष्टिः सभरा असत्रो नदीय इत्सृण्यः पक्रमा र्ववन्

॥ २ ॥

लाङ्गलं पवीरवत्सुशीमं सोमसत्सरु ।

उदिद्वपत्तु गामर्वि प्रस्थावदरथवाहनं पीवरीं च प्रफर्ण्यम्

॥ ३ ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।

सा नः पर्यस्वती दुष्टामुचरां मुचरां समां

॥ ४ ॥

अर्थ— ( देवेषु वीराः कृवयः ) देवोंमें जुद्ध करनेवाले कवि लोग ( सुम्नयो सीरा युञ्जन्ति ) सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं और ( युगा पृथक् वितन्वते ) जुओंको अलग अलग करते हैं ॥ १ ॥

( सीराः युनक्त ) हलोंको जोड़े, ( युगा वितनोत ) जुओंको फैलाओ, ( कृते योनौ इह बीजं वपत ) बने हुए खेतमें यहाँपर बीज बोओ । ( विराजः श्रुष्टिः नः सभराः असत् ) अन्नकी उपज हमारे लिये भरपूर होवे । ( सृण्यः इत् पक्रं नदीयः आयवन् ) ईसुये भी परिपक्व धान्यको हमारे निकट लावे ॥ २ ॥

( पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु लाङ्गलं ) वज्रके समान कठिन, चक्रानेके लिये सुखकारक, लकड़ोंके मूठवाला हल ( गौं अवि ) गौ और बकरी, ( प्रस्थावत् रथवाहन ) शीघ्रगामी रथके घोड़े या बैल, ( पीवरीं च प्रफर्ण्यम् ) पुष्ट ली ( इत् उद्वपत्तु ) निश्चयसे देवे ॥ ३ ॥

( इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु ) इन्द्र हलकी रेषाको पकड़े, ( पूषा तां अमिरक्षतु ) पूषा उसकी रक्षा करे । ( सा पर्यस्वती नः उत्तरा उत्तरां समां दुष्टां ) वह हलकी रेषा रथ चुक होकर हमें आगे आनेवाले वज्रोंमें रथोंका प्रदान करे ॥ ४ ॥

भाषार्थ— पृथिव्यादि देवताओंकी शक्तियोंपर विश्वास रखनेवाले कवि लोग विशेष सुख प्राप्त करनेके लिये हलोंको जोतते हैं अर्थात् कृषि करते हैं और जुओंको यथा स्थानपर बाँध देते हैं ॥ १ ॥

हे लोगो ! तुम हल जोतो, जुओंको फैलाओ, अच्छी प्रकार भूमि तैयार करनेके बाद उसमें बीज बोओ । इससे अन्नकी उत्तम उपज होगी, बहुत धान्य उपजोगा और परिपक्व होनेके बाद बहुत धान्य प्राप्त होगा ॥ २ ॥

हलको लोहेका कठिन पार लगाया जावे और लकड़ीकी मूठ पकड़नेके लिये की जावे, वह हल चलायेंके समय सुख देवे । वह हल ही गौ-बैल, भेड़-बकरी, घोड़ा-घोड़ी, ली-पुष्टि आदिको उत्तम खाद्य और धान्यादि देकर पुष्ट करता है ॥ ३ ॥

इन्द्र अपनी कृष्टिद्वारा हलसे खुदी हुई रेषाको पकड़े और धान्य पोषक सूर्य उसकी उत्तम रक्षा करे । वह भूमि हमें प्रति-वर्ष उत्तम रस भुक्त धान्य देती रहे ॥ ४ ॥



शुनं सुफ़ाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान् ।

शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमसै ॥ ५ ॥

शुनं वाहाः शुनं नराः शुनं कृपतु लाङ्गलम् ।

शुनं वरुवा वष्यन्तां शुनमष्टासुर्दिङ्मय ॥ ६ ॥

शुनासीरेह स मे जुपेथाम् ।

यद्विवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुपं सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

सीते वन्दांमे त्वार्वाचीं सुमगे भव ।

यथा नः सुमना असो यथा नः सुफ़ला भुवः ॥ ८ ॥

घृतं सीता मधुना समक्ता विश्वैर्द्वैरनुमता मरुद्भिः ।

सा नः सीते पर्यसाभ्याववृस्वोर्जिस्वती घृतवत् पिन्वमाना ॥ ९ ॥

अर्थ— ( सु-फालाः भूमिं शुनं वि तुदन्तु ) सुन्दर हलके पाल भूमिकी मुखपूर्वक खोदें । ( कीनाशाः शुनं वाहान् अनु यन्तु ) किसान मुखपूर्वक बैलोंके पीछे चलें । ( शुनासीरी ) दे यायु और दे सूर्य । तुम दोनों ( हविषा तोशमानो ) हमारे हवनमें छुट्ट होकर ( असै सुपिप्पलाः ओषधीः कर्तम् ) इस किसानके लिये उत्तम फल युक्त धान्य उत्पन्न करो ॥ ५ ॥

( वाहाः शुनं ) बैल शुकी हों, ( नराः शुनं ) मनुष्य शुकी हों ( लांगलं शुनं कृपतु ) हल शुपड़े कृषि करें । ( वरुवा शुनं वष्यन्तां ) रक्षिषीं शुनये बांधी जाय, ( अष्टां शुनं उर्दिङ्मय ) बाबूक मुखसे ऊपर बला ॥ ६ ॥

दे ( शुनासीरी ) बायु और सूर्य । ( इह स मे जुपेथां ) यहाँ मेरे हवनमा स्वीकार करें । ( यत् पयः दिवि चक्रथुः ) जो जल आकाशमें घूमने बनाया है ( तेन इमां भूमिं उप सिञ्चते ) उससे इस भूमिकी सींचते रहो ॥ ७ ॥

दे ( सीते ) जुती हुई भूमि । ( त्वा वन्दांमे ) तेरा वन्दन करते हैं । दे ( सुमगे ) ऐश्वर्यशाली भूमि । ( यथा नः सुमना भव ) हमारे सम-मुख हो । ( यथा नः सुमनाः असः ) जिससे तू हमारे लिये उत्तम मनवाणी होने और ( यथा नः सुफ़ला भुवः ) जिससे हमें उत्तम फल देनेवाली होने ॥ ८ ॥

( घृतं मधुना समक्ता सीता ) घी और शहदसे उत्तम प्रकार मिश्रित हो हुई जुती भूमि ( विश्वैः देवैः मरुद्भिः अनुमता ) गण देवी और मरुतों द्वारा अनुपादित हुई, दे ( सीते ) जुती भूमि । ( सा घृतवत् पिन्वमाना ) घट पति गिन्ध । हुई तू ( नः पर्यसाभ्याववृस्व ) हमें दूधसे चारों ओरसे युक्त कर ॥ ९ ॥

## कृषिसे भाग्यकी वृद्धि ।

कृषिसे भाग्यकी वृद्धि होती है । भूमिकी अवस्था, वायु और वृष्टिकी परिस्थिति, शत्रुमानकी अनुकूलता जो जानते हैं, वे कृषि करके लाभ उठा सकते हैं और सुखी हो सकते हैं ।

सबसे पहले किसान हल जोतें, हलसे भूमि अच्छी प्रकार उखाड़ी जाय, हलकी लकड़ी से डोक की जाय और उन लकड़ीके अंदर बीज बोया जाय, ऐसा करनेसे उत्तम धान्य पैदा हो सकता है ।

जब हलसे उत्तम कृषि की जाती है तब धान्य भी उत्तम उत्पन्न होता है, घास भी विपुल मिलता है और सब पशु तथा मनुष्य बहुत पुष्ट हो जाते हैं ।

हलसे पुदी हुई भूमिकी ( इन्द्रः सीता निरुहातु ) वृष्टि करनेवाला इन्द्र देव अपने जलसे पकड़े, पश्चात् उसकी उत्तम रक्षा ( पूषा ) सूर्य अपनी दिग्गोत्रे करे । इस प्रकार वृष्टि और सूर्यप्रकाश योग्य प्रमाणमें मिलते रहे तो उत्तम कृषि होगी और धान्यादि बहुत प्रमाणमें प्राप्त होगा ।

## धान्य बोनेके पूर्व हवन ।

पञ्चम मंत्रमें उत्तम कृषि होनेके लिये प्रारंभमें खेतमें हवन करनेका उल्लेख है । जो धान्य बोना है उसका हवन करना चाहिये और हवनेके लिये छतादि अन्य पदार्थ जो अवश्य चाहिये हों । इस प्रकारके हवनसे अलवायु शुद्ध होता है और शुद्ध कृषिसे शुद्ध धान्य उत्पन्न होता है । इस हवनसे दूसरी एक बात स्वयं हो जाती है, वह यह है कि जिसका हवन करना होता है वही बोना होता है, इस नियमसे हवनमें निषिद्ध तमाकू आदि पातक पदार्थ बोनेकी संभावना ही कम हो जाती है । इससे स्पष्ट है, कि यदि बोनेके पूर्व हवनकी वैदिक प्रथा जागी की जाय तो तमाकू जैसे हानिकारक पदार्थ जगत्में जनताका इतना घात करनेके लिये उत्पन्न ही नहीं होंगे और उत्तम धान्यादिकी विपुल उत्पत्ति होकर लोगोंका अधिक कल्याण होगा ।

## सम्राटके लिये घी और शहद !!

नवम मंत्रमें ( शृतेन मधुना पयसा समजा सीता ) घी,

शहद और दूधका खाद वनस्पतीयाँको बालनेका उपदेश है । आजकल तो ये पदार्थ मनुष्योंकी छात्रेके लिये भी नहीं मिलते तो खादके लिये, अल्प प्रमाणमें ही क्यों न सही, कहा मिलेगा ! परंतु शुद्ध पौष्टिक फल उत्पन्न करनेके लिये दूध, घी और शहदका खाद अत्यंत आवश्यक है, यह बात सत्य है ।

## ऐतिहासिक उदाहरण ।

पूतके पेशवाओंके समयमें कई आम इस पंचामृतका खाद देकर तैयार किये थे, उनमेंसे एक आमका वृक्ष इस समयतक जीवित है और ऐसे मधुर और स्वादु फल दे रहा है कि उसका वर्णन शब्दोंसे हो नहीं सकता !!! पंचामृत ( दूध, दही, घी, शहद और मिश्री ) के खादसे जो आम पुष्ट होता हो उसके फल भी वैसे ही अमृत अमृत रूप अवश्य होंगे इसमें संदेह ही क्या है, यह प्रत्यक्ष उदाहरण है, तथा बार्डके एक पण्डितने आर्य कृषि शास्त्रके अनुसार दूधका खाद देकर एक वर्ष गवारीकी कृषि की थी, उससे इतना परिपुष्ट और स्वादु धान्य उत्पन्न हुआ कि उसकी साधारण धान्यसे तुलना ही नहीं हो सकती ।

यह वैदिक कृषि शास्त्रका अत्यंत महत्त्वका विषय है, जो धनो पाठक इसके प्रयोग कर सकते हैं अवश्य करके देखें । साधारण जनके लिये ये प्रयोग करना अशक्य ही है क्योंकि जिन लोगोंकी बोनेके लिये दूध नहीं मिल सकता वे खादके लिये दूध, दही, घी, शहद और मिश्री कहाँसे ले लायेंगे ।

पाठक ये वर्णन पढ़ें और वैदिक कालकी कृषिकी धनसे ही कल्पना करें और मन ही मनमें उसका आस्वाद लेनेका यत्न करें ।।

## गौरक्षाका समय ।

वैदिककाल गौरका रक्षाका काल था, इसलिये गौरों निरुक्त थीं और उस कारण खादके लिये भी दूध मिलता था । परंतु आज अनायाँके अशयके लिये लाखोंकी छेद्योंमें गौरों काटी हैं, इसलिये बोनेके लिये भी दूध नहीं मिलता । यह कालका परिवर्तन दे । यहाँ अब देखना है कि वैदिक धर्माचारोंके प्रयत्नसे भविष्यकाल कैसा अन्ता है ।

# वनस्पति ।

( १८ )

( ऋषिः — अथर्वी । देवता — वनस्पतिः )

इमां खनाम्योपधिं वीरुषां बलवचमाम् ।  
 यया सपत्नीं वारधते यया संविन्दते पतिम् ॥ १ ॥  
 उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्रति ।  
 सपत्नीं मे परां शुद्र पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥  
 नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन्नमसे पती ।  
 परमिव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥  
 उत्तराहर्मुत्तर उत्तरेदुत्तराम्यः ।  
 अधः सपत्नी या ममाधरा साधराम्यः ॥ ४ ॥  
 अहर्मस्मि सहमानाथो त्वमसि सासुहिः ।  
 उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहे ॥ ५ ॥  
 अभि तैऽधां सहमानामुप तेऽधां सहोयसीम् ।  
 मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा चारिव धावतु ॥ ६ ॥

अर्थ— ( इमां बलवचमां वीरुषां औपधिं यनामि ) इस बलवाली औपधि वनस्पतिकी मैं खोदता हूँ । ( यया सपत्नीं वारधते ) जिससे सपत्नीको हृद्यया जाता है और ( यया पतिं चिन्दते ) जिससे पतिकी प्राप्ति किया जाता है ॥ १ ॥

दे ( उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्रति ) जिसमें पानवाली भाग्यवती देवी द्वारा छेवित बनवती औपधि । ( मे सपत्नी परा शुद्र ) मेरी सपत्नीको दूर कर और ( मे केवलं पतिं कृधि ) मुझे केवल पति कर दे ॥ २ ॥

दे धावतु छी । ( ते नाम नहि जग्राह ) तेरा नाम भी मैंने लिया नहीं है अब तू ( अस्मिन्नमसे पती नो रमसे ) इस पतिमें रममाण नहीं होगी । अब मैं ( परां सपत्नीं परावतं गमयामसि ) अन्य सपत्नीको दूर करती हूँ ॥ ३ ॥

दे ( उत्तरे ) मेरे गुणवाली औपधि । ( अदं उत्तरा ) मैं अधिक भेद हूँ ( उत्तराध्याः इत् उत्तरा ) जेठों में भेद हूँ । ( मम या अधरा सपत्नी ) मेरी ओ नीच सपत्नी है ( सा अधराध्याः अधरा ) वह नीचसे नीच है ॥ ४ ॥

( अदं सहमाना अस्मि ) मैं विजयी हूँ और दे औपधि । ( अधो एवं सासुहिः असि ) तू भी विजयी है । ( उभे सहस्वती भूत्वा ) हम दोनों जवानी बनकर ( मे सपत्नीं सहावहे ) मेरी सपत्नीको आन लेने ॥ ५ ॥

( ते अभि सहमाना अधा ) तेरे पारों और मैंने इस विजयिनी वनस्पतिकी रक्षा है ( ते उप सहोयसीं मया ) तेरे नीचे इस अदगाभिनी वनस्पतिकी रक्षा है । अब ( ते मनः मां अनु प्र धावतु ) तेरा मन मेरे पीछे दौरे । ( गीः पारसं इय धावतु ) गीः भी गहरे की ओर दौरे ॥ और ( याः इय पथा ) जेठा जब आने मार्गसे दौड़ता है ॥ ६ ॥

### सापत्नभावका भयंकर परिणाम ।

इसका भावार्थ सुबोध है इसलिये देनेकी आवश्यकता नहीं है।

अनेक क्रिया करनेसे घरमें कलह होते हैं, सापत्नभाव उत्पन्न होनेसे क्रियाओं परस्पर द्वेष बढ़ते हैं, संतानोंमें भी बड़ी कलहामि बढ़ता है, इसलिये ऐसे परिवारमें सुख नहीं मिलता है। यद्वात इस सूक्तमें बड़ी है। इस सूक्तका मुख्य तात्पर्य यही है कि कोई पुरुष एकसे अधिक विवाह करके अपने घरमें सापत्न-

भावका बीज न बोये।

जिस घरका पुरुष एकसे अधिक विवाह करता है वहां द्वेषामि भड़कने लगता है और उसको कोई सुखा नहीं सकता। वहां क्रियाओंमें कलह, संतानोंमें कलह और अंतमें पुरुषोंमें भी कलह होते हैं और अन्तमें उस कुटुंबका नाश होता है।

सपत्नीका नाश करनेका यत्न क्रिया करती है और उससे अकीर्ति फैलती है। इस सब आपत्तिको मिटानेके लिये एक-परनीयतका आचरण करना ही एकमात्र उपाय है।

## ज्ञान और शौर्यकी तेजस्विता ।

( १९ )

( ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — विश्वेदेवाः, चन्द्रमाः, इन्द्रः )

संशितं म इदं ब्रह्म संशितं वीर्यं बलम् ।

संशितं क्षत्रमजरमस्तु जिष्णुर्धेयमसि पुरोहितः ।

॥ १ ॥

समूहमेपां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं बलम् ।

वृक्षामि शत्रूणां बाहूनेन हविषाहम् ।

॥ २ ॥

अर्थ— ( मे इदं ब्रह्म संशितं ) मेरा यह ज्ञान तेजस्वी हुआ है, और मेरा यह ( वीर्यं बलं संशितं ) वीर्य और बल तेजस्वी बना है। ( संशितं क्षत्रं अजरं अस्तु ) इनका तेजस्वी बना हुआ साम्राज्य कभी क्षीण न होनेवाला होवे, ( येषां जिष्णुः पुरोहितः असि ) जिनका मैं विजयी पुरोहित हूँ ॥ १ ॥

( अहं एपां राष्ट्रं संस्यामि ) मैं इनका राष्ट्र तेजस्वी करता हूँ, इनका ( ओजः वीर्यं बलं संस्यामि ) बल, वीर्य और सैन्य तेजस्वी बनाता हूँ। और ( अनेन हविषा ) इस हवनसे ( शत्रूणां बाहूनां वृक्षामि ) शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

भावार्थ— मैं जिस राष्ट्रका पुरोहित हूँ उस राष्ट्रका ज्ञान मैंने तेजस्वी किया है और शौर्य, वीर्य भी अधिक तीक्ष्ण किया है, जिससे इस राष्ट्रका क्षात्रतेज कभी क्षीण नहीं होगा ॥ १ ॥

मैं इस राष्ट्रका तेज बढ़ाता हूँ और इसका शारीरिक बल, पराक्रम और जत्याह गो शूद्रिण करता हूँ। इससे मैं शत्रुओंके बाहुओंको काटता हूँ ॥ २ ॥

नीचैः पचन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघधानं पृतन्यान् ।

क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरयेस्तीक्ष्णतरा उत ।

इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामसि पुरोहितः ॥ ४ ॥

एषामहमार्युधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्षयामि ।

एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वेऽेषां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

उद्वर्पन्तां मघवन् वाजिनान्पुद् धीराणां जयतामेतु घोषः ।

पृथग् घोषां उलुलयः केतुमन्त उदीरताम् ।

देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

अर्थ— ये शत्रु ( नीचैः पचन्ताम् ) नीचे गिरें, ( अधरे भवन्तु ) भवन्त हों, ( ये न मघधानं सूरिं पृतन्यात् ) जो हमारे धनवान् और विद्वान् पर सेनासे बढाई करें । ( अहं ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि ) मैं शत्रुस शत्रुओंका ध्वज करता हूँ, और ( स्वान् उन्नयामि ) अपने लोगोंको उठाता हूँ ॥ ३ ॥

( परशोः तीक्ष्णीयांस ) परशुसे अधिक तीक्ष्ण, ( उत अशोः तीक्ष्णतराः ) और अग्निसे भी अधिक तीक्ष्ण, ( इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसः ) इन्द्रके वज्रसे भी अधिक तीक्ष्ण इनके अरथ हैं ( येषां पुरोहितः अस्मि ) त्रिनद्या पुरोहित मैं हूँ ॥ ४ ॥

( अहं एषां आयुधा संस्यामि ) मैं इनके आयुधोंको उत्तम तीक्ष्ण बनाता हूँ, ( एषां राष्ट्रं सुवीरं वर्षयामि ) इनका राष्ट्र उत्तम वीरतास युक्त करके बढाता हूँ, ( एषां क्षत्रमजरं जिष्णु अस्तु ) इनका शात्रुत्व अक्षय तथा जयताती होवे, ( विश्वेदेवा एषां चित्तं अवन्तु ) सब देव इनके चित्तका सम्बन्ध युक्त करें ॥ ५ ॥

६ ( मघवन् ) धनवान् ! उनके ( वाजिनानि उद्वर्पन्ता ) वज्र उतोत्रित हों, ( जयतां धीराणां घोषः उद्वपन्तु ) विजय करनेवाले वीरोंका शब्द ऊपर उठे । ( केतुमन्तः उलुलयः घोषाः ) अग्नि लहर हमारा करनेवाले व वीरोंके घोष शब्दका घोष ( पृथक् उत् उदीरताम् ) अलग अलग ऊपर उठे । ( इन्द्रज्येष्ठा मरुतः देवाः ) इन्द्रकी प्रमुख मरुत देव ( सेनया यन्तु ) अपनी सेनाके साथ चढ़ें ॥ ६ ॥

भाषार्थ— जो शत्रु हमारे धनकोपर तथा हमारे ज्ञानकोपर सेन्द्रके साथ हमारा करते हैं वे अशोचनीय प्रार होवे । वीरोधि मैं अपने ज्ञानसे शत्रुओंका नाश करता हूँ और उन्नयि अपने लोगोंको उन्नत करता हूँ ॥ ३ ॥

त्रिग राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ उस राष्ट्रके शत्रुओं परशु अधिक तीक्ष्ण, अग्निसे भी अधिक दाढ़, और इन्द्रके वज्र भी अधिक शक्तिशाली मैं ध्वज दूँ ॥ ४ ॥

मैं इनके शत्रुओंको अधिक तीक्ष्ण बनाता हूँ, इनके राष्ट्रको उन्नयि उत्तम वीर उत्तम करके बढाता हूँ, इनके शत्रुओंकी क्षत्रीयता न होनेवाला और वज्रा विजयी बनाता हूँ । सब देवता इनके चित्तोंको सम्बन्ध युक्त करें ॥ ५ ॥

६ प्रभो ! इनके वज्र उन्नयि उन्नयि हों इनके विजयी वीरोंका जयशब्दकारका शब्द आकाशमें भर जाय । अहं उद्वपन्त विजय करनेवाले इनके वीरोंका शब्द ऊपर अलग अलग उठे । विजय प्रदाता इन्द्रकी प्रमुख मरुतोंमें मरुतोंकी सेना विजय प्रदाता है, वीरों का शब्द इनकी सेना भी विजय प्रदाता ॥ ६ ॥

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः ।

तीक्ष्णेर्षवोऽवलधन्वनो हतोऽप्रायुधा अवलानुग्रवाहवः

॥ ७ ॥

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

जयामित्रान् प्र पद्यस्व जह्युषां वरैर्वरं मामीषां मोचि कथन

॥ ८ ॥

अर्थ— हे ( नरः ) लोगो ! ( प्र इत ) चलो, ( जयत ) जीतो, ( वः बाहवः उग्राः सन्तु ) तुम्हारे बाहु शौर्यसे युक्त हों । हे ( तीक्ष्णेपवः ) तीक्ष्ण बाणवाले वीरो ! हे ( अप्रायुधाः उग्रायाहवः ) उग्र आगुधवालो और बलयुक्त भुजावालो ! ( अवल-धन्वनः अवलानु हत ) निर्बल धनुष्यवाले निर्बल शत्रुओंको मारो ॥ ७ ॥

हे ( ब्रह्म-संशिते शरव्ये ) ज्ञानद्वारा तेजस्वी बने शस्त्र । तू ( अवसृष्टा परा पत ) छोड़ा हुआ दूर जा और ( अमित्रान् जय ) शत्रुओंको जीत लो, ( प्र पद्यस्व ) आगे बढ़, ( एषां वरैर्वरं जहि ) इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य वीरोंको मार डाल, ( अमीषां कथन मा मोचि ) इनमेंसे कोई भी न बच जाय ॥ ८ ॥

भाषार्थ— हे वीरो ! आगे बढ़ो, विजय प्राप्त करो, अपने बाहु प्रतापसे युक्त करो; तीक्ष्ण बाणों, प्रतापी राजाओं और समर्थ बाहुओंको धारण करके अपने शत्रुओंको निर्बल बनाकर उनकी काट डालो ॥ ७ ॥

ज्ञानसे तेजस्वी बना हुआ शस्त्र जब वीरोंकी प्रेरणासे छोड़ा जाता है तब वह दूर जाकर शत्रुपर गिरता है और शत्रुका नाश करता है । हे वीरो ! शत्रुपर बढ़ाई करो और शत्रुके मुख्य मुख्य वीरोंको चुन चुनकर मार डालो, इनकी ऐसी कत्तल करो कि उनमेंसे कोई न बचे ॥ ८ ॥

### राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य ।

राष्ट्रमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निवाद ये पाँच वर्ग होते हैं । उनमें ब्राह्मणोंका कर्तव्य पुरोहितका कार्य करना होता है । पूर्णहित करनेका नाम पुरोहितका कार्य करना है । यज्ञ-मानका पूर्णहित करनेवाला पुरोहित होना चाहिये । जब संपूर्ण राष्ट्रका विचार करना होता है उस समय सब राष्ट्र ही यज्ञमान है और सब ब्राह्मण जाती उस राष्ट्रके पुरोहितके स्थानपर होती है । इससे संपूर्ण राष्ट्रका पूर्णहित करनेका भार सब पुरोहित वर्गपर आ जाता है । ज्ञानकी ज्योति सब राष्ट्रमें प्रज्वलित करके उस ज्ञानके द्वारा राष्ट्रका अभ्युदय और निःश्रेयस सिद्ध करना पुरोहितका कर्तव्य है; यह इस सूक्तमें स्पष्ट शब्दोंमें वर्णन किया है । राष्ट्रके ब्राह्मण इस सूक्तका मनन करें और अपना कर्तव्य जानकर उसको निभायें ।

इस सूक्तका प्रथम वसिष्ठ है, और वसिष्ठ नाम ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मणका सुप्रसिद्ध है । इस दृष्टिसे भी इस सूक्तका मनन ब्राह्मणोंको करना चाहिये । अब सूक्तका आशय देखिये—

#### ब्राह्मतेजकी ज्योति ।

राष्ट्रमें ब्राह्मतेजकी ज्योति बजाना और उस ज्योतिके द्वारा

राष्ट्रकी उन्नति करनेका कार्य सबसे महत्त्वका और अत्यंत आवश्यक है । इस विषयमें इस सूक्तमें यह कथन है—

मे इदं ब्रह्म संशितम् । ( सू. १९, मं. १ )

ब्रह्मणा अमित्रान् क्षिणामि । ( सू. १९, मं. २ )

उधयामि स्वान् अहम् । ( सू. १९, मं. ३ )

अवसृष्टा परा पत शरव्ये ब्रह्मसंशिते ।

( सू. १९, मं. ८ )

जय अमित्रान् ० ॥ ( सू. १९, मं. ८ )

‘ मेरे प्रयत्नसे इस राष्ट्रका यह ज्ञानतेज चमकता है । ज्ञानके प्रतापसे शत्रुओंका नाश करता हूँ । और उनो ज्ञानसे मैं अपने राष्ट्रके लोगोंकी उन्नति करता हूँ । ज्ञानके द्वारा उन्नतित हुआ राष्ट्र दूरतक परिणाम करता है, उससे शत्रुकी जीत लो । ’

ये मंत्रमात्र राष्ट्रमें ब्राह्मतेजके कार्यका सफल बताते हैं । ज्ञान राष्ट्रीय उन्नतिमें बड़ा भारी कार्य करता है । जगत्में अनेक राष्ट्र हैं उनमें से दो राष्ट्र अग्रभागमें हैं कि जो ज्ञानसे विशेष संपन्न हैं । ज्ञान न होते हुए अभ्युदय होना अशक्य है । यदि उन्नतिका विरोधक कोई कारण होगा तो वह एकमात्र अज्ञान ही है । अज्ञानसे बंधन होता है और ज्ञानसे उस बंधनका नाश होता है । इसलिये राष्ट्रमें जो ब्राह्मण होंगे उनका

कर्तव्य है कि वे स्वयं ज्ञानी बनें और अपने राष्ट्रके सब लोगोंको ज्ञानसंपन्न करें । शत्रियों, वैश्यों और शूद्राको भी ज्ञान आवश्यक् ही है । उनके व्यवसायोंको उत्तमतासे निभानेके लिये ज्ञानको परम आवश्यकता है ।

ज्ञानसे शत्रु कौन है और अपना हितकारी मित्र कौन है इसका निश्चय होता है । अपने ज्ञानसे राष्ट्रके शत्रुको जानना और उसको दूर करनेके लिये ज्ञानसे ही उपामधी योजना करना चाहिये । यह उपाय योजनाका कार्य करना ब्राह्मणोंका परम कर्तव्य है । शत्रुपर हमला किस समय करना, शत्रुके राज्यान्न कैसे है, वनसे अपने राज्यान्न अधिक प्रभावशाली किस रीतिसे करना, शत्रुके राज्यान्न जितनी दूरीपर प्रभाव कर सकते हैं उससे अधिक दूरीपर प्रभाव करनेवाले राज्यान्न कैसे निर्माण करना, इत्यादि बातें ज्ञानसे ही सिद्ध हो सकती हैं, अपने राष्ट्रमें इनकी सिद्धता करना ब्राह्मणोंका कर्तव्य है । अर्थात् ब्राह्मण अपने ज्ञानसे इसका विचार करें और अपने राष्ट्रमें ऐसी प्रेरणा करें कि जिससे राष्ट्रके अन्दर एक परिवर्तन आ जावे । यही भाव निम्नलिखित मंत्रमें कहा है—

अयच्छा परा पत शस्त्रव्ये ब्रह्मसंशिते ।

( सू. १९, मं. ८ )

‘ ज्ञानसे तीक्ष्ण बने राज्यान्न शत्रुपर गिरे । ’ इसमें ज्ञानसे उत्तेजित, प्रेरित और तीक्ष्ण बने राष्ट्र अधिक प्रभावशाली होनेका वर्णन है । अन्य देशोंके राज्यान्न देखकर, उनकी वेग जानकर, और उनकी परिणाम अनुभव करके जब उनसे अधिक वेगवान् और अधिक प्रभावशाली राज्यान्न अपने देशके वीरोंके पास दिये जायेंगे, तब अन्त परिस्थिति समान होनेपर अपना वय नियत होना इष्टमें कुछ भी संदेह नहीं है ।

### पुरोहितकी प्रतिज्ञा ।

‘ त्रिष राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ वग राष्ट्रका हान, दीर्घ, वय, पराक्रम, शौर्य, धैर्य, वैजयी लगायद सभी चीज न हो । ’ ( मं. १ )

‘ त्रिष राष्ट्रका मैं पुरोहित हूँ सब राष्ट्रका पराक्रम, उरवाह, दीर्घ और वय मैं बढ़ाया हूँ और शत्रुओंका बल घटाया हूँ । ’ ( मं. २ )

‘ जो शत्रु हमारे पनी वैश्यों और कनी बालकोंके ऊपर, अपना हमारे देशके मुक्त न हमेशाके लोभोदर, गेजरे साथ हमारा बरगा लक्ष्य प्राप्त है करने करने कराया हूँ और

अपने राष्ट्रके लोगोंको मैं अपने ज्ञानके बलसे उठाता हूँ । ’ ( मं. ३ )

‘ जिनका मैं पुरोहित हूँ उनके राज्यान्न मैं अधिक तेज बनाता हूँ । ’ ( मं. ४ )

‘ इनके राज्यान्न मैं अधिक तीक्ष्ण करता हूँ । उत्तम वीरोंको संख्या इस राष्ट्रमें बढ़ाकर इस राष्ट्रकी सज्जति करता हूँ । और इनका शौर्य बढ़ाता हूँ । ’ ( मं. ५ )

ये मंत्रभाग पुरोहितके राष्ट्रीय कर्तव्यका ज्ञान अर्थात् शत्रुओं द्वारा दे रहे हैं । पुरोहितके ये कर्तव्य हैं । पुरोहित शत्रुओंकी क्षत्रियता सिद्धावे, वैश्योंकी व्यापार व्यवहार करनेका ज्ञान देवे और शूद्रादिकोंको कारीगरीकी शिक्षा देवे, और ब्राह्मणोंको इस प्रकारके विशेष ज्ञानसे युक्त करे । इस रीतिसे चारों वर्गोंको तेजली बनाकर संपूर्ण राष्ट्रका उद्धार अपने ज्ञानकी शक्तिसे करे । जो पुरोहित ये कर्तव्य करेंगे वे ही वैदिक शिष्टिसे सब पुरोहित हैं । जो पण्डित पुरोहितका कार्य कर रहे हैं वे इस सूक्तका विचार करें और अपने कर्तव्योंका ज्ञान प्राप्त करें ।

### युद्धकी नीति ।

पथ, सप्तम और अष्टम इन तीन मंत्रोंमें युद्धनीति का उद्देश्य इस प्रकार किया है—

‘ वीरोंके वयक अपने अपने झंडे उठाकर युद्धगीत गाते हुए और आनन्दसे विजय सूचक राक्षोंका धोष करते हुए शत्रुकेना-पर हमला करें और विजय प्राप्त करें । जिस प्रकार इन्द्रकी प्रसुप्ततामें मरुतोंके गण शत्रुपर हमला करते और विजय प्राप्त करते हैं, वही प्रकार अपने राजाके तथा अपने देवतापतिके आधिपत्यमें रहकर हमारे वीर शत्रुपर हमला करें और अपना विजय प्राप्त करें । ’ ( मं. ६ )

‘ वीरों । आगे बढ़ो, हमारे बाद प्रभावशाली हों, हमारे साथ शत्रुकी अनेक अधिक तीक्ष्ण हों, हमारे शक्ति शत्रुकी शक्तिसे अधिक पराक्रम प्रकाशित करनेवाली हों । इन सब युद्ध करते हुए तुम अपने निश्चित शत्रुको मार शालो । ’ ( मं. ७ )

‘ ज्ञानसे उत्तेजित हुए हमारे साथ शत्रुका नाश करें, ऐसे तीक्ष्ण शत्रुओंका शत्रुका घृणापात्र । ’ ( मं. ८ )

इन तीन मंत्रोंमें इतना उद्देश्य देकर पथ-पथ इन अन्त मंत्रोंके अन्तर्गत आनेवाले युद्धनीति बारी दे वे हमारे लक्ष्य बोध है—

(१) जहोपां वरं वरं,

(२) माऽमीमां मोचि कश्चन ॥ (पृ. १९, मं. ८)

'इन शत्रुओंके मुख्य मुख्य प्रमुख वीरोंको मार दो और इनमेंसे कोई भी न बचे ।' ये दो उपदेश युद्धके संबंधमें अत्यंत महत्वके हैं । शत्रुसेनाके पथके ओं संचालक और प्रमुख वीर हों उनका वध करना चाहिये । प्रमुख संचालकोंमेंसे कोई भी न बचे । ऐसी अवस्था होनेके बाद शत्रुकी सेना बड़ी आछानाँचे परास्त होगी । यह युद्धनैति अत्यंत मनन करने योग्य है ।

अपनी सेनामें ऐसे वीर रखने चाहिये कि जो शत्रुके वीरोंको चुन चुनकर मारनेमें तत्पर हों । जब इन वीरोंके वैषम्य शत्रु-सेनाके मुखिया वीरोंका वध हो जावे, तब अन्य सेनापर हमला करनेसे उस शत्रुसैन्यका पराभव होनेमें देरी नहीं लगेगी ।

जो पाठक राष्ट्रहितकी दृष्टिसे अपने कर्तव्यका विचार करते हैं वे इस सूक्तका मनन अधिक करें और राष्ट्रविषयक अपने कर्तव्य जानें और उनका अनुष्ठान करके अपने राष्ट्राका अभ्युदय करें ।

## तेजस्विताके साथ अभ्युदय ।

(१०)

(ऋषिः— वसिष्ठः । देवता— अग्निः, मन्त्रोक्तदेवताः)

अयं ते योनिर्ऋतिव्यो यतो जातो अरोचयाः ।

तं जानन्नम आ रोहाषा नो वर्धया रयिम् ॥ १ ॥

अग्रे अच्छा बड़ेह नः प्रत्यह नः सुमना भव ।

प्र णो यच्छ विशां पते घनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

प्र णो यच्छत्वयमा प्र भगः प्र बृहस्पतिः ।

प्र देवीः प्रोत सुनृता रयि देवी दधातु मे ॥ ३ ॥

अर्थ— हे अग्ने ! (अयं ते ऋतिव्यः योनिः) यह तेरा ऋतुसे संबंधित उत्पत्तिस्थान है (यतः जातः अरोचयाः) जिससे प्रकट होकर तू प्रकाशित हुआ है । (तं जानन्न आरोह) उसको जानकर ऊपर चढ़ (अघ नः रयि वर्धय) और हमारे लिये धन बढ़ा ॥ १ ॥

हे अग्ने ! (इह नः अच्छ घद) यही हमसे अच्छे प्रकार बोल और (प्रत्यह नः सुमनाः भव) हमारे धनुष होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो । हे (विशांपते) प्रजाओंके स्वामिन् (नः प्रयच्छ) हमें दान दे क्योंकि (त्वं नः घनदाः असि) तू हमारा धनदाता है ॥ २ ॥

(अयमा नः प्र यच्छतु) अयमा हमें देवे, (भगः बृहस्पतिः प्र प्रयच्छतु) भग और बृहस्पति भी हमें देवे । (देवीः प्र) देविणी हमें धन देवे । (उत सुनृता देवीमे रयि दधातु) और सरल स्वभाववाली देवी मुझे धन देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ— हे अग्ने ! ऋतुओंसे संबंध रखनेवाला यह तेरा उत्पत्तिस्थान है, जिससे जन्मते ही तू प्रकाशित हो रहा है । अपने उत्पत्तिस्थानको जानता हुआ तू उत्तत हो और हमारे धनकी वृद्धि कर ॥ १ ॥

हे अग्ने ! यही स्पष्ट वाणीसे बोल, हमारे समुच्च उपस्थित होकर हमारे लिये उत्तम मनवाला हो । हे प्रजाओंके पालक ! तू हमें धन देनेवाला है, इसलिये तू हमें धन दे ॥ २ ॥

अयमा, भग, बृहस्पति, देवीयां तथा वाग्देवी ये सब हमें धन दें ॥ ३ ॥



सोमं राजानुमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।

आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्षय ।

त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

इन्द्रयायु उभावहि सुहवेह हवामहे ।

यथा नः सर्वे इजानः संगत्यां सुमना असुहानकामश्च नो शुर्वत् ॥ ६ ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।

पातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

यार्जस्य नु प्रसूये सं वभूषेमेमा च विश्वा धुर्वनान्यन्तः ।

उतादित्सन्तं दापयतु प्रजानन् रयिं च नुः सर्ववीरं नि यच्छ ॥ ८ ॥

अर्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको ( अथर्वे गीर्भिः हवामहे ) हमारी रक्षा के लिये युक्त है ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! ( र्यं अग्निभिः ) तू अग्निबोधे वायु ( नः ब्रह्म यज्ञं च वर्षय ) हमारा ज्ञान और वस्तु ब्रह्मा । हे देव ! ( त्वं नः दातवे दानाय रयिं चोदय ) तू हमारे दानी पुरुषको दान देनेके लिये धन भेज ॥ ५ ॥

( उभौ इन्द्रयायु ) दोनों इन्द्र और वायु ( सु-द्वयौ ) उत्तम सुताने योग्य हैं इसलिये ( इह हवामहे ) यहाँ युक्त हैं । ( यथा नः सर्वे इजानः ) त्रिवेदे हमारे ऊर्ण लोग ( संगत्यां सुमनाः असत् ) संगतिमें उत्तम मनवाते होवें ( च नः ) और हमारे लोग ( दानकामाः भुवश्च ) दान देनेको इच्छा करनेवाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और ( वाजिनं सवितारं ) वेगवान् सवितारको ( दानाय चोदय ) हमें दान देनेके लिये प्रेरित कर ॥ ७ ॥

( यार्जस्य प्रसूये सं वभूषिम ) बलवी अग्निमें ही हम संगठित हुए हैं । ( च हम्रा विश्वा धुर्वनानि अन्ताः ) और ये सब भुवन उल्लेख योग्य हैं । ( प्रजानन् ) जाननेवाला ( अदित्सन्तं उत दापयतु ) दान न देनेवालेको निवर्तन पूर्वक दान देनेके लिये प्रेरणा कर । ( च नः सर्ववीरं रयिं नि यच्छ ) और हमें सब प्रकारके वीरभावसे युक्त धन दे ॥ ८ ॥

भाषार्थ— राजा सोम, अग्नि, आदित्य, विष्णु, सूर्य, ब्रह्मा और बृहस्पतिको हम प्रार्थना करते हैं कि ये हमारी रक्षा रक्षिते रहें ॥ ४ ॥

हे अग्ने ! तू अनेक अग्निबोधे वायु हमारा ज्ञान और हमारी कर्मवृत्ति ब्रह्माओ । हे देव ! दान देनेवाले पुरुषको दान देनेके लिये प्रेरणा भेज दे ॥ ५ ॥

हम इन्द्र-वायु इन दोनोंकी प्रार्थना करते हैं त्रिवेदे हमारे सब लोग संगठनमें संगठित होते हुए उत्तम मनवाते हैं और दान देनेको इच्छावाले होवें ॥ ६ ॥

अर्यमा, बृहस्पति, इन्द्र, वायु, विष्णु, सरस्वती और बलवान् सवितार ये सब हमें दान करनेके लिये प्रेरित करें ॥ ७ ॥

च नः यार्जस्य चरनेके लिये हम धन भेज सकते हैं, देवों से सब भुवन और सब चीजें प्राप्त हुए हैं । यह जाननेवाला पुरुषको दान करनेको प्रेरणा कर और हमें सर्ववीर वीरभावसे युक्त धन दे ॥ ८ ॥

दुहां मे पञ्च प्रदिशो दुहामुर्वीर्यथाचलम् ।

प्रापेयं सर्वा आकूतीर्भनसा हृदयेन च

गोसर्नि चार्चमुदये वर्चसा माम्बुदिहि ।

आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे

॥ ९ ॥

॥ १० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

अर्थ— ( उर्वीः पञ्च प्रदिशः ) ये बड़ी पाँचों दिशाएँ ( यथाचलं मे दुहां ) यथाशक्ति मुझे रख दें । ( मनसा हृदयेन च ) मनसे और हृदयसे ( सर्वाः आकूतीः प्रापयेयम् ) सब संकल्पोंको पूर्ण कर सकूँ ॥ ९ ॥

( गोसर्नि चार्च उदये ) इन्द्रियोंके प्रसन्नता करनेवाली वाणी मैं बोळूँ । ( वर्चसा मां अभ्युदिहि ) तेजके साथ मुझे प्रकाशित कर । ( वायुः सर्वतः आ रुन्धाम् ) प्राण मुझे सब ओरसे घेरे रहे । ( त्वष्टा मे पोषं दधातु ) त्वष्टा मेरी शीष्टके देता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ— ये बड़ी विस्तीर्ण पाँच ही दिशाएँ हमें यथाशक्ति पोषक रख दें, जिससे हम मनसे और हृदयसे बलवान् बनते हुए अपने संपूर्ण संकल्पोंको पूर्ण करेंगे ॥ ९ ॥

प्रसन्नताकी बढानेवाली वाणी मैं बोळूँगा । तेजके साथ मुझे अभ्युदयको प्राप्त कर । वारों ओरसे मुझे प्राण उत्साहित करे और जगत्प्रभिता मुझे सब प्रकार पुष्ट करे ॥ १० ॥

### अम्रिका आदर्श ।

इस सूक्तमें अम्रिके आदर्शके मनुष्यके अभ्युदय साधन करनेके मार्गका उत्तम उपदेश दिया है । इस सूक्तका ध्येय वाक्य यह है—

वर्चसा मा अभ्युदिहि । ( सू० १०, मं. १० )

‘तेजके साथ मेरा सब प्रकारसे उदय कर’ यह हर एक मनुष्यकी इच्छा होनी चाहिये । यह वाक्य छिद्र होनेके लिये साधनके आवश्यक मार्ग इस सूक्तमें उत्तम प्रकार बहे हैं । सनका विचार करनेके पूर्व हम अम्रिके आदर्शसे जो बात बताई है वह देखते हैं—

‘गर्भमें जो अग्नि भेजे है, वह लकड़ियोंसे उत्पन्न करते हैं, लकड़ियों स्वयं प्रकाशित नहीं हैं परन्तु उनसे उत्पन्न होनेवाला अग्नि ( जातः अरोचथाः । मं. १ ) उत्पन्न होते ही प्रकाशित होता है । पश्चात् वह हवन कुण्डमें रखते हैं, वहाँ वह ( रोह । मं. १ ) स्वयं वसता है और दूसरोंको भी प्रकाशित करता है । इस समय उसके चारों ओर ऋत्विज लोग ( गोभिः हवामहे । मं. ४ ) मंत्रपाठ करते हैं और हवन करते हैं । इस समय इस अम्रिके साथ ( अग्निः अग्निभिः । मं. ५ )

अनेक हवन कुण्डोंमें अनेक अग्नि प्रज्वलित होते हैं और इससे ( प्रह्व यज्ञं च वर्धय । मं. ५ ) ज्ञान और यज्ञकी शक्ति हांती है । यज्ञमें सब लोग ( जनः संगत्यां सुमनाः । मं. ६ ) मिलकर उत्तम विचारसे कार्य करते हैं । तथा ( प्रसवे सं यभूचिम । मं. ८ ) ऐश्वर्य प्राप्तिके लिये एक होकर कार्य करते हैं और इस प्रकारके यज्ञसे तेजस्वी होकर अपना अपना अभ्युदय सिद्ध करते हैं ।

सारोक्त्ये यह यज्ञ प्रक्रिया है, इसमें लकड़ियोंसे उत्पन्न हुई छोटीसी अम्रिकी चिनगारीका कितना यश बढता है और यह अग्नि अनेक मनुष्योंकी उन्नति करनेमें कैसा समर्थ होता है, यह बात पाठक देखें । यदि अम्रिकी छोटीसी चिनगारीके तेजके साथ बड़ जानेसे इतना अभ्युदय हो सकता है, तो मनुष्यमें रहनेवाली चैतन्यकी चिनगारी इसी प्रकार प्रकाशके मार्गसे चलेगी तो कितना अभ्युदय प्राप्त करेगी, इसका विचार पाठक स्वयं जान सकते हैं, इसीका उपदेश पूर्वोक्त अम्रिके उपान्तसे इस सूक्तमें बताया है ।

### उत्पत्तिस्थानका स्मरण ।

सबसे प्रथम अपने उत्पत्तिस्थानका स्मरण करनेका उपदेश प्रथम श्रममें दिया है । ‘यद् मेरा उत्पत्तिस्थान दे, वहाँ उत्पन्न

होते ही तू प्रकाशता है, यह जानकर स्वयं बढनेका यत्न कर और हमारी भी शोभा बढा ।' (मं. १) यह उपदेश मनन करने योग्य है । उत्पत्तिस्थान कई प्रकारका होता है; अपना फल, अपनी जाती, अपना देश यह तो स्थूल दृष्टिसे उत्पत्तिस्थान है । इस उत्पत्तिस्थानका स्मरण करके अपनी उन्नति करना चाहिये । दूसरा उत्पत्तिस्थान आध्यात्मिक है जो प्रकृतिमाता और परमपितासे संबंध रखता है, यह भी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये मनन करने योग्य है । उत्पत्तिस्थानका विचार करनेसे 'मैं कहाँसे आया हूँ और मुझे कहाँ पहुँचना है' इसका विचार करना शुभ होजाता है । जहाँ कहाँ भी उत्पत्ति हुई हो वहाँसे अपनी शक्तिये प्रकाशना, बढना और दूसरोंको प्रकाशित करना चाहिये ।

(इह अचला घट्) यहा सबके साथ सरल भाषण कर, (प्रत्यहं सुमनाः मय) प्रत्येकके साथ उत्तम मनोभाषनसे वर्ताव कर, अपने पास जो हो, वह दूसरोंकी भलाईके लिये (प्रयच्छ) दान कर, यह द्वितीय मन्त्रके तीन उपदेश वाक्यशुद्धि, मन शुद्धि और आत्मशुद्धिके लिये अत्यंत उत्तम हैं । इसी मार्गसे हमकी पवित्रता हो सकती है ।

आंगे दो मंत्रोंमें हमें किन किन शक्तियोंसे सहायता मिलती है इसका उल्लेख है ।

यद्यपि प्रथम (देवीः) देवियों अपना माताओंकी सहायता मिलती है, जिनकी हवाके बिना मनुष्यका उद्वार होता अशक्य है, तत्पश्चात् (सुनृता देवी) सरल वाणीसे सहायता प्राप्त होती है । मनुष्यके पास धर्म भावसे बोलनेकी शक्ति न हो तो उसकी उन्नति अशक्य है । इसके नंतर (अयं नमः = आर्य नमः) भ्रष्ट मनके भावसे जो सहायता होती है वह अपूर्व ही है । शम्भुपिता (सूदस्पतिः) शान्ति और (ब्रह्मा) ब्रह्मज्ञानी सहायता देते हैं, इनमें ब्रह्मा तो अंतिम अमूर्ततक पहुँचा देता है । ये सब उन्नतिके उपाय योग्य (राजा अपसे) राजाकी रथमें ही सहायक हो सकते हैं, गुराग्रह दो अर्थात् राज्यका गुणवर्धन हो, तो ही सब प्रकारकी उन्नति संभवनीय है अन्यथा

मनुष्य अपने परम उत्पत्तिस्थानसे यहाँ आकर फिर वहाँ ही पहुँचता है । इन शब्दोंसे सूचित होनेवाले अन्यान्य अर्थोंका विचार करके पाठक अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं ।

## सम्भूय समुत्थान ।

इस सूक्तमें एकताका पाठ स्पष्ट शब्दों द्वारा दिया है । (वाजस्य नु प्रसवे सं वभूधिम । मं. ८) 'बलही उत्पत्तिकेलिये हम अपनी संघटना करते हैं ।' संभूय-समुत्थानके बिना शक्ति नहीं होती इसलिये अपनी सहकारिता करके शक्ति बढानेका उपदेश यहाँ किया है । (सर्वः जनः संगत्यां सुमनाः असत् । मं. ६) 'सब मनुष्य सहकारिता करने लगेंगे उस समय परस्पर उत्तम मनके साथ व्यवहार करें ।' ऐसा न करेंगे तो संघशक्ति बढ नहीं सकती । यह उत्तम सौमनस्यका व्यवहार सिद्ध होनेके लिये (ब्रह्म यदं च यर्धय । मं. ५) शान और आत्मसमर्पणका भाव बढाओ । संघशक्तिके लिये इनकी अर्थात् आवश्यकता है । मनुष्यकी उन्नति तो व्यक्तिगत और संघर्ष हीनी है, इसलिये पहले वैयक्तिक उन्नतिके उपदेश देकर पश्चात् सांघिक उन्नतिके निर्देश किये हैं । इस प्रकार दोनों मार्गोंसे उन्नति हुई तो ही पूर्ण उन्नति हो सकती है ।

'वाजस्य प्रसवे सं वभूधिम' (मं. ८) यह मन्त्र बहुत दृष्टिये मनन करने योग्य है । यहाँ 'वाजः' शब्दके अर्थ देखिये— 'युद्धमें जय, अन्न, जल, शक्ति, वस्त्र, धन, गति, वाणीका वस्त्र' ये अर्थ ध्यानमें धारण करनेसे इस मन्त्रमागका अर्थ इस प्रकार होता है— 'हम युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिये संघटन करते हैं, अन्न, जल, वायु, वेद्य और धनार्थ ऐश्वर्य-योगोंके पदार्थ प्राप्त करनेके लिये आपसकी एकता करते हैं । अपनी वाणीका बल बढानेके लिये अपनी संघटना प्रभाव बढानेके लिये अपनी संघटना करते हैं, हमारे एक मनमें जो राज्य हम चोग्ये वे निगम-वेद अधिक प्रभावशाली बनेंगे, तथा हमारी प्रगति और उन्नतिका वेग बढानेके लिये भी हम अपनी सहकारिता बढाते हैं ।' पाठक इस मन्त्रका विचार करनेसे प्रयत्नमें इस अर्थका आरम्भ मनन करें ।

मं. ८ ) ' संपूर्ण वीरत्वके गुणोंके साथ धन चाहिये । ' अन्यथा कमाया हुआ धन कोई उठाकर ले जायगा इसलिये वीरताके साथ रहनेवाला धन कमनिका उपदेश यहाँ किया है ।

इस रीतिसे उन्नत हुआ मनुष्य ही कह सकता है कि ' भुझे पाँचों दिशाएँ यथाशक्ति बल प्रदान करें और मनसे तथा हृदयसे जो संकल्प मैं कहूँ वे पूर्ण हो जाय । ( मं. ९ ) ' इसके ये संकल्प निःसंदेह पूर्ण हो जाते हैं ।

हरएकके मनमें अनेक संकल्प उठते हैं, परन्तु किसके संकल्प सफल होते हैं ? संकल्प तब सफल होंगे जब उन संकल्पोंके पीछे प्रबल शक्ति होगी, अन्यथा संकल्पोंकी सिद्धता होना असंभव है । इस सूक्तमें संकल्पोंके पीछे शक्ति उत्पन्न करनेके विषयका बड़ा आन्दोलन किया है इसका विचार पाठक अवश्य करें । सूक्तके प्रारंभसे यहाँ विषय है—

' अपनी उत्पत्तिस्थानका विचार कर अपनी उन्नति करनेके लिये कमर कसके उठना, ( मं. १ ) ; सीधा सरल मागण करना, मनके भाव उत्तम करना ( मं. २ ) ; ज्ञान और त्याग भाव बढ़ाना । ( मं. ५ ) ; प्राप्त धन परोपकारमें लगाना ( मं. ५ ) , सब मनुष्योंको उत्तम विचार धारण करने, एकता बढ़ाने और परोपकार करनेकी ओर प्रवृत्त करना । ( मं. ६ ) , सामर्थ्य बढ़ानेके लिये अपनी आपसकी संघटना करना ( मं. ८ ) ; अपने अंदर जो संकुचित विचारके होंगे उनको भी उदार बनाना ( मं. ८ ) ; इस पूर्व तैयारीके पश्चात् सब मानसिक संकल्पोंकी सफलता होनेका संभव है । ' संकल्पोंके पूर्ण इतनी

सहायक शक्ति उत्पन्न होनी चाहिये । तब संकल्प सिद्ध होंगे । इसका विचार करके पाठक इस शक्तिको उत्पन्न करनेके कार्यमें लग जाय । इसके नंतर— ' सब स्थानमें उसकी प्राणशक्ति साक्षात् होती है, सब स्थानसे उसकी पुष्टि होती है, वह सदा प्रसन्नता बढ़ानेवाली ही भाषा बोलता है इसलिये वह तेजस्विताके साथ अभ्युदयको प्राप्त होता है । ( म. १० ) '

इस दशम मंत्रमें ' गोसर्नि याच उदेय ' यह वाक्य है । ' गो ' का अर्थ है— ' इन्द्रिय, गौ, भूमि, प्रकाश, स्वर्गसुख, वाणी । ' इस अर्थको लेकर— ' इन्द्रियोंकी प्रसन्नता, वाणीकी प्रसन्नता, प्रकाशका विस्तार, मातृभूमिका सुख आदिकी सिद्धता होने योग्य मैं मागण बोलता हूँ ' यह अर्थ इससे व्यक्त होता है । आगे ' तेजस्विताके साथ अभ्युदय ' प्राप्त करनेका विषय कहा है, उसके साथ यह ' प्रसन्नता बढ़ानेवाली वाणीसे बोलना ' कितना आवश्यक है, यह पाठक यहाँ अवश्य देखें । इस प्रकार इस सूक्तके वाक्योंका पूर्वापर सबंध देखकर यदि पाठक मनन करेंगे तो उनको विशेष बोध प्राप्त हो सकता है ।

इस सूक्तका संक्षेपसे यह विवरण है । पाठक जितना अधिक विचार करेंगे उतना अधिक बोध वे प्राप्त कर सकते हैं । अधिक विचार करनेके लिये आवश्यक सकेत इस स्थानपर दिये जाँ हैं, इसलिये यहाँ अधिक लेख बढ़ानेकी आवश्यकता नहीं है । अभिज्ञा वर्णन करनेके निश्चये किये हुए सामान्य निर्देश मनुष्यकी उन्नतिके निदर्शक कैसे होते हैं, इसका अनुभव पाठक यहाँ करें । वेदकी यह एक अर्चु शैली है ।

॥ यहाँ चतुर्थ अनुवाद समाप्त ॥

# कामाग्निका शमन ।

( २१ )

( ऋषिः — यस्मिष्ठः । देवता — अग्निः )

ये अग्नयो अस्वन्तये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।

य आविवेशोपधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ १ ॥

यः सोमे अन्तर्यो गोष्वन्तर्य आविष्टो वर्षासु यो मृगेषु ।

य आविवेश द्विपदो यश्चतुष्पदस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ २ ॥

य इन्द्रेण सरथं याति देवो वैश्वानर उत विश्वदाप्यः ।

यं जोह्वीमि पृतनासु सासहि तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ३ ॥

यो देवो विश्वाद्यमु काममाहुयं दातारं प्रतिगृह्णन्तमाहुः ।

यो धीरः शक्रः परिभूरदाम्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ४ ॥

अर्थ— ( ये अग्नयः अस्तु अन्तः ) जो अग्नियों जलके अन्दर हैं, ( ये वृत्रे ) जो मेघमें, और ( ये पुरुषे ) जो पुरुषमें हैं, तथा ( ये अश्मसु ) शिलाओंमें हैं, ( यः सोपधीः यः च वनस्पतीन् आविवेश ) जो औषधियोंमें और जो वनस्पतियोंमें प्रविष्ट हैं ( तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु ) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ १ ॥

( यः सोमे अन्तः, यः गोषु अन्तः ) जो सोमके अन्दर, जो गौओंके अन्दर, ( यः घयासु, यः मृगेषु आविष्टः ) जो पाँस्योंमें और जो मृगोंमें प्रविष्ट है, ( यः द्विपदः यः चतुष्पदः आविवेश ) जो द्विपद और चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है, ( तेभ्यः अग्निभ्यः एतत् हुतं अस्तु ) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ २ ॥

( विश्वदाप्यः उत वैश्वानरः ) सबको जलनेवाला परंतु सबका चालक अथवा दितकारी ( यः देवः इन्द्रेण सरथं याति ) जो देव इन्द्रेके साथ एक रथपर बैठकर चलता है ( यं पृतनासु सासहि जोह्वीमि ) जो युद्धमें विजय देनेवाला है इसलिये शिष्टकी मैं प्रार्थना करता हूं ( तेभ्यः ) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ३ ॥

( यः विश्वाद्यु देवः ) जो विश्वका मयिक देव है, ( य उ कामं आहुः ) जिसको ' काम ' नामसे पुकारते हैं, ( यं दातारं प्रतिगृह्णन्तं आहुः ) जिसको देनेवाला और लेनेवाला भी कहा जाता है, ( यः धीरः शक्रः परिभूः अदाम्यः ) यो युद्धिमान्, शक्तिमान्, प्रमग करनेवाला और न हारनेवाला कहने हैं ( तेभ्यः ) उन अग्नियोंके लिये यह हवन होवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ— जो अग्नि जल, मेघ, प्राणियों अथवा मनुष्यों, शिलाओं और औषधिवनस्पतियोंमें हैं उनही प्रगल्भाके लिये यह हवन है ॥ १ ॥

जो अग्नि घीमें, गोशें, पक्षियों, मृगादि पशुओं तथा द्विपद चतुष्पादोंमें प्रविष्ट हुआ है उनके लिये यह हवन है ॥ २ ॥  
सबको जगत्कर भाग करनेवाला परंतु सबका संचालक जो यह देव इन्द्रेके साथ रथपर बैठकर प्रमग करता है, जो युद्धमें विजय प्राप्त करनेवाला है उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ३ ॥

जो अग्नि विश्वका मयिक दे और जिसको ' काम ' कहते हैं, जो देनेवाला और लेनेवाला है, और जो युद्धिमान्, शक्तिमान्, प्रमग करनेवाला और न हारनेवाला है, उस अग्निके लिये यह हवन है ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ।

वर्चोधत्ते यज्ञसे सुनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्वेतत् ॥ ५ ॥

उक्षान्नाय चक्षान्नाय सोमपृष्ठाय वेधत्ते ।

वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्वेतत् ॥ ६ ॥

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।

ये दिवस्वन्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्वेतत् ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणि सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमुग्निम् ।

विश्वान्देवानङ्गिरसो हवामहे इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुंरुपरेषणः ।

अथो यो विश्वदाव्यस्तेभ्यो क्रव्यादमशीशमम् ॥ ९ ॥

अर्थ— ( त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः ) त्रयोदश भुवन और पांच मनुष्यजातियाँ ( यं त्वा मनसा होतारं अभि संविदुः ) जिस वृक्षही मनसे होता अर्थात् दाता मानते हैं, ( वर्चोधत्ते ) तेजस्वी ( सुनृतावते ) सत्य भाषी और ( यज्ञसे ) यज्ञस्वी पुत्र और ( तेभ्यः० ) उन अग्नियोंके लिये यह इवन होवे ॥ ५ ॥

( उक्षान्नाय चक्षान्नाय ) जो बैलके लिये और गौके लिये अन्न होता है और ( सोमपृष्ठाय ) औषधियोंको पीठपर लेता है उस ( वेधसे ) शान्तिके लिये और ( वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः तेभ्यः० ) सब मनुष्योंके हितकारी अष्ट उन अग्नियोंके लिये यह इवन होवे ॥ ६ ॥

( ये दिव्यं मन्वन्तरिक्षं अनु, विद्युतं मनु संचरन्ति ) जो बुलोक और अंतरिक्षके अन्दर और विद्युतके अंदर भी अनुकूलतासे संचार करते हैं, ( ये दिव्य अन्तः, ये वाते अन्तः ) जो दिशाओंके अंदर और वायुके अंदर हैं ( तेभ्यः अग्निभ्यः ) उन अग्नियोंके लिये यह इवन होवे ॥ ७ ॥

( हिरण्यपाणि सवितारं ) सुवर्ण भूयण हाथमें धारण करनेवाले सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव और आगिरसोंकी ( हवामहे ) शर्पणा करते हैं कि वे ( इमं क्रव्यादं अग्निं शमयन्तु ) इस मांसभोजी अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

( क्रव्याद् अग्निः शान्तः ) मांसमक्षक अग्नि शान्त हुआ, ( पुंरुपरेषणः शान्तः ) मनुष्य हिंसक अग्नि शान्त हुआ ( अथ यः विश्वदाव्यः ) और जो सबको जलानेवाला अग्नि है ( तं क्रव्यादं अशीशमम् ) उस मांसमक्षक अग्निको मैंने शान्त किया है ॥ ९ ॥

भावार्थ— तेरह भुवनोंका प्रदेश और मनुष्योंकी आकाश शक्तियाँ पाँच जातियाँ इधर अग्निको मनसे दाता मानती हैं, तेजस्वी, सत्यवाणीके प्रेरक, यज्ञस्वी उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ५ ॥

जो बैलको और गौको अन्न देता है, जो पीठपर औषधियोंको लेता है, जो सबका धारक या उत्पादक है, उस सब मानवोंमें अष्टरूप अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ६ ॥

बुलोक, अन्तरिक्ष, विद्युत, दिशाएँ, वायु आदिमें जो रहता है उस अग्निके लिये यह अर्पण है ॥ ७ ॥

सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि और आगिरस आदि सब देवोंको हम प्रार्थना करते हैं कि वे सब देव इस मांसमक्षक अग्निको शान्त करें ॥ ८ ॥

यह मांसभोजी पुरुषनाशक और सब जगत्की जलानेवाला अग्नि शान्त हुआ है, मैंने इसको शान्त किया है ॥ ९ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उचानुशीवरीः ।

वार्तः पर्जन्य आदुम्रिस्ते कृन्पादमशीशमन्

॥ १० ॥

अर्थ—(ये सोमपृष्ठा पर्वताः) जो वरसविर्मांको पाठपर धारण करनेवाले पर्वत हैं, (उचानुशीवरी आप) ऊपरको जानवाल जो जल हैं, (वार्त पर्जन्य) वायु और पर्जन्य (आत् अग्निः) तथा जो अग्नि है (ते) वे सब (कृन्पाद मशीशमन्) मांसमाजी अग्निका शांत करते हैं ॥ १० ॥

भाषार्थ—जहां सामादि वनस्पतियां हैं ऐसे पर्वत, छपरका गतिसे चलनवाल जलस्राव, वायु और पर्जन्य तथा अग्नि ये सब देव मांसभक्षक अग्निको शांत करनेमें सहायता दत्त हैं ॥ १० ॥

### कामाग्निका स्वरूप ।

इस सूक्तमें कामाग्निको ज्ञात करनेका विधान है । कामको अग्निका उपमा देकर अथवा अग्निके वर्णनके मित्यसे कामका ज्ञात करनेका वधान इस सूक्तमें यदा ही मनोरञ्जक है । यह सूक्त 'बृहच्छांतिगण' में गिना है अथवा कामका शमन करना ही 'बृहच्छांतिगण' स्थापित करना है । यह सबसे बड़ा कठिन और परमार्थ कार्य है । इस सूक्तमें जो अग्नि है वह 'कृन्पाद' अपात् कृन्पा मांस खानेवाला है, साधारण लोग समझते हैं कि इस सूक्तमें सुईं जलानेवाले अग्निका वर्णन है परंतु यह मत ठीक नहीं है । कामरूप अग्निका वर्णन इस सूक्तमें है और यही कामरूप अग्नि बड़ा मनुष्यभक्षक है । जितना अग्नि जलाता है उससे उसका गुण यह काम जलाता है, यह बात पाठक विचरना दृष्टिसे देखें तो जान सकते हैं । इसलिये इस सूक्तके अग्निका स्वरूप पहल हम निश्चित करते हैं । इसका स्वरूप बतानेवाले आ अनेक शब्द इस सूक्तमें हैं उनका अन्वय अब करते हैं—

१ यो देवो विश्वाद् य उ काम आहु ।

( सू २१, म ४ )

जो अग्निसे सब जगत्को जलानेवाला है और विश्वको 'काम' कहते हैं ।

इस मंत्रभागमें स्पष्ट कहा है कि इस सूक्तमें जो काम है वह 'काम' ही है । नाम निर्देश करनेके कारण इस विषयमें शिरीका गवा करना भा अब उचित नहीं है । तथापि निम्न यही दृष्टांतके लिये इस सूक्तके अन्य मंत्रभाग अब दक्षिणे—

२ कृन्पाद् अग्निः । ( सू २१, म ५ )

मांस भक्षक अग्नि ।

३ पुनरेपण अग्निः । ( सू २१, म ५ )

पुनरपि मांस (काम) अग्नि ।

कामकी प्रबलतासे मनुष्यका शरीर सुख जाता है और इस कामके प्रकीर्षसे कितन मनुष्य सहस्रवार नष्टप्रपन्न हो गये हैं यह पाठक यहां विचारका दृष्टिसे मनन करें तो इन मंत्रभागोंका गमार्थ अर्थ ध्यानामें आ सकता है । इस दृष्टिसे—

४ विश्वाद् अग्निः । ( सू २१, म ४५ )

विश्वका भक्षक (काम) अग्नि ।

यह विश्वभक्षक सब है । सबवस्तुतामें कामका—

काम एव प्रीति एव रजोगुणलभ्यम् ।

महाशानो महापाप्मा विद्ध्यैनमिह वैरिणम् ॥

( म गो ३१७ )

यह काम बड़ा (महाशान) खानेवाला है । 'महाशान (महा-भक्षण) और विश्वाद् (विश्व-भक्षक)' य दोनों एकही भाव बतानेवाले शब्द हैं । सबभूत काम बड़ा खानेवाला है, इसका कभी तृप्ति क्षांता हा नहीं, कितना ही खानका भिन्न यह खाता अतुल हा रहता है इसका पट सब जगत्को खा खानेसे भी भरता नहीं, इसी अर्थको बतानेवाला यह शब्द है—

५ विश्वेन्द्रादयः । ( सू २१, म ३९ )

सबको जलानेवाला (काम अग्नि) ।

यह काम सचमुच सबको जलानेवाला है अब यह काम मनमें प्रबल होता है तब यह अंदरसे जलान लगता है । ब्रह्मचर्य धारण करनेवाला मनुष्य अंदरसे बड़ने लगता है और कामाग्निका अपने अंदर बढानेवाला मनुष्य अंदरसे जलने लगता है । मिश्रण अतः कारण ही जलता रहता है, उसका निम्ने मानो सब जगत् ही जलने लगता है । जिसके मनमें कामाग्नि मिथी लगाताए भ्रष्टक उठती है उसको न जल शांति दे सकता है, न चक्षुषी अमृतपूर्ण हिरण्यं प्राप्ति दे सकती है, वह तो

सदा अर्थात् और संतत होता जाता है ऐसी इस कामाग्निकी दाहकता है । इसके सामने यह अग्नि क्या बल्य सकता है ! कामाग्नि की दाहकता इतनी अधिक है, कि उसके सामने यह भौतिक अग्नि मानो शान्त हो गई और इसीलिये मंत्र आठमें ' इस अग्निको कामाग्निकी शान्ति करनेको कहा है ! ' यदि यह अग्नि कामाग्निसे शान्त न हो तो कामाग्निको शान्त कैसे कर सकता है ।

इस प्रकार इसका गुणवर्णन करनेवाले को विशेषण इस सूक्तमें आये हैं, वे इसका स्वरूप निश्चित करनेमें बड़े सहायक हैं । इनके मननसे निश्चय होता है, कि इस सूक्तमें वर्णित हुआ अग्नि साधारण भौतिक अग्नि नहीं है, प्रत्युत यह कामाग्नि है । भौतिक अग्निका वाचक अग्नि शब्द स्वतन्त्र रीतिसे अष्टम मन्त्रमें आया है, इसका विचार करनेसे भी इस सूक्तमें वर्णित अग्निका स्वरूप निश्चित हो जाता है ।

### काम और इच्छा ।

' काम ' शब्द जैसा काम विकारका वाचक है उसी प्रकार इच्छा, कामना भी वाचक है । वस्तुतः देखा जाय तो ये काम, कामना और इच्छा मूलतः एक ही शक्ति के वाचक हैं । निम्न निम्न इन्द्रियोंके साथ सम्बन्ध हो जानेसे एक ही इच्छा-शक्तिका रूप जैसा कामविकारमें प्रगट होता है और वैसा ही अन्य इंद्रियोंके साथ सम्बन्ध होनेसे कामनाके रूपमें भी प्रगट होता है । परन्तु इनके अन्दर कुछकर देखा जाय तो ' शुद्ध चाहिये ' इस एक इच्छाके विषय दूसरा इसमें कुछ भी नहीं है, अपने अन्दर कुछ मनुता है, उसकी पूर्तिके लिये बाहरसे किसी वस्तुवांछकी प्राप्ति करना चाहिये, वह बात वस्तुवां प्राप्ति होनेसे ही पूर्ण हो आकम्प । इसादि प्रकारकी इच्छा ही ' काम ' अथवा कामना ' है । यही इच्छा सबकी चला रही है, इस लिये इसको विश्वकी चालक शक्ति कहा है । देखिये—

वैश्वानरः ( विश्व-मेता ) । ( सू. २१, मं. १ )

' यह ( विश्व-नर ) विश्वका नेता अर्थात् विश्वका चालक ( काम ) है । विश्वकी चलानेवाली यह इच्छाशक्ति है । यह कामशक्ति न हो तो संसारका चलना अवसम्भव है । पदार्थ मात्रमें-कमसे कम चेतन और अर्थ चेतन मनुष्यों- यह रूप धियाई लेती है । ' इस विषयमें प्रथम और द्वितीय मंत्रका कथन स्पष्ट है ।

' इस कामरूप अग्निके अनेक रूप हैं और वे जल, मेघ, पतर, ओषधि वनस्पति, रास, गौ, पक्षी, पशु, क्षिपद,

चतुष्पाद, मनुष्य आदि सबमें हैं । ( मं. १, २ ) तथा ' पृथिवी, अन्तरिक्ष, विद्युत्, शुलोक, दिवा, वायु आदिमें भी हैं । '

( मं. ७ )

इस मंत्रसे स्पष्ट हो जाता है कि यह कामाग्नि पतर जल औषधियोंसे लेकर मनुष्योंतक सब स्थितिमें विद्यमान है । औषधियां बचनेकी इच्छा करती हैं, वृक्ष फलना चाहते हैं, पक्षी उड़ना चाहते हैं, मनुष्य जगत्को जीतना चाहता है इस प्रकार हर एक पदार्थ अपनी शक्तिको और अपने अधिकार क्षेत्रको रक्षना चाहता है । यही इच्छा है और यही काम है । यही जब जननेन्द्रियके साथ अपना संबंध जोड़ता है तब उसको कामविकार कहा जाता है, परन्तु मूलतः यह वांछ बड़ी है, जो पदार्थ इच्छाके नामसे प्रसिद्ध भी । यही सार्वर्षी कामना ' माय और वैश्वंरो पालती है और उनको खिलाती-पिलाती है, औषधियोंकी चालना करती है । ' ( मं. १ )

### कामकी दाहकता ।

वस्तुतः भौतिक अग्नि जलती है, ऐसा अनुभव हर एककी आता है, और काम या इच्छाकी भी दाहकता नहीं है ऐसा भी सब मानते हैं, परन्तु साधारण इच्छा क्या, कामना क्या और कामविकार क्या इतने अधिक दाहक हैं, कि उनकी दाहकताके साथ अग्निकी दाहकता कुछ भी नहीं है !!

राज्य बढानेकी इच्छा कई राज्यचालकोंमें बढ जानेके कारण पृथ्वीके ऊपर कई राष्ट्रीय पारस्परिकी अग्नि जला रही है, इस स्वार्थकी इच्छाके कारण इतने भयंकर युद्ध हुए हैं और उनमें मनुष्य इतने अधिक मर चुके हैं कि उतने अग्निकी दाहकतासे निःसंदेह घरे नहीं हैं । इसीलिये इसकी तृतीय मंत्रमें ( पृतनायु स्वासहिं ) अर्थात् युद्धमें विजयी कहा है । किसी भी पक्षकी जीत हुई तो दुश्मनकी वह जीत होती है !!

एक समाज दूसरी समाजको अपने स्वार्थके कारण दबा रहा है, ऊपर उठने नहीं देता है, दबी जातिबोस जितना चाहे स्वार्थसाधन किया जा रहा है, यह एक ही स्वार्थकी कामना की प्रताप है । सभी लोग निर्धनोंको दबा रहे हैं, अधिकारी वर्ष प्रजाको दबा रहा है, एक समर्थ राष्ट्र दूसरे निर्बल राष्ट्रको दबा देता है, इसी प्रकार एक भाई दूसरे भाईकी चीज छीनता है, ये सब कामके ही रूप हैं, जो मनुष्याको अंदर ही अंदर घे जला रहे हैं ।

आज ऊँदर रूपकी कामना करता है, काम मनुष्य स्तरकी अभिलाषा करता है, विश्वास मनुष्य स्तरकी इच्छा है, दबी प्रकार अन्यथा देशीय अन्यथा विषयोंकी सारती है । इनके



कारण जगत्में जो विध्वंस और नाश हो रहे हैं, वे किसी छिपे नहीं हैं। इतनी विनाशक शक्ति इस मौक्तिक अग्निमें कहाँ है ?

काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद और मत्सर ये मनुष्यके छ शत्रु हैं, इन शत्रुओंमें सबसे मुख्य शत्रु 'काम' है, सबसे बढ़कर इसके अन्दर विनाशकता है। यह प्रेमसे पास धाता है, सुख देनेका प्रलोभन देता है और कुछ सुख पहुँचता भी है। परन्तु अन्तर अन्तरसे ऐसा काटता है, कि कष्ट जानेवालेको अपने कष्ट जानेका पता तक नहीं लगता !!! इस कामविकाररूपी शत्रुकी विनाशकता सब शास्त्रोंमें प्रतिपादन की है। हर एक धर्मपुस्तक इससे बचनेका उपदेश कर रहा है।

मित्र समय कामविकारकी ज्वाला मनमें भरक उठती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि खून उबल रहा है। खून उबलनेका मान शरत् होता है, शरीर गर्म हो जाता है, मस्तिष्क तपता है, अवयव शिथिल हो जाते हैं, मस्तिष्ककी विचारशक्ति हट जाती है और एक ही काम मनमें राज करने लगता है। खूनकी पीसता है, शर्करा नष्ट करता है, बुराईका नाश करता है और आयुका क्षय करता है। ये सब लक्षण इसकी दाहकता हैं। इसकी यह विध्वंसक शक्ति दबकर पाठक ही विचार कर सकते हैं कि इसकी विनाशकताकी आगिक साध क्या तुलना हो सकती है ? इसलिये मन्त्रमें कहा हुआ विशेषण ( विश्व-दाहक ) जगत्को जलनेवाला इसके अन्दर बिलकुल सार्थ हो जाता है !!

इस सबका विचार करके पाठक 'कामकी दाहकता' जाने और इसकी दाहकतासे अपने आपकी बचानेका उपाय करें।

### न दधनेवाला ।

चतुर्थ मन्त्रमें इसके विधान 'विश्वद्, दाता, प्रति-शुद्ध, धीरः, शक्रः, परिभूः, मदाग्नयः' आये हैं और इनमें इसका नाम ( ये काम आहुः ) 'काम' करके कहा है। अर्थात् इसी कामाग्नि के ये गुणबोध विशेषण हैं। इसलिये इनके अर्थ देखिये—

'यद् काम ( विश्वद् ) जगत्को खानेवाला, ( दाता ) दान देनेवाला, ( प्रतिशुद्ध ) मादृष्यादि लेनेवाला, ( धीरः ) धैर्य देनेवाला, ( शक्रः ) शक्तिशाली, ( परिभूः ) सबसे बड़ा होनेवाला, ( मदाग्नयः ) न दधनेवाला है।'

( म ८ )

विचार करनेपर ये विशेषण कामके विध्वय बड़े सार्थ हैं ऐसा ही प्रतीत होगा। मित्र शत्रु मनमें काम उत्पन्न होता है

उस समय बुद्धीको मलिन करता है, अपनी इच्छा तृप्त करनेके लिये आवश्यक धैर्य अथवा साहस उत्पन्न करता है, अन्य समय और दिखाई देनेवाला मनुष्य भी कामविकारकी लहरमें बड़े साहसके कर्म करने लगता है, जब यह मनमें बढ़ता है तब सब अन्य भावनाओंको दबाकर अपना अधिकार सबपर जमा देता है, दबायेका यत्न करनेपर भी यह सफल कर अपना प्रभाव दिखाई देता है। इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणोंका आशय यही विचार करनेसे स्पष्ट हो सकेगा। इसके दाता और प्रतिप्रहीता ( अथर्व १२.१.७ में भी 'कामो दाता कामः प्रतिप्रहीता' कहा है ) ये दो विशेषण भी विशेष मनन करने योग्य हैं। यह किंचित् सा सुख देता है और बहुत सा धैर्य हास करता है, य अर्थ पूर्वापर सगतिसे यही अन्वर्थक दिखाई देते हैं। साधारण कामनाके अर्थमें देने और लेनेवाला कामनासे ही प्रवृत्त होता है, इसलिये यह काम ही देनेवालेको दानमें और लेनेवाला लेनेमें प्रवृत्त करता है, यह इस मन्त्रका आशय भी स्पष्ट ही है।

पञ्चम मन्त्रमें 'नयोदश सुवर्णोंमें रत्ननेवाले पञ्चजन इसकी मनसे मानते हैं, दाता करके पूजते हैं।' ऐसा कहा है। सुवर्ण जनता कामकी ही उपासना करती है यह बात इस मन्त्रमें कही है। कई विरक्त सत मन्त्र इस कामकी अपने आशीर्वाद करके परमात्मापासक होते हैं, अन्य सवारी जन तो कामकी ही अपने सर्वस्वका दाता मानते हैं। इस प्रकार इस कामने ही सब जगत्पर अपना अधिकार जमाया है। जनता समझती है कि ( यच्च ) तेज ( यशः ) यश और ( चरुतं ) सल आदि सब कामके प्रभावसे ही सफल और सुखल होता है। सब लोग जो पसरामें मग्न हैं, इसीकी प्रेरणामें चले हैं याने इसीके वेगसे दूध रहे हैं। जो सारुप्य इसके वेगसे मुक्त होकर इस कामको जीत लेता है वही श्रेष्ठ होता हुआ सुखी अधिकारी होता है, यानी इसके वेगसे दूर जाना ही मुक्ति है। परन्तु कितने कोटे लोग इसके वेगसे अपने आपको मुक्त करते हैं ? यही इस सच्चे मननके समय विचार करने योग्य बात है।

### इन्द्रका रथ ।

सुतीय मन्त्रमें कहा है कि 'यद् काम इन्द्रे रथारु भैरव ( इन्द्राय सारथ्याय ) गाता दे ।' ( म १ ) यह देवता आदिषु कि इन्द्रका रथ चीनता है ? 'इन्द्र' नाम आकाशका है और उछटा रथ यह आगीर ही है। रथ भिन्नमें उपनिषद्का बचन देखिये—

आत्मानं रथिने धिद्धि शरीरं रथमेव तु ।

इन्द्रियाणि दयानाहुर्विषयास्तु गोचरान् ॥

( कठ. उ. ३१४ )

‘आत्मा रथमें बैठनेवाला है, उसका रथ वह शरीर है और इंद्रियाँ उस रथके घोड़े हैं, जो विषयोंमें घूमते हैं ।’ इस वर्णनसे इन्द्रके रथका पता लग सकता है । इस उपनिषद्बचनके ‘इन्द्रिय’ पदका अर्थ ‘इन्द्रकी शक्ति’ है । हमारे इन्द्रिय इन्द्रकी शक्तियाँ ही हैं, यह देखनेसे आत्मा ही इन्द्र है इस विषयमें मिथ्य हो सकता है ।

इस इन्द्र अर्थात् आत्माके शरीररूपी रथमें यह ‘काम’ बैठता है यह विधान तृतीय मंत्रका है—

यः इन्द्रेण सरयं याति । ( सू. २१, मं. ३ )

‘जो कामरूप अग्नि इन्द्रके रथपर बैठकर जाता है’ इस वाक्यका अर्थ अब स्पष्ट हुआ ही होगा । पाठक जान सकते हैं कि इस शरीरमें ऐसा जीवात्मा है अथवा इन्द्र है, उसी प्रकार काम भी है, दोनों इसको चलानेवाले हैं । स्थूल दृष्टिसे देखा जाय तो काम अर्थात् इच्छा ही इसको चला रही है । इस प्रकार इस शरीरमें कामकी स्थिति है ।

कामरूपी यह अग्नि प्राणियोंके शरीरमें जल रही है इसको अधिक प्रखलित करना उचित नहीं, प्रत्युत इसको ज्वालाक प्रयत्न हो सकता है, वतसा प्रयत्न करके शांत करनेका ही उपाय करना चाहिये । इसकी शांत करनेका उपाय अब देखिये—

### कामशान्तिका उपाय ।

नवम मंत्रमें इस कामाग्निके शान्त हो जानेका विधान है । देखिये वह मंत्र—

शान्तो अग्निः क्रव्याच्छान्तः पुरुषरेपणः ।

अथो यो विश्वदाव्यस्तं क्रव्यादमशोशयम् ॥

( सू. २१, मं. ९ )

‘यह मांसमक्षक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, यह मनुष्यका नाशक कामरूपी अग्नि शान्त हुआ, जो यह सबको जलानेवाला कामाग्नि है उसकी मैंने शान्त किया है ।’ इस मंत्रमें इस कामाग्निकी मैंने शांत किया ऐसा कहा है, इस विधानसे शान्त करनेका कुछ उपाय है यह निःसन्देह सिद्ध होता है । यदि एक मनुष्य इसकी शान्त कर सकता है तो अन्य मनुष्य भी उसी मार्गसे जाकर अपने शरीरमें जलते रहनेवाले इस कामाग्निके शान्त कर सकते हैं । हरएकके शरीरमें यह कामाग्नि जलता है इसलिये हरएकको चाहिये कि यह प्रयत्न करके इसकी शान्त करनेका पुरोपाय करें और आस्थिक

शान्ति प्राप्त करें । इसकी शान्त करनेका उपाय शेष रहे अष्टम मंत्रके भाष्यमें और नवम मंत्रमें कहा है—

‘हिरण्यपाणि सविता, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, मित्र, अग्नि, विश्वेदेव, आग्निरस, इनका हम यजन करते हैं, ये इस मांसमक्षक कामाग्निके शांत करें ।’ ( मं. ८ )

‘सोमवल्ली जिनपर उगती है वे पर्वत, ऊपर गमन करनेवाले जल, वायु, पर्जन्य और अग्नि ये इस मांसमक्षक कामाग्निके शान्त करें ।’ ( मं. १० )

इन दो मंत्रोंमें जो मार्ग कहा है वह कामाग्नि शान्त करनेवाला है । ये मन्त्र उपायकथन करनेके कारण अत्यन्त महत्त्वके हैं और इनका इसी कारण अधिक मनन करना चाहिये । इन दो मंत्रोंमें जो उपाय कहे हैं, उनका क्रमपूर्वक चिन्तन अब कहते हैं—

१ सोमपृष्ठाः पर्वताः—जिन पर्वतोंपर सोमवल्ली अथवा अन्यान्य औषधियाँ उगती हैं वे पर्वत कामाग्नि शान्त करनेमें सहायक होते हैं । इसमें पहली बात तो उन पर्वतोंका शान्त जलवायु कामकी भञ्जकने नहीं देता है । शीत प्रदेशकी अपेक्षा उष्ण प्रदेशमें कामाग्निकी ज्वाला शीघ्र और अधिक भङ्क उठती है । उष्ण प्रदेशके लोग भी इसी कारण छोटी आयुमें कामाग्निसे उद्दिग्ध होते हैं । इस विषयमें दूसरी बात यह है कि सोम आदि शीतवीर्यवाली औषधियाँ सेवन करनेसे भी कामाग्निकी ज्वाला शान्त होती है । सोमवल्ली उगनेवाले पर्वतशिखर दिवालम्बमें हैं, वहाँ दी दिग्ब औषधियाँ होती हैं । योंनी लोग उनका सेवन करके स्थिरवीर्य और दीर्घजीवी होते हैं । तीसरी बात इसमें यह है कि ऐसी पर्वतादियोंमें प्रलोभन कम होते हैं, शहरी जैसे अस्थिक नहीं होते, इसलिये भी कामकी उत्तेजना शहरी जैसी यहाँ नहीं होती है । इसादि अनेक उपाय इन पर्वतोंके साथ सम्बन्ध रखते हैं । ( मं. १० )

२ उच्छानशीवरीः आपः—जल भी कामाग्निके शमन करनेवाला है । शीत जलका स्नान, जलाशयोंमें तैरनेसे सम-शीतोष्णता होती है जिससे कामकी उष्णता दूर होती है, शीत जलसे मध्य शरीरका स्नान करना, जिसको कठिनमान कहते हैं, मध्यमवर्ष साधनके लिये बड़ा लाभदायक है । ग्रन्थ इन्द्रियके आसपासका प्रदेश राजाके समय, या त्रिषु समय कामका उदय हो जावे उस समय पो देनेसे ब्रह्मर्षय साधनमें बड़ी सहायता होती है । इस प्रकार विविध रीतिये जलकी सहायता कामाग्निकी शान्त करनेके कार्यमें होती है । ( मं. १० )

३ पर्जन्यः—येष अर्धोद् शुष्टिका जल इस विषयमें लाभकारी है । शुष्टि होते समय उसमें सदा होकर उल आकाश-

रंगके जलसे स्नान करना भी बड़ा उत्तम है । इससे शरीरकी सफाई सम हो जाती है । इसके अतिरिक्त इष्टिजल धनियाँ भी शरीरके अन्दरके दोष हट जाते हैं । और कामकी शान्ति होनेमें सहायता होती है । ( मं० १० )

४ अग्निः—आग, अग्नि यह वस्तुतः शरीरकी अधिक उष्ण बनानेवाला है । जो कोमल प्रकृतिके मनुष्य होते हैं यदि उनको अग्निके साथ कार्य करनेका अवसर हुआ तो उनके शरीरकी उष्णता बढ़नेसे उनका शरीर अधिक बर्मा हो जाता है और उसके कारण उनको वीर्यदोषकी बाधा हो जाती है । इसलिये इस प्रकारकी आध्यात्मिक कोमलता शरीरसे हटानी चाहिये । अग्नि प्रयोगसे ही यह हट सकती है । हेम हवन करते समय शरीरकी अग्निही उत्पन्न लगता है, अन्य प्रकारके भी शरीरकी अग्निही उष्णतासे परिचित रखना चाहिये, जिससे निधी समय आगके साथ काम करना पड़े, तो उस उष्णताकी शरीर सह लेगा । अग्निही उष्णताका हानिकारक परिणाम शरीरपर न होनेके लिये इस प्रकार शरीरकी सङ्गनशक्तिसे युक्त बनाना चाहिये । ( मं० १० )

५ वायुः—वायु भी इस विषयमें लाभदायक है । शुद्ध वायु चेतन, तथा शुद्ध वायुमें भ्रमण करनेसे बड़े लाभ हैं । प्राणायाम करना भी वायुचेतनकी एक लाभप्रद रीति है । प्राणायाम करनेसे वीर्यदोष दूर होते हैं । प्राणायामके अंगशससे मनुष्य स्थिर वीर्य हो जाता है । इस कारण वायुकी कामाग्निही शान्त करनेवाला कहा है । जो जगत्में वायु है वही शरीरमें प्राण है । ( मं० १० )

६ सविता—सूर्य भी इस विषयमें बड़ा सहायक है । जो बात अग्निके विषयमें कही है, वही सूर्यके विषयमें भी सत्य है । कोमल प्रकृतिवाले मनुष्य सूर्यप्रकाशमें घुबने क्रियेसे वीर्यदोषी होजाते हैं, यह इस कारण होता है कि सूर्यप्रकाश सङ्गन करनेकी शक्ति उनमें नहीं होती । वस्तुतः सूर्यका प्रकाश शरीर पर स्थितके लिये बड़ा लाभकारी है । सूर्यप्रकाशमें बड़ा जीवन है । सोचा सोचा सूर्य प्रकाशसे अपने शरीरको रोपाते जानेंगे शरीरकी सङ्गनशक्ति बढ़ती है और शरीरमें अद्वयुक्त जीवनरस संचारने लगता है, आरोग्य बढ जाता है और सोचोही उष्णतासे कामकी उत्पत्ति शरीरमें होनेकी संभावना कम होती है । इस प्रकारकी सङ्गनशक्ति बढ़नेका प्रयत्न करना ही तो प्रथम प्रातःकालके कोमल सूर्यप्रकाशमें भ्रमण करना चाहिये और पश्चात् कटोर प्रकाशमें करना चाहिये । यह सुभां-  
तममान बड़ा ही लाभदायक है । मंत्रमें 'हिरण्यपाणि सविता' में शब्द नक्षत्रके सूर्यके ही भावक हैं, सोनेके

रंगके समान रंगवाले किरणोंवाला सूर्य प्रातः और सायं ही होता है । ( मं० ८ )

७ वरुणः—वरुणका स्थान समुद्र है । इसलिये समुद्र-स्नान इस विषयमें लाभकारी है ऐसा हम यहाँ समझ सकते हैं । इसमें जलस्नान भी आ सकता है । ( मं० ८ )

८ मित्रः—सूर्य, इस विषयमें पूर्व स्थलमें कहा ही है । यदि 'हिरण्यपाणि सविता' पूर्वाह्नका है तो उसके बादके सूर्यका नाम मित्र है । पूर्वोक्त प्रकार यह भी लाभदायक है । मित्रकी प्रेमशक्ति उदय होनेसे भी अर्थात् जगत्की ओर प्रेमपूर्ण मित्र दृष्टिसे देखनेसे भी बड़ा लाभ होना समझ है । ( मं० ८ )

९ विश्वे देवाः—अन्यान्य देवताओंके विषयमें भी इसी प्रकार विचार करके जानना चाहिये और उनसे अपना लाभ करना चाहिये । इस विषयमें बड़ा विचार करना योग्य है ।

१० शुद्धस्वप्तिः—यह ज्ञानकी देवता है । ज्ञानसे भी कामाग्निही शान्ति साधन करनेमें सहायता हो सकती है । शुद्धस्वप्ति नाम 'शुच' का है । शुद्ध ज्ञान प्राप्त करके उस ज्ञानके बलसे अपनेकी बचाना चाहिये अर्थात् कामाग्निही संयम करना चाहिये । यहाँ जो ज्ञान आवश्यक है वह शरीरका, मानसका, अध्यात्मका इत्यादिका ज्ञान है । साथ ही साथ भक्तिमार्ग, ज्ञानमार्ग आदिका भी ज्ञान होना चाहिये । ( मं० ८ )

११ अक्षिरसा—अंतराक्षकी विद्या जाननेवाले ऋषि । शरीरमें सर्वत्र संचार करनेवाला एक प्रकारका जीवनरस है, उसकी विद्या जो जानते हैं, उनसे यह विद्या प्राप्त करके उस विद्या द्वारा कामाग्निही संयम करना चाहिये । योगशास्त्रमें इस विषयके अनेक उपाय कहे हैं, उनका भी यहाँ अनुसंधान करना चाहिये । ( मं० ८ )

१२ इन्द्रः—इन्द्र नाम जीवात्मा, राजा और परमात्मा हैं । इन दोनोंका कामाग्निही शान्ति करनेमें बड़ा संबंध है । जीवात्माका आत्यंतिक बल बड़ाकर श्रमसम्पत्तिके द्वारा अपने अन्दरके कामाग्निही संयम करना चाहिये । राजाकी चाहिये कि वह अपने राज्यमें सत्प्रजन और संयमका वायुमंडल बढाकर कामाग्निही शान्ति करनेकी सबके लिये सुयमता करे । राज्य अर्थात् स्वर्ग और संरक्षक अभिप्रायी वर्ग सत्प्रजारी रक्षक राज्य चलानेका उपदेश अथर्ववेदके सत्प्रचार्य गुरु [ अथर्व. १०५ (७) १६ ] में कहा है । यह वही अर्थ देखने योग्य है । इससे राजाके कर्तव्यका पता लग सकता है । यदि राजा

अध्यापक गण पूर्ण ब्रह्मचारी हों और राज्यशामनके अन्य ओहदेदार भी उत्तम ब्रह्मचारी हों तो उस राज्यका वायुमंडल ही ब्रह्मचर्यके लिये अनुकूल होगा और ऐसे राज्यमें रहनेवाले लोगोंका ब्रह्मचर्य रहना, संयम होना अथवा कामाग्निका शमन होना निःसन्देह सुसाध्य होगा । धन्य है ऐसे वैदिक राज्यकी कि जहाँ सब अधिकारी वर्ग और अध्यापक वर्ग ब्रह्मचारी होते हों । वैदिकधर्मियोंकी ऐसा प्रशंसा करना चाहिये कि ऐसे राज्य इस भूमंडलपर स्थापित हों और सर्वत्र ब्रह्मचर्यका वायुमंडल फैले । इसके नंतर इन्द्र शब्दका तीसरा अर्थ यरमात्मा है । यह

परमात्मा तो पूर्ण ब्रह्मचर्यका परम आदर्श है, इसकी भक्ति और उपासनासे कामाग्निका शमन होता हा है । सब ऋषिमुनि और योगी इसी परमात्म भक्तिही साधनासे मन संयम द्वारा कामाग्निका शमन करके अमर हो गये ।

इस प्रकार उपायका वर्णन इस सूक्तमें किया है । यह सूक्त अत्यन्त महत्वका है । इसका पाठ ' बृहच्छान्तिगण ' में किया है । सबसुख यह सूक्त बृहती शान्ति करनेवाला हो है । जो पाठक इसके अनुष्ठानसे इस शान्तिकी साधना करेंगे वेही धन्य होंगे ।

## वर्चःप्राप्ति सूक्त ।

( ११ )

( ऋषिः — वसिष्ठः । देवता — वर्चः, बृहस्पतिः, विश्वेदेवाः )

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद्यशो अदिस्था यत्तुर्व्यः संबुभूवं ।

तस्मैव समदुर्मर्षमेतद्विश्वं देवा अदितिः सजोपाः ॥ १ ॥

मित्रश्च वरुणश्चेन्द्रो रुद्रश्च चेततु ।

देवासीं विश्वर्षायसस्ते माञ्जन्तु वर्चसा ॥ २ ॥

येन हस्ती वर्चसा संबुभूव येन राजा मनुष्येष्वृष्यंन्तः ।

येन देवा देवतामग्र आयन्तेन मामद्य वर्चसाग्रै वर्चस्विनं कृणु ॥ ३ ॥

अर्थ— ( यम् अदिस्थाः तस्यः ) जो अदितिके शरीरसे ( संयमूच ) उत्पन्न हुआ है वह ( हस्तिवर्चसं बृहत् पशुः ) हाथीके बलके समान बड़ा यश ( प्रथतां ) फैले । ( तम् पतत् ) वह यह यश ( सवै सजोपाः विश्वे देवाः अदितिः ) सब एक मनवाले देव और अदिति ( महां सं अदुः ) मुझे देते हैं ॥ १ ॥

( मित्रः च वरुणः च इन्द्रः च रुद्रः च ) मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र ( चेततु ) उत्साह देंगे । ( ते विश्व-घायसाः देवाः ) वे विश्वके धारक देव ( वर्चसा मा अञ्जन्तु ) तेजसे मुझे सुख करें ॥ २ ॥

( येन वर्चसा हस्ती संयमूच ) जिस तेजसे हाथी उत्पन्न हुआ है, और ( येन मनुष्येषु अप्सु च अन्तः राजा संयमूच ) जिस तेजसे मनुष्योंमें और जलके अन्दर राजा हुआ है, और ( येन देवाः अग्रे देवता आयन् ) जिस तेजसे, देवीने पहले देवत्व प्राप्त किया, ( तेन वर्चसा ) उस तेजसे, हे अग्ने ! ( मा अद्य वर्चस्विनं कृणु ) मुझे आज तेजस्वी कर ॥ ३ ॥

भाषार्थ— जो मूल प्रकृतिके अन्दर बल है, जो हाथी आदि पशुओंमें जाता है, वह बल मुझमें आवे, सब देव एक मतसे मुझे बल दें ॥ १ ॥

मित्र, वरुण, इन्द्र और रुद्र ये विश्वके धारक देव मुझे उत्साह देंगे, शान देंगे और मुझे तेजसे सुख करें ॥ २ ॥

जिस बलसे हाथी सब पशुओंमें बलवान् हुआ है, जिस बलसे मनुष्योंके अन्दर राजा बलशाली होता है और भूमि तथा जलपर भी अपनी शायन करता है, जिस बलसे पहले देवीने देवत्व प्राप्त किया था, हे तेजके देव ! वह बल आज मुझे प्राप्त होवे ॥ ३ ॥

यत्ते वचो जातवेदो बृहदभ्युत्याहुतेः ।

यावत्सूर्यस्य वर्च आसुरस्य च हस्तिनः ।

तावन्मे अश्विना वर्च आ धत्तां पुष्करस्तजा ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशधक्षुर्पावत्समश्नुते ।

तावत्समेतिवन्द्रियं मयि तद्वस्तिवर्चसम् ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुपदामतिष्ठावान्भूव हि ।

तस्य मगेन वर्चसांमि पिश्यामि मामुहम् ॥ ६ ॥

अर्थ— हे ( जातवेदः ) जातवेद ! ( ते यत् वर्चः आहुतेः बृहत् भवति ) तेरा जो तेज आहुतियोंके बड़ा होना है ( यावत् सूर्यस्य, आसुरस्य हस्तिनः च वर्चः ) और जितना सूर्यका और आसुरी हाथी [ मेघ ] का बल और तेज होता है, हे ( पुष्करधजा अश्विना ) पुष्पमाला धारण करनेवाले अश्वि देवों ! ( तावत् वर्चः मे आ धत्तां ) उतना तेज मेरे लिये धारण कीजिये ॥ ४ ॥

यावत् ( चतस्रः प्रदिशः ) जितनी दूर चारों दिशाएँ हैं, ( यावत् चक्षुः समश्नुते ) जितनी दूर दृष्टि फैलती है, ( तावत् मयि तत् हस्तिवर्चसं इन्द्रियं ) उतना मुझमें वह हाथीके समान इन्द्रियोंका बल ( सं पेतु ) इच्छा होकर मिले ॥ ५ ॥

( हि सुपदां मृगाणां ) जिसका अच्छे बैठनेवाले पशुओंमें ( हस्ती अतिष्ठावान् भूव ) हाथी बड़ा प्रतिष्ठावान् हुआ है, ( तस्य मगेन वर्चसा ) उसके ऐश्वर्य और तेजके साथ ( अहं मां अमि पिश्यामि ) मैं अपने आपको अभिविष करता हूँ ॥ ६ ॥

भाषार्थ— हे यने हुएके जाननेवाले देव ! जो तेज आत्ममें आहुतियोंके देवेद्य बड़ता है, जो तेज पूर्वमें है, जो अश्वोंमें तथा हाथीमें या मेघोंमें है, हे अश्विदेवों ! वह तेज मुझे दीजिये ॥ ४ ॥

चार दिशाएँ जितनी दूर फैला हैं, जितनी दूर मेरी दृष्टि जाती है, उतनी दूरतक मेरे धामर्यका प्रभाव फैले ॥ ५ ॥

जैसा हाथी पशुओंमें बड़ा बलवान् है, वीसा बल और ऐश्वर्य मैं प्राप्त करता हूँ ॥ ६ ॥

होता है वह पृथ्वी, आप, तेज, वायु आदि देवोंकी सहायतासे ही प्राप्त होता है, किंसा अन्य रीतिसे नहीं होता है । यह बल प्राप्त करनेकी रीति है । इन देवोंके साथ अपना संबंध करनेसे अपने शरीरका बल बढने लगता है । जलमें तैरने, वायुमें त्रमण करने अथवा खेलकूद करने, धूपसे शरीरको तपाने अर्थात् शरीरकी चमकीके साथ इन देवोंका सम्बन्ध करनेसे शरीरका बल बढता है । इससे यह सिद्ध हुआ कि तंग मकानमें अपने आपको बन्द रखनेसे बल घटता है ।

द्वितीय मंत्र कहता है कि ' ( मित्र ) सूर्य, ( चरुणः ) जलदेव, ( इन्द्रः ) विद्युत्, ( रुद्रः ) अग्नि अथवा वायु ये

निश्चयकारक देव मेरी शक्ति बढावें । ' ( मं० २ ) यदि इनके जीवन रसपूर्ण अमृत प्रवाहोंसे अपना संबंध ही टूट गया तो ये देव हमारी शक्ति कैसी बढावेंगे ? इस लिये बल बढाने-वालोंको लक्षित है कि वे अपने शरीरकी चमकीका संबंध इन देवोंके अमृत प्रवाहोंके साथ योग्य प्रमाणसे होने दें । ऐसा करनेसे इनके अंदरका अमृत रस शरीरमें प्रविष्ट होगा और बल बढेगा ।

अन्य मंत्रोंका आशय स्पष्ट ही है । मरियल और बलवान् होनेका मुख्य कारण यहा इस सूक्तने स्पष्ट कर दिया है । जो शठक इस सूक्तके उपदेशके अनुसार आचरण करेंगे व निःसन्देह बल, वीर्य, दीर्घायु और आरोग्य प्राप्त करेंगे ।

## वीर पुत्रकी उत्पत्ति ।

( २३ )

( श्लाघा — प्रह्ला । देवता — चन्द्रमाः, योनिः, चाचापुष्यिवी )

येन वेहद्वचभूविंश नाशयामसि तत्त्वत् ।

हुदं तदुन्यत्र त्वदपं दूरे नि दंघमसि

॥ १ ॥

आ ते योनिं गर्भं एतु पुमान्वाणं इवेपुषिम् ।

आ वीरोऽयं जायतां पुत्रस्ते दंघमास्यः

॥ २ ॥

अर्थ— ( येन वेहद्वचभूविंश ) जिस कारणसे तू चन्प्या हुई है, ( तत् त्वत् नाशयामसि ) वह कारण इससे हम दूर करते हैं । ( तत् हुदं ) वह गद बन्प्यापन ( अन्यत्र त्वत् दूरे ) दूसरी जगह तेरे दूर ( अप नि दंघमसि ) हम ने जाते हैं ॥ १ ॥

( पुमान् गर्भं ते योनिं आ एतु ) पुष्य गर्भ तेरे गर्भाशयमें आ जावे, ( याणः इपुषिं इय ) जैसा बाण वृणीरमें होता है । ( अत्र ते ) यहाँ तेरा ( दंघमास्यः वीरः पुत्रः आ जायतां ) दस सहिते गर्भमें रहकर वीर पुत्र उत्पन्न हो ॥ २ ॥

भावार्थ— हे स्त्री ! जिस दोषके कारण तुम्हारे गर्भाशयमें गर्भधारणा नहीं होती है और तू चन्प्या बनी है, वह दोष मैं तेरे गर्भसे दूर करता हूँ और पूर्ण रीतिसे वह दोष इससे दूर करता हूँ ॥ १ ॥

तेरे गर्भाशयमें पुष्य गर्भ उत्पन्न हो, वह गर्भ वहाँ दस मासतक अच्छी प्रकार पुष्ट होता हुआ उसने जगम वीर पुत्र तुम्हें उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

१३ ( अथर्व. माष्य, काण्ड ३ )

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।

भवांसि पुत्राणां माता जातानां जनयाश्च यान् ॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।

तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूयेतुका भव ॥ ४ ॥

कृणोमि ते प्राजापत्यमा योनिं गर्भं एतु ते ।

विन्दस्व त्वं पुत्रं नारि यस्तुभ्यं शमसुच्छमु तस्मै त्वं भवं ॥ ५ ॥

यासां द्यौः पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव ।

तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोपधयः ॥ ६ ॥

अर्थ— ( पुमांसं पुत्रं जनय ) पुरुष संतान उत्पन्न कर, ( तं अनु पुमान् जायतां ) उसके पंछे भी पुत्र ही उत्पन्न होवे । इस प्रकार तू ( पुत्राणां माता भवांसि ) पुत्रोंकी माता हो, ( जातानां यान् च जनयाः ) जो पुत्र जनमें हैं और जिनकी तू इसके बाद उत्पन्न करेगी ॥ ३ ॥

( यानि च भद्राणि बीजानि ) जो कल्याणकारक बीज हैं जिनकी ( ऋषभाः जनयन्ति ) ऋषभक बनरपत्नियां उत्पन्न करती हैं, ( तैः त्वं पुत्रं विन्दस्व ) जनसे तू पुत्रको प्राप्त कर । ( सा प्रसू ) वैद्यी प्रसूत होनेवाली तू ( धेनुका भव ) गौके समान उत्तम माता हो ॥ ४ ॥

( ते प्राजापत्यं कृणोमि ) तेरे लिये प्रजा होनेका संस्कार मैं करता हूँ । ( गर्भं ते योनिं एतु ) गर्भ तेरी कोठिमें आवे । हे ( नारि ) स्त्री ! ( त्वं पुत्रं विन्दस्व ) तू पुत्रको प्राप्त कर । ( यः तुभ्यं शं असत् ) जो तेरे लिये कल्याणकारी होवे और ( स त्वं उ तस्मै शं भव ) तू निश्चये उसके लिये कल्याणकारिणी हो ॥ ५ ॥

( यासां द्यौः पिता पृथिवी माता ) जिन औपधियोंकी ( द्यौः पिता ) युलोक पिता है, ( पृथिवी माता ) पृथ्वी माता है, और ( समुद्रः मूलं ) समुद्र मूल ( बभूव ) हुआ है । ( ताः दैवीः ओपधयः ) ये दिव्य औपधियां ( त्वां पुत्रविद्याय ) तुझे पुत्र प्राप्त करनेके लिये ( प्र अयन्तु ) विशेष रक्षण करें ॥ ६ ॥

भाष्यार्थ— पुरुष संतान उत्पन्न कर । उसके पंछे द्वारा भी पुत्र ही होवे । इस प्रकार तू अनेक पुत्रोंकी माता हो ॥ ३ ॥ ऋषभक आदि औपधियोंके जो उत्तम बीज होते हैं, उनका घन पुत्र प्राप्तिके लिये तू कर । और उत्तम बीर पुत्रोंकी उत्पन्न कर ॥ ४ ॥

प्रजा उत्पन्न होनेका प्राजापत्य संस्कार मैं तुझपर करता हूँ, उसके तेरे नरसंस्थानमें पुरुष गर्भ उत्पन्न होवे और तू पुत्र घनमें भी उत्पन्न कर । वह पुत्र तेरा कल्याण कर और तू उसका कल्याण कर ॥ ५ ॥

जो औपधियां पृथ्वीपर उत्पन्न होती हैं, जिनका घनन दिव्य ऋषिसे होता है और जो समुद्रमें उत्पन्न हुई हैं, उन दिव्य औपधियोंका घनन तन प्राप्तिके लिये तू कर । जगते जगते सभीजगत्वा दीय दह होगा और तूने उत्तम संतान उत्पन्न होगा ॥ ६ ॥

बढानेवाली, शरीरको पुष्ट करनेवाली और गर्भाशयके दोष दूर करके वहाँका आरोग्य बढानेवाली है । इन औषधियोंका हवन करना, इनका सेवन करना और आरोग्यपूर्ण विचार मनमें धारण करना ये तीन उपाय बंध्यात्व दूर करनेके लिये इस सूक्तमें कहे हैं ।

यज्ञक परमभानसे वह प्राजापत्य यज्ञ करे, यज्ञधेय आहुति-रस स्त्रीको मिलाने और प्रथम तीन मंत्रोंके आरोग्यके विचार आशीर्वाद रूपसे कहे— ' हे स्त्री ! तेरे अंदर जो बंध्यात्वका बीज था, वह इस प्राजापत्य इष्टिसे दूर हो गया है, अब तुम्हारे गर्भाशयमें पुत्रस्य गर्भ उत्पन्न होगा, वहाँ वह बीर शक्तक दस

आघतक पुष्ट होता रहिगा और पश्चात् योग्य समयमें उत्पन्न होगी । अब तू अनेक पुत्रोंकी माता बनेगी । ' ( मं० १-३ )

इस प्रकारके मनःपूर्वक दिव्य हुए आशीर्वादसे तथा उस आशीर्वादकी अचल विश्वधेय स्वीकार करनेसे शरीरके अन्दर आघतक परिवर्तन हो जाता है । ' शिव संकल्पसे चिकित्सा ' करनेकी रीति यह है । इस विषयके सूक्त अथर्व-वेदमें अनेक हैं ।

इस सूक्तमें ' औषधयः ' शब्द बहुवचनान्त है, इससे अनुमान होता है कि इस सेवन विधिमें अनेक औषधियाँ आती हैं । सुविध वैद्योंको इस विषयकी खोज करना चाहिये ।

## समृद्धिकी प्राप्ति ।

( २४ )

( ऋषिः — भृगुः । देवता — वनस्पतिः, प्रजापतिः )

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मासकं वर्षः । अथो पर्यस्वतीनामा मरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चुकार धान्यं गृह ।

संभृता नाम यो देवस्तं वपं हवामहे यो यो-अयज्वनो गृहे ॥ २ ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः । वृष्टे ज्ञापं नदीरिवेह स्फूर्तिं समावेहान् ॥ ३ ॥

अर्थ— ( औषधयः पर्यस्वतीः ) औषधियाँ रखवाली हैं, और ( मासकं वर्षः पर्यस्वत् ) मेरा वचन भी सार-वाला है । ( अथो ) इसलिये ( पर्यस्वतीनां सहस्रशः ) रखवाली औषधियोंका हजारों प्रकारसे ( अहं या मरे ) मैं भरण पोषण करता हूँ ॥ १ ॥

( पर्यस्वन्तं बहुधास्य चुकार ) रखवाला बहुत धान्य उत्पन्न किया है उसकी रीति ( अहं वेद ) मैं जानता हूँ । ( याः यः अयज्वनः गृहे ) जो कुछ अयाजकके घरमें है उसको ( संभृता नाम याः देवः ) ईश्वर करके जानेवाला इस नामका जो देव है, ( तं वपं हवामहे ) उसका हम वजन करते हैं ॥ २ ॥

( इमाः याः पञ्च प्रदिशः ) ये जो पाँचों दिशाओंमें रहनेवाली ( मानवीः पञ्च कृष्टयः ) मनुष्योंकी पाँच जातियाँ हैं वे ( इह स्फूर्तिं समावेहन् ) वहाँ वृद्धिकी प्राप्त करें ( हव ) जिस प्रकार ( वृष्टे नदीः ज्ञापं ) वृष्टि होनेके कारण नदियाँ सब कुछ भर जाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ— मेरा आपण मीठा होता है वैसी ही औषधियाँ उत्तम रखवाली होती हैं, इसलिये मैं विशेष प्रकारसे औषधियोंकी पोषण करता हूँ ॥ १ ॥

रखवाला उत्तम धान्य उत्पन्न करनेकी विधि मैं जानता हूँ । इसलिये उस दयावान् ईश्वरका मैं यजन करता हूँ, जो अयाजक योग्यके घरमें भी समृद्धि करता है ॥ २ ॥

ये पाँचों दिशाओंमें रहनेवाली मानवीकी पाँच जातियाँ उत्तम समृद्धि प्राप्त करें जैसी नदियाँ वृष्टि होनेपर भर जाती हैं ॥ ३ ॥



उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् । एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥  
 शतहस्त समाह्वरं सहस्रहस्त सं किर । कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥ ५ ॥  
 तिस्रो मात्रा गन्धर्वाणां चतस्रो गृहपत्याः । तासां या स्फातिमत्तमा तया त्वाभि मृशामसि ॥ ६ ॥  
 उपोह्य समूह्य क्षत्तारौ ते प्रजापते । ताविद्वा वहतां स्फातिं बृहं भूमानुमक्षितम् ॥ ७ ॥

अर्थ— ( शतधारं सहस्रधारं अक्षितं उत्सं उत् ) सैकड़ों और हजारों धाराओंवाले अक्षय मरने या तडाग-  
 दिक जैसे गृष्टिसे भर जाते हैं, ( एव अस्माक इदं धान्यं ) इसी प्रकार हमारा यह धान्य ( सहस्रधारं अक्षितं ) हजारों  
 धाराओंको देता हुआ अक्षय होवे ॥ ४ ॥

हे ( शत-हस्त ) सौ हाथोंवाले मनुष्य ! ( समाह्वर ) इकट्ठा करके ले जाओ । हे ( सहस्र-हस्त ) हजारों हाथों-  
 वाले मनुष्य ! ( सं किर ) उसको फैला दे, दान कर । और ( कृतस्य कार्यस्य च ) किये हुये कार्यकी ( इह स्फातिं  
 समावह ) यहाँ रुढ़ि कर ॥ ५ ॥

( गन्धर्वाणां तिस्रः मात्राः ) भूमिका धारण करनेवालोंकी तीन मात्राएं और ( गृहपत्याः चतस्रः ) गृहपति-  
 योंकी चार होती हैं । ( तासां या स्फाति-मत्तमा ) उनमें जो अत्यंत समृद्धिवाली है ( तथा त्वाभि मृशामसि )  
 उससे तुझका हम समुक्त करते हैं ॥ ६ ॥

हे ( प्रजापते ) प्रजाके पाठक ! ( उपोह्य च ) उठाकर लानेवाला और ( समूह्य च ) इकट्ठा करनेवाला ये दोनों  
 ( ते क्षत्तारौ ) तेरे सहकार्य करनेवाले हैं । ( ती रद्वा स्फातिं ) वे दोनों यहाँ रुढ़िको लावें और ( यद्वा अक्षितं भूमानं  
 वा वहतां ) बहुत अक्षय भरपूरताको लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ— गृष्टि होनेसे तालाब आदि जलाशय जैसे भरपूर भर जाते हैं उसी प्रकार हमारे घरोंमें अनेक प्रकारके धान्य  
 भरपूर और अक्षय हो जावें ॥ ४ ॥

हे मनुष्य ! तू सौ हाथोंवाला होकर धन प्राप्त कर और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान कर । इस प्रकार अपने कर्तव्य-  
 र्गकी उन्नति कर ॥ ५ ॥

ऐसा करनेसे ही अधिकसे अधिक समृद्धि हम तुमको देते हैं ॥ ६ ॥

लानेवाला और समृद्धकर्ता ये दोनों प्रजापालन करनेवालेके सहकारी हैं । अतः ये दोनों इस स्थानपर समृद्ध हों और अक्षय  
 समृद्धि प्राप्त करें ॥ ७ ॥

### समुद्धिकी प्राप्तिके उपाय ।

समृद्धि हरएक चाहता है परन्तु उसकी प्राप्तिका उपाय बहुत  
 मोठे जानते हैं । समृद्धिकी प्राप्तिके कुछ उपाय इस सूक्तमें बड़े  
 हैं । जो लोक समृद्धि प्राप्त करना चाहते हैं वे इस सूक्तका  
 अच्छी प्रकार मनन करें । समृद्धिकी प्राप्तिके लिये पहिला  
 नियम ' मीठी वाणी ' है—

पयस्यान् मार्मकं घृचः । ( सू. २४, म. १ )

' दूध जैसा मधुर मेरा वचन हो, ' भाषणमें मधुरता,  
 रसमयता, मीठापन, सुननेवालोंकी मुक्ति करनेका गुण रहे । समृद्धि  
 प्राप्त करनेके लिये मीठी भाषण करनेके गुणकी अत्यंत आवश्यकता

है । आत्मसुद्धिका यह पदला और आवश्यक नियम है ।  
 इसके पश्चात् समृद्धि सदाकेला दूसरा नियम है, ' दसताले  
 कुपिकी रुद्धि करना । '—

पयस्वतीनां आभरेऽर्घं सहस्रम् । ( सू. २४, मं. १ )

वेदाहं पयस्वन्त चकार धान्यं यद् ।

( सू. २४, मं. २ )

' रसवाली औषधियोंका मैं हजारों प्रकारोंसे पोषण करता  
 हूँ, बहुत धान्य केला उत्पन्न किया करते हैं, यह विद्या मैं  
 जानता हूँ । ' अर्थात् चतान इयि करनेकी विद्या जानना और  
 उसके अनुष्ठान इयि करके अपना धान्यप्रद बढ़ाना समृद्धि

होनेके लिये अत्यन्त आवश्यक है । रसदार धान्य अपने पास न हुआ तो अन्य समृद्धि होनेसे कोई विशेष लाभ नहीं है । मीठा भाषण करनेवाला मनुष्य हुआ तो उसके पास बहुत मनुष्य इकट्ठे हो सकते हैं, और उसके पास रसवाला धान्य हुआ तो वे आनन्दसे तृप्त हो सकते हैं । इसके पश्चात् 'सामुदायिक उपासना करना' समृद्धिके लिये आवश्यक होता है—

**सम्भृत्वा नाम यो देवस्तं वयं ह्वामहे**  
**यो-यो अयज्वनो गृहे ॥** ( सू. १४, म. २ )

' जो यज्ञ न करनेवालोंके भी घरमें ( उनके पोषणके सामान रखता है वह दयामय ) संभारकर्ता नामक देव है उसकी उपासना हम करते हैं । ' परमेश्वर सबका पालन है, उसकी कृपादि सबोपर रहती है, ऐसा जो दयामय ईश्वर है, उसकी उपासना करनेसे समृद्धि बढ जाती है । जो देव अयाज्ञकोंको भी पुष्टिके साधन देता है वह तो याज्ञकोंका पोषण करेगा ही, इसलिये ईश्वरभक्ति करना समृद्धि प्राप्त करनेका मुख्य साधन है । इस मन्त्रमें ' ह्वामहे ' यह बहुवचनमें पद है, इसलिये बहुतांश द्वारा मिल कर उपासना करनेका—यज्ञ करनेका—भाव इससे स्पष्ट होता है ।

मिलकर उपासना करनेसे और पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन करनेसे ' पत्नीं मनुष्यांकी अर्थात् ब्राह्मण, सत्रिव, वैश्य, शूद्र, निपादोंकी मिलकर उन्नति हो सकती है । ' ( म. ३ ) उन्नतिका यह नियम है । जिस प्रकार गृष्टि हुई तो नदी बढती है अन्वया नहीं, इसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों नियमोंका पालन हुआ तो मनुष्योंकी उन्नति नि सदेह होगी । पाठक इन नियमोंका अवश्य स्मरण रखें ।

समृद्धि होनेके लिये रसदार धान्यकी विपुलता अपने पास अवश्य होनी चाहिये, यह भाव विशेष दृढ करनेके लिये चतुर्वचनमें ' हजारों प्रकारकी मनुष्य रसधारालोंसे युक्त अस्त्रधान्यका समृद्ध ' अपने पास रखनेका उपदेश किया है । यह विशेष ही महत्त्वका उपदेश है । इस प्रकार धनधान्यकी विपुलता होनेपर स्थाय्य उत्पन्न होगा और उस स्थायिक कारण आनोन्नति होना सर्वथा असम्भव है । इसलिये पंचम मन्त्रमें दान देनेके समय विशेष उदारता रखनेका भी उपदेश किया है—

**शतदस्त समाहर, सहस्रदस्त सं किर ।**

( सू. १४, म. ५ )

' जो हाथोंवाला हज़ार कमई करो, और हजार हाथोंवाला बनकर उसका दान करो । ' यह उपदेश हरेक मनुष्यको

अपने हृदयमें स्थिर करना अत्यन्त आवश्यक है । इस उदार भावके बिना मनुष्यकी उन्नति अर्धमव है । इसके पश्चात् वेद कहता है कि—

**कृतस्य कार्यस्य चेह स्फार्ति समावह ।**

( सू. १४, म. ५ )

' इस प्रकार अपने कर्तव्यकर्मकी यहाँ उन्नति करो । ' जो पूर्वोक्त स्थानमें उन्नतिके नियम कहे हैं, उन नियमोंका पालन करने द्वारा अपने कर्तव्यके क्षेत्रका विस्तार करो, यह उपदेश मनन करने योग्य है । ' ( कार्यस्य स्फार्ति समावह ) ' ये शब्द हरएक मनुष्यके कार्यक्षेत्रके विषयमें कहे हैं, ब्राह्मण अपना ज्ञान विषयक कार्यक्षेत्र बढावे, क्षत्रिय अपना प्रजा रक्षण रूप कार्यक्षेत्र बढावे, वैश्य कृषि, गोरक्ष, वाणिज्य आदिमें अपने कार्यक्षेत्रकी वृद्धि करे, शूद्र अपने कारीगरोंके कार्य बढावे और निषाध अपने जो वनरक्षा विषयक कर्तव्य हैं उनको वृद्धि करे । इस प्रकार सबकी उन्नति हुई, तो संपूर्ण पंचजनोका अर्थात् सब राष्ट्रां सुख बढ सकता है और सबकी सामुदायिक उन्नति हो सकती है । हरएककी अपनी ( स्फार्ति ) बढती, उन्नति, वृद्धि, समृद्धि करनेके लिये अवश्य ही कष्टबद्ध होना चाहिये । अपनी संपूर्ण कवितयोंका विकास अवश्य करना चाहिये ।

**मुरय दो साधन ।**

समृद्धि प्राप्त करनेके दो मुख्य साधन हैं । ' उपोहः ' और ' समूहः ' इनके विशेष अर्थ देखिये—

१ उपोहः— ( उप-ऊहः ) इकट्ठा करना, समूह करना, एक स्थानपर लाकर रखना ।

२ समूहः— समुदायोंमें आटकर वर्गीकरण करना ।

पहली बात है समूह करना और दूसरी बात है उन समूहित दलोंको वर्गीकरण द्वारा समुचित रीतिसे व्यवस्थित रखना । इसीसे शांति बनता और बढता है । वृक्ष-वनस्पतियोंका समूह करने और उनका वर्गीकरण करनेसे वनस्पतिशास्त्रकी उत्पत्ति हुई है । वस्तुसमूहालयमें देखिये, वहाँ पदार्थोंका समूह किया जाता है और उनको वर्गोंमें सुव्यवस्थित रखा जाता है । यदि ऐसा न किया जाय, तो वस्तुसमूहालयमें बिलगुल लाभ नहीं होगा । इसी प्रकार अपने चारोंपे वस्तुओंका समूह करना चाहिये और उनको वर्गोंमें अपने अपने सुयोग्य क्रमपूर्वक सुव्यवस्थापित करना चाहिये । सभी उन्नति या समृद्धि हो सकती है ।

पंचम मन्त्रमें ' उपोहः ( समूह ) और समूहः ( समूहोंमें वर्गीकरण करना ) ' ये दो बातें समृद्धिकी पापक कर दे रही

हैं । यह बहुत ही महत्त्वका विषय है, इसलिये पाठक इसका मनन करें और अपने जीवनभर लाभ देनेवाला यह उत्तम उपदेश है यह जानकर इससे बहुत लाभ उठावें ।

समष्ट और वर्गीकरण उल्लिखित साधक हैं, इस विषयमें सत्तम मनुष्य कथन ही स्पष्ट है—

तो इह स्फाति आ चहताम् ।

अक्षितं यद् भूमानम् ॥ ( सू. २४, म. ७ )

‘ वे [ अर्थात् संप्रद और वर्गीकरण ये ] दोनों इस संसारमें

( स्फाति ) समृद्धि देते हैं और ( भूमानं ) विपुल धन अथवा विशेष महत्त्व देते हैं । ’

जिसको समृद्धि और धन चाहिये वे इन गुणोंको अपनावें और इनसे अपना लाभ सिद्ध करें । जो लोग अभ्युदय प्राप्त करनेके इच्छुक हैं उनको इस सूक्तका बहुत मनन करना चाहिये । कमसे कम इस सूक्तमें कथित जो महत्त्वपूर्ण उपदेश हैं, उनको कभी भूलना उचित नहीं है । जो पाठक इस सूक्तका मनन करेंगे वे अपने अभ्युदयका मार्ग इस सूक्तके विचारसे निःसंदेह जान सकते हैं ।

## काम का बाण ।

( १५ )

( श्रुतिः — भृगुः । देयता — मित्रावरुणौ, कामेयुः )

उत्तुदस्त्वोत्तुदतु मा धृयाः श्रयन्ते स्वे । इयुः कामस्य या भीमा तया विष्णामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

आधीपर्णा कामशल्यामिषु संकल्पकुलमलाम् । तां सुसंनतां कृत्वा कामो विष्यतु त्वा हृदि ॥ २ ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्तेषुः सुसंनता । प्राचीनपक्षा व्योषि तया विष्णामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

अर्थ— ( उत्तुदः तथा उत्तुदतु ) दिलनिवाला काम तुमसे दिला देवे । ( स्वे श्रयन्ते मा धृयाः ) अपने शयनमें मत ठहर । ( कामस्य या भीमा इयुः ) कामका जो मयानक बाण है ( तथा तथा हृदि विष्णामि ) उससे तुमको हृदयमें वेष्टता है ॥ १ ॥

( आधी-पर्णा ) जिसपर मानसिक बीजा स्वी पंख लगे हैं, ( काम-शल्यां ) कामेच्छा करी बाणका अग्रभाग जहाँ लगाया है, ( संकल्प-कुलमलां ) संकल्प करी दण्डा जहाँ लगा दे, ( तां ) उस ( इयुं ) बाणको ( सुसंनतां छाया ) ठीक प्रकार लक्ष्यपर धरके ( कामः हृदि तथा विष्यतु ) काम हृदयमें तुमको वेष्ट करे ॥ २ ॥

( कामस्य सुसंनता ) कामका ठीक लक्ष्यपर लगाया हुआ ( प्राचीन-पक्षा वि-ज्योषा ) शीघ्र वृद्धता और विविध अन्ननिवाला ( या इयुः शीघ्रानं शोषयति ) जो बाण तिनीको शुभा देता है, ( तथा तथा हृदि विष्णामि ) उससे तुमको हृदयमें वेष्टता है ॥ ३ ॥

मुचा विद्धा व्योपिया शुष्कास्याभि सर्प मा । मृदुनिर्मन्युः केवली प्रियवादिन्यनुग्रता ॥ ४ ॥

आजामि त्वाजंन्या परि मातुरथो पितुः । यथा मम कृतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ ५ ॥

अप्यस्य मित्रावरुणौ हृदयित्तान्यस्यतम् । अथैनामकृतं कृत्वा ममैव कृणुतं वशे ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

अर्थ— ( व्योपया ) विशेष दाद करनेवाले ( मुचा ) शोक बढ़ानेवाले वाणके द्वारा ( विद्धा ) विधी हुई तु ( शुष्कास्या ) सुखको सुखानेवाली ( मा अभिसर्प ) मेरी ओर चली आ । और ( मृदुः ) कोमल, ( निमन्युः ) क्रोधरहित, ( प्रियवादिनी ) सीठा आभरण करनेवाली, ( अनुग्रता ) अनुकूल कर्म करनेवाली, ( केवली ) केवल मेरी ही इच्छा करनेवाली हो ॥ ४ ॥

( स्वा मा-अजन्त्या ) दुःखको वेगसे ( परि मातुः अथो पितुः ) माता और पिताके पाससे ( आ आजामि ) खता हू । ( यथा मम कृता अवसः ) जिससे मेरे अनुकूल कर्ममें तू रह और ( मम चित्तं उपायसि ) मेरे चित्तके अनुकूल चल ॥ ५ ॥

हे ( मित्रावरुणौ ) मित्र और वरुण । ( अस्यै ) इसके लिये ( हृदः चित्तानि व्यस्यत ) हृदयके विचारोंको विशेष प्रकार प्रेरित करो । ( अथ एतां अकृतं कृत्वा ) और इसको कर्महीन बनाकर ( मम एव वशे कृणुतं ) मेरे ही वशमें करो ॥ ६ ॥

भाषार्थ— यह कामका बाण विशेष जलनेवाला, शोक बढ़ानेवाला और सुखको सुखानेवाला है, हे स्त्री ! इससे विधी हुई तू मेरे पास आ और कोमल, क्रोधरहित, मधुरभाषिणी, अनुकूल आभरण करनेवाली और केवल मुझमें ही अनुरक्त होकर मेरे साथ रह ॥ ४ ॥

हे स्त्री ! माता और पितासे अलग करके मैंने तुझे यहाँ लया है, इसलिये तू मेरे अनुकूल कर्म करनेवाली और मेरे विचारोंके अनुकूल विचार करनेवाली बनकर यहाँ रह ॥ ५ ॥

हे मित्र और हे वरुण ! इस शोकके हृदयके विचारोंमें विशेष प्रेरणा करो, जिससे वह मेरे अनुकूल कर्मके शिवाय दूसरे किसी कर्ममें इसको प्रेम न रहे, तथा यह धर्मपत्नी मेरे ही वशमें रहे ॥ ६ ॥

### विरुद्ध परिणामी अलंकार ।

' विरुद्ध परिणामी अलंकार ' का उदाहरण यह सूक्त है । ' विरुद्ध परिणाम ' जिसका होता है, जो बोला जाता है उसके उलटा परिणाम जिससे निकलता है, बोले जानेवाले शब्दोंका स्पष्टार्थ जो हो उसके विरुद्ध आशयका भाव जिसके अन्दर हो, उसको ' विरुद्ध परिणामी अलंकार ' कहते हैं । इसके एक दो उदाहरण देखिये—

( १ ) ' हृदयको जलनेवाली, धनका नाश करनेवाली, कुटुम्बमें कलह उत्पन्न करनेवाली और शरीरको सुखानेवाली शराम गिओ । ' इस वाक्यमें यद्यपि शराब पिबो करके कहा है तथापि शराबका दुर्गुण वर्णन इतने स्पष्ट शब्दोंसे किया है कि उसके सुननेवालोंमें प्राप्ति न पानेकी ओर ही होती है ।

( २ ) ' जिससे शरीर शुद्ध होता है और अद्भुत शलन होनेके कारण आरोग्य, बल और दीर्घ जीवन निःसंदेह प्राप्त होता है, इस प्रकारका आसन प्राणायामादिका योगसाधन कभी भूलकर भी मत करो । ' इसमें यद्यपि योगसाधन करनेका स्पष्ट निषेध है, तथापि सुननेवालोंके मनपर योगसाधन अवश्य करना चाहिये यह भाव स्थिर हो जाता है ।

ये भाषाके काव्यालंकार हैं, काम्य समग्रमें ये प्रयुक्त किये जायें तो इनका उपरिणाम ही होता है । अब इस सूक्तका कथन देखिये—

' हे स्त्री ! कामके भागमें मैं तेरे हृदयको वेधता हू, इस कामके भागको ' भानयिक कथ्या ' के मुन्दर पक्ष लगे हैं, इसमें जो लोहेका अग्रभाग है वह ' भानयिक विचार ' का शब्द ही

है, मनके 'कुशङ्कतों' की लकड़ीसे इस बाणको बनाया है, यह बड़ा 'जलानेवाला' है, यह लगनेसे सुख सुख जाता है, गीहा सुख जाती है, हृदय जल जाता है, इस प्रकारके कामके विषयक बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ, इसका तू विद्वद् हो जाओ ।'

इसमें तथापि 'कामके बाणसे विद्वद् हो जाओ' ऐसा कहा है, तथापि इस कामके बाणका स्वरूप इतना भयंकर वर्णन किया है, कि जिसका परिणाम सुननेवालेके ऊपर 'इस कामके बाणसे अपना बचाव करने' की ओर हा होगा । इस सूक्तमें जो 'कामके बाण' का वर्णन किया है, वे शब्द देखिये—

### कामके बाण ।

१ उन्तुदः = क्या देनेवाला, शरीरको काट काट कर पोसा देनेवाला । ( म १ )

२ भीमा इयुः = जिसका भयंकर परिणाम होता है ऐसा मयानक बाण । ( म १ )

३ भाषी-पर्णा = इस बाणको मानसिक व्यथाके पक्ष लगे हैं । ( म २ )

४ काम-शल्या = स्थायी प्रबल इच्छा रूपी, अथवा कामविकार रूपी शल्य जिसमें रोग है । बाणका जो अग्रभागमें लोहिका शस्त्र होता है वह यही कामविकार है । ( म २ )

५ सङ्कल्प-कुलमला = मनके कामविषयक संकल्प रूपी लकड़ीसे यह बाण बनाया गया है । ( म २ )

६ प्राचीन-पक्षा = इसको जो मानसिक व्यथाके पक्ष लगे हैं वे ऐसे लगे हैं कि जिनके कारण यह बाण सीधी गतिसे और अतिवेध जाता है । ( म ३ )

७ शुच्या ( शुक् ) = सौकर उपपन्न करनेवाला । ( म ४ )

८ ध्योपा ( चि-सोपा ) = विशेष रीतिसे जलानेवाला । ( म ३-४ )

९ शुष्कास्या ( शुष्क-आस्या ) = सुखसे सुखानेवाला, सुखसे म्लान करनेवाला । ( म ४ )

१० ग्रीधानं शोषयति = ग्रीहाधी कुला देना है । शरीरमें गीहा रसकी गूदिक करने द्वारा शरीर स्वास्थ्य रखनी है, ऐसे मरुत्प्रपूर्ण अवस्थाका नाश कामके बाणसे हो जाता है । इतनी मारकता इस मदनके बालमें है । ( म ३ )

११ हृदि विषयति = हृदय का हृदयमें होता है, हृदय हृदय । दर्शन होगा माना है, दर्शनकी वरणा कामके बन्धने होती है । ( म ३-३ )

कामके बाणका यह भयंकर वर्णन इन शब्दों द्वारा इस सूक्तमें किया है । 'हे स्त्री ! ऐसे भयंकर बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ ।' ऐसा एक पुरुष अपनी धर्मपत्नीसे कहता है । पति भी जानता है कि जिस शरीरसे वेध करना है वह कामका शर इतना भयंकर विषाक्त है । इस बाणसे न केवल विद्वद् होनेवाला ही कट जाता है अपितु वेध करनेवाला भी कट जाता है, अर्थात् यदि पतिने यह कामका शर अपनी धर्मपत्नीपर बरसाया तो वह जैसा धर्मपत्नीको काटता है उसी प्रकार पतिको भी काटता है और पूर्वोक्त स्यारह दुष्परिणाम करता है । यह बात स्वयं पति जानता है तथापि पति कहता है कि 'हे स्त्री ! ऐसे बाणसे मैं तेरा वेध करता हूँ ।'

यह पतिका भाषण उसकी धर्मपत्नी सुनती है, अर्थात् धर्मपत्नी भी इस कामबाणकी विषयक शक्तिको अच्छी प्रकार जानती है, और यदि कोई स्त्री न जानती हो तो इन शब्दोंद्वारा जान जायगी कि यह कामस्यन्दार कितना घातक है । इतना शल्य होनेके पश्चात् वह धर्मपत्नी स्वयं अपने पतिसे कहेगी, कि 'हे प्रायनाय ! आप ऐसे घातक कर्ममें प्रवृत्त न हूँजिये ।' ओ कर्म करना है उसकी मयानक घातकता बहुत भयंकर होनेके पश्चात् वह कर्म अधिक नहीं हो सकता, जितना आवश्यक है उतना ही होगा, कभी अधिक नहीं होगा ।

### पतिपत्नीका एक मत ।

इस सूक्तमें कही बात पति अपनी धर्मपत्नीसे कहता है । 'यह धर्मपत्नी अपने मातापिताके घरको छोड़कर पतिके घर पाविके साथ रहने आई है ।' ( देखो म. ५ ) धर्मपत्नी तृप्ती है, इस आयुमें यनका समय करना बड़ा कठिन कार्य होता है । तत्क्षण भोग भाग्यनेके इच्छुक होते हैं, परिणामपर रहि नहीं रख सकते । केवल भोग भोगनेके इच्छुक रहते हैं, परन्तु यह काम पुरुष है कि—

समुद्र इष हि काम । नैव हि कामस्यान्तोऽस्ति न समुद्रस्य ॥  
ते. मा. २।१।१।६

पामः पशुः ॥  
समुद्रके समान काम है, क्योंकि जैसा समुद्रका अन्त नहीं होता है वैसा ही कामका भी अन्त नहीं होता है । 'तथा काम ही पशु है ।'

यह काम भोग भोगनेके काम नहीं होता है, प्रयुक्त बन जाता है । वह पशु होनेके लक्षण पशुत्व होता है, जो इस कामरूपी पशुकी आत्मा अन्दर बसता है, वे मानो पशु-मनस्यो जाते अन्दर बसते हैं । जिनके अन्दर यह पशुत्व

बदा हो, उनको ' मनुष्य ' कहना कठिन हो जाता है। क्योंकि मनन करनेवालेका नाम मनुष्य होता है और मनकी मनन-शक्ति तो कामसे नष्ट हो जाती है। काम मनमें ही उत्पन्न हो जाता है और बढ़ा बढ़ता हुआ मननशक्तिको ही नष्ट कर देता है। इसी कारण तात्पर्यमें यदि मनके अन्दर काम बढ गया तो वह मनुष्य विवेकशून्य हो जाता है।

अब अपने प्रस्तुत विषयकी ओर देखिये। धर्मपत्नी दूसरे पारसे लगी गई है। माताको और पिताको, अपने भाइयों और जन्मके संबंधियोंको इस स्त्रीने छोट दिया है और पतिको अपने तन और मनका स्वामी माना है। इस प्रकार स्त्रीका पतिके पास आकर रहना एक प्रसारके पतिके ऊपरकी जिम्मेवारी बढानेवाला है। पतिको यह अपना उत्तरदायित्व ध्यानमें रखना चाहिये।

अब देखिये, एक प्रकार अपने माता-पिताओंको छोड़कर स्त्री पतिके घर आ गई, और यदि तात्पर्यावस्थाके शरीरधर्मके अनुसार उसको योग्य सुख प्राप्ति न हुई, तो ससका दिलभटक जानेकी भी संभावना है। पति धर्मदम आदि संयम और ब्रह्मचर्य पालन करने लगेगा और गृहस्थधर्म प्राप्त अपने कर्तव्यकर्म करनेगा, तो स्त्रीके मनकी कितनी अयोग्यता होना संभव है, इसका विचार पाठक करें और पतिछा उत्तरदायित्व जानें।

धर्मदम, ब्रह्मचर्य आदि सब उत्तम है, मनुष्यवश्या विकास करनेवाला है, यह सब सत्य है; परंतु विवाहित हो जानेपर स्त्रीके मनोव्यवस्था भी विचार करना चाहिये। यह कर्तव्य ही है। इस कर्तव्यसे ही हमें हानिद्वारा मोक्ष प्राप्त होता है, तथापि यह कर्तव्य करना ही चाहिये। स्त्रीने मातापिता छोड़कर बरा त्याग दिया है। यह स्त्रीका यज्ञ है। पतिको भी अच्छल ब्रह्मचर्य को छोड़कर गृहस्थी धर्मका चलब्रह्मचर्यका स्वीकार करके अपनी ओरका त्याग करना चाहिये। यही उषका यज्ञ है। ऐसा पतिने न किया तो वह स्त्रीको असम्भारमार्गमें प्रवृत्त करनेका माग्य बनेगा।

इस सूक्तमें जो पति अपनी धर्मपत्नीका हृदय कामके भयानक काष्णिक विद्रुत करना चाहता है, वह इसी हेतुसे चाहता है। इसलिये इस काष्णिके बाणकी भयानक किर्बसक शक्तिका वर्णन करता हुआ पति स्त्रिये कहता है कि ऐने भयानक बाणसे मैं तेरे विवाहकी अपने कर्तव्यपालन करनेके हेतुसे ही बंध करता हूँ। इस वर्णनको सुनकर स्त्री भी समझे कि यह जो कामोप-भोगका विचार मनमें उत्पन्न हुआ है, यदि इस उपभोगके

१४ ( अथर्व, भाष्य, काण्ड १ )

लिये मनको छुला छोड़ दिया जाय, तो कितनी भयानक अवस्था बन जायगी।

इस विचारसे उस स्त्रीके मनमें भी कामको शमन करनेकी हो। लहर उठ सकती है और यदि पतिने इस सूक्तके बताये मार्गसे अपने स्त्रीके मनमें यह संयमकी लहर बढायी, तो अन्तमें जाकर दोनोंका कल्याण हो जाता है।

परन्तु यदि पतिने अवरदस्तीसे स्त्रीको कामप्रवृत्तिसे रोक रखा, तो उस स्त्रीके अन्दरके कामविषयक संकल्प बहुत बढ जायगे, और अन्तमें उसके अधःपातके विषयमें कोई संदेह ही नहीं रहेगा। ऐसा अधःपात न हो इसलिये ऋतुगामी होने वादि परिमित गृहस्थधर्म पालन करनेके नियमोंकी प्रवृत्ति हुई है। साथ ही साथ कामकी भयानक विधातभूताका ही विचार होता रहेगा, तो उससे बचनेकी ओर हरएक स्त्रीपुरुषकी प्रवृत्ति होगी। इसलिये पति स्वयं संयम करना चाहता है और अपनी धर्मपत्नीको अपने अनुकूल धर्माचरण करनेवाली भी बनाना चाहता है। यह करनेके लिये पति स्वयं सुविचारोंकी प्राप्ति करता है और देवीकी प्रार्थना द्वारा भी देवी शक्तिकी सहायता लेनेका इच्छुक है। इसलिये यह मंत्रमें मित्रावरण देवताकी प्रार्थना की गई है कि ' हे देवी ! इस धर्मपत्नीको मेरे अनुकूल रहने और मेरे अनुकूल धर्माचरण करनेकी युक्ति दाजिये। इस धर्मपत्नीके मनके विचारोंमें ऐसा परिवर्तन कीजिये कि यह दूसरा कोई विचार मनमें न छाहर मेरे अनुकूल ही धर्माचरण करती रहे, दूसरे किसी कर्ममें अपना मन न रोके । ' ( मं. १ )

धर्मपतिको अपनी धर्मपत्नीके विषयमें यह दक्षता धारण करना आवश्यक ही है। पतिको सचित है कि वह अपनी धर्मपत्नीको समुद्र रचता हुआ उसको संयमके मार्गसे चलवै। धर्मपत्नीके गुण इसी सूक्तमें वर्णन किये हैं—

### धर्मपत्नीके गुण ।

- १ मृदुः = नरम स्तमाववाली, शांत स्वभाववाली । ( मं. ४ )
- २ निमग्न्युः = कोष न करनेवाली, शान्तिसं कार्य करनेवाली । ( मं. ४ )
- ३ मित्रघादिनी = मधुर भाषण करनेवाली । ( मं. ४ )
- ४ अनुप्रता = पतिके अनुकूल कर्म करनेवाली । ( मं. ४ )
- ५ ( प्रम ) यद्यो = पतिके वशमें रहनेवाली, पतिकी आज्ञामें रहनेवाली । ( मं. ७ )
- ६ केचलो = केवल पतिकी ही बंधन रहनेवाली । ( मं. ४ )

७ (मम) चित्तं उपायासि = पतिके चित्तके समान अपना चित्त बनानेवाली । (मं. ५)

८ अक्रतुः = पतिके विरुद्ध कोई कर्म न करनेवाली । (मं. ६)

९ (मम) क्रतौ असः = पतिके उपयोगमें सहायता देनेवाली । (मं. ५)

ये शब्द धर्मपत्नीके कर्तव्य बता रहे हैं । पाठक इन शब्दोंका विचार करें और आर्यजित्वा इस अमूल्य उपदेशको अपनानेका यत्न करें ।

### गृहस्थधर्म ।

इस प्रकारकी अनुकूल कर्म करनेवाली धर्मपत्नीको पति कहता है, कि 'हे श्री ! मैं तेरे हृदयको ऐसे अर्थकर कामके बाणसे वेधता हूँ ।' पति जानता है कि यह कामका बाण बड़ा पातक है, ब्रह्मधर्ममें विघ्न होनेके कारण बड़ा हानिकारक है । धर्मपत्नी पतिके अनुकूल चलनेवाली होनेके कारण वह भी

जानती है कि यह कामका बाण तपस्यामें विघ्न करनेवाला है । तथापि दोनों 'गृहस्थी धर्म' से संबद्ध हैं इसलिये संतानोत्पत्ति करनेके लिये बाधित हैं । अतः दोनों गृहस्थधर्ममें से संबद्ध होते हैं । धर्मनियमानुकूल ऋतुगामी होकर घरमें वंशका शीघ्ररूप वीर बालक उत्पन्न करती हैं और पश्चात् अपनी तपस्यामें लग जाती हैं ।

पाठक इस दृष्टिसे विचार करें और इस सूक्तका महत्त्वपूर्ण उपदेश जानें । इस पंचम अनुवाकमें पाँच सूक्त हैं । २१ वें सूक्तमें 'कामासिका शमन,' २२ वें सूक्तमें 'वर्षात्की प्राप्ति,' २३ वें सूक्तमें 'वंध्यात्व दोष निवारणपूर्वक वीर बालक उत्पन्न करनेकी विद्या,' २४ वें सूक्तमें 'समृद्धिको प्राप्त करना,' और इस २५ वें सूक्तमें 'गृहस्थधर्मके नियमानुकूल रहकर गृहस्थ-धर्मका पालन करना' ये विषय हैं । इनका परस्पर संबंध स्पष्ट है ।

॥ यदा पञ्चम अनुवाक समाप्त ॥



# उन्नति की दिशा ।

( २६ )

( ऋषिः — अथर्वा । देवता — अग्न्याद्याः, नानादेवता )

- ये३स्यां स्थ प्राच्यां दिशि देतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः ।  
ते नो मृडतु ते नोऽर्धि मृत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥
- ये३स्यां स्थ दक्षिणायां दिशि विष्णवे नाम देवास्तेषां वः काम इषवः ।  
ते नो मृडतु ते नोऽर्धि मृत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ २ ॥
- ये३स्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः ।  
ते नो मृडतु ते नोऽर्धि मृत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥
- ये३स्यां स्थोर्दीच्यां दिशि प्रविष्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः ।  
ते नो मृडतु ते नोऽर्धि मृत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ४ ॥
- ये३स्यां स्थ ध्रुवायां दिशि निलिम्पा नाम देवास्तेषां वो ओषधीरिषवः ।  
ते नो मृडतु ते नोऽर्धि मृत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ५ ॥

अर्थ— ( ये अस्यां प्राच्यां दिशि ) ओ तुम इस पूर्व दिशामें ( देतयः नाम देवाः ) वज्र नामधेय देव हो, ( तेषां वः ) उन तुम्हारा ( अग्निः इषवः ) आग्नि बाण दे । ( ते नः मृडतु ) वे तुम हमें मुशी करो, ( ते नः अघिघ्नतु ) वे तुम हमें उपदेश करो । ( तेभ्यः वः नमः ) उन तुम्हारे लिये हमारा नमन दोवे, ( तेभ्यः स्वाहा ) उन तुम्हारे लिये हम अर्चना समर्पण करते हैं ॥ १ ॥

ओ तुम इस ( दक्षिणायां दिशि ) दक्षिण दिशामें ( विष्णवे नाम देवाः ) रघु नामधेय देव हो, उन तुम्हारा ( कामः इषवः ) जल ही बाण दे । वे तुम हमें मुशी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण दोवे ॥ २ ॥

ओ तुम इस ( प्रतीच्यां दिशि ) पश्चिम दिशामें ( वैराजा नाम देवाः ) विष्णु नामधेय देव हो, उन तुम्हारा ( आपः इषवः ) जल ही बाण दे । वे तुम हमें मुशी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण दोवे ॥ ३ ॥

ओ तुम इस ( उदीच्यां दिशि ) उत्तर दिशामें ( प्रविष्यन्तो नाम देवाः ) वरुण नामधेय देव हो, उन तुम्हारा ( वातः इषवः ) वायु बाण दे । वे तुम हमें मुशी करो और उपदेश करो । तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण दोवे ॥ ४ ॥

ओ तुम इस ( ध्रुवायां दिशि ) ध्रुव दिशामें ( निलिम्पा नाम देवाः ) निलिम्प नामधेय देव हो, उन तुम्हारा ( ओषधीः इषवः ) औषधीः बाण दे । वे तुम हमें मुशी करो और उपदेश करो । उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण दोवे ॥ ५ ॥



येऽस्मां स्थोर्ध्वायां दिश्यंस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः ।

ते नो मृडत ते नोऽधि मृत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा

॥ ६ ॥

अर्थ— जो तुम इस ( ऊर्ध्वायां दिशि ) ऊर्ध्व दिशामें ( अवस्वन्तः नाम देवाः ) रक्षक नामवाले जो देव हो। उन तुम्हारा ( बृहस्पतिः इषवः ) ज्ञानी षण है । वे तुम हमें सुखी करो और उपदेश करो । उन तुम्हारे लिये हमारा नमन और समर्पण होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ— पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, पृथा ( पृथिवी ) और ऊर्ध्वा ( आकाश ) ये छः दिशाएँ हैं, इन छः दिशा-ओमें कमशः ( हेति-शस्त्रास्त्र ) वज्र; रक्षाकी इच्छा करनेवाले स्वयंसेवक; ( वि-राज् ) राजरहित अवस्था अर्थात् प्रजासत्ता; वैयक्तता, लेप करनेवाले वैद्य, और उपदेशक इनकी प्रधानता है । ये जनताको उपदेश करते हैं और उनकी रक्षा करते हैं, इस लिये जनता भी उनका सरकार करता है और उनके लिये आत्मसमर्पण करती है ॥ १-६ ॥

इसी प्रकारका परंतु कुछ अन्य भाव व्यक्त करनेवाला आगेका सूक्त है और दोनोंका अत्यंत घनिष्ठ संबंध है, इसलिये उसका अर्थ पहले देखेंगे और पश्चात् दोनोंका इकट्ठा विचार करेंगे ।

## अभ्युदय की दिशा ।

( १७ )

( ऋषिः — अथर्व । देवता — अग्न्यादयः, नानादेवता )

प्राची दिग्गिरिर्धिपतिरसितो रसितादित्या इषवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दधमः

॥ १ ॥

अर्थ— ( प्राची दिक् ) उदयकी दिशाका ( अग्निः अधिपतिः ) तेजस्वी स्वामी, ( अ-सितः रक्षितः ) बंधन-रहित रक्षक और ( आदित्याः इषवः ) प्रकाशक षण हैं । ( तेभ्यः ) उन ( अधिपतिभ्यः ) तेजस्वी स्वामियोंका ही ( नमः ) मेरा नमन है । उन ( रक्षितभ्यः नमः ) बंधनरहित वरसत्तोंके लिये ही हमारा आदर है । उन ( इषुभ्यः नमः ) प्रकाशके शास्त्रोंके धामने ही हमारा नम्रता रहे । ( यः ) जो अवेला ( अस्मान् ) हम सब आत्मसत्तोंका ( द्वेष्टि ) द्वेष करता है और ( यं ) जिस अकेले दुष्टका ( वयं ) हम सब धार्मिक पुरुष ( द्विष्मः ) द्वेष करते हैं ( तं ) उस दुष्टको हम सब ( वा ) आप सब सज्जनोंके ( जम्भे ) जवाबके जबरेमें ( दधमः ) धर देते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ— प्राची दिशा अभ्युदय, उदय और उषतिकी सूचक है । सूर्य, चंद्र, नक्षत्र आदि सब दिव्य वस्तुओंका उदय और उषति इसी दिशासे होती है और उदयके पश्चात् उनके पूर्ण प्रकाशकी अवस्था प्राप्त होती है । इसलिये सबभुव यह प्रगतिही दिशा है । जिस प्रकार इस उदयकी दिशामें सबका उदय और वर्धन हो रहा है उसी प्रकार हम सब मनुष्योंका अभ्युदय और संवर्धन होना चाहिए । यह पूर्व दिशा हम सब मनुष्योंको उदय प्राप्त करनेकी सूचना दे रही है । इस दिशाके अनुसर हम सबकी मित्रद्वर अभ्युदयकी तैयारी करना चाहिए । इस सूचना और शिक्षाका प्रदशन करके मैं अपने और जनताके अभ्युदयके लिये अदय यत्न करता हूँ । उदयकी दिशाका ( अग्निः ) अग्नी, ज्ञानी और वक्ता अधिपति है । उदयका मार्ग जानो उपदेशकोंके द्वारा ही जान दो सूचना दे, इसलिये हम सब लोक ज्ञानी उपदेशकोंके पास जाकर जाग्रतिके साथ उनका उपदेश ग्रहण करेंगे । अब सोनिया समय नहीं है । उषति, जाग्रतिका समय प्रारम्भ हुआ है । अतएव, तेजस्वी ज्ञानके पुष्क प्रदे

प्रतीची दिग्भरुणोऽधिपतिः पृदाक् रक्षितान्मिपवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विभस्तं वो जम्भे दध्मः

॥ ३ ॥

उदीची दिक्सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षितान्मिपवः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्देष्टि यं वयं द्विभस्तं वो जम्भे दध्मः

॥ ४ ॥

अर्थ— ( प्रतीची दिक् ) पश्चिम दिशाका ( पुरुषः अधिपतिः ) वर अर्थात् श्रेष्ठ अधिपति, ( पृत्-मा-कुं रक्षिता ) स्वर्गमें उत्साह धारण करनेवाला संरक्षक और ( अन्नं इषवः ) अन्न इषु हैं । उन श्रेष्ठ अधिपतियोंके लिये, उन उत्साही ईश्वरोंके लिये, तथा उस अर्थात् अक्षके लिये हमारा आदर है । जो सबके साथ कलह करता है इसलिये सब मनुष्य जिसको नहीं चाहते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबहेमें घर देते हैं ॥ ३ ॥

( उदीची दिक् ) उत्तर दिशाका ( सोमः अधिपतिः ) सोम अधिपति, ( स्व-जः रक्षिता ) स्वर्गसिद्ध रक्षक और ( अन्नानिः इषवः ) विद्युत् इषु हैं । उन शांत अधिपतियों, स्वर्गसिद्ध ईश्वरों और तेजस्वी इषुओंके लिये हमारा नमन है । जो सबका द्वेष करता है और जिसका सब द्वेष करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके न्यायके जबहेमें घर देते हैं ॥ ४ ॥

करनेवाले संरक्षक और उत्तम पितर जहाँ होते हैं वहाँ ही दासिष्णवका व्यवहार होता है । इसी प्रकारही व्यवस्था स्थिर करनेका यत्न में अवश्य करना । जो सबको हानि पहुँचाता है और जिसको सब समाज मुग्न कहता है उसको उक्त अधिकारी, संरक्षक और पितरोंके न्यायालयमें हम सब पहुँचाते हैं । ने ही उसको दीपका यथायोग्य विचार करें । हरएक मनुष्यको उचित है, कि वह धर्म मार्गसे चले और समाजकी उत्पत्तिके साथ अपनी उत्पत्तिका उत्तम प्रकारसे साधन करे ॥ ३ ॥

भाषार्थ— पश्चिम दिशा विश्रामकी दिशा है; क्योंकि सूर्य, चंद्र आदि सब दिव्य ज्योतिषों इसी पश्चिम दिशामें जाकर पुष्प होती हैं और जगत्का अपना दैनिक कार्य समाप्त करनेके पश्चात् विश्राम लेनेकी सूचना देती हैं । पूर्व दिशाद्वारा प्रवृत्तिरूप पुष्पावर्षी सूचना होगई थी, अब पश्चिम दिशाके शुभ स्थानमें प्रविष्ट होने, वहाँ विश्रान्ति और शांति प्राप्त करने, अर्थात् निश्चितरूप पुष्पावर्षी साधन करनेकी सूचना मिली है । श्रेष्ठ उत्साही महत्तमा पुरुष इस मार्गके क्रमशः अधिपति और संरक्षक हैं । विश्राम और आरामका मुख्य साधन यही अन्न है । श्रेष्ठ और उत्साही अधिपति और ईश्वरोंके लिये सबको सरदार करना उचित है । तथा अन्नकी और सम्मानकी दृष्टिसे देवता योग्य है । जो सबके मार्गमें विघ्न करता है इसलिये जिसको कोई पाप करना नहीं चाहते उसको अधिपतियों और संरक्षकोंकी न्यायसभाके आधीन करना योग्य है । समाजके हितके लिये सबका उचित है, कि वे न्यायानुसार ही अपना सब कर्तव्य करें और किसीकी उपद्रव न दें ॥ ३ ॥

उत्तर दिशा उत्पन्न आरम्भकी सूचना देती है । हरएक मनुष्यको अपनी अवस्था उपत्तर बनानेका प्रयत्न हर समय करना चाहिये । इस उपत्तर मार्गमें शांत स्वभावका अधिपति है, आत्मस्य छेड़कर सदा शिष्ट और सदा रहनेके धर्मसे इस उपत्तर चरनेवालाही संरक्षक होता है । व्यापक उत्तर तेजस्वी स्वभावके द्वारा इस मार्गपरकी सब आपत्तियों दूर होती हैं । इसलिये मैं इन गुणोंका धारण करना और समाजके साथ अपनी अवस्था उपत्तर बनानेका पुष्पावर्षी आरम्भ करना । शांत स्वभाव धारण करनेके अधिपति, सदा उपत्तर और शिष्ट संरक्षक ही सदा सम्मान करने योग्य है । साथ ही पशुपतेयोंकी व्यापक तेजस्विताका आदर करना योग्य है । जो सबकी हानि करता है इसलिये जिसका सब सम्मान निरादर करते हैं उसको उक्त अधिपतियों और संरक्षकोंके सम्मुख सदा धिया जावे । योग ही स्वयं उसकी दंड न देवे । तथा अधिपति निष्पापताकी दृष्टिसे उसकी योग्यता देवे । समाजकी उपत्तर अवस्था बनानेके लिये उक्त उपत्तरके स्वभाव धारण करना अत्यंत आवश्यक है ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग्बिष्णुरधिपतिः कल्माषप्रीवो रक्षिता वीरुध इष्वः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इष्वभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं यो जन्मे दध्मः

॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग्बृहस्पतिरधिपतिः शिब्रो रक्षिता वर्षमिष्वः ।

तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इष्वभ्यो नम एभ्यो अस्तु ।

योऽस्मान्द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं यो जन्मे दध्मः

॥ ६ ॥

अर्थ— ( ध्रुवा दिक् ) स्थिर दिशाका ( बिष्णुः अधिपतिः ) प्रवेशकता अधिपति, ( कल्माष-कर्माप्त-प्रीवः रक्षिता ) कर्म कर्ता संरक्षक और ( वीरुधः इष्वः ) वनरपतिवर्ग इष्ट है । इन सब अधिपतियों और रक्षकों लिये ही हमारा आदर है । इ० ॥ ५ ॥

( ऊर्ध्वा-दिक् ) ऊर्ध्व दिशाका ( बृहस्पतिः अधिपतिः ) आत्मज्ञानी स्वामी है, ( शिब्रो रक्षिता ) पवित्र संरक्षक है और ( वर्ष इष्वः ) अमृत जल इष्ट है । आत्मज्ञानी स्वामियोंका तथा पवित्र संरक्षकोंका ही सबको सम्मान करना योग्य है । शुद्ध अमृत जलका ही सबको आदर करना चाहिये । इ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ— ध्रुव दिशा स्थिरता, दृढता, आधार आदि गुणोंकी सूचक है । संबलता दूर करने और स्थिरता करनेके लिये ही सब धर्मके नियम हैं । उसमी और पुरुषार्थी पुरुष यहाँ अधिपति और संरक्षक हैं । क्योंकि कर्मके ही जगत्की स्थिति है, इसलिये कर्मके बिना किसीकी स्थिरता और दृढता हो नहीं सकती । यही कारण है कि इस दृढताके मार्गके उसमी और पुरुषार्थी संबलक हैं । यहाँ औषधि वनस्पतियों दोषनिवारण द्वारा सहाय्य करो है । जो जो दोषोंको दूर करनेवाले हैं वे सब इस मार्गके सहायक हैं । उसमी और पुरुषार्थी अधिपति और संरक्षकोंका सम्मान सबको करना चाहिये । इ० ॥ ५ ॥

ऊर्ध्व दिशा आत्मिक उन्नताका मार्ग सूचित करती है । सच्चा आत्मज्ञानी आत्मा पुरुष ही इस मार्गका अधिपति और मार्गदर्शक है । जो अंतर्भाव पवित्र होगा वह ही यहाँ संरक्षक हो सकना है । अज्ञानके अनुसरण और पावित्र्यका यही सामंजस्य है । आत्मिक उन्नताके मार्गका अवलंबन करनेके समय आत्मज्ञानी आत्मा पुरुषके आधिपत्यमें तथा पवित्र सदाचारी सत्पुरुषके संरक्षणमें रहते हुए ही इस मार्गका आक्रमण करनेसे इष्ट सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है । आत्मिक अमृत जलका रसस्वास्व लेनेका यही योग्यता है । मैं इस मार्गका आक्रमण अवश्य ही करूँगा और दूसरोंका मार्ग भी यथाशक्ति सुगत करूँगा । मैं यहाँ ही जल प्रसारके आत्मज्ञानी और शुद्ध सदाचारी सत्पुरुषोंका सम्मान करूँगा । इ० ॥ ६ ॥

दिशाओंके वर्णनसे मानवी उत्पत्तिका

तत्त्वज्ञान ।

उत्पत्तिके छः केन्द्र ।

इस 'श्लोक' छः मंत्रोंमें मानवी उत्पत्तिके छः केन्द्र दिशाओंके द्वारा सूचित किये हैं । ( १ ) प्राची, ( २ ) दक्षिण, ( ३ ) प्रतीची, ( ४ ) उत्तरी, ( ५ ) पश्चिम और ( ६ ) आत्मिक । ये छः दिशाएँ क्रमशः ( १ ) प्रगल्भ, ( २ ) दृढता, ( ३ ) दिग्गम, ( ४ ) उन्नता, ( ५ ) स्थिरता और ( ६ ) आत्मिक

उत्पत्तिके साथ बढ़ा रहा है, ऐसा जो एक छः क्षेत्रोंद्वारा सूचित किया है, विमोच विचार करने योग्य है । उगमक इन दिशाओंमें होनेवाली वैज्ञानिक घटनाओंको विचारणीय दृष्टि देखें । इस श्लोकके विविध घटनाओंके द्वारा सर्वव्यापक परमशक्त सत्पुरुष उपदेश दे रहा है, ऐसी भाषना मनमें गिरा करके जगत्प्राप्तियोंकी प्राप्ति और देखना आवश्यक है । यह भाषना छः प्रकारकी भाषाके अन्तर्गत यह श्लोक आत्मज्ञान व्यापक है, ऐसी भाषनामनमें गिरा करना चाहिये । क्योंकि यह पूर्ण श्रुति तथा पूर्ण वाक्य श्रुति द्वारा ही उपदेशका प्रण होना है । और वह पूर्ण उपदेश शक्ति ही इस श्लोक द्वारा दिशाओंके दे रही है । इस प्रकार

विचार स्थिर करके यदि उपासक उक्त प्रकार छ दिशाओं द्वारा अपनी उन्नतिके छ क्षेत्रों समक्षमें उपदेश लेंगे तो व्यक्ति और समाजकी उन्नतिके स्थिर और निश्चित मार्गोंका ज्ञान उनको हो सकता है ।

इन क्षेत्रोंका ज्ञान उत्तम रीतिसे होनेके लिय पूर्वोक्त वैदिक सूक्तोंमें कथित दिशाओंके ज्ञानके कोष्टक यहाँ देते हैं और उनका रणशंकरण भी काव्यकी दृष्टिसे संक्षेपसे ही करते हैं—

दिशा कोष्टक ॥ १ ॥ [ अथर्व० ३।१।७-६ ]

दिशाः	आधिपतिः	राक्षसा	इषयः
प्राची	अग्नि	अग्नि	आदित्याः
दक्षिणा	इन्द्रः	तिरक्षिराजी	पितरः
प्रतीची	वरुणः	पृथाकु	अन्नम्
उदीची	सोम	स्वञ्ज	अश्वानि
ध्रुवा	विष्णुः	कल्माषप्रोव	वोरुध
ऊर्वा	बृहस्पति	ध्वज	वर्षम्

इस शूक्तके मंत्रोंको देखन इस कोष्टककी सिद्धि हो सकती है । अब वेदमें अन्य स्थानोंमें आये हुए दिशा विषयक उल्लेखोंका विचार करना है । इस विषयमें निम्न मंत्र देखिए—

येऽस्यां स्य प्राच्यां दिशि देतयो नाम देवा स्तेषां यो अग्निरिषयः । ते नो मृतत ते मोऽधि-  
भूत तम्या यो नमस्तेभ्यो यः स्याद्वा ॥ १ ॥  
येऽस्यां स्य दक्षिणायां दिश्यविष्ययां नाम देवास्तेषां य काम इषयः । ते नो ॥ २ ॥  
येऽस्यां स्य प्रतीच्यां दिशि वीराजा नाम देवा स्तेषां य साध इषयः । ते नो ॥ ३ ॥ येऽस्यां  
स्पोदीच्यां दिशि प्रविष्यन्तो नाम देवा स्तेषां यो यात इषयः । ते नो ॥ ४ ॥ येऽस्यां  
स्य ध्रुवायां दिशि निलिषा नाम देवास्तेषां य ओषधीरिषयः । ते नो ॥ ५ ॥ येऽस्यां  
स्पोर्ष्यायां दिश्ययस्यन्तो नाम देवास्तेषां यो बृहस्पतिरिषयः । ते नो ॥ ६ ॥

अथर्व ३।२।१-६

‘प्राची’ आदि दिशाओंमें देति आदि देव हैं और अग्नि आदि इष्य हैं । ये षष्ठी ( सा ) १म पदको ( मृतत ) सूची करें, ये १म पदको ( अग्निभूत ) उपदेश करें, उन सबको हमारा ममरदार दे, उनके भिय हमारा समर्पण दे । यह इन मंत्रोंका अन्वय है । अब इनका निम्नलिखित चोक्त जनता है—

दिशा कोष्टक ॥ २ ॥ [ अथर्व ३।२।१-६ ]

दिशाः	देवाः	इषयः
प्राची	इतय	अग्नि
दक्षिणा	अग्निष्यय	काम
प्रतीची	वीराजाः	साध
उदीची	प्रविष्यन्त	यात
ध्रुवा	निलिषा	ओषधी
ऊर्वा	अवस्यन्तः	बृहस्पति

पहिले कोष्टककी इस द्वितीय कोष्टकके साथ तुलना कीजिए । पहिले कोष्टकमें ‘प्राची’ और ‘ऊर्वा’ के ‘अग्नि’ और ‘बृहस्पति’ आधिपति हैं, वे ही यहाँ ‘इष्य’ बने हैं । ‘ध्रुवा’ दिशाके इष्य पहिले कोष्टकमें ‘वीरुध’ हैं और यहाँ ‘ओषधि’ हैं । इन दोनों शब्दोंका अर्थ एक ही है । ‘प्रतीची’ दिशाका इष्य दोनों कोष्टकोंमें ‘अन्न और आष्य’ है । खानपानका परस्पर निकट सम्बन्ध है । ‘दक्षिण’ दिशाके इष्य दोनों कोष्टकोंमें ‘पितरः’ और ‘कामः’ हैं । कामके उपभोगसे ही विवृत प्रस हो सकता है । ‘उदीची’ दिशाके इष्य ‘यात और अश्वानि’ हैं । अश्वानेच अर्घ्य प्रियुक्त है और उत्तम स्थान अश्वान अर्घ्योत् वायुच स्थान माना गया है । इधरे पाठकोंको पता लग जायगा, कि केवल ‘प्राची’ और ‘ऊर्वा’ दिशाओंके इष्य बदले हैं, इतना ही नहीं परन्तु पहिले कोष्टकमें जो अधिपति थे वे ही दूसरोंमें इष्य बने हैं । अन्य दिशाओंके इष्य समान अवस्था परस्पर समर्थ रखनेवाले हैं । अथर्ववेदके तीसरे काण्डके १६ और २७ सूक्तोंक अध्ययनमें इतना मेद है । इस मेदसे स्पष्ट होता है कि इष्य अधिपति आदि शब्द वास्तविक नहीं हैं बल्कि आलंकारिक हैं । अब निम्न मंत्र देखिए—

प्राचीमारोह गायत्री त्वायतु रथेतरं साम  
त्रिवृत्स्तोमो वसन्त ऋतुमहा द्रविणम् ॥ १० ॥  
दक्षिणामारोह त्रिपृथ्वायतु बृहत्साम  
पञ्चदश स्तोमो ग्रीष्म ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ ११ ॥  
प्रतीचीमारोह जगती त्वायतु वीर्यं साम  
सप्तदश स्तोमो यर्षा ऋतुर्विह द्रविणम् ॥ १२ ॥  
उदीचीमारोहानुष्टुप्तायतु वीराज  
सामेकविंश स्तोमो शरदः ऋतुः क्षत्रं द्रविणम् ॥ १३ ॥  
ऊर्वामारोह पंक्तिस्त्वायतु प्राक्करयते सामने  
त्रिणवयस्यत्रिंशो स्तोमो हेमन्ताग्रजराष्ट्र  
षड्यो द्रविणम् ॥ १४ ॥

‘प्राची’ आदि दिशाओंमें ( ग्राम त्रिविज ) ज्ञान करने का है । इन मंत्रोंका रणशंकरण निम्न कोष्टकमें हो सकता है—

दिशा कोष्टक ॥ ३ ॥ [ यजु १-११-१४ ]

दिशः	रक्षक छंदः	साम	स्तोम	ऋतुः	द्रविण धन
प्राची	गायत्री	रथतर	विहृत	वसंत	मृदा
दक्षिणा	त्रिष्टुप्	बृहत्	पचदश	ग्रीष्म	स्रज
प्रतीची	जगता	दैत्य	सप्तदश	वर्षा	विद्
उदीची	अनुष्टुप्	वैशजं	एकविंश	शरद्	पद्म
ध्रुवा ऊर्ध्वा	पङ्क्ति	शाकटारैवत	त्रिणवत्यष्टिषो	हेमन्त शिशिर	वर्ष

इस कोष्टकमें दिशाओंके धनोंका पाठक अवश्य अवलोकन करें— ( १ ) प्राची दिशाका धन ( मृदा ) ज्ञान है । ( २ ) दक्षिण दिशाका धन ( स्रज ) शौर्य है । ( ३ ) प्रतीची दिशाका धन ( विद् ) उपायसे पुनर्वास करनेकी वैदय शक्ति है । ( ४ ) उदीची दिशाका धन जल परिधाम, लाभ आदि है । ( ५ ) ध्रुवा और ऊर्ध्व दिशाका धन शक्ति, बल आदि है । ज्ञान, शौर्य, पुण्याय प्रयत्न, लाभ और वीर्यतेज ये छह दिशाओंके धन हैं । इसकी हुनरा प्रथम कोष्टकके साथ क्रमसे अर्थदा बहुत गौरव प्रतीत होता है । पाठकीने यही ज्ञान लिया होगा कि उक्त छह विशेष धनोंके होनेसे उक्त दिशाओंका संबंध उक्त धनोंके साथ भी है । माझगाँवा ज्ञान, शक्तिका शौर्य, वैशजका पुण्याय, छंदोंके हुनरा लाभ और जनताका धार्यतेज सब राशिके उद्धारका हेतु है । तथा प्रत्येक व्यक्तिमें ज्ञान, शौर्य, पुण्याय, फलप्राप्तिक प्रयत्न करनेका गुण और धार्यतेज आदि । इस प्रकार व्यक्तिमें और राष्ट्रमें उक्त गुणोंका संवय है । इस संवयको साधन रखते हुए पाठक विजय मंत्र पढ़ें—

प्राच्यां दिशि शिरो मजस्य घेदि  
दक्षिणायां दिशि दक्षिण घेदि पार्श्वम् ॥ ७ ॥  
प्रतीच्यां दिशि मस्रमस्य घेदि  
उत्तरस्यां दिक्षुक्त घेदि पार्श्वम् ।  
ऊर्ध्वायां दिक्षुक्तस्यानुक्त घेदि दिशि ध्रुवायां  
घेदि पाठस्यम् ॥ ८ ॥

अथ ४१४

‘ प्राची दिशामें ( मजस्य ) अर्धमा प्रत्यक्ष मिर रखी  
रखा अन्य दिशाओंमें अथ अवयव रखी । ’ इन मंत्रोंमें अथ  
धनोंका दिशाओंके साथ संबंध बताया है । निम्नोक्त ४५ सूत्र  
में स्पष्ट होगा—

इस कोष्टकके साथ पूर्वोक्त तीसरे कोष्टककी हुनरा आश्रित ।  
ज्ञान, शौर्य, पुण्याय और फलका संवय मिर बाह्य, मध्यम  
और निम्न भागके साथ यही लिया है । ज्ञान, शौर्य पुण्यायका  
संबंध मुख्यरूपसे प्रत्येक व्यक्तिमें है और बर्ण रूपसे माझगाँवा,  
छात्राय, वर्योंमें अर्थात् राष्ट्र-पुरुषके अवयवोंमें है । इस प्रकार  
धनोंका संवय दिशाओंके साथ स्पष्ट है । यह संवय ध्यानमें धर  
कर विचार करते हुए आप निम्न मंत्र पढ़िए—

प्राचीं प्राचीं प्रदिशमारमेधामेत लोकं अहं  
घानाः सचन्ते ॥ यद्वां पश्य परिधिप्रममौ तस्य  
शुतये वृषती सभयेयाम् ॥ ७ ॥ दक्षिणां दिश  
ममि लक्ष्मणौ पर्यावर्तयाममि प्राप्रमेतम् ॥  
तस्मिन्वां यम पिबन्ति सविदान पयाय  
शर्मं यदुल्ल नियच्छात् ॥ ८ ॥ प्रतीचीं दिशा  
मियमिहूर यस्यां सोमो मधिया मृदितः स ॥  
तस्या धयेया सुहृन् सचयामया पकान्  
मिथुना समशायः ॥ ९ ॥ उत्तरा राष्ट्र प्रजयैस्त  
रायदिशामुदीचीं हृणयन् नो मम्रा । पान  
छेदं पुरुषो यमूय विभ्योर्ध्वभागे सद्य समयेयम्  
॥ १० ॥ ध्रुवेय विरागन्तो अस्तपश्ये दिवा  
पुत्रेभ्य उत मरामस्तु । सा नो देव्यदिते  
विश्वराट इयं इय गोपा अमि रक्षयाम् ॥ ११ ॥

अथ १११

प्रकारसे वारंवार अनुष्ठान करेंगे, तब आपकी ( पक्षाय ) परिपक्वताके लिये ( पितृभिः ) रक्षकोंके साथ ( संविदानः यमः ) ज्ञानी नियामक ( बहुलं शर्म ) बहुत सुख देगा ॥ ( ३ ) ( प्रतीर्ची ) पश्चिम दिशा यह सचमुच ( चरं ) श्रेष्ठ दिशा है, जिसमें ( सोमः ) विद्वान् और शात अभियन्ता और ( मृष्टिता ) सुख देनेवाला है । इस दिशाका आश्रय कीजिए, सुकृत करके परिपक्वताको ( सचेर्या ) प्राप्त कीजिए । और ( मिथुना ) क्षीपुण मिलकर ( सं सवायः ) सुवृत्तान उत्पन्न कीजिए ॥ ( ४ ) उत्तर दिशा ( प्र-जया ) विजय-शाली राष्ट्रीय दिशा है, इसलिये हम सबको यह उत्तर दिशा

( अग्रं ) अग्र मार्गमें ले जावे । ( पांसं ) पांच वर्षों- राष्ट्रके विभागों- का ( छंदः ) छंद ही यह पुरुष होता है । इन सब अंगोंके साथ हम सब ( सं भवेम ) मिलकर रहेंगे ॥ ( ५ ) यह ध्रुव दिशा ( विराट् ) बड़ी भारी है । इसके लिये नमन है । यह मेरे लिये तथा बालबच्चोंके लिये ( शिवा ) कल्याण-कारि होवे । हे ( अ दिते दैवि ) हे स्वतंत्रत देवि । ( विश्व-सारे ) सब आपत्तियोंका निवारण करनेवाली देवी । तू ( गोपा ) हम सबका संरक्षण करती हुई, हमारी परिपक्वताको सुरक्षित रखे । इन मंत्रोंमें दिशाओंकी कई विशेष बातें बताई हैं । इनके सूचक मुख्य शब्दोंका निम्न कोष्टक बनता है ।

दिशा कोष्टक ॥ ५ ॥ ( अर्थ १२।३।५-११ )

दिशाः	कर्म	साधन	साधक	क्रिया
प्राची	आरंभः	श्रद्धाधानः	दंपती	संभवेया
दक्षिणा	पर्यावर्तनं	नक्षमाणः	यमःसंविदानः	नियच्छात्
प्रतीची	आश्रयः	सुकृतः	मिथुनः	संभवायः
उदीची	प्र-जयः	पांसं छंदः	पुरुषः	सह संभवेम
ध्रुवा	वि-राट्	शिवा	विश्ववारा अदितिः	रक्ष

इस कोष्टकसे साधारणरूपमें पता लग जायगा कि दिशाओंके क्या नाम दिये जातेके सूचक हैं । और इन सूचक नामोंमें कैसा सत्तम तत्त्वज्ञान भरा है । इन मंत्रोंकी देखनेसे निम्न बातें हो पता लगता है—

( १ ) प्राची दिशा— ( प्र+अंच् = आगे बढ़ना, उन्नति करना, अग्रमार्गमें हो जाना ) यह मूल अर्थ 'प्रांच्' धातुका है, जिससे 'प्राची' शब्द बनता है । 'प्राची दिशा' का अर्थ बढ़ती अथवा उन्नतिकी दिशा, श्रद्धाका मार्ग ।

उन्नतिके लिये विविध कर्म प्रारंभ करनेकी अत्यंत आवश्यकता होती है । पुरुषाचार्योका प्रारंभ करनेके बिना उन्नतिकी आशा करना व्यर्थ है । असाहस्य पुरुषार्थ करनेके लिये धृष्टा चाहिए । धृष्टाके बिना उत्साह प्राप्त नहीं हो सकता । जगत्में क्षीपुण मिलकर ही विविध पुरुषार्थोंका माधन करते हैं । उनके परस्पर मिलकर रहनेसे ही उत्साहमें सब भागोंकी परिपक्वता और ( सुति ) संरक्षण हो सकता है । इस प्रकार प्राची दिशाके बोध मिश्रण है ।

( २ ) दक्षिण दिशा— 'दक्षिण' शब्दका अर्थ दक्ष, दंड, दण्ड, प्रबुद्ध, सीधा, सधा है । 'दक्षिण दिशा' शब्दों- का मूल अर्थ सीधा मार्ग, सधा मार्ग ऐसा ही है । पक्षात् दक्षका अर्थ 'शीघ्र उत्तरी दिशा' हो गया है ।

उन्नतिके लिये सीधे और सच्चे मार्गसे चलना चाहिए । और ( नक्षमाण ) गति अथवा हलचल दिशा प्रदान करना चाहिए अन्यथा सिद्धि होना असंभव है । एक बार प्रदान करनेसे सिद्धि न हुई तो बारंवार पुनरावृत्त करना आवश्यक है । इसीकी सूचना ' ( पर्यावर्तेथां, परि-आ-वर्तेथां ) बार-बार प्रदान कीजिए ' इन शब्दों द्वारा मंत्रमें दी है । 'यम' शब्द नियमोंका सूचक, 'पितृ' शब्द जननशक्ति और संरक्षणका सूचक, तथा 'संविदान' शब्द ज्ञानका सूचक है । नियम, सुसंरक्षण और ज्ञानसे ही शर्म अर्थात् सुख होना है । यह दक्षिण दिशाके मंत्रसे बोध मिलता है ।

( ३ ) प्रतीची दिशा— प्रत्येक अन्दर आना, अंतर्मुख होना । प्रतीची दिक् कोनिकी दिशा, अन्दर मूल स्थानपर आनेकी दिशा, स्वस्थानपर आनेका मार्ग, अन्तर्मुख होनेका मार्ग, यह इस शब्दका मूल अर्थ है । 'पूर्व दिशा' को अंग बढ़नेका मार्ग कहा है और पश्चिम दिशाको फिर वापस होकर आने का मूल स्थानपर आकर विधाय लेनेकी दिशा कहा है—

प्रतीची	प्राची
( प्रति-अंच् )	( प्र-अंच् )
प्रति-गति	प्र-गति
प्रति-गमन	प्र-गमन
नि-गति	प्र-गति

दिशाओंके नामोंसे जो भाव व्यक्त होते हैं, उनका पता इस कोष्टकसे लग सकता है । वैदिक शब्दोंका इस प्रकार गहरव देवना चाहिए ।

निश्चित, विभ्राति अथवा स्त-स्थताका स्थान ही श्रेष्ठ (धरं) होता है । शान्तिसे मित्र और श्रेष्ठता क्या होगी ? सोम ही शांतताकी देवता है । सूर्यके प्रखरतर प्रबल शिरोंके तापसे संतप्त मनुष्य चंद्र (सोम) के शीत प्रकाशसे शांत, संतुष्ट और आनंदित होता है । सुकृत अर्थात् धार्मिक पुण्य कर्मोंका मार्ग ही इस शांतिकी प्राप्ति कर सकता है, इत्यादि भाव इस मेघमें ज्ञात होते हैं ।

( ४ ) उत्तर दिशा- ( उत्-तर ) अधिक उच्चतर, अधिक श्रेष्ठ अवस्था प्राप्ति करनेका मार्ग ऐसा इसका मूल अर्थ है । मनुष्योंकी उच्चतर अवस्था प्राप्ति होनेके लिये राष्ट्रकी भक्ति कारण होती है, क्योंकि—

मद्रमिच्छन्त क्षयः स्वविद्वस्तो दीक्षानुप-  
सेदुरमे । ततो राष्ट्रं बलमोज्ज्वलं जाते तदस्मै  
देवा उपसर्जनमस्तु ॥ ( अथर्व. ११।४।११ )

सबका कल्याण करनेकी इच्छा करनेवाले ज्ञानी ऋषियुनियोंने तप किया और दक्षतासे व्रत किया । उससे राष्ट्र, बल और ओज उत्पन्न हुआ, इसलिये सब देव उस राष्ट्रीयताके सम्मुख नम्रता धारण करें । ' राष्ट्रीयताके साथ लोहकल्याणका भाव इस प्रकार वेदने वर्णन किया है । लोहकल्याण ही लोगोंकी उच्चतर अवस्था है । राष्ट्रीय भावनाके अन्दर ( यः अग्नें हृषयन् ) ' हम सबको अग्न भागमें होनेके लिये प्रयत्न ' करना आवश्यक है । राष्ट्र ( पांक्ष ) पांच विभागोंमें विभक्त है, माझण, छत्रिय, वैश्य, ब्राह्म और निषाद, अथवा शानी, ब्राह्म, क्षत्रीय, वैश्य और क्षात्रिय जन मिलकर राष्ट्रके पांच अवयव होते हैं, इन पांच प्रकारके जनोका कल्याण करनेकी ( रुद्रं ) प्रबल इच्छा जिसमें होती है वही शब्दा ' पुष्टय ' कहा जा सकता है । पुष्टय उठाकी कहते हैं कि जो ( पुरि ) नगरीमें ( यस्तस्मिन् ) निवास करता है । नागरिक जन जो ' लोहकल्याण ' करता है, वही शब्दा पुष्टय है । सब अंगोंके समुचित पूर्णता होती है और उन्मातेके लिये ( स्वं मयेम ) सब मिलकर एकजिंत होनेकी आवश्यकता है । यह बोध उत्पन्न

इस गुणसे होता है । स्थिरताका मार्ग योग मार्ग है, जिसमें चंचलताको दूर करके स्थिरताकी प्राप्ति की जाती है । इससे सबका हित होता है । यही ( ध-दिति ) अविनाशकी देवता अथवा स्वतंत्रताकी देवता है । स्थिरताके बिना स्वतंत्रताकी प्राप्ति नहीं हो सकती । ( गो-पा ) इंदियोंका संरक्षण अर्थात् धर्म इस मार्गमें अत्यंत आवश्यक है । इस प्रकार पुन दिशाके विशेष बोध प्राप्त होता है ।

येनोकी शब्दयोजना कितनी अर्थपूर्ण है, इसका विचार पाठक यहां कर सकते हैं । अस्तु । दिशा विषयक लेशख त्रुटिदमें नहीं है । इसलिये अब इस सब विवरणका एकीकरण करना चाहिए । सबके पूर्व निम्न संक्षेप देखिए—

प्रान्त्यै रवा विदेशेऽधिपतयेऽसिताय रक्षिभ  
आदित्यायेऽपुमते । एतं परिदृष्ट्वा तं गोपाय-  
तामस्माकमेतोः । दिष्टं गो अत्र जरसे नि नेय-  
जरा मृत्यवे परि गो द्वास्वय पक्षेन सह  
सं अयम ॥ ५५ ॥ दक्षिणायै रवा दिश इन्द्रा-  
याधिपतये तिरश्चिराजये रक्षिभे मययेऽपुमते ॥  
एतं ॥ ५६ ॥ मूर्तायै रवा दिशे यदणाया-  
धिपतये पूषाकये रक्षिभेऽप्रायेऽपुमते । एतं ॥  
५७ ॥ उदीच्यै रवा दिशे सोमायाधिपतये  
स्वजाय रक्षिभेऽशम्या इपुमयै ॥ एतं ॥ ५८ ॥  
भुवायै रवा दिशे विष्णवेऽधिपतये कवमाय-  
भीषाय रक्षिभे मोषघोभ्य इपुमतीभ्यः ॥ एतं ॥  
५९ ॥ उत्प्रायै रवा दिशे वृहस्पतयेऽधिपतये  
विजत्राय रक्षिभे वरययेऽपुमते ॥ एतं ॥ ६० ॥

( अथर्व. ११।११ )

अवस्थाका अनुभव लेनेके पश्चात् अर्थात् दीर्घ आयुकी समाप्तिके पश्चात् मरनेकी कल्पना, और ( ५ ) परिपक्व ( बुद्धिके सज्जनों ) के साथ अर्थात् ससंलग्न रहनेका उपदेश है ।

प्रारंभमें यहोतः दिशा विषयक जो कोष्टक और मंत्र दिये हैं उन सबका एकीकरणपूर्वक विचार करनेसे इन मंत्रोंका अधिक बोध होना संभव है ।

प्राची दिग्गिरिधिपतिरसितो रक्षिताऽऽ-  
दित्या इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो  
रक्षितृभ्यो नम इषभ्यो नम एभ्यो व्यस्तु ॥  
योऽस्मान् द्वेष्टि यं यय द्विभस्तं यो जम्भे दध्मः ॥  
( अथर्व. ११२. ७१ )

इस मन्त्रका अर्थ विचार करना है । इसका विचार होनेसे अन्य रात्र मंत्रोंका विचार हो सकता है । पूर्व स्थलों, जहाँ दिशाओंका द्वितीय कोष्टक दिया है, वहाँ बताया है कि अधिपति, इषु, रक्षिता आदि शब्द आलंकारिक हैं, इसलिये इनका अर्थ काव्यकल्पनाके अनुसार लेना चाहिए ।

( १ ) अधिपति, रक्षिता, इषवः आदि शब्द आलंकारिक हैं क्योंकि वर्षा, वीरुधः आदिकोंकी भी भाग कहा है । वस्तुतः ये भाग नहीं हैं । इस कारण कविकी आलंकारिक दृष्टिसे इनका अर्थ लेना उचित है ।

( २ ) मन्त्रके प्रथम पादमें अधिपति, रक्षिता ये शब्द एक पञ्चममें हैं, परन्तु द्वितीय चरणमें इन ही शब्दोंका बहुवचन लिया है । एकरचनका शब्द परमेश्वरपर माना जा सकता है परन्तु 'अधिपतिभ्यः, रक्षितृभ्यः' शब्द बहुवचन होनेके कारण परमेश्वर नहीं माने जा सकते । आदरायक बहुवचन

हैं । ( यः जम्भे ) 'आप अनेकोंके एक जबड़ेमें हम सब मिलकर उस दुष्टको देते हैं' आप जो चाहें उसको दंड दीजिए । दंड देनेका अधिकार हम अपने हाथोंमें नहीं लेते, आप सबको ही दंड देनेका अधिकार है । यह आशय उक्त मंत्रभागमें स्पष्ट है । इसमें न्यायव्यवस्थाकी बातें स्पष्टतः लिखी हैं—

( अ ) अनेक सज्जनोंको मिलकर न्याय करना चाहिए ।

( आ ) किसीकी उचित नहीं कि वह स्वयं ही दुष्टको मनमाना दंड देवे । वह अधिकार न्यायसभाका ही है ।

( इ ) बहुपक्षसे द्वेष नहीं करना चाहिये । द्वेष करना बुरा है । स्वसंमति प्रकट करना द्वेष नहीं है ।

( ई ) बहुपक्षसे भी उचित नहीं कि वे अपनी संमतिसे किसीको दंड देवें । बहुपक्ष और अल्प पक्षके मतभेद होनेपर न्यायसभा द्वारा योग्यायोग्यता निश्चय करना चाहिए । और न्यायसभाका निश्चय सबको मानना चाहिए ।

इत्यादि बातें उक्त मंत्रभागमें स्पष्ट सिद्ध होती हैं । यही परमेश्वरके जबड़ेमें देनेकी कल्पना नहीं प्रतीत होती । अथ यही 'जम्भे' शब्दका अर्थ देखना उचित है—

'जम्भे' शब्दका अर्थ दांत, हाथीका दांत, मुँह, जबड़ा, वज्र, दंड होता है । मंत्रमें 'यो जम्भे' अर्थात् 'अनेकोंका एक जबड़ा' कहा है; प्रत्येक प्राणीके लिये एक जबड़ा हुआ करता है । परन्तु यही अनेक मनुष्योंका मिलकर एक जबड़ा कहा है । वास्तविक रीतिसे अनेक मनुष्योंका एक जबड़ा नहीं हो सकता, परन्तु यही कहा है, इसलिये यह जबड़ा वास्तविक नहीं है, केवल काल्पनिक है । निम्न कोष्टकमें व्यक्तिगत और सामाजिक जबड़ेकी कल्पना आ सकती है—



समाजका एक अवयव मानता है, इस कारण वह शत्रुको दण्ड देनेके लिये स्वयं प्रयुक्त न होता; हुआ, न्यायसभाकी धारण लेता है, क्योंकि वही 'समाजका जवदा' है। इस न्यायालयमें दिजोंकी सभा लगती है और वह अनुसूल प्रतिकूल बातोंका मनन वारवार करके कुछको दण्ड देती है और सज्जनको स्वातन्त्र्य अर्पण करती है। इस समाजके जवदेका—अर्थात् न्यायसभाका—भाव 'जम' शब्दसे लेना यहाँ उचित है। यही अनन्य भन्त्योंका मिलकर एक जवदा हो सकता है।

तं वो जंमे दधमः ।

( तं ) उस कुछको हम सब ( दधमः ) आप अनेकोंके ( जंमे ) एक जवदेमें—अर्थात् न्यायसभामें—( दधमः ) धारण करते हैं। अर्थात् आपके आधीन करते हैं। न्यायसभाकी शिरोधार्यता यहाँ बताई गई है।

यहाका 'य' शब्द पूर्वोक्त 'अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः' इन शब्दोंको सूचित करता है। समाजके अवयव राष्ट्रके अधिपति और रक्षक 'यः' शब्दसे जाने जाते हैं। सबका द्वेष करनेवाले कुछको इन पक्षोंके आधीन करना चाहिए, यह मंत्रका स्पष्ट आशय है। इसीलिये 'अधिपति' आदि शब्दोंका बहुवचन मन्त्रमें आगया है और इसी कारण वह बहुवचन योग्य और अर्थके अनुसूल है।

शत्रुको पक्षोंके आधीन करनेके भावसे शत्रुको स्वयं दण्ड देनेकी और न्यायकी अपने हाथमें लेनेके एमडकी वृत्ति कम होती है, और पक्षोंकी ओरसे न्याय प्राप्त करनेकी सार्विक प्रवृत्ति बढती है। इस प्रकारकी प्रवृत्ति समाजके हितके लिये आवश्यक है।

इस उपदेशसे अपने आपको समाजका अवयव समझनेका सार्विक भाव बढाया जाता है। मैं जनताका एक अंग हूँ, जनताका और मेरा अटूट सम्बन्ध है, यह भावना मत्स्य पत्र है, और इस उक्त भावनाका बीज किसी उत्तमवाद्ये अतः वर्णमें रखा गया है। यह वैदिक धर्मका ही महत्व है।

( १ )

( १ प्राची दिक् ) प्रगतिकी दिशा, ( २ अग्निः अधिपतिः ) तेजस्वी स्वामी, ( ३ अस्तितः रक्षिता ) स्वतन्त्र सरक्षक और ( ४ आ-दित्याः इषयः ) स्वतन्त्रतापूर्ण वस्तुत्व, ये चार बातें हैं।

प्रत्येक दिशा विशेष मार्गकी सूचक समझी जाती है और उस विशेष मार्गके साधक तीन गुण हैं। प्रत्येक दिशाके साथ ये गुण निश्चित हैं। इस पूर्व दिशाके अनुसंधानसे प्रगतिके मार्गका उपदेश किया है। तेजस्विता, स्वतन्त्रता और वस्तुत्व ये तीन गुण उन्नतिके साधक हैं। अर्थात्पिछे स्पष्ट सिद्ध होता है कि निस्तेज निर्वाच्य राजा, पराधीन रक्षक और अस्वतन्त्र नष्का किंगी प्रकार भी उन्नतिके साधन नहीं कर सकते। इसी प्रकार अन्य दिशाओंका विचार करके बाँध जानना उचित है।

( १ ) प्रगतिका निश्चित मार्ग, ( २ ) तेजस्वी स्वामी, ( ३ ) स्वार्थान्तरका धारण करनेवाला रक्षक, और ( ४ ) स्वतन्त्रतापूर्ण वस्तुत्व, ये चार बातें मानवी उन्नतिके लिये आवश्यक हैं। इसी प्रकारके स्वामी, सरक्षक, और पचाओंका संसार होना उचित है। जो हमारा द्वेष करता है और त्रिषका हम द्वेष करते हैं उसको आप अधिपतियोंकी समाके आधीन हम सब करते हैं। यह मन्त्रका छोटा आशय है। मनुष्यकी अत्याइके उपदेश यही है। इस प्रकार अर्थका मनन करना उचित है। अब मनुष्य शब्दोंके मूल अर्थोंका मनन करते हैं—

( १ ) 'अग्निः' शब्द वैदिक धर्ममें ब्राह्मण और वस्तुवत्ता प्रतिनिधि है। दिशा चोटक स० १ देखिए, त्योंमें प्राची दिशाका 'मन्त्र' अर्थात् ज्ञान ही भन कहा है।

( २ ) 'अ-स्तितः' शब्दका अर्थ बचन-रहित, स्वतन्त्र, स्वार्थान्तर देता है। 'सि-यंघने' इस भाष्य 'नित' शब्द बनता है, त्रिषका अर्थ 'पर-स्वाधीन' है। 'अ-स्तित' अव्यय, स्वतन्त्र ।

‘इपयः’ शब्दमें है । अस्तु । इस प्रकार प्रथम मंत्रका आशय है । अब द्वितीय मंत्र देखिए—

( २ )

( १ दक्षिणा दिक् ) दक्षताकी दिशा ( २ इन्द्रः अधिपतिः ) शत्रुनिवारक स्वामी ( ३ तिरश्चिराजी रक्षिता ) पश्चिमे चलनेवाला संरक्षक और ( ४ पितरः इपयः ) कीर्त्य वायु हलचल करनेवाले, ये चार बातें सचलिकी साधक हैं । इसी प्रकार स्वामी रक्षक और पातकोंका संहार हो । जो आस्तिकमें द्वेष करता है और जिसका आस्तिक द्वेष करते हैं उसको हम तब आप अधिपतियोंकी सम्राट्के अधीन करते हैं ।

( ५ ) ‘इन्द्र’ — ( इन्द्राद्भून् द्रावयिता । १०८ ) शत्रुघ्ना निवारण करनेवाला विजयो ।

( ६ ) ‘तिरश्चिराजी’ — ( तिरः ) बीचमेंसे, ( श्वन्- ) जाना, ( राजी- ) लकीर, मर्यादा । अपनी मर्यादाका उल्लंघन न करनेवाला ।

( ७ ) ‘पिता’ ( पातीति पिता ) — संरक्षक पिता है । दीर्घ धारण करके उत्तम धनतान उत्पन्न करनेवाला कौशलवान् पुरुष पिता होता है ।

( १ )

यह मंत्र द्वितीय मन्त्रका है । अब तीसरा मंत्र देखिये—

( १ प्रतीची दिग् ) अर्धभुक्त होनेकी दिशा, ( २ घरुणः अधिपतिः ) कर्ष्य धम्मत स्वामी, ( ३ पृदाकुः रक्षिता ) स्वर्णमें वरणाही रक्षक और ( ४ अश्वे इपयः ) अश्वकी वृद्धि ये चार बातें आनुदयकी साधक हैं ।

( ५ )

( १ उदीची दिग् ) उत्तर दिशा, उत्तर होनेकी दिशा, ( २ सोमः अधिपतिः ) शांत स्वामी, ( ३ स्वजः रक्षिता ) स्वयं सिद्ध संरक्षक और ( ४ अश्वानिः इपयः ) ऐश्वर्या प्रगति ये चार बातें उन्नतिकी हैं ।

( ५ )

( १ भूपा दिक् ) स्थिर दिशा, ( २ विश्णुः अधिपतिः ) कार्यसम स्वामी, ( ३ कल्माषप्रीयाः रक्षिता ) कर्मकर्ता संरक्षक और ( ४ वीरुधः इपयः ) औषधियोंकी वृद्धि ये चार बातें उत्पत्तिके निवे हैं ।

अब इन शब्दार्थोंका मनन करेंगे । शब्दोंके मूल धातुवर्ध नीचे दिये हैं—

( १ ) ‘घरुणः’ — वर-वृ-वरणे । पसंद करना । जो पसंद किया जाता है वह वरुण होता है । सर्वसमत सर्वश्रेष्ठ ।

( २ ) ‘पृदाकुः’ — ( पृद्-आ-कृः ) — पृदाका अर्थ युद्ध, साम्राज्य, स्वर्ण, स्वर्णकी समय उत्पन्नके शब्द शोउने-वाला ‘पृदाकु’ होता है । कु = शब्द ।

( ३ ) ‘सोमः’ — शास्त्रिणा सूचक चंद्र अपवा सोम है । इसका दूसरा अर्थ ‘सन्तुमा’ अर्थात् विवाह काय रहनेवाला अर्थात् शान्ति है । ‘सु-प्रसवप्रेक्ष्ययोः’ इस धातुसे ‘सोम’ शब्द बनता है जिसका अर्थ ‘उत्पादक, प्रेरक और देख्यवान्’ ऐसा होता है ।

( ४ ) ‘स्वजः’ — ( स्व+जः ) — अपनी शक्तिसे रहनेवाला, जिसे दूसरेकी शक्तिका अवलंबन करनेकी आवश्यकता नहीं है । स्वावलंबनशील । स्वयं जिसका यश चारों ओर फैलता है ।

( ५ ) ‘अश्वानिः’ — यह विश्वुत्का नाम है । तेजस्विताका बोध इस शब्दसे होता है । ‘अश्व’ धातुका अर्थ ‘व्यापना’ है । व्यापक शक्तिका नाम अश्वानि है ।

( ६ ) ‘विश्वः’ — सर्व ‘व्यापक’ वर्ता, उपयो ।

( ७ ) ‘कल्माष-प्रीयाः’ — ‘कल्मन्’ का अर्थ कर्मन् अर्थात् कर्म, कार्य, उपयोग है । ‘कल्माष’ = ( कल्म-ष ) = कर्मके द्वारा अनिष्ट पुरातका नाश करनेवाला । ( कर्मणा अनिष्टं स्पष्टि इति कर्मापः । कर्माप एव कल्मापः । ) पुरुषार्थके दुष्टताको दूर करके शुष्टताको प्राप्त करनेवाला और इस प्रकारके पुरुषार्थके मान गलेमें छदा धारण करनेवाला ‘कल्माष-प्रीय’ शिवा ‘कर्मा-स-प्रीय’ कहता है ।

( ८ ) ‘वीरुधः’ — महान् ज्ञानका स्वामी, ज्ञानी । ज्ञानवि अथवा शक्तिका अधिष्ठान ।

( ९ ) ‘भियन्नः’ — शुद्ध, पवित्र, श्रेष्ठ ।

अस्तु, इस प्रकार मन्त्र काव्योके अर्थ हैं । पाठक इसका अधिक विचार करके लाभ उठावें ।

है, इस वाक्ता प्रकाश पाठकोंके मनमें पूर्ण रीतसे पडा ही होगा । वारंवार मनन करके इनके गूढ तत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना हम सबका कर्तव्य है ।

इन मंत्रोंमें 'इषु' शब्द विलक्षण अर्थके साथ प्रयुक्त हुआ है । इसका किसी अन्य भाषामें आशय न होना अत्यंत कठिन कार्य है । किसी एक प्रतिशब्दसे इसका भाव प्रकट होता ही नहीं । इसलिये इन मंत्रोंको विशेष विचारसे सोचना चाहिए ।

उत्तम अधिपति और श्रेष्ठ संरक्षकोंका सम्मान होनेसे जन-समाजकी स्थिति ठीक रहती है, और राज्यशासन ठीक चल सकता है । अधिपति मुख्य होते हैं और संरक्षक उनके आधीन रहकर कार्य करनेवाले होते हैं । अधिपति और संरक्षकोंके नियमोंमें जनतामें निरादर नहीं होना चाहिए । अधिपति और संरक्षकोंके गुण, जो इन मंत्रोंमें वर्णन किये गये हैं, जहाँ हमें वहाँ सब जनताका पूज्यभाव अवश्य रहेगा । दुष्टको दब देनेका अधिकार इनहीको है । किसी मनुष्यको उचित नहीं कि वह अपने हाथमें न्याय करनेका अधिकार रखे ही लेकर किसीको दंड देवे । इससे अत्याति और अराजकता होती है । इसलिये प्रत्येक मंत्रमें कहा है कि 'हम श्रेष्ठ और योग्य अधिपतियोंका आदर करते हैं और दुष्टका शासन होनेके लिये उसको उन्हींके स्वाधीन करते हैं ।' सब लोगोपर इस भावके संस्कार होनेकी वही भारी आवश्यकता है ।

मनके सार्वजनिक अवस्थाका निरीक्षण करना और मानवोदितसाधन करनेका विचार करना, इन मंत्रोंका मुख्य उद्देश्य है । इन मंत्रोंमें जनताकी उन्नतिके विचारकी सूचना मिली है । वैदिक धर्ममें व्यक्ति और समाजका मिलकर सुधार लिया है । केवल व्यक्तिका सुधार नहीं होगा, और केवल समाजका भी नहीं होगा । दोनोंका मिलकर होगा । व्यक्ति समाजकी मिलकर उन्नति होती है । प्रत्येक मंत्रकी प्रथम पंक्ति सामान्य सिद्धांत बताने की है और शेष मंत्रमें उन सिद्धांतोंकी जनतामें घटकर बताया है । इस दृष्टिसे पाठक इन मंत्रोंका अधिक विचार करें ।

## दिशाओंका तत्त्वज्ञान ।

### वैदिक दृष्टि ।

वैदिक तत्त्वज्ञान इतना विस्तृत, व्यापक और सर्वगामी है, कि समस्त उद्देश न केवल वेदके प्रत्येक एक शब्द द्वारा हो रहा है, परन्तु वेदके सप्त पाठकोंमें वह दिव्य दृष्टि उत्पन्न कर रहे हैं, कि जिस दृष्टिसे प्रकटके पदार्थों मादकी और विशेष भाषा-नामों देवताका गुण वैदिक धर्मियोंके अन्दर उत्पन्न हो सकना

है । विशेष प्रकारका दृष्टिकोण उत्पन्न करना वेदकी अभीष्ट है । यदि पाठकोंमें यह दृष्टिकोण न उत्पन्न हुआ, तो वैदिक मंत्रोंका अर्थ समझना ही असम्भव है । वेदमंत्रोंकी रचना, तथा उनको समझनेकी रीति, वैदिक उपदेशकी पद्धति तथा वैदिक दृष्टि, इतनी विलक्षण और आजकलकी अवस्थासे भिन्न है कि, वह दृष्टि अपनेमें उत्पन्न करना ही एक बड़े प्रयासका कार्य, आजकलकी सम्यक्ताके कारण हो गया है । आजकलकी जड़ सम्यक्ताकी रीति अवलंबन करनेके कारण वह परिशुद्ध मानसिक अवस्था और वह दिव्य दृष्टि हमारेमें नहीं रहती, कि जो प्राचीन आर्योंमें वैदिक धर्मके कारण थी ।

किसी काव्यकी भाषा नीरस और शुष्क हृदयमें कोई प्रभाव उत्पन्न नहीं कर सकती । काव्यका रस जाननेके लिये पाठकोंका तथा श्रोताओंका हृदय विशेष संस्कारित संज्ञा ही चाहिए । कवियों दृष्टिसे ही काव्यका रस प्रद्वेष करना चाहिए, अन्यथा कवियों दृष्टिसे बिना कोई काव्य पाठकोंके हृदयपर प्रेमका भाव उत्पन्न कर ही नहीं सकता । उत्तम कविता जगती मनुष्योंके हृदयोंपर कोई दृष्ट परिणाम नहीं कर सकती, इसका पक्षी हेतु है । वाष्पाकी एक तार ब्रह्मदेवसे सघने स्वरके साथ निगो हुई दूसरी तार आप ही आप आवाज देती रहती है, परन्तु जो तार उसके स्वरके साथ मिली नहीं होती, वह नहीं बजती । यही नियम काव्यके आस्वाद लेनेके नियमों में भी है । जो हृदय कविके हृदयके समान उच्च होते हैं वे ही उच्च काव्यसे हिल जाते हैं, परन्तु जो हृदय निम्न प्रकारकी अवस्थामें होते हैं, वे नहीं हिल सकते । वेद 'देवका काव्य' होनेसे उसका समझने और समझ बाध्यताका आनंद लेनेके लिये भी विशेष उत्तम कीर्तियोंके हृदय चाहिये ।

यही प्रश्न उत्पन्न हो सकता है, कि यदि ऐसा है तो सामान्य मनुष्यके लिये वेद निकम्मा सिद्ध होगा । परन्तु वास्तविक बात वही नहीं है । परन्तु वेदकी गुणि जैसी सब मनुष्योंके लिये हैं, उसी प्रकार ईश्वरके वेद भी सब मनुष्योंके लिये ही हैं । परन्तु अपनी योग्यता और अवस्थानुसार हर एक मनुष्य वेदोंके लाभ उठा सकता है ।

विश्व प्रकार साधारण मनुष्य जनते गृहा घात करने और अभिषेक योग निराधार करनेका कार्य लेकर इन पदार्थोंका उपयोग करना है, और समझना है, कि गृहस्था होने उपरयोग लिये । तद्वत् साधारण मनुष्य वेदका श्रुति अर्थ लेना है और समझना है कि किन वेदका अर्थ जान लिये । वेदा 'अग्नि ईष्टे' का अर्थ 'मे आगकी प्रतीक्षा करना है' इत्यादि समझना है ।

जिस प्रकार उच्च कोटीके वैज्ञानिक यंत्रकलानिपुण महाजन उधी जल और अमिको यंत्रोंमें रखकर उनके योगसे बड़े बड़े यंत्र चला लेते हैं, और समझते हैं कि हमने सृष्टिका उपभोग लिया, तद्वत् ही ये वे योगी और आत्मज्ञानी पुरुष उसी वेद-मंत्रका काव्यदृष्टिसे अवलोकन करके परमात्म तत्त्वके सिद्धान्तोंको जानते हैं । जैसा— 'अग्नि ईडे' । का अर्थ ये लोग समझते हैं कि 'मैं उस तेजस्वी आत्माकी प्रशंसा करता हूँ ।'

जैसा सृष्टिका उपभोग दोनों ले रहे हैं, वैसा ही वेदका अर्थ दोनों समझ रहे हैं । परन्तु एकको साधारण दृष्टि अथवा जड़ दृष्टि है और दूसरीकी असाधारण अथवा काव्यदृष्टि है । वेद दिव्य काव्य होनेसे इस प्रकारकी असाधारण काव्यदृष्टिसे ही उसका आशय देसना उचित है । यद्यपि सबको यह दृष्टि साध्य नहीं है, तथापि जिनको साध्य हो गई है उनकी सहाय-सास अर्थोंको उचित है कि वे अपनी गति इस भूमिकामें करें । आचार्यके बताये मार्गसे चलनेका यही तात्पर्य है ।

वेदका अर्थ समझनेके लिये न केवल वेद मंत्रोंका विशेष दृष्टिसे और विशेष पद्धतिसे अर्थ जाननेकी आवश्यकता है; परन्तु सृष्टिकी ओर भी विशेष आत्मिक भावनासे देखनेकी अत्यंत आवश्यकता है । सर्वसाधारण लोकोंको सृष्टिकी तरफ जड़ दृष्टिसे देखनेका अभ्यास आजकल हो गया है । यही अभ्यास अत्यंत पातक है । जबतक जनतामें जड़ दृष्टि रहेगी, तबतक उनमें वैदिक दृष्टिका अभाव ही रहेगा । 'त्रिषु अवस्थामि सव भूतमात्र आत्मरूप हो गये, उस अवस्थामें एक-एव-वा सर्वत्र दर्शन होनेके कारण शांति भोद नहीं होता ।' (यजु ४-१७) यह दृष्टि दे कि जिस दृष्टिसे गृष्टिकी ओर देगना चाहिए । परमात्म शक्तिका जो विकास इस प्रवृत्तिमें हो गया है, यह ही गृष्टि है । इस दृष्टिको 'आत्मरूप दृष्टि' कहते हैं ।

‘प्राची दिशा’ पूर्व दिशाकी विभूति ।

पूर्व दिशाके लिये वेदमें विशेष कर ‘प्राची दिक्’ शब्द आता है । इसका मूल अर्थ निम्न प्रकार है—

(१) प्राची = (प्र + अञ्च्) = ‘प्र’ का अर्थ ‘आधिक्य, प्रकर्ष, आगे, सम्मुख’ है । ‘अञ्च्’ का अर्थ ‘गति, पूजन’ अर्थात् जाना, यचना, चलना, हलचल करना, सत्कार और पूजा करना’ है । तात्पर्य ‘प्राची’ शब्दका अर्थ आगे बढ़ना, उत्थति करना, अग्रभागमें हो जाना, प्रगतिका साधन करना, उदयको प्राप्त होना, अभ्युदय संपादन करना, ऊपर चढ़ना, इत्यादि प्रकार होता है ।

(२) दिक् = दिशा = का अर्थ तर्क, सीध, ताक, हृदिपथ, आज्ञा, निशाना, सीधा रास्ता, सरल मार्ग, इत्यादि होता है ।

उक्त दोनों अर्थोंको एकत्रित करनेसे ‘प्राची दिक्’ का अर्थ— (१) आगे बढ़नेकी दिशा, (२) उदयका मार्ग (३) अभ्युदय प्राप्त करनेका रास्ता, (४) सत्कार और पूजाका पथ, (५) उत्थतिकी हलचल, (६) उत्थ गतिकी सीधा मार्ग, इत्यादि प्रकार होता है । प्राची दिशाका मूल अर्थ बहती अथवा उत्थतिकी दिशा, अभ्युदयका मार्ग, वृद्धि का रास्ता है ।

इस अर्थको मनमें धारण करके पाठक पूर्व दिशाकी ओर घेरे देखे । विचारपूर्वक देखनेके पश्चात् पाठकोंकी पना लग जायगा कि पूर्व दिशाका नाम ‘प्राची दिक्’ वेदने क्यों रखा है । विचारकी दृष्टिसे रात्रिके समयमें भी पूर्व दिशाकी ओर पाठक देखने जाय । पूर्व दिशाकी अपूर्वता घेरे और रात्रिके समय ही ज्ञात हो सकती है । दिनके समय पूर्वके प्रचण्ड प्रकाशके कारण इस दिशाका महत्त्व ध्यानमें नहीं आ सकता । इसलिये घेरे और रात्रिको ही पूर्व दिशाके महत्त्व ध्यान करना चाहिये ।

ऐसा आप देखेंगे । अनंत तारागणोंको जन्म देनेवाली, उनका उदय करनेवाली यह पूर्वदिशा है । तेजस्विताका प्रकाश इस दिशासे हो रहा है । प्रतिक्षण इस दिशाकी प्रतिभा बढ रही है, क्योंकि तेजोक्त सूर्यनारायणका अथ जन्मका समय है । देखिये । घंटे ही समयमें सद्व्यवस्थी सूर्य भगवान् उदयको प्राप्त होंगे और संपूर्ण जगत्को नवजीवनसे संचारित करेंगे । तमोगुणी क्षयकारका नाश होगा और सत्वगुणी प्राणमय प्रकाश चारों ओर चमकने लगेगा । देखिए अब सूर्यका उदय हो गया है, यह सूर्यविष कैसा मनोरम, रमणीय, स्फुरण देनेवाला, आनंदको बढानेवाला, तेजका अपर्ण करनेवाला, तथा सहस्रों शुभ गुणोंसे युक्त है । आप इसको केवल जड़ न समझिए । यह हमारे प्राणोंका प्राण है, यह स्थावर अंगमका जीवनदाता है, इसके होनेसे हम जीवित रह सकते हैं और इसके न होनेसे हमारा मृत्यु है, ऐसा यह सूर्यनारायण हमारे जीवनका आधार, परमेश्वरके अद्वितीय तेजका यह सूर्य निःसंदेह व्यक्त पुत्र है । इसकी कृपानासे आप परमात्माकी अद्वितीय तेजस्विताकी कल्पना कर सकते हैं । इस उष्य दृष्टिसे आप इसका निरीक्षण कीजिए । उदय होते ही इसका तेज बढने लगा है । तत्पर्य यह पूर्व दिशा हरएकको उदयके मार्गकी सूचना दे रही है, अभ्युदयका रास्ता बता रही है, अपनी तेजस्विता बढानेका उपदेश कर रही है । वेद कहता है कि यह ' उदयकी दिशा ' है । सबका उदय यहाँसे हो रहा है । हे मनुष्य ! तुम प्रतिदिन इसका गहन और अपने उदयका मार्ग खोजो ।

सकता है । व्यक्ति और संपदा, अपर्ण अपना और ज़ाहीदा, मित्रका और रात्रका इसी दृढ़ भावनासे उदय हो सकता है । पूर्व दिशाके अश्लोकनसे मनमें ये विचार उत्पन्न हो सकते हैं ।

### पश्चिम दिशाकी विभूति ।

दिशाओंकी विभूतियोंका वर्णन करते हुए पूर्व मन्त्रमें पूर्व दिशाको वैदिक कल्पना बताई है, अब इस लेखमें पश्चिम दिशाकी कल्पना बताता हूँ । वैदिक धर्म देखा जाय तो पूर्व दिशाके पश्चात् दक्षिण दिशाका वर्णन आग मोक्ष है, और मरु वैदिक दृष्टिसे ठीक भी है, क्योंकि उदयके मार्गक साथ साथ दाहिनी ओर मार्ग चरना चाहिए । अभ्युदय और दक्षिणका साहचर्य इन तन ही है । उदयकी इच्छाके साथ दाहिनका अवलोकन करनेकी आवश्यकता है, इसमें कोई मरुद ही नहीं है । तभी तो पूर्व और पश्चिम दिशाओंकी विभूतियों परस्पर सम्बन्ध का संबंध रहता है, इसलिये वैदिक कल्पनाकी गटना होनेकी इच्छासे पूर्व दिशाका वर्णन होनेके पश्चात् पश्चिम दिशाका वर्णन करनेका महत्त्व दिया है । मरु ग पेशनाका संबंध देगिए—

पूर्व	पश्चिम
उदय	अग ( अग मरु )
जन्म	रात्र ( रात्र मरु )
प्रकाशका प्रारंभ	आयक रक्षा मरु
प्र-वृत्ति	नि-वृत्ति
पुरुषार्थ	विधार्थ

क्षुधाशांति और जलका पान करनेसे तृप्तांति होती है, अर्थात् खानपानके कारण प्राणियोंके अन्दर परिपूर्ण शांति होनेके कारण उत्साह बढ़ता है । इस प्रकार इस दिशासे जनताकी शांतिका संबंध है ।

अथ पश्चिम दिशाकी विभूति देखिए— व्यक्ति के देहमें शुद्ध भाग, आयुमें तारुण्यकी अवस्था, दिनमें सार्यकालका समय, दिनको पुरुष मानिए और बड़ दिन अपनी स्त्री राज्ञीके साथ मिलन जाता है, यही दिन और राजिका मिथुन है, इसी प्रकार स्त्रीपुरुषका मिथुन होता है, इसलिये तारुण्यावस्था पश्चिम दिशा है, जहाँका घंटेका अक्षोरान् अथवा पूर्ण दिवस होता है, उसमें १२ घंटे व्यतीत होते हैं, बड़ आयुकी मध्यम अवस्था तारुण्यावस्था है, इन समय सूर्य विधामके लिये पश्चिम दिशामें जाता है । ऋतुओंमें वर्षा ऋतु, महिनोमें श्रावण, भाद्रपद कालोंमें चरैत्य काल, वर्षोंमें वसव वर्ष, आश्विनमें एहस्याश्रम पुरुषार्थोंमें काम, युगोंमें ह्यार युग, अवस्थाओंमें सुषुप्ति इत्यादि पश्चिम दिशाकी विभूति है । इसका विचार और आँदोलन करके इस गणनामें न्यूनाधिक करना उचित है । प्राधारणतया योजना रूप यहाँ गणन किया है ।

पश्चिम दिशाको इस प्रकार आप अमूर्त और व्यापक मानिए । एक विशेष भाव इस शब्दके ध्यानमें लाना है । माधारण के एक पश्चिम दिशामें सूर्योदय होनेकी दिशा समझने है, परन्तु हमने कई युगा उच और व्यापक अमूर्त भाव वेदने है, जिनका ज्ञान होनेके बिना दिशा बोधक वैदिक मन्त्रोंके शब्दोंका आशय समझने का नहीं अवधिग ।

व्यक्तिका पश्चिम दिशाका कार्य है । वर्षोंमें ब्राह्मण वर्ण यम नियमोंसे तप करता है, यह ब्राह्मण वर्ण तपस्यके लिये ही है । परन्तु वैश्य वर्ण शांतिसे चरमें रहता, वैश कमावा और आनंद पाता है । न ता इस वर्णको ब्राह्मणके समान तपस्याके दृष्ट हैं और न क्षत्रियके समान युद्धके दुःख हैं । शांतिके साथ मृदु-सौख्य भोगनेके कारण यह वैश्य वर्ण चातुर्वर्ण्यमें शांति और विधामका अतएव पश्चिम दिशाका स्थान है । ऋतुओंमें वसंत और श्रौष्ठम उत्कृष्टतासे तपनेवाले हैं, परन्तु वर्षाऋतुमें सर्वत्र शांत जलका वृष्टि होनेसे नदी, नद, तालाव और वृष्ट जलसे परिपूर्ण होनेके कारण सर्वत्र कृषि का प्रारंभ होनेसे सब भूमि हरियावलीसे सुन्दर और शांत दिशाई देती है, इसलिये ऋतुओंमें वर्षा ऋतु पश्चिम दिशाकी विभूति मानी है । इसी दृष्टिसे अन्यत्र देखिए और सर्वत्र पश्चिम दिशाकी विभूति जाननेका यत्न कीजिए । इस प्रकारकी भावना पश्चिम दिशाके वैदिक मन्त्रोंमें है, इसलिये इसकी यथावत् कल्पना होनेसे ही मन्त्रोंका आशय हृदयमें विकसित हो सकता है ।

### उत्तर दिशाकी विभूति ।

पूर्व दो लेखोंमें 'पूर्व और पश्चिम' दिशाओंकी विभूतिवर्णन वर्णन किया गया है, इसी क्रमानुसार इस लेखमें उत्तर दिशाका विचार करना और उत्तर दिशाकी विभूतिवर्णन स्वरूप अवलोकन करना है । पश्चिम दिशाके 'वर्णात् क्रमवशात् ' उत्तर ' दिशा है । उत्तर दिशाका भाव निम्न प्रकार देना जा सकता है—

उत्तर उत्तरी

यहाँका रक्षण होता है। माहेरकी शक्तिसे यहाँका कार्य होना ही नहीं है। आत्माकी निज शक्ति। ही प्रभाव यहाँ होना आवश्यक है। आत्माके प्रेमसे तथा परमात्माकी शक्तिसे हृदयके शुभ-संगलमय होनेकी संभावना यहाँ स्पष्ट हो रही है।

उत्तरं राष्ट्रं प्रजयोत्तराविदिशामुदीर्क्षी कृष्णवधो  
जग्रम् । पातं छन्दः पुरुषो यमूय विभ्रैर्विभ्रातिः  
सह संभवेम ॥ १० ॥ ( अथर्व १२।१ )

“उत्तरं राष्ट्रं प्रजया उत्तरायित् । उत्तर दिशः  
 सदा ही विजयकी राश्यां दिशा है । इक्षित्रे (वा) हम सब  
 को (अन्न) अप्रमाणमें बढ़नेकी इच्छा पारण करते हुए इसी  
 उच्चतर दिशासं प्रयत्न करना चाहिए । (पाँक) पाँच कर्णोंमें  
 विभक्त (पुरुष) । नागरिक जन ही इन्द्रका छंद है । इक्षित्रे  
 सब व्योमिं साथ हम सब (सह संभवेम) मिलकर रहें,  
 क्योंकि एकतामें पुरुषार्थ करें ।”

राष्ट्रमें क्या होनेकी भावना हो। उसर अर्थात् उच्चतर दिशा है। इस दिशादे प्रगतिक्षा साधन और अभ्युदये मार्गना स्वरत्न बननेवाले राष्ट्रके प्रत्येक मनुष्यके अन्दर यह भावना चाहिये, कि मैं (अर्थ) अग्रमार्गमें प्रवर्षा करता हुआ चलूँ जाऊँगा। मैं कभी पीछे नहीं रहूँगा। राष्ट्रमें पांच वर्ग होते हैं, जिनके कारण सामाजिक अस्वस्थ, अग्रतः कारण होनेजो प्रथम स्थितिक्षा रक्षण, पैठकर कार्य करनेवाले, धनसमृद्ध करनेवाले स्थितिक्षा पीछेकी, आतीतगुरु अर्थात् सद्गुरुओंका नीलवर्ण और अग्रगुरु पीछेकी। हृत्पण वर्ग होता है। सब जनता इन पांच वर्गोंमें विभक्त है, इसलिये पंचवर्गीके राष्ट्रका कोई नाम 'पांचजन्य' है। 'पांच-जन्यका मदानन्द' ही जनताका

सार्वजनिक मत द्रुमा करता है। जो पुरि अर्थात् नगरोंमें वसते हैं उनका नाम पुराण अर्थात् नागरिक होता है। ( पुरि-उत्स, पुर-वस, पुर-उप, पुराण ) ये पुराण अर्थात् नागरिक पहिले चार वर्ण हैं, और पाँचवा निषाद वर्ण नागरिकोंमें मिला है, इसलिये कि वह जंगलमें रहता है। जंगल निवासियों को राष्ट्रीय कल्पना है, जैसे नागरिक होते हैं। इसलिये ' पाँच-वर्ण ' राष्ट्रमें सब लोक आते हैं जिस प्रकार वैदिक राष्ट्रीय पाँचजन्य की कल्पनामें सब पाँचों प्रजा के जनोंका अन्तर्भाव होता है उस प्रकार ' पाँचवर्ण राष्ट्र ' का अर्थ और आशा यथानिहाय समझ किसी अन्य भाषामें नहीं है। इससे वता लगता है, कि वैदिक राष्ट्रीयताकी कल्पना हितनों सब और केमी व्यापक है। सब अवधियों और अंगोंके साथ जब प्रेमरूप एकताका भाव दाना है, तब राष्ट्रीय एकताही अद्भुत शक्ति निर्माणी होती है, जिससे राष्ट्रकी उत्पत्ति दिशाके अनुसूचके सामने जाना गुप्त होता है। इस प्रकार उत्तर दिशाकी विमूर्ति है।

जपतमें जो उत्तर दिशा है वह सब जानने हो द, यही उत्तर दिशा क्योंकि यहाँमें बायीं बाग है। राश्ट्रमें उत्तर दिशा पनोम्पादक कारिगर वर्ग है, क्षत्रुओंमें उत्तर दिशा वारदु है, मखिनामें आभिन-चारिक साध है, बौनामें छप्टरई कारिगर वर्ग है, एदोमें अनुष्टुप छंद, भावनाओंमें कथ-एर दनही महत्वाकांक्षा है, श्यादि प्रचर इय उत्तर दिशाओं विभूति है इय छप्टेय सर्वत्र उत्तर दिशाही विभूति देयवर पाठक बोध में सुने हो।

पाठक अन्य दिशाओं में विषय में इस प्रकार विचार करते  
हैं और इस दृष्टि से ही दो सुक्तों का जनन करते हुए प्रथम



एषा पशून्सं क्षिणाति क्रव्याद्भुत्वा व्यद्वरी ।

उतैनां ब्रह्मणे दद्यात्तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।

शिवासै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रस इह सहस्रसातमा भव ।

पशून्वमिति पोषय ॥ ४ ॥

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोमं तन्वः ।

तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत्पुरुषान्पशून् ॥ ५ ॥

अर्थ— ( एषा क्रव्याद् व्यद्वरी भुत्वा ) यह गौ मांस खानेवाले कुम्भीके समान होकर ( पशून् सं क्षिणाति ) पशुओंका नाश करती है । ( उत एतां ब्रह्मणे दद्यात् ) इसलिये इस गौको ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये ( तथा स्योना शिवा स्यात् ) जिससे वह सुखदायी और कल्याणकारिणी हो जावे ॥ २ ॥

( पुरुषेभ्यः शिवा भव ) पुरुषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, ( गोभ्यः अश्वेभ्यः शिवा ) गौओं और घोषोंके लिये कल्याण करनेवाली हो, ( अस्यै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा ) इस सब भूमिके लिये कल्याण करनेवाली होकर ( नः शिवा मेधि ) हमारे लिये सुख देनेवाली हो ॥ ३ ॥

( इह पुष्टिः, इह रसः ) यहाँ पुष्टि और यहाँ रस है । ( इह सहस्र-सातमा भव ) यहाँ हजारों लाभ देनेवाली हो और हे ( यमिनी ) जुड़े सन्तान उत्पन्न करनेवाली हो ! ( इह पशून् पोषय ) यहाँ पशुओंको पुष्ट कर ॥ ४ ॥

( यत्र ) जिस देशमें ( स्वायाः तन्वः रोमं विहाय ) अपने शरीरका रोग त्यागकर ( सुहार्दः सुकृतः मदन्ति ) उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मेवाले होकर आनन्दित होते हैं, हे ( यमिनी ) गो ! ( तं लोकं यमिन्यभिव्यभूव ) उस देशमें सब प्रकार मिलकर हो जाओ, ( सा नः पुष्टवान् पशून् मा हिंसीत् ) यह हमारे पुरुषों और पशुओंको हिंसा न करे ॥ ५ ॥

भावार्थ— यह छठे उपपन्न करनेवालेने अनेक रगरूप और विविध गुणधर्मवाली गौवं बनायी हैं । ये सब गौवं एक बार एक ही बच्चा उत्पन्न करनेके लिये बनाई हैं । जब यह गौ पशुको छोड़कर अन्य समयमें दूधके दो बच्चे उत्पन्न करती है उस समय यह पशु और नाशक होती है, जिसमें अन्य पशु भी नष्ट होते हैं ॥ १ ॥

जैसे मांस खानेवाले पशु नाशक होते हैं उस प्रकार यह रोगी गो नाशक होती है । इसलिये ऐसा होने दो इसके योग्य उपपन्न रोग ब्राह्मणके पास भेजनी चाहिये, जहाँ योग्य उपचारसे यह गौ सुखदायिनी बन जावे ॥ २ ॥

यह गौ मनुष्योंके लिये तथा घोड़े, बैल, गौएँ आदि पशुओंके लिये, इस भूमिके लिये और हम सबके लिये सुख देनेवाली बन ॥ ३ ॥

इस गोमें पेषणकारक गुण है, इसमें उत्तम रस है, यह गौ हजारों रीतियोंके मनुष्योंको लाभदायक होती है, इस प्रकार ही गो सब पशुओंको यहाँ पुष्ट करे ॥ ४ ॥

जिस प्रदेशमें जाधर रहनेके शरीरके रोग दूर होते हैं और शरीर स्वस्थ होता है, तथा जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले और उत्तम कर्मे करनेवाले लोग अर्चनके रहते हैं, उस देशमें यह गो जाय, वहाँ रोग, यहाँ रोगी अवस्थामें रहकर हमारे मनुष्यों और पशुओंको सब मष्टुवावे ॥ ५ ॥



यत्रा सुहादां सुकृतामभिहोत्रहुतां यत्र लोकाः ।

तं लोकं यमिन्यमिसंवभूव सा नो मा हिंसीत्युक्तपान्पशून्

॥ ६ ॥

अर्थ— ( यत्र यत्र सुहादां सुकृतां अभिहोत्रहुतां लोकः ) जहाँ जहाँ शुभ हृदयवाले, उत्तम कर्म करनेवाले और अभिहोत्र हवन करनेवालोंका देश होता है, वे ( यमिनी ) गौ ( तं लोकं यमिसंवभूव ) उस लोकमें मित्ररु रह और ( सा नः पुत्रपान् पशून् च मा हिंसीत् ) वह हमारे पुत्रों और पशुओंकी हिंसा न करे ॥ ६ ॥

माचार्य— जिस प्रदेशमें उत्तम हृदयवाले, शुभकर्म करनेवाले और अभिहोत्र करनेवाले सज्जन रहते हैं, उस देशमें यह गौ जाय और नारीग बने । रोगी होती हुई हमारे पुत्रों और अन्य पशुओंकी अपना रोग फैलाकर कष्ट न पहुंचावे ॥ ६ ॥

### पशुओंका स्वास्थ्य ।

पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रहना चाहिये, अन्यथा एक भी पशु रोगी हुआ तो वह अन्य पशुओंका तथा मनुष्योंका भी स्वास्थ्य विगाह सकता है । एक पशुका रोग दूसरे पशुको लग सकता है और इस कारण सब पशु रोगी हो सकते हैं । तथा गौ आदि पशु रोगी हुए, तो उनका रोगयुक्त दूध पीकर मनुष्य भी रोगी हो सकते हैं । इस अनर्थ परंपराको धृष्ट करनेके लिये पशुओंका उत्तम स्वास्थ्य रखनेका प्रबंध करना चाहिये ।

### पशुरोगकी उत्पत्ति ।

पशुओंमें रोग उत्पन्न होनेके तीन कारण इस सूत्रमें दिये हैं, वे कारण देखिये—

१ अप+क्रतुः = शत्रुके विरुद्ध आचरण करनेसे रोग उत्पन्न होते हैं । पशुओंके लिये जिस समयमें जो खानेपीने आदिवा प्रबंध होना चाहिये वह यथा योग्य होना ही चाहिये । उसमें अयोग्य रीतिले परिवर्तन होनेसे पशु रोगी होते हैं । पूर्ण समयके पूर्व बन्धा उत्पन्न होनेसे भी गौ रोगी होती है ।

२ यमिनी चिन्तायते = जुड़े बन्धको उत्पन्न करना । इससे प्रसूतिही रीतिमें विगाह होकर विविध रोग होते हैं ।

३ ऋष्याद् द्यवद्वरां सूत्या = मांस खानेवाली विशेष नस्लक होकर रोगी होती है ।

गौ जिस समय प्रसूत होती है उसके बाद गर्भस्थानसे कुछ माग पिरते हैं । कदाचित् वह गौ उक्त मागोंका खा जाती है और रोगी होती है । अथवा योनी आदि स्थानमें जुड़े बन्धके उत्पन्न होनेके कारण कुछ मण्डीर होते हैं और वहाँ प्रसूति-स्थानका विष लगनेसे गौ रोगी होती है । इस प्रकार इस चर्चसे गौके रोगी होनेकी संभावना बहुत है । इसलिये गौके स्वामीको उचित है कि वह ऐसे समयमें योग्य सावधानता रखे और किसी प्रकार भी अशवधानी होने न दे ।

ये सब रोग बड़े घातक होते हैं और यदि एक पशुको हुए तो उसके रोगवर्ष रदनेवाले अन्त्याय पशुओंका भी नाश उक्त रोगोंके कारण हो सकता है । इसलिये जिसके घरमें बहुत पशु हैं उसको उचित है कि वह ऐसी अवस्थाओंमें बड़ी सावधानता रखें और अपने पशुओंके स्वास्थ्यरक्षका उत्तम प्रबंध करें ।

### रोगी पशु ।

पशुके स्वास्थ्यके विषयमें आवश्यक योग्य प्रबंध करनेपर भी गौ आदि पशु पूर्णतः कारणीत अथवा अन्त्याय कारणीत रोगी होते हैं । ऐसे रोगी होनेपर उनको उत्तम वैद्यके पाद भेजना चाहिये, इस विषयमें कहा है—

उत पर्ना ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्थोना शिषा स्यात् ॥

( सू. २८, मं. २ )

‘ उस रोगी गौको ब्राह्मणके पाद देना चाहिये, जिससे वह क्षाम और कष्टाप करनेवाली बने ’ अर्थात् उस रोगी गौकी ऐसे सुयोग्य ज्ञानी वैद्यके पाद भेजना चाहिये कि जिसके पाद कुछ दिन रहनेसे वह पीरोग, स्वस्थ और शुभ बन जावे । यहाँ ‘ ब्रह्मन् ’ शब्द है, यह आनुवंशिक शास्त्र और आचरणकी चिकित्सा ज्ञाननेवाला ज्ञानी वैद्य है । ब्राह्मण ही वैद्यकिया करते हैं, इस विषयमें अन्यत्र कहा है—

यत्रोपधीः समामत राजानः समितामिव ।

विषः स उच्यते भिषग्वस्तोहानीयचातनः ।

( अ. १-१७१६, य. व. ११८० )

‘ जिस विषके पास बहुत औपधिशी होती हैं उस विषकी वैद्य कहा जाता है, वही रोगके कुमियोका नाश करता है और वही रोग भी दूर करता है । ’

इस प्रकारके जो वैद्य होते हैं उनके सुपुर्द वैधी रोगी गौको तत्काल करना चाहिये । जिनके पास रहती हुई वह गौ योग्य उपचार द्वारा आरोग्यको प्राप्त हो सके । जहाँ इस गौको भेजना चाहिये वह स्थान देना हो, इसका वर्णन भी दिये—

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं  
तन्वः स्थायाः । ( सू. २८, मं. ५ )

यत्रा सुहार्दा सुकृता अभिहोत्रद्वता यत्र लोकः ।  
( सू. २८, मं. ५ )

तं लोकं यमिन्वभि संयभूय ॥ ( सू. २८, मं. ५-६ )

' जहाँ प्रतिदिन अभिहोत्रमें हवन करनेवाले लोग रहते हैं, और जहाँ उत्तम हृदयवाले और श्रेष्ठ कर्मकर्ता लोग रहते हैं, और जहाँ अपने शरीरका रोग दूर होकर मन आनन्दप्रसन्न हो सकता है, उस स्थानपर उस लोको भोजना आदिसे, जहाँ रहनेसे सब प्रकारसे वर्णन होगा । '

रोगालयेके सर लोग अभिहोत्रमें प्रतिदिन हवन करनेवाले हैं, क्योंकि रोगालयमें विविध प्रकारके रोग आते हैं और उनके स्वरूपमें विविध रोग फैलना संभव है, इस कारण वायु शुद्धिके लिये प्रतिदिन हवन होना योग्य है, इस प्रारतः सर्वत्र किसे अभिहोत्रके हवनसे वायु निर्दोष होगा और रोगभी नष्ट होगा, और ऐसे वायुसे रोगी भी बीमार नही रहेंगे । यह रोगालयकी वायुशुद्धिके विषयमें कहा है । इसके अतिरिक्त रोगालयके कर्मचारी प्रतिदिन निमग्नपूर्वक हवन करनेवाले हों, जिससे उनका भी आरोग्य सिद्ध होगा और उस स्थानकी भी शुद्धता होगी ।

प्राय ही सब रोगालयके कर्मचारी ( सु-कृतः ) उत्तम शुभ

कर्म करनेवाले पवित्र आत्मा होने चाहिये । इनकी पवित्रतामें ही रोगीका भाषा रोग दूर हो सकता है । जो वैद्य पवित्र हृदयवाला और शुभ कर्म करनेवाला होगा, उसका अंश भी अधिक प्रभावशाली होगा, क्योंकि औषधके साथ उसके दिलके शुभ विचार भी बड़े सहायक होंगे ।

ऐसे सदाचारी सद्भाववाला धार्मिक वैद्यके पास जो भी रोगी जाय, वह उस अभ्यन्तरे पवित्र वायुसे बलप्राप्त—

स्थायाः तन्वः रोगं विहाय । ( सू. २८, मं. ५ )

' अपने शरीरसे रोग दूर करके ' पूर्ण नोरोग होगा, इसमें कोई संदेह नहीं । इसीलिये कहा है कि ऐसे पवित्र आचार-संपन्न ब्राह्मण वैद्यके पास उस प्रकारके रोगी लौकी सत्वर भेजना चाहिये । वहाँ बाहर वह भी नोरोग बने और वह वही वायु आकर ' घरके मनुष्यों, गौओं, घोड़ों और घरकी सब भूमिमें पवित्र बनाने । ( सू. ३ ) ' नोरोग गौका मूत्र, गौघर तथा गौरस अत्यंत पवित्र होता है, परंतु रोगी पीके से सब पदार्थ अत्यंत अशुद्ध होते हैं । इसलिये वक्त आश्रममें पहुँचकर, वहाँ रहकर, पूर्ण नोरोगताको प्राप्त होकर जब वह भी वापस आवेगी, तब वह मंगलशरीणी बनेगी, ऐसा जो तुल्य मनुष्य कहा है, वह सर्वथा योग्य है । ' गौके अन्दर गोबर पदार्थ और अमृत रहते हैं । यह गौ अमृत प्रकारसे साधारण होती है, ( सू. ५ ) इसलिये उसके आरोग्यके लिये दक्षतासे गोबर प्रबंध करना उचित है ।

## संरक्षक कर ।

( २९ )

( आचार्य — उद्दालकः । श्रियता — शिष्याः । यमिन्वः, कामः, भूमिः )

यत्राजानो विभर्जन्त इष्टापूर्तस्य पोडम् यमस्यामी ममास्तदं ।

अविस्तस्मात्प्र मुञ्चति दुतः शिष्यास्तस्वधा

॥ १ ॥

अर्थ— ( यत्र ) जिस पक्ष ( यमस्य अमी यत्राजानः यमस्तदः ) जिसमें यमदेव ने राजाके ये राज्य वर्ज्यता प्राप्त ( इष्टापूर्तस्य पोडम् यमस्तदं ) अर्थात् यम देवता का भाग विभक्त कर दिया है । यत्र ( यत्रा ) यम दुता यम ( यमिन्वः ) राजा यमदेव ( शिष्याः—यमिन्वः ) शिष्यों के विरुद्धता ( स्व-धा ) और अपना पालन करनेवाला होना ( यमिन्वः प्रमुञ्चति ) उस अर्थसे मुक्तता दे ॥ १ ॥

सर्वान्कामान्पूरयत्याभवंन्प्रभवन्भवन् । आकूतिप्रोऽर्षिर्दत्तः शितिपान्नोऽप्यदस्यति ॥ २ ॥

यो ददाति शितिपादुमर्षिं लोकेन संमितम् ।

स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अथलेन वलीयसे ॥ ३ ॥

पश्चात्पूर्णं शितिपादुमर्षिं लोकेन संमितम् । प्रदातोऽप्यजीवति पितृणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

पश्चात्पूर्णं शितिपादुमर्षिं लोकेन संमितम् । प्रदातोऽप्यजीवति सूर्यान्नास्योरक्षितम् ॥ ५ ॥

इदं नोऽप्यदस्यति समुद्र इव पर्यो महत् । देवी संवासिनां विव शितिपान्नोऽप्यदस्यति ॥ ६ ॥

अर्थ— यह ( दत्तः ) दिया हुआ भाग ( आकूति-प्रः ) संकलित पूर्ण करनेवाला, ( शिति-पात् ) हितकोंको पचानेवाला, ( अर्षिः ) संरक्षण करनेवाला, ( आ-भवन् ) पैनानेवाला, ( प्रभवन् ) प्रभाववाला, ( भवन् ) अस्तित्वका हेतु होता हुआ ( सर्वान् कामान् पूरयति ) सब कामनाओंको पूर्ण करता है और न उपदस्यति ) विनाश नहीं करता ॥ २ ॥

( यः लोकेन संमितं ) जो सब लोगों द्वारा समानित ( शिति-पादं अर्षिं ददाति ) हितकोंके नाश करनेवाले संरक्षक भागको देता है ( सः नाकं अभ्यरोहति ) वह दुःखरहित स्थानको प्राप्त करता है, ( यत्र अवलेन वलीयसे शुल्कः न क्रियते ) अहाँ निर्बल मनुष्योंको बलवानके लिये धन देना नहीं पड़ता है ॥ ३ ॥

( पञ्च-म-पूर्वं ) पावोंके न सजानेवाले अथवा ( लोकेन संमितं ) जनता द्वारा समित ( शिति-पादं अर्षिं ) हितकोंको दबानेवाले संरक्षक कर भागको ( प्रदाता ) देनेवाला ( पितृणां लोके अक्षितं उपजीवति ) पितृदेवोंमें अक्षय-ताके भीषित रहता है ॥ ४ ॥

( पञ्च-अ-पूर्वं ) पावोंको न सजानेवाले ( लोकेन संमितं ) जनता द्वारा समानित ( शिति-पादं अर्षिं ) हितकोंको गिरानेवाले संरक्षक कर भागको ( प्रदाता ) देनेवाला ( सूर्यान्नास्योऽक्षितं उपजीवति ) सूर्य और चन्द्रके साक्षिपथमें अक्षयताके साथ जीवित रहता है ॥ ५ ॥

( इरा इव ) भूमिके समान तथा ( महत् पयः समुद्र इव ) बड़े जलनिधि महासागरके समान और ( स-वासिनी देवी इव ) साथ साथ निवास करनेवाले प्राणरूप देवोंके सभान ( शितिपात् न उपदस्यति ) हितकोंको दबानेवाला यह भाग विनाश नहीं करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ— यह दिया हुआ कर प्रजाके सब अभ्युदयके संकल्पोंको पूर्ण करता है, दुष्टोंका दमन करता है, दुष्टोंका शासन करता है, राष्ट्रका विस्तार करता है, योद्धा प्रभाव बढ़ाता है और जागीर अक्षितव्य स्थिर रखता है, साथ साथ घट जनताके मनोरथ पूर्ण करता है और किसी भी प्रकार प्रजाका नाश नहीं करता ॥ २ ॥

इसलिये सब लोग राजाको यह कर देना पसन्द करते हैं । जो लोग दुष्टोंको दबाकर सज्जनोंका प्रतिपाल करनेवाला गद्द कर राजाको देते हैं, वे मानो, सब पूर्ण स्थानको प्राप्त करते हैं, फिर उस स्थानमें कोई बलवान मनुष्य निर्बलके जरूर दबाये धन लेनेवाला नहीं रहता और न कोई निर्बल मनुष्य अपनी शांति हीनताके कारण बलवानके लिये धन अर्पण करता है ॥ ३ ॥

यह कर पञ्चवनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंको दबानेवाला और सत्पुरुषोंका शासन करनेवाला है, इसलिये सब जनता इसको राजाके पास समर्पण करती है । जो लोग यह कर देते हैं वे संरक्षकोंकी रक्षामें सदा सुप्रसिद्ध रहते हैं ॥ ४ ॥

यह कर पञ्चवनोंको न गिरानेवाला, दुष्टोंका दमन करनेवाला, सज्जनोंका शासन करनेवाला है, इसलिये सब लोग आनन्दपूर्वक राजाको यह कर देते हैं । जो कर देते हैं वे सूर्य और चन्द्रमाके प्रकाशमें सुखी रहते हैं ॥ ५ ॥

दुष्टोंको दबानेके लिये दिया हुआ यह कर भूमिके समान आधार देनेवाला, समुद्रके जलके समान शांति देनेवाला और प्राणोंके समान सबका रक्षक होता है और किसीका विनाश होने नहीं देता ॥ ६ ॥

क इदं कस्मा अदात्कामः कामायादात् ।

कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामः समुद्रमा विवेश ॥

कामेन त्वा प्रति गृह्णामि कामैवत्ते

॥ ७ ॥

भूमिष्वा प्रति गृह्णात्वन्तरिक्षमिदं महत् ।

माहं प्राणेन मात्मना मा प्रजया प्रतिगृह्ण वि राधिषि

॥ ८ ॥

अर्थ— ( कः इदं कस्मै अदात् ) किसने यह किसको दिया है ? ( कामः कामाय अदात् ) मनोरथने मनोरथको दिया है । ( कामः दाता ) काम ही दाता है, ( कामः प्रतिग्रहीता ) काम ही लेनेवाला है, ( कामः समुद्रं आविवेश ) काम ही समुद्रमें प्रविष्ट होता है । ( कामेन त्वा प्रतिगृह्णामि ) इच्छासे ही तेरा स्वीकार करता हूँ । हे काम ! ( पतत् ते ) यह सब तेरा ही है ॥ ७ ॥

( भूमिः ) पृथ्वी और ( इदं महत् अन्तरिक्षं ) यह बड़ा अन्तरिक्ष ( त्वा प्रतिगृह्णानु ) तेरा स्वीकार करे । ( माहं प्रतिगृह्ण ) मैं श्राव करके ( प्राणेन आत्मना, प्रजया ) प्राणसे, आत्मासे और प्रजासे ( मा मा मा विराधिषि ) न भूलम हो आर्ज ॥ ८ ॥

भाषार्थ— भला, यह कर कौन किसको देता है ? काम ही कामको देता है । इस जगत्में मनकी इच्छा ही देने और लेनेवाली है । यही कामना मनुष्यको समुद्रपर धमण कराती है । इस कामसे ही मनुष्य बड़ी आपत्तियों स्वयं शिरपर लेता है । यह सब जगत्का व्यवहार कामकी महिमा ही है ॥ ७ ॥

इस पृथ्वीपर और आकाशमें कामनाका हो संचार हो रहा है । इस कामनाका विस्तार करता हुआ मैं प्राण, आत्मा और प्रजासे पुर न होऊँ ॥ ८ ॥

### राज्यशासन चलानेके लिये कर ।

राजा राज्यका शासन करता है । इस महारथपूर्ण कार्यके लिये प्रजा उसको ' कर ' समर्पण करती है । इस करका प्रमाण किन्ना होना चाहिये, अर्थात् प्रजा अपनी प्राप्तिदा क्रियाओं भाग राजाको समर्पित करे, और राजा उस धनका किन कार्योंमें उपयोग करे, इस विषयका स्पष्टता इस सूक्तमें किया है । अतः राज्यशासनका विचार करनेवालोंको यह सूक्त बड़ा बोधप्रद है ।

### प्राप्तिका सोलहवाँ भाग ।

प्रजाको जो आमदनी होती है, उसका सोलहवाँ भाग राजाको देनेके लिये राजसभाके समापद अलग बराने हैं यह वर्णन यदने ही मंत्रमें है—

यमी समापदः दद्यात्पुण्यं योजयति विभज्यते ॥

( ए. २९, मं. १ )

' राजसभाके वे समापद प्रजाकी प्राप्तिसे सोलहवाँ भाग अलग बराने हैं ' और यह धेतृश्री भाग राजाको प्रजासे

मिलता है । यह कर है जो राजाकी राज्य चलायनेके लिये देना चाहिये । धेतृशे जो धान्य उत्पन्न होगा उसका सोलहवाँ भाग राजाको प्राप्तसभाके समापद लेकर समर्प करे । जो उत्पन्न होगा उसका सोलहवाँ भाग लेना है । अर्थात् साधारण सेनी बरानेवालोंसे हर एक धान्यके रूपमें ही यह कर लिया जायगा । धान्य उत्पन्न करनेवालोंसे धनके रूपमें नहीं लेना है, प्रत्युत जो पदार्थ उत्पन्न होगा उस पदार्थका सोलहवाँ भाग लेना है । जिस पदार्थका भाग हो नहीं सकता उसके मूल्यका सोलहवाँ भाग लिया जायगा तथा जो वैश्य धन कमाते होंगे, उनके उसकी कमाईका यह भाग धनके रूपमें लिया जायगा । हर देवके विषयमें यह वेदकी आज्ञा सुरपट दिखाई देती है और हर वर प्रजाके लिये कभी अघरा नहीं हो सकता ।

उत्पन्नका सोलहवाँ द्रिशा लेनेके लिये वेदकी आज्ञा है एतदनुष्मन् यमी भाग लेनेका करती यदि हुई है और अतः कन हो गई गुणा यदि हुई है । इस मंत्रमें ' विभज्यते ' किया वर्णमानकालकी है । राजसभाके समापद लने उत्पन्न देकर उत्पन्न सोलहवाँ भाग अलग बराने हैं, अर्थात्

सेतमें धान्य तैयार होनेपर धान्यकी राशीके पास जाते हैं और उसके सोलह भाग करके एक भाग राजप्रबंधके लिये ले लेते हैं। केवल अंदाजासे नहीं लेते, परंतु प्रत्यक्ष प्राप्ति देखकर उसमेंसे उक्त भाग लेते हैं, यह बोध वर्तमान कालवाचक 'अग्नी सम्रासदः विभजन्ते' इस वाक्यसे प्राप्त होता है। अकालके दिनोंमें धान्य कम उपज हुआ तो कर कम लेते हैं, और सुकालमें अधिक उत्पत्ति हुई तो अधिक लेते हैं। आज-कलके समान सुकाल और अकालमें एक जैसे प्रमाणसे नहीं लेते। पाठक यह वैदिक रीति देखें और इसकी विशेषताका अनुभव करें।

### प्राक्तिक दो साधन।

आमदनीके दो मार्ग होते हैं, एक 'इष्ट' और दूसरा 'पूर्त'। मनुष्य जो अपनी इच्छानुसार अभीष्ट व्यवहार करते हैं और उससे कमाई करते हैं, उसको 'इष्ट' कहते हैं, इसमें उपयोगधंदे, शिल्प आदिका समावेश होता है, इसमें कर्ताकी इच्छापर व्यवहारकी रक्षा निर्भर है। दूसरा है 'पूर्त'। इसमें स्वामीकी इच्छा ही या न हो, आमदनी होती रहती है, जैसे वागसे फलादिकोंका उत्पन्न होना, छापिस धान्य मिलना, पहे-लेखे बड़े हुए बुझोंसे फल प्राप्त होना इ०। फलां हुई पूर्वे व्यवस्थासे जो प्राप्ति होती है उसका नाम पूर्त है, जमींदारीकी जो उत्पन्न होता है वह 'पूर्त' है क्योंकि जमींदारके प्रयत्न न करनेपर भी वह इसके कौशिकी पूर्तता करता रहता है। इष्ट व्यवहारका नैसा नहीं है; वह इच्छापूर्वक कामपटा करके वाफ लता होनेपर प्राप्ति होती है, यह प्रयत्नसाध्य है। इष्ट और पूर्तमें यह भेद है। मनुष्योंके व्यवहारोंके ये मुख्य दो भेद हैं।

आश्रक 'इष्ट' का अर्थ 'यशसाय' और 'पूर्त' का अर्थ सर्वजनोपयोगी कृप, तालाव, धर्मशाला आदि करना समझते हैं, इन शब्दोंमें यह अर्थ है, परंतु यह केवल एक ही भाग है। इन शब्दोंके संपूर्ण अर्थ केवल ये ही नहीं हैं। इष्ट समय विचार करनेके सूक्तमें 'प्रजाकी आमदनीसे सोलहवा भाग कर रूपसे लिया जाता है' ऐसा कहा है। उक्त प्रसंगमें 'यश और कृपे' का सोलहवा भाग राजा लेता है ऐसा मानना अयोग्य है, इधर-लिये चारों वर्णोंके व्यवहारकी दृष्टि होनेवाला और जिससे राजाको सोलहवा भाग कर रूपसे प्राप्त हो सकता है वैया अर्थ ऊपर लिया है। यहीद्वि अर्थ अनेक प्रसंगमें प्रजाके कुलतथा जो प्राण होया उसका कुल भाग राजाके वश संवर्धनके लिये उसको उपाय होकर सकता होगा। परंतु इससे संपूर्ण राजव्यवसाय नहीं चल सकता, अतः आमदनीके विषयका अर्थ ही यही लेना योग्य है।

उक्त प्रकारकी रीतिसे दो प्रकारके व्यवहारोंसे होनेवाली प्राप्तिका सोलहवा भाग राजाके सम्रासद राज्यशासन चलायके

लिये प्रयासे कर रूपमें लेते हैं, यह प्रथम मंत्रार्थका कथन है। यहा राजाका भी लक्षण देवना चाहिये—

### राजा कैसा हो।

इष्ट सूक्तमें राजाका नाम 'यम' आ गया है। यमका अर्थ 'स्वार्थीन रखनेवाला, नियमसे चलनेवाला, धर्मका पाठन करनेवाला' है। 'यम-धर्म' इस शब्दसे भी यमसे धर्मका संबंध स्पष्ट होता है। राज्य चलायके जो धर्मनियम होते हैं उनके अनुसार राज्यशासन करनेवाला राजा यही इस शब्दसे बोधित होता है। इससे स्पष्ट है कि यहाका राजा मनमानी बातें करनेवाला नहीं है, प्रत्युत राजधर्मके नियमोंके अनुसार तथा जनताके प्रतिनिधियोंकी समिति अनुसार राज्य चलाय-खाता है। यह राजा राजसमाज सदस्योंके मतसे और धर्म-नियमोंसे यह है, ईच्छाचारी नहीं है। मनुष्य इसके राज्यमें—

### अग्नी सम्रासदः राजानः। (सू. १९, म. १)

'राजसभाके ये सम्रासद ही राज्यशासन करनेवाले राजा हैं।' राजा तो नाम मान अधिकारी रहकर, उन सम्रासदोंकी समझसे जो नीति निश्चित होती है, उसके अनुसार राज्य-शासन चलायत रहता है। वेदोंका यह नियमबद्ध राक्षता यही देखने योग्य है। इस राजाका राजसभाके सदस्य प्रजाकी आमद-नीका सोलहवा भाग राज्यशासनके व्यवक लिय प्रयासे करके रूपमें लेते हैं। इसका उपयोग कैसा किया जाता है, यह अक्ष देखिये। यह प्रयासे प्राप्त होनेवाला कर क्या क्या करता है इस विषयमें इस सूक्तका वर्णन बड़ा मनोरंजक है। इसका विचार करनेसे हमें पता लग सकता है कि प्रजाके दिये हुए करवा राजा कैसा उपयोग करता है। देखिये—

### करका उपयोग।

राजा जो कर जनतासे लेता है, उसका व्यव किन बातोंके लिये किया जावे, इसका वर्णन निम्नलिखित शब्दोंसे इस सूक्तमें किया है। 'यह कर निम्नलिखित बातें करता है' ऐसा वर्णन इस सूक्तमें आया है, इस सूक्तका कथन है कि प्रजाद्वारा दिया हुआ कर निम्नलिखित बातों करता है—

(१) अयिः = (अपति इति अयिः) = रक्षा करता है, जनताकी अपवा राक्षता रक्षा करता है। प्रयासे लिया हुआ कर ही प्रजाकी रक्षा है। (म. १, १-५)

(२) स्पधा = (स्वस धारणा) = अपनी अपराध प्रजाकी धारणा करता है। राक्षकों धारणा शक्ति काही बढ़ती है। कर लेकर राजा ऐश प्रबंध करता है कि जिससे प्रजाकी समर्पणा बढ जाती है। (मं. १)

- ( ३ ) पञ्चापूषः = ( पञ्च + अ + पूषः - पूषते विशी-  
यते इति पूषः । न पूषः अपूषः । पञ्चानां  
अपूषः पञ्चापूषः )— जो अलग अलग होता  
है अर्थात् जिसके साथ बिछरे पड़ते हैं उसका नाम  
'पूष' है । तब जिसके साथ संघटित एक दूसरेके  
साथ अच्छी प्रकार मिले जुले होते हैं उसको 'अ-  
पूष' कहते हैं । परब्रह्मोक्तो संघटित-संघटनयुक्त-  
करता है अर्थात् परस्पर मिलाकर रखता है, जिससे  
पाँचों प्रजाके आत्मनः, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, निषादोंका  
अभेद्य संघ होता है उसका यह नाम है । राजा प्रजासे  
कर लेता है और प्रजाको संघशक्ति बढ़ाता है ।  
( सं. ४, ५ )
- ( ४ ) अयन् = होना, अस्तित्व रखना । प्रजासे कर लेकर  
राजा ऐसे कार्योंमें विनियोग करता है कि जिनसे  
प्रजाका अस्तित्व चिरकाल रहता है । ( सं. २ )
- ( ५ ) आभयन् = धन ऐश्वर्यसंयुक्त होना । राजा करका  
ऐसा उपयोग करता है कि जिससे प्रजा प्रतिदिन  
अधिकाधिक संपत्तिमान होती जाय । ( सं. २ )
- ( ६ ) मययन् = प्रभावशाली । प्रजासे कर प्राप्त करके  
राजा लगभग विनियोग ऐसे कार्योंमें करता है कि प्रजा  
प्रतिदिन प्रभावशालिनी बनती जाय । राजवान,  
पराक्रमी और प्रभावशाली प्रजा बने । ( सं. २ )
- ( ७ ) आकृतिप्रः = ( आकृतिः ) संवत्सरोक्त ( प्र )  
पूर्ण करनेवाला कर है । अर्थात् प्रजासे कर लेकर  
राजा ऐसे कार्य करता है कि जिनसे प्रजाके मनकी  
प्रेम कामनाएं परिपूर्ण होती हैं और प्रजाकी अर्थांकित  
व्यक्ति होती रहती है । ( सं. ३ )
- ( ८ ) सवार्त्त कामार्त्त पूरयति = प्रजाकी पूर्ण उन्न-  
ति की कामनाएं पूरत और पूरत होती हैं । किसी  
प्रकार भी प्रजाकी श्रेष्ठ आकांक्षाएं निरुक्त नहीं  
होती । वह लेकर राजा ऐसा प्रबंध करता है कि  
प्रजाकी श्रेष्ठ कामनाएं पूर्ण सिद्धि निश्चयी  
प्राप्त हों । ( सं. २ )
- ( ९ ) धी... ददाति स्व नात्तं मययेति = जो ( कर )  
देता है वह ( नमस्कृत्य ) गुणपूर्ण स्थानको प्राप्त  
करता है अर्थात् राजाको वह देनेवाले लोग अपने  
देनमें गुणों रहते हैं । प्रजासे कर लेकर राजा ऐसे  
उत्तम प्रबंधसे राज्य चलाय दे, कि सब प्रजा सुखी  
होने लगे । ( सं. ३ )
- ( १० ) प्रदाता वित्तानां लोके अक्षितं उपजीव-  
यति = कर देनेवाले लोग संरक्षकों द्वारा सुरक्षित  
हुए प्रदेशमें चिरकाल आनंदसे रहते हैं । राजा  
प्रजासे कर लेने और उनकी अर्थांकित सुरक्षित रखे,  
सुरक्षित प्रबंधसे लोग सुरक्षित होकर आनंदसे रहें ।  
( सं. ४ )
- ( ११ ) प्रदाता स्यान्मासयोः अक्षितं उपजीवयति  
= कर देनेवाले लोग जैसे ( पूर्ण ) दिनमें जैसे  
( मास = वंद्याः ) रात्रिके समय भी सुरक्षित होकर  
आनंदसे रहते हैं । वह लेकर राजा राज्यशासनका  
ऐसा योग्य प्रबंध करे कि जिससे प्रजा दिनके समय  
भी सुरक्षित होवे और रात्रिके समयमें भी सुरक्षित  
होवे । ( सं. ५ )
- ( १२ ) इरा इव न उपदृश्यति = कर देनेवाली प्रजा  
पृथ्वीके समान ध्रुव रहती है अर्थात् उस प्रजाका  
नाश कोई नहीं कर सकता । ( सं. ६ )
- ( १३ ) महत् पयः समुद्र इव न उपदृश्यति = कर  
देनेवाली प्रजा बड़े जलसे भी नहरे महासागरके  
समान बड़ा गंभीर और प्रगाढ़ रहती है । छोटी  
जलसागरके समान छूट होकर नावकी नहीं प्राप्त  
होती । ( सं. ६ )
- ( १४ ) सयसितनैः देवैः इव न उपदृश्यति = छाप  
छाप रहनेवाले हो देव, आस और सप्तर्षिके  
समान यह कर राजा प्रजाको रखा करता है अर्थात्  
जिस प्रकार प्राणिके व्यापारसे सब शरीर सुरक्षित  
रहता है उसी प्रकार प्रजासे मिलनेवाला कर राजाको  
सुरक्षित रख सकता है । ( सं. ६ )
- ( १५ ) तस्मात् प्रमुञ्चति = उस महामनसे मुक्त करता  
है । यह दिया हुआ कर प्रजाको महामनसे  
बचाता है । ( सं. ७ )
- ( १६ ) शिति-पात् = ( शीतने इति शिति शब्द,  
शिति कर्मवाच्य ) 'शिति' का कर्म है नाश, वह  
नाशका वस्तु जो करता है अर्थात् नाशने जो बचाता  
है, उसको 'शिति-पात्' कहते हैं । यह कर प्रजाको  
विनाशसे बचाव करता है । ( सं. ७-८ )
- ( १७ ) मययेन मययिष्ये मुमुक्षुः न शिष्यते = जिसने  
मुमुक्षु अर्थात् निवेद्यमान करने प्रयत्नको धन नहीं  
देना । अर्थात् वह कर निर्वर्त मुमुक्षुओंका बन्धन  
अलगावार्थ पूर्ण बचाव कर रहता है । ( सं. ८ )

प्रजासे कर लेकर राजाको इतनी बातें करना चाहिये । यहाँ लख दिने हुए ये सतरह वाक्य इस सूक्तमें विनियम बद्धत्वपूर्ण स्थान रखते हैं । इनका विचार इसी दृष्टिसे पाठक अधिक करें और राज्यशासनके संबंधमें योग्य बोध प्राप्त करें । साधारण सूचना करनेके लिये पूर्वांक वाक्योंसे प्राप्त होनेवाला बोध पुनः संक्षेपसे यहाँ देते हैं—

( १ ) राजा अपनी प्रजासे कर लेने और उसका उपयोग प्रजाकी योग्य प्रयत्नकी रक्षा करनेमें, ( २ ) प्रजाकी सब प्रकार की पारणाशिका और समर्थता बढ़ानेमें, ( ३ ) जमीन, घर, घोषागरी, कारोगर और अन्य लोगोंकी संपत्तिके बढ़ानेमें, इन सबको संप्रतिष्ठ करनेमें, ( ४ ) इनका राष्ट्रीय और जातीय अस्तित्व सुरक्षित रखनेमें, ( ५ ) प्रजाकी ऐश्वर्यसंपन्न करनेके कार्योंमें, ( ६ ) प्रजासंबन्धी प्रभावशाली बनानेमें ( ७ ) संपूर्ण राष्ट्रीय सब लोगोंकी सब श्रेष्ठ आकांक्षाओंकी सफलता करनेके साधन निर्माण करनेमें, ( ८ ) सब जनोंकी श्रेष्ठ कामनाओंकी पूर्ति करनेके साधन समर्पित करनेमें, ( ९ ) राष्ट्रीय दुख दूर करनेमें, ( १० ) राष्ट्रीय रक्षा करनेके लिये संरक्षकगण नियुक्त करनेमें, ( ११ ) जैसे दिनमें जैसे रात्रिमें भी निर्भय होकर लोग सर्वत्र संचार कर सकें ऐसी निर्भयता संपूर्ण राष्ट्रीय सदा स्थिर रखनेके कार्योंमें, ( १२-१४ ) जनतामें भूमिके समान भुक्त, जलनिधि समुद्रके समान समीर और प्राणिके समान जीवन भुक्त करनेके कार्योंमें, ( १५-१६ ) भय और विनाशसे प्रजाको बचानेके प्रयत्नोंमें, तथा ( १७ ) बलवान् मनुष्य निर्बलके ऊपर अत्याचार न करें, ऐसा सुप्रबल संपूर्ण राज्यभरमें करने के कार्योंमें करें ।

प्रजासे लिये हुए करका उपयोग इन कार्योंमें करना राजाका कर्तव्य है । पूर्वांक वाक्योंसे यहाँ भाव प्रकट हो सकता है । पाठक विचार करें इन वाक्योंसे और इन शब्दोंसे अधिक बोध प्राप्त करें । जो राजा प्रजासे कर लेता हुआ इसका उपयोग इन कर्तव्योंसे भिन्न केवल अपने ही स्वार्थसाधनके कार्योंमें करना वह राज्य चलानेके लिये असंगत होगा । यह इस सूक्त द्वारा वेदकी घोषणा समझना चाहिये ।

### स्वर्ग सङ्ग्राह राज्य ।

जिस राज्यमें राजा प्रजासे कर लेकर पूर्णरूपेण प्रजाकी लक्ष्मी रक्षा करता है, वह स्वर्गके सदस्य ही राज्य है और जहाँ करोंसे प्राप्त हुए धनका उपयोग प्रजाके वचन बढ़ानेमें होता है, वह नरकके सदस्य राज्य है । स्वर्गराज्यके लक्षण इसी सूक्तमें कहे हैं, उनको भय नहीं देखिये—

### १ स नाकं व्यभेति

२ यत्र शुद्धको न क्रियते ज्वलेन चलीयसे ।

( सू. २१, मं. २ )

( १ ) कर देनेवाले मनुष्य स्वर्गप्राप्तमें पहुँचते हैं, ( २ ) जहाँ निर्बल मनुष्यकी बलवान् मनुष्यके लिये धन देना नहीं पड़ता । यह स्वर्ग सदस्य राज्यका लक्षण है । जहाँ जिस राज्यमें निर्बल मनुष्यका केवल निर्बल होनेके कारण ही बलवान् मनुष्यके सामने शिर झुकाते हुए अपने पासका धन संप्रदायके रूपमें देना नहीं पड़ता, वह स्वर्गप्राप्त है । और जिस राज्यमें बलवान् मनुष्य निर्बलके लिये जो चाहे सो अत्याचार करते हैं और इन अत्याचारोंके कारण कोई उनको बलता तक नहीं और जहाँ निर्बल मनुष्य केवल बलहीन होनेके कारण ही पीसे जाते हैं, वह नरक है । 'नर-क' का अर्थ 'हीन मनुष्य, छोटा मनुष्य, नीचली श्रेणीका मनुष्य' है । जिस राज्यमें हीन मानवाचारे मनुष्य होते हैं वह नरकराज्य है और जहाँ भय भावनावाले मनुष्य होते हैं उसको स्वर्गराज्य कहते हैं ।

आज्ञापोषा ज्ञानका बल, क्षत्रियोका अधिकारका बल, वैश्योका धनशक्त बल, शूद्रोका शारीरिक बल, और निष्ठादोका केवल शारीरिक बल होता है । ये लोग यदि स्वार्थी हुए तो इन बलोंसे क्रोधित होकर अप्योपर अत्याचार करते हैं । ऐसा अत्याचार कोई किसीपर न करे और सबको धर्मके आश्रयसे अनुप्राप्त नियमक समानताका दर्जा हो, ऐसा राज्यव्यवस्थाका प्रबंध रखना राजाका परम कर्तव्य है जहाँ ऐसा उत्तम प्रबंध होता है और जिस राज्यमें शासनव्यवस्थाके आश्रयसे निर्बल मनुष्य भी बलवान् मनुष्यके अत्याचारके सामने अपनी रक्षाके लिये खड़ा रह सकता है, और केवल निर्बलताके कारण पीसा नहीं जाता, वही राज्यशासन पद्धति वेदकी दृष्टिसे अत्यंत उत्तम है । वही 'वैदिक राज्य' है ।

### कामनाका प्रभाव ।

पूर्वोक्त प्रकार राज्यव्यवस्था करना या अन्यथा वैदिक आज्ञाओंके अनुसार मनुष्योका सुधार करनेके लक्ष्य करना या न करना, यह सब मनुष्यकी कामना इच्छा-सदृश-आकांक्षा आदिसे होता है । मनुष्यके जो इच्छा होती है वेसा मनुष्य चलता है और वैसा ही मनुष्य व्यवहार करता है । यह मनुष्यके लिये ७ वें और ८ वें मंत्रका उपदेश है । इसका पहला ही प्रयोग देखिये—

प्रश्न—इतने धन कैसे बढ़ाएँ ? यह काम किसे होना है ।

उत्तर— कामः कामाय वादात् = काम ही कामके लिये देता है ।

कामः ज्ञाता, कामः प्रतिप्रदीता = काम ही देने और लेनेवाला है ।

ये मंत्रभाग वहे महत्त्वपूर्ण उपदेशको देनेवाले हैं । मनुष्यके मनके अंदर जो इच्छा है, जो महत्वाकांक्षा है, जो कामना है वही मनुष्यको दाता बनाती है और उर्ध्वतर दूसरा मनुष्य दान लेनेवाला बनता है । राजा राज्य करता है, ऐनिक शुद्ध करते हैं, नाकर मोक्षी करते हैं, कोई किसीको कुछ देता है और दूसरा देता है, वह सब व्यवहार मनके अंदरकी इच्छाके कारण होते हैं । मानी, यह काम ही सबसे ये व्यवहार करा रहा है यहातक की—

काम समुद्रं आविवेशः । ( सू. २९, म. ४ )

‘ काम ही समुद्रमें डुबा है । ’ अर्थात् समुद्रपर भी इच्छा कामका ही राज्य है । पृथ्वीको छोड़कर जो मनुष्य समुद्रमें जहाजोंमें बैठकर भ्रमण करने जाते हैं वे भी कामकी सा प्रेरणासे ही जाते हैं । और कोई विमान द्वारा आकाशमें उड़ते हैं वे भी कामकी प्रेरणासे ही उड़ रहे हैं । इस प्रकार इस जगत्का सब व्यवहार कामनाकी प्रेरणासे ही रहा है । ‘ भूमि चार अंतरिक्षमें भी सर्वत्र काम ही काम अर्थात् कामनाका राज्य है । ’ ( मं. ८ ) सब इसीकी आज्ञाके अनुसार चिग रहे हैं । देखिये—

काम ! एतत्तु । ( सू. २९, मं. ४ )

‘ हे काम ! यह तेरा ही महाराज्य है ’ तेरा ही शासन सब पर है । हीन तेरे शासनमें बाहर है । कामका स्वीकार करनेवाले कामी लोग जैसे अपने मनकी कामनासे प्रेरित होते हैं, उर्ध्व प्रहार कामका रक्षण करनेवाले निरक्ष लोग भी उसी कामनासे ही प्रवृत्त होते हैं, तात्पर्य कामका सर्वोपरी शासन है ।

**कामकी मर्यादा ।**

कामना घुरी है तेजा बर्धन है । यदि काम एक प्रकार सब पर शासनविशाल चरगा है और मोगी और रक्षणी दोनों उर्ध्वके आशीन रहते हैं तो फिर कामका स्वयं कैसे हो सकता है ? इस प्रकार उत्तर अष्टम मंत्रके उत्तरार्धमें दिया है । इस मंत्रभागमें बहोतबड़े कामका स्वाकार करना और बहाति आगे कामको दामना इस महत्त्वपूर्ण विषयका विवेचन किया है । वह निम्न अथ देगिये—

प्रतिगृह सह आगमना मा विराधिति,

अहं प्राणिन मा विराधिति,

अहं प्रजया मा विराधिति । ( गृ. २०, मं. ८ )

‘ काम ! तेरा स्वीकार करके, मैं अपनी आत्मशक्तिको न छोड़ूँ, मैं अपनी प्राणशक्तिको न छोड़ूँ, और मैं अपने प्रजननको भी न छोड़ूँ । ’ यहातक जितना काम स्वीकार जा सकता है, उतना मनुष्यके लिये लाभदायी हो सकता है । काम विषयका अत्याचार हरएक इन्द्रियके कार्यक्षेत्रमें हो सकता है, परंतु इसका विशेष कार्यक्षेत्र जननेन्द्रियके साथ संबध रखता है । इस इन्द्रियसे विशेष अत्याचार करनेसे आत्माका नुक़म होता है, जीवनकी मर्यादा तथा प्राणकी शक्ति क्षीण होती है और सन्तान उत्पन्न करनेकी शक्ति भी न्यून होती है और ऐसे कामी पुरुषकी जो भी सन्तान उत्पन्न होते हैं वे भी क्षीण, बलहीन और दीन होते हैं । इस प्रकारका घातपात न हो इस लिये कामका संयम करना आवश्यक है । संयमकी मर्यादा यह है कि ‘ उस मर्यादातक कामका उपयोग लिया जावे कि जहाँ तक लेनेसे अपनी आत्माकी शक्ति, प्राणकी शक्ति और प्रजनन शक्ति क्षीण न हो सके, इससे अधिक कामका भोग करनेसे हानि है । ’

इस मंत्रमें सभी इन्द्रियोंके संबंधमें कामका उपयोग लेनेकी मर्यादा बड़ी है, यद्यपि ऊपरके उदाहरणमें हमने एक इन्द्रियको लक्ष्य करके लिखा है, तथापि बाँकठ उसी मर्यादाका कर्तृत्व इन्द्रियोंके कार्यक्षेत्रमें पड़ाकर योग्य बोध प्राप्त करें ।

कामका यह साम्राज्य सर्वत्र जगत्में है । विशेषकर मानवी प्राणियोंमें हमें विचार करना है । इस राज्यव्यवस्थाका उपदेश देनेवाले इस सूक्तमें इस काम विषयके ये मंत्र रखे हैं और कामकी धर्ममर्यादा और अपमर्यादा भी बता दंते हैं, इसका देव्य यह है कि राजा अपने राज्यमें ऐसा राज्यप्रबंध करें कि निश्चये प्रजाजन काम विषयक धर्ममर्यादाका उल्लंघन न करें और अपने आत्मा, प्राण और प्रजननकी शक्तिके शुक्रही और सब उत्तम शक्तिके स्वर्गस्वरूप राज्यका आनंद प्राप्त करें । प्रजाले लिये हुए कदा इस व्यवस्थाके लिये कथ्य करना राजाका आशयक कर्तव्य है । करते ये कार्य होते हैं और प्रजा सुखी होती है, इसीलिये ( लोकन संमित । अं. ४, ५ ) ‘ प्रजादारा स्वीकृत्य और संमनित कर ’ ऐसा इसका विशेषण दिया है ।

जहाँ प्रजाले प्राप्त करका इन कार्योंके लिये उपयोग होता है, वहाँकी प्रजा सुखी और आभुदय तथा नित्यसुखी प्राप्त करनेवाली होती है । यदि कथमी ऐसा प्रबंध करे कि प्रजाले अपने देगमें, तथा अन्यत्र देगोंमें, दूसरी प्रकारके वैदिक आदर्शोंके चलेनेवाले और चलाये जानेवाले राज्य हो और कोई राज्य व्यवस्थाके वैदिक आदर्शों पर न रहे ।



# एकता ।

( ३० )

( अग्निः — अथर्व । देवता — चन्द्रमाः )

सहृदयं सामनुस्यमविद्वेषं कृणोमि वः ।

अन्यो अन्यमग्निं हर्षत वृत्तं जातमिवाग्न्या

॥ १ ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।

जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिशाम्

॥ २ ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विषन्मा स्वसारमुत स्वसा । सम्मञ्चः सप्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः । तत्कृणो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

अर्थ— ( स-हृदयं ) सहृदयता अर्थात् प्रेमपूर्ण हृदय, ( साम-नुस्यं ) सामनस्य अर्थात् मन शुभ विचारोंसे पूर्ण होना और ( अ-विद्वेषं ) परस्पर निर्द्वेषता ( वः कृणोमि ) तुम्हारे लिये मैं करता हूँ । तुम्हारेमेंसे ( अन्यः अन्यं अग्निं हर्षत ) हर एक परस्परके ऊपर प्रीति करे ( अन्यथा ज्ञातं वृत्तं इव ) जैसे यौ उत्पन्न हुए बछड़ेकी प्यार करती है ॥ १ ॥

( पुत्रः पितुः अनुव्रतः ) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करनेवाला और ( मात्रा संमनाः भवतु ) माताके साथ व्रतम मनसे रहनेवाला होवे । ( जाया पत्ये ) पत्नी पतिसे ( मधुमतीं वाचं वदतु ) मधुर और शांतिसे पुत्र आपण करे ॥ २ ॥

( भ्राता भ्रातरं मा द्विषन् ) भाई भाईसे द्वेष न करे, ( इत स्वसा स्वसारं मा ) और बहिन बहिनसे द्वेष न करे । ( सम्मञ्चः सप्रताः भूत्वा ) एक मतवाले और एक कर्म करनेवाले होकर ( भद्रया वाचं वदत ) व्रतम रीतिसे आपण करी ॥ ३ ॥

( येन देवाः न वियन्ति ) जिससे व्यवहार चलानेवालोंमें विरोध नहीं होता है, ( च नो मिथः विद्विषते ) और न कभी परस्पर द्वेष करता है, ( तत् संज्ञानं ब्रह्म ) वह एकता ब्रह्मनिवात्य परम उत्तम ज्ञान ( वः गृहे पुरुषेभ्यः कृणः ) देवोंके घरके मनुष्योंके लिये दान करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ— प्रेमपूर्ण हृदयके आव, मनके शुभ विचार और आपसकी निर्द्वेषता आप अपने घरमें स्थिर कीजिए। तुम्हेंमेंसे एक एक मनुष्य दूसरे मनुष्यके साथ ऐसा प्रेमपूर्ण बर्ताव करे कि जिस प्रकार नवें उत्पन्न हुए बछड़ेसे अपनी गौ मता प्यार करती है ॥ १ ॥

पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ मनके शुभ भावसे व्यवहार करे । पत्नी पतिसे हृदय मधुर रखती रहे ॥ २ ॥

भाई भाईसे द्वेष न करे, बहिन बहिनके साथ न लड़े । एक मतसे एक कर्म करनेवाले होकर शांतिपूर्ण वचन आपण करी ॥ ३ ॥

जिससे कार्यव्यवहार चलानेवालोंमें कभी विरोध नहीं हो सकता और कभी आपसमें गद्गद् भाव नहीं है, देवा मनुष्य ज्ञान दान अपने घरमें बढावा ॥ ४ ॥

ज्वायंम्वन्तश्चिचिनो मा नि यौष्ट संराघयन्तः सपुंराश्चरन्तः ।

अन्यो अन्यस्मै वन्तु वदन्त एतं सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोमि

॥ ५ ॥

समानो प्रया सह योऽस्रमागः समाने योवत्रे सह यौ युनज्मि ।

सम्यञ्चोऽग्निं संपर्यतारा नार्भिमिश्रामितः

॥ ६ ॥

सध्रीचीनान्वः संमनसस्कृणोभ्येकंक्षुष्टीन्संवनेन सवौ ।

देवा ईशामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः गौमनुषो यो अस्तु

॥ ७ ॥

लाम पहुँचा सकते हैं, परंतु हृदयमें दोष रह तो बाह्य सुधारसे कुछ भी लाम नहीं हो सकता । इसलिये इस सूक्तमें हृदयके सुधार करनेकी सूचना सबसे प्रथम कही है—

१ सहृदयं- ( स-हृदयं ) = हृदयके भावकी समानता ।  
अर्थात् दूसरेके दुःखसे दुःखी और दूसरेके सुखसे सुखी होना । ( मं. १ )

जिनके हृदय ऐसे होते हैं वे ही जनतामें एकता करने और एकता बनाके कार्य करनेके अधिकारी होते हैं । जो दूसरेको दुःखी देखकर दुःखी नहीं होता वह जनताको किसी प्रकार भी सहा नहीं सकता । हृदयका सुधार सबसे मुख्य है । इसके बाद वेद कहता है—

१ सां-मनस्य- ( सं-मनसः ) = मनका उत्तम गुण संस्कारोंसे पूर्ण होना । मन शुद्ध और पवित्र मान-नाओं और श्रेष्ठ विचारोंसे युक्त होना । ( मं. १ )

मनके आधीन संपूर्ण इंद्रियाँ होती हैं । इसलिये जैसे मनके विचार होते हैं वैसी ही अन्य सब इंद्रियोंकी प्रवृत्ति होती है । इसलिये अन्य इंद्रियोंसे उत्तम प्रवृत्तय सब कार्य होनेके लिये मनके शुभ संकल्पमय हेतिका अत्यंत आवश्यकता है । पूर्ण प्रकार सहृदयता और सामनस्यता सिद्ध होनेके पश्चात् मनुष्यका बाह्य व्यवहार कैसा होना चाहिये यह भी इसी मंत्रने तीसरे शब्द द्वारा कहा है—

बाह्यका सुधार ।

१ अ-विद्वेष- = द्वेष न करना । एक दूसरेके साथ परस्पर द्वेष न करना । आपसमें शत्रुता न करना । ( मं. १ )

यह शब्द बाह्य व्यवहारका सुधार करनेकी सूचना देता है । मनुष्यका व्यवहार कैसा हो ? इस प्रश्नका उत्तर यह है कि 'मनुष्यका व्यवहार ऐसा हो कि जिसमें कोई किसीका द्वेष न करे ।' यह मनुष्यके व्यवहारका आदर्श है । द्वेष न हो । शत्रुता न हो । दो मनुष्य एकद्वे आसंय तो किसी न किसीकी निन्दा करनेकी बात मुक्त होती है, नीच मनुष्योंका यह स्वभाव ही बना है । परंतु सज्जनोंकी ऐसा करना योग्य नहीं है । वे अपना आचरण निर्दोषताकी भावसे परिपूर्ण रखें ।

निर्वैरताका व्यवहार करनेका तात्पर्य क्या है ? दो परस्पर या दो वृक्ष साथ रहते हैं और निर्वैरताके साथ रहते हैं । क्या वृक्ष प्रत्येक जग निर्दोषता नहीं समीट्ट है ? नहीं नहीं, यही शब्द 'अ-विद्वेष' शब्द परस्परके प्रेमपूर्ण व्यवहारका सूचक है । सबसे प्रथम सहृदयता और सामनस्यता करी है, इनसे कमज-

हृदय और मनकी शुद्धि हुई । ये परिशुद्ध हृदय और मन जो अविद्वेषका व्यवहार करेंगे वह दो परस्परोंके आपसके व्यवहार जैसा जग नहीं हो सकता । इस अविद्वेषके व्यवहारका उदाहरण ही इस प्रथम मंत्रके उत्तारार्थमें दिया है—

मन्यो अन्यममि हयंत, वरसं जातमिवाभ्या ।

( सू. १०, मं. १ )

'एक दूसरेके साथ ऐसा प्रेम कर कि जैसा मैं अपने नये जन्मे मछड़ेके साथ प्रेम करती है ।' निर्वैरताका यह उदाहरण है । अविद्वेषके व्यवहारका दृश्य रूप गौ माताका अपने नवजात मछड़ेके व्यवहार है । गौका प्रेम अपने मछड़ेसे जैसा होता है वैसा अन्योसं तुम प्रेम करो । 'अ-विद्वेष' का अर्थ केवल 'वैर'का अभाव नहीं है, केवल निवेष करनेसे किसीका बोध नहीं होता है । वैर न करना, द्वेष न करना यह तो उत्तम है परंतु इसका विधावक स्वरूप है 'प्रेम करना' । अर्थात् अविद्वेषका अर्थ है दूसरे पर प्रेम करना । पहिले मंत्रमें जो तीन शब्दों द्वारा मानवी धर्मका उपदेश किया उसका ही उदाहरण उत्तर मंत्रभागमें गौके उदाहरणसे दिया और दिखा-ताया कि दूसरोंके साथ प्रेमका व्यवहार करना चाहिये । इस प्रकार करनेसे जातीय एकता सिद्ध होगी । इस उपदेशका आचरण करनेका कथ अगले मंत्रमें कहा है, उसके प्रथम शब्दे इस उपदेशके अनुष्ठान व्यवहार करनेकी रीति अगले तीन मंत्रोंमें बही है, वह गृहस्थियोंकी अवश्य मनन करना चाहिये ।

'( १ ) पुत्र पिताके अनुकूल कर्म करे, और माताके साथ उत्तम मानवाओंके व्यवहार करे । धर्मपत्नी पतिके साथ मोठा और कातिले युक्त मायण करे ॥ २ ॥ आई आईके द्वेष न करे और बहिन बहिनके साथ शत्रुता न करे, सुख मिलकर आपसमें मधुर मायण करते हुए अपने कल्याणके लिये एक कार्यमें दत्तचित्त हो आओ ॥ ३ ॥ जिससे विरोध और विद्वेष नहीं होता है ऐसा शत्रुता मुझसे करने कोशके लिये मैं देता हूँ ॥ ४ ॥ '

आदर्श कुटुंबका वर्णन कर रहे हैं । जो कुटुंब ऐसा होगा वह निःसंदेह आदर्श रूप ही होगा । पाठक इन मंत्रोंके उद्देश्यों अपने परिवारमें दालनेका यत्न करें ।

इस मंत्रोंका अर्थ करनेके समय ये सामान्य निर्देश ही यह बात मूलना नहीं चाहिये । अर्थात् 'पुत्र पिताके अनुकूल कार्य करे' इस वाक्यका अर्थ 'कन्या भी मातापिताके अनुकूल कर्म करे' ऐसा है । वषा 'आई आईके द्वेष न करे' दूसरा अर्थ 'आई बहिनसे और बहिन आईसे द्वेष न करे' ऐसा है । 'पत्नी पतिके मोठा मायण करे' इसमें 'पति भी पत्नीसे मोठा मायण

‘प्रेमपूर्वक सेवासे सभी सहायता करता हुआ मैं सबको एक ध्येयके नीचे काम करनेवाले बनाता हूँ।’ जनताका सबसे बड़ा नेता वही है कि जो जनताका सबसे बड़ा निःस्वार्थ सेवक है। सच्चा राष्ट्रकार्य, सच्ची जनसेवा करना ही मनुष्यका बड़ा भारी पक्षधर्म है। जो जितना और जेसा बरेगा वह उतना धैर्य नेता बन सकता है। निःस्वार्थ सेवासोई ही जनताके नेता होते हैं। परमेश्वर सबसे बड़ा इंसानिये है क्योंकि वह सबसे अधिक गुण रहता हुआ, अज्ञात रीतिसे जनताकी अधिकसे अधिक सहायता करता है, वह उसका बड़ा भारी यत्न है, इसीलिये उसका अधिकसे अधिक सम्मान सब आस्तिक लोग करते हैं। यही आदर्श अपने सामने स्मरुण रखते हैं और जनताकी सेवा करते जाते हैं, इस कारण वे भी सम्मानके भागी होते हैं।

## कर्मसे मनुष्यत्वका विकास ।

वेदका सिद्धान्त है कि ‘ऋतुमयोऽयं पुरुषः।’ अर्थात् ‘यह मनुष्य कर्ममय है।’ इसका तात्पर्य यह है कि मनुष्य जैसा कर्म करता है, वैसी उसकी रीति होती है। मनुष्यकी उन्नति कर्मके बलसे ही इसीलिये प्रशस्ततम कर्म करना मनुष्यके आवश्यक है। ये कर्म ऐसे हों कि जिनसे एकता बढे और परस्पर विघात न हो यह उपदेश इस सूक्तके— ‘सप्तमाः, संराधयन्तः, सधुराश्चरन्तः, सध्रीवीनान्, एकदन्तुः स्त्रीन्’ आदि शब्दों द्वारा मिलता है। पाठक इस महत्त्वपूर्ण उपदेशकी ओर अवश्य ध्यान दें।

इस प्रकार इस सूक्तके अन्तर्गत महत्त्वका उपदेश किया है। पाठक इन उपदेशोंका जितना अधिक मनन करेंगे उतना अधिक बोध प्राप्त कर सकते हैं।

# पाप की निवृत्ति ।

( ११ )

( कविः — प्रह्ला । देवता — पाप्मना )

वि देवा जुरसावृत्तुन्वि त्वमेवे अरात्या । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुपा ॥ १ ॥

व्यात्य१ पर्वमानो वि शक्रः पापकृत्याया । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुपा ॥ २ ॥

वि श्राम्याः पशवः आरण्यैर्विस्तृणयासरन् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुपा ॥ ३ ॥

अर्थ— ( देवाः जुरसा वि अवृत्तुन् ) देव बुद्धावस्थासे दूर रहते हैं। ( अत्रे ! त्वं अरात्या वि ) हे अने ! तू क्यूँसे तथा कबसे दूर रह । ( अहं सर्वेण पाप्मना वि ) मैं सब पापोंसे दूर रहूँ । तथा ( यक्ष्मेण वि ) रोगसे भी दूर रहूँ । और ( आयुष्या सं ) दीर्घ आयुसे संयुक्त होऊँ ॥ १ ॥

( पर्वमानः व्यात्य१ वि ) शुद्धता करनेवाला पुरुष पापोंसे दूर रहता है, ( शक्रः पापकृत्याया वि ) समर्थ मनुष्य पाप-कर्मसे दूर रहता है, उसी प्रकार सब पापोंसे और सब रोगोंसे मैं दूर रहूँ और दीर्घायुसे सेवक होऊँ ॥ २ ॥

जैसे ( श्राम्याः पशवः आरण्यैः वि ) प्रामके पशु जंगली पशुओंसे दूर रहते हैं, और ( आयुः तृणया वि अस-रन् ) जल प्यासे दूर रहता है, उसी प्रकार मैं सब पापों और सब रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुसे युक्त होऊँ ॥ ३ ॥

भावार्थ— देव बुद्धावस्थाको दूर करके सदा लज्जित जैसे रहते हैं, अग्नि देव आग्नी पुरुषोंको दूर करके दानो पुरुषोंको पास करता है । इसी प्रकार मैं सब पापोंको और रोगोंको दूर करके पुण्यार्थसे दीर्घ आयुष्य प्राप्त करूँ ॥ १ ॥

अपनी शुद्धता रखनेवाला मनुष्य रोगादि पीदाओंसे दूर रहता है और पुरुषार्थी समर्थ मनुष्य पापोंसे दूर रहता है, उसी रीतिसे मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ ॥ २ ॥

जैसे गो आदि गोपके पशु सिंह, व्याघ्र आदि जंगलके पशुओंसे दूर रहते हैं और जैसे जलके पास तृष्णा नहीं आती, उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ ॥ ३ ॥

त्रीक्ष्मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशदिशम् ।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ४ ॥

त्वष्टा दुहितं बहत्तु युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति ।

व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा

॥ ५ ॥

अग्निः प्राणान्त्सं दधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ६ ॥

प्राणेन विश्वतोर्वीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

आयुष्मतामायुष्कृता प्राणेन जीव मा मृथाः । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ८ ॥

प्राणेन प्राणतां प्राणैह्य भव मा मृथाः । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ९ ॥

अर्थ— जिस प्रकार ( इमं द्यावापृथिवी वि इतः ) वे सुलोक और पृथ्वी अलग हैं और ( पन्थानः दिशं दिशं वि ) वे सब मार्ग प्रत्येक दिशामें अलग अलग होकर जाते हैं, इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहना हुआ दीर्घायुसे युक्त होऊँ ॥ ४ ॥

जैसा ( त्वष्टा दुहिते बहत्तु युनक्ति ) पिता अपनी कन्याको दहेज-छी घन- देनेके लिये अलग करता है और जैसा ( इदं विश्वं भुवनं वि याति ) यह सब भुवन अलग अलग चलता है इसी प्रकार मैं सब पापोंसे और रोगोंसे दूर रहना हुआ दीर्घ आयुसे युक्त होऊँ ॥ ५ ॥

जिस रीतिसे ( अग्निः प्राणान् सन् दधाति ) जाठर अग्नि प्राणोंका धारण करता है और ( चन्द्रः प्राणेन संहितः ) चन्द्रमा-मन-प्राणके साथ रहता है, उसी रीतिसे मैं सब पापों और रोगोंसे बचकर दीर्घायुसे युक्त होऊँ ॥ ६ ॥

जिस ढंगसे ( देवाः विश्वतो-र्वीर्यं सूर्यं ) देव सब सामर्थ्यसे युक्त सूर्यको ( प्राणेन समैरयन् ) अपने प्राणके साथ सम्बन्धित करते हैं उसी ढंगमें मैं सब पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घजीवनसे युक्त होऊँ ॥ ७ ॥

( आयुष्मतां आयुष्कृतां प्राणेन जीव ) दीर्घायुवाले और आयुष्य बदनेवाले जो होते हैं उनके प्राणके साथ जीता रह । ( मा मृथाः ) मत मर जा । इस प्रकार मैं भी सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ८ ॥

( प्राणतां प्राणेन प्राण ) जावित रहनेवाले प्राणमें जावित रह, ( इह एव भव ) यही ही प्रभावशाली हो और ( मा मृथाः ) मत मरना । इसी प्रकार मैं सब पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ९ ॥

भाषार्थ— जिस आकाश भूमिसे दूर है और प्रत्येक दिशाको जानेवाला मार्ग जैसा एक दूसरेसे पृथक् होता है, ऐसे ही मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूँ ॥ ४ ॥

पृथीका पिता जैसा पुरातन विवाहके समय दामादको देनेके लिये दहेज अपने पासमें अलग करके दूर करता है और जिस प्रकार य मङ्गल-नक्षत्रादि गोल अपनी गतिसे चलकर परस्पर अलग रहते हैं उसी प्रकार मैं पापों और रोगोंसे दूर रहकर दीर्घायु प्राप्त करूँगा ॥ ५ ॥

जैसा शरीरमें जाठर अग्नि दिक पचन करता हुआ प्राणोंको चलवान् करता है और मन अपनी शक्तिसे प्राणके साथ रहकर शरीर चलाता है, इसी प्रकार मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु प्राप्त करूँ ॥ ६ ॥

जैसे तपको चल देनेवाले सूर्यको भी अन्य देव प्राणशक्ति युक्त करते हैं, उसी ढंगमें मैं पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ७ ॥

जबभवन दीर्घायु रोगोंकी प्रैषी प्राणशक्ति हाना है और अनेक वायव्योंसे अपनी दायं आयु करनेवालोंकी जैसी प्राणशक्ति होती है, वैसी अपनी प्राणशक्ति बलवृद्ध करके मनुष्य जीव और जीवा न मर । मैं भी इसा रीतिसे पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ ८ ॥

प्रन्थापन करनेवालोंके अंदर जो प्राणशक्ति है उसको बलवान् करके तू यही बड़, छोटी आयुमें ही मत मर । मैं भी पापों और रोगोंको दूर करके दीर्घायु बनूँगा ॥ ९ ॥

उदार्युपा समायुपोदोर्षधीनां रसेन । व्य११हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुपा ॥ १० ॥  
आ पर्जन्यस्य वृष्टयोदस्यामामृतां वयम् । व्य११हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुपा ॥ ११ ॥

॥ इति वष्टोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

अर्थ— ( आयुषा उत् ) आयुष्ये सार्वं प्राप्त कर, ( आयुषा सं ) दीर्घयुषे युक्त हो, ( ओषधीनां रसेन उत् ) औषधियोंके रससे उन्नति प्राप्त कर । इसी रीतिसे मैं भी सब पापों और रोगोंसे दूर होकर दीर्घायु बनूँ ॥ १० ॥

( ययं पर्जन्यस्य वृष्टया ) हम पर्जन्यकी वृष्टिसे ( आ उत् व्यस्याम ) उन्नतिमें प्राप्त करें और ( अमृताः ) अमर हो जाय । इसीप्रकार मैं सब पापों और रोगोंसे दूर करके दीर्घ आयुष युक्त होऊँ ॥ ११ ॥

मावार्थ— अपनी आहुत उदरार्थका साधन कर और उससे मैं दीर्घायु बन, औषधियोंका रस पीकर नीरोग, पुष्ट और बलवान् बन । इसी प्रकार मैं भी पापों और रोगोंसे दूर करके दीर्घायु बनूँ ॥ १० ॥

पर्जन्यकी वृष्टिसे जैसे वृष्टादि बरकर उन्नत होते हैं, उसी प्रकार हम उन्नतिमें प्राप्त करेंगे और अमरत्व भी प्राप्त करेंगे । मैं भी पापों और रोगोंसे दूर करके दीर्घायु बनूँगा ॥ ११ ॥

### पापनिवृत्तिसे नीरोगता और दीर्घायु ।

इस सूक्तमें कहा है कि पापोंको दूर करनेसे आरोग्य और दीर्घ आयु प्राप्त होती है और यह अनुष्ठान किए रीतिसे करना चाहिये इसके उपर्य भी यही बताया है ।

### पाप और पुण्य ।

पाप और पुण्य क्या है, इसका यही विचार करना आवश्यक है । पाप और पुण्य से धर्मशास्त्री सहाय हैं । और धर्मशास्त्र अन्त्याय शास्त्रोंका साररूप साधक है । अन्त्याय शास्त्रोंमें भिन्न धर्मशास्त्र नहीं है । अन्त्याय धाराएँ एक एक विषयके संघर्षमें ज्ञान देते हैं और धर्मशास्त्र संपूर्ण शास्त्रोंका निष्पाद

लेख मानवी उन्नतिके विधांत बनाता है, इसलिये धर्मशास्त्रोंके विधिविधेय सर्वसामान्य होते हैं और अन्त्याय शास्त्रोंके विधि विधेय उक्त शास्त्रोंके विषयके नाम सेवक होनेके कारण विशेष होते हैं ।

पाप पुण्यका विषय इसी प्रकार है । पुण्य शब्दका अर्थ है 'पवित्र बनना' और पाप शब्दका अर्थ है 'पतनका हेतु' । अन्त्याय शास्त्रोंमें जिससे ज्ञान होता है ऐसा जिज्ञासा है वे सब बातें धर्मशास्त्रमें 'पाप' शब्दसे बतायी जाती हैं और जो बातें उन्नतिकरक समझी जाती हैं उनको पुण्यकारण धर्मशास्त्रमें कहा है । यह ज्ञान अधिक स्पष्ट करनेके लिये एक दो उदाहरण लेकर इसी विषयको विशद करते हैं—

### वैद्यशास्त्र ।

- १ मद्यपीनेसे मृत्यु और पेट बिगड़ता है, खूनकी कमजोरी होती है इस कारण अनेक रोग होते हैं । इ.
- २ व्यभिचार करनेसे कार्यतादा होनेके कारण मस्तिष्क कमजोर होता है और अनेक बीमारियाँ होती हैं । इ.

### आरोग्यशास्त्र ।

- १ स्नान करके स्वच्छता करना, धर्मसे दया बाहर रखकर करनेसे रोग नहीं होते, और आरोग्य बढ़ता है । इ
- ४ जल छाननेसे उसमेंसे रोगजनक या अन्य रोगवाज दूर होते हैं, और इस कारण छाना हुआ जल पीना आरोग्यकारक है

### समाजशास्त्र ।

- ५ सत्य बोलनेसे मनुष्यके व्यवहार उत्तम चलते हैं । इ.

### राजशासनशास्त्र ।

- ६ चोरी, मृत्यु आदि करनेसे राजशासनके नियमके अनुसार फलाना दण्ड होता है ।

### धर्मशास्त्र ।

- १ मद्य पीना पाप है ।
- २ व्यभिचार पाप है ।
- ३ स्नान करना पुण्यकारण है । स्वच्छता करना पुण्य है ।
- ४ जल छानकर पीना पुण्यकारक है ।
- ५ सत्य पुण्यकरक है ।
- ६ चोरी, मृत्यु आदि करना पाप है ।

इस प्रकार हरएक शास्त्रके विषयमें पाठक देखें। अन्यान्य शास्त्रोंमें प्रत्येक कृत्यके घुरे या भले परिणाम कारणके साथ बताये होते हैं, परन्तु उन सबका समीकरण करके धर्मशास्त्रमें 'पाप और पुण्य' इन दो शब्दोंद्वारा वही भाव कारण न देते हुए और परिणाम न बताते हुए कहा होता है। इससे धर्म-शास्त्रके पाप-पुण्य भी किस प्रकार शास्त्रसिद्ध हैं इसका पता पाठकोंको लग सकता है।

ये सब पाप ही रोग और अन्वायुताके कारण हैं और पुण्य कर्म करनेसे ही नौरोगता और दीर्घायु मिलती है। यह बात सुगमता इस सूक्तमें ध्वनित की गई है। इस सूक्तमें प्रत्येक मन्त्रका उत्तरार्थ यह है—

ध्यह सर्वेण पाप्मना, वि यक्षमेण, समायुषा ॥

( सू. ११, म. १-११ )

'मैं सब पापोंको दूर करता हूँ, सबसे रोगोंको दूर करता हूँ जिससे दीर्घायु प्राप्त होता हूँ।' इस मन्त्रका अर्थोपनिषे भाव यह है कि— 'मैं पुण्य कर्म करनेसे नौरोग होता हुआ दीर्घजीवी बनता हूँ।' अर्थात् दीर्घायु प्राप्त करनेका मूल उपाय पापोंको दूर करने पुण्य करना ही है, इससे स्वयं रोग दूर होवे, नौरोगता प्राप्त होगी और दीर्घायु भी मिलेगी। इस सूक्तकी यही संदेशा पाठकोंको देना है। यह आधा मन्त्र ग्यारह बार कहकर यह संदेशा पाठकोंके मनपर स्थिर करनेका यत्न इस सूक्तमें किया है। पाठक भी इसी दृष्टिसे इस मंत्रमात्रका महत्त्व देखें और इसमें प्राप्त होनेवाला उपदेश आत्मसात् करें।

पास करना चाहिये। ऐसा करनेसे पाप और रोग दूर होकर दीर्घजीवन प्राप्त होगा। अब पापों और रोगोंको दूर करनेवा अनुष्ठान करनेकी रीति देखिये—

### देवोंका उदाहरण ।

देवोंका नाम 'निर्जराः' है, इसका अर्थ 'जरा, वृद्धावस्था और बुढ़ापा आदिको दूर रखनेवाले' है। देवोंने इस प्रकारके अनुष्ठान करके बुढ़ापेको दूर किया था, और वे वही आयु होने-पर भी तक्षण जैसे दीखते थे। यह आदर्श मनुष्योंको अपने सम्मुख रखना चाहिये। और जिस अनुष्ठानसे देवोंकी यह शक्ति प्राप्त हुई थी वह अनुष्ठान करके मनुष्योंको भी यह शक्ति प्राप्त करना चाहिये। यह बातनेके लिये प्रथम मन्त्रमें—

देवाः जरसा वि-अवृतन् । ( सू. ११, म. १ )

'देवोंने बुढ़ापेको दूर रखा था' यह बात कही है। अब आगे देखिये—

### अम्रिका आदर्श ।

अम्रि मां ( अम्रे ! त्वं मरात्या वि । मं. १ ) कंजुषोंको दूर करता है। उदार मनुष्य ही जो अपने धन आदि द्वारा यज्ञ करना चाहते हैं वे ही अमिहोद्रादि करनेके लिये तथा अन्यान्य बड़े यज्ञ करनेके लिये अम्रिके पास इच्छते होते हैं और जो कंजुष होते हैं, वे अम्रिके दूर हो जाते हैं, क्योंकि वे अपना धन यज्ञमें लगाना नहीं चाहते। इसका अर्थ यही है कि अम्रि कंजुष मनुष्योंको दूर करता है और उदार मनुष्योंको इच्छा करके उनका राय बनाकर उनका अनुष्ठान करके उन्नति कराता है। जिस प्रकार यह अम्रि कंजुषोंको दूर करता है, उसी प्रकार पापों और रोगोंको दूर करना मनुष्यको उचित है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य पापियों और रोगियोंको दूर अलग रखे और पुण्यात्मा और नौरोग मनुष्योंका संघ बनाकर अपना आरोग्य बढ़ाए।

जो पापी मनुष्य होता है उसके संगतिमें जो जो मनुष्य आनेवाले वे भी पापी बनेंगे, इसलिये पापीको समाजसे बाहर निकाल देना चाहिये; इसी प्रकार जो रोगी मनुष्य होते हैं उनके संगतिमें भी अन्य मनुष्य रोगी होनेकी सम्भावना होती है, इस कारण रोगियोंके लिये विशेष प्रबंध करके उनको अलग करना चाहिये जिससे उनके रोग अधिक न फैले। इस प्रकार शुश्रूष पापियों और रोगियोंको अलग रखनेका प्रबंध करनेसे वे समाज निष्कारण और नौरोग रहना संभव है, और यह प्रबंध जिसनी पूर्णतासे किया जाय उनका अधिक लाभ होगा।

‘(१) पवित्रता करनेवाला रोगादिकोंके कष्टोंसे दूर होता है, और (२) मनोबलसे समर्थ मनुष्य पापसे दूर रहता है।’

ये दोनों अर्थपूर्ण मंत्रभाग हैं। स्वच्छता, पवित्रता और निर्मलता करनेवाले जो होते हैं उनके पास प्रायः रोग आते ही नहीं, अथवा वे अपनी शुद्धतासे रोगोंको दूर रखते हैं। शुद्ध ताका अर्थ यह है कि जल आदिसे शरीर निर्मल करना, सखेंस मनकी पवित्रता करना, विद्या और तपसे अपनी अन्य शुद्धता करना, शुद्ध विचारों और प्रेमपूर्ण आचरणोंसे परिवारकी शुद्धता करना, परकी पवित्रता लेपनादिसे करना, अभिर्मे हवन करके वायुकी शुद्धता करना, छानकर जलको शुद्ध बनाना, मलस्थानोंकी शुद्ध करके नगरकी स्वच्छता करना, इसी प्रकार अन्यान्य क्षेत्रोंकी शुद्धता करनेसे रोगबीज हट जाते हैं। और मनुष्य रोगसे पीड़ित नहीं होता है।

इसी प्रकार सत्य, परमेश्वरनिष्ठा, तप, धर्माचरण आदि द्वारा मनका बल बढ़ानेसे जो सामर्थ्य मनुष्यके अंदर उत्पन्न होता है वह मनुष्यको पापोंसे बचाता है। ऐसा समर्थ मनुष्य पापाचरण नहीं करता और वह पवित्रता बनाता हुआ जनताके लिये भावार्थ बनाता है। यह मनुष्य न केवल स्वयं पापों और रोगोंसे दूर रहता है प्रत्युत अन्योको भी दूर रखता है।

ग्राम, नगर और राष्ट्रीयी पैनायतों द्वारा ग्राम, नगर और राष्ट्रमें वक्ता प्रकाश पूर्ण स्वच्छता और पवित्रता बढ़ानेसे भी एक क्षेत्रोंकी जनता पापों और रोगोंसे बची रहती है। यह द्वितीय मंत्रका उपदेश प्रत्यक्ष फल देनेवाला होनेके कारण इसका अनुष्ठान सर्वत्र होना आवश्यक है।

### स्थानत्यागसे बचाव ।

पापी मनुष्योंका और रोगोंका स्थान छोड़ देना इसको स्थान त्यागसे बचाव करना कहते हैं। इसका वर्णन तृतीय और चतुर्थ मंत्रों द्वारा हुआ है, देखिये—

१ ग्राम्याः पश्याः आरण्यैः वि। (सू. ३१, म. ३)

२ इमे चावापृथिवी वि इतः। (सू. ३१, म. ४)

‘(१) ग्रामके गाँ आदि पशु व्याप्रादि आरण्यक पशुओंसे दूर रहकर बचाव करते हैं, (२) तथा शुलोक पृथ्वीसे जैसा दूर रहता है।’ ये स्थानत्याग वरके बचाव करनेके उदाहरण हैं। व्याघ्र, सिंह, भेड़िया आदि जिस स्थानमें रहते हैं उस स्थानका त्याग करके गाँ आदि ग्रामीण पशु अपना बचाव करते हैं। भूलोककी अशुद्धिसे बचनेके लिये और अपनी प्रकाशमयता के स्थिर रखनेके लिये शुलोक-भूलोकसे बहुत दूरीपर रहता है। इस प्रकार पापी लोगोंसे दूर रहकर पापसे बचना और रोगस्थानसे दूर रहकर रोगोंसे बचना सीमा है।

### स्वभावसे बचाव ।

जिनकी स्वभावसे ही पापसे बचनेकी प्रवृत्ति होती है और जिनमें स्वभावसे ही रोगप्रतिबंधक शक्ति होती है वे पापों और

रोगोंसे बचे रहते हैं, इस विषयमें मुक्तके कथन देखिये—

१ अपां तुष्ण्या वि असरन्। (सू. ३१, म. ३)

२ पन्थानाः दिश दिश वि। (सू. ३१, म. ४)

‘(१) जब अपने स्वभावसे ही प्यासे दूर रहता है और (२) विविध दिशाओंसे जानेवाले मार्ग स्वभावसे एक दूसरेसे दूर रहते हैं।’ जलका स्वभावसे ही प्यास नहीं लगती। इस प्रकार जो लोग स्वभावतः पापमें प्रवृत्त नहीं होते वे पापरहित होते हुए पापके फलभोगसे बचते हैं। इसी प्रकार जिनके शरीरमें रोगप्रतिबंधक शक्ति पर्याप्त रहती है वे रोगस्थानमें रहते हुए भी रोगोंसे बचे रहते हैं। यह स्वभावका नियम देखकर हर एकको उचित है कि वह अपना स्वभाव उक्त प्रकार बनाने और पापों और रोगोंसे अपना बचाव करके दायाँपु, नीरोग और बलवान् तथा सखील बने।

### दान ।

जनताको निष्पाप और नीरोग करनेके लिये धनी मनुष्य अपने धनका कुछ भाग अलग करके दान देवे जिस प्रकार—

रघटा दुहित्रे सहस्र युनक्ति। (सू. ३१, म. ५)

‘पिता पुत्रीके दहेजके लिये धन योजनापूर्वक देता है।’ यह धन दामादके घरमें रहता हुआ व्यापक रूपसे इस कार्य करता है, इसी प्रकार धनी मनुष्य धनका कुछ भाग जनताके रोगमुक्त और पापमुक्त करनेके लिये अर्पण करे और इस इच्छासे धनसे ऐसी संस्थाएँ योजनापूर्वक बनायीं जावें कि जो जनताकी पापप्रवृत्तिसे और रोगसे रक्षा करें। इस प्रयत्नसे सपूर्ण राष्ट्र प्रतिदिन अधिकाधिक निष्पाप, नीरोग, दीर्घजीवी, सख्य, स्वस्थ और सुखी बने।

### अपनी गतिमें रहना ।

लोग एक दूसरेसे स्पर्धा करते हैं और अपना दुःख बढ़ाते हैं। यदि वे अपनी गतिसे चलते रहेंगे और दूसरेकी गतिसे साथ अन्यै स्पर्धा न करेंगे तो भा पापसे और रोगोंसे बच सकते हैं, इस विषयमें एक उदाहरण है—

इदं विष्य भुवनं विद्याति। (सू. ३१, म. ५)

‘ये सब पृथिवी, सूर्य, चन्द्र आदि गोल अपनी अपनी विविध गतिसे चलते हैं।’ सूर्यकी उष्णतासे जेष्ठ स्पर्धा करके स्वयं उष्ण बनना नहीं चाहता और चंद्रकी स्पर्धा करता हुआ सूर्य स्वयं शीत बननेका इच्छुक नहीं है। इसी प्रकार ये सब ग्रह अपनी अपनी गतिसे अपना अपना कार्य करते हैं। विविध भुवनोंकी विविधता उपदेश देती है कि विविधतासे युक्त ये सब भुवन जिस प्रकार सपूर्ण जगत्के अश्व बनकर आविरोधसे रहेंगे। उसी प्रकार मनुष्य भी विविध पुण्यकर्मोंसे युक्त होते हुए सर्वपूर्ण राष्ट्रके अश्व बनकर राष्ट्रदिन और सपूर्ण जनताका हित करनेकी शुद्धि आशयमें अविरोधी भावसे रहे। इस प्रकार रहनेसे प्लोक प्रसार वे उपायोंका अवलंबन करके अपने आपकी पापी और रोगोंसे बचा सकते हैं। अतः आपका आपसमें लड़ते हुए रोगोंसे



# अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

## तृतीय काण्डकी विषयसूची ।

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
	अपने राष्ट्रका विजय	१	८- राष्ट्रीय एकता		३४
	तृतीय काण्ड-प्रस्तावना ।	३		अधिक उन्नता, उन्नतिका मार्ग	३६
	अपि देवता छद् (छोछक)	४		सुधारका प्रारम्भ, सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र	३७
	सूक्तके गण	७		राष्ट्रीय अग्नि, राष्ट्रका पोषक, यह पुत्रोंवाली माता	३८
१-	शत्रुसेनाका संमोहन	९		राष्ट्रीय शिक्षा	३८
२-	शत्रुसेनाका संमोहन	११		देवों सहायता	३९
	सेनाका समोहन, इन्द्र	१२		आध्यात्मिक, अधिभौतिक और अधिदैविक	३९
	मघवन्, वृत्रहन्, महत.	१३	९- क्लेश-प्रतियन्धक उपाय		४०
	वसन्त, आम्र, शत्रुको दबानेका रीति	१४		कवके मातापिता	४०
	मनोंकी समानता	१५		विश्ववन्धुत्व, पराक्रम, परिश्रमसे विद्धि	४१
३-	राजाकी हवराज्यपर पुनः स्थापना	१६		असुर माया, सेंकरी विप्र	४२
४-	राजाका चुनाव	१७	१०- कालका यज्ञ		४३
	पूर्व सम्बन्ध, आरम्भार्था	१९		कामधेनु, यज्ञ	४६
	सोत्रार्थार्थ शाय	२०		अधकारमयी राज्ञी, सर्वस्वरकी प्रणिमा, हवन	४७
	विरोधी मनुष्य, राजाका चुनाव, प्रजाका चालन	२१		कालका यज्ञ, यज्ञका कार्य	४८
	धनोंका विभाग	२३		राजुनाशक इन्द्र	४९
	श्रमसम्पन्न, राजाका रहना सहना, दूतका संचार	२४	११- हवनसे दीर्घ आयुष्य ।		५०
	महण	२५		हवनसे दीर्घायुष्यकी प्राप्ति, औषधियोंके यज्ञ	५१
५-	राजा और राजाके यत्ननेवाले	२५		हवनसे रोग दूर करना, हवनका परिणाम	५२
	पूर्ण मणि, राष्ट्रका निज बनना	२७		शतायु करवेवात्स्य हवन	५२
	राजाकी निर्माण करनेवाले	२८		मरणका पाश, संयत्त क्षुरक्षितता	५३
६-	घोर पुरुष	२९		सत्यवाक्यसे दीर्घायुकी प्राप्ति	५३
	अक्षय्यर्षी अन्वेषण	३०	१२- गृहनिर्माण		५४
	आनुवंशिक सरकार, शत्रुका लक्षण, गिरावटका भाग	३१		घरकी बनावट, घर बनाने योग्य स्थान	५६
	विजयकी तैयारी	३१		घर कैसे बनाया जावे ? समानका स्थान	५६
७-	मानुवंशिक रोगोंको दूर करना	३२		प्रसन्नचित्त स्थापन, बीरतासे युक्त धन	५७
	मातापितासे संतानमें आने लानिय रोग	३३		आवेधि शस्त्रास्त्र, देवों द्वारा निर्मित घर	५८
	हरिणके सांगव चिकित्सा, हृदय रोग	३३		देवोंको सहायता	५८
	औषधि चिकित्सा, मगधों और सारन	३३	१३- जल		५९
	पुलक और भूलोचमें समान औषधियों	३४		जलके प्रकार	६०
	जलचिकित्सा	३४	१४- गोशाला		६१
				गोसंवरण	६३

सूक्त	विषय	पृष्ठ	सूक्त	विषय	पृष्ठ
१५-	वाणिज्यसे धनकी प्राप्ति वाणिज्य व्यवहार, पुराना बनिया । व्यापारका स्वरूप, व्यापारके विधी दो मार्ग, ज्ञानयुक्त कर्म परमेश्वर भक्ति	६३ ६४ ६६ ६७ ६८	१५-	कामका धाण बिद्वद् परिणामी अलंकार कामके बाण, पतिव्रतीका एक मत धर्मपरमार्थिक गुण गृहस्थधर्म	१०३ १०३ १०४ १०५ १०६
१६-	प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना प्रातःकालमें भगवान्की प्रार्थना, सबका उपास्यदेव अर्दानताका रसुक, उपारानाकी शक्ति धारणा, उपासना-धारणा सत्यका मार्ग देवीकी प्रार्थना, अहिंसाका मार्ग बीदे और छोड़े, धर्मग	६९ ७१ ७१ ७२ ७३ ७४ ७४	१६-	उच्चतिकी दिशा ।	१०७
१७-	रूपिसे सुख-प्राप्ति रूपिसे भाग्यकी वृद्धि, धार्मिक होनेके पूर्व हवन खादके लिये धी और शब्द । । ऐतिहासिक उदाहरण, गौरक्षाका समय	७५ ७७ ७७ ७७	१७-	अभ्युदयकी दिशा दिशाओंके वर्णनसे तत्त्वज्ञान-उच्चतिके छान्द दिशा छोटक व्यक्तिका और समाजका जगता दिशाओंका दर्शन-वैदिक दृष्टि पूर्व दिशाकी विभूति पश्चिम दिशाकी विभूति उत्तर दिशाकी विभूति	१०८ १११ ११२-११४ ११६ ११६ ११७ ११७ ११८
१८-	धनरूपि साधनमात्रका अर्थपर परिणाम	७८ ७९	१८-	पशुओंकी स्थावरपदार्थ पशुओंका स्थावर, पशुओंकी उपनि, रोगी पशु	११९ १२०
१९-	ज्ञान और धर्मकी तेजस्विता राष्ट्रीय उन्नतिमें पुरोहितका कर्तव्य प्राज्ञतेजकी उपाति पुरोहितकी प्रतिष्ठा, बुद्धकी नीति	७९ ८१ ८१ ८२	१९-	खरक्षक कर उज्यसाधन बलानिके लिये कर प्राप्तिका सोलहवाँ माप प्राप्तिके दो साधन राज कैदा हो, करका उपयोग स्वर्ग सटस राज्य, कामनाका प्रभाव कामकी मर्यादा	१२० १२० १२१ १२१ १२१ १२२ १२३
२०-	तेजस्विताके साथ अभ्युदय अभिधा आदर्श, उपनिषत्स्थानका स्वरण रुग्भूय रुग्भूयान	८३ ८५ ८६	२०-	एकता संज्ञानसे एकता, अंदरका सुधार बाहरका सुधार संघर्षे धर्म, खानदानका मक्ष सेवाभावसे उन्नति कर्मसे अनुपपन्न विद्या	१२३ १२४ १२५ १२५ १२६ १२७
२१-	कामाग्निका क्षमन कामाग्निका स्वरूप काम और इच्छा, कामकी दाहकता न दहनेवाला, इन्द्रका रथ कामदायिताका उपाय	८८ ९० ९१ ९२ ९३	२१-	पापकी निवृत्ति पापनिवृत्तिसे जीवोगता, पाप और पुण्य पापका दूर करना, वेदोंका उदाहरण अभिधा आदर्श, पतिव्रताका महति पानत्यागसे बचाव, स्वभावसे बचाव दान, अपनी गतिमें रहना वेदकी पावनताके, सुदोष बीदे दीर्घायु प्राप्त करनेवाले, औपनिषद	१२७ १२८ १२९ १२९ १३० १३० १३१ १३१
२२-	यज्ञप्राप्ति सूक्त राज्यप्राप्तिसे बल बराना, बलप्राप्तिकी रीति	९५ ९६			
२३-	वीर पुत्रकी उत्पत्ति वीर पुत्रका प्रथम	९७ ९८			
२४-	अभ्युदयकी प्राप्ति समृद्धिकी प्राप्ति समृद्धिकी प्राप्ति समृद्धिकी प्राप्ति	९९ १०० १०० १००			

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नार्वणीत ।

बृहस्पतिर्यज्ञमवतनुत ऋषिः श्रियां यमस्तन्वमा रिरेच ॥ ४१ ॥

त्वमग्न ईदितो जातवेदोऽर्वाद्द्वयानि सुरभीणि कृत्वा ।

प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अश्वन्नद्धि त्वं देव प्रयता हवींषि ॥ ४२ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे र्षिं धत् दाशुषे मर्त्याय ।

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वसूः प्रपच्छत त इहोजे दधात ॥ ४३ ॥

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदाःसदः सदत सुप्रणीतयः ।

अतो हवींषि प्रयतानि चाह्विं र्षिं च नः सर्ववीर दधात ॥ ४४ ॥

अर्थ— ( देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं न अर्वाणीत ) देवोंनेसे कौन मरता न था । अर्थात् देव भी सब मरते थे । तब ( बृहस्पति ऋषिः यज्ञं अवतनुत ) देवोंनेसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी मासिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए [ अमृत अर्वाणीत ] अमरता की मास किया, पर [ प्रजायै ] प्रजाके लिए [ किं अपि अमृतं ] कोई भी अमरता न प्राप्त की, अतएव [ यमः ] प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे [ श्रियां तन्वमा रिरेच ] उनकी प्यारी देह [ आरिरेच ] छीन लेता है अर्थात् मृत की मृत्यु होती है ॥ ४१ ॥

हे ( जातवेदः अग्ने ) जातवेदस् अग्नि ! ( ईदितः स्व ) स्तुति किया गया तू [ द्वयानि ] हवींको ( सुरभीणि कृत्वा ) सुगंधित बनाकर ( अयात् ) वहन कर [ पितृभ्यः ] उन हवींको पितरोंके जिये ( प्रादाः ) दे । ( ते ) वे पितर [ स्वधया अश्वन् ] उन हवींको स्वधाके साथ लावे । ( देव ) हे प्रकाशमान अग्नि ! [ र्षं ] तू भी [ प्रयता हवींषि, र्षी गार्ह हविषोंको ] अग्नि ! खा ॥ ४२ ॥

[ अरुणीनां उपस्थे आसीनासः ] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निकी लक उवालाओंके समीपमें बैठे हुए अर्थात् यज्ञमें उपस्थित हुए हुए पितरों ! ( दाशुषे मर्त्याय ) दानी मनुष्यके लिए ( र्षिं धत् ) धनको दो । [ वसूः ] उस दानीने [ पुत्रेभ्यः वसूः प्रपच्छत ] पुत्रोंके लिए धनका दान करो । ( ते ) वे तुम ( इह ) यहाँवर उन दानी व दानीके पुत्रोंके लिए ( ऊर्जं ) अक्षसे ( दधात ) पुष्ट करो ॥ ४३ ॥

हे [ सुप्रणीतयः ] उत्तम प्रकारसे के जानेवाले ( अग्निष्वात्ताः पितराः ) अग्निष्वात् पितरों ! [ इह ] यज्ञमें [ आगच्छत ] आओ [ सदः सदः सदत ] धरधरमें स्थित होओ । [ अयं ] और [ अहिंषि प्रयतानि हवींषि अत ] यज्ञमें ही गई हविषोंको खाओ । और हमें ( सर्ववीर र्षिं दधातव ) सर्व प्रकार की बीरासे परिपूर्ण पुत्ररूपी धन दकर पुष्ट करो ॥ ४४ ॥

भावार्थ— देव अमर हैं और मनुष्य मरते हैं ॥ ४१ ॥

अग्निकी स्तुति करनेपर वह पितरोंके जिये हविषे सुगंधित बनाकर ले जाती है । और पितरोंको न जाकर देती है ताकि वे खावें ॥ ४२ ॥

हे पितरों ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उ हें पुष्ट करो । यज्ञमें ( १५। १३ ) ॥ ४३ ॥

हे अग्निष्वात् पितरों ! पर धरमें आओ । हमें दुग्धदे चोदनेसे ही गई हविषोंको खाओ तथा उसके वरनेसे और अति का प्रदान करो ॥ ४४ ॥

उपहूता नः पितरः सोम्यासौ वह्न्येषु निधिषु प्रियेषु ।

त आ गमन्तु त इह श्रुवन्त्वधि न्रुवन्तु तेऽवन्तस्मान्

॥ ४५ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा अन्नजहिरे सोमपीथं वसिष्ठाः ।

तेभिर्ममः संरराणो हवीष्युशनुशङ्गिः प्रतिकाममन्तु

॥ ४६ ॥

ये तान्पुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमंतयासो अकैः ।

आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्ममसाङ्गिः

॥ ४७ ॥

ये सत्यासौ हविरदौ हविष्या इन्द्रेण देवैः सरथं तुरेण ।

आग्ने याहि सुविदत्रेभिरवाङ् परैः पुर्वैर्ऋषिभिर्ममसाङ्गिः

॥ ४८ ॥

अर्थ- [ ते ] वे [ सोम्यासः ] सोम संपादन करनेवाले [ पितरः ] पितर ( प्रियेषु वह्न्येषु ) प्रीतिकारक यज्ञसंस्था निधिषो में [ उपहूता ] बुझाए गए हैं । [ ते ] वे पितर [ इह ] इस यज्ञमें [ आगमन्तु ] आव । ( ते अधिध्रुवन्तु ) वे पितर हमारी प्रार्थनायें भवन लेकर सुनें, [ अधिध्रुवन्तु ] हमें उपदेश करें तथा ( अस्मान् ते अवन्तु ) हमारी वे रक्षा करे ॥ ४५ ॥

( ये ) जिन [ नः ] हमारे [ पूर्वं सोम्यासः ] वसिष्ठाः पितरः ] पुरातन सोमसंपादन करनेवाले वसिष्ठ अर्थात् उपान धनवाले पितरोने ( सोमपीथं ) सोमपानको यज्ञमें [ अन्तु जहिरे ] प्राप्त किया था, [ तेभिः ] उन [ सवाङ्गिः ] यमके साथ सोमपान करने या हवि खानेकी कामना करते हुए वसिष्ठ पितरोंके साथ [ उशन् ] पितरोंके साथ सोमपान करने वा हवि खानेकी कामना करता हुआ, [ संरराणः ] पितरोंके साथ रमण करता हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ [ वमः ] यम ( हवीषि ) हविषोंको [ प्रतिकामं ] इच्छानुसार [ अन्तु ] खावे ॥ ४६ ॥

[ देवत्रा जेहमानाः ] देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए [ होत्राविदः ] यज्ञोंके जाननेवाले [ स्तोमंतयासः ] स्तोमोंके बनानेवाले [ ये ] जो पितर [ अकैः ] अर्चनीय स्तोमोंसे ( सात्पुः ) इस संसारसागरके सर्वथा तर गए हैं ऐसे [ सहस्रं देववन्दैः ] हजारों बार देवोंसे स्तुति किए गए [ सत्यैः कविभिः कविभिः ] सत्यवचनी, क्रांतवर्षी तथा ज्ञानी व [ धर्मसाङ्गिः ] यज्ञमें धैर्यवाले पितरोंके साथ [ आग्ने ] हे अग्नि ! तू [ आपाहि ] यज्ञमें आ ॥ ४७ ॥

[ ये ] जो पितर [ सत्यासः ] सत्यवचनी, [ हविरदः ] हविके खानेवाले, [ हविष्याः ] हविकी रक्षा करनेवाले तथा [ तुरेण इन्द्रेण देवैः ] सरथं यथानाः ] यमवान् इन्द्र व देवोंके साथ समान रूपपर आरुढ़ होते हैं ऐसे [ सुविदत्रेभिः ] ब्रह्म धनवाले अथवा ब्रह्मपानकारी विद्यावाले [ पूर्वं परैः ] पुरातन व अर्थाधीन [ कविभिः ] ज्ञानी [ धर्मसाङ्गिः ] यज्ञ में धैर्यवाले पितरोंके साथ [ अवाङ् ] हमारे प्रति [ अग्नि ! तू [ आपाहि ] आ ॥ ४८ ॥

भावार्थ- पाक्षिक कायोंमें पितर हमारे बुझाए जानेपर आवें । जाकर हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करे ॥ ४५ ॥

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा दी गई हविषों को खावे । हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें यथोक्त मात्रामें हवि देनी चाहिए ॥ ४६ ॥

देववचनी प्राप्त हुए हुए पितरोंके अतिके साथ यज्ञमें जुनसबा जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अतिके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ॥ ४७ ॥

देवोंके साथ समान रचाकर अर्थात् देवोंके साथ एक ही रूपपर विचरण करनेवाले पितरोंके यज्ञमें दे अग्नि ! तुझे आ । अग्नि पितरोंके यज्ञमें आती है ऐसा एक संशय जान पड़ता है ॥ ४८ ॥

उपं सर्व मातरं भूमिमेतामुक्त्यचंसं पृथिवीं सुशेवाम् ।

ऊर्णप्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वां पातु प्रपथे पुरस्तात् ॥ ४९ ॥

उच्छ्वश्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः स्रपायनास्मै भव स्रपसर्पणा ।

माता पुत्रं यथा सिचाम्येन भूम ऊर्णहि ॥ ५० ॥ ( १७ )

उच्छ्वश्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सदस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् ।

ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥

अर्थ- हे मनुष्य ! [ एतां ] इस [ उक्त्यचंसं ] बड़े विस्तारवाली अवस्था [ पृथिवीं ] फैली हुई, ( सुशेवा ) अति सुख देने वाली ( मातरं भूमि ) माताभूत भूमि के [ उप सर्व ] समीप जा । ( समीप जा का अर्थ यहां पर यह है कि भूमिका चारिहीसे अवलोकन कर, क्योंकि भूमिपर रहनेवाला मनुष्य भूमि के ठो समीप है ही, फिर भी समीप जा कहने का यही अभिप्राय हो सकता है। भूमि के जो सुशेवा आदि विशेषण हैं वे भी इसी अभिप्रायको पुष्ट करते हैं । भूमिका चारिही से अवलोकन करके उससे काम डठाने से बचा सुख होता है । ) [ दक्षिणावते ] दान देनेवाले के लिए [ ऊर्णप्रदाः ] उनके समान वरम-कोमल [ यथा पृथिवी ] यह पृथिवी ( त्वा ) ठेरी [ मयथे ] इस संसारसागर के विस्तृत मार्गमें [ पुरस्तात् ] आगे ले जाता करे । [ ऋ० १०।१८।१० ] ॥ ४९ ॥

[ पृथिवी ] हे पृथ्वी ! तू [ उच्छ्वश्चस्व ] पुलकित हो । इस ठेरे समीप जाए हुए मनुष्यको [ मा निबाधथाः ] किसी भी प्रकार की पीडा या कष्ट मत पहुँचा । ( अस्मै ) इसके लिए [ स्रपायना ] अपनी तरह प्राप्त करने योग्य अर्थात् बिना किसी भय वा कष्ट के समीप आने योग्य तथा [ स्रपसर्पणा ] सुताएँ के विचरण करने योग्य ( भव ) हो । [ एव ] इस पुत्रको [ पुत्रं ] हे भूमि ! [ सिचाम्येन ] चारों तरफसे इस प्रकारसे बाँध ले [ यथा ] जिस प्रकारसे कि [ माता ] माता [ सिथा पुत्रं ] अपने माँवके पुत्रको बाँध लेती है । ( ऋ० १०।१८।११ ) ॥ ५० ॥

( उच्छ्वश्चमाना पृथिवी ) पुलकित होती हुई पृथिवी [ सु तिष्ठतु ] अपनी प्रकार स्थित होवे । और ( सदस्रं ) हजारों ( मितः ) मित उस पृथिवी को प्राप्त होकर ( उपधयन्ताम् ) आश्रित होंगे । ( ते पृथग्वृताः ) वे पीसे परिपूर्ण अवस्था ( स्योनाः ) सुखकारी [ गृहासः ] घर तथा [ विश्वाहाः ] सब दिन ( अस्मै ) इस मनुष्य के लिए ( मयथे ) यही घर ( शरणाः सन्तु ) शरण देनेवाले आश्रय देनेवाले होंगे । ( ऋ० १०।१८।१२ ) ॥ ५१ ॥

भावार्थ- इस अवगत विस्तृत भूमिका चारिहीसे अवलोकन करो क्योंकि यह बड़ा सुख देनेवाली है। जो पृथिवी पर रहकर नानाविध दान करता रहता है उसके लिए यह पृथिवी उनके घरघर कोमल हाँकी हुई सुख देने के व प्रत्येक कदम उठती रहती रहती है ॥ ४९ ॥

हे पृथ्वी ! तू इस प्रलय बनी रह । तेरे पर बाध करनेवालेको किसी प्रकारका भी कष्ट न पहुँचे । वह आनन्द के सर्वत्र विचरण कर सके । तू मनुष्यको नानाविध पदार्थों के दान रख देवे कि माता अपने आनन्द के पुत्रको दान रखती है । अपने देवे माता अपने बच्चे के देने के साथ पुत्रको बाँध कर ठन्डी चरबी आदि वस्त्रों के साथो दे बड़ी प्रकार के पुषिर्वा तू भी करने दी देने के साथ तेरे पर निबाध करनेवाले मनुष्यको नानाविध दान करने का उद्देश्य दुःखदार्द्रों के बचा ॥ ५० ॥

पृथिवी शिवर बनी रहे । भूतल आदि के विचलित न होंगे । वनस्पति पदार्थ उच्छ्वश्चस्व आदि विषय होंगे । उच्छ्वश्चस्व बाध करने हुए मनुष्य के लिए पुत्रों के पुत्र सुखकारी घर तथा सब दिव्य आभरण होंगे । विश्वा नीतिन विद्या भी पार्थिव के कष्ट न होने ॥ ५१ ॥

उत्तै स्तभ्नामि पृथिवा स्वत् परीमं लोमं निदधन्मो अहं रिपम् ।

॥ ५२ ॥

एतां स्थूणां पितरौ धारयन्ति ते तत्र यमः सादना ते कृणोतु

इममग्रे चमसे मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् ।

॥ ५३ ॥

अयं यश्चमसो देवपानस्तास्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम्

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायार्विमर्वाजिनीवते ।

॥ ५४ ॥

तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम्

यत्तै कृष्णः शुकुन् आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः ।

॥ ५५ ॥

अग्निष्टद्विश्वाद्मदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणां आविवेशं

अर्थ- [ते] तेरे लिए [पृथिवी] पृथ्वीको [उत् स्तभ्नामि] धामता हूँ । [स्वत् परि] तेरे चारों ओर [हमं लोमं] इस निवासस्थानको [निदधत्] रखता हुआ अर्थात् तेरे लिए निवासस्थान बनाता हुआ [अहं] मैं [मो रिपम्] मत्त नष्ट होऊँ । [एतां] वहाँ अर्थात् इस निवास स्थान में [ते] तेरे लिये [एतां स्थूणां] इस नीव को [पितरः] पितृगण [धारयन्ति] धारण करें अर्थात् तेरे निवासस्थानकी नीव पितर रखें और [तत्र] उस नीवपर [ते] तेरे लिये [यमः] यम [सादना] चरोंको [कृणोतु] बनायें [श्लो० १०।१८।१३] ॥ ५२ ॥

( भस्त्रे ) हे अग्नि ! ( हमं चमसं ) इस घरीररूपी चमसको ( मा वि जिह्वरः ) मत्त विचलित कर । क्योंकि यह चमस ( देवानां उत सोम्यानां ) देवों और सोम संग्राहक करनेवालोंका ( प्रियो ) प्यारा है । ( एषः ) यह ( यः ) जो ( चमसः ) चमस है वह ( देवपानः ) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं । ( तस्मिन् ) उस चमसमें ( अमृताः देवाः ) अमरगणशील देव ( मादयन्तां ) पान करके प्रसन्न होवें ॥ ५३ ॥

( यमर्वा ) निश्चल सतिवालने ( य पूर्णं चमसं ) जिस भरे हुए पूर्ण चमसको ( वाजिनीवते ) बलवत्कादिते पूर्ण ( इन्द्राय ) ऐश्वर्यशालीके लिए ( अविभः ) धारण किया था ( तस्मिन् ) उस चमसमें ( सुकृतस्य भक्षं ) भक्षक कर्मों का भोग ( कृणोति ) करता है । और ( तस्मिन् ) उस चमसमें ( विश्वदानीं ) सर्वदा ( इन्दुः ) ऐश्वर्य ( पवति ) बढ़ता रहता है ॥ ५४ ॥

हे प्रेत ! ( ते ) तेरे ( यत् ) जिस जंगको ( कृष्णः शुकुन् ) काले अनिष्टकारी पक्षीने ( आतुतोद ) पीछा पड़ुंछाई है, ( उत वा ) अथवा ( पिपीलः, सर्पः श्वापदः ) कीड़ी की जातिके जन्तुओंने वा, सर्पने या जंगली हँसक पक्षीने तुझे पीछा पड़ुंछाई है, तो [ अग्नि ] अग्नि ( विश्वात् ) इन उपरोक्त सबसे ( तत् ) उस तेरे भंगको ( अगदं कृणोतु ) रोग रहित करें । ( सोमः च ) और सोम भी तेरे उस जंगको मोरोग करे । ( यः ) जो कि सोम ( ब्राह्मणान् आविवेश ) ब्राह्मणोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ॥ ५५ ॥

भावार्थ- यम सबको निवासस्थान देवे ॥ ५२ ॥

इह घरीर देवोंके पान करनेका चमस है । यह देवोंका मित्र है । इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि !

इह घरीर को दुर्दशा मत कर ॥ ५३ ॥

निश्चल परमा मा यह सर्वोत्तम पूर्ण घरीररूपी चमसको बलवान् आत्माके लिए प्रदान करता है । वह आत्मा अपने गुरुज कीका फल इह घरीररूपी चमसमें खाती है । कर्म फल घरीरके बिना नहीं भोगे जा सकते । इसी चमस रूपी घरीरमें तमाम ऐश्वर्य बढ़ता रहता है ॥ ५४ ॥

काले अनिष्टकारी पक्षी वा कीड़ी मकोट आदि जन्तु, कर्पादि विषयुक्त प्राणियों व जंगली जानवरोंसे पड़ुंछाए गए बटको अग्नि व सोम दूर करें ॥ ५५ ॥

पर्यस्वतीरोपधयः पर्यस्वन्मामकं पर्यः ।

अर्पा पर्यसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भत

॥ ५६ ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराज्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।

अनध्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे

॥ ५७ ॥

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापुर्वेन परमे व्योमिन् ।

द्वित्वावधं पुनरस्तमेद्वि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः

॥ ५८ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्गं १ न्तरिक्षम् ।

तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अय यथावशं तन्वाः कल्पयाति

॥ ५९ ॥

अर्थ— ( ओपधयः ) ओपधिर्मां सेवन की जानेपर हमारे लिये ( पयस्वतीः ) सारवाली होवें । ( मामक पय ) मेरेमें जो सार है वह भी ( पयस्वान् ) सारवाला होवे । ( अर्पा ) जडादिरत्नोंके ( पयस ) सारभूतता का ( यत् पयः ) जो ( जगृह सार है ( तेन ) उस सारभूतता के ( सह ) साथ ( मा ) मुझे ( शुम्भत ) शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

( इमाः ) ये ( नारीरविधवाः ) जीवित पतिवों वाली, ( सुपत्नीः ) श्रेष्ठ पतिवों वाली ( नारीः ) नारियां ( आञ्ज-मेन सर्पिषा ) अंजनसर्पों की पूतसे ( संस्पृशन्ताम् ) अर्पण करके संसृक्त होवें अर्थात् पूतवाले अंजन का उपयोग करें । ( अंजन का प्रयोग सधवाका चिह्न है ऐसा यहाँ से जान पड़ता है । ) ( अनध्रवः ) वे नारियां आंगुलीसे रहित हुई हुई अर्थात् शोक रहित हुई हुई ( अनमीवाः ) शोकादित हुई हुई ( सुरत्नाः ) उत्तम रत्नादि आभूषणों को धारण की हुई ( जनयः ) संतानोत्पत्ति करनेवाली होती हुई ( अमे ) सबसे पहिले ( योनिं जातोद्भूत ) यामें प्रवेश करें ॥ ५७ ॥

हे मृत पुरुष ! ( परमे व्योमन् ) उत्कृष्ट व्योममें अर्थात् स्वर्गमें ( पितृभिः सं गच्छस्व ) पिताओं के साथ जा । ( यमेन स ) यमके साथ जा । ( रोहन्तु ) इष्टार्थके साथ अर्थात् अपने अर्पणित कर्मों के साथ जा । ( अयं द्वित्वावधं ) निश्चित कर्मोंका प्राण करके अर्थात् शुक्रमोंके साथ ( पुनः ) फिर ( अयं एद्वि ) अपने धाकी वापस आ अर्थात् पुनर्जन्म लेकर आ और तब ( सुरर्चाः ) उत्तम देव—कान्ति से युक्त हुआ हुआ त् ( तन्वाः ) उत्तम गच्छस्व ) शरीर—को धारण करके सत्सार्थमें विचारण कर ॥ ५८ ॥

( ये ) जो ( न ) हमारे ( पितुः पितरो ) पिताके पितर और ( य ) जो ( पितामहाः ) पितामह ( दादा ) ( ये ) जो कि ( बहु भतृषि ) विद्वत् भतृषिमें ( आविविशुः ) प्रविष्ट हुए हुए हैं ( तेभ्यः ) उनके लिये ( स्वराड् ) अपने प्रकाश—मान ( अभुनीविः ) प्राणदाता परमात्मा ( नः ) हमारे ( तन्वाः ) शरीरोंमें ( यथावशं ) कामकाके अनुसार ( कल्पयाति ) समर्थ करता है ॥ ५९ ॥

भाषार्थ— ओपधि, जल आदि सर्व पदार्थोंका जो धारभूत भव है वह मुझे अंत होने लिये कि मैं परार्थको भाषमान होऊँ । ओपधि आदि सारवान् पदार्थोंका सेवन करके मनुष्यको सुन्दर बनना पड़ेगा ॥ ५६ ॥

आञ्जन से ओढ़कर सर्वसे पहिले अर्पण करने से श्रेष्ठ है ।

( सू० १० । १८ । ७ ) ॥ ५० ॥

सर्पसे आगे के विष पितर तथा यम मृत पुरुष की आत्मा की पुर्बोपर होने अर्थात् १ यम से, २ पितर आदि ।

पहिले आगे कर्म करनेवाले जाते हैं । अथवा यम स्वर्गमें गई विभाग है और उनमें कर्मागार और नरक है ॥ ५२ ॥

पिता, पितृमह तथा पितामहोंके अन्तर्गत होने से उत्तम गच्छस्व होगा है ॥ ५९ ॥

शं तं नीहारी भवतु शं तं पुष्पाव शीयताम् । शीतिके शीतिंकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।  
मण्डूक्यं शुभु शं भुव इमं स्वर्गं शमय ॥ ६० ॥ ( १८ )

विवस्वान् नो अभयं कृणोतु यः सुशामां जीरदानुः सुदानुः ।

॥ ६१ ॥

इहेमे वीरा वहवीं भवन्तु गोमदश्च वन्मम्यस्तु पुष्टम्

विवस्वान् नो अमृतत्वे दधातु परंतु मृत्युरमृतं न ऐतुं ।

॥ ६२ ॥

इमान् रक्षतु पुरुषानां जरिष्णो मो ज्येष्ठिमसंघो यमं गुंः

यो दध्रे अंतरिक्षे न मद्वा पितृणां कविः प्रमर्तिर्मतीनाम् ।

॥ ६३ ॥

तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धातु

अर्थ—( वे ) वेरे छिप [ नीहारी : ] कुहरा [ य भवतु ] सुखकारी होवे । [ तं ] तेरे छिप [ पुष्पा ] वृष्टि [ य ] सुखरूप इरे इरे [ अवशीयताम् ] नीचे गिरे । [ शीतिके ] हे शीत्ययुक्त ! [ शीतिंकावति ] हे शीत्ययुक्त शीतिपति ! [ ह्लादिके ] हे हर्षित करनेवाली तथा [ ह्लादिकावति ] मानन्दित करनेवाले गुणोंवाली शीतिपति । अम्बु जलमें जिस प्रकार [ मण्डूकी ] में डूबी साग्न होती है अर्थात् जैसे जल में डूबीको शांति पहुँचानेवाला होता है उसी प्रकार ( या पुत्र ) सुखकारी हो और ( हमें भाति ) इस भागको ( अर्थात् जलनेसे जो क्षीरमें दाढ़ ( वज्र ) पैदा होता है उसको ( सुतमय ) अच्छी प्रकारसे पालन कर दे । ( पं० १०१६१४ ) ॥ ६० ॥

( विवस्वान् ) सूर्य ( नः ) अमर कृणोतु हमें अभय बनावे । ( यः ) जो कि विवस्वान् ( सुशामा ) अच्छी तरह सबसे रक्षा करनेवाला, ( जीरदानुः ) जीवनदाता व [ सुदानुः ] उत्तम दाता है । ( इह ) इस सत्तामें ( इमं ) वे ( वीरा ) पुत्रपौत्रादि [ वहव भवन्तु ] बहुत हो जावें । अर्थात् हमारी पुत्रपौत्रादि खूब होंवें । और ( गोमद ) गोबोलाका तथा ( मम्यन् ) गोबोलाका ( पुष्टं ) पोषण ( मयि भवतु ) मेरेमें होवे । अर्थात् मैं गोबोलासे संपन्न होऊँ ॥ ६१ ॥

( विवस्वान् ) सूर्य ( नः ) हमें ( अमृतत्वे ) अमरतामें ( दधातु ) स्थापित करे अर्थात् सूर्य हमें अमर बनावे । ( मृत्युः परा पशु ) मृत्यु परे भाग जावे । ( न अमृत पशु ) और हमें अमरता प्रप्त होवे । वह विवस्वान् ( इमान् पुरुषान् ) इन पुरुषोंकी ( आ जरिष्णो ) वृद्धावस्थापर्यन्त ( रक्षतु ) रक्षा करे । ( यो अमरः ) इन पुरुषोंके प्राण ( या यम गु ) यमकी मृत जावें अर्थात् ये मर भरे ॥ ६२ ॥

( यः ) जो ( प्रमति ) प्रवृद्ध मुखियाला ( कविः ) कण्ठवृत्तों ( मतीनां पितृणां ) उत्तम मतिमान पिताओंकी ( मद्वा न ) मानो अपनी महिमासे ही ( अंतरिक्षे ) अंतरिक्षमें ( दध्रे ) धारण करता है, ( विश्वामित्रा ) हे सबके मित्र मनुष्यों ! ( त ) उस यमकी ( हविभिः अर्पय ) हविर्घोसे पूजा करा । ( स यमः ) वह यम ( ना ) हमें जीवसे शीत्ययुक्त छिप ( प्रतर धातु ) अच्छी तरहसे धारण करे ॥ ६३ ॥

भाषार्थ— तेरे लिये सब जगत् के पदार्थ सुखदायी हों ॥ ६० ॥

गुप्त प्रभरवे रक्षा करनेवाला व जीवनदाता सूर्य हमें अमर बनावे । इसारी सतित खूब रहे व हम गो गोरी करिबे परित्यक्त होवे ॥ ६१ ॥

सूर्य हमें अमर बनावे । मृत्यु दूर भाग जावे व हमें अमरता प्राप्त होवे, हमरे सब पुरखोंकी सूर्य वृद्धावस्थातक रक्षा करावे, हमरे ये वे कोईभी वृद्धावस्था के पूर्व न मरे ॥ ६२ ॥

वह कण्ठवृत्तों यम विचारणीय । अन्तरिक्षा अपनी महिमासे अंतरिक्षमें धारण किए हुए है । हे मनुष्यों ! गुप्त सबके मित्र दूर दूर अपनी हविर्घोसे पूजा करा, जिससे कि वह गुप्तहारे लिये दीर्घायु प्रदान करे ॥ ६३ ॥



आ रोहतु दिवमुत्तमामृषयो मा विभीतन ।

सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्तु ज्योतिरुत्तमम्

॥ ६४ ॥

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।

दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे मदिपो ववर्ध

॥ ६५ ॥

नार्के सुपर्णमुप यत्पतन्तं हृदा वेनन्तो अम्यचक्षत स्वा ।

हिरण्यपक्षे वरुणस्य दूतं यमस्य योनीं शकुनं भुरग्युम्

॥ ६६ ॥

इन्द्रं कर्तुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा ।

शिक्षां णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि

॥ ६७ ॥

अर्थ-(कथय) हे मन्त्रद्वेषा जनों । (उत्तमो दिव आरोहत) उत्तम यु अर्थात् स्वर्गका चढो । अर्थात् स्वर्गमें जाओ । [ मा विभीतन ] मत डरो । हे [ सोमपा ] सोमपान करनेवाले तथा [ सोमपायिनः ] अम्यो को सोमपाप करनेवाले जनों । [ वः ] तुम्हारे लिए ( इदं हवि क्रियते ) यह हवि हम करते हैं । [ उत्तम ज्योति ] जिससे कि हम उत्तम ज्योतिको [ अगन्तु ] प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

• ( अग्नि ) अग्नि [ बृहता केतुना ] अपने बड़े भाई केतुसे अर्थात् ज्वालाकूपी भडोसे ( प्रभाति ) अग्नि घरह चमकता है । और वही अग्नि [ रोदसी ] छाया पृथिवीमें [ वृषभः ] वर्षादि द्वारा कामनामें ही पूर्ण करता हुआ ( रोरवीति ) मेघ बिजली आदिके रूपमें गरजता है । यह ( दिवः अन्तात् ) घुके अन्तसे [ मान् उप ] मेरे तक अर्थात् घु तथा पृथिवीमें सर्वत्र ( उप आनत् ) अग्नी घरहसे व्याप्त हुआ हुआ है । [ मदिपः ] महान् अग्नि ( अर्पा उपस्थे ) जलोंकी गोदमें [ यथा ] वसता है । अर्थात् पादलके रूपमें विद्यमान जलोंमें पित्रकी रूपमें यह अग्नि वसता रहता है ॥ ६५ ॥

( नाके जप पतन्त सुपर्ण इव ) आकाशमें उड़ते हुए उत्तम पक्षीवाले पक्षीको जैसे सर्वत्र देखते हैं उसी प्रकार हे सूर्य ! आकाशमें गति करते हुए [ याः ] तुम [ हिरण्यपक्षः ] सोने जैसे चमकीले पक्षीवालेको, [ सूर्यका प्रकाश सुपर्णीय पीका होता है ] और ( वरुणस्य दूतं ) वरुण जब को देखता है, उसको प्राप्त करनेवाले अर्थात् पृथिवी देनेवाले तुमको, ( सूर्यका दृष्टि देना वेदमें कई स्थानोंपर आया है ) और ( यमस्य योनीं ) यमके घरमें अर्थात् अवरिक्षमें ( यमका, अवरिक्षमें स्थान है यह पहिले जा चुका है ) ( शकुनं ) शक्तिशाली होकर विद्यमान व ( भुरग्युम् ) वर्षा प्रकाश आदिके देनेवाला सबके पादल तुमको विद्वान् गम ( हरा वेनन्त ) हृदयसे प्वाप्त करते हुए ( अम्यचक्षत ) भडी प्रकार देखते हैं ॥ ६६ ॥

( इन्द्रं ) हे ऐश्वर्यशाली ! ( नः कर्तुं यामर ) तु हमें कर्म व कर्मदान इस प्रकार से दे [ यथा ] जिस प्रकार ते कि ( पिता पुत्रेभ्यः ) पिता अपनी सगर्भों को दत्ता है । [ पुरुहूतं ] ह बहुत प्रकारसे पुत्रात् यत् इन्द्र ! ( अस्मिन् यामनि ) इस सत्तासागर पार करनेके मार्गमें ( वः शिक्षां ) हमें शिक्षा दे । अर्थात् समाचाराना देनेका उपाय । जिससे कि [ जीवाः ] हम जीवजगत् [ ज्योतिः अस्मिन् ] ज्ञानमहासागर को प्राप्त करें ॥ ६७ ॥

भाषार्थ- अविषय निर्भव होकर सर्वथा अने है । सामपन करनेवालों व दृष्टयों को देने के लिए देवे व उत्तम उपदेष्टा लाभ होता है ॥ ६४ ॥

यह अग्नि इषीयर ज्वाला भोजे चमकता रहता है । पानाई घरमें वर्षा करनेवाला हुआ हुआ पूर्ण विपुल अग्नि के कर्म करनेवाला रहता है । घु तथा पृथिवी दोनोंमें वह व्याप्त है । अग्निधर्म विद्वान् जनों से विपुल दान वह दत्ता रहता है । वरुण व अग्निव्य वह है कि वह अग्नि बिजली स्वस्वमें दत्तकृषि को व्याप्त किए हुए है ॥ ६५ ॥

७ ( अ. प्र. भा. अ. १८ )

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्तै देवा अधारयन् ।

ते ते सन्तु स्वधार्वन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः

॥ ६८ ॥

यास्तै धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधार्वतीः ।

तास्तै सन्तु विश्वीः प्रश्वीस्तास्तै यमो राजानु मन्यताम्

॥ ६९ ॥

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि । यथा यमस्य सादने आसांति विदथा वदन् ॥ ७० ॥

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्वरो अस्तु ते ।

शरीरमस्य सं द्रुहार्थेन धेहि सुकृतांमु लोके

॥ ७१ ॥

ये ते पूर्वं परागता अपरे पितरश्च ये । तेषां घृतस्य कुल्यैः तु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

अर्थ—[ यान् ] जिन [ अपूपापिहितान् ] सालपुनोसि ढके हुए [ कुम्भान् ] घटोंको [ देवाः ] देवोंके [ ते ] तेरे [ अधारयन् ] धारण किया है अर्थात् तुझे दिया है [ ते ] ते पडे [ ते ] तेरे लिये [ स्वधार्वन्तः ] स्वधावाले, मधुमन्तः ] मधुरतायुक्त तथा [ घृतश्चुतः ] घीसे परिपूर्ण ( सन्तु ) होवें ॥ ६८ ॥

[ ते ] तेरे लिए [ याः तिलमिश्राः स्वधार्वतीः धानाः ] जिन तिलोंसे मिश्रित अर्घ्यान् तिल मिले हुए स्वधावाले धानोंको ( अनुकिरामि ) अनुकूलता से चँकता हूँ, [ ताः ] वे धान [ ते ] तेरे लिए [ विश्वीः ] नानाप्रकारवाले वे प्रश्वीः ] प्रभूत मात्रामें पानि बहुत मात्रामें [ सन्तु ] होवें । [ याः ] उन्हें [ ते ] तुझे देनेके लिए [ यमः राजा ] यम राजा [ अनुमन्यते ] अनुमति देवे । [ यमके राज्यमें बिना यमकी अनुमतिके किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता अतः उमकी अनुमति मागी है ] ॥ ६९ ॥

( वनस्पते ) हे वनस्पति ! [ यः एष ] जो यह [ त्वयि निहितः ] तेमें रखा है उसे [ पुनः ] फिर बाविस [ देहि ] दे [ यथा ] जिससे [ यमस्य सादने ] यमके घरमें यह [ विदथा यदन् ] विज्ञानोंको बोलता हुआ [ आसांति ] स्थित होवे ॥ ७० ॥

अर्थ—[ जातवेद ] हे जातवेदस् अग्नि ! [ आरभस्व ] जलाना प्रारभ कर । [ ते ] तेरा [ दरा ] दहनका सामर्थ्य तेजस्वत् भवतु ] तेजसाका होवे अर्थात् जिसको जलाना शुरू करे उसे दीप प्रकाशक भस्मीभूत करनेवाला तेरा सामर्थ्य रहे, जलनेमें तेर न लगे । [ अस्य ] इस मृदा [ शरीरं संद्रुह ] शरीर अच्छी तरह जला डाल । ( अथ ) अतः तेरा [ पुनः ] इसी धाराका [ सुकृतां लोके ] यैजुनोंके लोकमें ( धेहि ) धारण कर अर्घ्यां पहापर पशुषा ॥ ७१ ॥

[ ते ] वे [ ये पूर्वं परागता ] जो पूर्वाङ्गीन पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ ये वररे ] वरदा । जो जवांघोन पितर परलोकवासी हुए हैं ( उच्यते ) उन प्राचीन य अर्वाचीन पितरोंके लिए [ प्रतथा व्युन्दती ] निम्नकी धाराओं वाली उमचयी हुई [ शृतरप कुल्या ] जलकी कुल्या— छुन नदी [ एष ] प्राप्त होवे ॥ ७२ ॥

नाशार्थ— यमलोक में मृतानाको गुप्त हो ऐसे कर्म बह बर्हा करे ॥ ६६ ॥

दे इन्द्र । त्रिव प्रचार पिता पुत्रोंके उपदेश करता है उस प्रकार तू हमें कर्ममार्ग व तथैवम्भी ज्ञानका उपदेश कर ॥ ६७ ॥

परलोक में जीवके लिए गुप्त प्राप्त होवे ॥ ६८ ॥

यमलोक में गए हुए के लिए अर्घ्य मृतके लिए तिलमिश्रित धान आ जावे ॥ ६९ ॥

यैव यमलोक में गुप्त पशुषा ॥ ७० ॥

मृत्वा शरीर अग्नी प्रचार जलाय जावे ॥ ७१ ॥

पितरोंके वरने शरीर वरनेके लिए महार का पाना प्रदुनत किया जावे ॥ ७२ ॥

एतदा रौह वयं उन्मृजानः स्वा इह वृहदु दीदयन्ते ।

अभि प्रेहि मध्यतो मार्य हास्याः पितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र

॥ ७३ ॥

[ ४ ]

आ रौहत् जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रौहयामि ।

अवाहृद्व्यपितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां षत्त लोके

॥ १ ॥

देवा यज्ञमुत्तवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं सुचो यज्ञायुधानि ।

तेभिर्याहि पृथिभिर्देवयानैर्यैरिजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम्

॥ २ ॥

अर्थ—[उन्मृजानः] अपने को शुद्ध करता हुआ ( एतद् वयः आरोह ) इस अंतरिक्षमें चढ । [ इह ] यहाँ ( स्वाः ) वेरे बन्धुबान्धव [ वृहत् उदीदयन्ते ] बहुत प्रकाशमान हो रहे हैं— अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी वृ विन्ध्य मत कर । [ मध्यतः अभिप्रेहि ] उन बन्धुबान्धवों के मध्यसे जा । [ पितृणां लोकं ] पितरों के लोकका [ मा अवाहृद्व्यः ] त्याग मत कर अर्थात् वेरेसे पितृलोक छूटने न पावे । [ यः ] जोकि पितृलोक ( अत्र ) यहाँ [ प्रथमः ] मुख्य मसिद्ध है ॥ ७३ ॥

[ ५ ]

( जातवेदसः ) हे आसिरो । तुम [ जनित्रीं आरोह ] अपनी उत्पन्न करनेवाली के पास पहुँचो । ( यः ) तुम्हें ( पितृयाणैः ) पितृयाणमागोंसे [ सं आरोहयामि ] भरती प्रसार पहुँचाता हूँ । ( हव्यवाहः हव्यवाहः ) हवि हव्यों का वाहक अभि ( हव्या = हव्यानि ) हव्योंको [ अवाहृत् ] वरन करता है । हे आसिरो ! ( युक्ताः ) तुम निष्कट- ( ईजानं ) यज्ञ करनेवाले को ( सुकृतां लोकं ) भेष्ट हमें करनेवालों के लोकमें [ षत्त ] पागल करो अर्थात् यज्ञ उसे के आओ ॥ १ ॥

( देवाः ) देवगण तथा ( यज्ञवः ) यज्ञव आदि वर्य यज्ञपूर्ण [ यज्ञं ] यज्ञ अर्थात् वैदिक, शास्त्रिक, मानिस आदि ज्ञाना प्रकारके होम ( कदायन्ति ) रखते हैं—वर्तते हैं । और इस यज्ञके करनेके निवे ( हविः ) यज्ञमें हाड़नेउप- पदार्थ पूत आदि, ( पुरोडाशं ) पूत आदिसे बनाए हुए पदार्थ, ( यज्ञः ) इन पूत आदि पदार्थोंको हाड़नेके क्रि साधनभूत यज्ञके छिपे उपयुक्त समयेकी आकृति जैसे तुम्हें तथा अन्य ( यज्ञायुधानि ) यज्ञसंयन्त्रों इधियाए बनाये हैं ( तैभिः देवयानैः पृथिभिः ) उन ऊपर दत्ताए गए यज्ञ करनेके देवयानमागोंसे के यन्त्र । वृ ( याहि ) रिपान क अर्थात् तुम्हीं उनकी तरह निष्पन्नति यज्ञको यथाविधि कर । ( यैः ) जिन देवयानमागोंसे कि ( ईजाना ) वे करनेवाले लोग ( ययैः लोकं यन्ति ) ययैलोक को जाते हैं ॥ २ ॥

भाषार्थ— मृत्युया यमलोकको पहुँचे और यहाँ वह आनन्दित रहे ॥ ७३ ॥

[ ६ ]

यज्ञ करनेवालोंको आसि उत्पन्न हमें करनेवालोंके लोके पहुँचाती है । अतः अन्तरिक्षको देवा क्रान्तिके विद् यज्ञ कर- यकरी है ॥ १ ॥

देवयग यज्ञके अनुकार अन्तरिक्ष यज्ञक यमो नेव, वरके यज्ञ करते हैं । उक्त अनुकार करनेवाले लोक सार्वभौम होते हैं अतः यथाविधि पुरोडाश यज्ञ करना वे देवे निश्चय कि सार्वभौमके उपाय-पदों परसे ॥ १ ॥

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः मुकृतो येन यन्ति ।

तेभिर्गोहि पृथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३॥

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः ।

॥ ४ ॥

स्वर्गा लोका अमृतेन विष्टा इपमूर्जं यजमानाय दुहाम्

जुह्वर्दाधारं दामुपभृदुन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठााम् ।

॥ ५ ॥

प्रतीमां लोका घृतपृष्टाः स्वर्गाः कामकामं यजमानाय दुहाम्

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व ।

जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं सुवेणं वत्सेन दिशः

॥ ६ ॥

प्रपीनाः सर्वा ध्रुवाह्णीयमानः

अर्थ—( ऋतस्य पन्थां ) यज्ञके मार्गको ( साधु अनुपश्य ) अच्छी तरहसे जान । और ( येन ) जिस यज्ञ संबन्धी मार्गसे ( मुकृतः अङ्गिरसः ) उत्तम कर्म करनेवाले अङ्गिरस् जन ( यन्ति ) जाते हैं, ( तेभिः पृथिभिः ) उन मार्गों से ( स्वर्गं याहि ) स्वर्ग को जा, ( यत्र ) जहाँ कि अर्थात् जिस स्वर्गमें कि ( आदित्याः ) मनुष्यकीय सामर्थ्यवाले श्रेष्ठ कर्म करनेवाले जन ( मधु भक्षयन्ति ) अमृत को खाते हैं अर्थात् आनन्द भोगते हैं । ( तृतीये नाके ) तीसरी जो स्वर्गलोक है उसमें जाकर ( विधयस्व ) विधायित्व ले-आराम कर ॥ ३ ॥

( सुपर्णाः त्रयः ) तीन उत्तम गति करनेवाले अथवा उत्तमवया पावन करनेवाले तथा ( उपरस्य मायू ) मेघके सन्ध्यासे शब्द करनेवाले दो, ये सब ( विष्टपि ) अंतरिक्षमें ( नाकस्य पृष्ठे ) स्वर्गके उपर ( अधि श्रिताः ) स्थित हैं । ( स्वर्गाः लोकाः ) स्वर्ग लोका ( अमृतेन विष्टाः ) अमरतासे व्याप्त हैं अर्थात् वे मरणरहित हैं । ये सब ( यजमानाय ) यज्ञ करनेवालेके लिए ( इपं ) अन्न तथा ( जर्जं ) घृतको ( दुहाम् ) दूधें ॥ ४ ॥

( जुहु- ) जुहूने ( द्यां दाधार ) ध्रुवको धारण किया हुआ है । और ( उपभृत् ) उपभृत्ने ( अन्तरिक्षं ) अन्तरिक्षको धारण कर रहा है । ( ध्रुवा प्रतिष्ठां पृथिवीं ) ध्रुवाने आश्रयस्थान पृथिवीको ( दाधार ) धारण कर रहा है । ( इमां प्रति ) इस पृथिवीको ओर लक्ष्य करते हुए ( घृतपृष्टाः ) चमकीली पीठवाले अर्थात् प्रकाशमान ( स्वर्गाः लोकाः ) स्वर्गलोक [ यजमानाय ] यज्ञकर्ताके लिए [ कामं कामं ] अत्यंत कामनाको [ दुहाम् ] दूधें करें ॥ ५ ॥

[ ध्रुवे ] दे ध्रुवा । [ विश्वभोजसं पृथिवीं ] सबको खिलानेवाली अर्थात् पावन पृथिवी पर [ यजमानेन साकं ] यजमान के साथ [ आरोह ] चढ़, स्थित हो । ( उपभृत् ) दे उपभृत् । त् यजमानके साथ ( अंतरिक्षं ) अंतरिक्षमें संचार कर । ( जुहु ) दे जुहु । त् ( यजमानेन साकं ) यजमानके साथ [ द्यां गच्छ ] ध्रुवको जा । दे यजमान । इस प्रकार त् अह्णीयमानः ) निःशंकोच हुआ हुआ । ( वत्सेन सुवेणं ) यज्ञकेरूपी सुबासे ( सर्वाः ) सब [ प्रपीनाः ] अच्छी तरह श्दिको प्राप्त हुई हुई [ दिशः ] दिशाओंको [ ध्रुव ] दो । अर्थात् यज्ञद्वारा अभिकणित पदार्थोंको प्राप्त कर ॥ ६ ॥

भाषार्थ— ध्रुवकर्म करनेसे नक्षत्र और आनन्द प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

तीनों दो शब्दों यज्ञकर्ताके अन्न, घृत और आनन्द देती है ॥ ४ ॥

स्वर्गलोक यज्ञकर्ता की सर्व कामनायें पूर्ण करते हैं ॥ ५ ॥

यज्ञद्वारा यजमान सब उगड़ अन्नवाहक गतिसे जाता है । यज्ञद्वारा सर्व दिशाओंमें वांछित फल प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति ।

अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥

अङ्गिरसामयनं पूर्वी अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः ।

महिमानमग्रेर्वीहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्वं उप याहि श्रमः ॥ ८ ॥

पूर्वी अग्निर्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः ।

दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वमोत्तरतो मेघपतो अन्तरिक्षाद् दिशोर्दिशो अग्ने

परि पाहि घोरात् ॥ ९ ॥

युयमग्ने शंतमाभिस्तनूर्भिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।

अथवा भूत्वा पृष्टिवाहो यदाथ यत्र देवैः सधुमाद् मदन्ति ॥ १० ॥ ( २० )

अर्थ— [ यज्ञकृतः ] यज्ञों के करनेवाले [ सुकृतः ] छेड़ कर्म करनेवाले जन [ येन यन्ति ] जिस मार्गसे विचरण करते हैं उस मार्गपर चलनेसे [ तीर्थैः ] करनेके साधन यज्ञादिद्वारा [ प्रवतः महीः ] बड़ी बड़ी आपनियाँ भी [ तरन्ति ] तर जाते हैं । [ यत् ] यदा [ दिशः ] दिशाएँ तथा [ भूतानि भूतोंको ] अर्थात् प्राणियों को [ सकल्पयन्त ] निर्माण करते हैं उस समय [ यजमानाय ] यजमान के लिए [ लोकं अद्युः ] स्थान देते हैं ॥ ७ ॥

[ अङ्गिरसं ] अङ्गिरसोंका [ अयनं ] मार्ग [ पूर्वः अग्निः ] पूर्वका अग्नि है । [ आदित्यानां ] आदित्योंका [ अयनं ] मार्ग [ गार्हपत्यः ] गार्हपत्य अग्नि है । [ दक्षिणानां ] कार्यमें दक्षोंका [ अयनं ] मार्ग [ दक्षिणाग्निः ] दक्षिणाग्नि है । [ ब्रह्मणा ] वेदमंत्रों द्वारा [ विहितस्य ] यद्युमें स्थापित की गई अग्निफी [ महिमानं ] महिमाको, [ समङ्गः ] एक अंगोंवाला होकर, [ सर्वैः ] सर्व अवयवों से युक्त हुआ हुआ अर्थात् पूर्ण शरीरवाला होकर, और इसीलिए [ श्रमः ] सुखी हुआ हुआ तू [ उपयाहि ] प्राप्त कर ॥ ८ ॥

[ पूर्वः अग्निः ] पूर्व की अग्नि [ या ] तुझे [ पुरस्तात् ] आगेसे [ शं तपतु ] सुखपूर्वक तपावे । [ गार्हपत्यः ] गार्हपत्य अग्नि [ पश्चात् ] पीछेसे [ शं तपतु ] तुझे सुखपूर्वक तपावे । [ दक्षिणाग्निः ] दक्षिणाग्नि [ ते ] ठेरे किए [ श्रमे ] सुखरूप हुई हुई व [ वर्म ] कवचरूप हुई हुई तुझे [ तपतु ] तपावे । [ अग्ने ] हे अग्नि ! तू हमें [ उपयातः ] उपर दिशासे [ मघ्यतः ] दिनाभिर्दिशे पीछेसे [ अन्तरिक्षाद् ] अंतरिक्षसे [ दिशः दिशः ] प्रायेक दिशासे आनेवाले [ घोरात् ] तू— हितकरसे [ परिपाहि ] चारों ओरसे संरक्षण कर ॥ ९ ॥

[ अग्नेऽभ्यगताः ] हे गार्हपत्यादि अग्नियों ! [ युयं ] तुम ( युष्टिवाह, अथाः भूत्वा ) पीछेसे जं करनेवाले भोहों की तरह बचकर ( शंतमाभिः तनूर्भिः ) अपने मुखवाली छातीमेंसे ( ईजां ) जिसने यज्ञ किया है ऐसे को ( स्वर्गं लोकं अभि ) स्वर्गलोक की ओर ( यदाथ ) ले जाओ । ( यत्र ) जहाँ स्वर्गमें यज्ञकों जन ( देवैः सधुमाद् ) देवोंके साथ आनन्द को ( मदन्ति ) भोगते हुए पृष्ठ होते हैं ॥ १० ॥

भाषार्थ— यज्ञ करनेवाले गृहस्थ और भीमिष इस समय मार्गसे जाते हैं उस मार्गपर चलते हुए यज्ञादिद्वारा बड़ी बड़ी आपनियाँ भी ली जा सकती हैं । यज्ञ करनेवाले को गृहनिर्माण के समय भी यज्ञम लोक को प्राप्ति होती है । यही वह है कि यज्ञ करनेवाले को कभी भी यज्ञ नहीं होता ॥ ७ ॥

देवोंके अवन अवर्त मार्गके अनुसर अथवा आचरण करनेसे सुख प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

अग्निसे प्रायेण की गई कि तू हमारी सब ओरसे रक्षा कर । सब ओर हमारे हमारा संरक्षण कर ॥ ९ ॥

यज्ञकों को अग्नेर्वा चारों ओर एक अन्तर्दिशेकर स्वर्गमें ले जाओ हैं जहाँ कि स्वर्गमें वे देवोंके साथ निरन्तर आनन्द भोगते हैं । अतः स्वर्ग प्राप्त करने यज्ञ करना परमावश्यक है ॥ १० ॥

शर्मणे पश्चात् तप सं पुरस्ताच्छमुत्तराच्छर्मघरात् तपैनम् ।

एकस्त्रेधा विहितो जातवेदः सम्प्रयत्नं धेहि सुकृतां मु लोके

॥ ११ ॥

सम्प्रयः सर्मिद्धा आ रभन्तां प्राज्ञापत्यं मेघ्यं जातवेदसः ।

श्रुतं कृष्यन्तं इह मार्यं चिक्षिपन्

॥ १२ ॥

यज्ञ एति विततः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।

तमप्रयः सर्वदुक्तं जुपन्तां प्राज्ञापत्यं मेघ्यं जातवेदसः ।

श्रुतं कृष्यन्तं इह मार्यं चिक्षिपन्

॥ १३ ॥

ईजानश्चित्तमारुह्यदयि नार्कस्य पुष्टाद् दिवमुत्पतिष्यन् ।

तस्मै त्र भाति तमस्तो ज्योतिर्पमानस्वर्गः पन्थाः सुकृतं देवयानः

॥ १४ ॥

अर्थ—(अग्ने) हे अग्नि । तू (पूने) इस यज्ञकर्मको (सं) सुखपूर्वक (पदवाद्) पीछेसे, (सं) सुखपूर्वक (पुरक्षाएँ) आगेसे (तप) तथा । (उत्तराएँ) उत्तरसे (सं) सुखपूर्वक तथा और (अपराएँ) नीचे की दिशासे (सं) सुखपूर्वक तथा । (जातवेदः) हे उत्तम पदार्थों में रहनेवाले अग्नि । तू (एकः) एक होता हुआ भी (त्रेधा) तीन प्रकारसे अर्थात् पश्चात्, आगेपश्चात् और दक्षिणाग्नि के रूपसे (विहितः) स्थापित किया जाता है । तू (पूने) इस यज्ञमान को (सुकृतां लोकं) भेद जनों के लोकमें (सम्प्रयः) अच्छी तरहसे (धेहि) स्थापित कर अर्थात् बहावर इसे पहुँचा दे । (सर्वदुक्तं) सभी प्रकारके (जुपन्तां) अच्छी तरहसे (येहि) स्थापित कर अर्थात् बहावर इसे पहुँचा दे । (सम्प्रयः) अग्निप्रां (प्राज्ञापत्यं) प्रज्ञापीत देवतावाले [ मेघ्यं ] पवित्र इस यज्ञमानको [ सं ] सुखपूर्वक यज्ञके कार्यमें [ आरभन्तां ] उत्तुंग बनाये । (इह) यहाँ पर यज्ञ कार्यमें वे अग्निमें यज्ञमान को [ श्रुतं कृष्यन्तः ] पक्व अर्थात् पूर्ण बनायें । उसे इस कार्यसे [ मा ] लत [ मार्यं चिक्षिपन् ] गिरने देयें ॥ १२ ॥

( विततः यज्ञः ) विस्तृत यज्ञ [ कल्पमानः ] समर्थ हुआ हुआ [ ईजानं ] यज्ञ किष्ट द्रव्य को [ स्वर्गं लोकं ] स्वर्ग लोक को [ अभिपति ] पहुँचाया है । [ तं ] उक्त [ सर्वदुक्तं ] जिससे अपना सर्वस्व होम कर दिया है उसे यज्ञकर्मको [ मप्रयः ] अग्निप्रां [ उपन्ते ] संतुष्ट करे । और अर्थ उत्तरके मंत्र के मन्त्रान्तर है ॥ १३ ॥

[ नादस्य पुष्टाद् ] स्वर्ग के ऊपरसे [ दिवं उपनिष्यन् ] तुझे ऊपरसे उड़ना कहा हुआ [ ईजानः ] यज्ञ किष्ट हुआ पुष्ट [ पिते अग्नि ] यज्ञ को हुई अग्नि को [ अरुक्षत् ] भक्ष करवा दे, प्रयोजित करता है । [ तस्मै सुकृते ] उस यज्ञ कर्म करनेवाले के लिए [ नमस्तः ] आकाशका [ ज्योतिषीमान् ] प्रकाशवाला [ देवयानः ] देव जिससे जाते हैं पन्था [ पन्थाः ] सुपदार्थों [ पन्थाः ] मार्ग [ प्रभाति ] प्रकटित होता है ॥ १४ ॥

आराधने—अग्नि यज्ञ औरके मुख्यतः हमारा रक्षण करती है । अस्तुतः वह एकही है पर व्यवहार में उसकी तीन रूपों से श्रवणा की जाती है । यज्ञकर्ताको वह स्वर्गमें पहुँचाती है ॥ ११ ॥

यज्ञादि कार्यों में प्रयोजित अग्निप्रां यज्ञमानको उत्साहित करके पूर्ण मनोरथवादी बनाती है । वह अपने कार्य में सफल बनाता है क्योंकि अग्निप्रां उसे कर्तव्यपथसे गिरने से बचा लेती है ॥ १२ ॥

विपुल रूपमें किया गया यज्ञ यज्ञमानको स्वर्गमें लाने पहुँचाता है । अग्निप्रां उसे अभिमत फलप्राप्तिका संतुष्ट करती है व अरुक्ष्यन्ते गिरने से बचा देती है ॥ १३ ॥

स्वर्गमें तुझे अपने कर्म करने को हुई अग्निसे प्रदीप्त करवा दिया । और जो यज्ञ को हुई वह को प्रदीप्त करता है उपाय निम्न आकाशका मुख्यतः देवयान मार्ग सुख आग है ॥ १४ ॥

अग्निर्होताध्वर्युष्टे वृहस्पतिरिन्द्रो ब्रह्मा दधिगृतस्ते अस्तु ।

हुतोऽयं संस्थितो यज्ञ एति यत्र पूर्वमयनं हुतानाम्

॥ १५ ॥

अपूपवान् क्षीरवांश्चरुह सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांसा इह स्थ

॥ १६ ॥

अपूपवान् दधिवांश्चरुह सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांसा इह स्थ

॥ १७ ॥

अपूपवान् द्रुप्तवांश्चरुह सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांसा इह स्थ

॥ १८ ॥

अपूपवान् घृतवांश्चरुह सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांसा इह स्थ

॥ १९ ॥

अर्थ— [ ते ] वेरा [ अग्निः ] होवा [ अग्नि होवा ] अर्थात् राजाद्वैतक आहुति देनेवाला [ मरु ] होवे । [ वृहस्पतिः ] बहो बहो का पाकक वेरा [ अश्वर्युः ] यज्ञ करनेवाला होवे । और [ इन्द्रा ] इन्द्र [ ब्रह्मा ] ब्रह्मा बनकर [ ते ] पथिकृतः अस्तु [ तेरी ] दाहिनी ओरमें होवे । [ अयं ] यह [ हुतः ] आहुति दिया गया और [ सं स्थितः ] अग्नी उरह दिया गया [ यज्ञः ] यज्ञ [ एति ] पढ़ी जाता है [ यत्र ] जहाँ कि [ पूर्व ] पहिले [ हुतानां ] आहुति दिए गए यज्ञोंका [ अयनं ] जाना होता है ॥ १५ ॥

[ अपूपवान् ] माकपूर आदि गेहूँके आटेसे या पीसी लदावताले बनाए हुए पदार्थोंवाला तथा [ धीरवान् ] दूधवाला [ चरुः ] यज्ञके छिपे ठेपार दिया गया पाक [ इह ] यहाँ यज्ञमें [ आसीदतु ] स्थित होवे । ( लोककृतः ) लोक बनानेवालों तथा ( पथिकृतः ) मार्गोंके बनानेवालोंकी हम ( यजामहे ) उस उपरोक्त पदार्थोंका पूजा करते हैं— सम्भार करते हैं । ( ये ) जो कि लोककृत या पथिकृत गुप्त ( रह ) पढ़ावर यज्ञमें ( देवानां ) देवोंके ओपमें ( हुतमांसाः ) जिनके छिपे कि भाग दिया गयाहै ऐसे ( स्थ ) स्थित हो ॥ १६ ॥

( अश्वर्युः ) माकपूर आदिसे गुप्त तथा ( इन्द्रा इन्द्रोभिध ( चरुः ) चरु ( इह ) यहाँ यज्ञमें ( आसीदतु ) स्थित होवे । ( लोककृतः ) लोकोंको बनानेवाले हवादि सेव पूर्ववत् ॥ १७ ॥

( अपूपवान् ) माकपूर आदिसे गुप्त तथा ( द्रुप्तवान् ) अन्ध गुप्त करनेवाले जूथोंसे गुप्त ( चरुः ) चरु ( इह ) यहाँ यज्ञमें ( आसीदतु ) स्थित होवे । ( लोककृतः ) लोकोंको बनानेवाले हवादि सेव पूर्ववत् ॥ १८ ॥

( अपूपवान् ) माकपूर आदिसे गुप्त तथा ( घृतवान् ) घीभिध ( चरुः ) चरु ( इह ) यहाँ यज्ञमें ( आसीदतु ) स्थित होवे । ( लोककृतः ) लोकोंके बनानेवाले हवादि सेव पूर्ववत् ॥ १९ ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुहे सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ

॥ २० ॥ ( २१ )

अपूपवानन्नवांश्चरुहे सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ

॥ २१ ॥

अपूपवान् मधुमांश्चरुहे सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ

॥ २२ ॥

अपूपवान् रसवांश्चरुहे सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ

॥ २३ ॥

अपूपवानपवांश्चरुहे सीदतु ।

लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतमांगा इह स्थ

॥ २४ ॥

अपुपापिहितान् कुम्भान् यास्ते देवा अर्धारपन् ।

ते तै सन्तु स्वधार्पन्तो मधुमन्तो घृतधृतः

॥ २५ ॥

यास्ते धाना अलुकिरामि तिलमिश्राः स्वधार्पवीः ।

तास्ते सन्तु दुग्धीः प्रग्भीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्

॥ २६ ॥

अर्धिति भूयसीम्

॥ २७ ॥

अर्थ—( अपूपवान् ) मांसपूये आदिसे युक्त तथा ( मांसवान् ) मांसवाला ( चरुः ) चरु ( इह ) यहाँ यज्ञमें ( आसीदतु ) स्थित होये । ( लोककृतः ) लोकिको बनानेवाले हवादि तोष पूर्ववत् ॥ २० ॥

( अपूपवान् ) मांसपूये आदिसे युक्त तथा ( अन्नवान् ) अन्न अर्थात् नाना तरहके धानधोखाळा ( चरुः ) चरु ( इह ) यहाँ यज्ञमें ( आसीदतु ) स्थित होये । ( लोककृतः ) लोक बनानेवाले हवादि तोष पूर्ववत् ॥ २१ ॥

( अपूपवान् ) मांसपूये आदिसे युक्त ( मधुवान् ) मधु अर्थात् नदह अथवा मोठे पदार्थोंसे युक्त ( चरुः ) चरु ( इह ) यहाँ ( आसीदतु ) स्थित होये । ( लोककृतः ) लोक बनानेवाले हवादि तोष पूर्ववत् ॥ २२ ॥

( अपूपवान् ) मांसपूये आदिसे युक्त ( रसवान् ) रसके मीठे मीठे विविध रसों से मिलित ( चरुः ) चरु ( इह ) यहाँ यज्ञमें ( आसीदतु ) स्थित होये । ( लोककृतः ) लोक बनानेवाले हवादि तोष पूर्ववत् ॥ २३ ॥

( अपूपवान् ) मांसपूये आदि से युक्त ( कुम्भ-वान् ) जलवाला अर्थात् शुद्ध जलसे बनाया हुआ ( चरुः ) चरु ( इह ) यहाँ यज्ञमें ( आसीदतु ) स्थित होये । ( लोककृतः ) लोक बनानेवाले हवादि तोष पूर्ववत् ॥ २४ ॥

( देवो मयसं १८११८८-१९ ये हो मय पीके आगये हैं ) ॥ २५-२६ ॥

( भूयसीम् ) बहुत सी ( अर्धिति ) छपरहित अर्थात् बहुत कायरमें नम राजा अनुमति देने ॥ २७ ॥



द्रुप्तसर्वस्कन्द पृथिवीमनु यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः ।

समानं योनिमनु संचरन्तं द्रुप्तं जुहोम्यनु सप्त होत्राः

॥ २८ ॥

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षुस्सुते अभि चक्षते रयिम् ।

ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुहृते दक्षिणां सप्तमातरम्

॥ २९ ॥

क्रोशं दुहन्ति कलशं चतुर्विलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्वये ।

ऊलं मदन्तीमदिति जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमिन्

॥ ३० ॥ (२९)

एतत् तं देवः संविता वासो ददाति भर्तवे ।

तत्त्वं यमस्य राज्ये वसानस्ताप्यं चर

॥ ३१ ॥

अर्थ— ( द्रुप्तः ) सयको हर्षित करनेवाला आदित्य ( या पूर्वः ) जो कि सबसे पूर्वका है ऐसा ( योनि पृथिवीं अनु ) चराचर जगत् की कारणभूत पृथिवीमें ( च ) और ( इमं यो अनु ) जुहोकर ( चरकन्द ) विचरण करता रहता है, अथवा उसने इनको प्यास कर रखा है ( समानं योनिं अनु संचरन्तं ) सबकी समान पारणभूत इस पृथिवीमें संचार करते हुए ( द्रुप्तं ) हर्षप्रद आदित्यको ( सप्त होत्राः अनु ) सात होतागणों द्वारा सप्त दिशाओंमें ( जुहोमि ) हवि प्रदान करता हूँ ॥ २८ ॥

( वे ) वे ( नृचक्षुः ) मनुष्यों के देखनेवाले अर्थात् मनुष्यों को जाननेवाले— मनुष्योंके स्वभाव आदिको साधनेवाले बुद्धिमान मनुष्य ( शतधारं ) सैकड़ों चाराभरेवाले अर्थात् जो अनेक प्रकारके दानों में पानी की तरह बहाया जाता है ऐसे अवपव ( वायुं ) गतिमान, आज एकके पास दानमें जाया है तो कल दूसरेके पास, इस प्रकारसे विचरण करते हुए, ( चक्षुं ) पूजनीय ( स्वर्विदं ) सुखको प्राप्त करनेवाले ( रयिं ) धनको ( अभिचक्षते ) देखते हैं अर्थात् जानते हैं प्राप्त करते हैं । ( ये ) जो मनुष्य ( सर्वदा ) सदा उस धनसे ( पृणन्ति ) अपनेको पूर्ण करते रहते हैं ( च ) और ( यच्छन्ति ) सर्वदा सुपात्रके लिए उस धनका दान करते रहते हैं ( वे ) ये मनुष्य [ सप्तमातरं दक्षिणां ] सप्तमातावाली दक्षिणा [ दान ] को [ दुहृते ] दोहते हैं— प्राप्त करते हैं ॥ २९ ॥

[ स्वस्वते ] स्वयंवाले कि [ चतुर्विलं ] चारपटनरूपी छिन्न (तन) वाले [ योनिं ] मानो जो नृपका चक्रावा है ऐसे [ कलशं ] घड़ेसे बड़े भारी ऊधवाली, ( मधुमतीं ) मीठी नृपवाली [ इषां पैतुं ] इषा नामवाली गायत्री [ पृणन्ति ] दोहते हैं । [ अग्ने ] हे अग्नि । [ जनेषु ऊर्ध्वं मदन्ती ] जनसमाज में अग्ने नृपवाली सबसे ऊँच करती हुई [ मदिति ] माननेके अयोग्य गायत्री ( परमे व्योमन् ) विषमें [ मा हिंसी ] मत मार । अथवा वह मंत्र भूमिके पथमें भी लग सकता है—कस्यानके लिए अर्थ, अर्थ, काम व मोक्ष रुपी चार रत्नोंवाली मानाविध द्रव्योंके खजानोंसे नष्ट नष्ट मधुर अग्नि देनेवाली [ इषां पैतुं ] भूमिरूपी गायत्री दोहते हैं ॥ ३० ॥

हे पुरुर ! ( संविता देवः ) श्रेष्ठ देव ( वे ) तेरे लिए ( भर्तवे ) परिवर्तनेके लिए [ एतत् वास ] यह वस्त्र ( दरायि ) देता है । ( तत् त्वं ) उस तूति करनेवाले वस्त्रको ( वसानः ) परिवर्तन ( यमस्य राज्ये ) यमके राज्यमें ( चर ) विचरण कर ॥ ३१ ॥

आचार्य— आदित्य, पु तथा पृथिवी दोनोंमें संचार करता हुआ इन दोनोंमें व्यवस्थित हो रहा है । ऐसे हर्षप्रद आदित्यके लिए हर्ष दिशाओंमें होम करता हूँ ॥ २८ ॥

जो धन कमाकर उसका अनुपयोगमें अर्थात् दानप्रदमें खर्च करते हैं वे दुनियामें प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहते हैं व परलोक दोनोंमें सुखी होते हैं ॥ २९ ॥

अप रिते जन-समाजकी पूति करता हुई अक्षयनीय भूमि को दे अग्नि । परम धर्म में लग नष्ट कर ॥ ३० ॥

मृग पुरुरो जो कि दमजोहमें वज्र नष्ट कर दे उधवा वज्र देना चाहते हैं ॥ ३१ ॥

५ ( अ. पु. भा. १. १८ )

धाना धेनुरंभवद् वत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।

तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति

॥ ३२ ॥

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु ।

एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वार्त्र

॥ ३३ ॥

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ।

तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः

॥ ३४ ॥

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहसं शतधारमुत्सम् ।

स विमर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् विमर्ति पिन्वमानः

॥ ३५ ॥

अर्थ—यमलोकमें जाकर उपरोक्त मंत्रानुसार दिए गए (धान) धान [ धेनुः ] तृप्त करनेवाली गौ ( भनवत् ) बनने दे । ( अस्याः ) और इस धानरूपी गौका ( वत्सः ) बछड़ा [ तिलः ] तिल [ भनवत् ] बनता है । ( वै ) विश्वसे ( यमस्य राज्ये ) यमके राज्यमें वह [ तां ] उस धानों की बनी हुई गाय पर ही ( उप जीवति ) आश्रित हुआ हुआ जीता है ॥ ३२ ॥

[ अक्षी ] हे अमुक नामवाले पुरुष ! [ एताः ] ये गावें [ ते ] ठेरे लिए [ कामदुघाः ] कामनाओंकी पूर्ण करनेवाली [ भवन्तु ] होंवें । ( एनीः ) सभ्या जैसे रंगवाली अर्थात् काल रंगवाली, [ श्येनीः ] सफेद, [ सरूपाः ] एकसे रूपवाली व [ विरूपाः ] विविध रूपवाली तथा [ तिलवत्साः ] तिल है बछड़ा जिनका देसी गावें [ भव ] यहां जहां जैसा बाल है वहां [ वा उप तिष्ठन्तु ] ठेरे समीप स्थित रहें वा ठेरी सेवा करती रहें ॥ ३३ ॥

[ अस्त्ये ] इस ठेरे [ हरिणीः धानाः ] हरे रंगवाले धान [ एनीः श्येनीः धेनवः ] अरुण व सफेद गावें होंवें । [ कृष्णाः धानाः ] काले धान [ रोहिणीः धेनवः ] काल रंगकी गावें होंवें । ( तिलवत्साः ) तिल जिनका बछड़ा है देसी ये गावें ( अनपस्फुरन्तीः ) कभी भी नष्ट न होती हुई ( अक्षी ) इसके लिए ( विश्वाहा ) सर्वदा [ ऊर्जं दुहानाः संतु ] शतदायक रस दूधको दोहती रहें ॥ ३४ ॥

[ वैश्वानरे इदं हविः जुहोमि ] वैश्वानर अग्निमें यह हवि डालता हूं जो कि हवि [ शतधारं साहसं वत्सं इव ] नैकटों व हजारों धाराओंवाले स्रोतके समान सेंकटों व हजारों धाराओंवाली है । [ सः ] वह वैश्वानर अग्नि [ पिन्वमानः ] उस हविसे तृप्त हुई हुई [ पितरं पितामहान् प्रपितामहान् विमर्ति ] पिताका, दादाओंका तथा परदादाओंका धारण पोषण करती है ॥ ३५ ॥

भाषार्थ— धान तथा तिल यम राज्यमें जाकर धेनु स्वरूपमें परिणत हो जाते हैं ॥ ३२ ॥

हे अमुक नामवाले पुरुष ! ये नाना रंगों व कर्णवाली गावें सर्वदा ठेरे समीप बनी रहें व ठेरी कामनाओंकी पूर्ण करती रहें ॥ ३३ ॥

हरे रंगके कच्छे धान अरुण व सफेद रंगकी गावें बनती हैं । और काले धान तिल आदि अथवा भूतनेले जो कुछ कच्चे रंगके हो गए हैं ऐसे धान काल गावें बनते हैं । ये सब गावें सदा अविनष्ट रहें हुई अपने धारमूल रूप धूपके देती रहें । अक्षीमें सब मनुष्योंकी अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबकी वितुल्यकमें ले जाती है । इस प्रकार अग्नि धान दे । पितरोंके लिए जो कुछ देना हो वह अग्निको देना चाहिये वह उन्हें पहुंचाती है और इस प्रकार उनका धारण पन करता है ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्समर्षितं व्युच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।

ऊर्जं दुर्हानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधार्मिः

॥ ३६ ॥

इदं कसाम्बु चर्यनेन चितं तत् सजाता अर्धं पश्यतेतं ।

मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सर्वेभ्यु

॥ ३७ ॥

इहैवैधिं धनसन्निहिचिचं इहकृतुः । इहैधिं वीर्यविचरो वयोधा अपराहतः

॥ ३८ ॥

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः ।

स्वधां पितृभ्योऽमृतं दुर्हाना आपो देवीरुभयोस्तर्पयन्तु

॥ ३९ ॥

आपो अग्निं प्र हिंशुत पितृरूपेण यज्ञं पितरो मे जुपन्ताम् ।

आसीतामूर्जमुप ये सचन्ते ते नो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान्

॥ ४० ॥ ( २३ )

अर्थ— [ सप्तधारं सहस्रधारं शतं ] सैकड़ों व हजारों धाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैकड़ों धाराओंसे पुच्छ है ऐसे, और जो [ सलिलस्य पृष्ठे व्युच्यमानं ] धंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, [ ऊर्जं दुर्हानं ] अथ व बलको देनेवाले, [ अनपस्फुरन्तं कभी भी चलायमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविको [ पितरः ] पितर [ स्वधार्मिः ] स्वधार्मिकोंसे साथ [ उपासते ] सेवन करते हैं ॥ ३६ ॥

[ इदं कसाम्बु ] इस कसाम्बु को (चर्यनेन) चुनकरके [ चितं ] डेर लगाया है— इकट्ठा किया है । [ तत् ] उसको [ सजाताः ] हे सजातीय बन्धुगण । [ एत ] आभो और [ अवपश्यत ] प्यासे देखो । [ अर्धं पश्यतेतं ] यह मनुष्य बिसका कि कसाम्बु चयन किया गया है वह [ अमृतत्वं ] अमरताको [ पृथि ] प्राप्त होता है । [ तस्मै ] उससे किए [ यावत् सन्नेभ्यु ] जितने भी तुम सजातीय बन्धु हो, वे सब [ गृहान् कृणुत ] घरों को बनाओ अर्थात् उसे घर आदि द्वारा आश्रयप्रदान करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य । तू [ इह पृथ पृथि ] यहीं पर ही पृथि प्राप्त कर । [ इह ] यहाँपर [ चित्तः ] ज्ञानवान हुआ हुआ । [ इह ] यहाँपर [ कृतः ] कर्मशील हुआ हुआ व [ धनसन्निः ] हमें धन देनेवाला हो । [ इह ] यहाँ पर ही [ वीर्यवचनः ] शक्ति धकवान हुआ हुआ और [ अवपश्य ] अपराहतः ] शत्रुभोंसे अपराजित हुआ हुआ [ वयोधाः ] अक्षय्य पारण करनेवाला, व अक्षय्य वृत्तोंका पोषण करता हुआ अथवा वीर्यायुवाका होकर [ पृथि ] बड़ ॥ ३८ ॥

[ पुत्रं पौत्रं ] अग्नि तर्पयन्तीः । पुत्रपौत्रादिवृत्तोंको पूजितया तुष्ट करते हुए [ इमाः मधुमतीः आराः ] ये मधुर जल हैं । [ पितृभ्यः स्वधां अमृतं दुर्हानाः ] पितरोंके किए स्वधा व अमृतका दोहन करते हुए [ देवीः आराः ] ये दिव्य जल [ बभूवन् ] दोनों पुत्रपौत्रोंको [ तर्पयन्तु ] तुष्ट करें ॥ ३९ ॥

( आराः ) हे आरा । तुम ( अग्निं पितृन् उपमर्शयन् ) अग्निसे पितरोंके पास भेजो । ( मे पितरः ) मेरे पितागण ( इमं यज्ञं जुपन्ताम् ) इस यज्ञका सेवन करें । ( ये ) जो पितर ( आसीना ऊर्जे उपसन्ते ) उपस्थित अर्थात् हमारे से किए गए अक्षय्य सेवन करते हैं ( ये ) ये पितर ( नः ) हमें ( सर्ववीरं रयिं ) सब प्रकारकी वीरतासे पुनः धन-धराय को ( नियच्छान् ) निरन्तर देते रहें ॥ ४० ॥

आचार्य— पितृभ्यः स्वधां कथं हवि पाते है ॥ ३६ ॥

यह कसाम्बु का संघर्ष किया गया है उसे हे मनुष्यने । आकर देखो । यह मनुष्य बिसका कि कसाम्बु— संघर्ष किस गया है वह अमृत को प्राप्त होते । उसे तुम सब आश्रय देकर शुद्धी करो ॥ ३७ ॥

हे मनुष्य । तू जानी व कर्मकृत होकर हमें धन— प्रदान करना हुआ संसार— बुद्धिके मूल कर । वनवान हुआ हुआ किपासे पराजित न होकर जनसमाज को अक्षय्यसे पुष्ट करते वीर्यायु होकर मरिच्य धन कर ॥ ३८ ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।

स वेदु निहिंत्तान् निधीन् पितृन् परावतो गतान्

॥ ४१ ॥

यं ते मन्थं यमोदुनं यन्म्रांसं निपुणामि ते ।

ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः

॥ ४२ ॥

यास्ते धाना अनुक्रियामि तिलमिश्राः स्वधावन्तः ।

तास्ते सन्तुद्भवीः प्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम्

॥ ४३ ॥

इदं पूर्वमपरं नितानं येनां ते पूर्वं पितरः परेताः ।

पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतांस्तु लोकम्

॥ ४४ ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने ।

सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुपे वार्यं दातु

॥ ४५ ॥

अर्थ— ( अमर्त्यं ) मरणधर्मसे रहित ( घृतप्रियं ) जिसको घी बहुत प्रिय है ऐसी ( हव्यवाहं ) हव्योंका वहन करनेवाली आगिकी वित्तुगण ( समिन्धते ) अच्छी प्रकार प्रदीप्त करते हैं । और ( सः ) वह आग्नि ( निहिंत्तान् निधीन् ) छिरे हुए राजानों की तरह [ यहां लुलोपना है ] ( परावतो गतान् पितृन् ) दूरगत पितरों को ( वेदु ) जानती है ॥ ४१ ॥

( ते ) छेरे छिपे ( यं मन्थं ) जिस मंथ अर्थात् मथनेसे— बिछोड़नेसे प्राप्त पदार्थ मक्खन आदि को और ( यं ओदुनं ) जिस भातको ( यत् मांसं ) जिस मांसको ( ते ) छेरे छिपे ( निपुणामि ) देता हूं । ( ते ) वे सभ्य ( स्वधावन्तः ) मधुमन्तः घृतश्चुतः । स्वधावाले, मजुरासे युक्त तथा घोसे परिपूर्ण ( ते सन्तु ) छेरे छिपे होते हैं ॥ ४२ ॥

( देवो मंत्र १८ । ३ । ६९ और १८ । ४ । २६ ) ॥ ४३ ॥

( इदं ) यह सामने स्थित ( पूर्वं ) पुरातन तथा ( अपरं ) आज की ( नितानं ) बैलगाड़ी है । ( येन ) जिस पुरानी बैलगाड़ी से ( ते पूर्वं पितरः परेताः ) छेरे पुरातन पितर यहां से गए हैं । ( अस्य ) इस आज की बैलगाड़ी के ( अभिशाचः ) दोनों ओर जुलफर जाते हुए, [ जैसा कि बैलगाड़ीमें बैल दोनों ओर पाशोंमें जुते हुए होते हैं ] ( पुरोगवाः ) अगले भागमें अर्थात् धुरा में जुते हुए जो बैल हैं ( ते ) वे बैल ( त्वा ) तुमसे ( सुकृतांस्तु लोकं ) सुकृतों के लोकमें [ वहन्ति ] प्राप्त कराते हैं ॥ ४४ ॥

[ देवयन्तः ] देव होने की कामना करते हुए अनुप्य [ सरस्वतीं ] सरस्वतीको [ हवन्ते ] बुलाते हैं । [ तायमाने ] बिजुल [ जागरे ] दिशादिहियत यज्ञादि कार्य में उद्यत हैं । [ सुकृतः ] भेद कर्म करनेवाले जन [ सरस्वतीं हवन्ते ] सरस्वतीको बुलाते हैं । [ सरस्वती ] सरस्वती [ दाशुपे ] दासी इन्द्रके छिपे [ वार्यं ] वारणीय अभिहित पदार्थ [ दातु ] देगी है ॥ ४५ ॥

भावार्थ— ये मजुर जन पुत्रपौत्रोंका तृप्त करते हुए पितरोंके लिए स्वधा व अमृतको दाहते हुए दोनों पुत्रपौत्र व पितरोंके गुण करें ॥ ४१ ॥ तब अग्निको पितरोंके पास ले जायें जिससे कि अग्निमें होम हुआ हवि पितरोंको पहुंच पावे ॥ ४२ ॥

छिपे हुए राजानों की तरह जो पितर सर्वथा आँखोंसे ओझल हैं अर्थात् सर्वथा अदृश्य हैं [ यदि वे दूर दूरमें जलके अदृश्य हो या परमेस्वराधी होनेसे अदृश्य हों ] उन्हें अग्नि जानती है । अतः यह पितरों को हवि पहुंचाए और इष्टोत्तरे वी पहुंचा सकते हैं ॥ ४१ ॥

प. वन और भीटा दान करना सोम दे ॥ ४३ ॥ ४३ ॥

प्रेतको समझाने में बैलगाड़ीके जो जाना सोम दे ॥ ४४ ॥

देवकी कामना करनेवाले सरस्वती को बुलाते हैं । वहादि दिशादिहियत कामोंमें सरस्वतीको बुलाया जाता है जो वह सरस्वती को बुलाते हैं क्योंकि सरस्वती दलीको बोलित कर प्रदान करती है ॥ ४५ ॥

सरस्वतीं पितरौ हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।

आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनवीवा इय आ धेह्यस्मे

॥ ४६ ॥

सरस्वति या सरथं युयाथोकथैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।

सहस्राधमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि

॥ ४७ ॥

पृथिवीं त्वां पृथिव्यामा वैश्यामि देवो नो धाता प्र तिरात्यायुः ।

परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु

॥ ४८ ॥

आ प्र च्यवेषाम्प तन्मृतेधां यद् वामभिमा अत्रोचुः ।

अस्मादेतमुघ्न्यां तद् वशीणो द्रातुः पितृष्विहभोजनौ मम

॥ ४९ ॥

अर्थ—[ दक्षिणा ] दक्षिणा दिशासे आकर [ यज्ञं अभि नक्षमाणाः पितरः ] यज्ञको सब ओर से प्राप्त करते हुए जो पितर [ सरस्वतीं हवन्ते ] सरस्वतीको बुलाते हैं । ये तुम [ नरितम् बर्हिषि ] इस यज्ञमें [ आसद्य ] वैश्वदेव [ मादयध्वं ] आनन्दित होओ [ अस्मे ] हमें [ अनवीवाः इयः ] रोमहित अर्घ्योंको अर्पण करनेके लानेसे किसी भी प्रकारका रोग न होवे ऐसे अर्घ्योंको हे सरस्वती ! तू [ आधेहि ] दे ॥ ४६ ॥

[ सरस्वतीं देवि ] हे सरस्वती देवी ! [ या ] जो तू [ पितृभिः स्वायामिः ] मनुष्यों पितरोंके साथ मिलकर स्वधाओंसे आनन्दित होती हुई [ सरथं ] पितरोंके साथ समान रूपपर आरोहण करती हुई [ युयाथ ] आई है । यह हे सरस्वती ! तू [ अत्र ] इन यज्ञमें [ यजमानाय ] यजमानके लिए [ सहस्राधं इव भागं ] हजारोंसे पूजनीय अर्घ्यके भागको और [ रायस्पोषं ] धनकी पुष्टि को [ धेहि ] दे ॥ ४७ ॥

[ पृथिवीं त्वां पृथिव्यामा वैश्यामि ] मिट्टी से बने हुए हे मृत् पुष्टय । तुमको मिट्टीमें मिटा देता हूँ अर्थात् तुमसे पृथिवीमें गाड़ता हूँ । ( धाता देवः नः आयुः प्रविशति ) धातु देव हमारी आयुको यदावे । हे ( परापरैताः ) मनुष्यवधायक हमसे दूर चले गए पितरों ! ( वः ) तुम्हारे लिए धाता देव ( वसुविद् अस्तु ) वास करनेवाजा हो, तुम्हारा आश्रयशाला हो । ( अथ ) और ( मृताः ) मृत ( पितृषु संभवन्तु ) पितरोंमें अजोवर होवें अर्थात् पितरोंमें ना मिलें ॥ ४८ ॥

हे प्रेतवाहक बैलो ! ( युवां ) तुम दोनों ( आ च्यवेषाम् ) बैलगाड़ीसे विमुक्त होओ । ( यद् ) यस्य यद्वशमात्र ( जो भाग कहा जायगा ) निन्दारूप यात्रय से ( अथ मृतेषां ) मृत होओ । उन निन्दारूप यात्रयकी जितने कि ऊपर झुड़ होने को कहा गया है, कहते हैं—[ अभिमाः ] दोष देनेवाले पुत्रोंने [ वा ] तुम दोनोंको ' पुत्रवै शिञ्ज ' अशुभमें अनिरीक्ष्य प्रेष ऊदरस्थी ' श्यादि निन्दारूप, [ यत् ऊयुः ] जो यात्रय कहा है उतने मृत होओ । [ मघीयः ] वे शिञ्ज करनेके अयोग्य बैलो ! [ अस्मात् ] इस निन्दा की कारणभूत गाड़ीसे [ एतं ] जो घूट आता है [ यद् ] यह [ मघीयः ] भेज दोवे । और सब [ इह ] इस विमृतेषां में [ पितृषु दातुः मम ] पितरोंका उद्देश्य करने अतिके देवे हुए या इतिके देवे हुए मेरे [ भोजनं ] पाकना करनेवाले होओ ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—पितर परस्वती को वज्रमें बुलाते हैं ॥ ४६ ॥

सरस्वती पितरोंके साथ समान रूपपर चढ़ती, स्वधा खाती व वज्रमें आती है ॥ ४७ ॥

[ युयाथं ये मृत देहके गारने धा निर्दिष्ट है । ] यह मानव देह पर्यवेष्ट करके आपिकरने बना हुआ है, अतएव यहाँपर मृतदेहके श्वश्रु [ मिट्टी ] के नामसे पुकारा गया है ॥ ४८ ॥

यजमानने आकर बैलगाड़ी छोड़कर बैलोंका रसास्वदिवार करना उचित है ॥ ४९ ॥

एयमग्नं दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दुत्ता सुदुधा वयोधाः ।

॥ ५० ॥ (२४)

यौवने जीवान्पृच्छन्ती जरा पितृभ्य उप संपराणयादिमान्

इदं पितृभ्यः प्र भेरामि वहिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।

॥ ५१ ॥

तदा रोह पुरुष मेघ्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।

एदं वहिर्सदो मेघ्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् ।

॥ ५२ ॥

यथापुरु तन्वं सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि

पूर्णो राजापिधानं चरुणामूर्जो बलं सह और्जो न आगेन ।

॥ ५३ ॥

आयुर्जीविभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय

अर्थ—[ सुदुधा ] उत्तमवयवा कामनाओं को पूर्ण करनेवाली [ वयोधाः ] अन्नको देनेवाली [ अनेन दुत्ता ] इससे ही हुई [ इयं दक्षिणा ] यह दक्षिणा [ भद्रतो नः आ भगन् ] कल्याणकारी स्थानसे भयवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है । इससे हमारा अन्नस्थान नहीं होगा । [ यौवने जीवान् उपपृच्छन्ती जरा इव ] जिस प्रकार युवावस्थाके चंचल जाने पर औषधों को वृद्धावस्था अवश्य आती है उस प्रकार यह दक्षिणा [ इमान् ] इन जीवों को [ पितृभ्यः ] पितरोंके लिए सभी प्रकार [ उप संपराणयादौ ] प्राप्त करावे अर्थात् पितरोंके पास उत्तम वीति से पहुँचावे ॥ ५० ॥

[ इदं वहिः पितृभ्यः प्रभेरामि ] यह कुशासन पितरोंके लिए रखता हूँ बिठाता हूँ, [ देवेभ्यः जीवं उत्तरं स्तृणामि ] देवोंके लिए जीवको उससे ऊँचा बिठाता हूँ । [ पुरुष ] वे पुरुष । [ मेघ्यः भवन् ] पवित्र होता हुआ व [ त्व आरोह ] उस पर बैठे । [ परेतं त्वा पितरः प्रति जानन्तु ] परेत अर्थात् परे गए हुए या उच्छासन को प्राप्त हुए हुए तुझे पितर जानें ॥ ५१ ॥

वे पुरुष । [ इदं वहिः असवः ] इस कुशासन पर व बैठे हैं । [ मेघ्यः भूः ] पवित्र हुआ है । [ पितरः परेतं त्वा जानन्तु ] पितर परेत हुए हुए तुझको जानें । [ यथा पद तन्वं संभरस्व ] जोरोंके अनुसार शरीरको भर; अर्थात् जहाँ जोड़ चाहिए वहाँ जोड़ बनाता हुआ शरीरको पूर्ण कर । मैं [ ते गात्राणि ] तेरे अंगोंको [ ब्रह्मणा ] ब्रह्मद्वारा [ कल्पयामि ] समर्थ बनाता हूँ यानि तेरे शरीरमें ब्रह्मद्वारा शक्ति देता हूँ ॥ ५२ ॥

[ पूर्णः राजा ] पाछक राजा [ चरुणां ] चरुओंका उपभोग है । [ ऊर्जः ] अणु, [ बलं ] बल, [ सहः ] अनुकूलता करनेका सामर्थ्य, [ और्जः ] तेज ये सब [ नः ] हमें उस पूर्ण राजासे [ आ भगन् ] प्राप्त होवें । [ शतशारदाय दीर्घायुत्वाय ] दीर्घ वर्ष जितनी दीर्घायु के [ जीविभ्यः ] लिए जीवियोंके लिए [ आयुः विदधद् ] आयु करे अर्थात् १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

आचार्य— दक्षिणा देनेके पितरोंकी प्राप्ति होती है । जिसप्रकार युवावस्थाके चंचल जानेपर वृद्धावस्था अवश्यभाविली है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवालेके पितरोंकी प्राप्ति भी अवश्यअनिवर्णी है ॥ ५० ॥

मनुष्य पवित्र बने और बलवति प्राप्त करे ॥ ५१ ॥

छात्रके पर्येक अवसरकी छद्म करके उपरको सुख बनाता चाहिये ॥ ५२ ॥

पनेराजा पदों का उपभोग है । यह हमें अणु, बल, तेज आदि देता है । यह हम जीवोंको १०० वर्ष की दीर्घायु देवे ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाविपत्यं जगाम ।

तमर्चत विश्वामित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धातु ॥ ५४ ॥

यथा यमार्यं हर्म्यमवपन् पञ्च मानवाः । एवा वषामि हर्म्यं यथा मे भूर्योऽसत ॥ ५५ ॥

इदं हिरण्यं विभूहि यजे पिताविभः पुरा । स्वर्गं यतः पितुर्हस्त्वं निर्मृद्धि दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

ये च जीवा ये च मृता ये जाता ये च यज्ञियाः ।

तेभ्यो घृतस्य कुलैर्युतु मधुधारा व्युन्दुती ॥ ५७ ॥

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः स्रो अह्नां प्रतरतिोपसां दिवः ।

प्राणः सिन्धूनां कुलशो अचिक्रतुदिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

अर्थ— [ यः ] जिस [ ऊर्जः भागः ] अन्नके विभाग करनेवालेने [ इमं ] इस अन्नको [ जजान ] पैदा किया है और जो [ अश्मा ] अश्मा होनेसे [ अन्नानां आधिपत्यं ] अन्नके स्वाधिकारको [ जगाम ] प्राप्त हुआ है ऐसे [ वं ] उसकी है सबके मित्रो ! [ हविर्भिः ] हवियेद्वारा [ अर्चत ] पूजा करो । ( सः ) वह ( यमः ) यम ( नः ) हमें ( प्रतरं जीवसे धातु ) बहुत सीनेके लिए धारण करे अर्थात् शीघ्रयु देवे ॥ ५४ ॥

( पया ) जिस प्रकार ( पंचमानवाः ) पांच मानवोंने ( यमार्यं ) यमके लिए ( हर्म्यं ) घरको ( अवपन् ) बनाया है ( एव ) वही प्रकार मैं भी ( हर्म्यं वषामि ) घर बनाऊँ हूँ ( यथा ) जिससे कि ( मे ) मेरे ( भूर्यः ) बहुतसे घर ( असत ) हो जायें ॥ ५५ ॥

हे मरणासक्त पुरुष ! [ इदं हिरण्यं विभूहि ] इस सोने को धारण कर, [ यतः ] जिस सोनेको कि [ पुरा ] पहिले [ ते पिता विभः ] तेरे पिताने धारण किया था । इस प्रकार हे मनुष्य ! [ स्वर्गं यतः पितुः दक्षिणे हस्त्वं निर्मृद्धि ] स्वर्ग को जाते हुए पित्तके दाहिने हाथको सुशोभित कर ॥ ५६ ॥

( ये च जीवाः ) जो जीवित हैं और ( ये च मृताः ) जो मर गए हैं, ये ( जाताः ) और जो जगप हुए हैं, ( ये च यज्ञियाः ) और जोकि पूजनीय, संगति करने योग्य हैं ( तेभ्यः ) उन वपयुक्तों के लिए ( मधुधारा ) मधुधारावाली ( व्युन्दुती ) उमड़ती हुई ( घृतस्य ) घी 'वा जलकी ( कुलशः ) छोटी नदी ( पतु ) प्राप्त होने ॥ ५७ ॥

( विचक्षणः ) विशेषगुणवा सेकनेवाला ( वृषा ) अभिमत कामनाओंका वर्षक ( मतीनां पवते ) मतिमोंका पवित्र करनेवाला है । ( प्राणः ) सूर्य ( अह्नां ) दिनरातका, ( वपसां ) कलामोंका तथा ( दिवः ) सुबोके का ( मतीरा ) बहानेवाला है । ( सिन्धूनां प्राणः ) नदियोंका प्राण ( कुलशः ) वर्षोंको अन्नधारामोंसे ( अचिक्रतु ) गुंजाता है । ( मनीषया ) मनकी इच्छानुसार ( इन्द्रस्य ) इन्द्रके ( हार्दि ) हृदयमें ( आविशन् ) प्रवेश कराता है ॥ ५८ ॥

भावार्थ— यम दीर्घायु देवे ॥ ५४ ॥

जिसको अपने परोंके बहानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधरावे । पंच मानव यमके लिए घर बनते हैं ॥ ५५ ॥

मरनेसे पूर्व मरणासक्त के दाहिने हाथमें सोनेकी अंगुली पहनाना चाहिये ॥ ५६ ॥

जीवित, मृत, उत्पन्न तथा अन्य पूजनीयों को मधुधारावाली बहती हुई छोटीसी जलमयी नदी प्राप्त होने ॥ ५७ ॥

इन्द्रमें अर्पण आत्मामें ज्ञान, वक्त्र, तेज, मनन शक्ति, प्राण ये सब शक्तियाँ बँटें ॥ ५८ ॥

त्वेपस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि पञ्चुक आततः

सुरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे

॥ ५९ ॥

प्र वा एतीन्द्रिरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः ।

मयं ह्य योषाः समर्पसे सोमः कलये श्रुतयामना पथा

॥ ६० ॥ (२५)

अक्षन्नामीमदन्त खयं प्रियाँ अधूपत । अस्तोपत स्वमानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

आ यांत पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पृथिभिः पितृषणैः ।

आयुस्मभ्यं दधंतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम्

॥ ६२ ॥

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पृथिभिः पूयर्णिः ।

अया मासि पुनरा यांत नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसं सुवीराः

॥ ६३ ॥

अर्थ- [ पावक ] हे पवित्र करनेवाली धमि । [ ते] केश [ गुरु ] शुद्ध [ माततः ] सब तरफ फैला हुआ [ त्वेपः ] प्रकाश [ दिवि ] गुणोत्तम [ धूमः ] धुँएकी तरह [ ऊर्णोतु ] सबको ढँक दे । [ द्युता ] अपने प्रकाशसे [ सुरा न ] सूर्यकी तरह [ त्वं ] तू [ कृपा ] कृपा करके [ रोचसे ] दीप्त होता है ॥ ५९ ॥

[ इन्द्रः ] देवर्षि देनेवाला सोम [ इन्द्रस्य निष्कृतिं ] इन्द्र अर्थात् पत्र करनेवाला देवर्षिदेवाकी पुण्य निष्कृति [ प्र पति ] अच्छी तरहसे प्राप्त होता है अर्थात् इन्द्र सोमको अच्छी तरहसे निचोड़ता है । जैसे कि [ सखा ] मित्र [ सख्युः ] मित्रकी [ संगिरः ] जलम पाणिपोंकी [ न प्रमिनाति ] नहीं तोड़ता अपितु अवश्य ही उसके वचनानुसार काम करता है उसी प्रकार इन्द्र भी अवश्य ही सोमका रस निचोड़ता है और इस प्रकार सोम रस निचोड़ने पर [ मयः योषाः ह्य ] जिस प्रकार पुण्य स्त्रीसे संगत होता है उसी प्रकार [ सोमः ] सोम तू [ कलये ] सोम निचोड़नेके पात्र-पत्रों में [ सख्युः ] सख्युः पथा] देवको प्रकाशकी गतिवाले मार्गसे अर्थात् निचोड़ने पर कई धाराओंसे [ सख्युः ] अच्छी प्रकारसे बाँटा होता है ।

[ स्वमानवः ] स्वयं प्रकाशमान, [ विप्राः ] भेषाधी पितर [ अक्षन् ] यज्ञमें दी गई हविषोंको खांत है । [ अमीमदन्त ] खाकर अत्यन्त भोजनित होत है और [ हि ] निश्चयसे प्रियान् अपने प्रियजनको ( अथ नपूयत ) कावितमान् बनाते हैं । उनकी [ अस्तोपत ] प्रशंसा करते हैं । [ यविष्ठाः ] अत्यन्त युवा अर्थात् सामर्थ्यशाली रस [ ईमहे ] उन विराओंसे यज्ञनिर्दिष्ट आनेके लिए प्रार्थना करते हैं ॥ ६१ ॥

[ सोम्यासः पितरः ] हे सोमपान करनेवाले पितरों । [ गम्भीरैः ] गंभीर [ पितृषणैः पृथिभिः ] पितृषण मानों से [ आ यात ] आओ । [ मयः योषाः ह्य ] हमारे लिए मातृपुत्र, प्रजा तथा धनधर्मोंके दो । [ पोषैः ] अन्य पृथिवीसे [ नाः ] हमें [ अभिसचयम् ] पारो और से युक्त करो ॥ ६२ ॥

[ सोम्यासः पितरः ] हे सोम संपादक पितरों । [ गम्भीरैः पूयर्णिः पृथिभिः ] गंभीर पूयर्णि मानोंद्वारा [ परायात ] धारण चले आओ । जहासे आप ये पदों पर खीट जाओ । [ अथ पुनः ] और फिर [ सुप्रजसः सुवीराः ] हे जलम प्रजावाले तथा सुवीर पितरों । [ मासि ] मासके अन्तमें यात्रा महीनेके बाद [ ना गृहान् ] हमारे घरोंमें [ हविः अत्तुं ] हविषोंके लिये [ आयात ] आओ ॥ ६३ ॥

भाषाये— हे अग्नि ! तेरा तेज सर्वत्र इस प्रकारसे फैलकर सबका ढँक से जिस प्रकार कि धूँआ सबको ढँक देता है । जिस प्रकार सूर्य सबका ढँक देता है वही इस प्रकारसे तू भी हमारे पर युवा करती हुई चमकता रह । ( अ. १. १. १८ ) ५५ ॥

२-४ धीमती निबोधनेके लक्ष्य को नहीं टाकता अथि कि मित्र मित्रकी कर्माओं नहीं जानता । सोम निबोधना करनेवाले कई धाराओंसे पथमें इस प्रकारसे बाँटकर मातृ-प्राता दे, जिस प्रकार कि पुण्य स्त्री को प्राप्त करता है ॥ ६० ॥

पितरोंको यज्ञमें पुनः ना पढ़कर व हवि देकर गुण करना पड़िए । ऐसा करनेसे जन्मान को दीर्घ बढ़ती है ॥ ६१ ॥

[ पितरों ] गंभीर जो विप्रापण कार्य है उनके पुत्रोंवर हमारे यज्ञमें आओ व हमें भोजन, प्रशंसा आदि देकर पुत्र पढ़ो ॥ ६२ ॥



यद् वो अग्निर्जहादेकमङ्गं पितृलोकं गमयं जातवेदाः ।

तद् व एतत् पुनरा पर्याययामि साक्षाः स्वर्गे पितरौ मादयधम् ॥ ६४ ॥

अभूद् दूतः प्रहितो जातवेदाः सायं न्यक्षे उपयन्त्यो नृभिः ।

प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षच्छि त्वं देव प्रयता हवीषि ॥ ६५ ॥

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलामिव जामयः । अग्रेणि भूम ऊर्णहि ॥ ६६ ॥

शुभ्रमन्तां लोकाः पितृपदनाः पितृपदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥

येऽस्माकं पितरस्तेषां वरिरेसि ॥ ६८ ॥

अर्थ— हे पितरों ! [ वः यद् एक अङ्ग ] तुम्हारे जिस एक अङ्गको ( पितृलोक गमयन् जातवेदाः, अग्नि ) पितृलोकमें ले जाती हुई जातवेदस् अग्निने ( अजहात् ) छोड़ दिया है ( वः तत् पृत्त् ) तुम्हारे उस इस अङ्गकी मे ( पुनः ) फिर ( आर्याययामि ) पूर्ण करा हूँ । ( साक्षाः पितरः ) अपने सय अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरों ! ( स्वर्गे मादयधम् ) स्वर्गमें आनन्दित होओ ॥ ६४ ॥

( सायं न्यक्षे ) सायंकाल और प्रातःकाल ( नृभिः उपयन्त्यः ) नरोंसे वन्दना की जायी हुई ( जातवेदाः ) जातवेदस् अग्नि ( प्रहितः दूतः अभूत् ) भेजा हुआ दूत है । क्योंकि व भेजा हुआ दूत है अतः हे ( देव ) प्रह्लादमान अग्नि ! ( प्रयता हवीषि ) हमारे से ही गई हवीषों की ( पितृभ्यः प्रादाः ) पितरों के लिए दे जिससे कि ( ते ) वे पितर जिन्होंने कि तुझे दूत बनाकर भेजा है, ( स्वधया अक्षन् ) स्वधा के साथ हमारे द्वारा दी गई हवीषों को लाँच । ( त्वं वरिरेसि ) तू भी उन हवीषोंको खा ॥ ६५ ॥

( असौ ) है फलाने नामवाले मेक । ( इह ते मनः ) यहाँ मेरा मन है । हे ( भूम ) पृथिवी ! ( जामय ककुत्सल इव ) जिस प्रकार खियाँ अपने बच्चेको यज्ञसे डीपती हैं या कुलधियाँ अपने सिरको डीपती हैं उस प्रकार ( एनं ) इस मेक को ( अग्नि ऊर्णहि ) भली प्रकार लाँच ॥ ६६ ॥

( पितृपदनाः लोकाः शुभ्रमन्ताम् ) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक ( शुभ्रान्तां ) सौभाग्यमान हैं । ( एतां ) तुम्हें ( पितृपदने लोके ) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें ( आसादयामि ) बिठवाया हूँ ॥ ६७ ॥

( ये ) जो ( अस्माकं पितरः ) हमारे पितर हैं ( तेषां ) उनका ( वरिरे ) आसन ( अग्नि ) है ॥ ६८ ॥

आचार्य— श्रावक मासमें पितृपञ्च करना चाहिए तथा उद्यमें पितरोंको अमन्त्रित करना चाहिए ॥ ६३ ॥

अग्नि मरने के अनन्तर पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके पारोंके किछी अवयवको दहीर छोड़ जाती है ॥ ६४ ॥

विध अग्निको सायं व प्रातः वन्दना की जाती है उस अग्निको पितर अपना दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पाससे हवीषों को ले जाकर पितरों को पशुवादी है । हमारे से ही गई हवीषों को पितरों तक पशुवर्ग के पिते अग्नि मायम है ॥ ६५ ॥

मेवके अभीनमें गारने का भी एक विधि है । भूम देवता डारे ॥ ६६ ॥

कई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक सर्वत्र स्पृक्षो ना किष्वा अरिमावर्धने 'कट' ॥ ६७ ॥

वहमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशाण्डनिर्मित आसन है या चाहिए ॥ ६८ ॥

उर्दुत्तमं वरुण पाशमस्मदवाधमं वि मध्यमं श्रधाय ।

अथा वयमादित्य व्रते तवानामसो अदितये स्याम

॥ ६९ ॥

पास्मत् पाशान् वरुण मुञ्च सर्वान् यैः समामे वृष्यते यैर्व्यामि ।

अथा जीवेम शरदं श्रुतामि त्वया राजन् गुणिता रक्षमाणाः

॥ ७० ॥ (२६)

अग्रये कन्यवाहिनाय स्वधा नमः

॥ ७१ ॥

सोमाय पितृमते स्वधा नमः

॥ ७२ ॥

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः

॥ ७३ ॥

यमाय पितृमते स्वधा नमः

॥ ७४ ॥

एतत् ते प्रवतामह स्वधा ये च त्वामनु

॥ ७५ ॥

अर्थ- ( वरुण ) हे वरुणीय धेनु ! तेरे ( उतामं ) उत्तम (पाश) पाशको ( अस्मत् ) हमसे (उत् श्रधाय) उतर दे । ( अथमं ) और जो तेरा अधम पाश है उसको ( अथ श्रधाय ) नीचे की ओरसे छोड़ दे । ( मध्यमं ) और जो तेरा मध्यम पाश है उसको ( विधाय ) विविध रीतिसे छोड़ दे । ( अथ ) इस प्रकार तेरे तीनों प्रकारके पाशोंके विगुण होनेके बाद ( अनागतः ) पापहित हुए हुए ( वयं ) हम ( आदित्य ) हे अमरन्तरीय शक्तिवाले ! ( ते ) तेरे ( प्रत ) प्रत अर्थात् निवसमें ( आदितये ) अद्वीतवाके किए अर्पण समुद्ध हुए हुए ( स्याम ) होयें ॥ ६९ ॥

( वरुण ) वरुण राजन् ! ( अस्मत् ) हमसे ( सर्वान् पाशान् ) तेरे सर्व पाशों-पश्यों-को ( मुञ्च ) अस्सी छह से छोड़ दे । ( यैः ) जिन पश्योंसे कि ( संभामे ) समाम में और ( व्यामि ) जिससे कि ( वि-व्यामि ) व्याममें ( वृष्यते ) माली बांधा जाता है । ( अथा ) तेरे कपरोक्त पाशोंसे छूटकर हम ( राजन् ) हे वरुण राजन् ! ( यमाय गुणिताः ) तेरे रक्षा किए गए अतएव ( रक्षमाणाः ) तूतरो की रक्षा करते हुए हम ( यमाय प्रत ) प्रवताम वरुण ( जीवेम ) जीवें ॥ ७० ॥

( कन्यवाहिनाय अग्रये ) कन्यका वहन करनेवाली अद्विक्ते किए ( रक्षमा नमः ) रक्षमा और अमरकार होये ॥ ७१ ॥

धेनु गितावाके सोमके किए रक्षमा और अमरकार हो ॥ ७२ ॥

सोमवान् विगुणके किए रक्षमा व अमरकार हो ॥ ७३ ॥

( पितृभ्यः ) उत्तमविगुणवाले ( यमाय ) यमके किए ( रक्षमा नमः ) रक्षमा और अमरकार होये ॥ ७४ ॥

हे ( प्रवतामह ! ) प्रवतामह ! ( एतत् एतत् ) तेरे किए यह दिया हुआ वरार्थ ( रक्षमा ) रक्षमा होये । ( ये च ) ये भी ( अथ ) और जो तेरे अनुगामी हैं उनके किए भी यह रक्षमा हो ॥ ७५ ॥

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु	॥ ७६ ॥
एतत् ते तत स्वधा	॥ ७७ ॥
स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः	॥ ७८ ॥
स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः	॥ ७९ ॥
स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः	॥ ८० ॥
नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय	॥ ८१ ॥
नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे	॥ ८२ ॥
नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै	॥ ८३ ॥
नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै	॥ ८४ ॥
नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः	॥ ८५ ॥
येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मास्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ	॥ ८६ ॥

अर्थ—[ ततामह ] हे पितामह । [ ते एतत् स्वधा ] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [ हवि ] स्वधा होवे । [ ये च त्वामनु ] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होवे ॥ ७६ ॥

हे [ तत ] पिता ! [ ते एतत् स्वधा ] तेरे लिए यह हवि स्वधा होवे ॥ ७७ ॥

[ पृथिवीषद्भ्यः ] पृथिवीपर बैठनेवाले [ पितृभ्यः ] पितरोंके लिए [ स्वधा ] स्वधा हो ॥ ७८ ॥

[ अन्तरिक्षसद्भ्यः पितृभ्यः ] अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [ स्वधा ] स्वधा हो ॥ ७९ ॥

[ दिविषद्भ्यः पितृभ्यः ] सुलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए [ स्वधा ] स्वधा हो ॥ ८० ॥

[ पितरः ] हे पितरो ! [ वः ऊर्जे नमः ] तुम्हारे अन्न या बलके लिए नमस्कार है । [ पितरः ] हे पितरो ! [ वः रसाय नमः ] तुम्हारे रस अन्नरस [ दुग्ध आदि ] के लिए नमस्कार है ॥ ८१ ॥

[ पितरः ] हे पितरो ! [ वः ] तुम्हारे [ भामाय ] श्रोत्रके लिए [ नमः ] नमस्कार हो । [ पितरः ] हे पितरो ! [ वः ] तुम्हारे [ मन्यवे ] मनुके लिए [ नमः ] नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

[ पितरः ] हे पितरो ! [ वः ] तुम्हारा [ यद् घोरं ] जो घोर कर्म है [ तस्मै ] उनके लिए [ नमः ] नमस्कार है । [ पितरः ] हे पितरो ! [ वः ] तुम्हारा [ यत् क्रूरं ] जो क्रूर कर्म है, [ तस्मै ] उसके लिए [ नमः ] नमस्कार है ॥ ८३ ॥

[ पितरः ] हे पितरो ! [ वः ] तुम्हारा [ यच्छिवं ] जो [ शिवं ] कल्याणमय कर्म है [ तस्मै ] उसके लिए [ नमः ] नमस्कार है । [ पितरः ] हे पितरो ! [ वः ] तुम्हारा [ यत् स्योनं ] जो सुखमय कर्म है [ तस्मै ] उसके लिए [ नमः ] नमस्कार है ॥ ८४ ॥

हे [ पितरः ] पितरो ! [ वः ] तुम्हारे लिए [ नमः ] नमस्कार होवे । [ पितरः ] हे पितरो ! [ वः ] तुम्हारे लिए [ स्वधा ] स्वधा होवे ॥ ८५ ॥

[ ये पितरः अत्र ] ये अन्य पितर यहाँ हैं और [ ये ] जो [ यूयं पितरः ] तुम पितृगण ( अत्र स्थ ) यहाँ पर हो, [ ते ] वे अन्य पितर ( युष्मात् अनु ) तुम्हारे अनुकूल होंगे और [ यूयं ] तुम [ तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ] उनमें श्रेष्ठ होओ ॥ ८६ ॥

य इह पितरौ जीवा इह वयं स्मः । अस्माँस्तेऽनु वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥

आ स्वाग्र इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् ।

यद् व सा ते पनीयसी समिद् दीदयति दधि । इपं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥

चन्द्रमा अर्ष्वश्नतरा सुपूणी धावते दिवि ।

न वो हिरण्यनेमयः पुदं विन्दन्ति विद्युतो विचं मे अस्य रोदसी ॥ ८९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ।

इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥ १८ ॥

अर्थ— ( ये ) जो [ पितरः ] पितृगण (इह) यहाँ हैं, उनके अनुग्रहसे (वयं) हम (इह) यहाँ ( जीवाः स्मः ) जीवित हैं । ( ते पितरः अस्मात् अनु ) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें । ( वयं ) हम ( तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म ) उनमें श्रेष्ठ होवे । अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके । दोनों मिलकर परस्पर श्रेष्ठ हों ॥ ८७ ॥

( देव ) हे प्रकाशमान ( अग्ने ) अग्नि ! हम ( द्युमन्तं ) चमकती हुई ( अजर ) जरा रहित ( स्वा ) तुझे ( इधीमहि ) प्रकाशित करते हैं । ( यत् ते ) जिस तेरी ( सा ) वह ( पनीयसी ) अत्यन्त प्रशंसनीय ( समिद् ) दही-चमक प्रकाश ( दधी ) अतिरिक्त अथवा सूर्यमें ( दीदयति ) प्रकाशित हो रही है । अर्थात् तू ही सूर्य रूपसे प्रकाशित हो रही है । ऐसी हे अग्नि ! तू ( स्तोतृभ्यः ) तेरी स्तुति करनेवालोंके लिए ( इपं ) अन्न वा इष्टकलको ( आ भर ) दे । ( ऋ० ५।१।६ ) ॥ ८८ ॥

[ सुपूणेः ] सुन्दर चालवाला अथवा सुन्दर रहिमयोंवाला [ चन्द्रमाः ] चन्द्र [ अप्सु अन्तः ] जलोंके अन्दर रहता हुआ [ दिवि ] अंतरिक्षमें [ धावते ] दौड़ता रहता है । [ रोदसी ] हे यावापृथिवी ! [ वः ] तुम्हारी [ पद ] स्थितिको [ हिरण्यनेमयः ] सोने जैसी चमकीले शान्तभाग-सीमावाली [ विद्युतः ] बिजलियों अथवा प्रकाशमान पदार्थ [ न विन्दन्ति ] नहीं प्राप्त करते । अर्थात् तुम इतनी लची चोकी हो कि कोई भी प्रकाशमान पदार्थ घूम घूम करके भी तुम्हारे अंतका पता नहीं कर सकता । [ मे ] मेरी [ अस्य ] हम उपरोक्त स्तुतिको [ विचं ] घूम घूमने जानो ॥ ८९ ॥

भाषार्थ— हम सदा प्रकाशमान अजर अमिको प्रकाशित करते रहें । उर्ध्वो ज्योति सुलोचको व सूर्यादिको प्रकाशित करती है । यह स्तुति करनेवालोंके अन्नादि इष्ट पदार्थोंका प्रदान करती है ॥ ८८ ॥

सुन्दर गतिवाला चन्द्रमा जो कि जलोंके आवरणके बीचमें रहता हुआ सुलोकमें बराबर दौड़ रहा है वह तथा अन्य अत्यन्त चमकनेवाले पदार्थ जो इस यावापृथिवी के बीचमें रातदिन बराबर समान गतिसे दौड़ रहे हैं, वे इस यावापृथिवीकी स्थितिको अर्थात् आदि व अन्तको नहीं पाते । ( ऋ० १।१०५।१ ) ॥ ८९ ॥

चतुर्थ अनुवाक समाप्त ।

इति अष्टादश काण्ड समाप्त ।

# अष्टादश काण्डका मनन ।

## ( १ ) पितर ।

वर्तमान समयमें यम और पितर यह एक चढाकारी विवादास्पद विषय है और इसीलिए बड़े सदस्वका होता हुआ विशेष विचारणीय है । वेद ही के हमारे पास अन्तिम साधन होनेसे तथा उसीकी प्रामाणिकतामें सबको विश्वास होवेसे इस संबन्धमें वेदके क्या विचार हैं यह जानना नितान्त जरूरी है । हमें पुनर्जन्ममें पूर्ण विश्वास है पर हम यह निश्चित रूपसे कदापि नहीं कह सकते कि मरनेके बाद जीव पहिले कदा जाता है और कब फिर जन्म लेता है । वर्तमान समयके लोक जो यम व पितर संबंधी कल्पना मानते हैं व तदनुसार आचरण करते हैं उसका मूल क्या है ? क्या पुराणोंकी ही, यह कपोल-कल्पना है वा वैद्यों भी इसका कुछ मूल पाया जाता है ? मरनेके बाद जीव कदा जाता है, किस रूपमें रहता है, कबतक बिना पुनर्जन्म लिए रहता है, मरनेके बाद मृतककी जीवात्मा का उसके सांसारिक संबंधियोंके कोई संबन्ध रहता है वा नहीं, यदि रहता है तो किस रूपमें, उस मृतके लिए जीवितोंको कुछ करना चाहिए वा नहीं, यदि करना चाहिए तो किस रूपमें, यम क्या है, कहा रहता है, मृत पितरोंसे उसका क्या संबन्ध है, यमके कृत क्या हैं, यम कहाँ का राजा है इत्यादि इत्यादि अनेक महत्त्वके प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हो सकते हैं । कर्षाणिक मरनेके बादका तत्काल जानना मनुष्यकी शक्तिसे बाहिर है और वेदके सिवाय और कोई उपाय हमारे पास नहीं है, अतः हम इन उपरोक्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नोंके संबन्धमें वैदिक विचार जाननेकी कोशिश करेंगे ।

### पितृलोक ।

इस लेखमें हम पितृलोक पर विचार करेंगे । जिन जिन वेदमंत्रोंमें पितृलोकके संबन्धमें निर्देश या वर्णन होया उन उन मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा, जिससे कि पितृलोकके संबन्धी कोई भी वैदिक विचार छूटने न पावे । निम्न मंत्रमें शिर्ष पितृलोकका निर्देश मिलता है ।

शुभन्वां लोकाः पितृपदनाः ।

पितृपदने स्वा लोक आ सादयामि ॥

अथर्व. १८।५।१७ ॥

शुभध्वं लोकाः पितृपदनाः पितृपदनमसि ॥

यजुः ५।२६ ॥ तथा ॥ ६।१ ॥

अर्थ— ( पितृपदनाः लोकाः ) जिनमें पितर बैठते हैं ऐसे लोक ( शुभन्वा ) शोभायमान हों । ( स्वा ) तुझे ( पितृपदने लोक ) जिसमें पितर बैठते हैं उस लोकमें ( आसादयामि ) बिठलाता हूँ ।

इस मंत्रसे पता चलता है कि कोई ऐसे लोक हैं जिनमें कि पितर बैठते हैं तथा उनमें एक नवीन व्यक्ति भी किसी अवस्थाविशेषमें बिठलाया जाता है ।

एतद्गोहं वय उन्मृज्जानः स्वा इह हृदहृदोदयन्ते ।

अभिप्रेदि मध्यतो मापहास्या पितृणां लोकं प्रथमो

यो अत्र ॥ अथर्व १८।३।७३ ॥

अर्थ— ( उन्मृज्जानः ) अपनेको शुद्ध करता हुआ ( एतद्गो वयः आरोह ) इस अंतरिक्षमें चढ़ । ( इह ) यहाँ ( स्वाः ) तेरे कन्धुर्वाधव ( हृदहृदोदयन्ते ) बहुत प्रशस्तमान हो रहे हैं—अर्थात् वे बहुत उन्नत हुए हुए हैं, उनकी तू चिन्ता मत कर । ( मध्यतः अभिप्रेदि ) उन वन्धुवाधवों के मध्यसे जा । ( पितृणां लोकं ) पितरोंके लोकका ( मा अपहास्याः ) त्याग मत कर अर्थात् तेरेसे पितृलोक छूटने न पावे । ( यः ) जोकि पितृलोक ( अत्र ) यहाँ ( प्रथमः ) मुख्य—प्राविष्ट है ।

इस प्रकार हमने देखा कि पितृलोक का निर्देश हमें वेदमें मिलता है । अब हमें देखना है कि वे पितृलोक कौनसे हैं—

### १ पितृलोक—‘पृथिवी’ ।

स्वधा पितृभ्यः पृथिवीपतयः ॥

अथर्व १८।४।७८ ॥

अर्थ— ( प्रथिवोपद्रव्यः ) प्रथिवीपर बैठनेवाले ( पितृभ्यः ) पितरोंके लिए ( स्वधा ) स्वधा हो ।

प्रथिवीस्व पितरोंके लिए स्वधाका वर्णन यहाँपर है । पूर्वोक्त बहुवचने पितृनेष्टोमोंसे एक प्रथिवी लोक है जहाँ कि पितर बैठते हैं ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता है ।

## २ पितृलोक—‘अंतरिक्ष’ ।

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्रूपः ॥

अथर्व १८।१।७५ ॥

अर्थ— ( अन्तरिक्षसद्रूपः पितृभ्यः ) अन्तरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंके लिए ( स्वधा ) स्वधा हो ।

इस मंत्रमें अंतरिक्षमें बैठनेवाले पितरोंका वर्णन है ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य आविमिक्षुरवेन्त-  
रिक्षम् । तेभ्यः स्वराक्षसुनिर्मो अथ यथावर्षं तन्वः  
कल्पयति ॥ अथर्व १८।१।५९ ॥

अर्थ— ( ये ) जो ( नः ) हमारे ( पितुः पितरः ) पिताके पितर और ( ये ) जो ( पितामहाः ) पितामह—दादा ( ये ) जो कि ( अथ अंतरिक्षं ) विस्तृत अंतरिक्षमें ( आविमिक्षुः ) प्रविष्ट हुए हुए हैं ( तेभ्यः ) उनके लिए ( स्वराक्षः ) स्वयं-प्रकाशमान ( अमुनीतिः ) प्राणदाता परमात्मा ( नः ) हमारे ( तन्वः ) धारिणोंको [ य यथा ] कामनाके अनुसार [ कल्पयति ] धर्मपूर्व करता है ।

इस मंत्रमें पिता, पितामह तथा पितामहोंका अन्तरिक्षमें प्रवेश स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है । यद्यपि इस मंत्रके उत्तरार्धमें भी भी एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात यहाँ गई है पर उसका यहाँ पर विशेष मतलब नहीं है । उसपर अन्यत्र विचार करेंगे ।

उत्तिष्ठ मंहि य प्रवीक्षः कृणुष्व सखिस्ते सख्ये ।

तत्र त्वं पितृभिः संविद्वानः सं सोमेन यद्वत्वं सं स्वधाभिः ॥ अथर्व १८।१।८

अर्थ— [ उच्यते ] उठ, [ मंहि ] ना, [ प्रवीक्ष ] हो । [ उत्तिष्ठे ] जहाँ सब इच्छते रहते हैं ऐसे [ सखिस्ते ] अंतरिक्ष में ( सखिः ) पर ( कृणुष्व ) बना । ( तत्र ) जहाँ अंतरिक्षमें ( सं ) तू ( पितृभिः संविद्वानः ) अन्य पितरोंके साथ मित्रा दुष्माप्रेक्ष्यता को प्राप्त हुआ दुष्मा ( सोमेन ) सोमसे ( यद्वत्वं ) अपनी ताद आनन्दित हो और ( स्वधाभिः ) स्वधाओंसे ( सं ) अपनी मन्त्र गुप्त दुष्मा दुष्मा आनन्दित हो ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अंतरिक्ष लोकमें किसीके भेजे जाने का और वहाँ स्थित पितरोंके साथ स्वधा आदिसे आनन्दित होनेका निर्देश है । अतः यह मंत्र भी पितरोंका स्थान अंतरिक्ष बता रहा है ।

उपरोक्त सब मंत्रोंमें हम यह स्पष्ट रूपसे पाते हैं कि पितर अन्तरिक्ष में भी रहते हैं अर्थात् अन्तरिक्ष भी पितरोंके लोकों में से एक लोक है जहाँ पितर निवास करते हैं ।

## ३ पितृलोक—‘यु’ ।

स्वधा पितृभ्यो विविषद्रूपः ॥ अथर्व ० १८।१।८० ॥

अर्थ— ( विविषद्रूपः पितृभ्यः ) युलोकमें बैठनेवाले पितरोंके लिए ( स्वधा ) स्वधा हो ।

इस मंत्रमें ऐसे पितरोंका वर्णन है जो कि युलोकमें बैठते हैं, और यहाँ बैठकर स्वधा लेते हैं ।

आ नः पवस्व वसुमद्विरण्यवद्वामोमन् यद्वत्वं  
सुवीर्मन् । यूवं हि सोम पितरो मम स्यन् विवो  
मूर्ध्नाः प्रस्थिता वयस्कृता ॥ अ० १।४५।४

अर्थ— हे सोम ! तू ( वः ) हमें ( वदस्व ) बहुश्रुत ( दिशम्वत् ) सोनाषोदीवाळ ( अश्रोवत् ) धौर्ध्रताके, ( सोमवः ) गोधौर्ध्रताके, ( यवमवः ) यवादि घासवाले, ( सुवीर्मन् ) ज्ञान पराक्रम को ( आपवस्व ) प्राप्त कर । अर्थात् हमसे ऐसा सामर्थ्य दे कि हम ये सब उपरोक्त वस्तुओंको अपने पशुधन से प्राप्त करें । इसको ऐसा पराक्रम दे । हे सोम ! ( यूवं वयस्कृताः मम पितराः ) तुम जीवन देनेवाले मेरे पितर ( विवः मूर्ध्नाः प्रस्थिताः ) युलोक के घमान ऊँचे ऊँचे हुए ( स्यन् ) हो ॥

इस प्रकार उपरोक्त मंत्रोंसे हमें दर्शाया कि युलोक में भी पितर रहते हैं । युलोक में पितर कहाँ रहते हैं यह निम्न मन्त्र दर्शा रहा है—

उदन्वती चौहवमा पीनुमतीति मन्वसा ।  
सुवीया इ मयीतिवि यस्वो पितर आतये ॥

अथर्व १८।१।७८ ॥

अर्थ— ( आदमापीः उदन्वती ) सबसे नीचे की दो ‘उ-  
लोक’ वह है जिसमें कि जल रहता है । जिस युलोकमें वादक रहते हैं वह सबसे नीचे का युलोक है । किन्तु भी इति मन्वसा ) और जिसमें वह वज्रपादि स्थित हैं वह बीच का युलोक है ।

( ६ ) निथयसे ( तृतीया ) तसिरा ( प्रधौः इति ) प्रधु नाम का शुलोक है [ यस्यां ] जिसमें कि [ पितरः आसते ] पितर स्थित होते हैं ।

इस मंत्रमें यह बतलाया गया है कि शुलोक तीन प्रकारका है । एक तो वह जो कि तीनों प्रकार के शुलोकोंमें से सबसे नीचे है और उसमें मेघमण्डल स्थित है । दूसरा इससे उपर है और उसमें पितृअर्घोत्तम प्रह नक्षत्रादि स्थित हैं । यह बीचका शुलोक है । तीसरा इससे ऊपर है जो कि प्रयी के नामसे प्रख्यात है और यहाँ शुलोक है जिसमें कि पितर निवास करते हैं । अबतक के सब मंत्रोंके देखने से ऐसा पता चलता है कि पितर पृथिवी लोक से चलकर अंतरिक्ष लोकमें आते हैं और वहाँसे चलकर सबसे अंतमें इस शुलोक में निवास करते हैं । यह शुलोक प्रह नक्षत्रादि के निवासक शुभे भी परे हैं ऐसा इस मंत्रसे पता चलता है; अतः इसके आधारे पर यह अनुमान निकाला जा सकता है कि यह पितरों का निवासक शुलोक सर्वलोकसे परे है । इसी मंत्रके भाष्योक्ति-निम्न मन्त्रवेदकी कक्षा पृष्ठ करती है ।

विश्वो घावः सविश्वदा वरस्यां एका यमस्य सुवने विराषाट् । आग्निं न रथममृतापि तत्पथिह प्रवीतु य उ तच्चिकेतारः ॥ अ० ३३.११॥

अर्थ— ( विश्वो घावः ) तीन शुलोक हैं । ( द्वौ ) उनमें से दो ( सविश्वः ) सर्व के ( वरस्यां ) समाप्त हैं ( एका ) और एक ( यमस्य सुवने ) यमके लोकमें स्थित है जो कि ( विराषाट् ) विराषाट् है अर्थात् जिसमें वीर लोक आकर स्थित होते हैं । ( रथं आग्निं न ) बिना रथ आगिपर आधित होकर स्थित होता है उसी प्रकार ( अमृता = अमृतानि ) ये सब अमृत प्रह नक्षत्रादि ( अमृतपथः ) जिसके आधयमें स्थित हुए हुए हैं । ( यः ) जो कोई ( तत् ) इन उपरोक्त सर्वलोकों ( चिकेतत् ) मली प्रकार जाबता दे, वह ( इह ) वहाँपर हमें ( प्रवीतु ) उन तर्कोंका विवेचन करे । 'आग्नि' नाम उस बीजका है, जो कि अमृत किनारेपर छोड़ करके पथिह को बाहिर निकल जानेसे रोकनेके लिए लगाई जाती है ।

इस मंत्रसे हमें इतना और पता चलता है कि पूर्व मंत्रमें निर्दिष्ट तीसरा शुलोक जिसमें पितरों की स्थिति है वह सर्वलोकसे परे होता हुआ यम लोकमें स्थित है अर्थात् यमका राज्य उस शुलोक में है । पितर यमकी प्राज्ञा है तथा यम उन

का राजा है यह बात आगे चलकर हमें पता चलेगी । यहाँपर उस बातका निर्देश मान है ।

इस मंत्रमें यम लोकमें स्थित शुका विशेषण 'विरा-षाट्' दिया है । अर्थात् उस शुभे वीरमण आकर निवास करते हैं । इसी बातको निम्न लिखित अथर्ववेदका मंत्र पृष्ठ करता हुआ साधर्म्य पितरोंका शुलोकमें जाना दर्शा रहा है ।

इत् एव उदाहरन् दिवस्पृष्टान्याहन् ।

म भूर्जेषो यया रयां यामगिरसो ययुः ॥

अथर्व० १८.१११ ॥

अर्थ— ( एते ) ये पितर ( इतः ) वहाँसे ( उत् आ अहन् ) ऊपर की चढ़ते हैं । ( दिवः पृष्ठानि आहन् ) गौर शुके पृष्ठोंपर प्रष्टम्य रयानोंपर—चढ़ते हैं । ( यया यया ) जिस प्रकारके मागंछे कि ( भूर्जेषः ) भूमि जोतनेवाले वीर ( अगिरसः ) अगिरस पितर ( यां ) शुलोकका ( ययुः ) गए हुए हैं । अबतक के विवेचनसे हमें इतना पता चला है कि पितर पृथिवी, अंतरिक्ष तथा पु, इन तीनों लोकोंमें निवास करते हैं । इसी परिणाम को निम्न मंत्र प्रमाणित कर रहा है । इस मंत्रमें तीनों लोकोंका वर्णन है ।

ये नः पितुः पितरो ये पितामहाः य नाविबिभ्रु- सर्वम्वारिक्षम् । य नाक्षियन्ति पृथिवीमुत यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ॥ अथर्व. १८.११५ ॥ ( ये ) जो ( नः पितुः पितरः ) हमारे पिताके पितर हैं, ( ये ) और जो ( पितामहाः ) उनके भी पितामह, हैं ( ये ) जो कि ( सर्वम्वारिक्षं आविबिभ्रुः ) विशाल अंतरिक्ष में प्रविष्ट हुए हैं, और ( ये ) जो ( पृथिवीं उत यां ) पृथिवी तथा शुलोकमें ( नाक्षियन्ति ) निवास करते हैं ( तेभ्यः पितृभ्यः ) उन पितरोंके लिए हम ( नमसा विधेम ) नमस्कार पूर्वक पूजा करते हैं । यह मंत्र खेदमेव अधिक स्पष्ट है । यह पितरों का तीनों लोकोंमें निवास होना स्पष्टतया प्रतिपादन कर रहा है ।

४ 'पितृलोक—पिताका कुल या घर' इन उपरोक्त पितृलोकोंके विवेचन हमें केवल एक ऐसा ही मंत्र मिलता है जिसमें कि पितृलोकका अर्थ पिताका घर या पिताका कुल प्रतीत होता है; मंत्र इस प्रकार है—

उद्यतोः कन्यका इमः पितृलोकान् पतिं यतीः अव- वीक्षामस्तथा वराहा । अथर्व. ११.१.५२ ॥

( इमा- ) ये ( उशतीः कन्यताः ) पति लोक की कामना करती हुई सोभावमान कन्यायें ( पितृलोकान् ) पितृकुलसे [ पति यतीः ] पतिके पास जाती हुई ( स्वं—आह्वा ) उत्तम वाणी द्वारा [ दीक्षा ] दीक्षाको ( अवसृजत ) दें।

निम्न व्रत आदि की शिक्षा का नाम दीक्षा है। यद्वापर पितृकुल को पितृलोक के नामसे कहा गया है।

### ५. पितृलोक—पितरोंका देश।

निम्न मंत्रमें पितृलोकका अर्थ पौत्रिक भूमि है। जिस भूमि-में वंशपरंपरासे रहने वाले आत्मे हैं, उस भूमिका नाम पितृलोक से वहाँ कहा गया है।

पंचाक्षरं दितिरादयस्त्रि लोकेन संमितम् ।

प्र दातोऽय जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥

अथर्व० ३।२९।४ ॥

[ पन-अ-पुं ] पाचों जनों ( न द्युणादि चार वर्ग तथा पाँचवा निव द ) की न सञ्चालने वाले अतएव ( लोकेन संमितं ) जनता द्वारा संमत [ दितिरादि अर्द्धे ] हिंसकोंको [ दयानि-मासे पंरक्षक कर भागसे [ प्रदाता ] देनेवाला [ पितृणां लोके अक्षित उपजीवति ] पितरोंके देशमें अक्षय होकर जीता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस मंत्रमें पितृलोक का अभिप्राय पितरोंका देश है।

पितृलोकके संरक्षणमें दहशर इतना ही विवेचन पवति है। अब हम 'पितृदान' पर इसी प्रकार संक्षेपसे प्रकाश डालनेका प्रयत्न करेंगे।

( मर्त्यानां पितॄणां सप्त देवानां ) मनुष्यों, पितरों व देवोंके ( द्वे स्तुती ) दो मार्ग ( देवयान- और पितृदाननामके ) ( अशृणवं ) मैंने सुने सुने हैं। ( ताभ्या ) उन दोनों मार्गों द्वारा ( इदं एवत्र विधं ) यह यातिमान् विद्व ( स्तु ) जो कि ( पितरं मातरं च अन्तरा ) इस पु रिता और पृथिवी माताके बीचमें स्थित है, ( सं एति ) अच्छी प्रकार गति करता रहता है। अर्थात् इन मार्गोंसे आत.गमन होता रहता है।

एवं इस मंत्रमें इतना पता चलता है कि देवयान और पितृदाननामके दो मार्ग हैं जिनसे आवागमन होता है। इधर अतिरिक्त हमें कुछ मंत्र ऐसे मिलते हैं जिनमें कि पितृदान नाम से जानेका निर्देश पाया जाता है। वे सब मंत्र नीचे दिए जाते हैं।

आ रोहव जनिर्ग्री जातवेदसः पितृयाने सं व आ रोहयामि । अध्वारु इत्येपितो हव्यवाह इमाने पुषाः सुकृता धत्त लोके ॥

अथर्व० १८।१।१॥

( जातवेदसः ) हे अग्निर्ग्री ! तुम ( जनिर्ग्री जरोहव ) अपनी उत्पत्ति करनेवालोंके पास पहुँचो। मैं [ वः ] तुम्हें ( पितृयाने ) पितृदाननामोंसे ( सं आरोहयामि ) अच्छी प्रकार पहुँचाता हूँ। ( इपितः इत्यवाहः ) जिस इत्यवाह र एक अध्वि ( इत्या = इत्यग्नि ) इत्यवाहो [ अध्वारु ] रहने परा है। हे अग्निर्ग्री ! ( पुषाः ) तुम मिलकर [ इमाने ] उत्पत्ति करनेवाले को ( सुकृता लोके ) येष्ट वर्य करके लोके ( धत्त ) धारण करो अर्थात् वहाँ बसें ज्ञानो।



प्रेहि प्रेहि पथिभिः पर्याणैः येना ते पूर्वं पितरः परेयाः।  
उभा राजाना स्वधया मदन्तौ यमं पदयासि वरुणं च  
देवम् ॥ अथर्व० १८।१।५४

( यत्र ) जहाँ ( नः पूर्वं पितरः ) हमारे पूर्व पितर ( परेयाः )  
गए हुए हैं, वहाँ ( पर्याणैः पथिभिः ) पहिलेके मार्गों द्वारा  
( प्रेहि प्रेहि ) ऐ जा । वहाँ ( स्वधया ) स्वधासे ( मदन्तौ )  
तृप्त होते हुए ( उभा राजानौ ) दोनों राजा ( यमं वरुणं देवं  
च ) यम और वरुण देव को ( पदयासि ) देख ।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे पता चलता है कि पितरोंके जाने के  
मार्गे पितृवाण के नाम से प्रख्यात हैं । इसके सिवाय एक मंत्र  
ऐसा भी है जिसमें कि पितृवाण मार्गसे अनेका भी उल्लेख  
पाया जाता है ।

आ याव पितरः सोम्यासो गंभीरैः पथिभिः पितृवाणे।  
आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायथ पोदैरभि नः सच-  
ध्वम् ॥ अथर्व० १८।१।१२

( सोम्यासः पितरः ) हे सोमपान करनेवाले पितरों।  
( गंभीरैः ) गंभीर ( पितृवाणैः पथिभिः ) पितृवाण मार्गोंसे  
( आयात ) आओ । ( अस्मभ्यं आयुः प्रजां च रायः च दधतः )  
हमारे लिए आयुध, प्रजा तथा धनसंपत्ति दो । ( पोदैः ) अन्य  
पुष्टियों से ( नः ) हमें ( अभिसचध्वं ) चारों ओर से  
सुख करो ।

इस मंत्र में पितरोंके पितृवाण से आकर आयु, प्रजा आदि  
देनेका उल्लेख है । इसके अतिरिक्त निम्न मंत्र में भी पितृवाण  
का उल्लेख मिलता है ।

अनृणा अस्मिन्नृणाः परस्मिन् तृतीय लोके अनृणाः  
स्पाम । ये देवयानाः पितृवाणाश्च लोकाः सर्वान्  
पयो अनृणा आ क्षियेम ॥ अथर्व० १।१।७३ ॥

( अस्मिन् ) इस लोक में हम ( अनृणाः ) ऋण रहित होवें  
( परस्मिन् ) पर लोक में ( अनृणाः ) हम अनृण होवें । तथा  
( तृतीय लोके ) तीसरे लोकमें ( अनृणाः ) ऋणरहित ( स्पाम )  
होवें । ( ये देवयानाः पितृवाणाः च लोकाः ) जो देवयान व पितृ-  
वाण मार्ग हैं, ( सर्वान् पथः ) उन सब मार्गों में- ( अनृणाः )  
ऋण रहित हुए हुए ( आ क्षियेम ) विचरण करें ।

इस लोके दो प्रकारका ऋण है । ( १ ) भौतिक धन, धेना  
बाँदि आदि उधार लेना । ( २ ) वैदिक "ज्ययमाना न क्षयति-  
भिक्षेणवान् जायते । मद्राचर्येण ऋतेभ्यो वल्लेन देवेभ्यः प्रजया

१० ( अ. प्र. भा. अं. १८ )

पितृभ्यः इति" ( तै. सं. १।३।१०।५॥ ) अर्थात् तीन प्रकारका  
वैदिक ऋण पैदा होते ही मनुष्य पर चढ़ता है वह तीन प्रकारका  
ऋण ऋषिऋण, देवऋण तथा पितृऋण है । मद्राचर्यके पालनसे  
ऋषिऋण उत्तरता है, यज्ञ करनेसे देवऋण उत्तरता है तथा  
संतानोत्पत्तिसे पितृऋण से मनुष्य मुक्त होता है । निम्न मंत्र  
पितृवाण मार्गका उल्लेख करते हुए यह भी दर्शाते हैं, कि कौन  
पितृवाण मार्गको जानता है और कौन नहीं ।

यं स्वा धावापृथिवी यं त्वापस्वष्टा यं स्वा सुजनीमा  
अजान । पन्थांमनु प्र विद्वान् पितृवाणं युमदम्रं समिधा  
नो विभाहि ॥ ऋ० १०।१।७॥

हे अग्ने ! ( यं त्वा ) जिस पृथिवी ( धावापृथिवि ) धुलोक  
और पृथिवीलोक क्रमशः अग्नि और आदित्य रूपसे पैदा करते  
हैं और ( यं स्वा ) जिस तुल्य ( आपः ) जल विद्युत् रूपसे  
पैदा करते हैं, और ( यं त्वा ) जिस तुल्य ( सुजनीमा ) उत्तम  
उत्पादक ( स्वष्टा ) प्रजापति ( अजान ) उत्पन्न करता है, वह  
तू ( पितृवाणं पन्थां ) पितृवाण मार्गको ( अनु प्र विद्वान् ) अच्छी  
प्रकारसे जानता हुआ ( समिधानः ) सुमदम्रवर्तित किया हुआ  
( युमत् ) दीप्तिवाला होता हुआ ( विभाहि ) प्रकाशमान हो ।

इस मंत्रमें अग्निके पितृवाण मार्गका ज्ञाननेवाला बताया  
गया है । हम पूर्वही निर्देश कर आए हैं कि अग्नि व पितरोंका  
विशेष संबंध है । उस संबंध पर विशेष विचार आगे किया  
जायगा । अग्रेको छोटकर और कौन पितृवाण मार्ग जानता है  
वह निम्न मंत्र दिखाता है ।—

स य एवं विदुषा मात्वेनानिमुष्टो जुहोति ।  
प्र पितृवाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥

अथर्व० १।५।१२।४-५

( सः यः ) वह जो ( एवं ) उपरोक्त प्रकारसे ( विदुषा  
मात्वेन ) विद्वान् सत्यमयी अतिथिसे ( अतिमुष्टः ) आशा दिया  
हुआ ( जुहोति ) होम करता है वह ( पितृवाणं पन्थां ) पितृ-  
वाण मार्ग को ( देवयानं ) देवयान मार्ग को भी अच्छी प्रकार  
जानता है । इसके अतिरिक्त—

अथ य एवं विदुषा मात्वेनानिमुष्टो जुहोति ॥  
न पितृवाणं पन्थां जानाति न देवयानम् ॥

अथर्व० १।५।१२।८-९ ॥

जो उपरोक्त प्रकारसे ( विदुषा मात्वेन ) विद्वान् सत्यसे  
( अनतिमुष्टः ) न आशा दिया हुआ ( जुहोति ) होम करता

है। वह ( न पितृयाणं मन्त्रा प्रजावाति ) न तो पितृयाण मार्ग को ही भली भांति जानता है और नहीं ( देवयान ) देवयान मार्ग को जानता है अब पितृयाण मार्ग किसे प्राप्त नहीं होता यह नीचे दिया हुआ मंत्र बताता है। मंत्र इस प्रकार है—

देवपितृधरति मर्त्येषु गरगीर्णो अवलस्थिभूयान् ।

मो ब्राह्मणं देवबन्धुं दिनस्ति न स पितृयाणमप्येति  
लं कम् ॥ अथर्व० ५।१८।१३५

( देवपितृधरति मर्त्येषु गरगीर्णो अवलस्थिभूयान् ) जहर खाया हुआ मनुष्योमें विचारण करता है। यह (अस्थि-भूयन् अवति) हड्डियोंकी बहुतायतवाला होता है, अर्थात् शरीर में मादादिके न होनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो इसके शरीरमें हड्डियाँ ही हड्डियाँ हैं और अतएव देखनेमें सिवाय हड्डियोंके और कुछ नहीं दीखता । ( यः ) जो ( देवबन्धुं ब्राह्मणं दिनस्ति ) देवोंके बन्धु ब्राह्मणकी बिंसा करता है ( सः ) वह ( पितृयाणं लोके ) पितृयाण मार्गको ( अपि ) भी ( न एति ) नहीं प्राप्त होता ।

इस प्रकार हमें इतने मंत्रोंसे पता चलता है कि पितृयाण एक खास मार्ग है जिसमें कि पितृयाण एक लोचनेपुष्टे लोचमें आते जाते हैं। अब यह मार्ग कौनसा है यह प्रश्न हमारे सामने उपस्थित होता है। इस प्रश्नपर योहासा प्रकाश निम्न मंत्र काट रहा है। इस पर योहासा प्रकाश अग्नि व पितरके प्रकरण में भी बालेगा। मंत्र इस प्रकार है—

आ मरुतं तिष्ठथ यजम ह्य अरभो इन्द्राग्नी अवतं

गतिके तीन अर्थ हो सकते हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति। इस प्रकार इस शब्दके तीन अर्थ हो सकते हैं। ( १ ) घर गमन, ( २ ) सहप्राप्ति ( ३ ) सहज्ञान। सहगमन और सहप्राप्तिमें विशेष भेद नहीं है क्योंकि सहगमन से सहप्राप्ति होती है। अब हमारे सामने दो पक्ष रोप रहते हैं ( १ ) सह-गमन वा सहप्राप्ति और ( २ ) सहज्ञान। इन दो पक्षोंमें से कौनसा अर्थ लेना चाहिए यह विचारना है।

निष्कर्षकार यास्काचार्यने निरुक्त अ० ३, पाद ३, शब्द १४ में 'कुदस्विदोषा कुदवस्ते रविना' इत्यादि न० १०।१४। २५ की व्याख्या करते हुए 'कुदाभि पितृं करतः' इस पद समुदाय में आए हुए अभिपूर्वक पितृ शब्दका अर्थ 'प्राप्ति' ऐसा किया है। वे 'कुदाभि पितृं करतः' का अर्थ करते हैं 'ब्रह्माभि प्राप्तिं कुदतः' ।

सायणाचार्य ने सपितृ का अर्थ 'सह प्राप्तार्थं स्थानं' ऐसा किया है। यह शब्द उपपदरूपके 'आत्तु, व्याप्ती' धातुसे 'व्याप्ति' तवैक्येन्यद्वयना, इस सूत्रसे 'स्वन्' प्रत्यय करके 'पुनरेवार्थं यथोपदिष्टं' से विभाव करके सपितृ सपितृ शब्द बहाकरणानुसार सिद्ध किया है। सायणाचार्य सपितृ की छिद्दे अन्य संस्थित करते हैं। 'य एवमवाये, इस धातुसे 'इन्' वर्धधातु'का' से इन् करने से अपि शब्द बनाकर, 'सपितृ' सपितृ' । अर्थ वही उपरोक्त ।

## २ पितरोंके कार्य ।

इस लेखमें पितरों के जो कार्य दर्शाए जायेंगे उससे यह परिणाम कदापि नहीं निकालना चाहिए कि पितरोंके कार्यप्रदर्शक मंत्र इतने ही हैं और येही पितरोंके कार्य हैं । पितरोंके अन्य विशेष कार्य दर्शानेवाले और भी बहुतसे मंत्र हैं परन्तु वे अन्य प्रकरणोंके लिए अधिक उपयुक्त होनेसे उनको नहीं दिया जायगा ।

## १ रक्षा करना ।

उदीरवामवर उत्तरास उन्मध्यमा पितरः सोम्यास्त ।

असु य ईशुरवृका श्रतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेयु ॥

न० १०।१।१॥ यजु० अ० १४।७७ ॥

अथर्व० १८।१।४४

(घोश्वासः) सोम अपादन करनेवाले (अबरे उत् मध्यमा उत्तरासः पितरः) कनिष्ठ, मध्यम तथा उत्कृष्ट पितर (उत् ईरताम्) उन्नति करें । ( ये अष्टकाः श्रतज्ञाः ) जिन ईसाहित सत्य वा यज्ञके जाननेवाले पितरोंने ( अहं ईयु ) प्राण, बल वा जीवनको प्राप्त कर लिया है ( ते पितरः ) वे पितर ( हवेयु ) संग्रामोंमें—युद्धोंमें वा घुलाए जानेपर ( नः अवन्तु ) हमारी रक्षा करें ।

गन्धर्वांस्तरसः सर्पान् देवान् पुण्यजानान् पितॄन् ।

दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनामनु हनन् ॥

अथर्व० ८।८।१५॥

( गन्धर्वांस्तरसः ) गन्धर्व तथा अमराओंको, ( सर्पान् ) सर्पोंको, ( देवान् ) देवोंको ( पुण्यजानान् ) पुण्यजनोंको, ( पितॄन् ) पितरोंको ( दृष्टान् अदृष्टान् ) चाहे ये देखे हुए हों वा न—इन सबको ( इष्णामि ) प्राप्त करता हूँ । ( यथा ) जिसप्रकार कि ये सब ( अनु सेना ) उस सैन्य सेनाको ( हनन् ) मार काटें—नाश कर दें ।

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोपधीदत वीरय ।

गन्धर्वांस्तरसः सर्पान् देवान् पुण्यजानान् पितॄन् ।

सर्वास्तान् अमुं देवमिष्टमग्नौ दत्ते कुरुदारादिच

प्रदर्शय ॥

अथर्व० १६।१।२४

[ वनस्पतीन् ] वनस्पतियोंको, [ वानस्पत्यान् ] वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थोंको [ औपधी ] औपधियोंको [ उत्त ] और [ वीरयः ] कर्ताओंको [ गन्धर्वांस्तरसः ] गन्धर्व तथा अमराओंको [ सर्पान् ] सर्पोंको [ देवान् ] देवोंको [ पुण्यजानान् ] पुण्यजनोंको ( पितॄन् ) पितरोंको ( तान् सर्वान् ) इन सबका

तथा [ उदारान् ] उदारोंको [ अर्धदे ] अर्धदे [ दे अर्धे दि ] [ १५ ] [ अग्निदेवः दशे कुरु ] शत्रुओंको देखने लिए कर । अर्थात् इन्हें शत्रुओंको दिना, ताकि ये शत्रुओंका विनाश करें । इनकी यातक शक्तिका उपयोग शत्रुओंके लिये हो ।

अर्धुदिका अर्थ एतरेय ब्राह्मणने इस प्रकार किया है— अर्धुदः कद्रिवेयः सर्वश्रुति मंत्रकृत् [ ऐ मा, ६।१ ] अर्धुद नामका कोई सर्वश्रुति या उसका पुत्र अर्धुदि । ' अतद्वन् ' इस सूत्रसे इन् । ' संज्ञापूर्वको विधिरनित्य ' इस नियमानुसार आदि वृद्धि न हाकर अर्धुदि बनता है ।

सायणाचार्यने इसका अर्थ ' अंतरिक्षचर राक्षस व पिशाच अथवा सूर्योदयसे होनेवाले उल्कादि पात यानि आंतरिक्ष्य उत्पत्त ' ऐसा किया है । इस अर्थ की पुष्टि में उन्होंने तै० मा० का प्रमाण दिया है कि ' तद्वन् तू ते पानाद् उदारा अजानन्त ' तै० मा० २।१।१।२ उत् आरयन्ति अर्तिं उद्गन्तान्ति इति उदाराः । ' अस्तु, उदार शब्द का कुछ भी अर्थ माना जाए तो भी हमारे उद्देश में उससे किसी भी प्रकार की क्षति नहीं पहुचती ।

इन उपरोक्त मंत्रों से स्पष्ट पता चलता है कि पितर युद्धमें हमारी रक्षा करते हैं । हमारे शत्रुओंके लड़कर उनका विनाश कर हमें बचाते हैं । इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंकी युद्धविषयक रक्षाशक्ति विधान है। अतः हम ऐसे मंत्र उद्धृत करते हैं कि जिनमें सामान्य रक्षा का विधान है ।

अवन्तु नः पितर सुप्रवाचना उत्त देवो देवपुत्रे कृता-  
वृषा देवो । रथं न दुर्मार्तस्त्वा सुहानवो विशस्म नो अहधो  
निष्पिपतैन ॥ यजु० १।२०।६।३॥

[ सुप्रवाचना पितर न अवन्तु ] उत्तम प्रवचन करने वाले पितर हमारी रक्षा करें । ( उत्त ) और [ देवपुत्रे कृता-वृषा देवो ] देव अपांशु सूर्य व चन्द्रमा जिनके पुत्र—रथक हैं तथा जो राथ से यज्ञनेवाली दे ऐषी याकावृथिनी भी हमारी रक्षा करें । [ दे ] युद्ध नवः ] उतम दानवाके [ वधव ] वधु-  
को ( दुर्गात् रथ न ) दुर्गमनाव स्थानसे रथकी तरह ( निष्पि-  
पतव्य अहधः ) छत्र पत्रों से [ न निष्पिपतैन ] हमें निरा-  
लकर पावेंगे ।

अवन्तु मासुपतो जयमाना अवन्तु मा  
सिन्धवः पित्रमाना । अवन्तु मा पर्वतातो  
भुकासोऽवन्तु मा पितरो देवहृषो ।

यजु० १।५।२।४ ॥

[ जायमानाः उपस मा अवन्तु ] उत्पन्न होती हुई तबपायें मेरी रक्षा करें । [ पितृवमाना धिन्वव मा अवन्तु ] जलका सिंचन करता हुई नदिशें मेरी रक्षा करें । [ भुवाध-पर्वतास मा अवन्तु ] विश्वल पर्वत मेरा रक्षा करें, और [ देवहूतो ] देवोंके अद्भान करनेमें (वितर) पितृगण ( मा अवन्तु ) मेरी रक्षा करें इस प्रकार इस मन्त्रमें वितरोंको देवोंके अद्भान के कार्यमें रक्षा करनेके लिए कहा गया है ।

इन्द्रधोयस्त्वा वसुभिः पुरस्तात्पातु प्रश्नार वा रुद्रैः पश्चात्पातु मनोजवास्त्वा पितृभिर्दक्षिणतः पातु विश्वकमा त्वादित्यैश्चरत शस्त्रिदमद्भुतं च पायैर्हिदां यत्नास्ति तुजामि ॥

आग्निपि ] इस आग्निपि कार्यमें । [ अस्ता देवहूता ] १७ देवोंके आद्भानमें [ रक्षा ] ।

इस प्रकार हमने इन मन्त्रोंमें देखा कि कहां कैसे वितर हमारी रक्षा का कार्य करते हैं । अब हम वितरों के अन्य कार्योंपर दृष्टि डालते हैं ।

## २ सूर्य प्रकाश देना ।

अरमाकमत्र वितरो मनुष्या ममिपसेदुर्ध्वत-  
मानुषाणां । अश्ममजा सुदुषा घने अन्तर-  
दुष्टा आजन्मपतो हुवाना ॥

श्र० ४/१/११२ ॥

[ अत्र ] यहां [ ऋत आनुषाणा. ] दक्ष वा ४-६० प्राप्त करतेहुए [ मनुष्या वितर ] मननशान वितर

उक्त वेदों के खाम सूक्तों का नाम है । ब्राह्मणों व उपनि-  
षदोंमें उक्त शब्द प्राण के लिए भी आता है । कहीं अन्न प्रजा  
आदिके लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है । क्षामा = क्षाम ।  
'संहितायां' से दीर्घ हुआ हुआ है यद्यपि क्षाम शब्दका  
पाठ निष्पत्तिमें पृथिवी वाचक नामों में किया है तथापि 'यहां  
क्षाम शब्द का अर्थ प्रसंगसे 'अंधकार' ही करना उचित  
है और यही ठीक जंचता है । इसके अतिरिक्त इस विभागमें  
दिए गए सूत्र मंत्रभी इसी अर्थको सूत्र कर रहे हैं । पृथिवी  
को भेदन करने का यहाँ कोई संबंध प्रतीत नहीं होता ।  
अन्वयोक्त्यर्थ उपःकालकी किरणों ऐसा है । 'अन्वयः गायः  
उपसाम्' अर्थात् उपाओंकी किरणोंका नाम अन्वयी है ।  
विष्णुः १।१५॥

इसी प्रकार निम्न मंत्र भी उपरोक्त मंत्र के कथन को ही  
सूत्र कर रहा है—

य इहेवानां सधमाद् आत्मनृतावानः कवयः पूर्वांसः ।

गूळई ज्योतिः पितरो अन्वविन्दन्तस्तस्यंया अजन-

यन्नुवासत् ॥

म. ७।५१।४॥

( 'ये इव नृतावानः, कवयः, पूर्वांसः सत्यमंत्राः, पितरः )  
ये ही सत्ययुक्त, कान्तदर्शी पूर्वकालीन, सत्य मंत्रज्ञानाले पितर  
( देवानां सधमाद् : आत्मान् ) देवोंके साथ मिलकर आनन्दित  
होनेवाले थे कि जिन पितरोंने ( गूळई ज्योतिः ) छिपे हुए  
प्रकाशको ( अनु अविन्दन् ) प्राप्त किया और ( उपांस )  
सपाके ( अजनयन् ) उपज किया ।

इस प्रकार इस मंत्रमें भी पितरों के उपापैदा करके सूर्य  
प्रकाश देनेकी बातको कहा गया है ।

'वीळु चिदृदङ्गः पितरो न उक्तयैर्दि रजद्रजिगरसो  
रवेण । चतुर्दिबो वृद्धो गान्मुखो अहः खः विविदुः  
वेसुमुखाः ॥

म. १।५१।५॥

( नः अक्षिरसः पितरः ) हमारे अक्षिरस पितरोंने  
( उक्तयैः ) शालोत्रे, ( रवेण ) और उक्त्य अथात् बेरके  
स्तोत्रीये उपलब्ध होयसे ( वीळु चित् ) लोळ पियाया । अर्थात् वेद  
मंत्रोंके पाठसे इतना बड़ा शब्द हुआ कि उससे आदल दूट कर  
नीचे आगिरे और ( वृद्धता दिवः पातुं चतुः ) बड़े मारी  
मुळोक्षमें घे मार्ग बनाया । और इस प्रकार ( अहमे ) हमारे  
लिए ( स्वः अहःकेतुं ) मुख से प्राणजिब सूदको तथा ( उपांसः )  
सूर्यकिरणों का ( विविदुः ) प्राप्त किया ।

इस मंत्रमें उक्त्यों की महिमा का वर्णन किया गया है और  
साथ ही में उन उक्त्यों की सहायतासे पितरोंने हमारे लिए दिन  
व सूर्य को प्राप्त किया जिससे कि हमें प्रकाश प्राप्त हो सके,  
यह दर्शाया गया है । पितर बादलोंकी हटाकर उन्हें छिन्न भिन्न  
कर हमारे लिए सूर्यप्रकाश पहुंचाते हैं यह इससे स्पष्ट होता है।  
उपरोक्त मंत्रके इसी भावको निम्न मंत्र भी प्रकट कर रहा  
है ।

स चर्षिता चर्चनः पूषमानः सोमो मीद्वर्वा अभि नो  
ज्योतिषावीत् । येना नः पूर्वे पितरः पदशाः स्वर्बिंदो  
अभि गा अदिमुष्णत् ॥ म. १।१५।२१॥

( सः ) वह ( चर्चनः ) बढता हुआ ( चर्षिता ) पढाने-  
वाला ( पूषमानः ) पवित्र करता हुआ ( मिद्वान् ) सुख वा  
कामनाओंका वरुक्त ( सोमः ) सोम ( नः ज्योतिषा अभि  
आवीत् ) हमारी प्रकाशसे चारों ओर से रखा करे । ( येन )  
जिस सोमसे कि ( नः पदशाः, स्वर्बिंदः, पूर्वे पितरः ) हमारे  
परम पदको जाननेवाले पूर्व पितरोंने ( गाः ) किरणोंको ( अभि =  
अभिलक्ष्य सदैव करके अर्थात् किरणों की प्राप्तिका उद्देश्य करके  
अर्थात् किरणोंकी प्राप्तिका उद्देश्य करके ( अदि उष्णत् )  
मेघका अपहरण किया अर्थात् उले दूर हटाया जितने कि सूर्य  
किरणोंके आभेसे ठंडाबद न हो ।

पूर्व मंत्रोंका भावको इस मंत्रमें निम्न रूपसे दर्शाया गया है ।  
उसी भावकी यह मंत्र सुष्टि करता है । 'स्वर्बिंदः' का अर्थ है  
सूर्य को जाननेवाले । तुलोक कोभी स्वः कहते हैं अतः तुलोक  
को जाननेवाले भी अर्थ है । यादवाचार्य भी यह अर्थ स्वीकार  
करते हैं । उन्हीने स्वः शब्दका निर्वचन वि० अ० २। पा०  
४। खण्ड १४ में निम्न प्रकारसे किया है—

“स्वः आदित्यो भवति । सु अरणः, गु ईरणः, स्तुतो  
रणन् । रट्टो भावे ज्योतिषा, रट्टो भावेति वा । एतेन  
वीर्गोविधाता ।” अर्थात् स्व आदित्यका नाम है क्योंकि  
यह सूर्य ( सु-अरणः गु ईरणः ) पूर्णतया अपकार को दूर  
भग्यनेवाला है ।

गु अर-स्वः । अथवा 'रट्टो रणन्' यह रणोंके प्रति  
प्रहणके लिए आता है । गूळका रस लेना प्रविष्ट ही है । गूळके  
रस लेनेकी बातको कालिदासने रणुंयं में इस प्रकार कहा  
है—

‘खड्गगुणसुरातुं आदरे’ हि रसं रविः’

अर्थात् गूळ हमारे गुणा वापिस करनेके लिए रणोंको प्रियी

परसे लेता है। सु पूर्वक ऋ गतौ। सु५अर=स्वः। अथवा 'रश्मौ भासं ज्योतिषां' अर्थात् चन्द्रादि प्रकाशयानोंको प्रकाशित करनेवाला। अथवा 'स्वृतो माया' दीप्तिसे युक्त होनेसे सूर्यका नाम स्वः है। इसीसे सुलोक की भी व्याख्या होगई ऐसा समझना चाहिए।

इस मंत्रमें पितरोंको सूर्यका जाननेवाला कहा गया है; अतः इससे यह अनुमान निकाला जा सकता है कि संभव है पितर सूर्यलोकमें भी विचरण करते हों। पितरोंकी सूर्यसे घनिष्ठता प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त हमें पितृपाण के प्रकरण में एक ऐसा मंत्रभी मिला है जिसमें कि पितरों की सूर्यकिरणों के साथ सहप्रतिपत्ति व सहगमन बताया गया है। यहाँपर पितरोंको सूर्यको जाननेवाले बतलाया गया है। अतः इन दोनों बातों को लक्ष्यमें रखकर विचारने से ऐसा प्रतीत होता है कि पितर पृथिवी लोक से सूर्य किरणों के साथ सूर्य लोकमें जाते हैं और वहाँसे फिर सुलोकमें स्थित पितर लोकमें जाते हैं। अतः संभव है यही पितृपाण मार्ग हो। उपरोक्त दोनों मंत्रोंके भावको मन्त्र मंत्र और भी स्पष्ट रूपमें पुष्ट कर रहा है—

अभिधावं न कृदनेभिरहं नक्षत्रेभिः पितरो ग्राम-  
विंशन् । रात्र्या तमो अदुपुत्र्योर्विरहन् बृहस्पति-  
मिनन्दि विद्वद्वा ॥ ऋ० १०।६८।१॥ तथा

अथर्व० २०।१६।११

( बृहस्पति अग्नि मिनन् ) जब बृहस्पतिने मेघको तोड़  
गिराया और ( वाः विदत् ) सूर्य किरणोंको प्राप्त किया तब  
( कृदनेभिः इत्यर्थ अर्थ न ) जैसे धुवर्णके अलंकारोंसे काले  
घोड़ेको शोभायमान किया जाता है वैसे ( पितरः ) पितरोंने  
( नक्षत्रेभिः वा अपिपान् ) पितरोंने नक्षत्रों द्वारा सुलोकमें दीप्त  
किया व शोभायमान किया। और फिर ( रात्र्या तमः अदुपुः )  
रात्रिमें अंधकारको रखा तथा ( अरन् ज्योतिः अदुपुः ) दिनमें  
प्रकाशको स्थापित किया। अतएव दिनमें प्रकाश होता है और  
रातमें अंधेरा। इस प्रकार इस मंत्रमें 'प्रकाश व अंधेरा पितर  
करते हैं' यह दर्शाया गया है।

आपिरभून्महि मापोनमेपां विश्वं जीवं समसो

निरमोषि । महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागदुहः

पन्था दक्षिणाया अर्द्धि ॥ ऋ० १०।१०।७। १ ॥

[ एपा मापोनं महि आसिरभूत् ] इन पितरोंका मधवा  
संरक्षणी मन्त्र प्रपात्र प्रष्ट हुआ, और ऋतु होकर उसने  
[ विश्वं जीवं ] पार पंथाको समस्त निरमोषी व अप्रकारके

छुड़ाया। [ पितृभिः दत्तं महि ज्योतिः आगात् ] वह पितरोंसे  
दिया हुआ प्रकाश आया और आकर उसने [ दक्षिणायाः  
उरः पन्थाः अर्द्धि ] दक्षिणा का विस्तृत मार्ग दर्शाया।

मापोनं का अर्थ है मधवा अर्थात् इन्द्र संबंधी प्रकाश  
सूर्यकी चैत्र माघमें इन्द्र संज्ञा होती है अर्थात् सूर्य चैत्रमाघमें  
इन्द्र कहलाता है। अतएव मापोनं का यहाँ अर्थ सूर्यका  
प्रकाश ऐसा किया है। इसके अतिरिक्त प्रकृत प्रकरण भी इसी  
अर्थकी पुष्टि करता है।

इस मंत्रमें पितरोंके प्रकाश देनेके महत्त्वकी दर्शाया गया है  
इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हमें स्पष्ट पता चलता है कि  
पितरोंका काम उषाओंका उदयन करना, अन्धकारको दूर  
करके सूर्यप्रकाश प्राप्त करना, तथा बादलोंको तोड़ फोड़कर  
उनसे छिपे हुए प्रकाश को प्राप्त करना है। सुलोककी मध्वर्द्धि  
सुबोधित करके दिनरात बनाना भी पितरोंका कार्य है। इस  
प्रकार पितर सूर्यप्रकाश प्रदाता है यह हमने देखा।

## ३ पापसे छुड़ाना

अरायान् मृतो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् विनुन्  
मृच्छूनेकशतं मृतो नो मुञ्चन्महंसाः ॥

अथर्व० १।१।१६

[ अरायान् ] न दान देनेवालोंको, [ रक्षांसि ] राक्षसोंको,  
[ सर्पान् ] सर्पोंको, [ पुण्यजनान् ] पुण्यजनोंको और [ विनुन्  
पितरोंको ] मृतः कहते हैं तथा [ एकशतं ] शत्रुओं  
को मृत्युओंको [ मृतः ] कहते हैं कि [ ते ] वे सब [वा अरक्षाः]  
हमें पापसे [ मुञ्चन्तु ] छुड़ावें। यहाँपर अन्त्योके साथ पितर  
भी पापसे छुड़ाते हैं यह दर्शाया गया है।

## ४ सुख व कल्याण करना।

विश्वामित्र जमदग्ने वसिष्ठ भरद्वाज गोतम वामदेव  
चर्दिनो भात्रिप्रमभीप्रमोभिः सुसंज्ञासः पितरो मुञ्चन्तः ॥

अथर्व० १०।११।१७

हे ( विश्वामित्र ) सबके मित्र, ( जमदग्ने ) हे अग्नि  
प्रपात्रक, ( वसिष्ठ ) हे अतिशय धृष्ट, ( भारद्वाज ) हे अन्ध-  
बल धारक, ( गोतम ) हे उत्तम स्तोता, ( वामदेव ) हे  
प्रसंघजीव स्ववहारवाले, ( सुसंज्ञासः ) वक्ता तथा रगुति करने  
योग्य ( पितरः ) पितरों। गुप्त ( नः गृह्यत ) इसे सुभी  
करो क्योंकि ( चर्दिः अग्निः ) वक्तामित्र अग्निने ( नमोभिः )

अगोपे हमें ( अग्रमात् ) प्रदण किया है अर्थात् वह हमें अज देता है ।

अथवा शर्वि = छर्दि = घर । शर्दि का अर्थ घर करने पर छर्दि का विभक्ति व्यवय करना पड़ता है । शर्वि = शरद्व । इस अवस्था में तृतीय पाठका अर्थ होगा कि " वर्यो कि अग्निन हमारे घरों को अगोपे भर दिया है, अतः हे उपरौके विशेषण विशिष्ट पितरो हमें सुखा करो । " अग्नि का अर्थ है जिसके लीनों तारा मही रहे । ( नि० ३ । १० ) इस मंत्र में विश्वा मित्र, जमदाम आदि शान्द पितरों की विशेषता दर्शाते हैं ।

श नः सत्यस्य पदयो भवन्तु वा नो अर्धन्त सन्तु सन्तु गाव । श न ऋभव सुहृन् सुहृता वा नो भवन्तु पितरो हवेपु ॥ न० ७३५१३

तथा अथर्व० १९ १११११

( सत्यस्य पदय ) सत्य की रक्षा करनेवाले ( न वा भवन्तु ) हमारा कल्याण करें । और ( अर्धन्त न वा ) थोड़े हमारे लिए कल्याणकारी हों । ( स ) और ( गाव वा सन्तु ) गौए हमारे लिए कल्याणकारी हों । ( सुहृन् सुहृता ) ऋभवः न वा ) श्रेष्ठ कर्मज, कार्यकुशल कारीगर लोग हमारे लिए कल्याणकारी हों । ( हवेपु ) मुल्यए जनिपर ( पितरः न वा भवन्तु ) पितर हमारा कल्याण करें ।

ऋभु का अर्थ निष्पट्ट में मेधावी जन व कारीगर ऐसा है ।

( निषट्ट ३ । १५४ )

## ५ गर्भ धारण करना

अद्वचद्वयस पृथिवरमिव वद्धा विमर्ति भुवनानि वाज्यु । सायाविनो ममिरे अस्म मायया नृचक्षस पितरो गर्भनाद्वु ॥ न० ९०२१३

( ममिरे ) अग्रमा — मुख्य — प्रसिद्ध [ उषस पूरित ] उपोष सबन्ध रखनेवाला सूर्य [ अद्वचद्वत् ] सबको प्रकाशित करता है । [ वाज्यु ] भूतजातों के लिए अमकी कामना करता हुआ अतएव [ वद्धा ] " जलोद्धा विचिन करनेवाला सूर्य [ भुवनानि विमर्ति ] भुवनों का धारण पोषण करता है । [ अस्म मायया ] इसकी मायासे [ मायाविन ] मायावाण [ ममिरे ] वशयोद्धा निर्माण करते हैं और [ नृचक्षस पितरः ] गर्भ आदयः । मनुष्यों के दहनवाले पितर गर्भ का धारण करते हैं ।

वही सूर्यकिरणों को पितर वद्धा गन्त दे देता प्रताप होता है । सूर्यकिरण जलको अपने गर्भ में धारण करती हैं । सूर्यका

किरणोद्भास जल ऊपर ल जाऊँ पुन कृष्टिके समय वरदाना प्रसिद्ध ही है ।

आधस पितरो गर्भ कुमार पुष्करस्रजम् । यथेष्ट पुष्कोऽसत् ॥ यजु ७० २१३१ ॥

[ पितर ] हे पितरो ! [ पुष्कास्रज कुमार गर्भ आघत ] पुष्करस्रज कुमार का गर्भ में धारण करो । [ यथा ] जिसके कि [ इष्ट पुष्प असत् ] यथा यत् पुष्प बन जावे ।

इस मंत्रपर भाष्य करत हुए षड्वाचार्य तथा महाप्रचार्य ने पुष्करस्रज कुमार का अर्थ अद्विना कुमार जोकि देवों का चैय हैं उनका सुन्दर कुमार ऐसा किया है । पितरों के गर्भना की गई है कि देवों के वेशासा सु दर पुत्र उत्पन्न करो । स्वामा दवानन्दजी ने इस मंत्रपर भाष्य करते हुए पुष्करस्रज कुमार का अर्थ " त्वयाप्रहृणार्थं फूलकी माला धरणा किंवा हुआ कुमार " ऐसा किया है । इस अर्थानुसार यह मन्त्र विद्याभ्यास के प्रारंभ के समयका वर्णन करता है, ऐसा प्रतीत होता है, तथा इससे निम्न परिणाम निकाले जा सकते हैं—

१ यहाँ आचार्यों के लिए पितृ शब्द का प्रयोग किशो मया है ।

( २ ) विद्याभ्यास के प्रारंभ करने के लिए गुरु के पास जाते हुए विद्यार्थी की कुलौट्टा माला अपने गलेमें डालकर जाना चाहिए ।

( ३ ) बहुवचन त पितृशब्द एकही समयमें एक शिष्य के अनेक आचार्यों का होना दर्शाता है ।

गाठों के सामने हमने दोनों आध्यों का दिग्दर्शन करा दिया है । इस पर विशेष विचार पाठक स्वयं करें ।

## ६ पितरोंका संस्तवि वदना आदि

द्विषा सूनयोऽमुष स्वर्विदमास्यापदन्त मृषोमेन कर्मणा । स्वा प्रजो पितरः पित्र्य सद् आचरे—

अद्वचद्वयस-तु आततम् ॥ न० १०५६१६

[ सूनव ] आदित्यके पुत्र देवों ने [ अमुष स्वर्विद ] यथायत् तु लोकोद्धा जाननेवाला आदित्यको ( मृषोमेन कर्मणा ) प्रजो पितरः पित्र्य सद् आचरे— अद्वचद्वयस-तु आततम् ॥ अर्थात् प्रजा का उपराल करके ( अचरेपु पित्रो ) स्वर्ग प्रजो ) अपनी प्रजा का उपराल करके ( अचरेपु पित्र्य सद् आचरे ) आनशान्ति सतातमें पीथिक उपराल ऐसा शिव किम्ब और इस प्रकार ( त-तु आतत ) सतति हो बिस्तृत बनाया ।

पितरं संततिं बढाकर उसमें वैदिक लेख रचापन करते हैं,  
ऐसा इस मंत्रमें बतलाया गया है ।

**७ मनके प्रत्यावर्तन अर्थात् पुनर्जन्ममें**

**पितरोंकी सहायता ।**

पुनर्नः पितरो मनो ददातु देव्यो जनः

जीव प्रातः सचेमहि ॥

ऋ० १०।५।५ तथा यजु० ३।५५

[ न पितरः ] हमारे पितर तथा [ देव्य जन ] देवोंका  
संघ [ पुन न मन ददातु ] फिरसे हमें मनको देवे । हम  
( जीव प्रातः सचेमहि ) प्राणादि इन्द्रियसमूहों प्राप्ति करें ।

जन शब्द यह छपके लिए प्रयुक्त हुआ हुआ है । यह मंत्र  
पुनर्जन्मपर प्रत्यक्ष ज्ञातहुआ पितराका मनोदि इन्द्रियोंके  
देनेमें उदाहरण होना दर्शा रहा है ।

मनो०वा हुआमहे नारादासेन सोमेन

वितृणां च मनभिः ॥

ऋ० १०।५।३

यह मंत्र थोड़ेछे पाठभेदछे यजुर्वेदमें निम्नप्रकार से आया  
हुआ है—

मनो०वा हुआमहे नारादासेन स्तोमेन

वितृणां च मनभिः ॥

यजु० अ० ३।५३

[ तंज समानया गिरा ] उस वृक्षकी समान स्तुति [ च ]  
और [ वितृणां मनभिः ] पितरोंके मननीय स्तोम अर्थात् स्तुति-  
योगे तथा [ नामाकस्य प्रशस्तिभिः ] नामाकके प्रशंसापरक  
स्तोत्रोंसे [ सुचमिष्टौमि ] अच्छी प्रकार स्तुति करता हूँ । [ च ]  
जो [ मध्यमः ] मध्यम वृक्ष [ सिन्धुनां उप उदये सात ]  
नादियोंके उद्गम स्थानमें सात बहिनौवाला है । [ समे ] सब  
[ अन्येके ] जो हमसे द्वेप करते हैं, ऐसा दुष्टपुष्टिवात्-पापजुड़े-  
वाले पापसंकल्प [ न भन्तां ] न रहें ।

इस मंत्रसे हमें पता चलता है कि पितरोंके जोई खास स्तोत्र  
हैं वे स्तोत्र अपना विशेष परिणाम रखते हैं ऐसा नीचे दिए  
जानेवाले मंत्रसे प्रतीत होता है—

यह मंत्र विशेष विचारणीय है । उपरोक्त मंत्रकी व्याख्या  
निरूपणपर यादश्चाचार्यने अपने निरुक्तमें इस प्रकारकी है

‘तं स्वमिष्टौमि समानया गिरा गीत्वा स्तुत्वा वितृणां

च मननीये । स्तोमै, नामाकस्य प्रशस्तिभिः ।

ऋदिनां भाको यभूय । यः सगन्धमानामुपोदये सख

स्वसारमेवमाहवाभिः । स मध्यमः इति निरूप्यते ।

अथैष एव भवती । न नन्तामन्यके समे, भुवध्वके सर्वे

येनो द्विपलित दुर्धियाः पापपिय पापसंकल्पाः ॥

निरुक्त १०।५

हमने जो ऊपर अर्थ किया है यह निरुक्तानुसार ही  
किया है ।

नामाक कृषिके प्रशंसापरक स्तोत्रोंसे तथा पितरोंके सब-  
नीय स्तोत्रोंसे वृक्षकी स्तुति करनेसे पाप संकल्प नष्ट होते हैं  
अर्थात् पितरोंके स्तोत्र पाप संकल्पोंको दूर करनेमें सहायक हैं,  
यह इस मंत्रके कथनका अभिप्राय प्रतीत होता है । इसके अतिरिक्त  
पितरोंकी स्तुतियोगे और कया विशेष लाभ है यह निम्न मंत्र  
दर्शाता है—



करनेवाले के लिए या स्तुति करनेवालेके लिए धनका संभाजक अर्थात् विभाग कर के देनेवाला है ।

इस मंत्रमें यह बताया गया है कि पितरोंने स्तुति करके सब कुछ प्राप्त किया और जो कोई अन्य चाहे सो वह भी स्तुति करके प्राप्त कर सकता है । पितरोंकी स्तुतिफल यदापर दिखाया गया है । अब कुछ ऐसे मंत्र नीचे दिए जाते हैं जिनमें से कि प्रत्येक मंत्र पितरों के भिन्न भिन्न कार्योंका उल्लेख है ।

### पितरोंसे दीर्घायु ।

सर्वथा मां पितरः सोम्यातो अश्नन्तु देवा मधुना पुत्रेण । चक्षुष मा प्रतरं चारयन्तो जरसे मा जरदक्षि वर्धन्तु ॥ अथर्व- १८१।१०

[ सोम्याशः पितरः मां हनन्तु अश्नन्तु ] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे तंत्रसे व्यक्त करें । [ देवाः मधुना पुत्रेण ] देव मुझे माधुर्योपेत पुत्र से व्यक्त करें । [ चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तः ] देखने के लिए मुझे अच्छी तरह तराते हुए अर्थात् समर्थ बनाते हुए, [ जरदक्षि मा ] जिसका स्थान पान थिथिल हो गया है ऐसे मुझको [ जरसे ] दृढ़ावस्था तक [ वर्धन्तु ] बढ़ावे अर्थात् जिस बुढ़ापेमें खाने पीनेकी शक्ति जीर्ण हो जाती है उस बुढ़ापेवक मुझे पहुंचाए । यथासंभव दीर्घायुवाला मुझे बनाए, उससे पूर्व मैं क्षीयन होऊँ ।

इस मंत्रमें पितरों से दीर्घायुप्राप्त के लिए कहा गया है । दीर्घायु देना व प्रत्येक को उसकी पूर्णवृष्टातक पहुंचाना पितरों का कार्य है ।

पुनन्तु मा पितरः सोम्यातः पुनन्तु मा पितामहाः । पुनन्तु प्रपितामहाः । पवित्रेण घातायुषा । पुनन्तु मा पितामहाः पुनन्तु पपितामहाः । पवित्रेण घातायुषा विश्वामुर्न्यहवै ॥ यजुः ७- १५३७

[ सोम्याशः पितरः मा पुनन्तु ] सोम संपादन करनेवाले पितर मुझे पवित्र करें । [ पितामहाः मा पुनन्तु ] पितामह मुझे पवित्र करें । [ प्रपितामहाः ] प्रपितामह मुझे पवित्र करें । [ पवित्रेण घातायुषा ] पवित्र की वर्ष की आयुसे । अर्थात् ये उपरोक्त पितृगण मुझे पवित्र हो वर्ष की आयु दें । मेरा जो वर्षका जीवन पवित्रतापूर्वक व्यतीत हो, और इस प्रकार पवित्रतासे आयु व्यतीत करता हुआ [ विश्वेभ्युः स्वधी ] सम्पूर्ण आयु को जितनी कि मनुष्य की हो सकती है, प्राप्त करे । पवित्रतापूर्वक जीवन व्यतीत करनेसे ही पूर्ण आयु आयी जा सकती है, अन्यथा नहीं ।

११ ( अ. प्र. भा. अं. १८ )

निम्न मंत्रमें ऐसा प्रतीत होता है कि पितर मृतको पुनर्जन्मोचित करते हैं । मंत्र इस प्रकार है ।

यत्ते अहम् प्रविहितं पराचिरपानः प्राणो य उ वा ते परेतः तत्ते संगमय पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरावेक्षन्तु ॥ अथर्व- १८१।२६

[ ते यत् अहम् पराने प्रतिहितम् ] तेरा जो अंग उलटा होकर हट गया है, और [ यत् ते प्राणः, अपानः परेतः ] जो तेरा प्राण या अपान मूर चला गया है, शरीर से निकल गया है, [ तत् ते ] उस उपरोक्त तेरे अहम् या प्राण या अपान को [ सनीडा पितरः ] साथ रखनेवाले पितर [ संगमय ] मिलकर [ घासाद् घासं इव ] [ यदा ह्यन्तोपमा प्रवातं होती है ] जैसे घाससे घास बांधी जाती है, उसी प्रकार [ पुनः आवेक्षन्तु ] फिर प्रविष्ट करावे अर्थात् फिरसे प्राण अपान आदि तुझे दें, यानि पुनर्जन्मोचित करें ।

प्राणों के निकल जानेपर शरीर चेष्टारहित हो जाता है । वह उस क्षणमें सब वा मृत देख बहलता है । इस मंत्रमें निकले हुए प्राणों का पुनः समावेश करनेका वर्णन है । इससे मृत को पुनर्जन्मोचित करनेका निर्देश इस मंत्रमें मिलता है । इस के विषय कोई शरीर का अवयव उलटा हो गया हो वा बूट गया हो, तो उसे भी पितर ठीक ठीक यथास्थान बैठाने हैं ऐसा कहा होता है ।

साधनाध्याय में 'घासाद् घासं' का अर्थ इस प्रकार दिया है— 'अद्यते भुजगते अस्मिन्निहि पासः । भोगायतनं शरीरम् । घासात् भोजनाधिकरणशरीरात् घासं अन्त्यत् शरीरं पुनः आवेक्षन्तु ।' अर्थात् जिसमें साया जावे उसका नाम है घास । भोगायतन शरीर का नाम घास है, कथों कि इसमें भोग भोगे जाते हैं । मृतः घासात् अर्थात् भोजनाधिकरण शरीरसे घास यानि दूसरे शरीरको फिर देते हैं । मर्त्य के बाद एक शरीर कुशस्त्र यूपरा शरीर देते हैं वह अस्मिन्नाय है ।

इस प्रकरण में संक्षेपसे इतना ही पितरों के धर्मों के विषय में लिखना पर्याप्त है । इसके आलोचक अन्य पितरों के कार्य दर्शानेवाले मंत्र अन्य प्रकारों में यथास्थान दिये जायेंगे । उनही बातें उपपृष्ठा अधिक होनेसे यहां पर नें नहीं दिये हैं ।

### पितरोंके प्राति हमारे कर्तव्य ।

इस प्रकरण के हम दो विभाग करेंगे । प्रथम विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि पितरों के लिए दान, नमस्कार, स्तुति आदि देवेन वर्णन है । द्वितीय विभाग में पितरों के

लिए यज्ञ अथवा पितरोंके यज्ञ का सम्बन्ध दर्शानेवाले मंत्रोंका उल्लेख करेंगे । इस दृष्टिसे विभाग का शार्पक 'वितर' और 'यज्ञ' होगा । प्रथम विभागमें छोटे छोटे कई शार्पक होंगे । इस विभाग का धार्मुह्यरूपसे शार्पक देना कठिन है ।

## १ पितरों के लिए नमस्कार ।

'नमः' का अर्थ अन्नभी होता है, परन्तु पितरोंके लिए आये हुए 'नमः' का अर्थ नमस्कार ही है, क्योंकि पितरोंके लक्षका खास नाम 'स्वधा' है और अतएव जहाँ पितरोंके लिए अन्न अभिषेक होता है वहाँ स्वधा का प्रयोग होता है ।

हृदं पितृभ्यो नमो अस्वधाय ये पूर्वसो य अपरास ईयुः । ये प्राथिवे रजस्त्यानियता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥

अ० १०११५।२ ॥ तथा

यजु अ० ११।६८

यहाँ मंत्र अथर्व में थोड़ेसे पाठभेदसे निम्न प्रकारसे है—

हृदं पितृभ्यो नमो अस्वधाय ये पूर्वसो य अपरास ईयुः ।

ये प्राथिवे रजस्त्यानियता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥

अथर्व० १८।१।४६

{ ये } जो कि { पूर्वसः } पूर्वकालीन पितर { ईयुः } स्वर्गको गए हुए हैं और { ये } जो कि { अपरासः } अर्वा-चीन कालके पितर { ईयुः } स्वर्गको गए हैं । पितृभ्यः अथर्व नमः अस्तु । उन पितरोंके लिए आज यह नमस्कार हो । { ये प्राथिवे रजसि आनियताः } और जो कि पितर शपिकों कीद्वारा स्थित हैं { वा } अथवा { ये } जो कि { नूनं } निम्नगते { सुवृजनासु दिक्षु } उत्तम बल का धनुषयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं, उन पितरोंके लिए भी नमस्कार हो । अथर्ववेदमें दिक्षु के स्थान पर दिक्षु पाठभेद है । यद्यप्य 'ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु' का अर्थ ऐसा होगा—'अथवा जो कि पितर निम्नगते उत्तम बलवाली दिशाओंमें स्थित हैं ।'

नमो यमाय नमो अस्तु श्रावये नमः पितृभ्यः

उय ये नमन्ति । उत्प्रागमस्य को वेदु समर्पित पुनो ह्ये नमो अतिष्ठतात्वेन

उपाय वा मार्ग को जानता है { सं अग्निं } उस अग्नि को { अस्मै अतिष्ठतात्वे } इस जीवके कल्याण के विस्तार के लिए { प्रतो दधे } आगे रखता हूँ अर्थात् उसीसे अग्निसे धरा में अपने सामान धारण कराता हूँ ।

यदा गार्हपत्यमसपर्यंत पूर्वमग्निं वपुरियम् ।

अथा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यस्व नमस्तुक्ते

अथर्व० १४।२।२०

{ यदा पूर्वं इयं वधुः गार्हपत्यं अग्निं अघर्षयत् } जब पहिले यह वधू गार्हपत्य अग्नि का पूजा करे { अथ } तब उसके बाद { नारि } है नारी । वृ [ सरस्वत्यै पितृभ्यः न ] सरस्वती व पितरोंके लिए { नमः कुर्वे } नमस्कार करे । इस प्रकार हमने देखा कि इन उपरोक्त मंत्रोंमें पितरोंके लिए नमस्कारका विधान है ।

## २ पितरों के लिए स्वधा ।

अग्ने वाजजित् वाजम्ना सार्वभ्यन्तं वाजजित्

सम्प्राप्तिं नमो देवेभ्यः स्वधा पितृभ्यः

सुभमे ये भूयारस्तम् ॥

यजु० मं० २।७ ॥

{ वाजजित् अग्ने } हे अन्नको जीतनेवाली अग्नि ! { वाजे वरिष्यन्तं स्वा } अन्नके प्रति जाती हुई तुमको { व मार्जितं } शुद्ध करता हूँ । { देवेभ्यः नमः } देवोंके लिये नमस्कार हो । तथा { पितृभ्यः स्वधा } पितरोंके लिये स्वधा हो । { मे } मेरे लिए { सुभमे भूयारस्तम् } नमः और स्वधा एक ही वरकर्म देनेवाले हैं । अथवा नमः और स्वधा, सुमे निस्सर्व रक्षकवाले हैं ।

यहाँपर देवोंके लिए नमः और पितरोंके लिए स्वधा निर्दिष्ट है । 'वाजे वरिष्यन्तं स्वा सम्प्राप्तिं' से तथा यज्ञार्थ है कि अन्न वरकर्मके लिए शुद्ध अन्नका ही प्रयोग करना चाहिये । अशुद्ध बड़े अन्नवस्तुके लिए अन्नपुष्पक है ।

पितृभ्यः स्वधाप्रियम् स्वधा नमः । पितृ-

महेभ्यः स्वधाप्रियम् स्वधा नमः । पितृ-

महेभ्यः स्वधाप्रियम् स्वधा नमः । अथर्व

पितरोऽग्नीमन्तं पितरोऽग्नीमन्तं पितरः ॥

[ स्वधातिथ्यः प्रप्रितामहेभ्यः स्वधा नमः ] स्वधा सेनेवाक प्रप्रितामहोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो। [ पितरः ] हे पितृ गणो ! [ अक्षन् ] उस स्वधाको खाओ [ पितरः ] हे पितरों ! [ अममिदन्त ] उस स्वधाको खाकर आनन्दित होओ। [ पितरः ] हे पितरों उस स्वधाको खाकर [ अतितृणन्त ] अत्यन्त तृप्त होओ। [ पितरः शुन्धभवम् ] हे पितरों शुद्ध होओ। इससे स्पष्ट है कि पितरोंका स्वभाव ही स्वधा खानेका है।

ये समानाः समनसः पितरौ यमराज्ये।

येषां लोकः स्वधा गमो यमो देवेषु कल्पयाम् ॥

यजु. अ. १९।४५

[ यमराज्य ] यमके राज्यमें [ ये पितरः समाना समनसः ] जो पितर समान तथा समनस अर्थात् एक विचार वा संकल्प वाले हैं, [ तथा लोकः स्वधानम यम् ] उन पितरोंका लोक, स्वधा, नमस्कार न यज्ञ [ देवेषु कल्पयाम् ] देवोंमें वर्ण्य होने।

व्याकरोमि हविषाहमेवोसौ मज्जया स्वंहं कल्पयामि।

स्वधां पितृभ्यो भजरां क्रुणोमि दीर्घेणातुषा।

समिमान्स्वधामि ॥ अथर्व. १२।२।३२

मैं [ पौता ] इन दोनोंको [ हविषा ] हविषा [ व्याकरोमि ] मण्डित करता हू। [ तौ अह ] उन दोनोंको मैं [ मज्जया वि- कल्पयामि ] मज्जया विशेष सामर्थ्यवान् बनाता हू। [ पितृभ्यः स्वधां भजरां क्रुणोमि ] पितरोंके लिये स्वधाको अक्षय करता हू। [ इमान् दीर्घेण आतुषा ] इन्हें दीर्घायु द्वारा [ संतुषामि ] संतुष्ट करता हू अर्थात् इन्हें दीर्घायु दता हू। इस मन्त्रमें पितरों के लिये अक्षय स्वधा का वर्णन है।

स्वधाकरणे पितृभ्यो यज्ञन देवताभ्यः।

दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेतु न गच्छति ॥

अथर्व. १२।१।३२

[ पितृभ्यः स्वधाकरणे ] पितरोंके लिए स्वधाकारने अर्थात् स्वधा देनेके और [ देवताभ्यः यज्ञेन ] देवताओंके लिये यज्ञ करनेके तथा [ दानेन ] दान करनेसे [ राजन्य वशाया मातुर्हेतु न गच्छति ] क्षत्रिय वशामाताके तिरस्कारकी प्राप्ति नहीं होती। यहापर स्वधाका महत्त्व दर्शाया गया है। पितरोंके लिये स्वधान देनेसे वशामाता गुस्से होती है। स्वधान न देने बाकेका यह तिरस्कार करती है।

एतत् च प्रप्रितामह स्वधा ये च स्वामतु ॥

अथर्व. १८।१।७६

हे [ प्रप्रितामह ] प्रप्रितामह ! [ ते एतत् ] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [ स्वधा ] स्वधा होने। [ ये च त्वा अतु ] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा हो।

तत् शब्द पितृवाचक है। इसमें निम्न ऐतरेय आ. का प्रमाण है—'एतां वाच प्रजापति प्रयमां वाच व्याहारद् एकाक्षर द्वायक्षरा तदेति तानेति। तयैतैतत् तवत्वा वाचा प्रतिपद्यते।' इति ऐ. आ. १।३।३ ॥ आश्वलायनमें भी 'अपने पितरोंका नाम न जानता हुआ पुत्र तत् शब्दका प्रयोग करे' इस आशयवाला सूत्र बनाया है—'नामान्यविद्वोस्तत् प्रितामहप्रप्रितामहेति' आश्व. २।६ ॥ इस मन्त्रमें प्रप्रितामह के लिए स्वधाका विधान है।

एतत् च प्रप्रितामह स्वधा ये च स्वामतु ॥

अथर्व. १८।१।७६

[ प्रितामह ] हे प्रितामह ! [ ते एतत् स्वधा ] तेरे लिए यह दिया हुआ पदार्थ [ हवि ] स्वधा होने। [ ये च त्वा अतु ] और जो तेरे अनुगामी हैं उनके लिए भी यह स्वधा होने।

एतत् ते एत स्वधा ॥ अथर्व. १८।१।७७ ॥

हे [ तत् ] पिता ! [ ते एतत् स्वधा ] तेरे लिए यह हवि स्वधा होने। इन उपरोक्त अर्थवद्दके ३ मन्त्रोंसे पता चलता है कि प्रप्रितामह, प्रितामह तथा पिता, इन तीनोंमेंसे प्रत्येकके नामपर अलग अलग स्वधा दी जाती है।

नवो वा पितरः स्वधा वः पिता ॥

अथर्व. १८।१।८५ ॥

हे [ पितरः ] पितरों [ वः ] तुम्हारे लिए [ नमः ] नमस्कार होने। [ पितरः ] हे पितरों ! [ वः ] तुम्हारे लिए [ स्वधा ] स्वधा होने।

इस मन्त्रमें पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार दोनोंके देनेका उल्लेख है।

श्वनो नृषक्षा दिभ्यः सुवर्णाः सहस्रपाण्डतयो निर्वपोधः।

स नो वि यच्छद् वतु यत् परा-नृजमस्मात्मातु

पितृषु स्वधावत् ॥ अथर्व. ७।४।१२

( नृषक्षा ) मनुष्याका देहनचला, ( दिभ्यः ) दिव्य अर्थात् देवप्राणोंके युक्त (सुवर्णं) उत्तम गतिशाला, (सहस्रं नृ) हजारों पैरोंवाला अर्थात् छोटीगामी (सुवर्णोनिः) पैरोंवाला कारण यही लक्षकोंका उत्पन्न करनेवाला (नृपोधाः) अक्ष, वल, आतुरा

देनेवाला जो [ श्येन ] श्येन है [ स ] वह [ न ] हमें [ यत् पराभृत वधु ] जो शत्रुओंसे हरण किया हुआ धन है उसे [ नियच्छात् ] वापस दे और वह धन [ अरमाक पितृषु स्वधावत् ] हमारे पितरोंमें स्वधावी तरह होवे अर्थात् पितरोंमें जो स्थान स्वधाको प्राप्त है वही स्थान उसे प्राप्त होवे, या वह धन पितरोंमें स्वधावत् अर्थात् आत्मधारण शक्ति करनेवाला होवे। उस धनस्य पितर स्वावलम्बी बनें, स्वाश्रयी हों। यद्वापर स्वधाका अर्थ आत्मधारण ऐसा प्रतीत होता है। स्वधा क्या चीज है यह एक विचारणीय विषय है, तथापि आगे चलकर हम थोड़ा-सा स्वधापर प्रकाश डालने की काशीय करेगे।

### ३ पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ।

सोऽक्रामत् सा पितृनगच्छत् तां पितर उपाङ्गयन्त  
स्वध एहीति ॥ अथर्व० ८।१३।५॥

तां स्वधां पितर उपजीवन्ति उपजीवनीयो भवति  
य एव वद ॥ अथर्व० ८।१३।८

[ सा ] वह विराद् [ सत अक्रामत् ] ऊपरको उछली।  
[ सा ] वह [ पितृन् अगच्छत् ] पितरोंके पास गई। [ तां ] उसे पितर उप आङ्गयन्त ] पितरोंन अपने पास बुलाया कि [ स्वध ] है स्वधा। [ एहि इति ] तू हमारे पास आ।  
[ पितर तां स्वधां उपजीवन्ति ] पितर उस स्वधाका उपभोग करत हैं, यानि उस स्वधाको खाकर जीत हैं। [ य. एव वद ] जा इस प्रकार जानता है कि पितर उस स्वधाको खाकर जीते हैं, वह भी [ उपजीवनीय भवति ] उस स्वधाका उपभोग करने योग्य बनता है अर्थात् उस स्वधाके आश्रयसे जाता रहता है।

इन मंत्रों य वह वात स्पष्ट है कि पितर स्वधाके आश्रय में रहते हैं, अतः पितरोंको स्वधा देने चाहिए और जो पुत्र इस रहस्यका जानता है, उसे भी स्वधा मिलती रहेगी और इस प्रकार वह भी स्वधा खाकर गृहपूर्वक जीवन निर्वाह कर पड़ेगा।

ऊर्जं वहन्वीरमृत घृत पय कीलक परिसृतम्।  
स्वधा स्थ तर्पयत मे पितृन् ॥ यजु० ३०।२।११  
इस मन्त्रका देवता ' आप ' अर्थात् जल है। [ ऊर्जं ] बलको, [ अमृत ] अमृतको, [ घृत ] घीको, [ पय ] दूधको, [ कीलक ] अन्नको तथा [ परिसृत ] फूलों फलोंसे निकले हुए सारभागको [ वहन्ती ] वहन करते हुए [ आप ] है जलो। तुम [ स्वधा स्थ ] स्वधा होवो। अर्थात् पितरों का अन्न बनो और [ मे पितृन् तर्पयत ] मेरे पितरोंको अपने उपरोक्त रसभागोंसे तृप्त करो।

मन्त्र स्पष्ट है इसपर विशेष लिखनेकी आवश्यकता नहीं है। स्पष्ट शब्दोंमें जलद्वारा पितृतर्पणका निर्देश है। दूसरा मन्त्र इस प्रकार है—

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये।

तेभ्यो घृतस्य कुक्ष्येण वातधारा म्युन्दती ॥

अथर्व० १८।१।५१

[ ते ] वे [ ये ] पूर्वे परागता ] जा पूर्वकालान पितर परे चले गए हैं अर्थात् परलोकवासी हुए हैं और [ ये अपर पितर ] जो अर्वाचीन पितर परलोकवासी हुए हैं [ तेभ्यः ] उन प्राचीन व अर्वाचीन पितरोंके लिए [ वातधारा म्युन्दती ] ये दोनों धाराओंवाली उमड़ती हुई [ घृतस्य कुक्ष्ये ] ब्रह्मकी कुक्षी क्षुर नदी [ एत ] प्राप्त होवे। यह मन्त्र भी उपरोक्त प्रथम मन्त्रके साथकोही पुष्ट कर रहा है। पहिले मन्त्रकी तरह यह मन्त्रभी स्पष्ट है। कुक्ष्याका अर्थ निपण्ड्यें ' कुत्रिमा वरित् ' अर्थात् बनावटी नदी यानि नहर ऐसा दिया है। पितरोंको ब्रह्मसे तर्पण करनेके लिए नहर बहानी चाहिए ऐसा भाव इस मन्त्र का साम्य पड़ता है। उपरोक्त दोनों मंत्रों के भावको ही उक्त करता हुआ तीसरा मन्त्र इस प्रकार है—

पुत्र प्रौत्रमभि तर्पय तीरावो मधुमतीरिमा। ११४५।  
पितृभ्य अमृतं कुक्षानां जावो देवीहमवोस्तर्पयन्तु य

अथर्व० १८।१।१९

हिंदुओं का जलद्वारा पितृतर्पण करना इन मंत्रों के आधार पर है ।

किम पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए यह अभीष्ट नहीं कहा जा सकता, तथापि इतना जरूर पता चलता है, कि जलद्वारा पितृतर्पण करना चाहिए !

यत् वे पितृभ्यो ददतो यज्ञं वा नाम जगृहु ।  
सर्वेऽप्यस्य सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु स्वोपधी ॥  
अथर्व० ११।१।१॥

[ यत् यज्ञे पितृभ्य ददतः ते नाम जगृहु ] यद्यि यज्ञमें पितरों के लिए दान करते हुए तेरा नाम उन्होंने लिया हो अर्थात् तेरे पर दाधारोपण किया हो तो [ सर्वस्मात् सर्वेऽप्यस्य पापात् ] उस सर्व संदेश्य अर्थात् किसीके आदर्श-कहेनेसे छिप गये पापसे [ इमा अपाधाः त्वा मुञ्चन्तु ] ये औपाधि यो तुझे छुड़ाए । इस मंत्रमें पितरों के लिये यज्ञमें दान देने का ज्ञेय है ।

## ५ पितरोंका भाग ।

पितृणां भागः स्य । अपां शुक्रमापो देवीर्बर्धो अस्मा-  
स्तु धत्त । यज्ञादेवो अस्मास्मै लोकाय सादये ॥  
अथर्व० १०।१।१३

इस मंत्रका ' आप ' देवता है । हे जलो ! तुम [ पितृणां भागं स्य ] पितरोंका भाग-अंश दो । [ देवी आप ] हे दिव्य जलो ! [ अपां शुक्रं बर्धो अस्मास्तु धत्त ] जलोंका कार्य व तेज हमारमें धारण करो अर्थात् हमें दो । [ अस्मै लोकाय ] इस लोकके लिए, [ यज्ञादेवो अस्मास्मै लोकाय सादये ] यज्ञादेवके तेजसे तुम्हें बिठाता हू स्थित करता हू । इस मंत्रमें जलोंको पितरोंका भाग-अंश बतलाया है ।

प्रचा भागो निहितो यः पुरा वा दवानां पितृणां  
मर्यानाम् । अशान् जानीष्व विभजामि शान् वो यो  
देवानां स हमार पारयाति ॥ अथर्व० ११।१।१४॥

[ य दवानां पितृणां मर्यानां ] तुम यों, पितरों व मनुष्योंका [ या त्रेधा भाग ] जो तीन प्रकारका भाग [ पुरा निहितः ] पहिलेसे रखा है, उसमेंसे अपने अपने [ अशान् ] अंशोंको भागोंका [ जानाष्व ] जानो अर्थात् मनुष्य, पितर व देवोंका जो तन प्रकारका भाग हमने कर रखा है, उसमेंसे अपने अपने भागको जानते हुए तो । [ तान् विभजामि ] उन भागोंका मैं बांटता हू । [ व दवानां य स इमा ]

तुम देवोंका जो अंश है वह इस महादेव पांचक पत्नीको [ पारयाति ] पार लगावे अर्थात् जिस कार्यका करने प्रारम्भ किया है उसमें वह पार हो जाये । इस मंत्रमें देव, मनुष्य व पितरोंके लिये अलग अलग भाग देनेका उद्देश्य है ।

## ६ पितरोंके शर्मका विस्तार करना ।

यत्र शूरासस्त-वो वित-वतो मिया शर्मं पितृणाम् ।  
अथ स्मा यच्छ तन्वे तने च छर्दिश्चित्त पावय देव ॥

ऋ० ६।४६।१२

[ यत्र शूरासस्त-वो वित-वतो मिया शर्मं पितृणाम् ] यत्र शूरास [ पितृणां मिया शर्मं वित वत ] पितरोंके प्यारे घरोंका विस्तार करते हैं वहापर [ तन्वे तने च ] अपने शरीरोंके लिये व हमारी श्रुतताके लिये [ अचित्त छर्दि यच्छ स्म ] शान्मोक्ष अज्ञात घरोंके जिसे कि शान् हमारा व हरी सतानका विनाश न कर सकें [ द्रव्य ] द्रव्य कर-नेवालोंको भाव रखनेवालोंको [ यावथ ] दूर कर । हम सब मित्रतन्त्रक शत्रुहिन हुए हुए रहें । शर्मका अर्थ निष्पदमें सुख व घर इन दोनों अर्थोंमें आया है ।

शर्म = सुख । निष्पद ३।१॥

शर्म = सुख । निष्पद ३।६॥

' पितृणां मिया शर्मं ' इस पदसमुदायका अभिप्राय पितरोंके देशस है अर्थात् जहाँ पर वशापरपरसे पितृगण निवास कृत चले आ रहे हैं इस मातृभूमिक नामसे स्वदेशको पुकारते हैं, इस प्रकार इस मंत्रमें स्वदेशके विस्तार करनाका निर्देश है । ' छर्दि यच्छ ' निष्पद ३।४॥ ' अचित्त छर्दि ' से यद्दर्शनादे कि श्रुत लोच भा शत्रु हमारे घरमें न रहन चाहिए, अ यथा हमारा भेद उन्हें मिलता रहेगा ।

## पितर और यज्ञ ।

इस विभागमें प्रायः दे यत् दिए आयोगे, जिनमें कि पितरोंके यज्ञमें आने जान व डबि खने आदि का वर्णन होगा । इस विभाषसे हमें यह बात सुप्रमत्तता पता लग सकेगी कि पितरोंके लिए यज्ञ दि करने चाहिए, उन्हें हवि दना चाहिए और इस प्रकार करनेसे पितर हमारी आयु संपत्ति आदिकी वृद्धि करते हैं तथा अ व कष्टोंक दूर करनेमें सहायक हात हैं ।

उषहूताः पितरः सोम्यास्तो बर्हिष्यपु निषिपु म्रियन् ।  
व आगमन्तु व इह ध्रुवश्चधिमवन्तु तस्य स्वस्मान् ॥  
ऋ १०।१५।१५ तथा यजु अ० १९।१७॥

यह मन्त्र अथर्ववेदमें भी है। वहा प्रारम्भमें थोड़ा पाठभेद है। उपहृता पितरः के स्थानपर उपहृता न पितर है। केवल 'न' और अधिक है। सोप समान है। देखो अथर्व १८।३।४५॥

[ थियु वरिष्थेयु नाथपु ] प्रीतिकारक यज्ञ संबन्धी निधि योमि [ सोम्य स ] सोम संपादन करनेवाला [ पितर ] जो पितर [ उपहृता ] बुलाए गए हैं [ ते आयमन्तु ] वे पितर आँ। [ ते ] वे पितर [ इह ] इस यज्ञमें [ अभिभूवन्तु ] हमारी प्रार्थनायें भ्य नपूर्वक सुनें और [ अधि भूवन्तु ] हमें उपदेष्टा करें, तथा ते अस्मान् अवन्तु हमारी रक्षा करें।

‘आर्ह्य’—आर्ह्य नाम है यज्ञश्च उसमें होनेवाला आर्ह्य, अर्थात् यज्ञ संबन्धी। इसका अतिरिक्त ‘सोम्यास’ पद भी इसी अर्थकी पुष्टि करता है। यस्मात्कार्ये निश्चयं सोम्यास का अर्थ सोमका संपादन करनेवाले ऐसा किया है। और सोम यज्ञमें संपादन किया जाता है। प्रकरणमें भी यहा अर्थ होता है, क्योंकि इससे पूर्वके मंत्रोंमें यज्ञ प्रकारका वर्णन है।

निधिर्वा अर्थ निष्काचार्य वाहने अपने निष्क की भूमिकामें निम्न प्रकार किया है—

निधि शेवधिरिति । शेवधिका अर्थ है सुख्मा मण्डार । निध० अ० २॥ पा० १॥ ख ॥

इस प्रकार इस मन्त्रमें पितरोंके यज्ञमें आने, प्रार्थना सुनने, उपदेश करने व रक्षा करनेका उल्लेख हमें मिलता है।

आच्या जानु दक्षिणतो निपद्येय यज्ञमग्नि गृणोत विश्व । मा हिंसिष्ट पितर केन चित्तो यद् आग पुश्रया कराम ॥

अ० १०।१५।६ तथा यज्ञः अ० १९।१२

यह मन्त्र अथर्व वेदमें थोड़ेसे पाठभेदका साथ आया है—

आच्या जानु दक्षिणतो निपद्येय नो हविर्वाग्नि गृणन्तु विश्व । मा हिंसिष्ट पितर केन चित्तो यद् आग पुश्रया कराम ॥ अथर्व १८।१५।२ ॥

( विदे ) यम सुम पितरो । ( जानु आच्य ) दायाँ पुट-माँ टककर ( दक्षिणः निपद्य ) दाईँ और बैठ कर ( यम यज्ञ ) इस यज्ञका ( अभिगृहीत ) स्वीकार कर। ( पितरः ) हे पितर । ( गृण् यः आग पुश्रया कराम ) जो मुझद्वारा अथवा राक्ष पुश्रया अर्थात् मनुष्यवत् करने हम करते हैं। ( केन विद् ) एवं किन्हीं नि अवधारणके बाल ( मा हिंसिष्ट ) हमें मर्ग मारी अपराध न कर। हम मनुष्य हैं और मनुष्य मात्र

सुखका पात्र होता है, अत यदि अपराध हो भी जाए, तो भी क्षमा करो, हमारी हिंसा मत करो।

‘जानु आच्य’ का अर्थ हमने दायाँ पुटमाँ टककर ऐसा किया है, जो कि शतपथ ब्राह्मणके निम्न वाक्यके आधारपर है। अग्नेन पितर । प्राचीनावातिन सभ्य जान्वाच्योवासीर स्तानव्रवीत् । इत्यादि ॥ शतपथ २।४।२॥ शतपथके इस वाक्यसे प्रतीत होता है कि दायाँ पुटमाँ टककर पितर यज्ञमें बैठते हैं। निम्न मन्त्रमें पितरोंके लिए मासिक यज्ञका विधान है।

परा यात पितरः सोम्यासो गभीरे पथिभि पूर्वाभि ।  
अथा मासि पुनरायात नो गृहान् हविरेषु सुयज्ञसु सुवीरा ॥ अथर्व० १८।१।१

( सोम्यास पितर ) हे सोम, संपादक, पितरों । ( गभीरे पूर्वाभिः पथिभि ) गभीर पूर्वाभि-मार्गद्वारा ( परायात ) वापस चले जाओ। जहास आए थे वहा पर लौट जाओ। ( अथ पुन ) और फिर ( सुयज्ञसु सुवीरा ) हे उत्तम प्रजापति तथा सुवीर पितर । ( मासि ) मासके अन्तमें यदि बशीने महीनके बाद ( न गृहान् ) हमारे घरोंमें ( हविरेषु ) रवि क खालीके लिए ( आयात ) आओ।

‘पूर्वाभि पुन दाताति पूर्वाभि ।’ नगरको अग्नेबाह रस्ताका नाम पूर्वाभि है। प्रत्येक मासमें पितृयज्ञ करना चाहिए तथा उसमें देश देखा तर्में स्थित पितरोंको आमन्त्रित करना चाहिए ऐसा इस मन्त्रका भाव है।

अग्निप्रात्या पितर एह गच्छत सर सरः सरः सुपणोतयः । अथा हवींषि प्रयतानि वारिष्वधा शीमे सर्ववीर दधान ॥ अ० १०।१५।११

यह मन्त्र यजुर्वेद व अथर्व वेदमें भी थोड़ेसे पठभेदका आया है। दधो—यज्ञ १९।१५। तथा अथर्व १८।१।४४ अर्थ इस प्रकार है—

( अग्निप्रात्या सुपणोतया पितरः ) हे अग्निप्रात्या व उत्तम नेता पितरों । ( इह ) इस यज्ञमें ( आगच्छत ) जाओ। ( धदा सरदा सदत ) पर परमें स्थित होओ। ( अथ ) और ( व ह्रास प्रयतानि हवींषि भज ) यज्ञमें दिए गए हवींषियों खाओ। और हमें ( धर्मगरे रवि दधान ) सर्व प्रकारके वारताय नृपे धनको दो।

इस मंत्रमें पितरोंको यज्ञमें हवि खिलानेका व अनघे वीरता पूर्ण धन मांगनेका वणज है ।

सहस्रवारं शतधा शस्रसमक्षितं व्यचयमानं सलिलस्य पृष्ठे ।

ऊर्जं दुहानमनपस्कुरन्तमुवासेते पितरः स्वधाभिः ॥

अथर्व. १८ ४१३६

[ शतधां सहस्रधां ऊर्जं ] सैकड़ों पड़जारों भाराओंवाले स्रोतकी तरह जो हजारों व सैकड़ों पाएँओंसे युक्त है ऐसे, और जो [ सलिलस्य पृष्ठे व्यचयमानं ] अंतरिक्षके ऊपर व्याप्त है ऐसे, [ ऊर्जं दुहानं ] अन्न व दलकी देनेवाले, [ अनपस्कुरन्तं ] कभी भी चलावमान न होनेवाले अर्थात् स्थिर हविके [ पितरः ] पितर [ स्वधाभिः ] स्वधाओंके साथ [ उवासेते ] सेवन करते हैं ।

यहाँपर हवि शब्दका अभ्याहार पूर्व मंत्रव्रत करना पड़ता है क्योंकि संपूर्ण मंत्रमें आए हुए विशेषणोंका कोई भी विशेष्य नहीं है ।

पितृगण स्वधाके साथ हवि खाते हैं । इस कथनसे यह स्पष्ट होता है कि स्वधा कोई भिन्न वस्तु ही है । यहाँ पर भी एवं मंत्रकी तरह पितरोंके हवि सेवनका उल्लेख है ।

### पितरोंका यज्ञमें धनदान ।

आसीनासो अङ्गीनामुपस्थेरपि धत्त द्राक्षते मर्त्याम् ।

पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वक्षतः प्रपच्छत व इहोर्जं पृथाव ॥

अ. १०११५७ ॥

पञ्च. न. १९।६३ ॥ तथा अथर्व. १८।११४३ ॥

[ अङ्गीना उपस्थे ] यज्ञमें प्रदीप्त की गई अग्निमें आज्ञा काल चमकती हुई ज्वालाओंके समीपमें [ आसीनासः ] बैठे हुए पितरों ! [ द्राक्षते मर्त्याम् ] दानी मनुष्यके लिए [ रथि-पत्त ] धनको दो । [ तस्य ] और उस दानी मनुष्यके लिए [ रथि धत्त ] धनको दो । [ तस्य ] और उस मनुष्यके [ पुत्रेभ्यः वक्षः प्रपच्छत ] पुत्रोंके लिए भी धनको दो [ ते ] उपरोक्तानुसार धन दान करनेवाले तुम [ इह ] इस यज्ञमें [ ऊर्जं ] अन्नको धारण करो ।

परायात पितर आ च मातायं यो यशो मधुना समक्तः ।

वृत्तो अरमभ्ये प्रविणेह भद्रं रथिं च यः सर्ववीरं वधात ॥

अथर्व. १८।११४४ ॥

[ पितरः ] हे पितरों ! [ परायात ] यज्ञ समिति पर वापस लौट जाओ । [ च ] और फिर [ आयात ] आओ क्योंकि

[ अयं वक्षः वः मधुना समक्तः ] यह वक्ष तुम्हारे लिए [ मधुना समक्तः ] मधुर आज्ञासे सिंचित हुआ है । [ इह ] इस यज्ञमें [ प्रविणे ] घनोंको [ दत्तो ] दो । [ भद्रं सर्ववीरं रथिं च ] और कल्याणकारी तथा सर्व वीरतके युक्त रथि अर्थात् सम्पत्ति सम्पत्ति [ नः ] हमें [ दधात ] पुष्ट करो । मधुका अर्थ है मधुरसंपूर्ण आज्ञा । देखो, ऐ. प्रा. १।१। 'एतद्देव मधु देव्यं यद्वाज्यम् ।'

आगे आगे प्रविणुत पितृहवेमं यज्ञं पितरो मे जुपन्ताम् । आसीनामूर्जमुप यं सचते ते नो रथिं सर्ववीरं निषण्णम् ॥

अथर्व. १८।११४०

[ आपः ] हे आप ! तुम [ अग्निं पितृन् वैपप्रविणुत ] अग्नि को पितरोंके पास भेजो । [ मे पितरः ] मेरे पितृगण [ इमं यज्ञं जुपन्ताम् ] इस यज्ञका सेवन करो । [ ये ] जो पितर [ आसीना ऊर्जं वषचयन्ते ] उपस्थित अर्थात् हमारे से दिये गए अन्नका सेवन करते हैं [ ते ] वे पितर [ नः ] हमें सर्ववीरं रथिं ] सब प्रकारकी वीरतके युक्त धन-संपत्ति को [ निषण्णान् ] निरन्तर देते रहें ।

इस मंत्रमें आप अर्थात् जलोंके कदा गया है कि वे आमिको पितरों के पास ले जाएँ, जिससे कि अग्नि में होम हुआ हवि पितरों को पहुँच सके ।

इन उपरोक्त मंत्रोंके देखनेसे हम इस परिणाम पर पहुँच सकते हैं कि पितृगण यज्ञमें आकर हवि का ग्रहण करते हैं तथा प्रार्थकों को धन देते हैं । इससे पितरोंका यज्ञसे संबन्ध प्रतीत होता है । पितरोंको यज्ञमें खुलासा जाता है, वहाँपर उन्हें हवि दी जाती है, जो कि हवि वे आग्नि द्वारा स्वकृत करते हैं । यह बात अथर्व. १८।१४० के स्पष्ट होती है । इसका अभिप्राय वह है कि बिना रूपमें हवि होमी जाती है उस रूपमें पितर नहीं लेते, परन्तु अग्नि द्वारा शून्य अद्वय रूपमें परिणत हुई हुई हवि लेते हैं अर्थात् यज्ञमें अभिषेक होमो हुई हवि पितरोंको पहुँचती है । इसलिये जिसको सर्ववीरोपेत धन सम्पत्ति चाहिये उसे यज्ञ करना चाहिये व पितरोंकी हवि देनी चाहिये । इन उपरोक्त बातोंका हम इस संश्लेष सहज अनुमान कर सकते हैं ।

सं विशात्मिवह विषयः स्वा नः स्थाने कृषवन्तः प्रवि-  
रन्त्य बाणुः । लेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा उपयोग्  
जीवन्तः सारदः प्रसूयोः ॥

अथर्व. १८।१२९

[ इह ] इध यज्ञमें [ नः ] हमारे [ स्वाः पितरः ] ज्ञातिके पितृगण [ स्थानं कृण्वन्तः ] सुख उत्पन्न करते हुए [ सं विशन्तु ] प्रविष्ट होवें । और [ आयुः प्रतिरन्त ] आयुष्यकी वृद्धि करें । और उसके बदलमें [ नक्षमाणाः ] गतिशील अर्थात् सर्वदा कार्य तत्पर हम [ ज्योक् पुरुषाः शरदः ] निरन्तर बहुत से वर्षोंतक [ जीवनतः ] जीवन धारण करते हुए [ तेष्वः ] उन दीर्घ आयु देनेवाले पितरोंकी [ हविषा ] हविद्वारा [ शक्रे ] परितोषके लिये समर्थ बने रहें ।

यह मंत्रभी उपरोक्त परिणामको पुष्ट कर रहा है । निम्न मंत्र विशेष विचारणीय है क्योंकि इनमें पितरोंके लिये मांस व वषाके इवन्का विधान मिलता है ।

यद् वषां जातयेदः पितृभ्यो यन्नैनावेत्थ निहितान् परांकि । मेदसः कुश्या उपपद्यन्तु सस्या एषामा-  
क्षिपः सं नमन्वा स्वाहा ॥ यजुः अ- ३५।२०

( जातयेदः ) हे आग्नि ! ( पितृभ्यः वषा वद् ) पितरोंके लिये वषाका बहान कर, ( यत्र ) जहाँ ( परांकि ) दूरपर (निहि-  
तान् ) स्थित ( एतान् वेत्थ ) इन पितरोंको तू जानता है । ( मेदसः कुश्याः तान् उपपद्यन्तु ) चरबीकी छोटी छोटी नदियाँ उनको प्राप्त होवें और ( एषा सस्याः आक्षिपः ) उनके साथ आशीर्वाद ( सं नमन्ताम् ) हमें प्राप्त होवें । ( स्वाहा ) उपरोक्त कथन सत्य है ।

यहाँपर अग्निसं पितरोंके लिये चरबीकी नहरें पहुँचानेके लिये कहा गया है । निम्न मंत्रमें पितरोंके लिये मांसवाले चर्बके देनेका विधान है—

भूप्रवान् मांसवांश्चरोहं सीदतु । लोककृतः पथि-  
तो यन्मामे दे देवानां हृषभागा इहस्य ॥

अथर्व, १८।३।२० ॥

अर्पणों व मांसवालां चर्ब यहाँ बेसी गर आगे । ( लोककृतः पथि-  
कृतः ) स्थानोंके बनानेवाले व मार्गोंके बनानेवालोंको ( यत्रमदे ) हम पूजते हैं । ( ये ) जो कि तुम ( इह ) यहाँ ( देवानां हृषभागाः ) देवोंमें दिये हुए भागका छेनेवाले हैं । यज्ञमें मांस छन्द मांसके लिये आता है । याज्ञिकार्चने इसके जो निर्वचन दिये हैं, वे इसी बातका सिद्ध कर रहे हैं । यागकी जो वस्तुओंमें मंत्र पढ़ा दिया है उसमें भी इतद छन्दोंमें चर्बोंके मांस यज्ञके निर्वचन है । याज्ञिकार्चने मांसके निर्वचनमें निम्न दिये हैं— देवा निदध- ५।१।३।३

( १ ) मांस मानने— ( मांजननं ) अर्थात् मांसभक्षण कीर्षाया प्राप्त नहीं होती ।

( २ ) मानने—मांस खानेसे मानसिक पाप पैदा होते हैं ।

( ३ ) मनोऽस्मिन्मर्दति—मांस खानेमें मन जाता है । मांसभक्षणको मन बहुत चाहता है ।

इसके अतिरिक्त मनुने मनुस्मृतियोंमें मांसका जो निर्वचन किया है वह भी देखने लायक है । वह इस प्रकार है—

मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहादम्पहम्  
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ५।५५॥  
अर्थात् जिस प्राणीका मांस में इस जन्ममें खाता हूँ, पर-  
जन्ममें वह मुझे खाएगा । वह मांसका मांसत्व है ऐसा विद्वान्  
लोकोंका कथन है ।

इसी सूक्तके ४२ वें मंत्रमें भी ऐसाही वर्णन है । वह मंत्र इस प्रकार है—

यं ते मन्थं यमोदन् यन्मांसं निपूणामि मे । ते ते सन्तु  
स्ववायन्तो मधुमन्तो घृतश्चतुः ॥ अथर्व- १८।३।२१ ॥

( ते ) तेरे लिये ( यं मन्थं ) जिस मन्थ अर्थात् मन्थनेसे विलोडनेसे प्राप्त पदार्थ मखन आदिको और ( यं यमोदन् ) जिस भातको ( यत् मांसं ) जिस मांसकी ( ते ) तेरे लिये ( निपूणामि ) देता हूँ । ( मे ) वे सव ( स्ववायन्तो मधुमन्तो घृतश्चतुः ) स्वभावसे, मधुरतासे युक्त तथा घीसे परिपूर्ण ( ते सन्तु ) तेरे लिये होवें ।

इस मंत्रमें मांसका विधान है । प्राचीन सूत्रकारों के सूत्रोंमें भी कई स्थानोंपर मांसविधान पाया जाता है ।

अत्र पितरो मादपचं यथाभागमावृषायन् ।  
अमीमदन्त पितरो यथाभागमावृषायित

यजुः अ- २।३।१

( पितरः ) हे पितरों ! ( अत्र ) इस यज्ञमें [ मादपचन् ] प्रसन्न होओ और ( यथाभागं ) अपने अपने भागके अनुधार हाथ लेते हुए [ आवृषायन् ] उप- को तद आ-  
रण करो अर्थात् मन्त्र होकर आओ । जिस प्रकार कि [ अमी पितरः ] वे पितर [ यथाभागं ] अपने अपने भागके अनुधार हाथ लेकर [ मदन् ] प्रसन्न हुए और [ आवृषायित ] उन्हें सके व्याप ।

उत्तरवर्ष प्राज्ञानमें ' यथाभागमावृषायन् ' का अर्थ किया है ' यथाभागं अर्पितेति ' य- १।१।३।२० ॥ पितरों के निद



यज्ञ में आस हवि का भाग काके रखा जाता है जिसे खा कर वे प्रसन्न होते हैं । रद्द इससे सूचित होता है । अतः यज्ञमें पितरोंके लिए भाग रखना चाहिए ।

यत् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च ते नो सधर्धं स्वय-  
दासो हि भूतः॥ ते अर्वाणः कवयः वा गृणोत सुविदत्रा  
विदये ह्ययनातोः ॥ अथर्व० १८११११

[ पितरः ] हे पितरों ! [ यः यत् मुद्रं सोम्यं च ] तुम्हारा जो हर्षप्रद व सोम्य कार्य है [ तेनो ] उसद्वारा [ सधर्धं ] हमें क्षेपित करो अर्थात् युक्त करो । [ हि ] निश्चयसे तुम [ स्वयदासः ] अपने दाससे ही यज्ञस्वी [ भूत ] होते हो । [ अर्वाणः ] गतिवाले अधोत् निरालसी, [ कवयः ] शान्तदर्शी तथा [ सुविदत्राः ] उत्तम धनवाले, [ ह्ययनातोः ] गुलाए नये [ ते ] वे तुम [ विदये ] यज्ञमें हमारी उपरोक्त प्रार्थनाओं [ आश्रुणोत ] आकर सुनो ।-

अतःकके मंत्रोंसे हमने देखा कि पितरोंके यज्ञमें गुलाया जाता है और बहावर उम्हें हवि देकर प्रसन्न किया जाता है । प्रसन्न हुए हुए वे आयु, वनादि की इच्छा पूर्ण करते हैं । इसका अभिप्राय यह है कि पितरोंसे कामपूति करानेके लिए वश साधनभूत है ।

### पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान ।

सोदक्रामय सा पितृवाणश्छत्वा तां पितरोष्णत्वा ।  
सा मासि समभवत् ॥ अथर्व० ८११२१३ ॥

समात् पितृभ्यो मास्तुपनार्यं ददाति स पितृभ्याम्  
पन्यां जानाति य एव वेद ॥ अथर्व० ८११२१४

( सा ) वह विराट् ( नत् अक्रामत् ) ऊपरको उठती और ( ता ) वह ( पितुन् अगच्छत् ) पितरोंके पास गई । ( तां ) उसको ( पितरः अन्नतः ) पितरोंके प्राप्त किया । फिर ( सा ) वह विराट् ( मासि ) मासमें ( संभवत् ) संयुक्त हुई है ॥ अथर्व० ८११२१३ ॥ ( तस्मात् ) इस लिए ( पितृभ्यां मासि ) पितरोंके लिए मासमें ( ददाति ) देते हैं । ( या एव वेदः ) जो इस प्रकार अर्थात् पितरोंको मासमें दिया जाता है ऐसा जानता है, वह ( पितृवाणं पन्यां ) पितृवाण मार्गको [ प्रजानाति ] अर्थात् प्रकार जानता है ।

यहाँपर जो कहा गया है उससे इतना परिणाम अवश्य निश्चलता है कि पितरोंके लिए प्रत्येक मासमें दान करना चाहिए, उनकेलिए कुछ देना चाहिए ।

### पितरोंका आसन ।

येऽस्माकं पितरास्तेषां बर्हिःरतिः ॥ अथर्व० १८१४६८ ॥

[ ये ] जो [ अस्माकं पितराः ] हमारे पितर हैं, [ तेषां ] उनका [ बर्हिः ] आसन [ अस्ति ] है ।

कुशापावका नाम बर्हि है । बर्हिंको संवेधन करके कहा गया है । यज्ञमें पितरोंके बैठनेके लिए कुशापावनिर्मित आसन होना चाहिए, ऐसा इससे पता चलता है ।

### अग्नि और पितर ।

( १ )

इस प्रकरणमें हम अग्नि व पितरोंका सम्बन्ध तथा पितरोंके प्रति अग्निके कार्योंकी दृष्टिमें । पाठक इस प्रकरणान्तगत मंत्रोंको प्रथमपूर्वक पढ़ें व उनसे निकलते हुए परिणामों पर गौर करें ।

### यज्ञमें अम्निका पितरोंको खाना ।

ये तातुषुर्देवता अहमना होत्राविदः स्तोमवष्टादो अर्धैः ।

अग्ने वाहि सुविदत्रेभिः सव्यैः सव्यैः पितृभिः

वर्धसद्भिः ॥ ऋ० १०११५२

( देवता अहमना ) देवींको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए ( होत्राविदः ) यज्ञोंके जाननेवाले ( स्तोम तदाशः ) स्तोमोंके बनायेवाले [ ये ] जो पितर [ अर्धैः ] पूजनीय स्तुतिर्वाँसे [ तातुषुः ] अत्यन्त प्रसन्न होते हैं, ऐसे [ सुविदत्रेभिः, सव्यैः, कव्यैः, धर्मसद्भिः पितृभिः ] उत्तम धनवाले अर्थात् समृद्ध, छलवचनी, कवि अथवा कव्य नामवाले पितरोंके लिए दिए गये द्रव्य का । अतः कव्योके लेनवाले, यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [ अग्ने ] हे अग्नि तू [ आपाहि ] आ ।

ये सत्यासो हविर्दो हविषा ह-त्रेण देवैः साथ दधानाः । अग्ने वाहि सहस्रं देवहृद्देः परैः पूर्वैः पितृभिर्धर्मैर्वज्रैः ॥ ऋ० १०११५१०

[ ये ] जो पितर [ सत्यासः ] सत्यवचनी [ हविर्दः ] हविके खानेवाले, [ ह-त्रेण ] हविरो रक्षा करनेवाले तथा [ देवैः ] सत्य दधानाः सन्ति । इन्द्र व देवोंके साथ एक ही रथपर चढ़ते हैं ऐसे [ सहस्रं देवहृद्देः ] हजारों बार देवींसे स्तुति किए गए ( पूर्वैः परैः ) प्राचीन व अर्वाचीन [ धर्मैर्वज्रैः पितृभिः ] यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ [ अग्ने वाहि ] आ । ऊपर निर्दिष्ट दोनों मंत्र एवही बात पर रहें हैं । इन दोनोंमें अग्निको, पितरोंको अपने साथ लानेके लिए

कहा गया है। पितरोंको यज्ञादिमें साथ लाना अतिव्यक्त कार्य है, यह इन मंत्रोंसे स्पष्ट होता है। यह अग्नि कोन है इसका निर्णय मंत्रोंसे स्वयं पाठ्य कर सकेंगे। इस अग्निका यज्ञ व हविष विशेष संबन्ध है, यह ओग आनेवाले मंत्रोंसे स्वयं स्पष्ट हो जायगा। उन सब मंत्रोंको लक्ष्यमें रखते हुए ही अग्निके विषयमें निर्णय करना चाहिए। यह अग्निविषयक निर्णय पितरोंपर प्रकाश डाल सकेगा। ऐसा हमारा कहना है।

### अधिका पितरोंको हवि खानेके लिए ले आना।

उत्तमन्तस्तथा निधीमहयुधानः समिधीमहि ।

उत्तमन्तस्तथा आ वह विपुन् हविषे भक्षये ॥

अ० १०।११।२ यथा यजुः अ० १२।७० ॥

यथा मथर्वे ० १८।१।५९ ॥

हे अग्नि ! ( उद्यमन्तः ) कामना करते हुए हम ( तथा निधीमहि ) तेरी स्थापना करते हैं। और ! उद्यमन्तः समिधीमहि ) कामना करते हम तुझे प्रदीप्त करते हैं। ( यजन् ) कामना करी हुई है अग्नि तू ( हविषे भक्षये ) हविके खानेके लिए ( उत्तमन्तः विपुन् ) कामना करते हुए पितरोंको ( आ वह ) ले आ। यहाँपर अग्निसे हवि खानेके लिए पितरोंके ले आनेके लिए कहा गया है।

युमन्तस्समिधीमहि युमन्तः समिधीमहि ।

युमान् युमन्त आ वह विपुन् हविषे भक्षये ॥

मथर्वे ० १८।१।५७ ॥

हे अग्नि ! ( युमन्तः ) दीप्तिमान् होते हुए हम ( तथा समिधीमहि ) तुझे प्रदीप्त करें। ( युमन्तः ) और दीप्तिमान् हम ( समिधीमहि ) तुझे भली प्रकार प्रदीप्त करें। ( युमान् ) दीप्त हुआ हुआ तू ( युमन्तः विपुन् ) प्रदीप्तमान पितरोंको ( हविषे भक्षये ) हवि भक्षणार्थ ( आवह ) ले आ। उपरोक्त मन्त्रके भाव का ही यह मंत्र भी उपपन्न कर रहा है।

ये निष्ठावासे परोक्ष से दग्धसे वे जोषिताः ॥

मन्त्रोक्तानामेव आवह विपुन् हविषे भक्षये ॥

रखें गए हैं, ( तान् सर्वान् ) उन सब पितरोंको तू ( हविषे भक्षये ) हवि भक्षणार्थ ( आवह ) ले आ।

इस मंत्रमें यह बताया है कि चार प्रकारका अन्वेषित संस्कार होता है। ( १ ) गाढना, ( २ ) बहाना, ( ३ ) जलाना, ( ४ ) द्वाभे घुलना छोड़ना। यहाँ पर इन चारों संस्कारोंसे संस्कृत पितरोंको हवि खानेके लिए अग्निको बुलानेके लिए कहा गया है। इस मंत्र पर विशेष प्रकाश 'प्रेत व अन्वेषि नामक' टीपिके नीचे आयेगे।

### अधिका पितरोंको हवि पहुंचाना।

ऊपर हमने देखा कि अग्नि पितरोंसे हवि खानेके लिए अपने साथ ले आती है। अब हम देखेंगे कि यह पितरोंके पास हवि ले भी जाती है और वहाँ उन्हें देती है।

एवमग्न ईक्षितो जातवेदोऽश्वद्वयानि सुग्रीभिः कृतवी। प्रादाः विपुन्यः स्वधया ते अश्वद्वि एवं वेध मयथा हवीषि ॥ अ० १०।१५। १२ तथा मथर्वे ० १८।१।४२ ॥

यह मंत्र यजुर्वेदमें पाठ्य है के निम्न प्रकार आया है—  
एवमग्न ईक्षितः कर्मवाहनाश्वद्वयानि सुग्रीभिः कृतवी। प्रादाः विपुन्यः स्वधया ते अश्वद्वि एवं वेध मयथा हवीषि ॥ यजुः अ० १९।१६

( जातवेदः अग्नि ! ) हे जातवेदस् अग्नि ! ( ईक्षितः एवं ) शत्रुवि किया गया तू ( इध्यानि ) इध्योंके ( सुग्रीभिः कृतवी ) युगन्धित बनाकर ( प्रादाः ) बहन कर। और तू ( विपुन्यः प्रादाः ) पितरोंको दे। ( ते ) ते पितर ( स्वधा हवीषि ) दी गई हवियोंको ( स्वधया अयन् ) स्वधके साथ खाने। [ देव ] हे प्रत्यक्षमान अग्नि ! [ एवं ] तू भी [ एवं ] उन हवियोंको खा।

इस मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि वह हवियोंके ले जाकर पितरोंके दे, ताकि वे उन्हें खाएं। यजुर्वेद में निम्न उपरोक्त मंत्रमें अग्निका विशेषण 'कर्मवाहन' आया हुआ है। पितरोंके लिए दी गई हवि का नाम अश्व है। और अश्वों

नृभिः । प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते वक्षश्छद्दि एवं देव प्रयता हवींषि ॥ अथर्व० १८।४।१५

( सायं ग्रहे ) सायंकाल और प्रातःकाल ( नृभिः उप-  
वन्ध्याः ) नरों से बन्धना की जाती हुई ( जातवेदाः ) जातवे-  
दस् अग्नि ( प्रदिगः दूतः भभूर ) भेजा हुआ दूत है । नम्रों  
किन्तु भेजा हुआ दूत है अतः हे ( देव ) प्रकाशमान अग्नि !  
( प्रयता हवींषि ) हमारे से दी गई हवियों को [पितृभ्यः प्रादाः]  
पितरों के लिए दे जिससे कि ( ते ) वे पितर जिन्होंने कि  
एसे दूत बनाकर भेजा है, [ स्वधया भक्षन् ] स्वधा के साथ  
हमारे द्वारा दी गई हवियों को खावें । [ एवं आदि ] तू भी उन  
हवियों को खा । इस मंत्र से हमें पता चलता है कि जिस अग्नि-  
की धर्म्य व प्रातः बंधना की जाती है उस अग्नि को पितर अपना  
दूत बनाकर हमारे पास भेजते हैं और वह अग्नि हमारे पास  
से हवियों को ले जाकर पितरों को पहुंचाती है । हमारे से दी  
गई हवियों को पितरों तक पहुंचाने के लिए अग्नि माध्यम है,  
यह यहाँ पर स्पष्ट होता है ।

उपरोक्त दोनों मंत्र इस बात को स्पष्ट कर रहे हैं कि अग्नि  
पितरों के पास हवि पहुंचाती है और पितर उसे अपना दूत  
बनाकर हवि लाने के लिए भेजते हैं ।

यो अग्निः कस्यवाहनः पितृन् वक्षश्छद्दि वृषः

मेतु हव्यानि वोच्यति देवेभ्यश्च पितृभ्य आ ।

अ० १०।१६।११ ॥ तथा यजुः अ० १९।१५

[ यः अग्निः ] जो अग्नि [ कस्यवाहनः ] कस्य का अर्थात्  
पितरों की हविका वहन करनेवाली है और जो [ वक्षश्छद्दि वृषः  
पितृन् वक्षत ] यज्ञ वा साथ से बन्धनवाले पितरों का वजन  
करती है वह अग्नि [ देवेभ्यः पितृभ्यः च हव्यानि प्रवोचति ]  
देवों और पितरों के लिये हव्यों को कहे अर्थात् देवों व  
पितरों के कहे कि मैं तुम्हारे लिए हव्य ले आई हूँ ।

पुर्व मंत्रमें इस अभी देख आए हैं कि अग्नि पितरों का  
दूत बनकर उनके लिए हवियों को ले जाती है । हवि ले जानेपर  
पितरों को वह सूचित करती है कि तुम्हारे लिए मैं हवि ले आई  
हूँ इसी भावको इस मंत्रमें कहा गया है । यहाँपर अग्नि को  
कस्यवाहन कहा गया है । देवों व पितरों दोनों को ही अग्नि  
हवि पहुंचाती है यह भी इससे पता चलता है । निम्न मंत्रमें  
भी अग्नि को कस्यवाहन के नाम से कहा गया है ।

अग्नये कस्यवाहनाय स्वधा नमः । अथर्व० १८।४।७३

( कस्यवाहनाय आनन्दे ) कस्यका वहन करनेवाली अग्नि

के लिए ( स्वधा नमः ) स्वधा और नमस्कार होवे ।

पितरों के लिए ही आता हविका नाम कस्य है और देवों के  
लिए ही जाती हविका नाम हव्य है ।

अग्नि का दूरगत पितरों को जानना ।

समिन्धते अमर्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् । स वेद

निदिशान् निधीन् पितृन् परावतो गतान् ॥

अथर्व० १८।४।४१

( अमर्यं ) मरणधर्म से रहित ( घृतप्रियं ) जिसको घी  
बहुत प्रिय है ऐसी ( हव्यवाहं ) हव्यों का वहन करनेवाली  
अग्नि को पितृगण ( समिन्धते ) अच्छी प्रकार प्रदत्त करते  
हैं । और ( घः ) वह अग्नि ( निदिशान् निधीन् ) छिपे हुए  
खजानों की तरह ( यहाँ छुपेपमा है ) ( परावतो गतान् पितृन् )  
दूरगत पितरों को ( वेद ) जानती है ।

यहाँपर यह बताया गया है कि छिपे हुए खजानों का  
तरह जो पितर सर्वथा लांछों के ओझल हैं अर्थात् सर्वथा  
अदृश्य हैं ( चाहे वे दूर देशमें जानेसे अदृश्य हों या परलोक-  
वासी होनेसे अदृश्य हों ) उन्हें अग्नि जानती है । इसी लिए  
अग्निसे कहा गया है कि वह पितरों को हवि पहुंचाए और  
इसी लिए वही पहुंचा सक्ती है ।

ये वेद पितरों से वह नेह वांचव विद्या वां उ च न

प्रविद्य । एवं वेत्य यदि ते जातवेदः स्वधाभिर्धर्मं

सुकुर्वन् जुषस्व ॥

अ० १०।१५।१६

( ये च इह पितरः ) जो पितर यहाँपर हैं, ( ये च न इह ) और  
जो यहाँपर नहीं हैं, ( यान् च निद्य ) तथा जिन पितरों को हम  
जानते हैं, ( या च न प्र विद्या ) तथा जिन पितरों को हम  
नहीं जानते, इस प्रकारके ( यदि ते ) जितने भी वे पितर  
हैं उन सबको ( जातवेदः ) हे जातवेदस् अग्नि ! ( एवं वेद्य )  
तू जानती है । ( स्वधाभिः ) स्वधाओं के साथ ( सुकृत्वं  
यज्ञ ) उचित प्रकारसे किए हुए यज्ञों ( जुषस्व ) श्रुतिपूर्वक  
प्राशन कर ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे अग्नि की विद्यमान अवियमान,  
ज्ञात अज्ञात, आदि सब प्रकारके पितरों को जाननेवाला,  
बताया गया है । निम्न मंत्रमें आगिका पितरों की पितृकोशमें  
पहुंचाने का निर्देश है ।

यद वो अग्निरज्ज्वादेकमक्षं पितृकोक गमये जातः  
वेदाः । तद्व च पृथक् पुनराप्यापयामि साह्याः स्वामं  
पितरो मादृक्करन् ॥ अथर्व० १८।१।५४

हे पितरो ! ( वः यत् एकं अङ्गम् ) तुम्हारे जिस अङ्ग-  
को ( पितृलोकं गमयन् जातवेदाः अग्निः ) पितृलोकमें ले  
जाती हुई जातवेदस् अग्निने ( अजङ्घात् ) छोड़ दिया है ( वः  
तव एतत् ) तुम्हारे उस इस अङ्गको मैं ( पुनः ) फिर  
( आधात्ययामि ) पूर्ण करता हूँ । ( छात्र्याः पितरः )  
अपने सब अङ्गोंसे युक्त हुए हुए पितरो ! ( स्वर्गं मादयध्वम् )  
स्वर्गमें आनन्दित होओ ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि अग्नि मरवेके अमन्तर  
पितरोंको पितृलोकमें ले जाती हुई उनके शरीरके किसी अव-  
यवकी यहाँपर छोड़ जाती है ।

इसके शिवाय पितृयाण में हम निर्देश कर आए थे कि  
अग्नि पितृयाण मार्गको जानती है । यहाँ हमें पता चलता है  
कि अग्नि पितरोंको जानती है, पितृलोक को जानती है ।  
इतना ही नहीं अपितु पितृलोकमें जाकर पितरोंको हवि पहुँ-  
चाती है और वहाँसे उनको हमारे यज्ञोंमें भी अपने साथ ले  
आती है । हमने पितृयाण में यह भी देखा है कि पितर सूर्य-  
किरणोंके साथ जाते हैं । इन बातोंसे ऐसा पता चलता है कि  
पृथिवी लोक की हृदयक पार्थिव अग्नि पितरोंको ले जाती  
है । तथा शुलोदमें वही अग्नि सूर्यरूपमें परिणत होकर ले  
जाता है । इस प्रकार शुलोकमें आनेके पितृयाण मार्गका कुछ  
पता दिया जा सकता है । अतएवके विवेचनसे इतना हमें ज़रूर  
बनलाना है कि पितरोंको अग्नि अपने साथ पितृलोकमें ले  
जाती है और वहाँसे अपने साथ पुनः यज्ञादिमें हवि आदि कानिके  
लिए ले आती है ।

### अधिका मृत पुरुषको पितरोंके पास पहुँचाना ।

पूषा श्वेतश्वावयत् प्र विद्वाननष्टपशुं सुवनस्य गोपाः ॥  
स त्वैतभ्यः परिददत् पितृभ्योऽग्निर्द्वभ्यः सुविद्व-  
त्रिभ्यः ॥

श्रु० १०१७१३

तथा अथर्व० १८।२।५४

( अनष्टपशु- सुवनस्य गोपाः पूषा ) हे मृत मनुष्य !  
निर्न्तर प्रकाशमान प्राणिमात्राका रक्षक पूषा, विद्वान् तथा  
१५५ प्रत्ययवयु ) जानता हुआ अपनी रक्षियों द्वारा तैरी  
आमाका इस पृथिवी लोके प्रष्ट मार्ग की आरंभ जाने ।  
( यः अग्निः ) वह अग्नि ( वा ) मुझे ( एतेभ्यः पितृभ्यः )

इन पितरोंके लिए या ( सुविद्वान्भ्यः देवेभ्यः ) उत्तम धन-  
वाले देवोंके लिए ( परिददत् ) देवे ।

यह मंत्र भी उपरोक्त परिणामको स्पष्ट रूपसे पृष्ट कर रहा  
है । यास्काचार्यने पूषाका अर्थ आदित्य किया है । ( निर०  
७।३।९ ) तदनुसार सूर्य मृत पुरुषको आत्माको अपनी  
रक्षियोंसे ले जाता है ऐसा प्रतीत होता है । पितृयाणमें जो  
मंत्र (श्रु० १११०१७) हमने दिया है उसीकी यह मंत्र पुष्टि करता  
हुआ प्रतीत होता है ।

मैनमग्ने विदहो माभि शोचो मास्य त्वत् चिक्षिपो  
मा शरीरम् । -यदाश्वत् कृणवो जातवेदोऽधेनेन प्र  
विशुतात् पितृभ्यः ॥ श्रु० १०११११

यह मंत्र अथर्ववेदमें थोड़ेसे पाठभेदके साथ निम्न प्रकार  
आया है ।

मैनमग्ने विदहो माभि द्युशुघो मास्य त्वत् चिक्षिपो  
मा शरीरम् । श्वत् यदा करसि जातवेदोऽधेनेन प्र  
विशुतात् पितृभ्यः ॥

अथर्व० १८।१४

( अग्नि ) हे अग्नि ! ( एनं मा विदह ) इस प्रेतको इस  
प्रकारसे मत जला कि जिससे इसे विक्षेप कष्ट हो । ( मा  
अभि शोचः ) इसे शोकाकुल मत कर । ( अस्य त्वत् मा  
चिक्षिपः ) इसकी चमकीको मत फैक । ( मा शरीरं ) और  
इस प्रेतके शरीर कोभी मत फैक अर्थात् इसकी हड्डी तथा व  
शरीर पूर्वतया जला दे, कोई भी भाग दहनक्रियासे अवशिष्ट  
न रहे और ( जातवेदः ) हे जातवेदस् अग्नि ! ( यदा श्वत्  
कृणवः ) जब तू इस प्रेतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्ण-  
तया जला दे ( अथ ) तब ( एनं ) इसको ( पितृभ्यः  
प्रविशुतात् ) पितरोंके लिए अन्न दे अर्थात् पितृलोकमें पितरों-  
के पास पहुँचा दे ।

यह मंत्र यद्यपि अत्यधिक संस्कार-विषयक है तथापि अग्निका  
पितरोंके लिए प्रेत जला देनेका कार्य स्थानिके लिए यहाँ रिश  
गया है । इस मंत्रके उत्तरार्धसे ऐसा पता चलता है कि जब-  
तक वह श्वत् पूर्ण नया जल नहीं जाती, तबतक आत्मा देहके  
आवसास की मंडलाती रहती है । इस परिणामानुसार तो  
आत्माको शीघ्र मुक्त करनेके लिए व उसके लिए निर्धारित  
ह्यानवर भक्तिके लिए शरीरका दहन करना अधिक उत्तम  
प्रकार होता है ।

मृतं यदा कस्मि जातवेदोऽधमेन परिदत्तात् पितृभ्यः ।  
यदागच्छा यमुनीविमलामया देवावीं यदानीं भवति ॥

श्रु १०।१६।२ ॥

( जातवेदः ) दे जातवेदस् अग्नि ! ( यदा मृत कस्मि ) जब इस प्रेतका पूर्णतया पक्व अर्थात् दम्य कर दे, ( अध एन पितृभ्यः परिदत्तात् ) तब इसको पितरों के लिए सौंप दे । ( यदा ) जब यह प्रेत ( एतं अधुनाति यच्छाति ) इस प्राणों के नयन को प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निकल जाते हैं ( अध ) तब प्राणों के निकल जाने के बाद प्रेत ( मृत शरीर ) ( देवानां यदानीं भवति ) देवों के वश हो जाता है ।

प्रेत देवों के वश किस प्रकार होता है वह इस मंत्र के बाद के मंत्र अर्थात् श्रु १०।१६।३ ॥ में दर्शाया है ।

सर्वं यदुपगच्छतु वातमाना यां च गच्छ धृषिर्वी च  
धर्मणा । अपो वा गच्छ यदि यत्र ते दिवमोषधीषु  
मवितिष्ठा शरीरैः ॥

श्रु. १०।१६।३

हे प्रेत ! तेरी ( यदुपगच्छतु ) भास्य सर्वको जावे । ( आत्मा वात ) तेरी आत्मा ( प्राण ) वायुको जावे । और हे प्रेत ! ( धर्मणा ) धर्मसे अर्थात् कर्म फलजन्य धर्मसे अथवा पारिवर्तित तत्त्वों के धर्मसे अर्थात् जो पारिवर्तित तत्त्व है वह धृषिर्वी में जावे इत्यादि रीतिसे ( यां च धृषिर्वी च गच्छ ) धी व धृषिर्वीको जा, अर्थात् जो पुत्र । अथ तेरे में है वह तुम जावे व धृषिर्वीका है वह धृषिर्वीमें जावे । ( वा ) अथवा ( अपो गच्छ ) जलोंमें जलाय जावे ( यदि यत्र ते दित ) यदि वहाँ का कोई अन्न तेरेमें विद्यमान हो । और इसी प्रकार ( अपोषधीषु शरीरैः मवितिष्ठा ) अधृषिर्वीमें शरीरोंमें स्थित हैं अर्थात् ओषधिका अथ अधृषिर्वीमें चला जावे ।

यह श्रुतवेदके १० वें मण्डलका सप्तमूर्ति १६ वां सूक्त ओषोधिप्रकार विषयक है, अतः हम इस संपूर्ण सूक्त पर आगे चलकर स्वतंत्र विचार करेंगे । यहाँ पर हमें देवता ही देखना पड़ेगा, कि अग्नि प्रेतको क्या करता है, और तदनुसार हमने देखा कि प्रेतको अग्नि पितृलोकमें पितरों के पास पहुँचाती है ।

मरनेपर पितृलोकमें जाना ।

जीवानामाया प्रविर स्वमग्ने पितृणां लोकमपि मच्छन्तु ते मृताः । सु गाहयरोविपप्रशरणि मुपायुषी  
अथर्व १२।२।७५॥

( अग्ने ) हे अग्नि ! ( स्व जीवाना आयाः प्रविर ) तु जीवितोंको आयुको बढ़ा और जब ( ते मृताः ) वे मर जावें तब ( पितृणां लोकं अपि मच्छन्तु ) पितृलोकमें जावें, अर्थात् जबतक वे जीवित हैं तबतक उनकी आयु बढ़ि ऊँचा रह और जब मरे तब पितृलोकमें पहुँचावे ( अग्नाति नितपन् ) न दान देनेवालेको विशेष रूपसे तपाता हुआ ( मुपायुषयः ) उचम गाहृषय तु ( अग्ने ) इस जीवके लिए ( त्र्ययधी उपां उपां ) कल्याणकारिणी प्रत्येक उपाको ( वेदि ) धारण कर, अर्थात् इसके लिए प्रत्येक उपा कल्याण करनेवाली हो । इस मंत्रमें अग्निसे उपा देनेकी प्रार्थना की गई है, पशु उपा तो सर्व देता है अतः यहाँ अग्नि सर्वके लिए आया है ऐसा प्रतीत होता है । इसके सिवाय सर्वसे भी सौर्षपुत्री आर्चना करनेको मंत्र है तथा पहिले हम यह भी देख आए हैं कि सर्व किरणोंसे विवर पितृलोकमें जाते हैं, अतः अग्निसे यह सूर्यका ग्रहण है और सर्वसे कहा गया है कि वह स्वतः पितृलोकमें जे जावे । पितृलोककी अवधि पूर्ण होने पर अग्नि फिर वापिस मर्यादालोकमें जीवानाम की लौटा लाता है, यह निम्न मंत्र हमें दर्शा रहा है—

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्व-  
भामि । आयुर्वैतान उपवेतु हाय सगच्छतां तन्वा  
जातवदः ॥

श्रु. १०।१६।५ ॥

यही मंत्र अथर्ववेदमें पाँचवें पठ भेदके साध निम्न प्रकार आया है—

अवसृज पुनरग्ने पितृभ्यो यस्त आहुतश्चरति स्व-  
भावत् आयुर्वैतान उपवेतु देव । सगच्छतां तन्वा  
सुवर्चा ॥ अथर्व १०।२।१० ॥

( अग्ने ) हे अग्नि ! ( याः ) जो ( ते आहुत ) तेरे में अन्वेषितके सत्रय आहुत किया हुआ ( स्वभामि चरति ) स्वभावोंद्वारा अर्थात् स्वभावोंको आता हुआ विचरण करता है तबसे ( पितृभ्यः ) पितरोंके ( पुन ) फिर लाकर ( अवसृज ) यहाँ छोड़, जिससे कि ( देव ) यह पुनर्जन्म लिया हुआ अपत्य ( उपवातु ) कट्टियों को प्राप्त करे तथा ( जातवेद ) हे जातवेदस् अग्नि ! ( तन्वा सगच्छतां ) यह शरीरसे युक्त होवे । शेष नाम सत्रय का है । 'य' इत्यपत्यनाम शिष्यते इति । निह १ । २ ॥ अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न प्रकार भी किया जा सकता है ।

दे अग्ने । जो पुरुष तेरेमें अंत्यष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओसे निचरण कर रहा है, उसे पितरों के लिए दे अर्घ्यात् उसे पितृलोक में पहुंचा । यहा शेष अर्घ्यात् मृत पुरुष की संतान दीर्घ जीवन धारण करती हुई अपने घर जाए । वह तेजयुक्त शरीरको प्राप्त होवे ।

इस अर्थके अनुसार इस मंत्रका भी विनिर्दोग व्यंज्येष्टि-संस्कार में किया जा सकता है । मंत्रके पूर्वार्धके मृत पुरुषके लिए प्रथना की गई है तथा उत्तरार्ध के दाह संस्कार में आई हुई मृत पुरुषकी संतान के लिए दीर्घायु की प्रार्थना है ।

क्रव्यात् अग्नि ।

जिज्ञ अग्निना अंत्येष्टि संस्कार में विनियोग किया जाता है उस अग्निना नाम क्रम्यात् अग्नि है । क्रम्यात् अग्निना अर्थ है मांसाहारी अग्नि अर्थात् जिसमें मांस होमा जाता है वह अग्नि । अंत्येष्टि संस्कारमें मृत देहको होमा जाता है अतः इच्छा नाम क्रम्यात् अग्नि है । इसके विवाह कथोंका ऐसा भी मत है कि अमृत पितृपशुादिमें भी मांस होमा जाता है और अतः उस अग्निना नाम क्रम्यात् अग्नि है । हम पीछे 'पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य' इस शीर्षकके नाँव देख आए हैं कि दो एक मंत्र हमें ऐसे भी मिले हैं जिनमें कि पितरोंके लिए बरा मांस आदि देनेका निर्देश मिलता है । धाद करनेवाले लोक पितरोंके लिए मांसका विधान मानते हैं परंतु मांस देनेके समय उसके स्थानपर मांस (उडद) देते हैं । परंतु हमें ऐसा प्रतीत होता है कि मृत शरीर होमा जानेके कारण ही बरा और मांसके हामने की कल्पना वेदमें की गई है, क्योंकि मृत शरीरमें बरा और मांस तथा भेद होते हैं । अस्तु, अब हम देखते हैं कि क्रम्यात् अग्निना बरा कार्य है व पितरोंके उडका क्या विशेष संबंध है ।

ऋष्यादमणिं प्रहिणोमि दूहं यमराजो न च छतुः । रिपवाहा-  
 हूहवायमितरो जातवेदा ये देव्यो हस्य यहुनु प्रजाजननम् ॥  
 ऋ० १० । १६ । १ । ॥ यजुः भ० ३५ । १९ ॥  
 अथर्व० १२ । २ । ८ ॥

(कम्पादं अग्निं दूरे प्रहिताम) मरिच मयूक अग्निनी  
दूर मित्रवाता दृष्टः । (दिग्वाता) वायव्यं वहनं अग्निवायु  
वह अग्निं (वमरः) गण्डगुहं जहाति । यमरात्रौ ह्येव  
मयेद्योर्ध्वं यमी जायते । (दह) वही परं (अव) इतरं जाय-  
तेदा प्रत्यजन्तः । वह दृष्टो कम्पात् अग्निने मित्र ज्ञापयन्

अग्नि जानता है ( देवभ्यः इव्यं वहतु ) देवोंके लिए हमें  
का दान करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे ।

इस मंत्रमें ऋष्यात् अग्नि को यमराज के देहमें भेजने का निर्देश है और साथ ही ऋष्यात् अग्नि देवों के हृदयके बहन करने के लिए अनुपयुक्त है यह भी बताया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि ऋष्यात् अग्नि का संबंध यमलोकसे है जहाँ कि पितर रहते हैं।

यो आग्निः ऋष्यात् प्राविशेत् धो गृहमिमं पद्याजितं  
जातवेदसम् । तं हवामि पितृयज्ञाय देव स धर्ममि-  
न्वात् परमे सधस्ये ॥

क्र. १०१९६१३० II

यह मन्त्र योऽसे पाठान्तरसे, अथर्ववेदमें निम्न प्रकार आया है ।

यो अग्निः ऋत्यात् प्रविवेकं गृह्णामि पश्यन्ति  
 जातवेदस्तम् । त हारामि पितृयज्ञान् वर स वर्मभिर्भा  
 परमे सधस्ये । अ० १२।२।७ ॥

( यः कृष्णात् आग्निः ) जो मांसाहारी अग्नि ( हम सब जातवेदसं पश्यन् ) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्निसे देख कर ( यः यत् प्रविशेत् ) तुम्हारे घर में प्रवेश गये है । ( तं देवं ) उस दीप्यमान कृष्णात् अग्निको ( पितृवक्ष्य इदमि ) पितृवक्त्रके लिए ब्रता हुआ । ( वाः ) वह ( परमेष्ठपदके ) परम सधर्ममें ( धर्म ) वक्त्रको ( इन्वात् ) प्राप्त होवे । वह अगर इस बातको स्पष्ट किया गया है कि कृष्णात् अग्नि पितृवक्त्रके लिए काम आती है । इसका यह मतलब प्रतीत होता है कि पितृवक्त्र में मांस ही आहुति दी है जिसके लिए दूसरी अग्नि अनुप्राप्त है । इसी अग्नि में पितरोंके लिए मांस न बचाया होय ( देवा कि पूर्व देख आए हैं ) होता होगा । इसके साथ हम यह भी देखते हैं कि कृष्णात् अग्नि से भिन्न दूसरीको जातवेदस् के नामसे कहा गया है । कृष्णात् अग्निको जातवेदस् से नहीं कहा गया। इसका मतलब यह है कि पितृवक्त्रको छोड़कर अन्य सर्वत्र जातवेदस् अग्नि का विनियोग ही होता है । काय पितृवक्त्र पितरोंके अन्व-कायोंके लिए जैसे सबबहनादिक लिए कदापि अग्नि का प्रयोग होता है ।

अग्निः प्रयोग होता है ।  
 अथाग्निमिति ह्यग्निं ज्ञानं ब्रह्म ब्रह्म मातुः ।  
 नित्यं तस्मिन् न ह्येतत्तन् विद्वान् पितृणां कोटिः वै भावो  
 अस्तु ॥ अथर्व० ११११९

( इषितः ) प्रेरण किया गया मैं ( अनात् मृत्युं रहन्तं ) मनुष्यों को मृत्युसे दृढ़ करती हुई अर्थात् मनुष्यों में मृत्युसंकया-  
को बढ़ाती हुई ( कव्यात् अग्निं ) कव्यात् अग्नि को ( वज्रेण )  
वज्रद्वारा [ हरामि ] दूर भगाता हूँ । [ विद्वन् ] ज्ञानी मैं  
[ तं गार्हपत्येन निष्ठास्मि ] उस कव्यात् अग्नि को गार्हपत्य  
द्वारा पूजितया शासित करता हूँ ताकी मृत्यु मनुष्यों में दृढ़ न  
होने पावे । इस प्रकार कव्यात् अग्नि पर शासन करनेके  
करण ( पितृणां लोकेश्वरि ) पितरोंके लोकमें भी ( आभः  
अस्तु ) मेरा भाग हो ।

कव्यात् अग्नि पर शासन करनेसे अर्थात् उसे दृढ़में कर-  
नेसे पितृलोकमें भाग मिलता है, ऐसा इस मंत्रसे प्रतीत होता  
है अर्थात् पितृलोकमें यदि भाग चाहिए तो कव्यात् अग्नि  
को दृढ़में करना चाहिए । कव्यात् अग्नि के रहनेका स्थान  
सुव्यवस्था पितृलोक ही है ऐसा इस मंत्रके मंत्रसे ज्ञात होता  
है ।

कव्यात् अग्निं गणमानमुक्त्वं प्रहिणोमि पृथिभिः  
पितृवाग्भिः । मा देवयानैः पुनरागा अत्रैवेति पितृषु  
आगृहि त्वम् ॥

अर्थ- १२।२।१०

( गणमानं उच्यते कव्यात् अग्निं ) गणमान, प्रशंसाके  
योग्य, मांघमयक अग्नि को ( पितृवाग्भिः पृथिभिः ) पितृवाग-  
मार्गों द्वारा ( प्रहिणोमि ) पितृलोकमें भेजता हूँ । ( देवयानैः  
पुनः मा अत्र आगम् ) देवयान मार्गों द्वारा फिर वहाँ वापिस  
लौटकर मत आ । ( एषि ) वहाँ पर गृहिको प्रस्थ हो । ( पितृ-  
षु एव त्वं आगृहि ) पितरों में ही तू आगती रह, अर्थात्  
उन्हींमें तू वासधानता पूर्वक रह ।

कव्यात् अग्नि का पितरोंसे कोई विशेष संबंध है, अतएव  
उसे पितरों में ही रहनेके लिए तथा वापिस आनेके लिए  
आदेश इस मंत्रमें दिया गया है ।

गणमान-गणपुत्रतत्त्वों से यह शब्द बना है । पुत्र गणिका  
गर्भ उलूख सल्लकर जाना है । यहाँ पर कव्यात् अग्नि को  
गणमान विशेषण दिया है । इसका मतलब यह प्रतीत होता  
है कि कव्यात् अग्नि मांघको घटक चटक घर जलाती है ।  
उध घटकनेको देखनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उलूख  
सल्लकर जल रही है, इसी कारण संभव है इसे गणमानसे  
पुकारा गया हो ।

अपावृत्य गार्हपत्यात् कव्यादा प्रेत वृक्षिणा ।  
प्रियं पितृभ्यः आभने वक्ष्यः कृणुता प्रियम् ॥

अर्थ- १२।२।११

( गार्हपत्यात् ) गार्हपत्य अग्निसे ( अपावृत्य ) हटकर  
अर्थात् गार्हपत्य अग्नि को छोड़कर ( कव्यादा ) कव्यात् अग्नि  
के साथ ( वृक्षिणा प्रेत ) दक्षिण दिशाको जाओ । ( आभने  
पितृभ्यः प्रियं कृणुत ) अपने लिए तथा पितरों के लिए प्रिय  
करो । ( वक्ष्यः प्रियं ) वक्ष्यानिर्णयोंके लिए प्रिय करो ।

इमें वेदमंत्रों के देखनेसे पता चलता है कि पितरों की  
दक्षिण दिशा है । और उपरोक्त मंत्रोंसे यह भी मालूम प्रकार  
ज्ञात हो चुका है कि कव्यात् अग्नि पितरोंमें रहती है । इन  
दो बातों को संक्षेपमें रखते हुए इस मंत्रको देखनेसे इसका भाव  
समझमें आ सकता है । यहाँपर कव्यात् अग्नि के साथ दक्षिण  
दिशामें जानेका आदेश है । इसके विषय यह भी हमें पता  
चलता है कि क्योंकि पितरोंकी दक्षिण दिशा है, अतः  
पितृलोक दक्षिणमें है । कव्यात् अग्नि के हटने विदेवनसे  
कव्यात् अग्नि के कार्य क्या हैं व सबका पितरोंसे क्या  
सम्बन्ध है इत्यादि बातें पाठकों के चक्षुषोंमें आगई होंगी ।  
अब अग्नि के अन्य कार्योकी दर्शानेवाले मंत्रोंको दिया  
जाता है । निम्न मंत्रमें अग्नि का पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए  
दस्युकोका वस्त्र धटाना बतलाया गया है । मंत्र इस प्रकार  
है ।

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अद्भुताद्भरन्ति ।

परापुत्रो निपुत्रो ये अरन्त्यप्रिष्ठानस्मात् प्र धमति  
यज्ञात् ॥

अर्थ- १२।२।१२ ॥

( ज्ञातिमुखा ) ज्ञातियोंके घरवा मुखवाले अर्थात् जो  
समाजीव हैं और जो कि ( अद्भुतादः ) अद्भुत अर्थात् न  
दिष्ट हुएको खानेवाले हैं यानि जबरदस्ती जो छीनकर खा  
जानेवाले हैं ऐसे ( ये दस्यवः ) जो उपद्रव करनेवाले  
( पितृषु प्रविष्टाः ) पितरोंमें प्रविष्ट हुए हुए ( धरन्ति ) विच-  
रन करते हैं, और ( ये ) जो ( परापुत्रः ) पुत्रोंका तथा  
( निपुत्रः ) पौत्रोंके ( अरन्ति ) हरण करते हैं ( तान् ) उन  
दस्युओंको [ अग्निः ] अग्नि- [ अरमात् पश्चात् ] दृष्ट वस्त्रसे  
[ प्र धमति ] दूर भगा देता है, वस्त्रमें अने नहाँ देता ।

अरन्ति = हरन्ति, ( इन्द्रोऽमरुतं ) ' से हो मो हो  
गया है ।

इसमन्त्रसे यह प्रतीत होता है कि अन्व-ज्ञातिगण जिनको कि पितरोंमें गिनती नहीं है और जो हमारा व हमारी सवतिका चुपके चुपके नाश करते रहते हैं, और जो हमारे न जानते हुए हविषों को जो कि पितरोंके उद्देश्यसे दी गई है खाते रहते हैं। पर जब यज्ञमें वे आकर ऐसा करते हैं तो अग्नि उन्हें यज्ञसे दूर भगा देती है, उन्हें पितरों में बैठकर हवि खान नहीं देती। इससे यह भी परिणाम निकाला जा सकता है कि पितरोंके लिए जो भी कुछ देना हो वह अग्नि द्वारा अर्थात् यज्ञ करके ही देना चाहिए ताकि वह पितरोंको ही मिले। अग्नि ज्ञाति सुख लोकोको न लेने देगी।

### अग्निके शरीरका पितरोंमें प्रवेश।

यस्ते देवेषु महिमा स्वर्गो या ते तन् पितृष्वविदेहा।

पुष्टिर्वा ते मनुष्येषु पमयेऽस्ते तथा रयिमस्मासु धेहि॥

अथर्व० १९।३।३॥

( अग्ने ) हे अग्नि ! ( य. ते महिमा ) जो तेरी महिमा ( देवेषु स्वर्गः ) देवोंमें सुख पहुँचानेवाली है और ( या ते तन् ) जो तेरा शरीर ( पितृषु अविवेश ) पितरोंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है तथा ( या ते पुष्टिः ) जो तेरी पोषकता ( मनुष्येषु पमये ) मनुष्यों में फैली हुई है ( तथा ) उससे ( अस्मासु रयि धेहि ) हमारे अन्दर रयि को धनसम्पत्ति को स्थापित कर अर्थात् हमें धनसम्पत्ति दे।

यहां पर अग्नि अपने शरीरसे पितरोंमें प्रविष्ट हुई हुई है यह बात दिखाई गई है। अग्नि सदा पितरों में विद्यमान रहती है ऐसा इवका अभिप्राय मालूम पड़ता है। निम्न मन्त्रमें पितरोंसे यह प्रार्थना की गई है कि न तो अग्नि हमसे द्वेष करे और नही हम अग्नि से द्वेष करें। मन्त्र निम्न है—

यो नो अग्निः पितरो नृ वृन्वन्ता विवेशामृतो मर्येषु।  
मर्यहत् परि गुह्याम देव मा सो अस्मान् द्विष्य  
मा वय तम्॥ अथर्व० १३।२।३३॥

( पितरः ) हे पितरों ! ( यः अमृत अग्निः ) जो अमर-रक्षण अग्नि ( यः मर्येषु ह्यु ) हम मरणशीलोंके हृदयों में ( आविवेश ) प्रविष्ट हुई हुई है ( त देव ) उस प्रकाशमान अग्निसे ( अहं मयि परि गुह्यामि ) मैं अपने अन्दर छप और छ मरान करता हूँ— स्थापित करता हूँ। ( यः ) वह अग्नि ( अस्मान् द्विष्य ) हम मारोष द्वेष मत करे और ( वय मा त ) हम उससे द्वेष मत करें। दोनों परस्पर

द्वेष न करते हुए मिलकर रहें।

उपर्युक्त मन्त्रमें पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि अग्नि हमसे द्वेष न करे व हम अग्निसे द्वेष न करें। नीचे लिखे मन्त्रमें अग्निसे प्रार्थना की गई है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्ती न करें। मन्त्र इस प्रकार है—

मो पू णो अत्र जुहुरन्त देवा मा पूर्वं अग्ने पितरं  
पदज्ञा । पुराण्योः सघ्नोः केतुरन्तमहदेवानामसुर-  
त्वमेकम्॥ ऋ० १।५।५।२॥

( अग्ने ) हे अग्नि ! ( अत्र ) यहांपर ( देवा मो गं जुहुरन्त ) देवगण हमारे साथ जबरदस्ती मत करें। और ( पूर्वं पदज्ञाः पितरः मा ) पुरातन अर्थात् पूर्वकालीन पदज्ञ पितृगण जबरदस्ती मत करें। क्योंकि हे अग्नि ! [ केतुः ] प्रकाशक तू [ पुराण्योः सघ्नोः ] पुरातन धावापृथिवीके [ अन्तः ] अन्दर सर्वरूपसे प्रकाशित होती है [ अथाहारः ] और क्योंकि तू [ देवाना एक महत् अमृतत्वं ] देवोंका एक महत् प्राणदाता है।

यहांपर अग्निसे कहा गया है कि देव तथा पितर हमारे साथ जबरदस्तीका व्यवहार न करें। हमारी इच्छाके विरुद्ध हठ करके वे हमें किसी भी कार्यमें प्रवृत्त न करें। सर्वके लिए यहाँ पर अग्नि शब्दको प्रयुक्त किया गया है ऐसा ज्ञात होता है क्योंकि यो तथा पृथिवी दोनोंपर सर्व प्रकाशित होता है, अग्नि नहीं। इसके अतिरिक्त 'महद्वायं अमृतमेकं' से भी यही पता चलता है। सर्वमें सब देवोंको प्राणशक्ति देना सामर्थ्य है, जैसा कि असुरत्व बता रहा है।

असुरत्व—असुर नाम है प्राणका। 'प्राणो वा असुरः',  
छा० ३।१।२।१॥ अस्तु प्राण राति ददातोति असुरः।  
प्राणदाना आत्मा। असुरस्य भाव असुरत्वम्—  
आत्माकी प्राण देनेकी शक्ति। सर्वको देवोंकी आत्मा  
कहा गया है। 'सर्वो वे सर्वेषां देवानामात्मा'।  
छा० १।१।१।१॥

जुहुरन्त—इ प्रशस्तरण धातुके लृट् लकार का रूप है।  
'प्रशस्तरणे' का अर्थ होता है हठ पूर्वक जबरदस्ती  
कोई काम करना।

पितरोंकी स्मार्थ अग्निकी उत्पत्ति।

होताजनिष्ठ चेतन पिता शीतुस्य ऊर्ध्वे।  
मर्यहत्तेन्य चतु सद्यम यात्रिषो यमम्॥ १५॥



( चेतनः ) चेतनवाला व चेतना देनेवाला ( भूता ) पालक व रक्षक ( होता ) देने व देनेवाला ( अग्निः ) अग्नि ( पितृ-भ्यः ऊतये ) पितरों की रक्षाके लिए ( अजनिष्ट ) उत्पन्न हुआ है । उस अग्निकी सहायता से ( वाजिनः ) बलवान् वा अश्व से युक्त हुए हुए हम ( प्रयत्न ) अथवात् पूजनीय ( जैन्व ) जयशाली जीतने लायक ( वसु ) धनका ( यथं शक्यम् ) नियमन करनेमें समर्थ हों । अर्थात् इस प्रकारक धनको हम अपने पास स्थिर रखने में समर्थ हो सकें ।

इस मंत्रमें अग्निकी उपासिका प्रयोजन पितरोंकी रक्षा तथा गया है । हम ऊपर देख आए हैं कि अग्नि पितरोंकी पर्याप्त रक्षायक है । उसके बिना पितरोंकी रक्षा संभव नहीं । इसीको यह मंत्र प्रतिपादित कर रहा है ।

**वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना ।**

वैश्वानरे द्विर्वाहं जुहोमि साहज वातधममुत्तम ।  
स विभर्ति विवर पितानहान् प्रपितामहान् विभर्ति-  
पितृन्नामः ॥ अथर्व० १०८।३५॥

( वैश्वानरे इदं द्विर्वाहं जुहोमि ) वैश्वानर अग्निमें यह द्वि विवाहता हू जो कि द्वि ( वातधाम साहज उत्तम इव ) ऐक्यको व हजारों वाराओंवाले ज्ञातके समान वैक्यको व हजारों वाराओंवाली है । ( व ) यह वैश्वानर अग्नि ( पितृन्नामः ) उस द्विसे वृत्त हुई हुई ( पितर पितृन्नामहान् प्रपितामहान् विभर्ति ) पिताका, दादा-ओंका तथा परदादाओं का धारण पोषण करती है ।

यहाँ पर अग्निकी वैश्वानरके नामसे कहा गया है । वैश्वानर का अर्थ है सब माँको लेआनेवाला । अग्नि सब मनुष्योंको ले जाता है । अल्लोहिमें सब मनुष्योंकी अग्निमें जलाया जाता है और फिर अग्नि सबको पितृलोकेमें ले जाती है, जैसा कि हम ऊपर देख आए हैं । इस प्रकार अग्नि वैश्वानर है । इस मंत्रमेंभी उपरोक्त कथनोंकी ही पुनरावृत्ति थी गई है । पितरोंके लिए जो कुछ देना हो, वह अग्नि को देना चाहिए, वह सन्ने पकवाती है और इस प्रकार उनका धारण पोषण करती है ।

( २ )

**अग्निष्वात् पितर ।**

अग्निष्वात् का क्या अर्थ है यह एक विचारणीय विषय है । क्योंकि भिन्न भिन्न माध्यकताओंसे इसका भिन्न भिन्न अर्थ किया है । तथापि वेदमंत्रोंसे इसका क्या अर्थ निश्चयता है यह हमें

१३ ( अ. प्र. भा. कं. १८ )

देखना है । अग्निष्वात् का शब्दार्थ इस प्रकार है 'अग्निना स्वाताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्' अर्थात् जिनका अग्निने स्वाद लिया है यानि जो अग्निमें जलाए गए हैं । इसी विग्रहकी तथा इस अर्थ की पुष्टि शतपथ ब्राह्मण कर रहा है— 'यानिग्नेरेव दहन्स्वदयति ते पितरो अग्निष्वात्' श० १।६।१७ अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाता हुई स्वाद लेता है व पितर अग्निष्वात् कहलाते हैं । इस विवेचनसे अग्निष्वात् पितरोंके विषयमें हमारे सामने यह परिणाम निकला कि जिनका अल्लोहि संस्कार अग्निद्वारा होता है उन पितरोंका नाम अग्निष्वात् पितर है । अब हम वेद मंत्रों पर दृष्टि डालेंगे और देखेंगे कि उनसे क्या पता चलता है ।

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिव स्वधया मादयन्ते । तेष्व स्वराडमुनीतिमेता यथावदा तन्व कल्पयाति ॥ यजुः १९।६०॥

[ ये ] जो [ अग्निष्वात्ता ] अग्निष्वात् पितर और [ ये ] जो [ अनग्निष्वात्ता ] अनग्निष्वात् पितर [ दिव मध्ये स्वधया मादयन्ते ] तुल्योक्तके बीचमें स्वपाश आनन्दित हो रहे हैं, [ तेष्व ] उन पितरों के लिए [ स्वराट् ] स्वध प्रकाशमान अग्नि वा यम [ यथावदा ] कामनाके अनुसार अर्थात्, कर्मानुसार [ एता अनुनीति ] तन्व कल्पयति [ इस प्राणी द्वारा ] ले जाए जानेवाले शरारकी बजाता है ।

अनुनीतिका अर्थ है जो शार्पेद्रास लेजाया जावे या निज का प्राणों द्वारा खचालन होवे । यह शरीर अनुनीति है क्योंकि प्राण निकल जानेपर हृदयका खचालन स्वयं हो जाता है । इस मंत्र से यह बात स्पष्ट है कि पितृलोकस्थ पितरों का पुनर्जन होता है । उपरोक्त मंत्र की एक एवा का एवा ई अक्षरवद्धमें मिलता है । यहाँपर जो व्याख्या परिवर्तन है वही अग्निष्वात्तके अर्थका स्वयं निर्णय कर रहा है ।

ये अग्निद्वया व अनग्निद्वया मध्ये दिव स्वधया मादयन्ते । तेष्व स्वराडमुनीतिमेता यथावदा तन्व कल्पयाति ॥ यजुः १०।५।१४

अर्थ उपरोक्त मंत्राग्राह ही है । इन दोनों मंत्रों का तुलना करके देखनेसे पाठकों को स्वयमेव अग्निष्वात् का अर्थ ज्ञात हो जाएगा । यजुर्वेदस्थ इस मंत्र में जहाँ 'अग्निद्वया' और 'अनग्निद्वया' पद हैं वहाँ पर अक्षरवद्धमें 'अग्निद्वया' व 'अनग्निद्वया' पद हैं । ये मंत्र सर्वथा समान हैं । इससे अभिप्राय यह है कि जो अर्थ अग्निष्वात्ता का है वही अर्थ अनग्निद्वया का है । अग्निद्वया का अर्थ स्पष्ट है कि जो अग्नि

द्वाम् जलाया गया हो । अतः अग्निष्वात्त का भी अर्थ हुआ कि जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो । हम प्रारम्भ में देख आए थे कि वसव्य प्राद्वान्ने भी वही अर्थ किया है जा कि वेदमन्त्रों से पता चल रहा है । इस प्रकार वेद व प्राज्ञान् अग्निष्वात्त के इसी अर्थ पर सहमत हैं कि ' जो अग्नि द्वारा जलाया गया हो । ' पाठक इसपर विचार करें क्यों कि इससे पितरों पर विशेष प्रकाश पड़ता है । अग्निष्वात्त का उपरोक्त अर्थ होने पर निश्चयसे अग्निष्वात्त पितर यत् पितरही हैं यह सिद्ध होता है और उससे जैसा कि आगे देखेंगे यज्ञमें मुख्यकार रखा ऊर ने, धर्मादि देने वह हवि क्लिप्तिया ब्रह्म है । इसका अग्नि प्राय स्पष्ट स्पष्ट यह है कि मृग पितरों के लिए कुछ व कुछ अवश्य करना चाहिए । इतना अग्निष्वात्त शब्दपर प्रकाश डाल ने के बाद अब हम अग्निष्वात्त पितरों के यथादि में आने, हमारा रक्षा करने आदि दर्शानेवाले मन्त्रों का उद्घृत करते हैं ।

अग्निष्वात्ता पितर एह यच्छत सद् सद् सद् सद् सुवर्णीतम् । अथा हवींषि प्रयत्नानि बर्हिषधा रपि तर्षवीर द्यातन ॥ ऋ १०।१५।११

यह मन्त्र षोडशे षष्ठमन्त्रके साथ षष्ठ्युक्ते तथा अथर्ववेदमें भी आया है । देखो यत् १० । ५१ तथा अथर्व १८० । २ । ४४ ॥ अर्थ स्पष्ट प्रकार है -

ह उत्तम मत्ता अग्निष्वात्त पितरों । इस यज्ञमें आओ । या घामें स्थित होओ, और यज्ञमें दिए गए हविषों को खाओ । हम सब प्रभारणी बारणासे पूर्ण धनही हो ।

इस मन्त्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको यज्ञमें बुलाने, हवि क्लिप्ताने तथा मागवता रूप रूपसे ब्रह्म है ।

आया-द्वाम् । पितर सोम्यालोडिअग्निष्वात्ता पथिमिद्वेव याने । बर्हिमन्त्र मन्त्रे स्वधया अद-लोडधि सुवन्त तेऽनन्वसमान् ॥ यत् ४०० १५।५८४

( वाग्धात ) याम् उपपाद करनेवाले [ न आग्निष्वात्ता पितर । ] हमारा अग्निष्वात्त पितर [ स्वधये पथिमि ] देव मत मावी द्वारा [ अग्निमन्त्र यज्ञे आया-द्वाम् ] इस यज्ञमें आने । [ स्वधया मदत् ] स्वधये यज्ञ होकर आग्निष्वात्त होते हुए [ आनन्व ५ ] दाने उपपन्न करें और [ न अन्वसमान् ] अवन्त । हमारी रक्षा करो ।

इय मन्त्रमें भी यही मन्त्राध्याय दृष्टमें पितरोंके आने स्वधये मृग दान, उपरोक्त कान व हमारी रक्षा करनेको प्रार्थना है ।

अग्निष्वात्तायुतुमवो हवामहे नारायणे सोमपीय व आम् । त नो विधात सुहवा भवन्तु वयं स्थाय पतयो रयीगाम् ॥ यत् ४०० १५।४१ ॥

( ऋतुमत ) आनुर्धवाले ( अग्निष्वात्तायु ) अग्निष्वात्त पितरोंको ( हवामहे ) हम बुलाते हैं, ( ये ) जो कि ( नारायणे सोमपीय आम् ) जिस में मनुष्य प्रसाधको पति हैं ऐसे यज्ञ में सोमपानको करते हैं, ( त विधात ) वे प्रेषावी पितर ( न सुहवा भवन्तु ) हमारे लिए सुखपूर्वक बुलाने लायक होवें अर्थात् हमें तन्म बुलावेमें कष्ट न हो, बुलाते हीवे हमारी प्रार्थना का स्वीकार कर जा जावें । ( वयं ) हम ( रयीगाम् ) पतय इयाम् ) धनके स्वामी होवें ।

' ऋतुमत. ' वा अभिप्राय कुछ स्पष्ट नहीं होता । आशु ' अदा-मायने ' से बना है ।

इस मन्त्रमें अग्निष्वात्त पितरोंको सोमपान करनेके लिए आमन्त्रित किया गया है । तथा प्रार्थना का यह है कि वे सुमन ताई हमारे आमन्त्रण को स्वीकार करें । निम्न मन्त्र के विभिन्न प्रकारके पितरोंके लिए भिन्न भिन्न प्रकारके पदार्थोंका उल्लेख है ।

धूपा बभ्रुनीकाया । पितृणां सोमवती, बभ्रुनीकाया वीकायाः पितृणां बर्हिपर्दा, कृष्णा बभ्रुनीकाया पितृणांमन्त्रिषाक्षाना कृष्णा द्रुवतर्षवीरवम्बदा

यत् ४०० १५।४१

( धूपा ) धूपके रंग जैसे तथा ( बभ्रुनीकाया ) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ ( सोमवती पितृणां ) सोम रक्षण करनेवाले पितरोंके हों । ( बभ्रु ) भूरे तथा ( धूपा ) धूपके रंग जैसे पशु वा पदार्थ ( बर्हिपर्दा पितृणां ) कृष्ण वस्त्र पर बैठनेवाले पितरोंके हों । ( कृष्णा ) काले तथा ( बभ्रुनीकाया ) भूरे रंग जैसे पशु वा पदार्थ ( अग्निष्वात्तानां पितृणां ) अग्निष्वात्त पितरोंके हों । ये प ' कृष्णा द्रुवतर्षवीरवम्बदा ' इस मन्त्र आगव्य कोई स्वध-प्रतीत नहीं होता और नहीं भी अर्थ स्पष्ट होता है । इस प्रकार अग्निष्वात्त पितरोंका प्रकरण यहाँ पर प्राय समाप्त होता है । यह प्रकार विशेष विचारणाव यत्र महत्त्वपूर्ण है ।

( २ )

बर्हिषत् पितर ।

आह पितृन्बुविद्वान् आवाति अर्वात् व विद्वान् व विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुवन्त प्रजन्त विर- स्त इहामभिधाः ॥ यत् १०।१५।१५ यत् १५।१५ ॥ अथर्व १८०।१५।१५

( सुविदनात् पितृन् अहं विभोः आ अभिरिष ) उत्तम धनवाले पितरोंको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है । ( न पातं विक्रमणं च ) और न गिरानेवाले अर्थात् अजय विक्रम यानि पराक्रमको मैंने व्यापक परमात्मासे प्राप्त किया है । अतः ( ये बर्हिषदः स्वधया सुतस्य पितवः भजन्त ) जो बर्हि अर्थात् कुशा ( दर्भ ) पर बैठनेवाले पितर स्वधाके साथ विचोड कर उत्पादित सोमरूपी अन्नका सेवन करते हैं ( ते ) तुम पितरों ! ( इह ) इध वज्रमें ( आगमिष्ठाः ) बार बार आओ ।

यहाँ पर बर्हिषत् पितरों को यज्ञमें सुकानेका निर्देश है :  
बर्हिषदः पितरः कत्यर्वागिना घो हव्या चकृम जुष-  
भ्वम् । स आ गता यसा दानेनापान । शयोररपो  
दपाव ॥ ऋ० १०।१५।४॥ यजु. अ० १९।५५॥  
अथर्व० १८।१।१५॥

( बर्हिषदः पितरः ) हे कुशासन पर बैठनेवाले पितरों ! ( कृती ) रक्षा द्वारा ( अर्वाक् ) हमारी और दोओ अर्थात् हमारी रक्षा करो । [ यः ] तुम्हारे लिए ( इमा हव्या चकृम ) इन हव्यों को करते हैं, ( जुषभ्वम् ) इनको सेवन करो । ( ते ) वे तुम ( क्षतमेन अवघा ) कल्याणकारी रक्षण के साथ ( आ गत ) आओ । ( अथ ) और ( नः ) हमें ( सं ) शैलों का शमन तथा ( योः ) मयोंका इष्ट भगवान् और [ अरपः ] बाप रहित आचरण हो ।

यहाँ पर बर्हिषद् पितरों से रक्षण, शैलों का शमन, अयों का दूरीकरण आदि करने को प्रार्थना है ।

इस प्रकार ये अभिनव पितरों संबंधी विचार वेद में हमें मिलते हैं । इस प्रकरण में कई मननीय विचार हमें मिलते हैं जिनपर विशेष विचार करना नितान्त जरूरी है । जिन जिन मंत्रोंसे ये विचार मिलते हैं उन मन्त्रोंके उनके मंत्रार्थप्रदित हमने पाठकों के सामने रख दिये हैं ।

### प्रेत व अंत्येष्टि ।

इस प्रकरण में हम शरीर से प्राण निकलने के बादसे अर्थात् प्रेत बननेके प्रारंभ से उसके अंतिम संस्कार दहन तक की सब

क्रियाओं पर प्रकाश डालेंगे और अंतमें उक्त प्रेतधनधों जो प्रार्थना में हैं उनका उल्लेख करेंगे ।

( ६ )

### प्राण निकलने के कुछ समय पूर्व ।

मनुष्य देहसे प्राण के निकल जानेपर उसकी प्रेत सज्ञा होती है । जब प्राण निकल जानेको ढाँ उग्र समय क्या करना चाहिए यह विष्णु मंत्र दर्शा रहा है ।

इदं हिरण्यं बिभृदि यत्ते पिताविभ । पुरा ।

स्वर्गं पतः पितृर्हस्ते निर्मुह्यि दक्षिणम् ॥

अथर्व० १८।४।१९

हे मरणासन्न पुत्रव ! [ इदं हिरण्यं बिभृदि ] इस सोने को धारण कर, [ यत् ] जिस सोनेको [ ते ] पिता अभिभ [ पुरा ] पहिले [ ते ] पिता अभिभ [ तेरे ] पिताने धारण किया था । इस प्रकार हे मनुष्य ! [ स्वर्गं पतः पितुः दक्षिण हस्तं निर्मुह्यि ] स्वर्ग को जाते हुए पितृके दाये हाथको सुशोभित कर ।

निर्मुह्यि-मूत्र ' शौचाद्दृक्कायोः ' से बना है । मूत्र धातुका अर्थ शुद्ध करना व सुशोभित करना है ।

इस मंत्रमें दर्शाई गई किया हम अभीतक कई हिंदुजगति-यों में पाते हैं । मरनेसे पूर्व मरणासन्न के दाये हाथमें सोनेकी अंगूठी पहनाई जाती है । सायणाचार्यने ' हिरण्य ' का अर्थ सोनेकी अंगूठी किया है, अतः संभव है उनके समय में यह रिवाज हिन्दुजाति में सर्वसाधारण होगा ।

इस मंत्र पर उनका माथ भी इसी बातका तमर्पन कर रहा है ।

### २ प्राण निकलनेपर प्रेतका जलस्नान ।

प्राण निकल जानेपर मृत देहको जलसे स्नान कराया जाता है । इस बातका निर्देश विष्णु मंत्रमें मिलता है ।

येन मृतं स्नपयन्ति इमथ्यानि येनोन्दत ।

तं वै श्रद्धया ये देवा अपा भोगमधारायम् ।

अथर्व० ५।१९।१४

अजैसा कि हमें ज्ञात हुआ है यह मृत को सुवर्णसे अलंकृत करनेका रिवाज सुवराज्य प्रात, पुत्रप्रात व महाराष्ट्रमें किसी न किसी रूपमें अभीतक विद्यमान है । संभव है संपूर्ण भारत में भी यह रिवाज प्रचलित होगा । कच्छ प्रांतकी ' लुझा ' जाति में कोई कोई प्रेत के शरीर पर एकज सुवर्ण अलंकार रहने देते हैं और मरनेके बाद भी मोहर से खीपी हुई जमीन पर प्रेतको घुलाकर तुलसी सुवर्णादि उसे देते हैं । पुत्रप्रात में भी प्रेत को सुवर्ण देनेका रिवाज है । कोई कोई तो प्रेत के दाँतोंमें चीने की छोटी छोटी कोंकें भी छपवाते हैं, ताकि प्राण वासे हुए मुख सुवर्णीय न रहे ।

हे [ प्रपूज्य ] श्राद्धको सतानेवाले ! [ येन मृतं स्नपयन्ति ] जिससे मृत पुत्रको स्नान कराते हैं, [ येन श्मश्रूणि च सम्प्रते ] जिससे दादांमृतके बाल गांले करते हैं, [ तं वै अपा भागं दत्वा ते आधारयन् ] उस जलोंके भागको अर्थात् जलसे दोनों तेरे लिए निर्धारित किया है । यहाँपर जल द्वारा प्रेतको स्नान करानेका स्वरूप स्पष्ट निर्देश हमें मिलता है ।

### ३ स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना ।

स्नान करानेके बाद मर्दान स्मरणोचित वस्त्रके पहिनानेका निम्न मंत्रमें निर्देश है—

एतत् स्वा वासः प्रथमं स्वागच्छपत्नरह पदिहा विभः

पुरा । इष्टार्त्तमुत्तकाम निद्रान् वस्त्र ते दत्तं बहुधा

विषम्वपुः॥ अथर्व० १८।२।५७

हे मृत पुत्र ! [ एतत् प्रथमं वासः ] यह स्मरणोचित मुकुट वस्त्र [ स्वा तु अगन् ] तुझे प्राप्त हुआ है । [ यत् इदं पुरा विभः ] जिस वस्त्रको पहिले यहाँपर तू पहिना करता था [ तत् ] उस वस्त्रको [ अप ऊढ ] छोड़ दे । [ यत् ] जहाँ [ ते बहुधा विषम्वपुः दत्तं ] तेरा प्रायः विषम्वपुओंमें जो धार है, उसको [ निद्रान् ] आनता हुआ [ इष्टार्त्तं ] अर्थात् तत्प्रत्यक्ष फलको [ अनुत्तकाम ] प्राप्त हो ।

विषम्वपुः=विषय वस्तु नहीं रहा है अर्थात् अनाग मर्दान आदि ।

इस मंत्रमें मर्त्यपर पुराने वस्त्रोंको त्याग कर उसके मर्दान स्मरणोचित वस्त्र पहिनायेका उद्देश्य है ।

### ४ स्मरण भूमिकी तरफ प्रयाण ।

#### स्मरण का ग्रामसे बाहर होना ।

यस्यं गोवागच्छत् गृहं स्मरणं निर्वह्य परिमामावृत्तः  
मुत्तुर्वमवागोदृष्टं ममेतां मरुत्तुर्विपुः गोममयी चकार

भेज दिए हैं। अतः क्योंकि यह विगतप्राण हो चुका है । इस-लिए इसके शवको ग्रामसे बाहर दहनादि क्रियाके लिए ले जाओ ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया है कि शरीरसे प्राण छूटने पर उसे घरसे बाहर कर देना चाहिए व तदनन्तर ग्रामसे बाहर ले जाना चाहिए । स्मरणभूमि ग्रामसे बाहर होनी चाहिए ऐसा इसका अभिप्राय है ।

अप पूर्वक कर्ष धातुका अर्थ बाहर करना है । यहाँ पर मृत्युको समझा वृत्त बताया गया है ।

शरीरसे प्राणोंके छूट जानेपर स्नान आदि कार्याएँ वस्त्र पहन कर उसे स्मरण भूमिमें ले जाने की बारी आती है । हिन्दुत्वेष शवको, शीतोष्ण वायुसे बचाकर उस पर चाँच फूस डालकर उसे चार आदमी कंधेपर रखकर स्मरणभूमि ले जाते हैं । सुवस्त्र मान लोम भी इसी प्रकारसे ले जाते हैं । ईर्ष्या लोग गाँवमें लकड़ालकर स्मरणभूमिमें ले जाते हैं । नीचे दिए गए तीन मंत्रोंके साधन माध्यमे शवको बैतपाक्षीमें से जाना चाहिए देखा जाता चलता है ।

इमौ मुवाजिम ते पक्षो अमुनीवाय योडवे ।

वाम्पदा यमस्य साङ्गं समितोद्वाय गवतुषात् ॥

अथर्व० १८।१।५९

हे मृतपुत्र ! ( इमौ पक्षी ) वहन करनेवाले इन दो बैतपाक्षी ( ते योडवे ) तेरे वहन करनेके लिए ( मुवाजिम ) बैतपाक्षीमें ओसता हूँ । किस दिने ? ( अमुनीवाय ) जिसमेंसे प्रथम निकल गए हैं, उस अमुनीत अवर्त गतपाण देदेके वरान करानेके निद्र अभय अमुनीतया अर्थ है जोकि मुत्तुर्वह न समझा था पहले । जिसके लक्षणोंसे लक्ष्योक्त होती हैं । ( साम्पदा ) उन बैतपाक्षी ( यमस्य वाम्पदा इति ) यह वस्त्र पर है इस प्रकार ( यम गवतुषात् ) अर्थ भाति जान ।

इस पूर्वमंत्रों निष्कर्षके अनुसार पूर्व विवक्षा पोता ।

अर्थात् धुरामें छूते हुए जो बैल हैं ( ते ) वे बैल ( ला ) तुझे ( सुकृतां लोकं ) सुकृतां के लोकमें ( वहन्ति ) प्राप्ता करावें ।  
निधानं = नीचीन पराङ्मुखं यास्ति अनेक प्रेता इति निधानं  
घट्टम् । स्मशानमें पहुँचनेपर बैलोंका गाढ़ासे खोलना—

भा प्रथयेथामपतम्भुमैथो यद् वामभिभा  
अत्रोचुः । अस्मादेतमभ्यो तद् वशीवो दातुः  
पितृष्विह भोजनो मम ॥

अथर्व० १८।१।४९

हे प्रेतवाहक बैलो ! ( युवां ) तुम दोनों ( आ प्रथयेथाम् )  
बैलगाड़ीसे विद्युत् होओ । ( तत् ) उस ( वक्ष्यमाण ) जो आगे  
कहा जायगा निन्दारूप वाक्य से ( अप मृशेया ) छूट  
होओ । उस निन्दारूप वाक्य को जिससे कि ऊपर शुद्ध होनेसे  
कहा गया है, कहते हैं— ( अभिभाः ) दोष देनेवाले पुरुषोंने  
( भां ) तुम दोनोंको ' पुंसवौ केल अरूपं अनिरीक्ष्यं  
प्रेतं ऊनवन्तो ' इत्यादि निन्दारूप, ( यत् ऊचुः ) जो वाक्य  
कहा है, उससे शुद्ध होओ । ( अप्यौ ) हे हिंसा करने के  
अपराध बैलो ! ( अस्मात् ) इस निन्दा की कारणभूत गाड़ी  
से [ एतं ] जो छूट जाना है ( तत् ) वह [ वशीवः ] थोड़ा  
होवे । और तब [ इह ] इस पितृमेघ में [ पितृषु दातुः मम ]  
पितरोंका उद्देश्य करके अभिभा को देते हुए या हविष्ये देते हुए  
मेरे [ भोजनौ ] पालना करनेवाले होओ ।

इन मंत्रोंके अनुसार बैलगाड़ी द्वारा प्रेतका स्मशानमें ले जाना  
वैदिक प्रथा प्रतीत होती है ।

## ५ स्मशानभूमिसे विघ्नकारियोंका भगाना ।

अब स्मशान में प्रेतके पहुँच जानेपर जिस स्थान पर प्रेतको  
जलाना या गाड़ना है, वहाँ से दुष्टोंके दूर करनेकी प्रार्थना का  
निम्न मंत्रमें उल्लेख है । तदनुसार प्रार्थना करके अगली विधि  
करनी चाहिए ।

अपेवो यन्तु पण्योऽसुम्ना देववीरयवः अथ  
लोकः सुतावतः । पुमिरहोभिरक्तुभिर्म्यक्तं  
यमो ददावस्तानमस्मै ॥ यजुः अ० ३५।१३

[ देववीरयवः ] देवोंकी हिंसा करनेवाले [ असुम्नाः ] दुःख  
देनेवाले [ पण्यः ] दुष्ट भयवहार करनेवाले लोक [ सुतः ]  
इस स्थानसे जहाँ कि प्रेत की अंत्येष्टि करनी है, [ अपयन्तु ]  
दूर हट जावें । क्योंकि [ लोकः ] यह स्थान [ अथ सुताव-

तः ] इस सोमाभिषेक करनेवाले शाश्विक का है । [ अस्मै ]  
इसके लिये [ यमः ] यम [ युभिः अर्धाभिः ] प्रक्षालमान  
द्विभौ व ( अक्तुभिः ) रात्रियोंसे [ यमके अवसानं ] एतद् समाप्ति  
[ दशतु ] देता है । अर्थात् इस जीवनमें अब उसके लिए  
दिन व रात्रिही समाप्ति हो चुकी है । भाग्यार्थ यह है कि यम  
ने उच्छा वह जीवन समाप्त कर दिया है, अब उसके लिए  
दिन व रात्रि नहीं होंगी हैं । इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है  
कि हे दुष्टलोगो ! इस स्थान से भाग जाओ जहाँ कि हमने  
इस प्रेतका अंत्येष्टि संस्कार करना है, जिससे कि संस्कारमें  
तुम विघ्न न डाल सको । इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी ऐसी  
ही प्रार्थना है । मंत्र इस प्रकार है—

अपेव वीत वि च सर्पतातोऽस्मा पूर्त पितरो लोका-  
मरन्तु । अहोभिरजिरक्तुभिर्म्यक्तं यमो ददावस्तान-  
मस्मै ॥ अ० १०।१३।१॥

अथर्व० १८।१।५५ ॥

हे दुष्टो ! [ अपेव ] यहाँसे चले जाओ । [ वीत ] भाग  
जाओ । [ विपर्वतातः ] सर्वथा हट जाओ । क्योंकि [ अस्मै ]  
इस मृत पुरुषके लिये [ पितरः एतं लोकं अमृत ] पितरोंने  
यह स्थान [ स्मशानभूमिम् ] किया है— चुना है— निर्धारित  
किया है । केप उत्तरार्धका अर्थ उपरोक्त मंत्रानुसार ही है ।  
कहेल ' अग्निः ' पद विशेष है, जिसका शब्दार्थ है जलौखे ।  
परन्तु यह वेव पदार्थोंके लिए नहीं आया है । मरनेपर सांसा-  
निक पेष पदार्थोंकी भी समाप्ति हो जाती है । इस प्रकार यह  
मंत्रभी उपरोक्त प्रयोजनके लिए ही है ।

अपेव वीत वि च सर्पतातो येऽन स्थ पुराणा ये च  
नृत्तनाः । अदाद् यमोऽवस्तानं पृथिव्या अम्यजं  
पितरो लोकमस्मै ॥ यजु १२।४५

[ ये ] जो धूम [ पुराणाः ] पुरातन विघ्नकर्ता और [ ये  
नृत्तनाः ] जो तुम नवीन विघ्नकारी लोग [ अन ] यहाँ  
स्मशान-भूमिमें [ एव ] हो वे धूम [ अपेव ] यहाँसे चले  
जाओ । [ वीत ] भाग जाओ । [ विपर्वतातः ] सर्वथा हट  
जाओ । क्योंकि [ यमः ] यमने ( अस्मै ) इस मृतके लिए  
( पृथिव्याः अवसानं अदात् ) पृथिवीकी समाप्ति दी है यानि  
इसका पृथिवीभूषण जीवन समाप्त कर दिया है इसलिए [ पितरः ]  
पितरोंने इसके लिए [ इमं लोकं ] यह स्मशानभूमिम् स्थान  
[ अन ] किया है अर्थात् चुना है क्योंकि दुष्टका यहाँ अंत्येष्टि  
संस्कार होना है । इस प्रकार इन मंत्रोंमें स्मशानमें विनष्टा-

योंके भगवत्के उल्लेख है तदनुसार उन्हें भगवत्कर जगत्की जिम्मे  
दारी चाहिये ऐसा इन मंत्रोंका आशय है ।

( ६ ) प्रेतको जलाना, गाड़ना आदि ।

प्रेतके स्मशानभूमिपर पहुंच जातेके अनन्तर उसे गाड़ने,  
बहा देने, जलाने वा हवामें छुड़ा छोड़नेकी क्रिया की जाती  
है । नीचे लिखे मंत्रमें इन इन चारों क्रियाओंका उल्लेख पाया  
जाता है ।

ये निखावा ये परोमा ये दग्धा ये चोद्विताः ॥  
सर्वोत्तानग्ने आवह पितॄन् हविषे अचवे ॥

समर्थ० १८१५३३

( अग्ने ) हे अग्नि ! ( ये निखावा ) जो पितर जमीनमें  
गाड़े गए हैं और ( ये परोमाः ) जो पितर दूर बहा दिए गए  
हैं तथा ( ये दग्धाः ) जो जला दिए गए हैं ( च ) और  
( ये चोद्विताः ) जो पितर जमीनके ऊपर हवामें रखे गए हैं,  
[ तान् चर्वात् ] उन सब पितरोंको [ हविषे अचवे ] हवि  
भक्षणार्थे ( आ वह ) ले भा ।

महाभार चार प्रकारके स्थापन-क्रमें दृष्टोत्तम है । [ १ ]  
गाड़ना, [ २ ] बहाना, [ ३ ] जलाना और [ ४ ] हवामें  
जमीनपर गुला छोड़ना ।

[ १ ] गाड़ना-कुछ प्रेत जमीनमें गाड़े जाते हैं त्रिपदा कि  
अंत्येष्टि संस्कार अग्नि द्वारा नहीं किया जाता । ये चीन हैं इस-  
पर इनमें धोखासा विचार करना है । जो मनुष्य छन्द्यासी हो-  
कर अपना देहत्याग करते हैं उनके देहको न जलानेके लिए  
रम्येधोमें कड़ा गया है, क्योंकि छन्द्यासप्रसंगे प्रवेश करते  
हुए पुरुषका सर्वमेध त्याग करना पड़ता है । इस कारण वह अग्नि  
संस्कार एवं क्षायोष्ठि मुक्त हो जाता है । अतएव उसे मरनेपर  
अग्नि द्वारा नहीं जलाया जाता । छन्द्यासीके शरीरको जलाना  
चाहिए वा नहीं इस विषयमें अमातक हमें श्रुतिस्मृतिविरुद्ध ज्ञात  
नहीं है, पर स्मृति विरोध करती है । अना ' निखात ' ये  
छन्द्यासीका भी प्रहण किया जा सकता है । इसके आतिथिक  
वर्तमान समयमें विशेषतः मुहम्मद-न-इसाई लोग मुसुकी न  
जमाने हुए गाड़ते हैं । अतः उनके प्रेतोंका भी निखातमें  
प्रहण विधाना चलता है, जेध कि इन ऊपर कह आए हैं ।  
मुसुकीयार अवस्थामें ही उनकी ही उनमेंसे एक निखात है ।

[ २ ] जलाना वा

[ ३ ] जलाने बहाना ] ये दो अवस्थाएँ विशेषतः

हिन्दुधर्ममें पाई जाती हैं ।

[ ४ ] जमीनपर चाबुमें रखना यह चौथी अवस्था  
पारिवर्षिक पाई जाती है ।

इस प्रकार ये चारों अवस्थाएँ वर्तमान समयमें हमें मिलती  
हैं । वेवमें मृतोंके दो विभाग मिलते हैं [ १ ] अग्निदग्ध अर्थात्  
जो अग्निमें जलाए जाते हैं तथा [ २ ] अग्निनदग्ध अर्थात्  
जो अग्निमें नहीं जलाए जाते । अग्निनदग्धमें जलानेकी अवस्था  
की छोड़कर शेष तीनों अवस्थाएँ अन्तर्हित हो सकती हैं ।

यदि हम सूक्ष्म रीतिसे हिन्दुओंके अंत्येष्टिसंस्कारका भवको-  
न कर ही इस देखेंगे कि उपरोक्त चारों अवस्थाओंमें चिह्न  
रूपमें उनके अंत्येष्टि संस्कारमें विद्यमान हैं । इससे यह अनुमान  
भी किया जा सकता है कि किसी न किसी समय ये चारों प्रयोगें हिन्दु  
ओंमें प्रचलित होगी । यद्यपि इस समय वे संकेत रूपमें ही  
अवशिष्ट रह गई हैं । इस समयका हिन्दुओंका प्रेतसंस्कार इन  
संकेतों सहित इस प्रकारसे होता है : एवं देखनेसे ऊपरका  
परिणाम स्पष्ट प्रतीत होगा ।

[ १ ] प्रायः आजकल हिन्दुलोग मुरा अग्निमें जलाते हैं  
और जलानेके बाद तीसरे दिन [ २ ] एक अदमा [ ३ ] पयस  
लेकर उसकी जमीनमें रख देते हैं । इसी प्रकार मृतकी हड्डी  
पुनः एक मिट्टीके बरतनमें रखते हैं अथवा दूसरे लट्ठ  
देते हैं अथवा [ ४ ] बहुतसे लोग समीपस्थ देवी का चूर्ण  
द्रवमें बहा देते हैं । इसके अतिरिक्त कुछ लोग जीवा मुरोंकी ही  
बदलमें बहा देते हैं । यदि इतनाभी न हो सके तो चारोंका  
आटेका पिण्ड बनाकर उसके ऊपर मृत पितरोंकी पुजा कर उसे  
पिण्डकी बहा देने हैं । [ ४ ] मरनेके बादके दशे दिन उप-  
रोक्त कथानुसार पिण्ड बनाकर परेके बाहर गुला रख देते हैं,  
यदि उभे कीवा स्वयं करें । जबतक कीवा स्वयं नहीं करता,  
तबतक अंत्येष्टि किया पूर्ण नहीं हुई ऐसा समझा जाता है । यह  
संकेत हवामें मुसुकी पारिवर्षिकी तरह गुला छोड़ने की क्रिया  
का है ।

इस प्रकार ये चारों विधिवा केवल हिन्दुधर्म में ही मिली स्वर-  
ण पाई जाती है यह हम देख सकते हैं । उपरोक्त मंत्रमें जो  
चार विधियाँ दर्शाई गई हैं वे के ही हैं ऐसा हम कह सकते हैं ।  
अतएव ' ये चोद्विता ' अर्थात् जो ऊपर रख दिए हैं वे ही जो  
हवामें जमीन के ऊपर रखा दिए हैं, यही जलाते होता है । इसी  
प्रकार ' ये परोमा ' का अभिप्राय जो जलाना दूर बहा दिए  
गये प्रतीत होता है । अतः हममें कहीं कोई अवस्थाओं पर करने

ने यथाशक्ति प्रकाश डालनेकी कोशिश की है। पाठक इसपर विशेष विचार कर उचित निष्कर्ष निकाले।

नीचे लिखे तीन मंत्रोंमें प्रेतके भूमिमें गाढनेका उल्लेख है। मंत्र इस प्रकार हैं—

अभिषोर्गोमिं पृथिव्या मातुर्वस्येव भद्रया।

जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वया पितृषु सा स्वयि ॥

अ० १८।१।५२ ॥

हे प्रेत ! [ त्वा ] तुझे [ मातुः पृथिव्या ] मातापृथिवीके [ भद्रया वस्येव ] कल्याणकारी वस्यसे [ अभि ऊर्गोमि ] आच्छादित करता हूँ अर्थात् जमीनमें तुझे गाढता हूँ। [ जीवेषु भद्रं तन्मयि ] जीवितोंमें जो कल्याण है वह भद्रमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो और [ पितृषु स्वया ] जो पितरोंमें स्वया है [ सा स्वयि ] वह तेरेमें हो अर्थात् तुझे प्राप्त हो। यहाँपर १५२ मन्त्रोंमें प्रेतके गाढनेका निर्देश है।

इहमिह वा ज मातरं दिवि पर्यसि सूर्यम्

माता पुत्रं यथा सिन्ध्याभ्येनं भूम ऊर्गु हि ॥

अ० १८।१।५० ॥

हे गत पुत्रव ( इह इव वा ज ) यही है ( न अपरं ) दूसरा नहीं है। ( दिवि सूर्य पर्यसि ) जो तुमकोमें तू सूर्य देखता है। ( यथा पुत्रं माता सिन्ध्या ) जिस प्रकार पुत्रको माता अपने आँचलसे ढांपती है उस प्रकार हे ( भूमे ) पृथिवी तू ( एनं ) इस गत पुत्रकी ( अभि ऊर्गु हि ) चारों ओर से ढांप। इस मंत्रके पूर्वार्थकी उत्तरार्थके कैसे संगति है वह अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हुआ। उत्तरार्थ का भाव स्पष्ट है।

असौ हा इह ते जनः ककुत्सलमिव जामयाः।

भूम ऊर्गु हि ॥ अथर्व० १८।१।५६ ॥

( असौ ) हे जलाने नामवाले प्रेत ! ( इह ते जनः ) यहाँ तेरा जन है। हे ( भूमे ) पृथिवी ! ( जामयाः ककुत्सल इव ) जिस प्रकार जियाँ अपने बच्चेको वस्त्रसे ढांपती है या कुल जियाँ अपने सिरको ढांपती हैं उस प्रकार [ एनं ] इस प्रेतको [ अभि ऊर्गु हि ] सभी प्रकार ढांप।

इन चतुर्षो मंत्रोंमें प्रेतके जमीनमें गाढने का उल्लेख है। इससे गाढनेकी प्रणाली वैदिक ही है यह बात चल्ता है। जब एक अंगरेजिके मंत्रोंको देखनेसे हम कह सकते हैं कि हिन्दु, सुषकमान, ईसाई, पारसी आदिदोंमें जो मुँहके जलने गाढने आदिकी प्रणाली प्रचलित है, वे सब वैदिक हैं। या मुँह कह सकते

हैं कि वे सब वेदोंसे उनके पास गई हुई हैं। उनका आदि स्रोत वेद ही है।

### ( ७ ) अंत्येष्टि—संस्कार ।

काष्ठ संवत्सर परके उसपर प्रेत रखकर अग्नि प्रज्वलित की जाती है। अग्नि के प्रज्वलित हो जानेपर निम्न मंत्रोंसे अग्निसे प्रार्थना की जाती है। आवाइयक दो एक मंत्र हम यहाँ देते हैं।

मैनमामे विदुहो मामिषोचो मास्य स्वधं चिक्षिपो मा शरीरम्। यदा श्रुतं कृणवो जातवेदोऽधेमेनं प्रक्षिणु-

पत्य विदुम्यः ॥

अ० १०।१।११ ॥

[ अमे ] हे अग्नि ! [ एनं मा विदुहः ] इस प्रेत को इस प्रकार से मत जला कि जिससे इसे विशेष कष्ट हो। [ मा अभिषोचः ] इसे थोकाकुल मत कर। [ आस्य स्वधं मा चिक्षिपः ] इसकी त्वचा को मत बखेरा (मा शरीरं) इसके शरीरको भी मत बखेर। अपरिह इसकी त्वचा व शरीर को पूर्णतया जला दे। कोई भी भाव जलने से अवशिष्ट न रह जाये। और [ जातवेदः ] हे जातवेदस्व अग्नि ! [ यदा श्रुतं कृणवः ] जब इसे पूर्णतया पक्क बना दे अपरिह जलादे, [ अथ ] तब [ एनं ] इसको [ पितृभ्यः प्रक्षिणुतात् ] पितरोंके लिए भेज दे यानी पितृलोकमें पितरों के पास पहुँचा दे।

यह मंत्र अथर्व वेद [ १८ । १ । ४ ] में भी आया है। इस मंत्र को हम पहिले 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहाँ पर जो कुछ विशेष कल्याण इस मंत्रपर मा कह दे आए हैं। अतः यहाँ पुनः लिखना व्यर्थ है।

श्रुतं यदा कासि जातवेदोऽधेमेनं परित्वात् विदुम्यः।

यदा मरुतात्पुत्रीविमेगामया देवानां वदानीमवावि

अ० २०।१।१२ ॥

हे जातवेदस्व अग्नि ! जब इस प्रेत को पूर्णतया दग्ध कर दे तब इसे पितरों के लिए भेज दे। जब इस प्रेत के आग निकल जाते हैं तब यह वेदों के चयन होता है।

यह मंत्र भी पूर्ण व्याख्यानपद्धति उपरोक्त मंत्रके साथ 'अग्नि व पितर' में दे आए हैं। वहाँपर देखने पर यह मंत्र स्पष्ट हो जायगा।

अथो भगवत्परायं वं सवस्व वं तं कोषिष्ठपुत्रं संते आर्चं ॥ यान्ते सिवास्तन्वो जातवेदस्तामिर्देनं सुहृत्वा सोऽहम् ॥ अ० १०।१।१७ ॥

अथर्व० १८।१।६४

[ अजः भागः ] हे अग्नि इस प्रेत का जो अजभाग [ आत्मा ] है [ तं ] उसे तू [ तपसा तपस्व ] अपने तपसे तथा । [ तं ] उस अजभाग को [ ते घोचिः ] तेरी दीप्यमान ज्वाला [ तपतु ] तपावे । [ तं ] उस अज भागको [ ते अग्निः ] भासमान ज्वाला [ तपतु ] तपावे । और फिर [ जातवेदः ] हे जातवेदस् अग्नि । [ याः ते शिवाः तन्वाः ] तेरे जो कल्याणकारी ज्वालारूपी तनू हैं [ ताभिः ] उन द्वारा इस अज भाग को [ सुकृता लोकं ] सुकर्म करनेवालों के लोकमें [ वह ] प्राप्त करा ।

इस मंत्र में भी वही परिणाम निकलता है, जैसा कि हम पहिले दर्शाए हैं। अर्थात् शरीर के जल जलने तक आत्मा शरीर के पास ही रहती है और शरीर दहन के अनन्तर अग्नि द्वारा अमृत ले जाई जाती है। यह समूचे सूक्त इसी भावके मंत्रोंवाला है जिसका कि अंग्रेष्टि में विनियोग होता है। इस प्रकार प्रेतदहन के समय अग्नि से प्रार्थनाये करनी चाहिए, ऐसा इन मंत्रों का अभिप्राय है।

उपरोक्तानुसार अग्निसे प्रार्थनाये करके अंग्रेष्टिपरक मंत्रों से अग्निमें आहुतियाँ देनी चाहिए। यजुर्वेद का ३९ वां अध्याय अंग्रेष्टिपरक है। हम यहाँ वही मंत्र देगे जिनका कि हमारे प्रकरण से संबंध है अर्थात् जिन मंत्रों में यम वा पितर विषयक किसी प्रकार का निर्देश है।

यमाय स्वाहाऽन्तकाय स्वाहा मृत्यवे स्वाहा । मरुणे स्वाहा । मरुहस्त्याय स्वाहा विभेभ्यो देवेभ्यः स्वाहा ।  
पावापृषिभ्यो स्वाहा ॥ यजुः ३९।३३ ॥

[ यमाय स्वाहा ] यमके लिए स्वाहा । [ अन्तकाय स्वाहा ] अन्तक के लिए स्वाहा । [ मृत्यवे स्वाहा ] मृत्युके लिए स्वाहा । [ मरुणे स्वाहा ] मरुके लिए स्वाहा । [ मरुहस्त्याय स्वाहा ] मरुहस्ताय के लिए स्वाहा । [ विभेभ्यः देवेभ्यः स्वाहा ] सब देवों के लिए स्वाहा । [ पावा पृषिभ्यो स्वाहा ] पु तथा पृषिबी के लिए स्वाहा ।

इस मंत्रमें यम के लिए भी एक आहुतिवा निर्देश है। इसी प्रकार के अन्य मंत्रों से आहुतियाँ देकर प्रेत से कहा जाता है कि हे प्रेत ! -

तेरी आँख सूर्यको जावे। तेरे प्राण वायु से जावें। और हे प्रेत ! तू कर्मफलजन्य धर्म से वा पार्थिवारि तत्त्वोंके पर्यसे [ पृथिवीका अंश पृथिवीमें जावे इस प्रकारसे ] पु व पृथिवी को जा, उन उनके अंश उनमें मिल जावें। इसी प्रकार जलोमें जलाशय जावे यदि जलो वा कोई अंश तेरे में स्थिर हो। इसी प्रकार ओषधियोंमें शरीरोंशेषों स्थित हो। इस मंत्रपर जो विशेष वक्तव्य था वह हम पहिले दे आए हैं। इस प्रकार प्रेत का अग्नि संस्कार हो जानेपर उसकी आत्मा से कहा जाता है कि—

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति स्यम् ।

ऋषीन् तपस्वतो यम तपोर्जा अपि गच्छताम् ॥

मन्त्र १०१५४।५॥ अथर्व १८।२।१८ ॥

[ सहस्रणीथाः कवयः ] हजारों को ले जानेवाले अर्वादि हजारों के नायक, कान्तदर्शी, [ ये ] जो कि [ स्यं गोपायन्ति ] सर्वको रक्षा करते हैं, ऐसे [ तपस्वतः ] तपोपुङ्गव, [ तपोर्जा ] तपसे उत्पन्न [ ऋषीन् ] ऋषियों को [ यम ] हे निबन्धन । तू [ गच्छताम् ] प्राप्त हो, अर्थात् इनमें जाकर तू स्थान ले ।

## ८ प्रार्थनायें ।

इस प्रकार प्रेतदहन की क्रिया समाप्त हो जानेपर उनके लिए पीछे की जानेवाली प्रार्थनाओंका उद्घेप निम्न मंत्रों में है।

सप्त प्राणानहो ममस्तारवे पृथ्वादि मरुणा ।

अथ यमस्य साधनमग्निस्तो नरदृष्टवः ॥

अथर्व १८।२।१८

[ ते ] तेरे [ तान् सप्त प्राणान् ] सप्त प्राणोंको, [ अहो ममः ] आठों नावियों को [ मरुणा ] मरु से [ पृथ्वादि ] कष्टता हूँ । तू [ अग्निस्तो ] अग्नि को दत्त बनाकर [ अहो ] शीघ्रता करवा मुझा [ यमस्य ] यमके [ यदने ] बरको [ अथाः ] जा ।



( सुवर्चा ) उपम तेजसे युक्त हुआ हुआ ( तन्वा संगच्छस्व )  
शरीर धारण करके बुनियातमें विचरण कर ।

भिन्न भिन्न अर्थमें बहुवचनान्त

पितृशब्दका प्रयोग

पितृ शब्दवाले भेदोंको देखनेसे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि बहुवचनमें प्रयुक्त पितृशब्द खास अभिप्रायसे प्रयुक्त किया गया है । एकवचन व द्विवचनमें आया हुआ पितृ शब्द खास महत्त्वका नहीं है यह बात आगे दिये जानेवाले मंत्रोंके समन्वये पाठके सुगमतासे जान सकेंगे । अबतक आए हुए मंत्रोंके देखनेसे पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात अवश्यमेव आगई होगी, कि उन मंत्रोंमें सर्वत्र बहुवचनान्त पितृशब्द ही प्रयुक्त है । इस प्रकरणमें हम उन थोड़ेसे मंत्रोंको देते कि जिनमें बहुवचनान्त पितृशब्दका प्रयोग उस अभिप्रायसे नहीं किया गया, जिस अभिप्रायसे कि अबतकके मंत्रोंमें किया गया है । पाठके वगे हमारे इस कथनका अनुभव स्वयमेव मंत्रोंके देखनेसे कर सकेंगे । यह प्रकरण, अबतकके मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके प्रयोगका अभिप्राय आगे आनेवाले मंत्रोंमें विद्यमान पितृशब्दके अभिप्रायसे भिन्न है । यह दर्शाता हुआ हमें पूर्वोक्त मंत्रोंमें विद्यमान पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें पूर्ण सहायक होया ऐसी आशा है । इस प्रकार यह प्रकरण बहुवचनान्त पितृ शब्दके अभिप्राय-निर्णयमें महत्त्वशाली होगा, यह पाठकोंको यथापर ध्यानमें रखना चाहिये ।

१ हिंसा अर्थमें ।

प्र तु वोचा सुतेषु वा वीर्यां यानि चक्रुः ।

हलातो वा पितरा देवराश्रवः इन्द्राग्नी

जीवोषो युवम् ॥ ऋ० १।५।१॥

हे इन्द्राग्नी ! ( वा ) तुम दोनों ( सुतेषु यानि वीर्यां चक्रुः ) उत्पन्न पदार्थोंमें जो पराक्रम करते हो, उनका ( तु ) निरुचय से ( प्रवोच ) मैं प्रवचन करता हूँ । अब प्रवचन का प्रकार बताते हैं—हे इन्द्राग्नी ! ( वा ) तुम्हारे ( पितरः ) दिवा करनेवाले ( देवराश्रवः ) देवोंसे गुणवा करनेवाले ( इतावः ) यह होय है । ( युवम् ) तुम दोनों ( जीवष ) जीवित हो ।

पितरः—परिणत हिंसाकर्मी पातुके पितर शब्द बनाया गया है, क्योंकि देवशुक्रा यह विशेषण है । अतः यहाँ पितरका अर्थ दिवा करनेवाले ही है । मंत्र जोइय कथेका पोषक है ।

१४ ( अ. गु. भा. कं. १८ )

२ ज्ञानी लोक पितर

कथयन्मयः कति सूर्यावः कथुपासः कथुस्त्रिदापः ।

मोपस्त्रिजं वः पितरा वदामि पृच्छामि वः कथयो

विद्वाने कम् ॥

ऋ० १।८।१८

( अग्नयः कति ) अग्निं कतिमी है ? ( सूर्यावः कति ) सूर्य कितने है ? ( उपासः कति ) उपास कितनी है ? ( आपः कतिस्त्रिजं ) भला आप कितने हैं ? ( कथय पितरः ) हे कान्तदर्शी ज्ञानी पितरों ! ( व उपस्त्रिजं न वदामि ) तुम्हारी स्पर्धा करता हुआ यानि परीक्षा लेनेके अभिप्रायसे उपरंक्त प्रश्न नहीं पूछता हूँ अपितु मैं नहीं जानता अतः ( विद्वाने ) जाननेके लिए ( वः पृच्छामि ) तुमसे पूछता हूँ । मंत्र स्पष्ट है । ज्ञानी लोकोंको पितरसे संशोधन किया गया है ।

३ राज-सभाके सभासद् पितर ।

सभा च मा समितिश्चावता प्रजापतेर्दुहितरी  
संविदाने । येना संसगता उप मा स शिक्षाश्चाव  
वदामि पितरः संघतेषु ॥ अ० ५।१।११

( संविदाने ) परस्पर मेल रखनेवाली एक मतको प्राप्त हुई हुई ( प्रजापतेः ) प्रजापति राजाकी ( दुहितरी ) दो दुहितारों ( सभा च समितिः च ) सभा और समिति ( मा ) मेरी ( आसतो ) रक्षा करें । ( येन संगच्छे ) जिस जिस सभासदोंमें संगत होके बानि सबको संगति करे ( वा ) वह वह सभासद ( मा उपशिक्षात् ) मुझे शिक्षा दे । ( पितरः ) हे सभासदों ! ( संघतेषु ) संघकेमेंमें मैं ( आद वदामि ) दिये भेजूँ ।

इस मंत्रमें राजाकी राजसभासदोंके प्रति आदि है । उनको पितरके नामसे कहा गया है ।

४ सैनिक पितर ।

स्वामुपसृज्य विजयो यवोयः कृष्टे भित्तः दम्भीकतो  
गभीराः । चित्रमेवा हयुवला अमृप्राः यमोरीरा  
उरको व्यासताहाः । ऋ० १।१५।११

यतुः १।१५।११

इस मंत्रको देवता-संयोगः अर्थात् महादेव पराक्रमके अर्थ है । अर्थ इस प्रकार है—

( स्वाधुपसद ) शत्रुओंके अक्ष में बैठनेवाले वा शत्रुआक-  
अक्षका नाश करनेवाले, ( वयोधा. ) अक्ष दनेवाले ( कृच्छ्र श्रित. )  
कठिनाइयोंमें भी स्थिर रहनेवाले ( शचीवन्त. ) शक्तिवाले या शक्ति  
नामक अस्त्रसे युक्त ( यभीरा. ) यभीर, ( चित्रेना. ) दर्शनीय  
सेनावाले ( इषुबला. ) बाण है बलजिनका अर्थात् बाणसे लड़नेवाले  
( अमृप्रा ) जिनकी शत्रुओंसे हिंसा नहीं हो सकती ऐसे, ( सत्वोरीराः )  
वीर्यशाली, ( उरव. ) विशालकाय, ( प्रातसाहा ) शत्रुसमुदाय का  
पराजय करनेवाले ( पितर ) रक्षा करनेवाले रक्षारक्षक होते हैं।

ब्राह्मणास पितरः सोम्यासः शिवे नो धावापृथिवी  
अनेहसा । पूषा न पातु दुःखिताहवायुधो रक्षा मा  
फिर्नो अयशंस ईशत ॥ १० ॥ ७५ ॥ १० ॥

यजु २१।४७॥

यह मंत्र ऊपरोक्त मन्त्रसे अगला मंत्र है । यह संपूर्ण सूक्त  
सुद्ध विषयक है। इस मन्त्रका अर्थ इस प्रकार है—

[ ब्राह्मणास ] हे ब्राह्मणाना, [ सोम्यास. ] सोम संपादन  
करनेवाले अर्थात् यज्ञादि कर्मोंके करनेवाले [ ऋताह्व ] सत्य-  
स करनेवाले वा सत्यको बढानेवाले [ पितर ] रक्षक ।  
[ अनेहसा धावापृथिवी ] अहिंसक यु तथा पृथिवी [ नः शिवे ]  
हमारे लिए कल्याण के करनेवाले हों । [ पूषा ] पोषक सेना-  
पति [ न. ] हमारी [ दुःखिताह्वायुधो ] पापसे [ पातु ] रक्षा करे  
और [ मा फिर्नो अयशंस न. ईशत ] कोई भी पापी हमारे  
ऊपर शासन मत करे । [ रक्षा ] उससे पूषा हमारी रक्षा करे।

इन मन्त्रोंमें ऐतिह्योक्ता पितर कहा गया है क्योंकि वे हमारी  
रक्षा करते हैं ।

#### ५ प्राण—पितर

यो यज्ञो विश्वस्तन्नुभिस्तत् एकदात देवकर्मभिरायत ।  
हमे वयन्ति पितरो य आयु प्रवधाव वयेत्यासत तत्ते ॥

ऋ० १०।१३०।१॥

( य. यज्ञ ) जो यह जीवनरूपा यज्ञ ( विश्वत. तन्नुभिः )  
यह औरसे धन, दिन, मास वा वर्षरूपा तन्नुओंसे ( ततः )  
अर्थात् विस्तृत है और ( एकदात देवकर्मभिः ) एक ही देव-  
कोंमें अर्थात् ही वर्षकी आयु ( आयत ) चौड़ाईमें फैला  
हुआ है उस यज्ञको ( हमे पितर. ) ये जीवनाधार प्राण पितर  
( वयन्ति ) युनत हैं । ( ये आयुः ) जो कि प्राण इस यज्ञ  
। अथ हुए हैं, य ( तते आयुः ) इस विस्तृत जीवन यज्ञमें  
युनत हैं व कहते हैं कि ( तवय अवयव ) आयु युनत जाओ  
। और पंचम भाग करत जाओ ।

इस मन्त्रमें कपड़े चुननेके अलङ्कारसे जीवनरूपा यज्ञका  
वर्णन है । प्राण इस जीवनके रक्षक होनेसे पितर हैं ।

स्वाहा पुष्प शरसे स्वाहा प्रावभ्य स्वाहा प्रतिरवेभ्य ।  
स्वाहा पितृभ्य. ऊर्ध्वर्वाहिभ्यो धर्मपावभ्य स्वाहा धावा  
पृथिवीभ्या स्वाहा विद्वेभ्यो देवभ्यः ॥

यजु अ० ३०।१५ ॥

इस संपूर्ण मन्त्रका अर्थ हम यहां नहीं देंगे क्योंकि हमारा  
प्रयोजन सिर्फ 'स्वाहा पितृभ्य ऊर्ध्वर्वाहिभ्यः' इतने से ही है।  
अत इतने ही मंत्र खड्का अर्थ हम देंगे ।

( ऊर्ध्वर्वाहिभ्यः पितृभ्यः स्वाहा ) शरीरमें जिनकी उत्कृष्ट  
स्थिति है ऐसे प्राणोंके लिए स्वाहा । संपूर्ण मन्त्रमें 'पूषा धारणे'  
आदि प्राण के लिए हैं । अतः 'ऊर्ध्वर्वाहि' विशेषण प्राणों का  
है । यह मंत्र घातघम में इसी प्रकार व्याख्यात है । देखो य०  
१।४।२।३।४॥

#### ६ पालक-रक्षक आदि अर्थ में ।

शक्तिमिन्नु शरदो जन्ति देवा यत्र नक्षका जरत तन्-  
नाम् । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति सा नो मम्या  
रीरिषातुगन्तो ॥ ॥ १०८।१५ यजु. २।५।१५

( देवा. ) हे देवो ! ( नु ) निश्चयसे ( शरत इव ) शीत  
( शरद. ) वर्ष ( अन्ति ) मनुष्यके पास हैं । ( यत्र ) जिन  
और वर्षोंमें आप देवगण ( न. तन्नां जरत चक्रा ) हमारे  
शरीरों में बुझाया जाते हो । ( यत्र ) और जिन औ वर्षोंमें  
( पुत्रास. ) पुत्रगण ( पितरः ) घतानोत्पत्तिके लायक हाइरब  
अन्योक्ता पालन करनेके लायक होकर पितर बनते हैं । इस  
औ वर्ष की ( आयुः ) आयुको ( गन्तो. मन्थे ) पूर्ण रूपसे  
प्राप्त करने से पहिले ही बीचमें ( न ) हमें ( मा रीरिषत )  
मृत नष्ट करो ।

प्राधा नो योधि दृष्टवान् आपिभिस्तथा मर्हिता  
सोम्यानाम् । सखा पिता पितृमः पितृनां कर्तुं  
लोकमुत्ति वयोधा ॥ ॥ १०८।१०४

यह इन्द्र ( नः ) हमारा ( प्राता ) रक्षक, ( परधान )  
हमारा देखनेवाला, ( अभिप्राता ) उपदेश करनेवाला,  
( मर्हिता ) मुझ देनेवाला, ( सखा ) मित्र, ( पिता ) जनक,  
( सोम्यानां पितृनां पितृमः ) सोम्य पितरों में प्रथम पिता,  
( वयोधा ) वयानशाली, तथा ( लोक उत्ति ) लोको की कल्याण  
करनेवाले के लिए ( वयोधा ) अक्ष-वय-आयु का देनेवाला है,

इस प्रकार हे उपासक ! ( योधि ) तू जान ।

ते हि यावापृथिवी मातरा मही देवी देवाऽऽन्मवा  
यन्त्रिये इतः । उभे विभृत उभयं भरीमभिः पुत्र  
रेवासि पितृभिश्च सिन्धवः ॥ अ० १०।६५।१३॥

( मातरा ) सब जगत् की निर्माण करनेवाली, ( मही )  
भरी ( देवी ) दिव्य गुणवाली ( यन्त्रिये ) पूजनीय ( ते  
यावापृथिवी ) वे यावापृथिवी ( देवाः ) देवोंके ( अन्मवा  
इतः ) जन्मसे प्राप्त करती हैं अर्थात् उनको उत्पन्न करती हैं ।  
( उभे ) दोनों यु और पृथिवी ( भरीमभिः ) भरणपोषणसे  
( उभयं विभृतः ) दोनों मनुष्य व देवोंका धारण पोषण करती  
हैं । और ( पितृभिः ) फालक इत्यादि देवोंके साथ मिलकर  
( पुत्र रैवासि ) बहुत जलोंसे [ सिन्धवः ] सिंचन करती हैं  
अर्थात् प्रखर वृष्टि करती हैं ।

### ७ इपु पितर ।

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्त्रिभिराजी शक्तिरा पितर  
ह्यवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितुभ्यो  
नम इपुभ्यो नम पुभ्यो अस्तु । योऽस्मान् द्रष्टुं यं  
वयं द्विभस्त्वं वो जम्हे दम्भः ॥ अथर्व० १।२०।२॥

दक्षिण दिशाका इन्द्र अधिपति है । वह तिर्यक् गतिवाले  
पार्श्वदिशे रक्षा करनेवाला है । उसके बाण पितर हैं अर्थात्  
रक्षक हैं । इत्यादि ।

इस मंत्रमें बाणोंको पितर कहा गया है, क्योंकि वे हमारी  
रक्षा करते हैं ।

### जनकपितर ।

वातासो न मे धुनयो जिगत्सवोऽन्मनो न जिह्वा  
विरोकिणः । धर्मजन्तो न योधाः शिमीन्तः पितृणां

न वासा सुरातपः ॥

अ० १-१७८।३॥

[ ये ] जो मनुष्य [ वातासः न ] वायुओंको तरह  
[ धुनयः ] धनुओंकी कंपनेवाले हैं, तथा जो [ जिगत्सवः ]  
किपाशाल [ अन्मनो जिह्वाः न ] अस्तिनी की ज्वालाओं  
की तरह [ विरोकिणः ] दीप्यमान हैं, और जो [ धर्मजन्तः ]  
योधाः न ] स्वधधारी सोदाओंकी तरह [ शिमीन्तः ]  
शूरता के फायोंके करनेवाले हैं, व [ पितृणां योधाः न ] जनक  
पितरोंकी बाणियों की तरह [ सुरातपः ] उत्कृष्ट दान देनेवाले  
हैं, ऐसे मनुष्य हमारी खेदा रक्षा किया करें ।

ध्रुवा एव यः पितरो युगे युगे क्षेमकामासः सद्सो  
न युञ्जते । अजुयांसो हरिषाघो हरिद्व आयां रवेण  
पृथिवीमनुग्रुतुः ॥ अ० १०।१४।२॥

( यः ) तन्माहरे ( पितरः ) उत्पन्न करनेवाले ( ध्रुवा एव )  
निधयवे स्थिर हैं । तुम ( युगे युगे ) युग युगमें ( क्षेमकामा-  
सः ) कल्याण करनेकी इच्छावाले हो इत्यादि । इस संपूर्ण  
सूक्तमें ' यज्ञमें सोमलता से सोम निकालने के लिए लाए हुए  
पत्थरोंका वर्णन है । '

### ८ पूर्वज पितर ।

चाकल्ये तेन ऋपयो मनुष्या यज्ञे जाते पितरो न  
पुराणः । पश्यन्मन्ये मनसा चक्षसा घान्य हर्मे यज्ञस-  
यजन्त पूर्व ॥ अ० १०।१३०।६॥

( पुराणि यज्ञे जाते ) पुरातन यज्ञके हो जानेपर ( तेन )  
उस यज्ञ द्वारा ( ऋपयः ) ऋषिगण, [ मनुष्याः ] अथ मनुष्य  
समुदाय व [ यः पितरः ] हमारे पूर्वज [ चाकल्ये ]  
उत्पन्न हुए । [ ये पूर्व हम यज्ञ अयजन्त ] जिन पूर्वके  
देवोंने इस सृष्ट्युत्पत्तिरूपी यज्ञका किया था [ तात् ] उन देवोंको  
[ मनसा चक्षसा ] मनकपी आंखसे अवधा [ चक्षसा मनसा ]  
सूक्ष्म पदार्थोंके देखनेके साधनभूत मनसे [ पश्यन् ] देखता  
हुआ मैं [ मन्ये ] उन देवोंका मनन करता हूँ ।

यह सूक्त सृष्ट्युत्पत्तिपर कुछ कुछ प्रकाश डालता हुआ  
प्रतीत होता है । इस मंत्रमें आए हुए ऋषि, पितर व मनुष्य  
सम्भवतः क्रमशः मादण, क्षत्रिय व वैश्यके घोटक प्रतीत होते  
हैं, जिसे कि पुरवत्कमें सृष्ट्युत्पत्तिमें मादण-क्षत्रिय-वैश्यकी  
उत्पत्ति दर्शाई गई है । क्षत्रियोंके लिए पितरका प्रयोग वैश्यमें  
हुआ है, जिसे कि अभी हम ऊपर दर्शा आए हैं ।

### ऋतुपितर ।

नमो यः पितरो रसाय, नमो यः पितरः शोषाय, नमो यः  
पितरो जाम्बाय, नमो यः पितरः स्वपाय, नमो यः पितरो  
पोराय, नमो यः पितरो मन्त्रवे, नमो यः पितरः पितरो नमो  
यः गृहायः पितरो दत्त सती यः पितरो दैमी दम्भः पितरो  
काशः ॥ यजुः अ० २।२२॥

इस मंत्रपर शतपथ मादणने इतनी ही टिप्पणी चढ़ाई है।  
कि ' इस मन्त्रमें ६ बार नमस्कार है वह इसलिये है कि  
कि व ऋतुएं होती हैं । शतपथका यवन इस प्रकार है-

‘पट्टावो नमस्करोति पट्टावः मृतवः श्रुतवः पितरः तस्मात्  
पट्टावो नमस्करोति— श्रु० २।१।२।२५।

इस प्रकार इस मन्त्रमें ऋतुओंके वितर कहा गया है ऐसा  
प्रतीत होता है। ब्राह्मणमें स्थान स्थानपर ऋतुओंको वितर  
कहा गया है। उदाहरणार्थ—

श्रु० २।१।२।२५। कौ० ५। ७॥ यो उ० १। २४ ॥

तथा ६। १५॥ श्रु० २। ६। ११ ३२॥

ते० १।४।१०।८॥ तथा १।३।१०० ॥ ५॥

इत्यादि । इस स्थापनानुसार मन्त्रार्थ इस प्रकार है—

[ वितर ] हे वितरो ? [ वः रथाय ] तुम्हारी रथभूत  
वस्तुके लिए [ नमः ] नमस्कार है । वस्तुस्तन्त्र में ऋतु  
आदि रसका बाहुल्य होता है अतः रथसे यथा वस्तुतः ऋतु-  
का उपलक्षण है । [ वितर व रथाय नमः ] हे वितरो ।  
तुम्हारी घोषक प्रीत्यके लिए नमस्कार है । प्रीत्यमें गरमी  
पड़नेसे सब रथ तुल जाते हैं अतः घोषकसे प्रीत्यका यथा  
प्रमाण किता गया है । [ वितर व रथाय नमः ] हे वितरो ।  
तुम्हारी जावनदाया वपिके लिए नमस्कार है । जीवन नाम  
जलका है क्योंकि वह जीवन देता है । तथास्तु जावनदाजी  
है । [ वितर व रथाय नमः ] हे वितरो । तुम्हारी अन्न  
दनशाली शरद् ऋतुके लिए नमस्कार है । रथका नाम अन्नस  
है । और शरद् ऋतुमें अन्न बहुत होता है । रथका शरद्  
ऋतुभी उपलक्षण है । [ वितर व रथाय नमः ] वितरो ।  
तुम्हारी शीतयुक्त हेमन्तके लिए नमस्कार है । हेमन्तमें बड़ा  
शोर मचा पड़ता है अतः शीतसे हेमन्तका प्रमाण है । [ वितर व  
रथाय नमः ] हे वितरो । तुम्हारी मनुभूत शिशिरके लिए  
नमस्कार है । शिशिरऋतुमें औषधियाँ जल जाती हैं, अतः  
तत् सादरवशे मनु शिशिरका उपलक्षण है । [ वितर ] हे  
वितर । [ न यदाम् वत् ] हमें पर दो अर्थात् हमारे घरों-  
का समुद्र करो । [ वितर ] हे वितरो । [ वः ] तुम्हारे  
लिए [ वत दधौ ] जो कुछ हमारे घरमें है हम देंगे । हे  
वितरो । [ व एतव वास ] तुम्हारा यह घर है अर्थात् यह  
आसन पट्टरनका स्थापन है उल्लेख । शतपथ ब्राह्मणमें इस  
मन्त्रका रथस्थानमें नमः वा अर्थ दक्ष दिया है इक्ष्वाक अभिषाव  
यह प्रतीत होता है कि इन प्रारम्भिक ऋतुमें दक्ष करना चाहिये  
य उष उष ऋतुमें शरत् पदार्थकी दक्षमें इति वाचना  
चाहिए ।

## गो-संयामक पितर ।

न किरिषा निन्दिता मर्त्येषु येऽस्माकं पितरो गोपुत्राः ।

इन्द्र एषो दहिता माहिनावासुग्रीवाणि ससृजे इष-  
नावान् ॥ ऋ० ३।३।१।४३

( ये अस्माकं पितरः ) ये जो हमारे पितर (गोपुत्राः)  
इन्द्रयोसे लड़नेवाले हैं ( एषा ) इनका ( मर्त्येषु ) मनुष्योंमें  
( न कि निन्दिता ) कोई भी निन्दक नहीं है । ( माहिनावा )  
अत्यन्त पूजनीय वा महिमावाला तथा ( दधनावान् ) कर्मशाल  
( इन्द्रः ) आत्मा ( एषा गोत्राणि ) इनके इन्द्रियवस्तुओंको ( दहिता  
उत्सृज्ये ) दह बनाता है ।

इस मन्त्रमें गोशब्द इन्द्रियवाची है । इन्द्रियोंकी वप करनेके  
लिए मनुष्योंसे उनके साथ युद्ध करना पड़ता है । जो गोदा  
इन्द्रियोंपर विजय पा लेता है अर्थात् वह अपने शत्रुमें पर होता  
है, उसका पितर दुनियामें कोई भी निन्दक नहीं रहता, क्योंकि  
इन्द्रियों ही निन्दाकी जड़ हैं । इन्द्रिय-समय करना बहुत एक  
बड़ी भारी लड़ाई फतेह करना है । अतएव यहाँ इन्द्रियसमय  
करनेवाले वितरोंको योद्धाके नामसे पुकारा गया है । इन्द्रिय  
समय होनेपर आत्मा उन्हें दह बनाती है । ध्यमित इन्द्रियोंके  
पुरुषमें कुछ दुःख आदि द्वान्द्व कदापि सत्ता नहीं सकते ।  
उसका इन्द्रियवस्तु इतना दह बन जाता है कि उसे दीर्घायु  
कोई भी क्षायापि सत्ता नहीं सकती । इस प्रकार इस मन्त्रमें  
इन्द्रियसमयका महत्त्व दर्शाया है ।

## सोम और पितर ।

एव सोम प्रचिकितो मनीषा एव राज्ञेष्टमनु मेवि  
पशाम् । एव प्रणीतो वितरो न द्युषो देवेषु रत्नमन  
जम्भ धीराः ॥ ऋ० १।५।१।१५ ॥

यजु १।५।१२ ॥

हे सोम । ( एव मनीषा प्रचिकित ) तू अपने मन की  
गतिसे यानि अपनी बुद्धिसे सब उचित अनुचितको जानता है,  
इसलिए ( एव ) तू ( राज्ञेष्ट मन्त्रो ) अनुमेवि ) सरल व सुमन  
मार्गपर अपने गाछे पीछे लेजाता है । ( इदो ) हे राजा ।  
( एव प्रणीतो ) तेरे नेतृत्व से ( ना धारा पितरा )  
हमारे पीर वितर ( देवेषु रत्न मनजत ) देवोंमें रत्नको  
प्राप्त करते हैं अर्थात् देवोंमें शिरोमणि बन जाते हैं, य  
देवोंसे रत्न यानि सगरा प्राप्त करते हैं ।

इन्दु- व-दी कलेदनेसे इन्दु शब्द बनता है । कलेदनेका अर्थ है गीला होना । अमृतसे गीला करनेवाला यानि अमृत देनेवाला । सोम्य गुणोंसे युक्त ।

इस मन्त्रमें सोमके नेतृत्व की महिमा दर्शाई है । पितर सोमके नेतृत्वसे देवोंमें उच्च पदको प्राप्त करते हैं, ऐसा यहाँसे पता चलता है ।

यो न इन्दुः पितरो ह्यसु पीतोऽमर्यो मर्या

आविवेश । तस्मै सोमाय हविषा विधेम

मृळीके अरथ सुमती स्याम ॥ अ० ८।४८।१२॥

हे ( पितरः ) पितरों ! ( य इन्द्र पीत ) जो हृदयोंमें पिया गया ( अमर्यः इन्द्र ) मरणरहित इन्द्र ( न मर्यान् ) हम मरणधर्मा मनुष्योंमें ( आविवेश ) प्रविष्ट हुआ हुआ है, ( तस्मै सोमाय ) उस सोमके लिए ( हविषा ) हविषा ( विधेम ) हम पूजा करते हैं । ( अरथ ) इस सोमके ( मृळीके ) सुखमें और ( सुमती ) सुमतिमें ( स्याम ) हम रहें ।

इस मन्त्रमें सोमको इवि देनेका व सुख-सुखों सोमको पालाहमें स्तुति का निर्देश है । यह सोम हमारेमें प्रविष्ट हुआ हुआ है, यह बात भी यहाँसे पता चल रहा है ।

तव सोम पितृभिः सन्निदानोऽनु दावाधृषिवी आ तत्स्थ । तस्मै ते इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रथीणाम् ॥ अ० ८।४८।१३ यजु० १९।५४ ॥

हे सोम ! ( तव ) तू ( पितृभिः सन्निदान ) पितरों के साथ मिला हुआ ( दावाधृषिवी ) तुलोक व धृषिवा लोककी ( अनु आ तत्-स्थ ) अनुकूलतासे विस्तार करता है । ( इन्दो ) हे इन्द्र ! ( तस्मै ते ) उस तेरे लिए हम ( हविषा विधेम ) हविषोंसे पूजा करते हैं, जिससे कि ( वयं ) हम ( रथीणा पतयोऽग्राम ) धनोके स्वामी होयें । इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि सोम पितरों के साथ मिलकर पुन वृषिबीका विस्तार करता है । उसको इवि देनेसे धनसंपत्ति मिलती है ।

त्वया हि न पितरः सोम पूर्वे कर्माणि चक्रुः

पवमान धीरा । वन्वज्रवाय शरिर्धौ रथीणु

वीतेभिरदरैर्मथवा भवा ॥ अ० ९।१६।११ य

यजु० १९।५३ ॥

( पवमान सोम ) के पावित्र सोम ! [ त्वया हि ] तेरेसे ही अर्थात् तेरी सहायता द्वारा हा(न पूर्वे यथा पितर ) हमारे धीर पूर्वज पितरों ( कर्माणि चक्रुः ) अथ कर्मोंको किया ।

इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि सोमकी सहायता द्वारा हमारे पूर्वज पितर अथ कर्म करनेमें समर्थ हुए । सोम राक्ष-सोंका विनाश करता है । धीर अर्थात्वाला होकर सोमको शासक बननेके लिए कहा गया है ।

### पितृमान् सोम ।

अगनेये कथ्यवाहनाय स्वाहा सोमाय पितृमते

स्वाहा । अपहृता अर्जुना रक्षसि वेदिष्व ।

अ यजु० २।२१ ॥

उपवास बहन करनेवाली आग्निके लिए स्वाहा हो । उग्राम पितावाले सोमके लिए स्वाहा हो । ( वेदिष्व अपहृताः रक्षसि ) गृथिवीपर स्थित असुर व राक्षस ( अपहृताः ) नष्ट हो जायें । यहाँ सोमको उत्तम पितावाला कहा गया है । अग्नि व सोम धृषिबीस्य अपुर व राक्षस नष्ट करते हैं, ऐसा मन्त्रका सगति लगानेसे पता चलता है ।

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥

अ० १८।४।७२॥

अथ पितावाले सोमके लिए स्वधा और नमस्कार हो । यहाँ सोमके लिए स्वधा व नम देनेका वक्ष्य है ।

पितृभ्य सोमवज्राय स्वधा नमः ।

अथर्व० १८।४।७३॥

सोमवान् पितरोंके लिए स्वधा व नमस्कार हो । इन मंत्रोंके देखनेसे इतना स्पष्ट होता है कि सोम व पितरोंका परस्पर विशेष सम्बन्ध है । यह सोम कौन है यह कदा कठिन है अथवा कि सर्वके सामविषयक मंत्रोंका समन्वय न किया जायके ।

### अदगिरस् पितर

प्र वो मदे महि नमो भरध्वमादृग्यं दधसानाय

साम । यना न. पूर्वे पितर पद्भ्या अर्चन्तो

आह्निसो गा अविन्दन् ॥ अ० १।६२।२ ॥

यजु० ३।१।७

हे यजुष्यो ! ( यः ) तू ( मदे धरधानाय ) धने भारी बलवान् इन्द्रके लिए ( महि नमः ) महान् नमस्कार तथा ( आ-ह्वय्य सोम ) आह्वय्य सोमके सामसे ( प्रभरन् ) गायन

करके स्तुति करो ( येन ) जिस आङ्गूष्म सामद्वारा ( अचैन्तः )  
अचैना करते हुए ( नः ) हमारे ( पूर्वे पदज्ञाः अङ्गिरसः  
पितरः ) पुरातन पदज्ञ अङ्गिरस् पितरोंने ( माः अविन्दन् )  
सूर्यकिरणोंको प्राप्त किया था ।

हम पहिले भी देख आए हैं कि पितरोंके सूर्यकिरणोंके प्राप्त  
करनेका उल्लेख हमें मिलता है । यहाँपर पुनः अङ्गिरस् पितरों  
द्वारा सूर्यकिरणकी उपलब्धिका जिक्र है । आङ्गूष्म सामकी  
महिमा यहाँ व्यक्त हो रही है । अङ्गिरस् पितर किन पितरोंके  
नाम है इसका विचार हम फिर करेंगे ।

आङ्गूष्म साम-आङ्गूष्मका अर्थ है स्तुतिसमूह अथवा आ-  
घोष । आघोषका अर्थ है जोर का शब्द-आवाज ॥ देवो-निदक्त  
आङ्गूष्मः स्तोमः आघोषः । नि० अ. ११ पा० ११ खं. १२ ।  
घ. ४५। अतः आङ्गूष्मका अर्थ हुआ स्तुतिसमूहवाला या आ-  
घोषवाला यानि जो जोर जोरसे बोला गया है ऐसा । अतएव  
आङ्गूष्म सामका अर्थ हुआ कि जो सामस्तुति पूर्ण मंत्रोंसे युक्त  
है अथवा जो साम जोर जोरसे गाया गया है । क्योंकि सामसे  
हुल्ल दूर होते हैं अतः इसका नाम साम है । स्थिति खण्डयति  
दुःखानि येन तत् साम । पदज्ञ-परम पद ( परमार्थ ) को  
जाननेवाला । आत्मज्ञ । आत्मा वै पदं । कौ० १।३६।

वा० प्रथमार्थमें द्वितीयाका प्रयोग हुआ हुआ है। अथवा इसे  
पष्ठपन्त भी माना जा सकता है । गा- सूर्यकिरणे ।

ऊपरके मंत्रके भावका ही निम्न लिखित मंत्र भी समर्थन  
कर रहा है ।

य उदाजन् पितरं गोमयं वस्तुतेनाभिन्दन् परिवरसरे  
धत्तम् । दीर्घायुवमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति शुष्णीत  
मानवं सुमेधसः ॥ अ० १०।६।२१॥

( ये पितरः ) जिन अङ्गिरस् पितरोंने ( परिवरसरे ) परि-  
वरसरे ( बलं ) मेघको ( ऋतेन ) यज्ञवा सत्यद्वारा ( अभि-  
न्दन् ) विशारण किया और ( गोमयं वत् ) सूर्यकिरणरूपी धनको  
( उर आत्रन् ) प्राप्त किया ऐसे दे ( सुमेधसः ) उत्तम मेधा-  
शालि ( अङ्गिरसः ) अङ्गिरस् पितरों ! ( नः ) तुम्हारी  
( दीर्घायुवं अस्तु ) दीर्घायु होवे । ( मानवं प्रति शुष्णीत )  
तुम मनुष्य जातिपर अनुमद करो ।

इस मंत्रमें भी पूर्वोक्त मन्त्रप्रकार अङ्गिरस् पितरों द्वारा  
मेघमेदन करके सूर्यकिरणोंको प्राप्त करने उल्लेख है । बाध ही ऐसे

पितरोंकी दीर्घायुकी प्रार्थना की गई है व उनसे मनुष्यजाति-  
पर कृपादृष्टि रखनेको कहा गया है ।

‘चावापृथिवी अनु मा दीधीधा विश्वे देवांसो

अनु मा रभश्चम् । अङ्गिरसः सोम्यासः

पापमर्छित्वपकामस्य कर्ता ॥ अथर्व० २।२।१५ ॥

( चावापृथिवी ) शु और पृथिवी ( मा अनु दीधीधा ) मेरे  
अनुकूल प्रकाशित होंगे । ( विश्वे देवांसो ) हे सब देवों ।  
( मा अनु रभश्चम् ) मेरे अनुकूल कार्यका प्रारंभ करो ।  
( अङ्गिरसः सोम्यासः पितरः ) हे अङ्गिरस् तथा सोम  
संघादन करनेवाले पितरों । ( अपकामस्य कर्ता ) बुरी कामना-  
ओंका करनेवाला ( पावं आ ऋच्छतु ) पापको प्राप्त होंगे ।

इस मंत्रमें अङ्गिरस् पितरोंसे प्रार्थना की गई है कि वे  
पापकामनाओंके करनेवाले को पापके कुण्डमें डाल दें ताकि  
आपसे वह पापकामनायें करना भूल जावे ।

अङ्गिरसो नः पितरो नवरवा अथर्वाणो

भृगवः सोम्यासः । तेषां वयं सुमतौ पश्या-

नामवि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ अ० १०।१।११ ॥

अ० १८।१।५८ ॥

यजु० १९।५ ॥

( नः नवरवाः अथर्वाणाः भृगवः सोम्यासः अङ्गिरसः  
पितरः ) हमारे नवरवा, अथर्वा, भृगु, सोम संघादन करनेवाले  
अङ्गिरस् पितर हैं । ( वयं हम ) तेषां उन उपरोक्त  
विशेषणविशिष्ट पितरोंकी ( सुमतौ ) उत्तम सलाहमें और ( भद्रे )  
कल्याणकारी ( सोमनसे ) उत्तम संकल्पमें ( स्याम ) स्थित  
होंगे ।

इस मंत्रमें पितरोंकी शुभ सलाहमें तथा शुभ संकल्पमें रह-  
नेका निर्देश किया गया है ।

‘नवरव’ शब्दपर बोधात्वा निर्देश हम कर आए हैं । इस-  
पर विशेष विचार अपेक्षित है ।

अथर्वाणः—‘अथर्वाणोऽथर्वन्तः’ धर्वातिधरति कर्ता  
तत्प्रतिषेधः ॥’

नि० १।१।१८ ॥

अर्थात् अथर्वन् अथर्वणवाले यानि शिवर नियमप्रकृतिके  
होते हैं । चलनापैक यहाँ धातुके सर्वन् शब्द बनता है । जो  
निश्चल हो वह अर्वा ।

भृगवाः—आधिपि भृगुः संवभूव । भृगुः भृगुग्रामाः,  
न देहे । नि० ३।३ ॥

अर्थात् भृगु ऋषि उवाचाओंमें पैदा हुआ था । भृगुका अ.  
है जो आगमें भुना हुआ हो, अतएव इसकी शरीरमें आस्था  
नहीं होती ।

यज्ञियः—यज्ञके योग्य-पूजा, दान सत्कारादिके योग्य  
अथवा वस्त्रमें बैठने लायक ।

### पितरोंकी उत्पत्ति ।

अब आगे उन मंत्रोंका उल्लेख किया जायगा जो कि अमृतक  
के विभागमें नहीं आ सके हैं । यद्यपि इन मंत्रोंमें पितृ शब्द  
बहुवचनान्त हो प्रयुक्त हुआ हुआ है तथा ये मंत्र पहिले दिए  
गए मंत्रोंका सा ही महत्व भी रखते हैं परन्तु हमने जो मंत्रों-  
के विभाग बनाए हैं उनमेंसे किसीमें भी ये नहीं आसके हैं और  
अतएव ऐसे बचे हुए मंत्रोंको इकट्ठा कर उपरोक्त शीर्षकके नामसे  
यथापि दिया गया है ।

निम्न लिखित मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिबन्धी निदेश  
मिलता है ।

नवभिरस्तुवतः पितरोऽस्तुवन्मन्त्राविराजिपराश्रीत्  
यजु० १४।२९ ॥

( नवभिः अस्तुवतः ) नव प्राणोंसे प्रजापतिने स्तुति की  
अध्वरे ( पितरः अस्तुवन्तः ) पितर उत्पन्न हुए । [ अविति  
अधिपरां आधीत् ] प्रजापतिकी अध्वर्यु शक्ति पालन करने—  
वाली थी ।

इस मंत्रकी व्याख्या वा० टी० ३।१० में है । शतपथ के  
अनुसार यह अध्याय सृष्टि-उत्पत्तिपर प्रकाश डाल रहा है ऐसा  
ज्ञात होता है । इस अध्यायकी व्याख्या प्रारम्भ करते हुए शतपथ  
ब्राह्मणने लिखा है कि 'अथ सृष्टीरुपदेशाति । एतद् ब्रह्मापतिः  
सर्वाणि भूतानि पाप्मनो मृत्योर्मुक्त्वा कामयत प्रजाः सृजेय  
प्रजायेयेति' इत्यादि ।

\* नवभिरस्तुवतः की शतपथने निम्नलिखित व्याख्या की  
है— नवभिरस्तुवतेति । नव वै प्राणाः उपत शीर्षवत्यो हो  
तेरे तदस्तुवतः ।

इस मंत्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि ऋतु, सूर्य, चन्द्र  
आदि अन्योकी तरह पितरोंकी भी खास रंग से उत्पत्तिहोती

होगी, क्योंकि सामान्य मनुष्यकी उत्पत्ति में पितरोंकी उत्पत्ति  
का समावेश हो सकता था, फिर भी इस मंत्रमें विशिष्ट रूपसे  
पितरोंकी उत्पत्ति उल्लेख किया गया है ।

वदामेनामृतमामृतं मृत्युमुपासते ।

चोदं सर्वममवद् देवा मनुष्या अमृताः

पितर ऋषयः ॥

अथर्व० १०।१०।२६ ॥

[ वशां एव अमृतं आहुः ] वशाको ही अमृत कहते हैं और  
[ वशा मृत्युं उपासते ] वशाको ही मृत्यु मानते हुए उसकी  
उपासना करते हैं । [ देवाः मनुष्याः अमृताः पितरः ऋषयः ]  
देव, मनुष्य, अमर, पितर तथा ऋषिगण [ इदं सर्वं ] यह सब  
[ वशा अभवत् ] वशा ही हुई हुई है ।

इस मंत्रसे हमारा इतना ही अभिप्राय है कि पितर भी वशा  
से उत्पन्न होते हैं ।

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।

उच्छिष्टाजज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिवि भ्रिताः ॥

अ० १।१।२७ ॥

[ देवाः पितराः मनुष्याः ] देव, पितर, मनुष्य [ ये च ]  
और जो [ गन्धर्वाप्सरसः ] गन्धर्व तथा अप्सरस हैं वे तथा  
[ दिवि भ्रिताः ] युद्धों के आश्रयमें स्थित [ देवाः ]  
सूर्य चन्द्र आदि देवगण हैं [ सर्वे ] ये सब [ उच्छिष्टाज ]  
उच्छिष्ट से [ जज्ञिरे ] उत्पन्न हुए हैं ।

उच्छिष्ट यह परमात्मा का नाम है क्योंकि परमात्मा उद्  
अर्थात् सबको उत्कमण करके भी शिष्ट अर्थात् शेष बच रहा है ।

यहोपर उच्छिष्टसे पितरों की उत्पत्ति दर्शाई गई है ।

इस प्रकार इन मंत्रोंमें पितरोंकी उत्पत्तिविषयक वर्णन  
मिलता है ।

### दक्षिणा च पितर ।

एवमगर्ग दक्षिणा मद्रतो नो अनेन दत्ता सु-  
दुष्ठा बधोधाः । यौवने जीवानुव वृष्यता जरा  
वितृष्यः उव सेवराणयादिमान् ॥

अथर्व० १८।१।५० ॥

[ सुदुष्ठा ] उत्तम तथा कामनाओं को पूर्ण करने-  
वाली [ बधोधाः ] अन्नको देनेवाली [ अनेन दत्ता ]  
इससे भी हुई [ इयं दक्षिणा ] यह दक्षिणा [ मद्रतः

नः आ आगन् ] कल्याणकारी स्थानसे अथवा कल्याणकारी स्वरूपसे हमें प्राप्त हुई है। इससे हमारा जन्मस्थान नहीं होगा। [ यौवने जीवान् उपपृञ्चती जरा इव ] जिस प्रकार युवावस्था के चले जानेपर जीवोंकी उद्भावस्था अवश्य आती है, उस प्रकार यह दक्षिणा [ इमान् ] इन जीवोंको [ पितृभ्यः ] पितरों के लिए भली प्रकार [ उप संपराणयात् ] प्राप्त कराने अर्थात् पितरों के पास उत्तम रीतिसे पहुँचाने।

इस मंत्रमें स्पष्ट शब्दोंमें दक्षिणाका माहात्म्य दर्शाया गया है। दक्षिणा देनेसे पितरों की प्राप्ति होती है। जिस प्रकार युवावस्था के चले जानेपर उद्भावस्था अवश्यभाविली है, उसी प्रकार दक्षिणा देनेवाले की पितरों की प्राप्ति भी अवश्यभाविली है एसा इस मंत्रमें उपमाद्वारा स्पष्ट सूचित किया गया है। पाठक दक्षिणाके इस महत्त्वपर अवश्यमें विचार करें।

### मरने पर पितरों में गणना।

पृथिवी त्वा पृथिव्यामविद्ययामि देवो नो धाता प्रसिरायायुः। परारैता यमुविदु वो अस्यथा मृतः पितृन् संभवन्तु ॥ अथर्व० १८।१।७८॥

( पृथिवी त्वा पृथिव्यामविद्ययामि ) मिट्टी से बने हुए है मृतपुरुष। तुमको मिट्टी में मिला देता हूँ अर्थात् तुम पृथिवी में गाढ़ता हूँ। ( धाता देवः नः आयुः प्रसिराति ) धारक देव हमारी आयु को बचाने। हे ( परारैताः ) प्रकृततया हम से बुरे बने गए पितरों! ( वः ) तुम्हारे लिए धाता देव ( यमुविदु अस्तु ) वायु करनेवाला हो, तुम्हारा आश्रय-दण्ड हो। ( अप ) और ( मृतः ) मृत ( पितृन् संभवन्तु ) पितरों में अगली तरह होवें अर्थात् पितरों में जा मिलें।

इस मंत्र के प्रारंभ में मृत देहके गाढ़ने का निर्देश मिलता है। वह मानव देह पृथिवी तल्लो के आधिक्य से बना हुआ है, अतएव पृथिवी मृत देहको पृथिवी ( मिट्टी ) के नाम से पुकारा गया है। इसी भावसे निम्न लिखित दोहे में कहा गया है—

### अश्विनौ तथा पितरः।

युवं भुज्यं भुरमाणं विभिर्गतं स्वयुक्तिभिर्विराजता पितृभ्यः आ। यातिष्ठं वारिर्तृपणा विजेत्यन् दिवो-  
दासाय महि चेति वामवः ॥ अ० ११।१।१५॥

( तृपणा ) हे कामनाओं की पूर्णा करनेवाले अश्विनौ! ( युवं ) तुम दोनों ( भुरमाणं ) पुष्टिकारक ( भुज्यं ) भोगलाभक और जो कि ( विभिः गतं ) घोंघों द्वारा लादकर लाया जाता है, ऐसे पदार्थों को ( स्वयुक्तिभिः ) अपनी युक्तियों अर्थात् दोबनाओं द्वारा ( पितृभ्यः ) पितरों के लिए ( आ निः वरन्तौ ) चारों ओर से लाकर पहुँचाते हो। इसलिए ( विजेत्यन् वरितः ) दूरस्थ विद्यमान पदार्थों के लाने के लिए ( यातिष्ठं ) जाओ। ( दिवोदासाय ) दिवोदासके लिए ( वा अवाः ) तुम्हारा संरक्षण ( महि ) प्रधान है वह सब की ( चेति ) मायन है।

दिवोदासः—प्रकाशका देनेवाला, चाहे वह ज्ञान प्रकाश हो वा अन्य कोई हो।

इस मंत्रमें पितरों के लिए भोग्य पदार्थ अश्विनौ पहुँचाते हैं ऐसा उल्लेख है।

### सरस्वती और पितरः।

सरस्वती या सरयं यथाय स्वभाभिर्दिवि त्रिभुभिर्मरुतो।  
आसत्पारिमन् चर्दिषि मात्पस्वानमीवा इव आपेक्ष्यन्ते

अ० १०।१।७७॥

यह मंत्र योहेये पाठभेदके ध्यान अथर्ववेदमें इस प्रकार आया है—  
सरस्वति या सरयं यथाय स्वभाभिर्दिवि त्रिभुभिर्मरुतो। सहाप्रापंमिदो अत्र भागं रापस्तोः  
यजमानाय वेदि ॥ अथर्व० १८।१।१५॥

( सरस्वति दिवि ) हे सरस्वती देवी! ( वा ) जो व ( त्रिभुभिः ) स्वभावभिः मरुतो ) पितरोंके साथ मिलकर स्वभावभिः श्रेष्ठ-  
न्दित होती हुई ( यत्र ) पितरोंके पास यमान स्वर आरोहण करती हुई ( यत्र ) आरंभ ( कर्म ) चर्दिषि ) इस वस्त्रमें ( आपय ) बैठकर प्रवृत्त हो। ( माने )



इस यज्ञमें [ यजमानाय ] यजमानके लिए [ सहस्रार्थे इयः भाग ] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको और [ रायस्वीय ] धनकी प्रशिक्षा [ चेदि ] दे । इस यज्ञमें सरस्वतीका पितरोंके साथ समान रूपपर चढ़ना, स्वधा खाना व यज्ञमें आना दर्शाया गया है ।

सरस्वतीं यो विधरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणा ।  
सहस्रार्थमिलो अन्नभाग रायस्वीय यजमानेषु चेदि ॥

अथर्वं १०११७१॥

सर्ववैवर्तमें यह मन्त्र सादेसे पाठभेदके साथ है-

सरस्वतीं विधरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणा ।  
आसपास्मिन् चार्हसि मावृषध्वमनवीवा इष अधेह्यस्ते ॥  
अथर्वं १०११४२॥

[ दक्षिणा ] दक्षिण दिशासे आकर [ यज्ञ अभिनक्षमाणा पितर ] यज्ञको सब ओरसे प्राप्त करते हुए पितर [ यो सरस्वतीं हवन्ते ] जिस सरस्वतीको सुलोक है, ऐसी है सरस्वती । [ अन ] वहा इस यज्ञमें [ यजमानेषु ] यजमानोंमें [ सहस्रार्थे इयः भाग ] हजारोंसे पूजनीय अन्नके भागको तथा [ रायस्वीय ] धनकी प्रशिक्षा [ चेदि ] दे ।

पितरोंकी दक्षिण दिशा है यह हमें आज वेदयज्ञ दर्शाते हैं, अतः हमने ऊपर दक्षिणके सप्त [ आगत्य ] आकर इतना अभ्युक्षार करके अर्थ किया है । इस यज्ञमें पितर सरस्वतीको यज्ञमें सुलात है यह दर्शाया गया है ।

इद से हव्य घृतवत् सरस्वतीद पितृणां हविशस्य यत् ।

इमानि ते ऊहिता शतमानि समिर्वयं मनुमन्त स्वाम ॥

अथर्वं ७८८१२॥

[ सरस्वति ] हे सरस्वती ! [ इद ते घृतवत् हव्य ] यह तेरे लिए घृतवाला यानि पीछ मिश्रित हवा है । [ गव इद हवि पितृणां आस्य ] जो यह हवि पितरोंके लिए दिया जानवाला है । [ इमानि ते शतमानि ऊहितानि ] ये घरे लिए कल्याणकारी वचन हैं । [ समि ] इनसे [ वय ] हम [ मनुमन्त स्वाम ] मनुष्य बनें ।

आस्य-अस्य क्षेपण से बना है । शब्दार्थ कैसा जानवला है, भावार्थ दिया जानवाला ।

इस यज्ञमें पितरोंके लिए जो हव्य दिया जाता है, यह सरस्वतीको भी दिया जाता है यह दर्शाया गया है और साथ ही में सरस्वतीको हव्यादि देनेका काम दर्शाया है ।

१५ ( अ. घ. भा. की १८ )

इस प्रकार इन उपरोक्त मंत्रोंसे सरस्वती व पितरोंका सम्बन्ध विशेष है यह हमें वहा स्पष्ट पता चलता है ।

## गौ व पितर ।

देवा विधरो मनुष्या गन्धर्वास्तस्मै ॥

स खा सर्वे गोप्यन्ति सावित्राश्रमतिव्रत ॥

अथर्वं १०११९॥

( देवा पितर मनुष्या ) देव पितर, मनुष्य ( व च ) और जो ( गन्धर्वासरस ) गन्धर्व तथा अप्सरस् हैं, ( ते सर्वे ) व सब खा गाएयान्त । तुम गौकी रक्षा करो, ( सा ) यह तू ( अतिरात्र ) अतिरात्र नामक यज्ञको ( अतिव्रत ) आश्रमसे प्राप्त कर ।

यहाँपर अतिरात्रमें आवेवाली गौ की पितर भी रक्षा करते हैं ऐसा दर्शाया है ।

प्रजापतिर्महामेवा रराणो विश्वैर्देवैः पितुभिः सविदान ।

मित्रा सतीरुप नो गोप्यमाकलावर्षय प्रजया स तदेव ॥

अथर्वं १०१६१४॥

[ प्रजापति ] प्रजापति [ विश्वे देवैः पितुभिः सविदान ] सब देवों व पितरोंके साथ विश्व हुआ एक मन्त्रके [ मया ] मेरे लिए [ एता ] य गावें [ रराण ] रक्षा है । वह प्रजापति [ मित्रा सती ] कल्याणकारिणी होता हुई उन गौओंको [ न ] हमारे [ उपगोष्ठ आ अक ] गोष्ठके समाप्त कर अर्थात् हमारे गोष्ठमें वे गौयें स्थित होवे । और इस प्रकार उन गोष्ठोंके प्राप्त करनेपर [ वय ] हम [ तामां प्रजया स तदेव ] उन गौओंकी सत्तानसे सगत होवें अर्थात् उन गौओंका सत्तान हमें प्राप्त होती रहे ताकि ऐसी गौओंका बशोऽब्ज न हो जावे ।

गोष्ठ-जहाँपर गौयें बाधा जाता है, उस स्थानको गोष्ठ कहा जाता है ।

इस यज्ञमें उत्तम गौयें पितरोंकी सहयतिव हमें मिलती हैं, यह दर्शाया गया है ।

## इन्द्र च पितर ।

स शु अश्वीन नृवस्य मद्राग्यतो वीर काश

धाया । स्व दासि प्रक्षिपि पितृणां राश्वद्

मभूष सुख पथे ॥

अथर्वं १०११८॥

हे वीर इन्द्र ! [ स ] यह [ अश्वीन ] हस्तियों वा शिल्पियों वा धारक हैं [ नृवस्य मद्राग्यतो ] नवनयनको प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालेकी अपवा

नवीन रक्तेन करनेकी इच्छावशसे थी ( शुद्धि ) प्रार्थनासे सुन ( हि ) क्योंकि ( आ इष्टे ) आग्रहजन करनेपर अधवा रामनाक होनेपर ( द्युः हवः ) सुखसे सुखाने योग्य ( ह्यं ) ५ ( पितृणां प्रदिवि ) पितरोंके प्रकट व्यवहारमें ( पादवत् ) सदा ( आविः ) बन्धु वशास रहनेवाला ( बभूव ) होता है ।

इस मंत्रमें इन्द्रकी पितरोंका बन्धु कहा गया है । क्योंकि यह पितरोंको उनके कार्योंमें बन्धुवत् सहायता करता है ।

शुद्धी ली प्रकृणा वाः पितृणामक्षमस्यैव न  
किंकारिदपि । यच्छस्त्ररीषु वृद्धता रवेनेन्द्रे  
दुष्मन्मदधाता वसिष्ठाः ॥ अ० ८।१३।४ ॥

( वसिष्ठाः ) हे उत्तम वास करनेवाले । ( यत् ) क्योंकि तुम्ह ( प्रश्नरीषु ) ऋषाओंके अर्थात् ऋषाओंमें नानमें ( वृद्धता रवेण ) यह भारी शस्त्रसे यानि ऋषाओंके ऊँचे स्वरमें गानेसे ( इन्द्रे शुभम् ) इन्द्रमें बलकी ( अदधात ) स्थापित करते हो, अतः हे ( वसः ) नेतागणों । ( शुद्धी ) प्रसन्नता वा सेवासे और [ मादृणाः ] ज्ञान-युक्त [ वा विद्वन् ] तुम्हारे पितरोंका [ अक्षयं अक्षं ] न मरने होनेवाले अक्षको [ तिल ] मिथरसे [ न रिषाव ] नष्ट होने नहीं देते । इस मंत्रमें हेनिषोंके लिए पितर आया है एसा प्रतीत होता है । यह मंत्र पूर्ण करके १२८ नहीं हुआ है ।

### नवम्य पितर ।

तमु मेः पूर्वे पितरो नवम्याः सप्त विद्यासो  
अभिवाचयन्तः । नक्षत्राणि तमुर्नि वसतेऽस्मान्-  
शेषवर्षं मतिभिः ध्रुविष्यन् ॥ अ० १२१।१३  
अथर्व० १०।१३।१३

मत्सो नवमीतगतयो वा । अर्थात् नवम्यकारकी गतिसे अथवा नवमीत यानि मक्षरन जैसी गतिवाले नक्षत्राचरनवाते । महर्षि स्वामी दयानन्दजीने ' नवीन गतिवाते ' ऐसा अर्थ किया है ।

सायणाचार्य निम्नलिखित अर्थ करते हैं—नवम्याः नवमिर्मात्रेः सप्तमसुसिद्धान्तः । अर्थात् जो नवमासवासे पद [ वसिष्ठेण ] के करनेवाले हैं ।

इस मंत्रमें आगमाका वर्णन व ' सप्त विद्यासः ' के ५ ग्रन्थ, मन व बुद्धिका अभिप्राय है । और इस प्रकार मंत्रमें ज्ञानोंके पितरोंके कहा गया जान पड़ता है ।

### काम और पितर ।

कामो जप्ते प्रथमो मेन देवा आहुः पितरो न  
मर्याः । पठस्वमेसि उषामात्र विच्छा महीतरे  
व काम नम इत् कृणोमि ॥ अ० १।१।१४

[ यमः प्रथमः जप्ते ] काम प्रथम पैदा हुआ । [ एवं ] एक को [ न देवाः आहुः न पितरः न मर्याः ] न तो देवों की पावा, न पितरोंके और नहीं मनुष्योंके । ( ततः ) इस प्रकारसे वे काम । त् ( विच्छा ) सब प्रकारसे ( उषामात्र ) कहा है । हे महान् काम । ( तस्मै ते ) तबसेरे लिए ( नमः इत्कृणोमि ) मैं नमस्कार करता हूँ ।

नक्षत्र कामकी जाननेमें पितरों की भी अथर्ववेदा रक्षित करने हैं ।

### मणि और पितर ।

ये देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा ।  
स यावन्मणि रोहणु मणिः भिक्षया च पूर्यते ॥  
अथर्व० १०।१।१४

## महौदन पाचक पितर ।

वरुः प्रथम महा। महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकुलस्य  
लोके। पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पत्न्य पम्बदशस्ते  
अस्मि ॥ अथर्व १११११९॥

हे महौदन ! [ सहस्रपृष्ठः ] हजारों पीठोंवाला अर्थात्  
अत्यंत फैला हुआ तू [ सुकुलस्य लोके ] सुकुलके लोकमें [महता  
महिम्ना] अपनी बड़ी भारी महिमासे [वरुः] विस्तारमें होता  
हुआ [प्रथम] फल । [पितामहाः पितरः प्रजा उपजा]।  
पितामहोंका समूह, पितर, संतति तथा संततियों संतति और  
[पंचदशः अहं] पंचदश में [ते पत्न्या अस्मि] तेरा पकाने  
वाला हूँ ।

पंचदश—पंद्रहवां अथवा ५ प्राण, ५ इन्द्रियां व ५ मूर्तें  
बना हुआ ।

इस मंत्रमें पितामह, पितर आदियोंको महौदन पाचक  
कहा गया है । अर्थात् ये सब महौदन पकाते हैं ।

## महाचारी व पितर ।

महाचारिणं पितरो देवजनाः पुष्टां देवाः अनु-  
संपन्ति सर्वे । गन्धर्वा युनमन्वायन् प्रवर्तिनमत्र  
प्रितायाः वद सहास्रः सर्वान्ति स देवास्तपमा  
विपति ॥ अथ १११११२॥

[पितरः देवजनाः देवाः] पितर, देवजन तथा देव [सर्वे]  
ये सब [पुष्टाः] अन्न अर्थात् स्वयं रूपसे [महाचारिणं  
अनुसंपन्ति] महाचारीकी रक्षार्थ अनुगमन करते हैं । [गन्ध-  
र्वाः एनं अनुभावन्] गन्धर्वगण इस महाचारीके पीछे  
पीछे चलते हैं । ( वद सहास्रः प्रितायाः प्रयाः प्रियत् ) हे हजार  
सीस सौ तैरो ( १३१२ ) ( अहं देवान् ) इन सब देवोंको  
( वाः ) वह महाचारी ( तपसा विपति ) अपने तप द्वारा पून  
करता है—पलन करता है ।

इस मंत्रमें देवांवा गया है कि पितर भी महाचारीको  
रक्षाके लिए उसके पीछे पीछे सरा । करते करते है ताकि महा-  
चारीको किसी भी प्रकार का कष्ट न पहुँच सके ।

## पितरों की शक्ति का नियंत्रण ।

मा छेप ११मी ११विनाथमानाः विपुला  
शचीपुत्राः प्रमाणाः । इन्द्राग्निर्वा कं पुत्रको महन्ति  
पा छी पितृनाथाः उपरये ॥ अथ १११११३॥

( ११मी नू मा छेप इति नाथमानाः ) संनिरूपी रश्मियोंको  
हम मत काटे, इस प्रकार शचना करते हुए, तथा ( विपुला  
शचीः अनुपच्छमानाः ) पितरोंकी शक्तियोंको नियंत्रित करते  
हुए और अतएव ( वृषणः ) वीर्ययुक्त हुए हुए ( पिपनाथाः  
उपरये ) बुद्धिके समीपमें अर्थात् बौद्धिक कार्योंमें ( इन्द्राग्निर्वा )  
इन्द्र व अग्नि से ( कं महन्ति ) मुख प्राप्त करके प्रसन्न होते  
हैं । ( दि ) निष्पद्य से [ ती ] वे इन्द्राग्नी [ अग्नी ] न नष्ट  
होनेवाले हैं ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि न तो सर्वथा संततिका  
उच्छेद ही करना चाहिए और नही सर्वथा सतति की वृद्धि ही  
करनी चाहिए । पितरोंकी शक्ति अर्थात् उपायक शक्तिका निय-  
न्त्रण करना चाहिए, जिससे बुद्धि की व बलकी वृद्धि होती है ।  
यही पितरों की शक्तिके उपायक शक्ति का अभिप्राय है ।

## देवों के पितर ।

ये धो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे  
भ्युवैपुमुक्तम् । सर्वेभ्यो वाः परि दशाम्येव  
स्वस्वयेनं जरासे वहाय ॥ अथर्व १११११४॥

[ देवाः ] हे देवो ! [ ये वाः पितरः ये च पुत्राः ] जो तुमारे  
पितर हैं और जो पुत्र हैं वे सब तुम [ सचेतसो मे  
भ्युवैपुमुक्तम् ] मेरे इस कथनको ( भ्युवैपु ) धनो ।  
( वाः सर्वेभ्यः ) तुम सबके लिए मैं ( एतं ) इस अनुबंध  
( परिदशाम्येव ) घोवता हूँ, ( एनं ) इसे ( दशाम्येव ) दशान  
पूरेक ( जरासे वहाय ) दशवर्षोंके लिए पड़ूँ और अर्थात् वह  
दशवर्षोंवा आनेके पूर्व ही अष्टाध्वं मरने न पाये ।

परिदशाम्येव शब्दके लिए घोवता हूँ । परिदशार्थात् दश  
आयुष्य अर्थ ( दशवर्ष देना है । इस मंत्रमें देवोंके पितर व  
पुत्रोंका उल्लेख है ।

देवाः पितरः पितरो देवाः । वा अस्मि मा  
अस्मि । अथर्व १११११५॥

( देवाः पितरः ) देवगण पितर दे और ( पितरः देवाः )  
पितर देव हैं । ( वा अस्मि ) जो वे हूँ ( वा अस्मि ) वह  
मैं हूँ ।

आयुष्यकाईय इस संबन्ध १११११५ इस उक्त ११११५ दे-  
को देव वदुष्टाद क इ है इति ११११५ दे मर

हमारे पितरों के वसुहृद्वादि रूप हैं । इस प्रकार परस्परके व्य-  
तिहारसे पितरोंका देवात्मक होना दृढ़ किया है । [ य. अरिम् ]  
जिसका मैं हू उसका ही मैं हू । अर्थात् एक ही पिताका हू ।  
क्योंकि रिश्ता सभाषित व्यतिक्रम होती है अतः मैं निश्चयसे  
कहता हू कि मैं अपने पिताका ही पुत्र हू । अपने इस अभिप्राय  
की पुष्टि के लिए सायणाचार्यने मीमांसा सूत्रका प्रमाण दिया है—  
'स्वपरायात् कर्तुं च पुत्रदर्शनात्' ।

अस्तु, इस मन्त्रका अभिप्राय हमें इतना देखता है कि पितर  
देवताको प्राप्त होते हैं । इस मन्त्रके अभिप्रायवाले और मन्त्र  
पहिले आचुके हैं ।

### पितरोंके ऊर्ज, रस आदिके लिए नमस्कार ।

नमो व पितर ऊर्जे नमो व पितरो रसाय ॥

अथर्व० १८।४।८॥

[ पितर. ] हे पितरो ! [ व ऊर्जे नम ] तुम्हारे अन्न वा  
बलके लिए नमस्कार है । [ पितर ] हे पितरो ! [ व रसाय  
नम ] तुम्हारे रस-अन्नरस [ तुम्हारे आदि ] के लिए नम-  
स्कार है ।

नमो व पितरो भामाय नमो व पितरा मन्थवे ॥

अथर्व० १८।४।८२॥

[ पितराः ] हे पितरो ! [ व ] तुम्हारे [ भामाय ] क्रोध-  
क लिए नमः । नमस्कार हो । [ पितर ] हे पितरो ! [ व ] तुम्हारे  
[ मन्थवे ] मन्थुके लिए [ नम ] नमस्कार हो । भाम तथा  
मन्थु दोनों क्रोधक विशेष भेद हैं । भाम साधारण क्रोधका नाम  
है । मन्थुको हम सार्विक क्रोध कह सकते हैं ।

नमो व पितरो यद् यो र तस्मै नमो व पितरो यद्  
मू तस्मै ॥

अथर्व० १८।४।८३ ॥

[ पितर ] हे पितरो ! [ यः ] तुम्हारा [ यद् यार ] जो  
कर्म है [ तस्मै ] उसके लिए [ नम ] नमस्कार है । [ पितराः ]  
हे पितरो ! [ व ] तुम्हारा [ यद् यूर ] जो कूर कर्म है,  
[ तस्मै ] उसके लिए [ नम ] नमस्कार है ।

स्योन ] जो सुखमय कर्म है [ तस्मै नमः ] उसके लिए  
नमस्कार है ।

इस प्रकार इन मन्त्रोंमें पितरोंके विविध कर्मोंके लिए नमस्कार  
किया गया है ।

### पितरोंका इष्टापूर्त ।

अशीतिभिः तिसृभिः सप्तमेभिरादित्येभिर्व-  
सुभिराङ्गिरोभिः । इष्टापूर्तं भवतु नः पितृणामामृतं  
हरसा दैव्येन ॥ अथर्व० २।१२।४ ॥

[ तिसृभिः अशीतिभिः ] तीन अशीतियोंके साथ, [ सप्त-  
मेभिः ] सप्त गायकोंके साथ, [ आदित्येभिः ] आदित्योंके  
साथ, [ वसुभिः ] वसुओंके साथ तथा [ अङ्गिरोभिः ] अङ्गि-  
रियोंके साथ मिलकर [ पितृणां ] पितरोंका [ इष्टापूर्तं ]  
इष्टापूर्तं [ नः भवतु ] हमारा रक्षा करे । [ दैव्येन हरसा ]  
दिव्य तेजस्वियों [ अमु ] इस दुष्ट पुरुषको [ आदित्ये ] महान  
करता हू अर्थात् उसका नाश करता हू ।

इष्टापूर्तका लक्षण निम्न लिखित है—

आग्नेहोत्रं तपः सार्यं वेदानां चानुपाकनम् ।

आतिथ्यं वैश्वदेव च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥

पात्रीकृष्यवशागादि देववायवनाग्नि च ।

अन्नप्रदानमाहामा पूर्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

इस मन्त्रमें पितरोंका इष्टापूर्त हमारा रक्षण करता है यह  
दर्शाया है । पुत्रोंके रक्षणार्थ पितरोंको इष्टापूर्त करना चाहिए  
ऐसी प्रतिष्ठावि यद्वा विनिकलती है ।

यदीदं मातुर्गृही वा पितु न परिज्जातः

पुत्राश्चैतन् एव भागन् । यावन्तो मस्मान् पित्राः

सघन्त सेना सर्वे यो शिवो भवतु मन्तुः ॥

अथर्व० २।११।११॥

[ यदि यद् इद एन ] यदि यह जो पाप [ नः मातुः, पितुः ]  
मातृ, पुत्रात् चतस्रः वा ] हमारी माताके पापसे, पिताके पाप  
से, आर्षके पापसे, पुत्रके पापसे अथवा मनके पापसे [ परि  
भागः ] प्राप्त हुआ है अर्थात् इनके कारण यह पाप आया है,  
तो [ यावन्तः पितर ] अस्मान् सघन्ते ] जितने भी पितर हमारे  
साथ सघत हुए हुए हैं [ ते यो सर्वान् ] उन सबका ( मन्तुः )  
श्रेष्ठ ( शिवः अस्तु ) कल्याणकारी होवे । उल्लेख हमारा  
पुत्राश्च नमः है वे पाप ।

इस मंत्रमें पापके कारणसे उत्पन्न पितरोंके कोषको ज्ञात करके उसे कल्याणकारी बनानेकी प्रार्थना है ।

### पितरोंसे मिलकर श्रेष्ठ होना ।

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मास्ते न  
यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्य ॥ अ० १८।१।८६॥

( ये पितरः अत्र ) ये जो अन्य पितर वहाँ हैं और ( ये ) जो ( यूयं पितरः ) तुम पितृगण [ अत्रस्थ ] यहाँपर हो, [ ते ] वे अन्य पितर [ युष्मात् अनु ] तुम्हारे अनुकूल होंगे और [ यूयं ] तुम [ तेषां श्रेष्ठाः भूयास्य ] उनमें श्रेष्ठ होवो ।

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः । अस्मास्तेऽनु  
वयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्य ॥ अ० १८।१।८७ ॥

[ ये ] जो [ पितरः ] पितृगण [ इह ] यहाँ हैं उनके अनु-  
महसे [ वयं ] हम [ इह ] यहाँ [ जीवाः स्मः ] जीवित हैं,  
( ते पितरः अस्मात् अनु ) वे पितर हमारे अनुकूल बने रहें ।  
( वयं ) हम ( तेषां श्रेष्ठाः भूयास्य ) उनमें श्रेष्ठ होंगे ।  
अथवा वे हमारे अनुकूल हों और हम उनके । दोनों मिलकर  
परस्पर श्रेष्ठ होंगे ।

इन मंत्रोंमें पितरोंके साथ पारस्परिक अनुकूल व्यवहारसे  
श्रेष्ठ बननेका उद्देश है ।

### पितरोंके लिए धन, चल व आप्त ।

दध्नाः देवः सविता यद्वीर्यं दधत् रत्नं दधत्  
विभूष्यः आर्युषि । विद्यात् सोमं समदेनमिष्टे  
परि उमा चित् कसले अस्व धर्म्ये ॥

उमा चित् कसले अस्व धर्म्ये ' से यह भी स्पष्ट पता चलता  
है कि पृथिवी सूर्यके चारों ओर परिक्रमा करती है । पृथिवीके  
सूर्यके चारों ओर घूमनेके भौगोलिक सिद्धान्तसे यह नक्षत्र पुष्ट  
कर रहा है । उमा चन्द्र विष्णुमें पृथिवीवाची नामोंमें पठित  
है ।

### पितर व तृतीय ज्योति ।

एतद् वा ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चोदनं मन्त्रेणऽने  
ददाति । अथ स्वमांस्वयं इति उमास्मिन्नेके  
प्रधानेन दत्ताः ॥ अथर्व० १।१।११॥

( पितरः ) वे पितरों । ( वः ) तुम्हारे लिए ( एतद् तृतीयं  
ज्योतिः ) यह तीसरी ज्योति परमात्मा ( मन्त्रेण ) मन्त्रज्ञानार्थ  
( पञ्चोदनं अर्चः ) पंचोदनवाले अर्चात् ५ भूत से बने घसीर से  
गुण जन्मरहित जीवमाद्यो ( ददाति ) देता है । ( प्रधानेन  
दत्ताः ) धन्दा रखने के कारण दिया हुआ ( अत्रः ) यह  
अत्र जीवामा ( अस्मिन् लोके ) इस लोक में ( तनामि )  
अज्ञानाप्रकारोंको ( अथ इति ) नष्ट करता है, दूर करता है ।  
इस मंत्रमें यह दर्शाया कि धन्दा रखने के कारण परमात्मा  
पितरोंको ऐसी आज्ञा देता है कि जो धारे अज्ञा-  
नाप्रकारोंको दूर करके प्रकाशका मार्ग दर्शाती है । यश  
धन्दाका साक्षात्त्व प्रकट हो रहा है ।

### पितरोंमें सुखद रास्ता बनाना ।

इदं मे ज्योतिर्मयं हिरण्यं पञ्चं क्षेत्रात् कामदुषा म  
पृषा । इदं धनं निदधे माद्वलेपु कृष्ये पृथो विभु  
यः स्वतोः ॥ अथर्व० १।१।१२८॥

( इदं हिरण्यं ) यह सोना ( मे अयुर्न ज्योतिः ) मेरी  
अनन्तर प्रकाश है । ( क्षेत्रात् ) क्षेत्रसे आया यह ( पृथो )

चक्षुरेभ्यो मुखमेतद् विमृद्वाज्याय कोकं कृणुहि  
प्रविद्वान् । घृतन गात्रान् सर्वा विमृद्वा कृष्वे पन्था  
पितृषु य स्वर्गं ॥ अथर्व० ११।१।३१ ॥

(अध्वर्या) हे अध्वर्यु! (चक्षुरे) पोषण करनेवाले ब्रह्मोदन  
के (एतत् मुख) इस मुखके अपात् उसके उपर के छिलकेको  
(विमृद्वा) विशेष रूपसे साफ कर। (प्रविद्वान्) हे प्रकृष्ट ज्ञानवान्  
(आज्याय लोक कृणुहि) उन चाबलों में घी डालनेके लिए  
स्थान बना। (घृतन घर्वाणि गात्राणि विमृद्वा) घी द्वारा उस  
ब्रह्मोदनके सर्व अवयवोंको परिमार्जित कर। इस ओदन द्वारा  
मैं (पितृषु पन्था कृष्वे) पितरों में मार्ग बनाता हूँ (य०)  
जो कि मार्ग (स्वर्ग) सुखप्रापक है।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यदि पितरोंमें सुख  
पूर्वक विचारण करना हो तो सूप पीमिश्रित चाबणों (ब्रह्मोदन)  
का होम करना चाहिये।

### मृत पितरोंका अनुगमन निषेध ।

आवतस्त आवतः परावतस्त आवतः ।

इद्वैव भव मानुषा मा पूर्वाननुगाः ।

वितृन्मु बध्नामि ते इदम् ॥ अथर्व० ५।१।०।१५

(ते आवत, आवत) तेरे समापसे घसीप और (ते  
परावत) तेरे दूरसे भी (आवतः) दूरदेशसे (ते अमु) तेरे  
नागके (इद्वैव भवामि) रहता से बांधता हूँ। (इद एव भव)  
तु यही हो रह। (मा पूर्वान् अनुगाः) पूर्व मृत पुरुषोंके पीछे  
मत जा अपात् विनष्ट मत हो। और (मा वितृन् अनुगाः)  
इसी प्रकार पूर्व मृत पितरोंके पीछे भी मत जा।

मा त मन्तरश्च गाम्मा तिरि भू मा नीवेष्च प्रमदो  
मानु गाः वितृन् विश्वं द्वा अभिरक्षन्त्यह ॥

अथर्व० ८।१।०॥

हे आपुको क्षमना करनेके अनुष्य। (ते मन्तः) लहामन  
(तत्र मा गावः) वहाँ गायु सोरमें मत जाए। (मा तिर भूत)  
और ते। मन्त अन्त रीति भी मत हनिए। (मा नीवे-यः प्रमद) गू  
ब रोके लिए अर्वाण् अक्षर १४४८ किए अक्षरस्थान मत रह।  
(वितृन् मा अनुगाः) गाय पितरोंके पीछे मत जा। (विद्व  
द्वामि) यह दक्षमन (इद्वैव अभिरक्षन्त्यह) तब। वही ही रखा  
करे अर्वाण् यह देव दुष्ट बर्हतर बरार रखे, मान्य न हो।

इस उपनिषद् मंत्र में मृत पितरोंके अनुगमन करनेवा

अर्थात् मरनेके विषय में अनुगमन का निषेध किया गया है।  
और दीर्घांश प्राप्त करनेके लिए कहा गया है।

### पितरोंमेंसे यक्षमा के दूर करने की प्रार्थना ।

अद्वाद्वाद्वाद् वयमस्या अपयक्षम निदधामि ।

तन्मा प्रापत् पृथिवी मोत देवान् दिवं मा प्रापदुवैत  
रिक्षम् आपो मा प्रापन् मलमेतद्वने यम मा प्राप  
पितृषु सर्वान् ॥ अथर्व० १।१।१।१५

(अस्या अज्ञात् अज्ञात) इसके प्रत्येक अंगसे (वय यक्षम  
नि अप दधामि) हम यक्षमको बिलकुल बाहिर निकल  
देते हैं। (तत् पृथिवी मा प्रापत्) वह यक्षम पृथिवी को मत  
प्राप्त होवे। (उत देवान् मा) और देवोंको भी मत प्राप्त होवे।  
(दिव मा) धुलोक को भी मत प्राप्त होवे। (उत अतरिक्ष  
मा) विशाल अतरिक्षको भी मत प्राप्त होवे (एतत् मन)  
यह यक्षमरूपी मैल (अपः मा प्रापत्) जलों को भी मत प्राप्त  
होवे। (अमि) हे अमि! (यम मा प्रापत्) यमको भी मत  
प्राप्त होव। (च) और (सर्वान् पितृन्) सब पितरों को  
भी मत प्राप्त होवे।

इस मंत्रमें यक्षम रोगके दूर करनेकी तो प्रार्थना है ही, पर  
वहाँ एक बात विशेष लक्ष्यमें रखने जैसी है और वह यह  
कि यम व पितरोंको यक्षमके न प्राप्त होनेका प्रार्थना अमि  
से की गई हो इसका कारण स्पष्ट ही है। हम पहिले देख आए  
हैं कि अमि यमलोकमें पितरोंके पाव जाती है। अतः अमि  
द्वारा ही यक्षमरोगके वहाँ पहुँचने की सम्भावना है। अतएव  
आमने से कहा गया है कि यम व पितरोंको यक्षम प्राप्त  
मत होवे।

### यधुर्दृश्य पितर ।

ये पितरा यधुर्दृशी ह्यं बहुतुमामगन्तु ।

त अर्थे यध्वे सप्तत्ये प्रमावच्छमं यच्छन्तु ॥

अथर्व० १।१।१।१५

[ये] जा [यधुर्दृशी] यधु का दृश्यने को इच्छन्तु  
[पितरा] पितृगण [ह्यं बहुतु] इस यधु [अयमर]  
प्राप्त हुए हैं, [त] व पितर [यत्तये] अर्थे यध्वे [यत्तये]  
यानी इस यधु के लिए [प्रमावच्छमं] अतः यधुके मुख  
[यच्छन्तु] करें। अर्थात् जो यत्तयेजन्म मुख करें।  
यह यधु-विषयक मन्त्र पठेइइका करने पद्यों के  
रूपमें या अथ व इनमें चरने होने-उपे जो पितर देखने

आए हैं उनसे प्रार्थना की गई है कि इस बधू को उत्तम संतान देकर सुखी करो ।

**कन्याका सदा पितरों (श्वशुरकुल) में रहना ।**

भगवत्पादार्थे आदिष्यति वृक्षतदेव स्रजम् ।

महाकुलं ह्येव पर्वतो ज्योक् पितृव्यास्ताम् ॥

अथर्व० १११११॥

( वृक्षात् स्रजं इव ) जिस प्रकार वृक्षसे फूलोंकी माला प्रहरण करते हैं, उसी प्रकार मैं बर ( अस्माः ) इस कन्या का ( भर्गं वर्धः ) ऐश्वर्यशाली तेजकी मैं ( आदिषि ) प्रहण करता हूँ अर्थात् इस कन्या को पत्नी रूपसे मैं स्वीकृत करता हूँ । यह बधू ( महाकुलः पर्वतः इव ) बड़े मूलबाले पर्वत की तरह ( ज्योक् ) सदा ( पितृषु आस्ताम् ) पितरोंमें अर्थात् अपने ( कन्याके ) श्वशुर कुलमें स्थिर रह, जिस प्रकार बड़ी मूलबाला पर्वत जबोके चूबे जमीन के अन्दर गहरा जाने से निश्चल होता है, उसी प्रकार यह निश्चल श्वशुरकुलमें रहे ।

यथा ते कुलपा राजन् तामु ते परि ददासि  
ज्योक् पितृव्यास्ताता मातोऽप्यः प्रमोष्याम् ॥

अथर्व० ११११२॥

इस श्रममें बरके श्वशुरकुल की बरके प्रति चाकि है । कन्या का पिता कन्यादान करता हुआ बरसे कहता है कि— ( राजन् ) हे राजमान बर ! ( एषा ) यह बधू [ ते कुलपा ] तेरे कुलका रक्षण करनेवाली है [ तां ] इस प्रकारकी इस बधू को [ ते परिददासि ] तुमसे हम शीघ्रते है । यह कन्या [ ज्योक् ] सर्वदा

उस रक्षाको चाहते हैं ( येन ) जिससे कि व ( पितृषु अजोदन् ) पितरों को प्रेरित करता है ।

पूजा पितरों को अपनी रक्षा द्वारा प्रेरित करता रहता है ऐसा यथापर सात होता है ।

**ब्रह्मगौके दूध पीने से पितरों में पाप ।**

कामस्या भासतमे तुष्टं पिशितमस्यते

क्षीरं यदस्याः पीयते तद् वै पितृषु किल्बिषम् ॥

अथर्व० ५१२१५॥

[ अस्याः ] इस ब्रह्मगौका [ आचसने ] मारता [ मूर्त ] कुरात का काम है । यदि [ पिशितं अस्पृते ] अवका साध आया जाने तो यह [ तुष्टं ] व्यास लगानेवाला होता है । [ अस्याः सत् क्षीरं पीयते ] इसका जो दूध पिया जाता है [ तद् ] यह दूध पीना ( वै ) निश्चय से ( पितृषु किल्बिष ) पितरों में पाप पैदा करनेवाला होता है ।

संपूर्ण मूक देखने से ब्रह्म-गौका अर्ध माघ्रण की जमीन, बाणी किंवा गाय प्रतीत होता है । यदि राजा माघ्रण की जमीन को धर्म के वा उपहार कर लगावे अथवा अन्य किसी प्रकार का अत्याचार करे, तो उसे इससे क्या नुकसान होता है, इसका यथापर वर्णन है । इसके अनुसार पितर घोर से उनकर्म-चारियोंका प्रहण है ।

**पालक अर्थमें पितर ।**

अथवाहं धर्मसनाह माप्ये तदुरि ।

वर्षे वतुष्वं पितरो मयर्था मन इच्छन् ॥

शान्तं उत्पन्न आनन्दमिषे आनन्दित होओ । ( पितरः ) हे इन्द्रियगणो ! तुम ( मन इच्छत ) मनके साथ संगत होनेकी इच्छा करो अर्थात् मनके साथ एकत्र होओ, ताकि मन्त्रज्ञान का लाभ होसके । \* खण्डखाः—कण आत्मान स्मरति चण्डखा । खरार अर्द्ध । छैमखाः—छै रथैरे स मन् प्रत्यय । जो स्थिरता उत्पन्न करे । तदुरी—तत्प्रसन्न इत्यतीति तदुरी ।\*

### मेधाके उपासक पितर ।

या मेधा देवगणा पितरश्चोपासते ।

तथा सामय मेधायाने मेधाविन कुत रवाहा ।

यजुः ३९/१५ ॥

( या मेधा ) जिस बुद्धिको ( देवगणा, पितर च ) देवगण तथा पितृगण [ उपासते ] उपासना करते हैं, हे अमे ! [ तथा मेधया ] उस मेधाके [ अथ ] आन [ या ] सुखे [ मेधाविन ] मेधावा [ कुत ] कर । रवाहा ।

इस मन्त्रमें उस मेधाको माना गया है, जिसकी कि पितर उपासना करते रहते हैं ।

### पितरोंका देवत्व लाभ ।

महिम्न एषा पितरश्च मेशिरे देवा देवेव्यधुराणि

मनुम् । सम विम्वसुवृत्त यान्विधुत रैरो वनृपु नि

विचिनुः पुन ॥

यजुः १००/११ ॥

[ एषा महिम्न पितर च न ईशिरे ] इन देवोंकी महिमाके पितर या देवोंकी कने अर्थात् पितरोंके देवोंकी महिमाके प्राप्त किया यानि देव बन गए। और इस प्रकार [ देवा ] देव हुए हुए [ एवपु अपि क्रतु अश्नु ] देवोंमें भी कमे करने लगे ताकि दशावष्टौ मी ऊंचे पदका लाभ हो। [ उत ] और ( यानि अश्नुत ) जो तेज प्रकाशित हो रहे हैं वे ( यव विम्वसु ) एकत्रित हुए । तथा ( पुन ) फिर [ एषा ] इन पितरोंके [ तनृपु ] घरारोंच ( निम्वसु ) एतन्नाश भविष्य हामये । पितरोंके दक्षय लाभ के इस मन्त्रमें बताया गया है ।

### यजुका पितरोंमें जाना ।

इवान् रिबमगन् पयस्वता मा त्रविममपु मनुष्यान्  
न्यापिमगन् यमस्तोमा त्रविममपु पिन्व  
पुत्रिमगन् पयस्वता मा त्रविममपु य क च  
उकमगन् पयस्वता म अममगन् ॥ यजुः ८१/० ॥

( यजुः ) यजु ( देवान् दिने अमद् ) देवोंकी व पुत्रो गया है । ( ततः ) इस कारणसे ( मा त्रविम अपु ) मुझे धनके व्याप्त करे अर्थात् धन मिले ।

इसी प्रकार यजु मनुष्य व अंतरिक्ष, पितर व पृथिवी, तथा जिस किसी लोकको गया हुआ है वहांसे मुझे धनप्राप्ति करावे । पितरोंके लिए यजु करनेसे धन लाभ होता है ऐसा यही हमें मन्त्रमें पता चल रहा है । इस मन्त्रमें यजुके महत्त्वका वर्णन है ।

### जनक अर्थमें पितर ।

देन्द्रः प्राणो अद्योऽन्यत्ने निदीप्यदैव उदासी अन्ते  
अङ्गे निधोत । देवपदभूरे ते ससमेत सज्जन  
यद्विपुत्र भवति । देवता यन्ममवसे सज्जामोऽनुत्तमा  
माता पितरो मनुजः ॥ यजुः ११९/११

( देन्द्रः प्राणः ) आत्माशरीरजीप्राण ( अन्ते अन्ते ) अन्तः अङ्गोंमें ( निदीप्यत् ) प्रकाशित होवें । ( उदासी अन्ते निधोत ) उदात्त वायु प्रत्येक अङ्गमें स्थित होवें । ( देवा तद्यः ) तद्वत् देव ( यत् सज्जाम विपुत्र भवति ) जो एकता होते हुए भी विविध रूपवाला होता है वैसे ( च समेन्द्रः ) भली प्रकार एकत्रित करे या एकता बनावे । ( अवसे ) रखके लिए ( दयता यतः ) देवोंकी प्रति जाति हुए तेरे ( माता पितरः ) माता पिता ( अनु मनुजः ) प्रजन्त होवें ।

### विषाणका औपाधि व पितर ।

कदस्थ स्यमस्वसुवत्स यानि । विषाणका नाम वा  
असि पितृनां सुहृदुरीषता वातीकृतनामिनी ॥

अथर्व० १५/११०

इस मन्त्रमें विषाणका नामक औपाधिक वर्णन है । हे औपाधि ! तू ( कदस्थ मूत्र अधि ) भवकर कलनेवाले शीघ्र पुनरीषादी है। अर्थात् तेरे श्रेष्ठसे अर्धकर रोगका भी घमन होता है । तू ( अथस्वसु नामिनी ) अमरताकी जननी है । तेरे अमरत्व अमरत्व प्राप्त हो सकता है । ( विषाणका नाम अधि ) तू विषाणका नामवाली है । तू ( पितृनां सुहृदुः ) उरिषता ( पितरोंके मूलच प्रकट हुई हुई है तथा तू ( वातीकृत-नामिनी ) वायुसे उत्पन्न होनेवाले रोगोंका नाश करनेवाली है ।

इस मन्त्रमें विषाणका औपाधिक पितरोंके मूलके व पत्र हुई हुई बताया गया है । पितरों के मूल च उरिष होवे- का क्या अभिप्राय है, तथा व पितर कीन हैं, किन्तु कि रक्त च इस औपाधिको उत्पन्न होती है, इत्यादि देवोंके ओज का प्र



विषय है । संभव है वेदगण इसपर विशेष प्रकाश डाल सकें ।  
वेदगण इस विषयमें सहायता करेंगे तो उत्तम होगा ।

### स्वर्ग वर्णन ।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः  
रथायाः । अङ्गोणाः अङ्गैर्हृता स्वर्गे तत्र पदयेम पितरौ  
च पुत्रान् ॥ अथर्व० ६ । १२० । ३ ॥

[ यत्र ] जहापर [ सुहार्दः सुकृतः ] सधु हृदयवाले अथ  
कर्मों करनेवाले [ रथायाः तन्वः रोगं विहाय ] अपने  
शरीरके रोगका त्याग करके अर्थात् रोगरहित शरीरसे युक्त  
हुए हुए [ मदन्ति ] आनन्द भोगते हैं, [ तत्र स्वर्गे ]  
जहापर स्वर्गमें [ अङ्गोणाः ] अपक्ष्य न होते हुए [ अङ्गैः  
अहृताः ] शरीरावयवोंसे कुटिल गतिवाले न होते हुए अर्थात्  
अङ्गादिके टूटने न होनेसे सुन्दर गति करते हुए [ पितरौ ]  
माता, पिता तथा [ पुत्रान् ] पुत्रोंको देखें ।

इस मंत्रमें स्वर्गका वर्णन है । जहापर जोरोगी होते हुए  
मनुष्य सुखी रहते हैं, वह स्वर्ग है, ऐसा मंत्रका आशय  
प्रतीत होता है ।

### पितरोंका धन आदि देना ।

यस्मादुत्तमदुत्तमाजगाम दानं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः  
यस्मान्मे मन उदिव रारजोययिनष्टरंता सुदुर्ग  
कृणोतु ॥ अथर्व० ६ । ७१ । २ ॥

( यत् ) जो प्रथम मंत्रीक गाय, धोका, सोना आदि धन  
[ दत्त ] दिया हुआ अथवा [ अहुत ] किरासे न दिया हुआ,  
स्वर्ग कपाया हुआ और जो [ पितृभिः दत्तं ] पितरोंसे दिया  
हुआ विषय कि [ मनुष्यैः अनुमतं ] मनुष्योंसे अनुमति  
से है अर्थात् जो साधिकार न्यायसे [ मा ] मुझे [ आश्रयाम् ]  
प्राप्त हुआ है, और [ यस्मात् ] जिस धनसे [ मे मनः ] उक्त  
इस रारजोति ] मेरा मन उदयकी प्राप्त हुआ हुआ आश्रय  
योमाश्रयान हो रहा है, [ यत् ] उक्त धनसे [ रीता अभिः ]  
पिता अभि [ सुदुर्ग ] उत्तमतासे दिया हुआ बन्धन ।  
अर्थात् उक्तसे मे घन्मार्गमें लगाऊ ऐसी मुझे सम्मति प्रदान  
करे ।

### मातृ य पिता, पितामह आदि ।

स सर्वान्मर्त्यैर्गानुस्यच्छत् ॥

अथर्व० १५ । ६ । १७ ॥

११ ( अ. पु. भा. ५०-१८ )

सं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामह-  
श्चानुस्यच्छत् ॥ अथर्व० १५ । ६ । २५ ।  
प्रजापतेदेव्यै च परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य  
च म्रियं धाम भवति य एवं वेत् ॥

अथर्व० १५ । ६ । २६ ॥

( यः ) उक्त म्रत्युने ( सर्वान् मर्त्यैश्च ) सब भोक्तृ  
देव्यों ( अनुस्यच्छत् ) विचरण किया ॥ १५ । ६ । २४ ॥  
( त ) उक्त म्रत्युने ( अनु ) पीछे ( प्रजापतिः च परमेष्ठी  
च पिता च पितामहः च ) प्रजापति अर्थात् राजा, परमेष्ठी  
यानि ऊँचेपदवाले विद्वान् वा सम्वाधी पिता तथा पितामह  
विचरने लगे ॥ १५ । ६ । २५ ॥ ( यः ) जो म्रत्युने ( पर )  
इस प्रकार अर्थात् द्वितीय मंत्र ( १५ । ६ । २५ ) में कहे  
अनुकार ( वेद ) जानता है, वह प्रजापति, परमेष्ठी, पिता  
तथा पितामहका ( म्रियं धाम ) प्रिय घर बनता है अर्थात्  
उसीके घरमें वह पुनर्जय वर्ग अर्थात् इधरके घरमें  
नहीं ।

म्रत्यु अर्थात् अतिथिका महरव यहा दिखाया गया है ।  
अतिथिके पीछे ये सब घूमते रहते हैं ताकि अतिथि इनके  
परको अपने आगमनसे परित्र करे ।

स महिमा समुर्भूयान्तं पृथिव्या भगवतोत् स  
समुद्रोऽभवत् अथर्व० १५ । ७ । १४-  
सं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामह-  
इत्यवश्य भद्रा च सर्व भूतानुस्यच्छत् ॥  
अथर्व० १५ । ७ । २७ ॥

( सः ) उक्त म्रत्युने ( महिमा ) अपनी महिमामें ( समु-  
द्रा ) वेदयान् होकर ( पृथिव्या ) अन्त जगत्पट्ट  
पृथिवीके अन्तर्गते प्राप्त किया । और ( सः ) वह स ( य  
( समुद्रः ) अथर्वत् ) समुद्र हुआ ॥ १५ । ७ । १४ ॥ ( तं ) उक्त  
म्रत्युने ( अनु ) पीछे पीछे प्रजापते, परमेष्ठी, पिता, पिता-  
मह, ( आश्रय ) अथर्वत्, ( भद्रा च ) और भद्रा ( सर्व  
भूता ) सर्व वक्ता ( अनुस्यच्छत् ) वर्णन न हुए वा वर्णन  
करते लगे । इसी परमी मरवरी महिमा गाई गई है ।

### पितरोंका जलियके विषयमें अज्ञान ।

मेता विदुः पितरौ कोश देवाः वेदा मन्त्रशास्त्र-  
ज्ञम् । विद्वे दानमश्नुतः परा भद्रायां नो वदन्तेऽनुष्ठिता  
अथर्व० १५ । ७ । ४ ॥

(पेवां) जिन ३३ देवीकी (जल्पिः) दुःस्वप्नकी कारण-  
भूत जो यह बाणी (इदं अन्तर) इस जगत्के भीषमें  
(परति) विचरण कर रही है, (एत) इस बाणीकी (न  
पितरः विदुः न उत देवाः) न तो पितर ही जानते हैं और  
नहीं देव । (वरुणेन अनुग्राह्यः) वरुण द्वारा मछी प्रक्षार  
उपदेश किए गए (आदिश्रावः नरः) आदिश्य नरोंने  
(स्वप्ने) स्वप्नका (आप्ते जिते) आप्य जितमें (अवधुः)  
स्थापित किया ।

इस मंत्रके प्रकृत विषयमें इतना ज्ञात होता है कि पितर  
जल्पिकी नहीं जानते ।

### नारायणस पितर ।

...पितरो नारायणः ॥ यजुः । ८ । ५ ॥

(नारायणः) नर जिनकी प्रशंसा करते हैं वे (पितर)।  
पितर नारायण पितर कहलाते हैं ।

### पिता-पितामह आदि पितर ।

जीवं ददन्ति विनयन्ते जप्त्वे दीर्घामनु प्रसिद्धिं  
दीर्घियुर्वैरः । वामं विवृणो न इदं समीरिरे मनः  
पत्रिभ्यो जनयः परिष्वजे । ऋ० १०।१७।१० ॥

यह मंत्र थोड़ेसे पाठनेवाके साथ अपवर्गेदमें है—  
जीवं ददन्ति विनयन्तवचरं दीर्घामनु प्रसिद्धिं  
दीर्घियुर्वैरः । वामं विवृणो न इदं समीरिरे मनः  
पत्रिभ्यो जनयः परिष्वजे ॥ अथर्व. १७।१७१ ॥

(नर) जो नर (जीवं ददन्ति) पत्नियोंके जीवनके  
उद्देश्य से होते हैं अर्थात् जो स्त्रियोंकी बहुत परवाह करते  
हैं, उनकी दुर्दशापर होते हैं तथा जो (अप्वरे विनयन्ते)  
वशमें उन स्त्रियों को प्रविष्ट कराते हैं अर्थात् उनके साथ  
वध्न मैं बैठते हैं, अपवर्ग जो स्त्रियों को हिंसा नहीं करते,  
और जो (दीर्घां प्रसिद्धिं) भुजाओंका लंघन लंघन आदि  
स्त्रियोंको (अवृणोपियुः) देते हैं अर्थात् उनसे कुछ छेप  
करते हैं, और (ये) जो (विवृणो) पितरोंके लिए (वामं)  
सुन्दर संतावने (समीरिरे) पैदा करते हैं, ऐसे [ पत्रिभ्यः ]  
पत्नियोंके लिए [ जनयः ] पतिवर्षा [ परिष्वजे ] आनिगन के  
लिए [ मयः ] सुख देती हैं अर्थात् ऐसे पत्नियोंकी ही  
वास्तव में पत्नीमुख मिलता है ।

इस मंत्रमें पत्नीमुख अर्थात् गार्हपत्यमुख किनकी बिकटा  
है, यह वक्ष्यमत्वा दर्शाया गया है । पितरोंके लिए  
संतावनेवासी करने व वध्नमें पत्नीके बैठानेका भी यहाँ  
निर्देश है ।

## (२) यम ।

अवतक के प्रकरणों में पितरों का विषय या बहू प्रायः सम्यक्त हुआ है । अब हम आगे के प्रकरणों में यम पर विचार करेंगे । यमविषयक मंत्रों के हम दो विभाग करेंगे । प्रथम विभाग में उन मंत्रों का उल्लेख होगा जिनमें यमको कोई खास विशेषण प्रयुक्त हुए हुए न होंगे द्वितीय विभाग में विशेषणविशिष्ट यम होगा । विशेषणविशिष्ट यमवाले मंत्र यमकी उत्पत्ति, स्थिति आदि विषयों में कुछ प्रकाश डालने में सहायक हो सकेंगे । द्वितीय विभाग के शीर्षक का नाम 'वैवस्वत यम' रखेंगे क्योंकि वैवस्वत विशेषण ही प्रायः यम के लिए प्रयुक्त हुआ हुआ मिलता है ।

### प्राणापहारी यम ।

यम मृत्युकी अधिष्ठात्री देवता है । प्राणियों के जीवन के अवधारण का कार्य यम करता है । मृत्यु यमका ही दूत है, यह हमें आगे पता चलेगा । प्राणियों के मारनेका काम यम करता है, यह निम्न मंत्रों से स्पष्ट हो रहा है ।

मृत्युको वदति मोक्षमेतत् यत्कपोतः पद्ममनो  
कृणोति । वस्य दूतः प्रहिवः पृथ दूतस्त्वमे यमाय  
नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ऋ० १०।१६।१॥

[ वल्लभः यत् वदति ] वल्लभ ओ अग्रम बोलता है [ एतत् ] यह उसका बोला हुआ [ मोक्ष ] निष्कल हो, अर्थात् इस उत्पत्ति में जिस आनेवाली आपत्ति की सूचना दी है वह निष्कल होवे । [ कपोतः ] और कवूत [ आनो यत् पदं कृणोति ] अग्निमें जो पेर करता है अर्थात् पेरते अग्नि छेकता है, वह भी निष्कल हो । इस अवशङ्कन से सुचित आपत्ति का भी निराकरण हो । [ एवः ] यह उत्पत्ति या कवूत [ वस्य प्रहिवः दूतः ] जिसका भेजा हुआ दूत है उस [ मृत्यवे यमाय ] मारनेवाले यम के लिए [ नमः ] नमस्कार [ अस्तु ] होवे ।

इस मंत्र में उत्पत्ति के बोधने या कवूत के पेर से अग्नि के छेकने आदि अवशङ्कन से उत्पन्न आपत्तिनिवारण की मायिका है । अथर्ववेद सू० ६ मंत्र २७, २८ तथा २९ में भी ऐसा ही वर्णन मिलता है । पाठक यहां देख सकते हैं । ऐसे अवशङ्कन मृत्यु की संभावना को सुचित करते हैं, देवा जान पड़ता है ।

अतएव इन अवशङ्कनों के करनेवालोंको यमका दूत कह कर पुकारा गया है । शकुन व अवशङ्कन संबन्धी वेदमंत्र हैं यह पाठकोंकी कल्पने रखना चाहिए । अस्तु, यही यम उघी अर्थ में है जिस अर्थ में कि वह प्रसिद्ध है ।

य. प्रथमः मन्त्रमासत्ताद् बहुभ्यः पन्थामनुपश्यतान् ।

योऽस्येवे द्विपदो यश्चतुष्पदस्त्वमे यमाय नमो अस्तु

मृत्यवे ॥ अथर्व० १।२८।१॥

[ यः ] जिस यमने [ अनुपश्यतानः ] खोज करते हुए [ बहुभ्यः प्रथमः ] बहुतोषि पहिले होकर [ प्रततं पन्थां आसन्नाद् ] प्रकृष्ट मार्गको प्राप्त किया तथा [ यः ] जो [ अस्य द्विपदः ] इस दो पैरोंवाले मनुष्यत्रयका व [ अस्य चतुष्पदः ] इस चारपैरोंवाले पशुत्रयका व [ ईषे ] स्वामी हैं, ( तस्मै ) उस [ मृत्यवे यमाय ] मृत्यु करनेवाले यमके लिए [ नमः अस्तु ] नमस्कार होवे ।

यहां पर भी यम उघी अर्थ में है जिस अर्थमें कि पूर्व मंत्रमें प्रयुक्त हुआ हुआ है ।

यमोऽस्तु ते निष्कृते तिम्रमेजोऽवस्मयान् विष्णुश  
वन्धवाद्यान् । यमो मर्त्यं पुनरिदं शो ददाति तस्मै  
यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व० १।६१।२॥

हे ( तिम्रमेज. निष्कृते ) हे तेज नष्ट करनेवालों निष्कृति ! ( ते नमः अस्तु ) तेरे लिए नमस्कार है । [ अवस्मयान् बन्धवाद्यान् ] लोहेकी बनी हुई बेडियोंको ( विवृत् ) खोलदे, काटेदे । ( यमः ) यमने ( शो ) तुझ ( मर्त्यं ) मेरे लिए ( पुनः इत् ) फिर भी ( ददाति ) दिला दे अर्थात् पुनः यमने तुझको पुनः सौंपा दे । ( तस्मै ) उस ( मृत्यवे यमाय ) प्राणावधारण करनेवाले यमके लिए ( नमः अस्तु ) नमस्कार होवे ।

तिम्रमेज- • तिम्र गली दिहोया व ' से दिहो अर्थ में तिम्र छन्द बनावेकर इच्छा अर्थ होगा कि जो तेजस्य मर्त्य करे वह तिम्रमेज ।

निष्कृतेया अर्थ है कप, दुःख, अन्वैत ।

यम यदा पर भा उपरोक्त अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ हुआ है ।

एवोत्पत्तमान् निर्जन्ते नेहा स्वमयस्मयान् विच्युता  
बन्धपाशान् । यमो मया पुनरित्त्वा ददाति तस्मै  
यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ अथर्व० १०८३३ ॥

( निर्जन्ते ) हे निर्जन्त ! ( त्व ) तू ( अनेहा ) न  
मानवाली होती हुई ( अस्मान् ) हमारे ( एवा ) उसी  
पूर्वोक्त प्रकारसे ( अयस्मयान् ) सोहमय लोहक बने हुए  
( बन्धपाशान् ) बेड़ियोंसे ( विच्युत ) खोलदे छाट दे ।  
( यम त्या पुन इव ) यमने तुल्यको फिर भा ( मया  
ददाति ) मुझे सौंपा है । ( तस्मै मृत्यवे यमाय ) उस  
प्राणापहरण करनेवाले यमके लिए ( नम अस्तु ) नमस्कार  
है ।

मा वो मुनो न यवसे त्रयिता भूदजोभ्यः । पथा  
यमस्य गादुप ॥ श्र० १०८३३ ॥

हे मन्त्रो ! [ यवसे मृग न ] जिस प्रकार वस्तु भास  
आदि मक्ष्य पदार्थोंसे पुष्यह नहीं होता अर्थात् सृष्टिमें उसे  
जैसे सदा पाश आदि मक्ष्य पदार्थ स्वतन्त्रतासे मिलते रहते  
हैं, वही प्रकार ( व जतिता ) तुम्हारी स्तुति करनेवाला  
( अजोभ्य ) अतीतिकर अथवा असंख्य अर्थात् उपभोग-  
सामग्रा का भाति से रहित ( मा ) मत होवे । उपसक्तकी भी  
युगच्छा तबह स्वतन्त्रतासे उपभागसामग्रा प्राप्त होती रह ।  
और वह उपसक्त ( यमस्य यथा ) यमके मार्ग से  
( मा उपगात् ) मत जावे यानि शीघ्र मृत्युका प्राप्त मत  
होव ।

इम मम मे भा स्पष्ट रूपसे प्राणापहरण करनेवाले यमका  
ही उद्घट्ट है ।

देवस्य कमपुणीत मृत्यु प्रजायै विममृत नापुणीव ।  
बृहस्पति यज्ञमष्टं व ऋषि मिषां यमस्व-व  
मातिरेधीत् ॥ श्र० १०८३३ ॥

इम ममका उत्तरार्ध थोड़ेसे पाठभेदके साथ अथर्ववेद में  
इस प्रकार से आया है—

पृष्टपतिर्विजममृत ऋषिः मिषां यमस्व-व मा  
तिरेष ॥ अथर्व० १०८३३ ॥

[ १०-३० ] १०के लिए [ क मृत् ] जिस मृत्तुको  
( अजोभ्य ) १०३३ दिया है अर्थात् देवाके लिए मृत्तु

कौनसी है ? [ प्रजायै ] उत्पन्न होनेवाली मनुष्यादि सत्त्विके  
लिए [ किं अमृत न अपुणात् ] क्यों अमरता स्वीकृत नहीं  
की ? अर्थात् प्रजाको अमर क्यों नहीं बनाया ? मनुष्योंने  
[ बृहस्पति ऋषि ] बृहस्पति ऋषिको अमरताप्राप्तिके लिए  
[ यज्ञं अष्टपदं ] यज्ञ बनाया, तोभी [ यम ] यमने उनके  
[ मिषां तनुं ] प्रिय शरीरको छीन लिया अर्थात् तोभी उन्हें  
अमरताका लाभ न हुआ । अथवा अथर्ववेदके पाठभेदानुसार  
इस मंत्रका अर्थ इस प्रकारभी हो सकता है—

( देवभ्यः क मृत् न अपुणात् ) देवोंमेंसे कौन मरता  
न था ? अर्थात् देवभी सब मरते थे । तब ( बृहस्पति  
ऋषि यज्ञं अतनुत् ) देवोंमेंसे बृहस्पति ऋषिने अमरताकी  
प्राप्तिके लिए यज्ञ किया और देवोंके लिए ( अमृतं अपुणात् )  
अमरताको प्राप्त किया पर ( प्रजायै ) प्रजाके लिए ( किं  
अपि अमृत न ) कोईभी अमरता न प्राप्त को अतएव ( यम )  
प्राणोंके अपहरण करनेवाला यम प्रजाओंसे ( मिषां तन्व )  
उनकी शरीर दह ( प्रारिरेधीत् ) छीन लेता है अर्थात्  
प्रजाकी मृत्यु होती है ।

यदाँपर आलंकारिक रूपसे देवोंकी अमरता व मनुष्योंकी  
नरनरताका वर्णन किया गया है ।

ये क्षिण्यो लुक्कति जातवेदे क्षिणाया दिशोभि  
दासमयस्मन् । यममृ वा ते दराक्षो व्यप-तो  
मयमेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ अथर्व० १०८३३ ॥

[ जातवेदः ] हे जातवेद ! ये जो छत्र [ क्षिण्यो ]  
दाहिनी ओरसे [ लुक्कति ] यज्ञ करते हम पर आक्रमण  
करते हैं और जो [ क्षिणाया दिशे ] क्षिण दिशासे [ व  
स्मान् अभिदाधन्ति ] हमें दास बनानेके लिए आक्रमण करते  
हैं [ ते ] वे छत्र [ यम आया ] यमको प्राप्त करनेके [ दराक्षो ]  
पीठ मोह कर भागते हुए [ व्यप-तो ] व्यपति होयें अर्थात्  
उनका दुर्दशापूर्ण नाश होव । [ एनान् ] इन छत्रोंकी मैं  
[ प्रतिसेण ] प्रति सरसे हन्मि । मारता हूँ ।

प्रतिषार दायणाचार्यने इसका अर्थ किया है किप्रियेष्ठ आभि  
चारिक कर्मका निवारण हो ।

यज्ञो वो मीवा अजोत् विनाका पृष्टोवाः वि यमैव  
समजोयममृ ॥ अथर्व० १०८३३ ॥

[ विनाका ] हे विनाका ! [ वा यमः ] प्रकृतपदार्थ  
[ यमः ] रहने [ अजोत् ] कट कासा है । [ यमपान ] है

पीडा देनेवालो । [ वः पृथीः अपि ] तुम्हारी पक्षियों भी वह रुद ( श्वात् ) काट डाले । [ विद्वतः वीर्यो वीरुः ] बन्धुत्वं तथा वीर्यं युक्त औषधि । [ वः ] तुम्हें [ यमेन सं अत्रो-  
नमत् ] यमक साय भली मांति संयुक्त करे अर्थात् मार डाले ।  
इस मंत्रमें शत्रुविनाशार्थ जहरीली औषधियोंके प्रयोग करनेका निर्देश है । यमका अर्थ यहाँ अत्यन्त स्पष्ट है ।

यमो मृत्युरधमारो निर्धनो बभूवः शबोऽस्ता नीलशि-  
खण्डः । देवजनाः सेनगोचरिषु । संस्ते अस्माकं परि-  
वृजन्तु वीरान् ॥ अथर्व० ६।१३।१ ॥

( यमः ) यम, ( मृत्युः ) मृत्यु, ( अधमारः ) पापसे वा पापके कारण मारनेवाला, ( निर्धनः ) निरन्तर पीडा देनेवाला ( 'बभूवः' ) पालक, ( शबोः ) शिवक ( अस्ता ) उठाकर फेंक देनेवाला, ( नीलशिखण्डः ) नील शिखण्ड ( ते ) उपरोक्त ( देवजनाः ) तथा देवजन मिलकरके ( सेना वा सन्निवासाः ) सेना द्वारा आक्रमण के लिए तैयार हुए हुए ( अस्माकं वीरान् ) हमारे वीर/सैनिकों को ( परिवृजन्तु ) छोड़देने अर्थात् लड़ाई में हमारे सैनिकोंका विनाश न हो, अर्थात् उपरोक्त सब शत्रु-  
सैनिकोंका विनाश करें । यहाँपर भी यमकी मिनती मारनेवालोंमें ही गई है ।

उपेष्टम्या आगो विचूतोर्वमस्य मूलबर्हण्यद् परि-  
पाद्येनम् । अत्येनं मेघद् दुरितानि विधा दीर्घांशुत्वाय  
शतशारदाय ॥ अथर्व० ६।११०।१ ॥

( उपेष्टम्या आगो ) उपेष्टम्योमें वैदाहुए हुए तथा ( विचूतोः )  
विचूत में वैदाहुए हुए हुए कुमारकी ( यमस्य मूलबर्हण्यद् ) यम-  
के मूलोच्छेदनसे है अर्थात् ( परि पाद्ये ) रक्षा कर । इसे मर-  
नेसे बचा । ( एवं ) इस पुत्रको ( विद्वाने ) दुरितानि ) सर्व  
पापों विनोड ( अर्थात् ) बचाकर ( शतशारदाय दीर्घांशुत्वाय )  
शौ वर्षोंकी दीर्घायुके लिए ( मेघत् ) जे चत । एवं ही वर्षोंकी एवं  
दीर्घायु प्राप्त होये ।

उपेष्टम्या-उपेष्टानामक मध्यमे उत्पन्न संतान उपेष्टाना नाय  
कृतां है । इस-विषयमें सैलियाय ब्रह्मण्य निम्न वचन दे-  
' उपेष्ट एषा अवधिषेति तज्ज्येष्ठी ' ।

ते० भा० १।५।१८ ॥

विचूत-विचूत स्वभावसे, मूल मध्यमा नाय है । इसमें  
पेदा हुई हुई संतान नष्ट हो जाती है । इसमें निम्न ते० भा०  
का वचन दे- ' मूलं एषा मध्यमेति तज्ज्येष्ठी ' ।

ते० भा० १।५।१८ ॥

यहाँपर यमका जो संततिहा मूलोच्छेदन अर्थात् जड़से नाश  
करना है, उससे वचनकी प्रार्थना है । एवं यम यहाँपर विनाश  
करनेके अर्थमें ही प्रयुक्त है ।

विवस्वान् जो अमृतसे दधत् परितु मृत्युमृत्यं  
न एतु । इमान् रक्षत पुत्राना जहिम्यो मोक्षेयाम-  
सवो यमं गुः ॥ अथर्व० १८।१।६२ ॥

( नः ) हमें ( विवस्वान् अमृतसे ) विवस्वान् सूर्य अमर-  
तामें ( दधातु ) स्थापित करे । ( मृत्युः पर एतु ) मृत्यु पर  
आग जाय । ( अमृतं नः एतु ) हमें अमरत्व प्राप्त होवे ।  
( इमान् पुत्रान् ) इन पुत्रोंकी ( विवस्वान् ) सूर्य ( जहिम्यः  
आरक्षतु ) रक्षारे तब रक्षा करे । ( एषा अवयः मो यमं गुः )  
इसके प्राण यमको मत जावे ।

इस प्रकार इन मंत्रोंके अवलोकनसे यम एक नाशक शक्ति  
है, यह प्राणियोंके प्राण हरण करनेवाला है । यह हमें स्पष्ट  
रूपसे पता चलता है । यम अन्य अर्थोंमें भी वेदोंमें प्रयुक्त है जैसा  
कि हम आगे चलकर दिखायेंगे, पर इन्के साथ साथ यम नाश  
करनेके अर्थमें भी प्रयुक्त है । इसीको हम यं भी कह सकते हैं कि  
प्राणियोंके प्राण हरण करनेके माध्यमके आधिपतीका नाम यम  
है । हम आगे चलकर देखेंगे कि यम इस महकमेका राजा है ।  
इसके आकाशपुत्र प्रजा है, इसका लोक है, इसके इत है, अर्थात् ।

### आश्विनौ व यम ।

वीजुगमनिनाशुर्हमभिवा देवानां या ज्योतिः प्रासादान् ।।  
उद्गातभो नासन्ता सहस्रमात्रा यमस्तप्रपते विगाव ॥

म० १।१।६।११ ॥

हे ( वाद्ययाना ) वीजुगको करनेवाले ( नासन्ता ) अग्निने  
( विजुग मभिः ) बलसे विगावे के अर्थात् शक्तिशाली, ( आशु-  
होमभिः ) होमपापी यंत्रोंके ( वा ) अथवा ( देवानां ज्योतिः )  
देवोंकी उज्ज्वलसे ( तां राघमः ) उध राघम अर्थात् गर्दमने  
जो कि मुद्रापी अग्निवीर्य ( उवारी है ) ( दमय ) यमको  
( प्रपते अगो ) जिनमें बहुत पनपे प्राप्ति होती है ऐसे होमपा  
में ( उवारी ) होमपाओंको जॉत लिया ।

इस मंत्रमें आश्विनो व यमको अर्थात् अश्विनो व यमको  
है । यम मारनेवाला है, और अश्विनो देवोंके वेद होनेसे बिलने  
वाले हैं । यहाँपर यमका एतावत व आश्विनोके शत्रुमकी उतका  
वर्णन है ।

य उवर्जानो-उवर्ज सन्ने के यह उवर्ज बना है । इसका अर्थ  
आश्विनो करनेवाला है ।

रासभ-गर्दभ, गणा । यह अश्विनौकी सवारी है देखो  
निषण्ड १११५॥

अमुत्र भूयादथ यद् यमस्य बृहस्पते अभिवास्तेऽमुन्चः  
प्रत्योद्वातामद्विना मृत्युमस्मद्देवानामप्रेभिवज्रा वाचीभिः  
यजुः २१७९

अथर्वं ७५३१३॥

[ बृहस्पते ] हे बृहस्पति । [ यमस्य अमुत्र भूयादथ अभि-  
वास्तेः ] इस परलोकमें यमके कष्टसे [ अमुन्चः ] हमें छुड़ा  
अर्थात् यम हमें मारने न पावे । [ अप्रेभिवज्रा ] देवाना  
भिषज्जा अश्विना [ देवके वैद्य अश्विनौ [ वाचीभिः ] अपनी  
शक्तियों से साम-यौष [ अस्त्युं घृत्युं ] हमारी मृत्युको [ प्रत्यो-  
द्वातां ] दूर करे ।

अश्विनौ मृत्यु दूर करनेमें समर्थ हैं, ऐसा यहाँ पर भयक  
होता है । यमको हिंसासे बचानेके लिए प्रार्थना की गई है ।

इस प्रकार अश्विनौका त्रिष यमसे मुक्तबला पड़ता है वह  
भी यम बन्धी है, जो हम ऊपर दर्शा आये हैं । उपरोक्त यमकी  
ही पुष्टि इन मंत्रोंसे हो रही है ।

### विद्यारी ओदन व यम ।

विद्यारिणं ओदनं ये पचन्ति नैवानृषिः सचते कदा-  
चन । आस्ते यम उपमाति देवानस्ते गन्धर्वैर्मदंते  
सोम्येभिः॥

अथर्वं ४१३४३

[ ये ] जो [ विद्यारिणं ओदनं ] विस्तारवाते अर्थात् फैले  
हुए ओदनको [ पचन्ति ] पकाते हैं [ एगन् रेतः ] उनको [ अवतिः ]  
दरिद्रता [ कदाचन ] कभी भी [ न सचते ] प्राप्त नहीं होती  
अर्थात् ये कभी भी गरीब नहीं होते । वह ओदन पाचक [ यमो  
आस्ते ] यममें स्थित होता है, [ देवान् उपमाति ] देवों को  
प्राप्त होता है और [ सोम्येभिः गन्धर्वैः ] भीष्म गन्धर्वों के  
घाप [ संमदते ] आनन्दित होता है ।

विद्यारी ओदन पाचक की यममें स्थिति होती है, ऐसा यहाँ  
दर्शाया गया है ।

एवं इस मंत्रसे विद्यारी ओदनकी महिमाका वर्णन किया  
गया है । यहाँ यमका अर्थ गौतमशास्त्रीक आदिष्ठादि षड्व्यय प्रतीति  
होता है । पण्डित इच्छे अपने मंत्र अर्थात् आश्विन में यम  
चरको अर्थ में दो प्रयुक्त हुआ हुआ प्रतीत होता है । यह  
मंत्र इस प्रकार है—

विद्यारिणमोदनं ये पचन्ति नैवानृ यमः परिमुष्णाति  
रेतः । एहीद भूत्वा रथयान इयंते पक्षी ह भूत्वाति  
दिवः समेति ॥

अथर्वं ४१३४४ ॥

( ये ) जो ( विद्यारिणं ओदनं पचन्ते ) विस्तृत ओदन-  
को पकाते हैं ( एगन् रेतः यमः न परिमुष्णाति ) उनका  
वीर्य-सामर्थ्य यम अपहरण नहीं करता । ( ह ) निश्चयसे वह  
ओदन पाचक ( रथो भूत्वा ) रथ पर सवार होकर ( रथयाने )  
रथ से जाने योग्य अर्थात् उत्तम मार्ग में ( ईयंते ) विचरण  
करता है । अर्थात् वह रथादि यानों से संवत्त हुआ हुआ सर्वत्र  
विचरण करता है । ( पक्षी भूत्वा ) पक्ष-पंखोंवाला होकर  
अर्थात् विमानादि वायुयानोंमें सवार होकर ( दिवा समेति )  
दुलोक में विचरण करता है । वह आकाश, भूमि आदि सर्व  
रथानों में सव्याहत गति से विचरण कर सकता है । उसके  
जानेके लिए कहीं भी रोक टोक नहीं ।

यम जो सबका सामर्थ्य हरण कर लेता है, वह भी इसका  
वीर्य नहीं हरता । इस प्रकार इन दोनों मंत्रों में विद्यारी ओदन  
नहीं महिमा गाई गई है । यमको भी इसके पाचकके नाम  
ने हार माननी पड़ती है ऐसा इस घारे का अभिप्राय स्पष्ट  
होता है ।

विद्यारी ओदन-विद्यारीका अर्थ है विस्तारवाला अर्थात्  
बिस्का परिमाण बड़ा विस्तृत है । ओदन दान्य यहाँपर यम  
का उपलक्षण है । विद्यारी यत्त ओदन से किश जाता है ।  
इस अन्वयानुसारे भी महिमा इस सूक्त में दर्शाई गई है ।

### यमका कर्ता अग्नि ।

अग्नौ यो होता किञ्च स यमस्य कमप्युदे वाससज्जित  
देवाः । नहरहर्जायते मासि मासवया देवा वधिरे  
हृषयकादन् ॥

अ० १-१५२१३

( अग्नौ यो होता ) यह जो दान-आदान करनेवाली अग्नि  
दे ( स ) वह ( यमस्य किञ्च ) यमकी कर्ता है । वह ( कं  
अग्नि ऊर्ध्वे ) अग्निका मो बहन करती है ( यत् ) जिस अग्न  
को ( देवाः समपज्जित ) देव लोक खाते हैं । वह अग्नि  
( अहः अहः जायते ), प्रतिदिन इनके समग्र उत्पन्न होती  
है अर्थात् हृष प्रवृत्ति किया जाता है । और वह ( मासि  
मासि ) प्रत्येक मासमें या प्रत्येक पक्षमें मासिक व मासिक  
यज्ञमें प्रकट होती है । ( अग्नौ ) और ( देवा ) देवपक्ष

( हव्यवाहं ) हव्यका सहन करनेवाली इस अंगिकी (दधिरे) स्थापित करते हैं ।

इस मंत्रमें अग्नि को यम की करनेवाली बताया गया है । यहाँपर यम का अर्थ वायु भी हो सकता है क्योंकि अग्नि वायु को शुद्ध करती है । प्रचण्ड अग्नि के उड़ती होनेपर हवा खूब ओर से चलने लगती है । इसके अतिरिक्त इस मंत्रसे यह भी पता चलता है कि दैनिक, पाल्शिक तथा मासिक यज्ञ करने चाहिये ।

क = अक्ष । माघ = माघ तथा पक्ष ।

## यमकी घेडी ।

सुवचन्तु मा शपथ्यादयो वरुणादुव ।

अथो यमस्य पद्मीशात् सर्वस्माद्देवकित्थिवात् ।

॥ क. १०१७॥ ११॥

प. १०११०॥

अथर्व. ६।१६।२॥

तथा ७।११२।२॥

(मा) मुझे औपाधियां (शपथ्याद्) शप देनेसे होनेवाले पापसे ( सुवचन्तु ) छुड़ावें । ( अथ उत ) और ( वरुणाद् ) वरुण से कभी किए गए पापसे छुड़ावें । [ अथ ] और [ यमस्य ] यमकी [ पद्मीशात् ] पैरोंकी बेडियोंसे छुड़ावें । [ सर्वस्मात् ] देवकित्थिवात् ] सभी देवोंके सर्वस्वी पापोंसे औपाधियां मुझे छुड़ावें । पद्मीश = पादबंधन, मूँछला = पैरों की बेडी ।

वत् त्वाहायै पथ छाळादयो वराछाळादुव ।

अथो यमस्य पद्मीशात् विश्वस्माद् देवकित्थिवात् ॥

अथर्व. ८।१२८॥

[ त्वा ] मुझे [ पंचछाळात् ] पंचभूतमें होनेवाले पापसे [ अथ उत ] और [ दशछाळात् ] दशों दिशाओंमें होनेवाले पापसे [ अथ ] और [ यमस्य पद्मीशात् ] यमकी पैरोंकी बेडियोंसे तथा [ विश्वस्मात् ] सबों [ देवकित्थिवात् ] देवोंके प्रति दिए गए पापोंसे [ उत् आहार्यं ] बचाकर ऊपर ले गया हूँ ।

इन मंत्रोंमें यमकी बेडियोंसे घृतेन्द्रो मारना है । यहाँपर भी यम मारनेवाला ही है, वह स्पष्ट पता चल रहा है । आगे चलकर यमविषयक वर्णन जब हम देखेंगे तो यमकी परीक्ष आदिश छाला स्वयमेव हो जाएगा ।

## वैवस्वत यम ।

यत् यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम् ।

पथ आरवदामसीह सुधाप जीवसे क. १०१८।१॥

[ ते ] तैरा [ यत् यमः ] जो यम [ दूरकं ] बहुत दूर [ वैवस्वतं यमं ] विवस्वान् के पुत्र यमके पास [ जगाम ] चला गया है, [ ते तद् ] तैरा वह यम पुनः [ इह ] इस लोकमें [ सुधाप ] निवास करनेके लिए व [ जीवसे ] जीवन धारण करनेके लिए हम [ आरवदामसिह ] लौटाते हैं ।

यहाँपर वैवस्वत यम के पास चले गए मनके प्रत्यावर्तनका उल्लेख है । यमको वैवस्वत विशेषण दिया गया है । वैवस्वत का अर्थ है विवस्वान् की संतान । इससे यह पता चलता है कि मारनेवाला यम विवस्वान् का लड़का है । इसपर हम योमासा प्रकाश आगे चलकर बालेंगे ।

सुधाप=निवास करनेके लिए रहनेके लिये । 'क्षि निवासगम्योः

यमादहं वैवस्वतात् सुवन्धोर्मन आभारम् ।

जीवातेन न मूलवेऽथो भारिष्टालये ॥

क. १०१८।१०

[ अहं ] मैं [ वैवस्वतात् यमात् ] विवस्वान् के पुत्र यमसे [ सुवन्धोः मनः आभारम् ] सुवन्धु अर्थात् उत्तम बन्धुका मन जोन करके ले आता हूँ । किध लिए ? [ जीवातेन ] इस लोकमें जीनेके लिए [ मूलवे न ] मरनेके लिए नहीं । [ अथ ] और [ भारिष्टालये ] सुखके विस्तारके लिए

इस मंत्रका भाव भी पूर्वके मंत्रसे मिलता है । यहाँपरभी यमको विवस्वान् के पुत्रके नामसे कहा गया है । निम्न लिखित मंत्र हमारी ऊपरकी रघापनाकी स्पष्ट रूपसे पुष्ट कर रहा है । इसमें यमकी माता व विवस्वान् दोनोंका उल्लेख है । विवस्वान् यौन है यह भी पाठकोंको इससे स्पष्ट रूपमें पता चल जायगा । मंत्र इस प्रकार है—

वत्सा दुहिते यदुत्तु कृणोषीतीदं विधं भुवनं ममेति ।

यमस्य माता व पुत्र्यमाना महोज्ञाया विवस्वतो नरायण

स. १० । १० । १ ;

अथर्व. १८।१।१३॥

( वत्सा दुहिते यदुत्तु कृणोषि ) वत्सा अपनी पुत्री व विवाह रचता है ( इति ) इस काल ( इदं विधं भुवनं ) वह सारा भुवन ( ममेति ) इच्छा होता है । ( परि उन्नयना ) ब्याही जाती हुई ( यमस्य माता ) यम की जननी व ( महा विवस्वताः जाया ) महान् विवस्वान् की पत्नी ( नरायण ) नष्ट हो जाती है ।

इसी मूल के प्रथम मंत्रसे पता चलता है कि (१५८ व) पुत्री व यम कायू है और उक्त का वत्सा विवस्वान् के काय

विवाह करता है। इस मंत्र से हमें यह पता चलता है कि त्वष्टा-को पुत्री सरण्यु यमकी माता है व विवस्वान्की पत्नी है अर्थात् विवस्वान् यमका पिता है। अब हमें यह देखना है कि यम-का पिता यह विवस्वान् कौन है।

यास्क्याचार्य इस मंत्रके उत्तरार्धकी व्याख्या करते हुए लिखते हैं, कि 'यमस्यमातं पर्युदयमाना महतो जाया विवस्वतो ननाद्य, रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धायते।' अर्थात् यमकी माता जाया जाती हुई जो कि महान् विवस्वान्की जाया है नष्ट हो गई। 'आगे जाया विवस्वतो ननाद्य' का स्पष्टीकरण करते हैं कि 'रात्रि सूर्यकी जाया, सूर्यके उदय होनेपर छिप जाती है।'।

इस प्रकार विवस्वान्का अर्थ हुआ आदित्य अर्थात् सूर्य। इस उपरोक्त विवेचनसे हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं—यमकी माताका नाम सरण्यु है य पिताका नाम विवस्वान् अर्थात् सूर्य है। अर्थात् यम विवस्वान् (सूर्य) का पुत्र है, अतएव उसे वेदमंत्रोंमें वैवस्वत'के नामसे पुकारा गया है। वैवस्वत यमका ही सर्वत्र विशेषण है अन्यथा नहीं, अतएव वैवस्वतके साथ यम न भी प्रयुक्त हुआ हुआ हो, तो भी उचीका प्रहण होता है।

निम्न लिखित मंत्रोंमें अकेले 'वैवस्वत' शब्दकाही प्रयोग है।

मन्त्रं वै वरं पूजते अर्द्धं युष्मन्निव दक्षिणम्। अर्द्धं वैवस्वते चक्षुर्बहुप्रा जीवतो मनः॥

अ० १०।११४।२॥

इस मंत्रमें हुए स्वप्नके नाथ करनेकी प्रार्थना है। अर्ध इस प्रकार है—

धव लोक [ ये ] निधयसे [ अर्द्ध वरं पूजते ] कल्याणकारी वरको ही चाहते हैं। [ दक्षिण अर्द्ध ] वहे हुए कल्याणसे ही अपना [ युष्मन्निव ] योग रखना चाहते हैं [ वैवस्वते अर्द्ध चक्षुः ] विवस्वान्के पुत्रकी मैं कल्याणकारी चक्षुसे अर्थात् उसकी दृष्टि से चाहता हूँ, ताकि तु स्वप्न हमें बाधा न पहुँचाये। क्योंकि [ बहुप्रा ] बहुतसे विषयोंमें [ जीवतः ] जीवत हुए अर्थात् जगत् हुए मेरा [ मनः ] मन उनमें विचार करता रहता है, अतः तु स्वप्न आनेकी संभावना है।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि कल्याणकारी विचार व विलासन रहनेसे तु स्वप्न नहीं आ सकता। तु स्वप्न न आनेके लिए वैवस्वतसे प्रार्थना की गई है। यह वैवस्वत यम ही है, वह उपरोक्त विवेचनासे तो पुष्ट हो ही रहा है, पर

आगे चलकर 'यम व स्वप्न' इस प्रकरणमें हमें स्पष्ट रूपसे ज्ञात होगा कि स्वप्नका यमसे कितना सम्बन्ध है। तु स्वप्न यमका सागव है अर्थात् तु स्वप्नसे मृत्यु भी हो सकती है। अस्तु। यद्वापर यह सब स्पष्ट रूपसे हम दर्शानेका प्रयत्न करेंगे।

वैवस्वतः कृणवद् भागधेय मधुभागो मधुना स सृजाति। मातुर्वेदेन हृषित न आगन् यद् वा पितापरादो जिहीवे॥ अथर्व० १।११४।२॥

( वैवस्वतः ) विवस्वान्का पुत्र ( भागधेय हृणवत् ) भागको करे अर्थात् बंटवारा करे। [ मधुभागः ] उत्तम भाग करनेवाला वह हमें ( मधुना सृजाति ) हमें मधुसे पुष्प से। अर्थात् हम भी उत्तम बंटवारा करनेवाले हैं व सर्वश्रेष्ठ बनें। ( यद् एन ) जो पाप ( मनुः न. आगन् ) मातासे हमें प्राप्त हुआ है अर्थात् माताका अपराध करनेसे यदि हमने कोई पाप किया है तो वह ( यद् वा ) अथवा जिस पापसे ( पिता अपराधः ) हमने पिताका अपराध किया है जिससे कि पिता ( जिहीवे ) क्रोधित हुआ है, वह सब उपरोक्त घात होवे।

इस प्रकार इस प्रकरणमें हम वक्तेके संबन्धमें निम्न लिखित मुख्य बातोंका पता चलता है—

( १ ) यम नामक कोई प्राणियोंके जीवनका क्लेश करनेवाला है।

( २ ) उसके पिताका नाम विवस्वान् ( सूर्य ) है, अतएव उसका दूसरा नाम वैवस्वत भी है।

( ३ ) उसकी माताका नाम सरण्यु है जो कि त्वष्टाकी पुत्री है।

इतने यमसंबन्धी विवेचनके बाद हम यह देखनेके समक्ष रहनेका कोई स्थान है वानही, वह प्रणियोंके मारक की-पर लेखाता है, शर्यादि।

### यमलोक व यमराज्य।

इस प्रकरणमें हम यमके लोक व उसके राज्यके सम्बन्ध विचार करे अर्थात् यमलोक यदि है, तो कहाँपर है, इसका प्रकाश करनेका प्रयत्न करेंगे। निम्न लिखित मंत्र यह प्रतिपादन कर रहे हैं कि यमका एक खास लोक है—

उमरयव हाशुभ्यु किंविषाणि पृथक्पृथक्पुत्रं व पुत्रम्। क्वाप्यो यमममममो यमरय कोऽन्ति हस्तप्राप्युः अथर्व० १।११४।३॥



हे [ उभयपक्षे ] तत्रिष्टिवाली तथा हे [ राष्ट्रभूत ] राष्ट्र का मरण पोषण करनेवाली अष्टराश्री ! [ क्लिष्टिवाण ] सर्व पाप न ( यत् अक्षय ) जो पाप इन्दिनों द्वारा किया है ( यत् ) वह पाप ( न ) हमें ( अनुदत्तं ) अनुकूलतासे दिया हुआ हो अर्थात् उस पापसे हमें हानि न पहुँचे इस प्रकारसे दो, उभय पापको नष्ट करो । और ( नृणात् कृणु एवमगः ) कृणुसे व्याज आदि द्वारा शूलको बढाता हुआ उभयपक्ष अर्थात् कृणु देनेवाला ( यमस्य लोके ) यमके लोकमें ( अधिरज्जः ) दायमें रस्सी लिए हुए ( नः न आयात् ) हमें प्राप्त न होये अर्थात् हमें कृणुसे भी मुफ्त कर दो ताकि वनलोकमें इस सुखपूर्वक रह सकें ।

इस संघसे ऐसा पता चलता है कि जबकि ज्ञान न पुष्पाय  
 आवे तबतक मनुष्य उससे मुक्त नहीं हो सकता। मरनेवाला  
 यदि ज्ञान बिना पुष्पाएँ मरेगा तो यमलोकमें भी उसे वह ज्ञान  
 पुष्पाना पड़ेगा। इसीमें बहिरंग भी आपका मग्न करनेके लिए  
 पीछा करता हुआ आ पहुँचता। ज्ञान लेना कितना कष्टप्रद है  
 यह इससे पता चलता है।

यथापाद यमसादनात् पापलोकान् परावतः ॥

अथर्व १२१११३॥

इस मंत्रके अर्थके स्पष्टीकरणके लिए पूर्व मंत्रको भी छायामें लेना चाहिए। पूर्व मंत्र इस प्रकार है—

ब्रह्मण्यं वैश्वान्त्य भा मूनादनु सन्तु ॥

ਸਥਾਪਨਾ ੧੯੧੧-੧੨

६॥ अये ॥ अहिंसा करनेके लिये शपथ ॥ हे वेदी मन्त्रगो ॥  
 [मन्त्रार्थ] मन्त्राधी हिंसा करनेवाले पातकको [आत्मनाश]  
 करके केवल स्वर्गको [अनुदह] संपूर्ण जन्म दे ॥ १२॥  
 ११॥ ॥ यथा ॥ जिससे भी वह मन्त्रपातक [दमन]  
 पावनात् ॥ यमके वन्दने भी [पावनात्] ॥ दूर स्थित  
 (पावनोपाय) वनियोके लोकको [अपात्] जाये ।

इस अंशसे ऐसा पता चलता है कि पार कर्म करनेवाले पारिवर्तियों वयमोक्षमें इत्यादि नहीं मिलता, वे उच्च वयमोक्षसे भी परे स्थित पारव्योक्त में जाते हैं। इन्हें ब्रह्म वही भी ज्ञात होता है कि वयमोक्षमें ज्ञानवाने पारिवर्तियोंके अतिरिक्त जन हैं। ज्ञाता वयमोक्ष विवृष्ट इत्यादि नहीं हैं।

एवं समस्य ग्राह्यं वैश्वमानं बहुधर्मैः ।

इयमस्य धर्मस्य मार्गदर्शकं गीर्वाणं परिच्छेदम्. ॥

॥ १०११५० ॥

(इदं यमस्य खादनं) यह यमका घर है। (यत् देव-  
मानं उच्यते) जो कि देवों द्वारा बनाया गया है, इस प्रकार  
कहा जाता है। (अथ इयं नाडी) इस यमकी मीतिके लिए  
यह स्तुतिरूपी वाणी (धमते) उच्चारण की जाती है।  
(अथ) यह यम (मीमि) स्तुतिगुप्त वाणिशेषे (परि-  
पूरतः) शोधित होवे।

इन मंत्रों से हमें साक्षात्पण्डितता इतना पता चलता है कि यमलोक का कोई कृपान अवश्य है। निम्न लिखित मंत्रों के देखने से ऐसा पता चलता है कि यमका उस लोकमें राज्य है अर्थात् यम वहाँ का राजा है। उस लोकका यम राजा होने से उसका नाम यमलोक पड़ा है। अतएव वह लोक उसके नाम से अर्थात् यमलोक के नाम से पहिचान है।

पुमान् पुंसोऽपि तिष्ठ चर्मेति तत्र ह्यस्य यवमा शिषा  
ये । वाचन्ताम्रे प्रथमं समेषु हृत्वा वी ज्यो यम-  
राज्ये समानम् ॥ अथर्व १२:३:१ ॥

( पुत्रान् पुत्रः अपि तिष्ठ ) हे पुत्र ! पुत्र का अपि पिता बन अर्थात् उच्चपापिदार की प्राप्त कर । ( वरं ) सुख हो । ( इह ) प्राप्त कर । ( तत्र ) उस मुखमें ( यतमा ते त्रिषा ) जो तेरी प्यारी है वही ( ह्यस्य ) तुम्हा । ( भूमे ) पवित्रे ( वावल्मी ) जितने स्वर्ग हुए हुए तुम पतिवली दीनी ( प्रवर्न ) मरनेसे पूर्व वी आयु में ( वमेषुः ) प्राप्त किश है ( तत्तु ) वी वषा ) वह तुम्हारा वष वा आयु ( वमराज्ये ) वमके राज्य में समान हो ।

हृष मयमें बड़े महापरा उपदेश है। सबसे पूर्व मनुष्य  
 को उन्नति करनेके लिए कहा गया है। तदनंतर ग्रह प्रद-  
 करके अपने अनुकार मानके पुनर्नेके लिए कहा  
 गया है। इसीसे स्वर्ग्वर कह छाने हैं।  
 हृष प्रसारके विवरण बाद वर्णनी मिलेपुनकर प्रबने भावि-  
 यको उन्नतन करनेका प्रदान करे। विद्वान्ने हृष क.ये  
 हृषयों उन्ना वमनोभने मिलेगा वह वां वहा वमाउने  
 समान" के दयावा है। हृषवा अनिवाव वह हृषा कि शिवा  
 भी पठके हृष वमनोभने आगे है। अर्थात् विद्वान्ना हृष।  
 निरक्षरे के हृष हृषवा वमन- है, उन्ना हो मम म मां, वही  
 हृषा अर्थात्कि हृष-नी है।

समवेतिनाम्निकं सगु देवतादे मा ममा समेत यमहायेयु।  
पुत्री पवित्रैका प्रदूषयेत्। यद् यद् तेने जाति र्मा  
अकभूत न अचरेत् ।

( अस्मिन् लोके ) इस लोकमें ( स ) अच्छी तरह वा साथ साथ तुम पतिपत्नी ( एतं ) विचरण करो । ( उ ) और ( देवता ) देवोंके मार्गमें ( स ) मिलकर विचरण करो । ( यमराज्येषु ) यमराज्यमें ( स एतम् ) साथ मिलकर विचरण करो । ( यत् यत् रेतः ) जो वीर्य ( यो अग्नि संवभृवः ) तुम दोनोंमें उत्पन्न हुआ है, ( तत् ) उस वीर्यको ( पवित्रैः ) पवित्राचारों द्वारा ( पुत्रौ ) पवित्र हुए हुए तुम दोनों ( उप-द्वेष्टा ) अपने पास गुलाबों, अर्घात् पवित्र कार्यों ही बर्बिका उपयोग करो, इत्थं नष्ट मत करो ।

इस मंत्रमें वीर्यके सदुपयोगके लिए यूररथ दंपतीको उप-देश दिया गया है । इसको विचार एक महत्त्वपूर्ण बात यह बर्धाई गई है कि पतिपत्नी में इतना अधिक प्रेम होना चाहिये कि वे सर्वत्र साथ ही रहें । चाहे वे इस लोकमें हों, चाहे यमलोकमें वा अग्न्य किछी लोकमें । उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वे किसी भी हालमें लुप्त न हो सकें । यह वैदिक आदर्श यहाँ स्पष्ट रूपसे दर्शाया गया है । इस प्रकार यह मंत्र विशेष महत्त्वका है । इसका मनन करना चाहिए ।

सर्वा कामान् यमराज्ये यदा प्रदुष्ये दुष्टे ।

अभातुर्नाकं लोकं निरुभानस्य पातिवरात् ॥

अथर्व० ११।४।३५ ॥

( यदा ) यदा भी ( यमराज्ये ) यमके राज्य में ( प्रदुष्ये ) प्रदूषित होनेके लिए ( सर्वा कामान् ) सर्व प्रकार की कामनाओंके ( दुष्टे ) पुनः करती है । ( अथ ) और ( पातिवरात् ) मोक्षों के ( निरुभानस्य ) रोहन्तेकेला अर्घात् यदि कोई युवाय यदाभी गामे और उग्रो यदि न दी जावे तो न देने-पतिवरा ( लोक ) लोकका ( नाकं ) महाप्रदूषण ( आतुः ) ब्रह्मा है अर्घात् न देनेवाले को नरक मिलता है ।

इस मंत्रमें यदा भी ही महिलाका मनन है । यदा भी जो दान करनेवाले को यमराज्यमें किसी भी प्रकारका नष्ट नहीं होगा उग्रो यदि सर्व कामनायें पूर्ण होती हैं और इसके प्रतिबल यदाभी न देनेवाले को नरक मिलता है ।

यत्न तं देवः सविता यमो हर्षति यत्नम् ।

तदा यमस्य राज्ये यमानस्तान् पर ॥

अथर्व० १८।४।३६ ॥

हे युवा ! ( यत्नं देवः ) देव देव ( ते ) तेरे लिए ( यत्नम् ) यत्नमें ( यत्नं देवः ) यत्न देव ( यत्नं देवः ) यत्न देव ( यत्नं देवः )

देता है । ( तत् तावत् ) उस वृत्ति करनेवाले वरुणको ( वरुणः ) पवित्रकर ( यमस्य राज्ये ) यम के राज्यमें ( पर ) विचरण कर ।

इस मंत्रमें मृत पुरुषको जो कि यमलोकमें पहुँच गया है, उसको ब्रह्म देनेका विधान है ।

विष्णु लिखित मंत्रमें उस मृत पुरुषको तिलमिश्रित भोजन देनेका उल्लेख है, तथा यमराज्यसे इनको उस पुरुषके देनेके लिए अनुमति माँगी गई है—

वांति धानाः अनुक्रिषामि तिलमिथाः स्वधावतौ ।

तास्यै सन्तुष्टीः प्रभवीः साधो यमो राजानुमन्यताम् ॥

अथर्व० १८।४।३७ ॥

( ते ) तेरे लिए ( वाः ) तिलमिथाः स्वधावतौ : धानाः ) जिन मिलेके मिश्रित अर्घात् तिलमिले हुए स्वधावतौ धानोंको ( अनुक्रिषामि ) अनुकूलता से देऊँगा हूँ । ( ताः ) ये धान ( ते ) तेरे लिए ( उत्तरीः ) उदय करनेवाले ( प्रभवीः ) प्रभुता मात्रा में पालि बहुत मात्रा में ( सन्तु ) होंगे । ( ताः ) उन्हें ( ते ) तुम देनेके लिए ( यमो राजा ) यम राजा ( अनुमन्यताम् ) अनुमति देवे । यमके राज्यमें बिना यमकी अनुमतिसे किसीको कुछ नहीं दिया जा सकता, अतः उसकी अनुमति माँगी गई है ।

इस मंत्रमें यमलोक में गए हुए के लिए अर्घात् मृतके लिए तिलमिश्रित भोजन देनेका उल्लेख है । वे तिलमिश्रित भोजन यमराज्यमें जाकर किस रूपमें वरित हो जाते हैं, यह विष्णु लिखित मंत्र बतला रहा है—

धाना येनुः सवधु बानो अस्त्रास्त्रिकोऽभयम् ।

तं वै यमस्य राज्ये आशिषामुपजीषाव ॥

अथर्व० १८।४।३८ ॥

यमलोकमें जाकर उपरोक्त भोजनप्राप्त किए गए ( धानाः ) धान ( येनुः ) तुम करनेवाले को ( अभयम् ) भयना ( अस्त्राः ) और इस भयनही मोक्ष ( शत्रुः ) शत्रुता ( तिलः ) तिल ( अभयम् ) बनता है । ( वै ) निरवश ( यमस्य राज्ये ) यमके राज्यमें वह ( ताः ) उप पत्नी को वनी हुई मायवरी ही ( उप जीषाव ) आश्रित हुआ हुआ जीषा है ।

यहाँ पर धान तथा तिल यमराज्यमें जाकर तिलमिश्रित भोजन हो जाते हैं, यह दर्शाया गया है । इस लोके यमराज्य धान व तिल यमराज्यमें रहते हुए के निरुद्धे नहीं

क्योंकि उसके जीनेके ये एकमात्र आधार हैं ।

इन मंत्रों में हमने देखा कि यमलोकमें यमका राज्य है । यमराज्यमें भी यमलोकका ही प्रदूषण है । वहाँ पर यम मृतोंको ले जाकर रखता है ।

निम्न लिखित मंत्रमें यमका आए हुए मृत पुरुषको अपने राज्यमें स्थान देनेका उल्लेख है-

ददाम्यरमा अवसानमेतद् ये पृथ आगन् मम वेदभू-  
दिह । यमश्चिच्छिवान् प्रायेतवाह ममैव शय उप-  
विष्टसानिह ॥ यथर्व १८।१।३७॥

(अरमे) इस मृत पुरुषके लिए (एतत् अवसानं) इस स्थानको (ददामि) मैं देता हूँ । क्योंकि (एषः यः) यह जो है यह (आगन्) यमलोकमें आया है और (इह) यहाँपर आकर (मम चत्) मेरा ही (अश्रुत) हो गया है अर्थात् क्योंकि यह यहाँ आकर मेरी ही प्रजा बन गया है, अतः मैं इसे स्थान देता हूँ, अपने राज्यमें नहीं निकालता । इस उप-  
रोक्त प्रकारके (चिच्छिवान् यमः) ज्ञानवान् यम (एतत्) यह उपरोक्त 'ददाम्यरमे' इत्यादि वाक्य (प्रति आह) यमलोकमें आए हुए के प्रति कहता है । और यह भी कहता है कि (एषः) यह आगन्तुक (मम शय) मेरे घनके लिए (इह) यहाँ यमराज्यमें (उप विष्टताम्) उपविष्ट होवे अर्थात् उसे भी इस मेरे घनका भाग ले अप्रति यह भी अन्य प्रजा जनकी तरह मेरे घनका भाग मिले अप्रति यह भी अन्य प्रजाजनकी तरह मेरे लिए दिया जानेवाला उचित कर प्रदान करे ।

## युलोकमें यमलोक ।

नरा वा शंस पूषणमगोक्षमग्निं देवेदमभ्यर्चसे गिरा ।

सूर्यामासाचन्द्रमसा यमं दिवि जित वाउमुपसमक्तु-

मदिवना ॥

ऋ १०।६४.३॥

(नरा शंस, पूषण, अगोक्ष, देवेद अग्नि) नरोंसे प्रशंसा करने योग्य, पुष्टि करनेवाले, सर्वसाधारणसे जाननेके अयोग्य तथा जिसके देवोंने प्रज्वलित किया है ऐंही अग्निसे (गिरा अभ्यर्चसे) स्तुत्युक्त वाणियोंसे तू अभ्यर्चना करता है । (सूर्यामासा चन्द्रमसा) सूर्य तथा पक्षोंके निर्माण करनेवाले चन्द्रमाकी, (दिवि यमं) युलोकमें विद्यमान यमकी, (जितं वातं) तीनों लोकोंमें विस्तृत वायुकी, (उपसं) उपासी, (अक्तुं) रात्रिकी य (अश्विनी) देवोंके वैद्य अश्विनी की भी स्तुति कर ।

यहाँ पर इतना बताया गया है कि यमकी युलोकमें स्थिति है । पूर्व मंत्रोंमें यह पता चला था कि यमकी दिशा दक्षिण है । इसका मतलब यह हुआ की सुनें दक्षिणकी ओर वहाँ पर यमलोक है ।

हमें विलोकके प्रकारमें 'उदन्वती दीर्घमा' इत्यादि मंत्रोंमें पता चला था कि तीन गुण हैं । उनमेंसे प्रथम में जल रहता है, द्वितीयमें सूर्यादि नक्षत्रचक्र रहते हैं तथा तृतीयमें पितर रहते हैं ।

यव गह्वं वह यमलोकमें है। यह मानना पड़ेगा। तीसरी धुमें पितर रहते हैं अतः पितर यमलोकमें रहते हैं वह भी इसका अभिप्राय हुआ। यमलोकका यम राजा है, अतः पितर उसकी प्रजा हुए। पितर यमराज्यमें रहते हैं इस परिणामको निम्न मन्त्र पुष्टि कर रहा है—

य यमाना समनयः पितरो यमराज्ये ।

तेषां लोक एवम नमो गच्छी देवेषु कवचाम् ॥

यजुः ११।४५ ।।

( यम राज्ये ) यमके राज्यमें ( वे पितर, यमाना यम, नयः ) जो पितर यमान तथा यमन्य अर्थात् एक छन्दस्वाते हैं, ( तेषां ) उन पितरोंके अर्थ दिए गए ( लोकः, स्वर्ग, नमः, यज्ञ ) लोक, स्वर्ग, नमस्कार व यज्ञ (देवेषु कवचतां) वरमें यमर्ष होवे अर्थात् विकृत न हो।

इस मन्त्रमें पितर यमराज्यमें हैं वह दर्शाया है। पितरोंका स्थान तीसरी धु है। अतः वह धु यमके राज्यमें ही है, यह इस मन्त्रमें स्पष्ट हो रहा है ।

यमका राज्य तीसरी धुमें है और उसके आग सुलोक समस्त हो गया है वह निम्नलिखित मन्त्र बता रहा है—

यज्ञ राक्ष वैषावतो यज्ञावतोपने दिवः ।

यज्ञ गूर्ववतीराशरश्मय मागुव कूर्पन्नापेरां परिपश्य ॥

उस विशाल बेलको ( प्रजापतिः च परमेष्ठो च ) प्रजापति व परमेष्ठो ये दोनों ( मृद्गो ) दो छोंग हैं यानि गुरुवाणा नोष हैं। ( इन्द्र-शिरोः ) इन्द्र उसका छिर है अर्थात् इन्द्रा मिरः स्थानीय है। ( आग्निः ललाटं ) अग्नि उसका मकर ( माथा ) है और ( यमः ) यम उसकी ( कृष्णं ) परीक्षा भाग है।

यमको विशालकी रचनमें गर्दनमें स्थान मिलता है अर्थात् यमकी स्थिति उसके छातीमें गर्दनस्थानीय है।

इस प्रकरणमें हमें यमलोक, यमराज्य तथा उसमें स्थित का पता लगा है। अब अगले प्रकरणमें हम यमराज्यके दूतोंपर विचार करेंगे।

यमके दूत ।

इस प्रकरणमें यमके दूतोंका अस्तित्व, स्वरूप तथा कार्य दर्शाया जायगा। निम्न लिखित मंत्रोंमें यमके दूत होनेके विषयमें उल्लेख है—

कृणोमि ते प्राणायानी जरां ग्राधुं दीर्घमायुं शशित् ।

वैषावदेन प्रहितायु यमदूताभरतोऽवसेधामि मर्षाद ।

अथर्व० १।१।१४

( ते ) तेरे ( प्राणायानी ) प्राण और आयुष ( शशित् ) स्थिर करता हूँ। और ( दीर्घं आयुः ) दीर्घ आयुको तथा

मत्तं ) भरकी मुष्ठी अर्थात् पूँसा ( नृमेढु ) चूर चूर कर डाले ।

इस मन्त्रमें शत्रुओंके विनाशके लिए यमदूतोंके कदा गया है । मारना यमदूतोंका कार्य है, यह यहाँ पर स्पष्ट हो रहा है । इस प्रकार इन मन्त्रोंमें यमदूतोंका उल्लेख व कार्य दर्शाया गया है । अब हम देखेंगे कि ये यमदूत कौन हैं व इनका स्वरूप क्या है ।

### यमदूत—श्रवण ( कुत्ते )

अविद्वज्ज सारमेयौ श्रानौ चतुरशौ शयलौ साधुना पथा । अथा पितृन्सुविद्वद्रा उपेहि यमेन ये सधमादं मद्मन्ति ॥

अ० १०।१४।१०॥

यहाँ मंत्र अपरिवर्तित हो चले पाठभेदके साथ इस प्रकार है—  
अविद्वज्ज श्रानौ सारमेयौ चतुरशौ शयलौ साधुना पथा । अथा पितृन्सुविद्वद्रा अपेहि यमेन ये सधमादं मद्मन्ति ॥

अथर्व० १०।२१।११॥

( सारमेयौ ) सारमेय, ( चतुरशौ ) चार आँखोंवाले, ( शयलौ ) निप्रविनिप्र रंगबिरंगी ( श्रानौ ) दो कुत्तों से ( अति ) बचकर ( साधुना पथा ) उत्तम मार्गसे ( द्रव्य ) जा । ( अथ ) और ( सुविद्वज्ज पितृन् ) उत्तम ज्ञान वा धन से चपेट—मुष्ण पितरोंके ( खप इदि ) समीप जा । ( ये ) जो कि पितर ( यमेन सधमादं मद्मन्ति ) यमके साथ अत्यन्त आनन्दित हो रहे हैं ।

सारमेयौ—साधुनाचार्यने इसका अर्थ किया है कि सरमा नामकी देवोंकी कुत्ती है, उसके बच्चे । सरमा शब्द छ गतौ पातुधे बाहुल्यके अन्त करने पर बनता है । जिसका अर्थ है ' बहुत दौड़नेवाली ' । उसका पुत्र सारमेय । लौकिक साहित्यमें सारमेयका अर्थ कुत्ता प्रचलित है । अस्तु । तथापि हम सारमेय का अर्थ बहुत दौड़नेवाला ऐसा कर सकते हैं ।

इस मन्त्र में श्रेतकी कहा गया है कि यमके दोनों कुत्तोंसे जो कि रंगबिरंगे हैं, उनसे बचाकर उत्तम मार्गसे पितरोंके पास जा' जो कि पितर यमके साथ आनन्दित हो रहे हैं । यद्यपि इस मन्त्रमें यमके कुत्तोंकी यमदूतके नामसे नहीं कहा गया है तथापि आगे आनेवाले मन्त्रोंमें उन्हें यमदूतके नामसे कहा गया है व उनमेंसे प्रत्येकके रंग आदिका वर्णन है । वहाँ पर उहाँ शयल वहा है जिसका कि स्पष्टीकरण वहाँ है ।

यौ ते श्रानौ यम रक्षितारो चतुरशौ पथिरक्षी नृचक्षुः । ताम्भामेन परिदेहि राजन् स्वस्ति चात्मा

अनभीषण चेहि ॥ अ० १०।१४।११॥ अथर्व० १०।२१।१४

( यम ) हे यम । ( ते यौ ) तेरे जो ( रक्षितारी ) रक्षा करनेवाले ( चतुरशौ ) चार आँखोंवाले ( पथिरक्षी ) यम-लोकमें जानेके रस्ते की रक्षा करनेवाले तथा ( नृचक्षुः ) मनुष्यों के देखनेवाले ( श्रानौ ) दो कुत्ते हैं, हे राजन् ! ( ताम्भामेन ) उन दोनों पुर्षों द्वारा ( एनं ) इसको ( स्वस्ति ) कल्याण ( देहि ) दे अर्थात् वे कुत्ते इसे हानि न पहुँचावि ऐसा कर । ( च ) और ( अस्मै ) अनमीष धेदि ) इसके लिए नीरोमिता—रोगरहितता दे । इसे कभी रोग न सतावे ।

इस मंत्रमें यमसे कहा गया है कि वह अपने कुत्तोंसे किसी भी प्रकारका अछड़वाण न होने देवे, सर्वथा कल्याण व आरोग्य देता रहे ।

उत्पणसावसुतृवा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतौ जनों अनु । तावस्मभ्यं दशये सूर्याय पुनर्दातासुमधेह भद्रम् ॥

अ० १०।१४।१२॥

अथर्व० १०।२१।१५॥

( उत्पणसी ) लम्बी नाकवाले, ( अदुम्बलौ ) प्राणों के अधःसे तृप्त होनेवाले, ( उदुम्बलौ ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त बलवान् ( यमस्य दूतौ ) यमके दूत-उपरोक्त दोनों कुत्ते ( जनों ) अवचरत ) मनुष्यों के पीछे पीछे विचरण करते रहते हैं । ताकि अवसर मिलेगी उनके प्राणोंसे अपनी वृत्ति करें । ( तौ ) ऐसे वे यमदूत कुत्ते ( अस्मभ्यं ) हमारे लिए ( सूर्याय दशये ) सूर्य के दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीनके लिए ( अथ ) आज ( इह ) यहाँ ( भद्रं अनु ) कल्याणकारी प्राणको ( पुन ) फिर ( दातौ ) देंगे । वे हमारे प्राणोंको छिन-कर हमें मार न डालें, अथिष्ट उलटा प्राणों को देंगे ताकि हम यहाँ जीवित रह सकें ।

इस मंत्रमें पूर्व पत्रोंका यमदूत कुत्तोंके स्वरूप का वर्णन है । वे लम्बी लम्बी नाकवाले, अत्यन्त बलवान् व प्राणोंके भक्षण से तृप्त होनेवाले हैं । उनसे प्राणोंकी भिक्षा उत्तरार्थ में माँगी गई है ।

इषामश्रत्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्रानौ । नवविदि मा वि दीध्वो मात्र त्रिष । पराङ् मना ॥

अथर्व० १०।२१॥

( इगमः ) काला ( च ) और ( शबलः ) चितकनरा ऐसे रंगविरंगी ( यो ) जो दो ( यमस्य ) यमके ( पथिरक्षी ) यमलोकके मार्गकी रक्षा करनेवाले ( इवानौ ) कुत्ते हैं वे ( त्वा ) तुमसे ( मा प्रेषितौ ) मत बाधा पहुँचावें । ( अर्वाङ् एहि ) हमारे सम्मुख आ । ( मा विदीध्यः ) बिहृद मत हो अर्थात् हमें छेड़कर चले जानेकी कोशिश मत कर । ( अत्र ) यहाँ इस संसारमें ( पराङ्मनाः ) विक्षिप्तचित्त हुआ हुआ ( मा तिष्ठः ) मत स्थित हो । संसारसे उदासीन श्रुतिधारण मत कर ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि यमके जो दो कुत्ते हैं, उनमेंसे एक तो काले रंगका है तथा दूसरा काले सफेद आदि रंगोंसे मिश्रित चितकनरा है । इस मंत्रमें जो काला व चितकनरा करके यमके वृत्त कुत्तोंका वर्णन है, वह आलंकारिक रूपसे रात व दिनका वर्णन प्रतीत होता है । काला कुत्ता रात है और शबल कुत्ता दिन है । वे दिनरात मनुष्योंके पीछे प्राण हाण करनेके लिये लगे हुए हैं । ज्यों ज्यों दिन व रात गुजरते जाते हैं त्यों त्यों मनुष्योंकी आगु धुँग होती जाती है । अतः संभव है वे दिन व रात वास्तवमें यमके दूत हों और उनका यमके इशान ( कुत ) करके वर्णन किया हो । यहाँ पर एक और भी संछा उठ सकती है और वह यह कि इशान घन्टेसे ही क्यों यमके इन कुत्तोंका उल्लेख किया गया ? कुत्तोंके लिए दूसरे अनेक घन्टे विद्यमान हैं ही । परन्तु पाठकोकी ध्यानमें रखना चाहिए कि इशान घन्टा हमारी ऊपर की कल्पनाको और भी दृढ़ करता है । इशान घन्टके अर्धपर विचार करनेसे उपरोक्त संछा स्वयमेव शांत हो जाती है और इस इशान द्वारा किए गए आलंकारिक वर्णनका महत्त्व प्रतीत होने लगता है । ध्यानका फल है ( ११ = १२ = कन, न = नहों ) जो अनिष्टकी कल्पना में रहें अर्थात् जो आज तो है पर वह कन न रहेगा । जो दिन व रात एक बार निकल गए, वे फिर नुबारा भिटकर नहीं आते । अब पाठक ध्यान घन्टे के महत्त्वकी समझ गए होंगे कि क्यों यमके दूतोंको इशानके नामसे कहा गया है और उसके किछसे किस प्रकार दिन व रातका वर्णन किया गया है । परन्तु जबतक इस विषयमें पूर्ण ध्यान न की जाये जबतक निरवयव पुष्ट भी नहीं करा जा सकेगा । पाठक इस पर विचार करें ऐसे आकाश है । उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्थक यमकी भाँव लम्बे यममें अपिष्ट रहने दिया गया है

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह ।

- दूतों यमस्य मातुगा अधि जीवपुरा इहि ॥

अथर्व० ५।३०।१४

हे पुरुष ! ( सर्वेण मनसा सह ) धूर्ण मनके साथ अर्थात् मन लगाकर ( इह ) यहाँ इस संसारमें रहता हुआ ( एधि ) श्रद्धाकी प्राप्ति कर । ( यमस्य दूतौ ) उपरोक्त यमके दोनों दूतोंके [ मा अनुगाः ] पछि मत जा अर्थात् यमलोकमें मत जा । [ जीवपुराः ] जीवोंके पुराँको अर्थात् शरीरोंको [ अधि इहि ] प्राप्ति कर शरीर को छोटकर यमलोकमें मत जा ।

उपरोक्त मंत्रके उत्तरार्थका इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे पक्षपात किया गया है । यमके दूतों का अनुकरण करने अर्थात् मरनेका निषेध करते हुए देह धारण कर मन लगाकर संसारमें रहनेका उपदेश है ।

इन उपरोक्त मंत्रोंसे निम्न सारांश निकलता है-

( १ ) यमके दूत दो कुत्ते हैं ।

( २ ) वे दोनों कुत्ते लम्बी नाकवाले व चार आँखोंवाले हैं ।

( ३ ) उनमेंसे एक कुत्ता काला व एक चितकनरा है ।

( ४ ) उनकी श्रुति प्राणोंके भक्षण से होती है । वे मनुष्योंके पीछे सर्वदा प्राणावहण के लिए लगे रहते हैं । यमलोकमें जानेके मार्गकी वे सर्वदा रक्षा करते रहते हैं ।

यमका दूत ' मृत्यु ' ।

अनेमें जीवा अकथन् गृहेभ्यस्तं निर्वह्य परिग्रामदिव्या भूषुषैर्मरवासीरुदूतः प्रवेता असून् विदुभ्यो ममभा-  
यक ॥  
अथर्व० १८।१२०।४

प्राणधारी लोगोंने इस घनकी पंथीसे बाहर कर दिया है । उसको तुम लोग इस समयसे बाहर भेजो कि घरघरके भिन्न स्थानभूषणों में जाओ । यमका दूत जो मृत्यु है उसके द्वारा प्राणोंकी विपरीतके पाठ यमलोकमें भेज दिया है । अतः यमके यह नियतमात्र हो चुका है, इस कारण इसके घरसे यम के बाहर दहननादि किंवदंति लिए न जाओ ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि मृत्यु यमका दूत है, यह मृतक प्राणोंकी विपरीतके पाठ पहुँचाता है । इसका अर्थ यह हुआ कि मरनेपर जीव जिन्हे यम ने मारा है । यह मंत्र भी पूर्वोक्त निम्न मिश्रित परिग्रामोंकी कुछ वस्तु है ।

(१) यम प्राणोंका अपहरण करनेवाला है, क्योंकि मृत्यु उसका ही दूत है ।

(२) पितृलोक यमके राज्यमें है, क्योंकि मृत के प्राणोंको पितरों के पास पितृलोकमें यमका दूत मृत्यु पहुँचाता है ।

पाठकगण यमके दूतों सम्बन्धी इस उपरोक्त विवेचनमें यह कदापि न समझें कि यमके ये तीन ( दो फुल व तीसरा मृत्यु ) ही दूत हैं । और भा अनक दूत हैं । पर ये उनमें से प्रधान-मृत्यु हैं, अतः इनका विशद रूपसे वर्णन किया गया है । हम इस प्रकरणके प्रारम्भमें ही एक ऐसा मन्त्र देख आए हैं जिससे सहज पता चलता है कि यमके अनेक दूत हैं । उनका निर्देश मात्र है । विशागों का मात्र विगतपार वर्णन है । उस यमके अनेक दूत बतातेवाले मन्त्रका मूल रूपसे हम पुनः यहाँ दिग्दर्शन करते हैं—

मयतामृत मृत्युदूता यमदूता अपोम्भवः । परः सहस्राः  
हृष्यन्तो तुण्द्वनान् मय भवस्य ॥

अथर्व० ८।८।११॥

इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे मन्त्र हैं, जिनमें यमक अनेक दूत होनेका उल्लेख है ।

### यमका पितृयाणमार्ग जानना ।

यसो नो गातु प्रथमो विवेद नेपा गन्धूतिरपमर्तवा  
व । यत्रा न पूर्वे पितर परेयुरना जज्ञाना पथ्या  
अनु ज्ञाः ॥

ऋ० १०।१७।२॥

अथर्व० १८।१।५०॥

( प्रथम यम ) वह प्रसिद्ध यम ( नः गातु विवेद ) हमारे मार्ग को जानता है । ( एषा गन्धूति ) यह मार्ग स्थिति भी ( अपमर्तवै न ) अपहरण नहीं किया जा सकता । ( यत्र ) जिस मार्ग में ( न पूर्वे पितर ) हमारे पुरातन पितर ( परेयु ) गए हुए हैं । ( एषा ) इस मार्गमें ( जज्ञाना ) उपपन्न शान्ति मात्र ( सा पथ्याः ) अपने अपने पथोंके अनुसार ( अनु ) जाते हैं ।

यहाँपर यम उस मार्गका ( पितृयाणको ) जानता है, जिससे कि पितर जाते हैं व अन्य उनका अनुगमन करते हैं वह दर्शाया है ।

### यमकी स्वर्गमें पहुँचानेके लिए सहमति ।

नम मु खे निर्वृत सिमन्तजोषस्मय विभूता बन्धनमयम् ।  
यमेन एव यस्या सन्निवाशोचन नाके नाभि रोहयन्मम् ॥

यजु १२।६३॥

हे [ निमृते ] निर्वर्ति ! [ ते नम ] तेरे लिए नमस्कार है । [ सिमन्तज ] उत्कट तेजवाली तू [ अयस्मय एत बन्ध ] लोहेके इस बन्धनको [ विभूत ] काट डाल । [ एव ] तू [ य-मेन यस्या ] सविदाना । यम व यमके साथ मिलकर [ एन ] इससे [ उत्तमे नाके ] उत्तम स्वर्गमें [ अधिरोदय ] पहुँचा । इस यममें निर्वर्तिना यमक साथ एकमत होकर स्वर्गमें पहुँचानेका उद्योग है । अर्थात् स्वर्गमें जानेके लिए यमकी भी सहमति चाहिए ।

### यमका दीर्घायु देना ।

ऊर्जो भागोष इम जज्ञानाश्माम्नामधिपत्य त्रगाम ।

समर्च्य विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यम प्रतर जीवसे  
धाव ॥ अथर्व १८।१।५४ ॥

[ य ] जिस [ ऊर्जं भाग ] अन्नक विभाग करनेवालेने [ इम ] इस अन्नको [ जज्ञान ] पैदा किया है और आ [ अश्मा ] अश्मा होनेसे [ अज्ञानों अधिपत्य ] अन्नको स्वामित्वमें प्राप्त हुआ है ऐसे [ त ] उसकी ह [ विश्वमित्रा ] सबके मित्र । [ हविर्भिः ] हविषोंद्वारा [ अर्चय ] पूजा करा । [ स ] वह [ यम ] यम [ न ] हमें [ प्रतर जावसे धाव ] बहुतजानके लिए भारण करे अर्थात् दीर्घायु दव ।

### यमकी मनुष्योंसे रक्षा ।

सुषा माह्व वातघ्नः पृथिव्या वायुरग्नीषाद यमो  
मनुष्यस्य सरस्वती पार्थिवस्य ॥

अथर्व० १८।१।४४

[ सूर्य ] सूर्य [ अह ] दिनव अर्थात् दिन में होवेवले कष्टस्य [ मा यजु ] मय रक्षा करे । [ अग्नि ] अग्नि [ पृथिव्या ] पृथिवीसे, [ वायु ] अन्तरिक्षात् वायु अन्तरिक्षसे, [ यम मनुष्येभ्य ] यम मनुष्यों से तथा [ सरस्वती पार्थिवस्य ] - सरस्वती पार्थिव पदार्थोंसे मरी रक्षा करे ।

### यमकी मृत्युसे रक्षा ।

अथ यजु शोकेव यथ यमिन्द्राग्नी धामा सविता  
ब्रह्मरुषिः । सोमो राजा बह्वो अश्विना यमः  
एषाह्मन्त्र परिग्राह्य मृत्योः ॥ अथर्व० १२।२।११॥

[ य शोकेव यथ ] जिस पुण्यवश भी यमका अर्थात् पुण्यके स्वामी अमुर्धने [ अय-यजुः ] छिन्नक किया है, उस यमक कारण होनेवाली [ मृत्योः ] मृत्यु [ ब्रह्मर्षि ]

इन्द्र और अग्नि, [ धाता ] धारण करनेवाला, [ हविषा ] प्रेरणा करनेवाला, [ चूदस्वपतिः ] वाणियोंका अधिपति, [ सोम-राजा ] सोम्य स्वभाववाला राजा, [ वरुणः ] वरुण, [ अदिवना ] देवों के वैद्य अदिवनौ, [ यमः ] यम तथा [ पूषा ] पोषक देव [ अरमान् ] हमारी [ परि पात्र ] रक्षा करें।

मंत्रोंक प्रत्येक देवतासे पुरुष की हिंसा से रक्षा करने की प्रार्थना की गई है। सबके साथ यम से भी मृत्युसे रक्षा करनेके लिये कहा गया है। यम के अनेक कार्य हैं जैसा कि पाठ-कोट्टी यमके प्रकरणसे पता चलेगा। यहाँ पर ब्रिंके पोट्टेसे मंत्रों का जिनका कि अन्वय समझिय नहीं हो सक्त है, दर्शाए गए हैं।

**यमके प्रति हमारे कार्य।**

**यमके लिए हवि।**

परिवेषांसं ममवो महीरनु बहुम्यः पन्थामनुपस्वना-  
नम्। वैवस्वयं सङ्गमनं जनानो यमं राजानं हविषा  
दुवस्य ॥

अ० १०१४११७

[ प्रवतः ] प्रवृष्ट, उत्तम तथा निष्ठुर योनिगत प्राणियोंका [ अन्त ] लक्ष्य करे [ महीः परिवेषांसं ] पृथिवीपर आए हुए तथा [ बहुम्यः ] बहुतोंके लिए [ पन्था ] दमलोकके मार्ग को [ अनुपस्वनांसं ] दर्शाते हुए [ जनानो सङ्गमनं ] जिसमें मनुष्य जमा होते हैं ऐसे [ वैवस्वतं ] विवस्वान् के पुत्र [ यमं राजानं ] यम राजा की [ हविषा दुवस्य ] हवि देकर पूजा कर।

हमने पहिले देखा है कि यम के दून् मनुष्योंके पीछे सर्वदा लगे हुए हैं। वहाँपर उही भाव को भिन्न करके दर्शाया है। यम सबके पीछे लगा हुआ है। जिस जिसकी अवधि पूर्ण हुई कि उसे समझोक या मार्ग यह दर्शाता है।

यमाय सोमं मुनुत यमाय तुहता हविः।

यमं ह यज्ञो गच्छस्यमिदृशो अरद्भुतः ॥

अ० १०१४११८

यह मंत्र जोड़ते पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें है—

यमाय सोमः पयंत यमाय दिवते हविः।

यमं यज्ञो गच्छस्यमिदृशो अरद्भुतः ॥

अथर्व० १८१३१३

[ यमाय सोमं मुनुत ] यमके लिये दहमें सोम को भिक्षो-  
को। [ यमाय हविः मुनुत ] यमके लिये दह में हवि को।

[ ह ] निश्चयसे [ अरद्भुतः ] अमिटतः यज्ञः यमं गच्छति ] सीधता करता हुआ, अग्नि जिसका दूत है ऐसा यज्ञ रमके जाता है।

इस मंत्रमें यमके लिए सोम व हवि देनेका उल्लेख है। यमके लिए किया गया यज्ञ उसे प्राप्त होता है यह भी साथ दर्शाया गया है।

यमाय घृतवत्विजुहोत प्र च तिष्ठत।

स नो देवेष्वा यमहीर्घायुः प्रजीवसे ॥

अ० १०१४११९

अथर्ववेदमें योडेंसे पाठभेदके साथ यह मंत्र इस प्रकार है—

यमाय घृतवत् पयो राडं हविजुहोत न।

स नो जीवेष्वा यमहीर्घायुः प्रजीवसे ॥

अथर्व० १८१३१४

( यमाय ) यमके लिये ( घृतवत् हविः ) कीड़े परित्यक्त हविषी ( जुहोत ) दो। और इस प्रकार ( प्रतिष्ठत ) प्रतिष्ठित होओ। ( यः ) वह यम ( नः ) हमें ( यमहीर्घायुः ) उत्तम प्रकारसे जीनेके लिए ( देवेषु ) देवोंमें ( नः ) हमें ( दीर्घायुः ) लम्बा मत् । दीर्घायुष्यको देवे।

इस मंत्रमें यमके लिये चाये परित्यक्त हविषी देनेकी व दीर्घायु देनेकी प्रार्थनाका उल्लेख है।

**यमके लिये अन्नकी हवि**

यद् वामं अकुन्तिखनन्तो जमे कार्षीवमा अन्नविदो न

विद्यथा। वैवस्वते राजानि तज्जुहोम्यय यजिषं मनु-

मस्तुत भोजनम्

अथर्व० १०१४१२०

( अन्नं ) पहिले ( निखनन्तः ) भूमि खोदते हुए अन्नवि-  
द्वय करते हुए ( अन्नविदः ) अन्नको जाननेवाले अर्वादि अन्न-  
को प्राप्ति किस प्रकारसे होती है इस बातक जाननेवाले अन्न-  
अन्नकी प्राप्ति करनेवाले ( कार्षीवमा ) किसानों ( न विद्या )  
अन्नलोकके कारण (यद् वामं अकुः) जो यमसंबंधी आराधना  
अथवा [ अन्नविदः न ] अन्नको प्राप्त करनेवालोंकी तरह [ वद् ]  
वामं अकुः ] जो कृषिप्रबंधी निवसकमूह बनाया [ तद् ] उस  
उपलक्ष्य अन्नको [ वैवस्वते राजानं ] वैवस्वत राजा यमसे  
[ जुहोमि ] देता हूँ [ अयं ] और तब [ नः ] हमारा  
[ यजिषं अन्नं ] मागकर अन्न ] यमके दोष जो अन्न है, वह  
मगुरायाका होवे।



इस मन्त्रमें नवोन उत्पन्न अष्टका अथा यमके लिये देनेका निर्देश है ।

### यमकी पूजा ।

ते हि यावापृथिवी भूरितस्ता नराशंसश्चन्द्ररश्मौ यमोऽदितिः । देवस्त्वष्टा ऋषिणेदा ऋमुक्षण प्रतो दसी मरुतो विष्णुरादरे ॥ अ० १०।१२।११ ॥

( ते भूरितस्ता यावापृथिवी ) वे बहुत जलवालीं घु और पृथिवी, ( यम ) यम, ( अदिति ) भादति, ( त्वष्टा दन ) त्वष्टा देव, ( ऋषिणे दा ) अग्नि, ( ऋमुक्षण ) ऋषीं वा कारि-  
गर गण, ( रोदसी ) दक्षक परसी, ( मरुत ) देवगण तथा ( विष्णु ) विष्णु ये द्रव्य ( नराशंसः चन्द्ररश्मः ) नराशंस चतु-  
रण यज्ञमें ( अदिते ) पूजे जाते हैं । यहा अन्त्योक्त याव यमका भी पूजाका उल्लेख है ।

### यमके लिये घर बनाना ।

यथा यमाय हर्म्यमवपत् पचमानवा ।

एवा यपामि हर्म्यं यमा मे भूयोऽस्तव ॥

अथर्व० १८।४।५५ ॥

( यथा ) जिस प्रकार ( पचमानवा ) पाचमानवोंने ( यमाय ) यमके लिए ( हर्म्यं ) घरको ( अवपत् ) बनाया है, ( एव ) उसी प्रकार मैं भी ( हर्म्यं यपामि ) घर बनाता हूँ ( यमा ) जिससे कि ( मे ) मेरे ( भूय ) बहुतसे घर ( अस्त ) हो जावें ।

पचमानवा.—प्राद्वान, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण प पांचवा निषाद । अथवा दक्षमनुवादि पूजन, वैशाखी ऐत रेय प्राद्वानमें कहा है— ' सर्वेषां वा एतत् पचजनानां उक्थ्य देवमनुष्याणां गन्धर्वाप्सरसां सर्वाणां पितॄणां च । एतेषां वा एतत् पचजनानां उक्थ्यम् ' इति । ऐ. ब्रा. ३।३२ ॥

इस मन्त्रमें ७६ दर्शाया गया है कि जिसको अपना घरोंके बनानेकी इच्छा हो वह यमके लिए घर बंधवाते । पच मानव यमके लिए घर बनाते हैं ।

### यमके लिये स्वधा नमः ।

यमाय वितुमते स्वधा नमः ॥ अथर्व० १८।४।७४ ॥

( वितुमते यमाय ) उलूट पिताके पुत्र यमक लिए स्वधा और नमस्कार है । यहाँ यमक लिए स्वधाका निर्देश है ।

इस प्रकार इस विभागमें संक्षेपत यमक लिए हमें क्या करना चाहिए, यह दर्शाया गया है ।

### यम और स्वप्न ।

इस प्रकरणमें यमके साथ स्वप्नका क्या सम्बन्ध है, उसकी उत्पत्ति कैसे होती है, इत्यादि बातोंकी खोज होगी ।

### स्वप्नका पिता यम ।

मो न लोबोऽसि न मूढो दधानाममृतमर्भोऽसि स्वप्न । वरुणानी तै माता यम पितारकर्मामसि ॥

अथर्व० १।४६।११ ॥

हे स्वप्न ! ( य ) जो तू ( न जाव अग्नि न सृज ) न तो जीवित ही है और नहीं मरा हुआ ही है वह तू ( देवाना अमृतगर्भं असि ) देवोंका अमृत गर्भ है अर्थात् देवोंमें सर्वेदा रहनेवाला है । ( ते ) तेरा ( वरुणानी माता ) वरुणानी माता है और ( यम पिता ) यम पिता है । ( अरह नाम असि ) तू अरह नामवाला है ।

दधाना—यहा देवानों का अर्थ इन्द्रियोंका है । स्वप्न इन्द्रियोंमें अमृत रूपसे बसा हुआ है । क्योंकि ज्ञातुत अवस्थामें इन्द्रियोंके अनुभवांशे उत्पन्न वाचनावोशे वह उत्पन्न होता है । हमारे अन्दर वाचनावै स्वाधी हैं, अतः स्वप्न उन वाचनावोशे उत्पन्न होनेसे अमृत है, अतएव उसे यहा अमृतगर्भसे कहा गया है ।

अरह—पीडा देनेवाला, ईंसक । ' ज्ञातुतिर्द्वैजमनो ' से बना है । ते ब्रा ३।२।१४ के अनुसार अरह नामवाला अशुर ।

वरुणानी—वरुण अर्थात् अधिकार की पत्नी ।

इस प्रकार इस मन्त्रमें यमकी स्वप्नका पिता कहा गया है । अर्थात् स्वप्न यमका पुत्र है । अतएव कई बार स्वप्नसे मृत्यु भी हो जाता है ।

यमस्व सोकादधा बभूविथ प्रथमदा मर्याद प्रतुषाक्षि धीरः । पृकाक्षिना स्रथ यासि त्रिदा नस्वप्न मिमावो अतुरस्व घोवी ॥

अथर्व० ११।५६।११ ॥

हे स्वप्न ! तू ( यमस्व सोकादधा ) यमके लोहवे ( आध आ बभूविथ ) प्रहट हुआ हुआ है । ( धीर ) पीठ तू ( प्रथदा ) बड़े अभिमानसे ( मर्याद ) मर्यादामें मनुष्यों को ( प्रतुषाक्षि ) अपने साथ घुसक करता है—नर्थात् अपने

प्रभावसे उनमें प्रविष्ट हो जाता है, अतएव मनुष्योंको स्वप्न आता है । ( विद्वान् ) जानता हुआ अर्थात् जानबूझकर तू ( अमुरस्य योनौ ) आत्माके उपलब्धि के स्थान हृदय में ( स्वप्नं मिमानः ) स्वप्नको उत्पन्न करता हुआ ( एकादिना ) अकेले स्वप्नदर्शी पुरुष वा मृत्युके साथ [ सरयं ] समान वाहनपर सवार हुआ हुआ [ यासि ] विचरण करता है ।

पूर्व मंत्र में यमको स्वप्नका पिता दर्शाया गया है । इस मंत्र में उसीकी पुष्टिके रूपमें बताया गया है कि स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर यद्वापर संसार में आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हुआ हुआ है ।

### स्वप्न, यमका करण ।

विद्य से स्वप्न जनित्र देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः । अन्तकोऽसि मृत्युरसि । तं त्वा स्वप्न त्वा स विद्य स नः स्वप्न दुष्यन्धात् पादि ॥ अथर्व० १।१६१२ ॥

हे स्वप्न ! [ ते जनित्रं विद्य ] तेरी उत्पत्तिकी हम जानते हैं । तू [ देवजामीना पुत्रोऽसि ] देवोंकी पत्नियोंका पुत्र है और [ यमस्य करणः ] यमके कार्योंका साधक है । तू [ अन्तकः अथि ] अंत करनेवाला है । [ मृत्युः अथि ] तू मारनेवाला है । हे स्वप्न ! ( तं त्वा ) उस तुझको [ तथा ] तथा उपराक्त जंसा [ स विद्य ] हम जानते हैं । [ सः ] यह तू स्वप्न ! [ नः दुष्यन्धात् ] तुझे स्वप्न से हमारी [ पादि ] रक्षा कर ।

इस मंत्र में स्वप्नको देवपत्नियोंका पुत्र कहा गया है । तू मन्त्री टिप्पणमें हमने स्वप्नकी उत्पत्ति दर्शाते हुए यह बताया था कि देव अर्थात् इन्द्रियोंके विषयोंके उत्पन्न वायना-जोम स्वप्नकी उत्पत्ति होती है । उसी कथनकी पुष्टि इस मंत्र में ' देवजामीनां पुत्रः अथि ' से की गई है । देवों अर्थात् इन्द्रियोंकी पत्नियों इन्द्रिविषयजन्य वायनावे हैं । स्वप्न उनका पुत्र है । यही पर विशेष बात बड़ी गई वह यह कि रर नये मगदा करण बताया गया है । पाणिनि मुनिने एतच्छ लक्षण अष्टाध्यायी में किया है कि— ' साधकतमं ' ( अष्टाध्यायी २ ) अर्थात् जो कार्यसाधनमें समीपतम साधन है, वह करण है । कार्यसाधक सब साधनों में जो साधन अधिक अवश्यक है वह करण कहलाता है । इस लक्षणानुसार यमका स्वप्न करण है, इसका अभिप्राय यह हुआ कि यमके

मारने के कार्यमें स्वप्न सब से अधिक आवश्यक साधन है पाठक स्वप्नके इस विशेषण से उसकी भयंकरताका अनुमान सहज कर सकते हैं ।

इसी मंत्र के भावको ही नीचे लिखे मंत्रमें शब्दमेरुसे कहा गया है—

देवाना पत्नीनां गर्भं यमस्य कर यो मरः स्वप्न ।

स मम यः पापस्तेतद्विषते प्राणिमः ।

मा तृष्टानामसि कृष्णशकुनेमुन्नमू ॥ अथर्व० १।१५५।१७

हे ( देवानां पत्नीनां गर्भं ) देवोंकी पत्नियों के गर्भस्थ तथा ( यमस्य कर ) यमके हाथ स्वप्न ! ( यो मरः ) जो कल्याणकारी तेरा अंश है ( सः ) वह अंश ( मम ) मेरा होवे । ( यः पापः ) और जो तेरा पापी—अनिष्टकारी अंश है [ तत् ] उस अंशको [ दिषते ] देव करनेवाले प्रति [ प्राणिमः ] हम भेजते हैं । [ तृष्टानां ] तृप्तितां—लोभियों—कुर्रोंके बीचमें [ कृष्णशकुनेः ] काले पक्षिके [ कीएके ] [ सुक्षे ] सुखी तरह तू [ मा अथि ] हमारे लिए बाधक मत हो, अर्थात् जिस प्रकार कोमियोंको वा कुर्रों के लिए कीए का मुख अनिष्टकारी होता है, उस प्रकार तू हमारे लिए अनिष्टकारी मत हो ।

विद्य से स्वप्न जनित्रं प्राद्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ अथर्व० १।१५।१८

हे स्वप्न ! [ ते जनित्रं विद्य ] तेरी उत्पत्तिकी हम जानते हैं । तू [ प्राद्याः पुत्रः अथि ] प्राद्वी का पुत्र है और [ यमस्य करणः ] यमके कार्योंका साधक है ।

इस मंत्र में स्वप्नको प्राद्वी का बेटा कहा गया है । यदि आदि शरीरके जकड़नेवाले रोग ' प्राद्वी ' कहलाते हैं । उन रोगोंके कारण शरीर में पीड़ा बनी रहती है, जिससे निद्रा नहीं आती और यदि आई भी तो स्वप्नशीली अवस्था बनी रहती है अतएव स्वप्नको प्राद्वीका पुत्र कहा गया है । दमघ करण की व्याख्या ऊपर कर आए हैं ।

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ अथर्व० १।१५।१९

हे स्वप्न ! तू ( अन्तकः अथि ) प्राणान्त करनेवाला है । तू ( मृत्युः अथि ) मारनेवाला है । निद्रा बराबर न आनेसे व रोज स्वप्न आनेसे स्वप्न विमोचक अंशमें मृत्यु हो जाती है, अतएव स्वप्नको वही अन्तक व मृत्युके नामसे कहा गया है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं निर्मलः पुत्रोऽसि यमस्य  
करणः । अन्धकोऽसि मृत्युरसि । तं एवा स्वप्न तथा  
सं विद्य स नः स्वप्न दुष्पन्थात् शाहि ॥

अथर्व १६१/५४॥

मंत्र का अर्थ हम ऊपर दे आए हैं । वहाँ पर ऐसा ही मंत्र  
आया है । इस मंत्र में स्वप्न को निर्मलता पुत्र कहा गया  
है । निर्मलता से स्वप्न की उत्पत्ति का अभिप्राय यह है कि  
निर्मलता से स्वप्न की उत्पत्ति का अविनाशिक निदान नहीं  
आती । स्वप्न वह अवस्था है जिस अवस्था में कि गाव निदा-  
का अभाव होता है । और कष्टादि की दशा में मनुष्य को  
गाव निदा नहीं आती । इसी अभिप्राय से स्वप्न को निर्मलता-  
का पुत्र कहा है । गोप मंत्र की व्याख्या पूर्ववत् ही है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि यमस्य  
करण । अन्धकोऽसि । इत्यादि अथर्व १६१/५४ वत् ॥

अथर्व १६१/५५॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्र में स्वप्न को अभूति अर्थात् अनैतरे  
शरीर का पुत्र कहा है । दरिद्रता के परिताप से भी मनुष्य-  
को निदा नहीं आती । इस प्रकार गरीबी से भी स्वप्न ( वास्त-  
विक निद्रा के न आने ) की उत्पत्ति है । गोप व्याख्या पूर्ववत्  
ही समझनी चाहिए ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं निर्मलः पुत्रोऽसि यमस्य  
करणः । अन्धकोऽसि । इत्यादि पूर्ववत् ॥

अथर्व १६१/५६ ॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्र में स्वप्न को निर्मलता का पुत्र कहा  
गया है । निर्मलता का अर्थ है ऐश्वर्य-संपत्ति का निवृत्त ज्ञान,  
मष्ट हो जाना । संपत्तिशाली की संपत्ति मष्ट हो जाने से उसे  
भी निद्रा नहीं आती । वह सुख की निद्रा से नहीं सो सकता ।  
इस प्रकार संपत्तिविनाश का भी स्वप्न पुत्र है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्या पुत्रोऽसि यमस्य  
करणः । अन्धकोऽसि । इत्यादि ॥

अथर्व १६१/५७॥

अर्थ पूर्ववत् । इस मंत्र में स्वप्न को पराभूति का पुत्र कहा  
गया है । पराभूति का अर्थ है पराभव अर्थात् हार जाना,  
तिरस्कार की प्राप्त होना । पराभव से या तिरस्कार से मनुष्य को  
इतना मानसिक कष्ट होता है कि, उसके जिने निद्रा हराय हो  
जाती है । और इस प्रकार पराभूति से स्वप्न की उत्पत्ति  
होता है ।

विद्य ते स्वप्न जनित्रं देवजानीनां पुत्रोऽसि यमस्य  
करणः ॥ अथर्व १६१/५८॥

हे स्वप्न ! तेरी उत्पत्ति की हम ज्ञानते हैं, तू देवों की पत्नी  
यों का पुत्र है और यम के कार्यों का साधक है । इस मंत्र का  
भाव हम पूर्व दर्शा आए हैं । देवपत्नियों का पुत्र स्वप्न किस  
प्रकार है, यह वहाँ विशदरूप से दर्शा आए हैं ।

इस प्रकार यह अथर्ववेदके १६ वें काण्ड का ५ वां सूक्त  
संपूर्ण यम व स्वप्नविषयक है जो कि हमने ऊपर दिया है  
इस सूक्त से व इससे व दिए गए पदिके के मन्त्रों यम व  
स्वप्न का सम्बन्ध स्पष्ट होता है । स्वप्न यमलोक में रहता है,  
वह जिसे मनुष्यों में प्रविष्ट हुआ है, उसका पिता यम है,  
वह ज्ञानी उसकी माता है । वह अपने पिता यम के कार्यों का  
निकटतम साधक है । इसके अतिरिक्त स्वप्न अर्थात् वास्तवि-  
क निद्रा का अभाव विन विन कारणों से होता है तथा उससे  
यम दुष्परिणाम होते हैं, स्वप्न यम का करण किस प्रकार है,  
इत्यादि बातों का उल्लेख इस सूक्त में स्पष्ट रूप से हमें देखने को  
मिला है । इस प्रकार यह सूक्त तथा स्वप्नविषयक अन्य मंत्र  
भी यम के स्वरूप, दर्शाने में पर्याप्त सहायक हैं । यमविषयक  
पूर्व स्थापना की ये मंत्र भी पुष्ट कर रहे हैं, यह पठक विवेच-  
न से समझ सके होंगे ।

अब वहाँ यम विषयक वे मंत्र दिए जायेंगे जो कि निर्धारित  
प्रकरणों में वे किन्हीं में भी शामिल नहीं किए जा सके हैं । इस  
प्रकरण में दिए गए मंत्र भी अवतक आए हुए यम से ही सम्-  
बन्ध रखते हैं, यह बात पठकों को भूजनी नहीं चाहिए । और  
यह न समझना चाहिए कि इस प्रकरणान्तर्गत मंत्रों में शायद  
यम का-य अर्थात् वास्तविक अर्थ में प्रयुक्त यम हन सबसे  
अन्त में 'जिनि मिष अर्थों में प्रयुक्त यम' नामक शब्दों में दूँगे ।

यम कौन है ?

को समस्त प्रथमो मर्यानां य प्रेषाथ प्रथमो लोकमे  
सम् । वैवस्वत सङ्गमन जतानां यम राजान इविया  
सम्पत्तयः ॥ अथर्व १८३/१३

( य. ) जो ( मर्यानां प्रथमः समस्त ) मनुष्यों में सबसे  
प्रथम मरा और ( य. ) जो ( एत लोक प्रथम य इयाय )  
इस लोक-व्ययलोक के सबसे पहिले मरा उस ( जनानां सग-  
मन ) जनो के सममन ( वैवस्वत यम राजान ) विवेचान्क  
पुन यमराजाधी ( इविया सम्पत्तयः ) इवि द्वारा पूजा रहे ।

इस मन्त्रसे ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्यविषे सबसे प्रथम मनुष्य विवस्वान् का पुत्र, सबसे पहिले इस लोकमें आकर मरा और फिर सबसे पहिले उस लोकमें गया, अतः उस लोक का नाम उसके नामसे यमलोक ऐसा पड़ा । इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो मनुष्य सबसे प्रथम मरता, है वह इस कल्पमें यम बनता है ।

यममनसा अर्थ है जिसमें प्राणी जाकर जमा होते हैं । यमगात्राकी हवि द्वारा पूजा करनेका भी यहाँ निर्देश है । अर्थात् यम की भी हवि देनी चाहिये ।

### यम य विवस्वान् ।

यमः परोबरो विवस्वान् ततः परं नातिपश्यामि किञ्चन ।

यमे अन्तरो अघि मे निविष्टो भुवो विवस्वान्वाततान् ॥

अथर्व० १८।२।३२॥

( यमः परो० ) यम परे है अर्थात् दूर है और ( विवस्वान् ) सूर्य उससे ( अन्तरः ) घमोघ है । ( ततः परं ) उस यम से परे मैं ( किञ्चन न अति पश्यामि ) कुछ भी दूर स्थित हुआ हुआ नहीं देखता हूँ, नही समझता हूँ । ( यमे मे अन्तरः अघिनिविष्टः ) यमके अन्दर मेरा अन्तर अर्थात् हिंसाहित यम स्थित है । ( विवस्वान् भुवः अनु आततान् ) सूर्यने ग्लोह की अपने प्रकाशसे पैला रखा है ।

### इषुमान् यम ।

दक्षिणापै स्वा दिश इन्द्रापाधिपतये तिराभिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते । एवं परिदमः ।

नो गोपायतास्माकमैतोः । दिष्टं नो अत्र पश्ये नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्यथ पश्येन सह संभवेम च । अथर्व० १२।३।१५

[ दक्षिणापै दिशे अधिपतये ] दक्षिण दिशाके हमको के लिए [ तिराभिराजये रक्षित्रे ] कौट पंतङ्गादि तिरस्क मन करनेवालेसे रक्षा करनेवाले [ इषुमते इन्द्रान् यमाय ] यम धारक ऐश्वर्यशाली यमके लिए [ एवं स्वा ] इस दुष्टको [ परिदमः ] सँभते हैं । [ अस्माकं ऐतोः ] हमारी यंत्रिके [ तं ] उसकी तथा [ नः ] हमारी [ गोपयत ] रक्षा कर । ( दिष्टं नः अत्र पश्ये नि नेषज्जरा ) हमारे परंजन्मके कर्त अर्थात् नहीब हमें यहाँ सुझाये तक पहुँचावे । ( नः ) हमें ( जरा ) बुढ़ापा ( मृत्यवे परि ददातु ) मृत्युको सँभे अर्थात् ददात्यथसे पूर्व हमारी मृत्यु न हो । ( अथ ) मरनेक बाद ( पश्येन सह संभवेम ) पश्ये परिदमै परमात्मके साथ मिलें ।

## यमका अधिको स्थिर करना।

इषीका जरतीमिष्ट्वा तिलिपञ्चं दण्डनं नश्यत्।

तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥

अथर्व० १२।२।५४॥

[ इन्द्रः ] इन्द्रने [ जरती इषीकां ]-जरती इषीकाये [ दण्डा ] याग करके और [ तिलिपञ्चं ] तिलिपञ्च, [ दण्डनं ] दण्डन व [ नदं ] नदको [ इध्मं ] समिधा बना करके [ यमस्य ] यमकी [ तं अग्निं ] उस अग्निको [ निः आदधौ ] निःस्यसे स्थापित किया।

जरती इषीका = बूटें अर्थात् मूखे हुए काने।

तिलिपञ्च- तिलोंके गुच्छे। दण्डन- यह भी एक प्रकारकी कानेकी जानकी वनस्पति है। नदनके जिसकी कलमें बनती हैं।

इस मंत्र में यह दर्शाया गया है कि यमकी अग्निमें इन तीनोंसे याग करना चाहिए जिससे कि यमकी अग्नि स्थिर बनी रहे।

## यमके भाग जल।

यमस्य भाग स्य। अथां शुक्रमापो देवीं वचो

नमसासु अक्षः। प्रजापतेर्वो धाम्नाऽरमे लोकाय

सादये ॥ अथर्व० १०।५।१९ ॥

हे जलो! तुम [ यमस्य भाग स्य ] यमके भाग हो। [ देवीः आपः ] हे दिव्य जलो! [ अथां शुक्रं वचोः अरमासु अक्ष ] जलोंका शुद्ध तेज हमारेमें स्थापित करो। [ वः ] शुक्रें [ प्रजापतेः धाम्ना ] प्रजापतिके तेजसे [ अरमे लोकाय सादये ] इस लोकके लिए स्थित करता हूँ।

इस मंत्रमें जलोंको यमका अंश बताया गया है। उनसे तेज भागनेकी प्रार्थना की गई है।

... यमनेत्रेभ्यो देवेभ्यो दक्षिणासद्वत्सेभ्यः

स्वाहा... ॥

यजुः ५० १।३५ ॥

( यमनेत्रेभ्यः ) यम जिनका नेता है, ऐसे (दक्षिणासद्वत्सेभ्यः) दक्षिण दिश में बैठनेवाले ( देवेभ्यः स्वाहा ) देवोंके लिए यह आहुति है।

... ये देवा यमनेत्रा दक्षिणासद्वत्सेभ्यः

स्वाहा... ॥

यजुः ५० १।३५ ॥

( ये देवाः यमनेत्राः ) जो देव यमनेत्र अर्थात् यम जिनका नेता हैं ऐसे तथा ( दक्षिणासद्वत्सेभ्यः ) दक्षिण दिश में बैठने—

वाले हैं ( तेभ्यः ) उनके लिए ( स्वाहा ) स्वाहापूर्वक यह आहुति हो।

इन मंत्रोंसे दक्षिण दिशावालोंका यम नेता है, ऐसा पता चलता है।

... यमस्य त्रयोदशी... ॥ यजुः २५।४ ॥

यमकी त्रयोदशी है।

... यमाय कृष्णः यजुः २४।३० ॥

यमके लिए काला पशु होवे। यजुर्वेदके इस मंत्रमें भित्तु भित्तुके लिए भित्तु भित्तु पशुओंका विधान है। परन्तु इस विधानका क्या रहस्य है; यह एक विचारणीय समस्या है।

तस्या यमो राजा वास आसीद्

रजतपात्रं पात्रम् ॥

[ तस्याः ] उस विराट्कवी गीका [ यमः राजा ] यम- राजा [ वासः आसीत् ] बसठा था व दूध पीने के लिए [ पात्रं ] बरतन [ रजतपात्रं ] चांदीका बरतन था।

यहाँपर आलंकारिक वर्णन प्रतीत होता है, पर यह अलंकार किसका किस प्रकार है यह एक विचारणीय बात है। यहाँ दिए हुए कई मंत्र, खास करके पिछले विशेष विचारणीय हैं क्योंकि इनका अभिप्राय बराबर स्पष्ट नहीं हो रहा है।

## यम व पितरोंका संबंध।

यम व पितर विषयक के अवलोक के विवेचनसे ग्राह्यगण पितर व यमके पारस्परिक संबंधसे कुछ न कुछ अवश्य परिचित हो गए होंगे। यमके तथा पितरों के अलग अलग दिए गए विवरणोंसे यम क्या है व पितर क्या हैं, यह भी पाठकों के स्वागतमें खूब आगया होगा। यम व पितरों के संबंध का खास खास स्थानोंपर हमने निर्देश भी किया है। उन निर्देशोंसे जो बातें हमें पता चली हैं उनसे यह स्पष्ट है कि यम पितरों का राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं। पितर यमलोक में रहते हैं। उनका नाम पितृलोक भी है।

इन्हें उपरोक्त परणामों को पुष्टि मित्र मंत्र स्पष्ट रूपमें करते हुए दिखाई दे रहे हैं।

## यम पितरोंका अधिपति।

यमस्य विगृह्यमधिपतिः स यामनु। नरिमन्  
प्रज्ञापयदियन् कमन्धवस्य पुरोधा यामस्य प्रतिहा-

यामत्यां चित्यामस्यामाकृत्यामस्यामासित्यार्यां

देवहूत्यां स्वाहा ॥

अथर्व० ५।२।१।१५॥

[ उः पितृणा अधिपतिः ] वह पितरोंका स्वामी [ राजा ]  
[ यमः ] यम [ ना अवतु ] निम्न निःपित यमोंमें भेरी रक्षा  
करे । ( अग्निम् ब्रह्मणि ) इस ब्रह्मज्ञान की प्राप्तिमें । ( अग्नि-  
न् कर्मणि ) इस भेद कर्ममें । [ अरथा पुणेभावा ] इस पुरो-  
हिताईके काम में । ( अस्था प्रतिष्ठाया ) इस प्रतिष्ठके कार्य  
में । [ अस्था चित्या ] इस चेतनायुक्त कार्योंमें । [ अस्था  
आनुराया ] इस संकल्पमें । [ अस्था आशिषि ] इस  
आशीर्वादके कार्यमें । [ अस्था देवहूत्यां ] इस देवोंके आवा-  
हनके कार्योंमें ।

इस मंत्रमें यमकी पितरोंका स्वामी कहा गया है । पितरोंके  
ऊपर यमके अधिकारको बड़ा बर स्तुत किया गया है । वह  
अधिकार किस रूपमें है अर्थात् यम पितरोंका किस तरह  
स्वामी है, यह भाँके भेदके स्पष्ट हो रहा है—

त यत् पितृनुवचत् यमो राजा भूवाऽ-

नुवचत् स्वधाकारं अन्नादं हृत्वा ॥

अथर्व० १।५।१।१२॥

[ उः ] वह यात् ( यत् ) जब [ पितृन् अनुवचत् ]  
पितरोंका लक्ष्य करके बला अर्थात् पितरोंमें आया तब [ यमः  
राजा भूवा ] यम पितरों का राजा बनकरके तथा पितरों के  
लिए [ स्वधाकारं अन्नादं हृत्वा ] स्वधा धारके लिए हुए  
को जीवनयात्रा का साधनभूत अन्न बनता हुआ [ अनुव-  
चत् ] इस मातृके पीछे पीछे पितरों में आया ।

यात् नाम अतिथि का है । यहापर यम पितरोंका राजा  
बनकर उनमें रहता है, वह दर्शाया गया है ।

पितरोंका यम राजा है, इस बातको निम्न मंत्रभी पुष्टि  
कर रहे है ।

मां या यमः उवाचिष मां देवी श्रिषी मदीः

लोकं पितृषु सिद्धैश्च यमराजमु ॥

अथर्व० १।८।१।२५ ॥

[ या यात् ] मां उवाचिष [ मुमै इष ] अर्थात् व्यवस्थाओं  
बाधा मत पहुँचाव । १५ यम यमराजपितरोंका उत्तरक्षण है ।  
[ देवी मदी श्रिषी मा ] और दिम्ब शुश्रूषाको विस्तृत  
पूजारी भी मुमै बाधा मत पहुँचाव । [ यमराजमु पितृषु ] लोकं  
विस्था ] यम जिनका राजा है ऐसे पितरोंमें स्थान प्राप्त

करके [ एषत् ] वृद्धिको प्राप्त हो ।

इस मंत्रमें स्पष्ट रूपसे यमका पितरोंके राजा होनेको दर्शाया  
गया है । पितर यमकी प्रजा हैं । यमराज्यमें भी पितर रहते  
हैं, इसका यहापर स्पष्ट रूपसे उल्लेख है । यह मंत्र प्रत्येक  
लक्ष्य करके कहा गया है । इसी प्रकार निम्न मंत्रमें भी यम-  
राजके मंत्रके भावको पुष्ट किया गया है ।

ममो अपानो म्यान आयुश्छन्दोमे स्वपिय ।

अपरिपरेण यथा यमराजः पितृन् गच्छ ॥

अथर्व० १।८।१।४६ ॥

( प्राणाः ) प्राण, ( अपानः ) अपान, ( म्यानः ) म्यान,  
( आयुः ) आयु और ( चन्द्रः ) आँख ( स्वाँव इत्ये )  
स्वयंके दर्शनके लिए अर्थात् इस संसारमें जीवन धारण करनेके  
लिए दोनों । और आयुके पूर्ण होनेपर देहका त्याग करनेपर वे  
प्रेत ! तु अपरिपरेण यथा ] अकुटिल मार्ग द्वारा [ यमराजः  
पितृन् ] यम जिनका राजा है, ऐसे पितरोंको ( गच्छ ) को,  
प्राप्त हो ।

अपरिपरा - परिपरा स्वर्णः वरा परमावा कुटिलभावा  
अथवा शत्रुः न विद्यते स्थिरः उः अपरिपरा=सर्पः । विद्यते  
स्वर्णः कुटिलता वा शत्रु आदि नहीं है वह अपरिपरा ।

इस मंत्र में भी पितरों का जो विशेषण दिया गया है,  
वह यम का पितरोंके राजा होनेको ही सिद्ध कर रहा है ।

यम-श्रेष्ठ पितर ।

सप्तर्षी वा इदं ब्रूतेऽप्यो देवीः प्रजापतिम् ।

पितृन् यमश्रेष्ठान् ममस्ते नो मुपचनन्तं हता ॥

अथर्व० १।१८।१।११ ॥

[ उत ऋषीन् ] सात ऋषियोंको [ इदं ब्रूया ] वह कहते  
हैं । ( देवीः अप्यः ) दिव्य जलोंकी हम कहते हैं । [ प्रजा  
पति ] प्रजापतिको हम कहते हैं और [ यमश्रेष्ठान् पितृन् ]  
यमके कारणसे जो श्रेष्ठ हैं ऐसे पितरोंको हम [ ब्रूया ]  
कहते हैं कि [ ते ] उपरोक्त सब [ नः ] हमें [ भद्रता मुप-  
चन्तु ] प्राप्त हो सुखसे ।

यहापर पितरोंको यमश्रेष्ठ कहा गया है । यहापर यमका  
अर्थ योगमें बड़े गए आदिता, उत्तम आदि भी हो सकता  
है । जो इन ऋषियोंके पालनेमें श्रेष्ठ हुए हैं । वे यमश्रेष्ठ  
एषा भी इसका अर्थ हो सकता है । अथवा यम जिनमें श्रेष्ठ  
हैं ऐसा भी होगा ।

अस्तु । उपरोक्त विवरणसे यह पता चला कि यम पितरोंका राजा है व पितर उसकी प्रजा हैं ।

### यम व पितरोंके सहकार्य ।

इसमें यह दिखाया जायगा कि कौन कौनसे कार्य यम तथा पितर मिलकर करते हैं ।

### यमके साथ हवि खाना ।

ये नमः पूर्वे पितरः सोम्यासोऽनूहिरे सोमवीथं वसिष्ठाः । तेमिषमः संररागो हवीष्युः शन्तुशङ्गिः

प्रतिकासमनु ॥ अ० १०।१।५५॥ यजु० ११।१५१॥

( ये पूर्वे सोम्यासः वसिष्ठाः पितरः ) हमारे जिन पुरातन सोम संपादन करनेवाले तथा उत्तमधनवाले पितरोंसे यज्ञमें ( सोमवीथी ) सोमपानको ( अनु ऊहिरे ) किया था, ( तेमि ) उन ( उशङ्गि ) यमके साथ सोमपानकी कामना करते हुए पितरोंके साथ, ( शन्तु यमः ) पितरोंके साथ सोमपानकी इच्छा करता हुआ यम ( संररागः ) पितरोंके साथ रमण करता हुआ ( हवीषि ) हविष्योंको ( प्रतिकास ) गयेच्छ ( अनु ) खाने ।

इस मंत्रमें पितरोंके साथ हवि खानेकी इच्छा करता हुआ यम उनके साथ हवि खाता है यह दर्शाया गया है ।

ये नमः पितुः विवरो ये पितामहा अनुजहिरे सोमवीथं वसिष्ठाः । तेमिषमः संररागो हवीष्युः शन्तुशङ्गिः प्रतिकासमनु ॥ अथर्व० १८।३।४४ ॥

इस मंत्रका उत्तरार्ध उपरोक्त अ० १०।१।५८ के साथ चर्चया मिलता है ।

( न. ये पितुः पितरः ये पितामहाः ) हमारे जिन पिताके पितरोंने और उनके भी जिन पितामहोंने जो कि उत्तम धन-संपन्न थे, ( सोमवीथी ) यज्ञमें सोमपान ( अनुऊहिरे ) स्वीकृत किया था अर्थात् सोमपान किया था, उन पितरोंके साथ-एकसाथ पूर्ववत् ॥

इस मंत्रमें भी प्रथम मंत्रोक्त बातमें ही पुनः कहा गया है । इस प्रकार यमका पितरोंके साथ हवि लेनेका कार्य ये मंत्र बता रहे हैं ।

### यम व पितरोंके साथ खाना ।

इयामि ये मनसा मन् इहमन्तर्यूर्य उपजुषाण पक्षि । सं मच्छस्व पितुभिः स यमेन सोमा-

स्त्वा वावा उपवान्तु शम्मा ॥

अथर्व० १८।२।२१ ॥

( ते मनः मनसा इयामि ) तेरे मनसे मन द्वारा मुलाता हूँ । ( इह ) यहा ( इमान् यूरान् ) इन घाँसे ( जुषाणः उप पक्षि ) शनि करता हुआ अन्तर था । तु ( पितुभिः ) पितरोंके साथ ( सं मच्छस्व ) विचरण कर । ( यमेन सं ) यमके साथ विचरण कर । [ सोमाः ] मुखदायक, [ शम्मा ] शक्तिशाली [ वाताः ] वायु [ त्वा उपवान्तु ] तेरे लिए बहें ।

यहापर यम व पितरोंके साथ जानेको कहा गया है, उपरान्त अभिप्राय यह हुआ कि यम व पितर साथ साथ विचरण करते हैं ।

### पितर व यमका मिलकर सुख देना ।

दक्षिणो दिक्षपति तक्षमागौ पर्यावर्तेथामभि पात्रमेतत् । तस्मिन् वा यमः पितुभि संवि-  
दानः पवशाप शम् बहुलं नियच्छात्

अथर्व० १२।१।८ ॥

[ दक्षिण दिक्षं ] दक्षिण दिशाकी [ अभिनक्षमागौ ] ओर जाते हुए तुम दोनों [ एतत् पात्रं अभि ] इस पात्रकी ओर [ परि आवर्तेथाम् ] लौट आओ । [ तस्मिन् ] उस पात्रमें [ पितुभिः संविदानः यमः ] पितरोंके साथ मिलकर हुआ यम ( पवशाप ) पकव होनेके लिए अर्थात् पूर्ण आयु देनेके लिए ( वा ) तुम दोनों को ( बहुलं दाम् ) बहुत सुख ( नि- यच्छात् ) देवे ।

इस मंत्रमें यह दर्शाया गया है कि यम पितरों के साथ मिलजुलकर सुख देता है । यहा पात्र शब्दसे किंवच अभिप्राय है, यह स्वयं नहीं होता ।

### यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति ।

अपस्मरे ह्रुपदे वेपिथे इहामिदितो मृत्युभिर्न सहजम् यमेन ख पितुभिः संविदान उपम नाकं अपिरोक्ष्य-  
मम् ॥ अथर्व० ३।६३।३ ॥

राट०४।४॥

( इह ) यहा [ अमिदितः ] उपरान्त स्थित हुई हुई दे निर्याति । तु ( ये सहर्मे ) जो [ जारो ] है ऐसे ( मृत्युभिः ) मृत्युके पाशोंसे ( अपस्मरे दुपदे ) दोहदवरी लकड़ी की बनी हुई बेकीने ( वेपिथे ) बांधती है । ( खं ) तु [ यमेन पितभिः सं विदानः ] यम और पितरोंके साथ मिलकर उनकी सहमति

[ इम ] इसको [ उत्तम नाक आधिरोधय ] उत्तम स्वर्णमें पट्टा ।

निर्मोक्षसे यथा प्रार्थना की गई है कि वह यम व पितरोधि मित्रकर स्वर्णमें पट्टावे । परन्तु इसका क्या अभिप्राय है अर्थात् निर्मोक्ष किध प्रकार स्वर्णका पट्टाकारी है, उसका स्वर्णसे क्या तात्पर्य है यह विचारणीय है ।

### पितरोंका स्मृणा धारण करना व

#### यमका स्थान देना ।

उत्ते स्तभनामि पृथिवीं स्वपरीम कोण निदधन्मो  
अह रिपम् । एता स्मृणा पितरो धारयन्तु तेऽन्ना  
यम सादना ते मिनोतु ॥ अ० १०।१८।१३॥

यह मन्त्र जोवेले पाठमन्त्रके साथ अथर्ववेदमें भी आया है ।

उत्ते स्तभनामि पृथिवीं स्वपरीम कोण निदधन्मो अह  
रिपम् । एता स्मृणा पितरो धारयन्तु ते तत्र यम  
सादना ते कृणोतु ॥ अथर्व० १८।१४॥

( ते ) तेरे लिये ( पृथिवी ) पृथिवीके ( उत्तमभनामि )  
ऊपरकी कटाकर रखता हूँ । फिर ( त्यत् परि ) तरे पर उस  
( कोण ) मिश्रीक डेलोंको जो कि कटा रखा है ( निदधन् )  
रखता हुआ ( मो अह रिपम् ) मैं मत नष्ट होऊँ । ( एता  
स्मृणा ) इस लक्ष्मीको तेरे लिये ( पितर धारयन्तु ) पितर  
धारण करें । ( अत्र ) और उस आधारस्तम्भपर ( ते ) तेरे  
लिये ( यम ) यम ( सादना परोंकी ) मिनोतु बनावे ।

#### अङ्गिरस् पितर व यम ।

मातली कश्यपैर्मनो अङ्गिरोभिर्वृहस्पतिर्जन्मभि-  
र्पातृषान । यथा देवा वानृष्यं च देवानस्वधा-ये  
स्वधयान्ये मनुजित ॥ अ० १०।१८।१३॥

यह मन्त्र पाठान्तरे अथर्ववेदमें है—

मातली कश्यपैर्मनो अङ्गिरोभिर्वृहस्पतिर्जन्मभिर्वा-  
पान । यथा देवा वानृष्यं च देवानस्ते नोऽवन्तु  
पितरो हवेतु ॥ अथर्व० १८।१४०॥

( मातली ) इन्द्र ( कश्यप ) ऋषय सामेनाले पितरोधे,  
( यम ) यम ( अङ्गिरोगिभिः ) अङ्गिरस् पितरोंके तथा ( वृह-  
स्पतिः ) बृहस्पति ( जन्मभिः ) प्रजापति ( वानृष्यान् )  
वृद्धिके प्रस होता है ( वानृ देवा वानृष्य ) जिनको देव  
प्राप्त है ( देव ) और आ ( देवान् ) दशोंको बढाते हैं,  
( अन्वे ) अन्वेय अथ मातला, यम और बृहस्पति को

( स्वाहा मन्त्रित ) वषट्कारके दो हुई हविसे प्रसन्न होते हैं  
और ( अन्ये ) इनके भित्त दूसरे कव्य अङ्गिरस् आदि ( स्वध-  
या ) स्वाधकारसे प्रसन्न होते हैं ।

अथर्ववेदमें जो थोड़ासा पाठभेद है वह इस मन्त्रके अर्थ  
को अधिक स्पष्ट करता है । उसके अनुसार मन्त्रार्थ इस  
प्रकार है—

— इन्द्र कव्य पितरोधे, यम अङ्गिरस् पितरोधे तथा बृहस्पति  
कव्याओंसे स्तुति करनेवाले पितरों से बढता है । जिन पितरों-  
को ये उपरोक्त देव बढाते हैं तथा जिन देवोंको ये उपरोक्त  
पितर बढावे हैं ऐसे वे पितर बुद्धिमान् जानेपर हमारी रक्षा करें ।  
इस प्रकार इस मन्त्रमें यह दर्शाया गया है कि यम अङ्गि-  
रस् पितरोंसे बढता है यानि पयस्वी होता है ।

इम यम प्रस्तर सा हि तीक्ष्णरोमि । पितुमि  
संविदान् । आ स्वा मन्त्राः कविशस्ता, वहन्त्येता  
राजन् हविषा मादयस्त ॥ अ० १०।१४।४॥

अथर्व० १८।१४०॥

हे यम ! ( अङ्गिरोमि पितुमि संविदान् ) अङ्गिरस्  
पितरोंसे मिलता हुआ तू ( इम प्रस्तर ) इस कैलाश हुए आश्रत  
पर ( आसीद ) बैठ । ( स्वा कविशस्ता मन्त्राः ) तुझे कवि-  
शस्त्र अत्र ( आ वहतु ) सुलावे । ( एता ) इस ( हविषा )  
हविषा ( मादयस्त ) प्रसन्न हो ।

कविशस्त्र मन्त्र— कवि अर्थात् कन्तदर्था जानो मोहोंके  
जिनकी प्रशंसा की गई है ऐसे मन्त्र, प्रशंसीय मन्त्र । इस मन्त्र  
में प्रशंसापरक मन्त्रोंद्वारा यमके आचार्यस् पितरोंके साथ बुद्धि-  
पर वक्ष्यमें विस्तृत आश्रत पर बैठानेका उल्लेख है ।

#### यमका अङ्गिरस् पितरोंके साथ आना ।

अङ्गिरोभिरतामहि यजियेमि यम वैकृषैरिह मादयस्त ।  
विषस्वन्तु जुवे य पिता तेऽस्मिन् यजे बर्हिस्ता  
निषध ॥ अ० १०।१४।११॥

यह मन्त्र जोवेले पाठभेदके साथ अथर्ववेदमें भी है—

अङ्गिरोभिराङ्गिरोगिभिर्वृहस्पतिर्जन्मभिर्वा-  
पान । यथा देवा वानृष्यं च देवानस्ते नोऽवन्तु  
पितरो हवेतु ॥ अथर्व० १८।१४०॥

हे यम ! ( वैकृषैः ) विविधरूपवाले ( यजियेमि ) पूजना-  
युक्तके योग्य ( अङ्गिरोगिभिः ) अङ्गिरस् पितरोंके साथ ( इह ) आचार्य  
वक्ष्यमें आ । और ( मादयस्त प्रसन्न ) हो । ( विषस्वन्तु दुरे )



में विवस्वान् को भी बुलाया है ( यः ) जो कि विवस्वान् ( ते पिता ) तेरा पिता है । वह तेरा पिता ( अस्मिन् यज्ञे ) इस यज्ञमें ( बर्हिषि आ निषय ) आसनपर बैठकर यजमान को आनन्दित करे ।

इस मंत्रमें यमको अंगिरस पितरोंके साथ - यज्ञमें बुलाया गया है । इसके अतिरिक्त यह मंत्र यमका पिता विवस्वान् है इस प्रकार परिणाम का समर्पण कर रहा है । विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलानेका यहाँ निर्देश है ।

अबतक के इन मंत्रोंसे अंगिरस पितर व यमके संबन्धका व परस्परके व्यवहारोंका हमें पता चलता है । ये सब मंत्र यमका पितरोंसे विशेष संबन्ध से यह स्पष्ट रूपसे प्रतिपादन कर रहे हैं । यम बहुतसे काम पितरोंसे मिलकर ही करता है । इससे यमराज्यमें पितरोंकी स्थितिपर भी थोड़ासा प्रकाश अवश्य पड़ता है ।

इस प्रकार विशिष्ट अर्थमें प्रयुक्त यह संबन्धी मंत्र समान होते हैं । पाठक इन पर वैभोवात्पूर्वक विचार करें तथा जो संशय हो वह प्रहण करें । अब हम अगले प्रकरणमें उन मंत्रों पर विचार करेंगे जिनमें कि यम इस अर्थके अतिरिक्त अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है ।

## १ नियमन अर्थ में यम ।

इस विभागमें उन मंत्रोंका उल्लेख होगा जिनमें कि यम नियमन, नियामक आदि इन्हीं के सदृश अर्थोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है ।

यथा ते अह उच्यमानि वेधो जुष्टानि सन्तु

मनसे हद्वे च । अकेम रामः सुपुत्रो यम वेऽपि

धनो देवभक्तं वृषाणाः ॥ अ० १०३११० ॥

( वेधः अम् ) हे मेधावी अम् ! ( एता उच्यमानि ) ये वैदिक स्तोत्र ( ते मनसे हद्वे च ) तारे मन व हृदय के लिए ( जुष्टानि सन्तु ) प्रीति उत्पन्न करनेवाले हों । ( देवभक्तं वृषाणाः ) देवोंसे खेवित अज वा जन को धारण करते हुए हम ( ते सुपुत्रः रामः यमः शकेन ) तेरे सहाय तथा धारण करने योग्य अवस्था जो उत्तम प्रकारसे दारिद्र्य नाश करनेवाले धनदा नियमन कर सकें । अवाअज । निषट्पठ-२ । ७ अक्षरः धन । निघ० २।१०

यस्यैश्वर्या प्रथमः पथस्तते तवः सूर्यो प्रववा

वेन आजानि । मा गा आजुयाना कव्याः सवा

यमस्य जातममृतं यजामहे अ० १०३१११०

१९ ( अ. पु. सप्त. कां. १० )

( अथर्वा ) शिरप्रकृति विद्वान् ने ( प्रथमः ) सबसे पहिले ( यज्ञैः ) यज्ञोंद्वारा ( पथः तते ) मार्ग का विस्तार किया । ( ततः ) तब ( मतवाः वेनः सूर्यः ) मतरक्षक यमकोला सूर्य ( आजानि ) उत्पन्न हुआ । और फिर ( उयानाः कव्याः सवा ) कामना करतेहुए कवियों पुत्रोंका साथ मिलकर सूर्यने ( गाः आ आजत् ) कियोंको कैंडा अर्थात् धर्म प्रकाश किया । ( यमः स्य जातं अमृतं ) निवमन के लिए उत्पन्न अमृत का हम ( यजामहे ) यजन करते हैं—उसकी पूजा करते हैं । यहाँ सूर्योदयका वर्णन है । सवा—सह । निघ० १।११०

यमेन दत्तं त्रित एतमायुनिगन्तु एनं प्रथमो

अप्यतिष्ठत् । गन्धर्वो अस्य ययानामगुण्यात्

सूरादश्च यस्यो निरतत ॥ अ० १।११११२ ॥

वजु० २९ । १३ ॥

इस मन्त्रका देवता अश्व है । ( यस्यः सूर्या अश्वं निरतत ) वजुओंने सूर्य से घोड़े को बनाया गान उत्पन्न किया । फिर ( यमेन दत्तं ) नियामक आश्वसे दिए हुए उस घोड़ेको ( त्रितः ) तीनों लोकोंमें विस्तृत बामुने ( आयुनः ) रथाविमें जोडा ( इन्द्रः एवं प्रथमः अप्यतिष्ठत् ) इन्द्र उसपर सबसे पहिले सवार हुआ । ( यः यवः अस्य ययानां अगुण्यात् ) गन्धर्वने उस घोड़ेको लगान पकड़ी । रथाना घोड़े बाधनेके रक्षी ।

## २ जीवात्मा अर्थ में यम ।

अस्मिन् यज्ञे सुपलाशे देवैः संविद्यते यमः ।

अत्रा नो विरपतिः पिना पुराणां अनुवेमन्त्रि ॥

अ० १०३३११३ ॥

( अस्मिन् सुपलाशे वृक्षे ) जिस उत्तम पत्तोंवाले अर्थात् इमरै, भोवलासमी से परिपूर्ण संसाररूपी-वृक्षपर ( यमः ) हृदिषीका संवयन करनेवाला जीवात्मा ( देवैः ) दिव्य गुणोंसे इन्द्रियोंके साथ ( संविद्यते ) संचारिक सुखदुःखोंका उपभोग करता है, ( अत्र ) उस संसाररूपी वृक्षपर [ विरपतिः ] मनुष्य प्रजाध रक्षक [ पिता ] उपादक परमात्मा ( पुराण्यन्तः ) पुरातन समयसे भक्ति करते आएहुए हमारी ( अनुवेमन्त्रि ) अनुकूलतासे कामना कराता है ।

## ३ ज्ञानेन्द्रिया-यम ।

इहं सावितार्जुनानीदि पद्मना पृष्ट एकत्र ।

अस्मिन् ह्यारिषमिच्छन्ते य पृथोभक्त एकत्र ॥

अदर्व० १०१ ८ १९ ॥

हे (सवितः) सविता ! (इदं विजानीहि) इस बातको तू मली प्रकार समझ कि (यन् यमाः) पाँच ज्ञानेन्द्रिया तथा एक मन ये मिलकर छः यम हैं। तथा (एकः एकजः) एक जीवात्मा अट्टला ही जन्म लेनेवाला है। और (एषा यः एकः एकजः) इनमें जो एक अट्टला उत्पन्न होनेवाला है (तस्मिन्) उस जीवात्मा में ये छः मनसहित ज्ञानेन्द्रिया (हु) निश्चयसे (आपित्वे) बन्धुन को (इच्छन्ते) चाहती हैं।

### ४ आचार्य यम ।

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रेमेणानयेन मेखलया सिनामि ॥ अर्थः ॥ १६३३३ ॥

(यत्) क्योंकि (अहं) मैं (मृत्योः) ब्रह्मचारी) मृत्यु-का ब्रह्मचारी (अस्मि) हूँ, अतः (भूतात् पुरुष) प्राणीमात्र में से पुरुषको (यमाय) यम के लिए अर्थात् आचार्यके लिये (निर्याचन्) माँगता हुआ आया हूँ। (तं एनं) उस इस पुरुषको (अहं) मैं (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानसे, (तपसा) तपद्वारा, श्रेमेण श्रमद्वारा तथा (अनया मेखलया) इस मेखलाद्वारा (सिनामि) बाधता हूँ।

### ५ वायु-यम ।

यमाम् स्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहा ।

स्वाहा धर्माय । स्वाहा धर्मः पित्रे ॥ यजु ३८१९॥

इस मंत्रकी शतपथ १४।१।२।११ में व्याख्या है। वहाँ पर यमका अर्थ निम्नलिखित दिया गया है- 'यमाय स्वाङ्गिरस्वते पितृमते स्वाहेति । अयं वै यमो योऽयं पवते तस्मा एवेन जुहोति तस्मादाह यम य वेत्विहिरस्वते पितृमते इति...' ॥ 'तदनुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार हुआ (पितृमते आङ्गिरस्वते यमाय वा स्वाहा) पितृमान् आङ्गिरस्वत् वायुके लिए तुझे स्वाहा कर के दी गई आहुति हो। (यमाय स्वाहा) यज्ञके लिए स्वाहा ।

(धर्मः पित्रे) यज्ञ रक्षकके लिए स्वाहा ।

### ६ सूर्य-यम ।

यमाय स्वा मखाय स्वा सूर्यस्य स्वा तपसे ।

देतस्त्वा सविता मध्वानक्तु प्रथिव्याः सै सृष्टस्त्वाहि

अचिरसि शोचिसि तपोसि यजु ३७।११०

इस मंत्रकी व्याख्या करते हुए शतपथ ब्राह्मणे १४ मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ सूर्य किया है। शतपथ ब्राह्मणका वचन इस प्रकार है- 'स प्रोक्षति यमाय त्वेलेप वै यमो य एष तपस्येह हीदं सर्वं यमयत्येतदेतदं सर्वं यतमेव उ प्रवर्ग्येतदेतमेवैतत् प्रोणाति तस्मादाह यमाय त्वेति' श० १४।१।१।४॥ शतपथके इस वचना-नुसार इस मंत्रका अर्थ इस प्रकार किया जा सकता है- (यमाय स्वा) सूर्यके लिए तुझे, (मखाय स्वा) यज्ञके लिए तुझे, (सूर्यस्य तपसे स्वा) सूर्यके तपके लिए तुझे, (सविता देवः स्वा) सविता देव तुझे (मध्वा अनक्तु) मधुसे युक्त करे। तू (प्रथिव्याः सृष्टस्त्वाः पादि) पृथिवीके सृष्ट्वा अर्थात् उपद्रव्यजन्य संस्थाओंसे रक्षा कर। तू (अचिरः) दीव्यमान (असि) है। (शोचिः असि) डुहोंकी शोक करानेवाला है। (तपोः असि) डुहोंसे तपानेवाला है।

इस प्रकार यहाँपर यमवाले मंत्र तथा बहुवचनान्त पितृ शब्दवाले मंत्र समान्य होते हैं। यम व पितर विशेषक जो जो भी सिद्धांत स्थापित किए जा सकते हैं वे सब इनमें आ चुके हैं। यम व पितरविषयक नवीन सिद्धान्त अब आगे संभवता देख-नेकी मही मिलेये इससे आगे हम जैसा कि अन्यत्र निर्देश भी कर आए हैं, यम व पितर संबंधी संज्ञें सुखोंपर विचार करें, जिससे कि यदि कोई सदृशपूर्ण मंत्र जिसमें कि यम वा पितृ शब्द न होनेसे छूट गया होगा तो वह भी पाठकोके सामने आ सकेगा। सम्पूर्ण सुखोंपर विचार करने से प्रकृत विषयपर विचार करनेके लिए व विशेष निर्णेदपर पहुँचनेके लिए पथीत सहायता मिलनेकी संभावना है।

# यम और पितरोंके ऋग्वेद सूक्त ।

अब हम यम और पितरोंके संबन्ध रखनेवाले सूक्तों पर अर्थात् जिन सूक्तोंका देवता यम अथवा पितर है, उनपर सूक्तके क्रमसे विचार करेंगे। यद्यपि इन सूक्तोंमें आए हुए बहुतसे मंत्रों पर पहिले विचार किया जा चुका है, तथापि यहाँपर पुनःपर प्रकरणके साथ उनपर विचार करनेसे उनका भाव अधिक खुल सकेगा। साथ ही पाठकोंके लक्ष्यमें यह बात भी आ सकेगी कि उनके जो पहिले अर्थ दे आए हैं वे कदाचित् सगन हैं और उनसे निकाला हुआ परिणाम कदाचित् ठीक है। संपूर्ण सूक्तके भावके साथ यदि तो इन मंत्रोंकी संगति लग सकती है तो उन मंत्रोंका अर्थ ठीक है अन्यथा अवश्यमेव अर्थमें खोचालानी की गई है यह स्पष्ट हो जायगा। और इतनालिफ पाठकोंसे भी निवेदन है कि वे भी यदि किसी मंत्रके अर्थ या भावसे अचरमत् हों तो वे प्रथम उस मंत्रके सूक्तके भावके साथ उस मंत्रकी संगति देखें और फिर अवश्य विचार करें। संपूर्ण सूक्तके साथ संगतीकरण करते हुए मंत्रका अर्थ करना अधिक पूर्ण व ठीक होगा। यद्यपि सबके सब मंत्रोंके अर्थोंकी कड़ीकी लिए हम यहाँ साधन उपरिमत नहीं कर सकते, तथापि जिन सूक्तोंपर यहाँ विचार करना है, उनमें वे प्रायः सभी मंत्र आ जायेंगे जो कि प्रकृत विषयमें एक महा भारी महत्वपूर्ण भाग ले रहे हैं अर्थात् जिनके आधारपर यम व पितर विषयक परिणाम निकाले गए हैं। पहिले ऋग्वेदके सूक्तोंपर क्रमशः विचार करेंगे। ऋग्वेदमें ५ सूक्त ऐसे हैं जो कि प्रकृत विषय से संबन्ध रखते हैं। पहिले तीन सूक्त अर्थात् १५, १५ और १६ लगभग वही विषयसे संबन्ध रखनेवाले हैं।

## १ ऋग्वेद मं० १०। सू० १४

१-१६ यम ऋषिः । देवताः-१-५, १३-१६ यमः । ६ किङ्करीका । ७-९ किङ्करीकाः पितरो वा । १०-१२ दानवी । परेविवांसं प्रवतो महीराजं बहुधनः पन्थामनुस्पशानम् । वैवस्वतं सङ्गमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवश्यम् ॥

सू० १०।१४।१

( प्रवतः ) प्रवृत्त कर्म करनेवालोंकी, उत्तम कर्म करनेवालोंकी तथा निरुद्ध कर्म करनेवालोंकी ( यमोः ) मृत्तिप्रदेशोंकी ( अनुपरेविवांसं ) प्राप्त करावे हुए तथा ( बहुधनः पन्थां अनुस्पशानं ) बहुतांसे स्थि मार्गोंकी दिखलाते हुए और

( जनानां सङ्गमने ) जिधमें मनुष्य जाते हैं ऐसे ( वैवस्वतं ) विश्वस्वामके पुत्र ( यमं राजानं ) यम राजाको ( हविषा दुवश्यं ) हविषदानपूर्वक पूजा कर । " प्रवतः महीः अनुपरेविवांसं " इसका अभिप्राय यह है कि सधका उनके कर्मनुसार उत्तम स्थानपर जन्म देता है। और कोई भारतवर्षमें जन्म लेता है तो कोई अन्यत्र । भारतवर्षमें भी जीव स्वार्थानुसार भिन्न भिन्न प्रान्तमें जन्म लेता है। इस जन्मस्थानकी व्यवस्था यम करता है एषा इवका भाव प्रतीत होता है। अथवा इस मंत्रभागका अर्थ यं भी किया जा सकता है- ( प्रवतः अनु महीः परेविवांसं ) प्रवृत्त, उत्तुष्ट तथा निरुद्ध योनिरथ जीवोंके उत्पत्त्ये पृथिवी पर आए हुए यमकी इत्यादि। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तमें जाना योनिरथ जीवोंको यमने यमलोकमें ले जाना है अतः वह पृथिवीपर आया हुआ है और उसका यह कार्य है इसकी पुष्टि आगे "जनानां संगमनं" बत कर रहा है।

" बहुधनः पन्थां अनुस्पशानम् " इसका अभिप्राय यह है कि जाना योनिरथ जीवोंमेंसे जिस जिसकी आज्ञा संपूर्ण होती है, उस उसको वह यमलोकका रस्ता दिखाता जातु है। इस प्रकार इन कर्मोंके करनेशाल यम राजाको ढीन देकर उसकी पूजा करनी चाहिए यह मंत्रका आशय है।

यमो जो गाउँ प्रथमो विवेद नैवा गन्धर्वापमवेवा  
उ । यथा नः पूर्वं पितरः परेयुना जज्ञाताः पन्था  
अनु स्वाः ॥ सू० १०।१४।२॥

( यमः नः गातुं प्रथमः विवेद ) यमने हमारा मार्ग सबसे पहिले जाना। ( पन्थां यन्मृतिः न अपमतेवे ) यह मार्ग अपहरणके लिए नहीं है अर्थात् इस मार्गसे छुटकारा पया नहीं जा सकता। वह मार्ग कीजसा है वह सबके उत्तरार्धसे दर्शाते हैं- ( यम नः पूर्वं पितरः परेयुः ) जहाँपर हमारे पूर्वज पितर गए हुए हैं और ( एना ) इस मार्गसे ( जज्ञाताः ) जात प्राणीमान ( स्वाः पन्थाः अनु ) अपने अपने पन्थोंके अनुसार जाते हैं।

इस मंत्रको प्रथम संश्लोक "जनानां सङ्गमनं यमं राजानं" का स्पष्टीकरण कहा जा सकता है। अन्त में यमलोकमें गव प्राणियोंके जानेके स्थि जो मार्ग है उसका यहाँ निर्दिष्ट है। यम हमारा यमलोकमें जानेसा मार्ग सबसे पहिले जानता है क्योंकि

वह उस मार्गका अधिष्ठाता है । इस मार्गसे छुटकारा पाना कठिन है क्योंकि जो उत्पन्न हुआ है वह अवश्य मरेगा ही । इसी भावको और भी अधिक स्पष्ट मंत्रके उत्तरार्धसे करते हुए कहा गया है कि उस मार्गमेंसे हमारे पूर्वज गए और जात प्राणीमात्र भी अपने कर्मानुसार जायगा ।

इस प्रकार इस मंत्रमें यमलोकके जानेके मार्गका वर्णन है । उस मार्गसे सबको जाना होगा । कोई भी इससे बच नहीं सकता । अतएव यमको पूर्व मंत्रमें 'जानता संयमनं' कहा है । यह मंत्र अथर्ववेदमें (१८।१।५०) भी है ।

अगले तृतीय मंत्रके छठे मंत्र तक नया प्रकरण शुरू होता हुआ प्रतीत होता है । इन चार मंत्रोंमें यम व अङ्गिरस् पितरोंकी कथा है ।

मातली कथैपेमो अङ्गिरसोविहृदस्परिवृत्तवभिर्वा-  
युधानः । योश्च देवा वायुयुधे च देवास्स्वाहाभ्ये  
स्वधयाभ्ये मदन्ति ॥ अ० १०।१।५१॥

(मातली) इन्द्र (कथ्ये) कथ्योंसे, (यमः अङ्गिरो-  
भिः) यम अङ्गिरसोंसे और (वृहस्पतिः प्रकवभिः) वृहस्पति  
तत्त्वाओंसे अर्थात् सत्त्वासम्पन्नी ज्ञान रत्ननेत्राओंसे (युधानः)  
वृद्धिकी प्राप्ति होता है । (वायु देवाः वायुः) जिनका देवीने  
बहाना है तथा (ये देवाः) जो देवोंका बहते हैं, उनमें से  
(अन्वे) अन्य क्षीरमातली, यम तथा वृहस्पति (स्वाहा)  
वषट्कार से दी गई हविद्या (मदन्ति) प्रसन्न होते हैं  
और अन्य दूसरे कथ्य, अङ्गिरस्तत्त्वा प्रकव (स्वधया)  
स्वधाकार से दी गई हविद्या प्रसन्न होते हैं । यह मंत्र अथ-  
र्ववेद (१८।१।५०) में है । वहाँ पर जो चतुर्थ पाद है वह  
इस मंत्रके चतुर्थ पादसे मिल है । अथर्ववेदके पाठानुसार कथ्य,  
अङ्गिरस् जोन है वह स्पष्ट हो जाता है । अथर्ववेद में आए  
हुए इस मंत्रका चौथा पाद इस प्रकार है— 'ते वोऽवन्तु पित-  
रो हवेणु ।' अर्थात् मंत्रोक्त कथ्य, अङ्गिरस् आदि जो पितर  
हैं वे हमारी आत्मान करनेपर रखा करें ।

कथ्य— पितरोंको प्रायः बहुतसे मंत्रोंमें कविके नामसे कहा  
गया है । और अतएव उन्हें जो हवि दी जाती है उसका  
नाम 'कथ्य' है । देवोंके लिये दी जाती हवि 'हव्य' के  
नामसे बरी जानी है । दोनों हवियोंका भेद करनेके लिए  
पितरोंको हविके कथ्यके नामसे कहा गया है तथापि कई  
स्थानोंपर पितरोंके लिये हवि शब्दसे भी हव्यका विधान है

ही । यहाँ पर कथ्य शब्दसे कथ्य खानेवाले पितरोंका  
प्रदण है ।

इसमें यम प्रस्तर मा हि सोदाहिगरोभिः संविदानः ।  
आ स्वा मंत्राः कविदास्ता वहन्मन्त्रेना राजन्मन्त्रिणा  
मादयस्व ॥ अ० १०।१।५२॥

(अङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः) अंगिरस् पितरोंके  
साथ एकमत हुआ हुआ है यम । तू (इस प्रस्तर) इस विस्तृत  
कैले हुए आसनपर (आसीद) बैठ । (स्वा) तूसे (कवि-  
धारताः मंत्राः) कान्तदर्शियों द्वारा स्तुति किए गए मंत्र (आ  
वहन्तु) तुझमें । (एना) इस (हविषा) हविद्या  
(मादयस्व) प्रदण हो ।

इस मंत्रमें यमका अंगिरस् पितरोंके साथ वर में विस्तृत  
आसनपर बैठानेका वर्णन है । उसको मंत्रों द्वारा स्तुति कर-  
के उसे यज्ञमें हवि दी जाती है । ये अङ्गिरस् पितर जोन हैं  
इस पर स्वतंत्र विचार करेंगे । इस तीन बार मंत्रोंके उक्त  
व यमका संबन्ध दिखाया गया है । उपरोक्त मंत्रके भावको  
अगले मंत्रमें और भी अधिक स्पष्ट किया गया है—

अङ्गिरोभिरागहि यज्ञेयेभिः यम वैरूपेतिह साधयसी  
विब्रस्वन्तं हुवे यः पिता तेऽस्मिन् यज्ञे बर्हिष्या  
नियेष ॥ अ० १०।१।५३॥

हे यम ! [ वैरूपेः ] विविध स्वरूपवाले, [ यज्ञेयेभिः ]  
यज्ञके योग्य पूजनीय [अङ्गिरोभिः] अङ्गिरस् पितरोंके साथ  
[ इव आ गहि ] इस हमारे यज्ञमें आ । यज्ञमें आकर दी  
गई हविसे खाकर [ मादयस्व ] आनन्दित हों । [ विब्रस्-  
न्तं हुवे विब्रस्वान् (सूर्य) को मैं सुलाता हूँ [ यः ] जो कि विब्रस्व-  
न [ ते पिता ] तेरा पिता है । वह विब्रस्वान् [ अस्मिन् यज्ञे  
बर्हिषि आ नियेष ] इस यज्ञमें आकर आसनपर बैठकर दी  
हुई हविको खाकर आनन्दित होवे ।

यज्ञमें यम व अंगिरस् पितरोंको सुलाकर उन्हें हवि दी  
जाती है, यमका पिता विब्रस्वान् [ सूर्य ] है, उसे भी यम  
में यज्ञमें सुलाया जाता है व हवि खानेके लिये दी जाती है ।  
अंगिरस् पितर नाता रूपवाले हैं अर्थात् उनके स्वरूप भिन्न  
भिन्न हैं । इस भिन्न भिन्न स्वरूपका अगले मंत्रमें स्पष्ट-  
रूप किया गया है । यह मंत्र योद्धेके पाठान्तरके साथ अङ्गि-  
र [ १८।१।५५ ] में भी आया है ।

भंगिरसो नः पितरो नवगवाऽभयर्वाणो भृगवः सोम्या-  
सः । तेषां ययं सुमरौ यक्षियानामपि भद्रे सोमसे  
स्याम ॥

अ० १०।१४।६॥

( नः नवगवाः अभयर्वाणः भृगवः सोम्यासः भंगिरसः पितरः )  
हमारे नवगव, अभयर्वा, भृगु, सोमसंपादन करनेवाले भंगिरस  
पितर हैं । ( तेषां यक्षियानां ) उन यक्षार्ह आधिरस पितरों की  
( सुमरौ ) उपासना हमें तथा ( भद्रे सोमसे ) शुभसेकृत्यों  
में ( स्याम ) होंगे

वेदमें नवगव तथा दृग्धव शब्द कई स्थानोंपर आते हैं ।  
निष्कसार वारणाचार्यने इस मंत्रमें आए हुए नवगव शब्दोंके  
निवेचन निम्न लिखित किए हैं—

नवगव—नवगवयो नवनीतगवयो वा ।

नि० ११।१८॥

अर्थात् नव प्रकार की गतिवाले अभय नवनीत अर्थात्  
मखन की तरह गतिवाले । उपासनाचार्य अपने भाष्यमें इस  
शब्दका अर्थ इस प्रकार करते हैं— 'नवगवाः नवभिर्मोक्षः सद्य  
नुतिवन्तः ।' अर्थात् नव मासका सद्य याग करने से इच्छा  
वाम नवगव है ।

अभयर्वा— अभयर्वाणोऽभयवन्तः, सर्वशिरश्चि कर्मात्-  
प्रतिषेधः ।

नि० ११।१८॥

अभयर्वा रियर अर्थात् निश्चल प्रवृत्तिवाला होता है । चल-  
नाथेक सर्व धातुसे सर्वान् शब्द वन्तः हैं । जिसका अर्थ है।  
अस्थिर - चलायमान । इससे उलटा अभयर्वा निश्चल ।

भृगुः— आर्षपि भृगुः संबभूव । भृगुः भृगुयमानः, न देहे ।

नि० १।१३। भृगु आसि की उवाचाओंमें पैदा हुआ था भृगुका  
अर्थ है जो आगमें भुना हुआ 'हो, जिसकी शरीरमें आस्था न  
हो । सोम्यासः—सोमसंपादिनः । नि० ॥ जो यज्ञमें सोमरस

तैयार करते हैं वे सोम्य कहलाते हैं ।

इस प्रकार इन विशेषणोंसे पूर्व मंत्रोक्त " वैरूपैरिह मादधस्थ"  
में अग्निरस पितरोंको जो वैरूप कहा था उसका इस मंत्रमें  
स्पष्टीकरण करके दिखाया है कि अग्निरस पितर वैरूप किस  
प्रकारसे हैं । मंत्रके उगारार्थमें उनकी नेक धलाहमें रहने की  
कहा गया है । यह मंत्र जयवेद ( १८।१।५८ ) में तथा यजुर्वेद  
( ११।५० ) में भी आया हुआ है । यहापर तीसरे मंत्र  
से अग्निरस पितरका जो प्रकरण प्रारंभ हुआ था वह समाप्त  
होता है ।

अब अगले दो मंत्रोंमें अर्थात् ७ वें व आठवें में पुनः उसी  
प्रकरणका निदेश करते हुए मृत पुष्टपकी आत्माको यमलोकमें  
जहां कि पूर्व पितर गए हुए हैं वहां यम व वरुणके दर्शन  
करानेके लिए कहा गया है ।

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूष्येभिः यत्रा नः पूर्वं पितरः  
परेयुः । उमा राजाना स्वधया मदन्ता यमं पश्यासि  
वरुणं च देवम् ॥

अ० १०।१४।७॥

हे मृत पुष्टप ! ( यत्र ) जिस लोकमें ( नः पूर्वं पितरः )  
हमारे पूर्वज पितर ( परेयुः ) गए हुए हैं, उस लोकमें  
( पूष्येभिः पथिभिः ) पहलेके भागोंद्वारा ( प्रेहि प्रेहि ) अवश्य  
जा । उस लोकमें जाकर ( स्वधया मदन्ता ) स्वधासे आन-  
न्दित होते हुए अथवा तृप्त होते हुए ( उमा राजाना ) दोनों  
राजा ( यम वरुण देव च ) यम तथा वरुण देव को ( पश्यासि )  
देख ।

इस मंत्रमें प्रथम दो मंत्रोंके भावको बिल्कुल व्यक्त कर  
दिया है । सबसे प्रथम यहां यह बात पूर्ण रूप से स्पष्ट हो  
जाती है कि जिस लोकमें हमारे पितर गए हुए हैं वह लोक  
यमलोक है अथवा उस लोक में यमका राज्य है, क्योंकि यम  
उस लोक का राजा है ऐसा उगारार्थ में कहा है । दूसरी बात  
यम भी स्वधासे तृप्त होता है, यह यहांपर स्पष्ट होती है ।  
तीसरी बात यमके साथ ही वरुण भी रहता है । चौथी बात  
यमलोकमें जानेके मार्ग पितृयाग कहलाते हैं । इस प्रकार प्रथ-  
म दो मंत्रोंके भावको निम्न प्रकार अधिक स्पष्ट किया गया  
है, यह पाठक स्वयं देख सकते हैं । यह मंत्र षोडशे पाठान्तर-  
के साथ अथर्ववेद ( १८।१।५४ ) में भी है ।

सं गच्छस्व पितुभिः संवमेनेष्टापूर्तं परमे ध्योमन् ।  
हिरवायव्य पुनरस्यमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चाः

अ० १०।१४।८॥

हे मृत पुष्टप ! ( परमे ध्योमन् ) उच्छ्रित ध्योममें अर्थात्  
स्वर्गमें ( पितुभिः सं गच्छस्व ) पितरोंके साथ जा । ( संवमे  
नेष्टापूर्तं ) यमके साथ जा । ( इष्टापूर्तं ) इष्टापूर्तके साथ अर्थात्  
अपने उपार्जित कर्मोंके साथ जा । ( अवयं हिरवाय ) निन्दित  
कर्मोंका त्यागकर के अर्थात् सुकर्मोंके साथ ( पुनः ) फिर  
( अस्वं एहि ) अपने घरको वापस आ, अर्थात् पुनर्जन्म  
लेकर आ और तब ( सुवर्चाः ) उत्तम तेज—कांतिसे युक्त  
हुआ हुआ तू ( तन्वा सं गच्छस्व ) शरीरको धारण करके

संसारमें विचारन कर ।

इस मंत्रसे हमें कई बातें पता चलती हैं। सबसे प्रथम ये दोनों मंत्र अर्थात् सातवां व आठवां मृत पुरुषको संबोधन करके कहे गए हैं। मंत्रका उत्पत्ति इस बातको पूर्वरूपसे पुष्टि कर रहा है। दूसरी बात स्वर्गमें जानेके लिए पितर तथा दम नृत पुरुष की अत्मा को पृथिवीपर लेने आने हैं। तीसरी बात 'परमे व्योमन्' से दमलोक सादृष्ट लोक है। उसमें अच्छे कर्म करनेवाले जाते हैं। अथवा दमलोकमें कई विभाग हैं और उनमें कर्मनुसार जीव जाता है। इष्टाशुतके साथ जानेका कथन इसी बात की पुष्टि कर रहा है। इष्टाशुतका लक्षण निम्न लिखित है—

आग्निहोत्रं तसः सत्यं वेदानां धानुषाळनम् ।

आविष्यं वैश्वदेवं च हृष्टमित्तिभिधीयते ॥ १ ॥

बासीकृतहागादिदेवतायतनानि च ।

अक्रमदानमातामाः पूर्वमित्तिभिधीयते ॥ २ ॥

अथर्ववेद ( १८।१।५८ ) में भी यह मंत्र आया हुआ है ।

अपेक्ष नीच वि च सर्पतातोऽसमा पूर्वं पितरो लोक-

मकम् । अहोभिरङ्गिरसुमिष्यकं यमो ददाववसान-

मस्ये ॥ ऋ० १०।१।१५॥

( अथ इत् ) हे विष्मच्छरी जनों ! यहासे चले जाओ ।

( 'धीत' ) भाग जाओ । ( वि सर्पतातः ) सर्वथा यह स्थान छोड़कर हट जाओ । ( अस्मे ) इस प्रेतके लिए ( पितरः )

निगरोने ( एनं लोकं अकम् ) यह स्थान दिया है । ( अस्मे )

इस मृतके लिए ( दमः ) दमने ( अहोभिः ) दिनोंसे व ( आङ्गिः )

पेव जनेसे तथा ( अस्तुभिः ) रात्रियोंसे [ अथ अवसानः ]

स्पष्ट समाप्ति [ एतत्तु ] की है ।

अवसान = समाप्ति । यह मंत्र अथर्ववेद [ १८।१।५५ ] में भी है ।

अब यमके दत्त दो श्वानोंका वर्णन अगले तीन मंत्रोंमें अर्थात् मंत्र १० से लेकर १२ तक में है ।

अति द्रव्य सारमेयौ श्वानौ चतुरशौ शबलौ साधुना पथा । अथा पितृन्मुविदत्रा उपोहि यमेन ये सच मादं मदन्ति ॥ ऋ० १०।१।१५॥

हे पितृलोकमें जाते हुए जीव ! [ सारमेयौ चतुरशौ ] चारमेय, चार आँखोंवाले [ शबलौ ] चितकबरे [ श्वानौ ] दो कुतोभि [ अति ] बचकरके [ साधुना पथा ] कन्यागच्छा उत्तम मार्गसे [ द्रव्य ] जा । [ अथ ] अब [ मुविदत्रन् ] पितृन् उत्तम धन वा ज्ञानसे युक्त पितरोंकी [ उपोहि ] प्राप्त हो । [ ये ] जो कि पितर [ यमेन सचमादं मदन्ति ] यमके साथ आनन्दित होते हुए मृत होते हैं ।

सारमेय— साधुनाचार्यने सारमेयका अर्थ दिया है कि सारमा नामकी देवीकी कुती है । उसका बच्चा सारमेय । सारमा शब्द लगती धातुसे बन करनेपर बनपा है, जिसका अर्थ है बहुत दौड़नेवाली । उसका पुत्र सारमेय । सारमेयका अर्थ हुआ बहुत दौड़नेवाली का पुत्र । लैटिक साहित्यमें सारमेय का अर्थ कुत्ता प्रचलित है । यमके कुतोका वर्णन इस मंत्रमें किया गया है । वक्त्री चार आँखें हैं, तथा चितकबरे ( चितक ) हैं । इस मंत्रमें यम व पितरोंका संबन्ध भी स्पष्ट हो रहा है । अगले मंत्रमें यमके कहा गया है कि ये इस जीवको इस कुतोसे इत्याप तथा आरोग्य प्रदान करे ।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरशौ पथिष्यौ वृषभ-सौ । तामयामेनं परि देहि राजन् स्वस्ति पारम्ना

अवनीयन्धेहि ॥ ऋ० १०।१।१६

हे यम ! [ ते ] तेरे [ यौ ] जो [ रक्षितारौ ] रक्षा करनेवाले [ चतुरशौ ] चार आँखोंवाले [ पथिष्यौ ] दमलोक में जानेके मार्गको रक्षा करनेवाले तथा [ वृषभौ ] मनुष्योंके देवसेवके [ श्वानौ ] दो कुते हैं, हे राजन् ! [ ताम-सौ ] उन दोनों कुतो द्वारा [ परि ] इस जीवकी [ स्वस्ति ] स्वस्थता [ पारम्ना ] प्रदान कर । [ य ] और [ अरमे ] इस जीवके लिए [ अवनीयं ] रोगरहितता अर्थात् आरोग्य [ देहि ] प्रदान कर । इसे नोरोमी बना ।

जगसावसुतुपा उदुम्बलौ यमस्य दूतो धरतौ जनों अन्ना  
तावस्मभ्यं इवाये स्याय पुनर्दातामनुग्रहेह अन्नम्॥

श्लो १०११४१२

(उत्पन्नो) लम्बी नाकवाले, (अधुतपौ) प्राणोंके खाने  
वृक्ष होनेवाले, (उदुम्बलौ) विस्तृत बलवाले अर्थात् अत्यन्त  
बलवान् (यमस्य दूतो) यमके दूत उपरोक्त दोनों कुत्ते (जनों  
अन्न धरतः) मनुष्योंके पीछे पीछे विचरण करते हैं । (तौ)  
इस प्रकारके ये समस्त कुत्ते (अस्मभ्यं) हमारे लिये (सुखं  
इत्येव) सूर्यके दर्शनार्थ अर्थात् इस लोकमें जीवन धारण कर-  
नेके लिए (अयं) आज (इह) इस संसारमें (अदं अर्थं)  
कल्याणके देनेवाले प्राणको (पुनः) फिर (दातो) देंगे ।

इस मंत्रमें यमके कुत्तोंका घोडाघा और अधिक वर्णन हमें  
मिलता है । वे लम्बी नाकवाले, प्राणोंको खाकर मृत होनेवाले,  
अत्यन्त बलवाली हैं । वे सर्वेश्वर मनुष्योंके पीछे लगे रहते  
हैं । इसी सूक्तके आठवें मंत्रमें हम देख आए हैं कि वहा पुन-  
र्जन्मका वर्णन मिलता है । इस मंत्रका उत्तरार्ध भी पुनर्जन्म  
विषयक निर्देश कर रहा है 'सुखं वृषये' से ऐसा पता चलता  
है कि धर्मवतः इस लोकमें रहकर ही सुखदर्शन हो सकता है  
अन्यत्र नहीं । यह मंत्र भी अथर्ववेद (१०१११२) में है ।  
यमके कुत्तों पर अधिक प्रकाश आलम्बनेके लिए हम प्रसंगवश  
अपने ८११५ को उद्धृत करते हैं, जिसमें कि यमके दशन-  
विषयक कल्पनाको जो कि हम आगे देनेवाले हैं, समझनेमें  
पाठकोंकी सहायता मिलेगी ।

इयमिदञ्च रवा मा धमलक्ष्मि मेरिणी यमस्य नौ वधिरथी  
आनौ । जवांति मा वि दीप्यो मात्र तिष्ठः पशुधनाः ॥

अथर्ववेद १११॥

(इयमः) काला (य) और (रवतः) चित्तकरा ऐसे  
(नौ) जो हैं । (यमस्य) यमके (वधिरथी) यमलोकके मार्ग-  
की रक्षा करनेवाले (आनौ) कुत्ते हैं, वे (त्वा) तुम्हें (मा)  
मत भाषा पहुँचावें । (अवां एदि) वृ हमारे सम्मुख आ  
(य विदीप्यः) विरुद्ध मत हो अर्थात् हमें जोड़कर-चले जान  
की कोशिश मत कर । (अनं) पशु इस संसारमें (पशुधनवः)  
विशेष चित्तवाला होकर (मा तिष्ठः) मत स्थिर हो । अर्थात्  
संसारसे उपाधीन श्रुति धारण मत कर ।

इस मंत्रके पूर्वार्धमें यमके कुत्तोंका स्वरूप दर्शाया है । अन्तर्धमें  
एक काला है व दूधला चित्तकरा है । इस प्रकार १-वें मंत्रके १२वें

मंत्रतकमें तथा इस अथर्ववेदके मंत्रमें जो यमके जानोंके लिए विशेष-  
वण प्रयुक्त किए गए हैं उनसे ऐसा पता चलता है कि आलम्बारीक  
रूपसे दिन व रात का वर्णन इन मंत्रोंमें है । यमके दोनों कुत्ते  
दिन व रात हैं । काला कुत्ता रात है व चित्तकरा कुत्ता दिन है ।

इस कल्पनाका आधार इन मंत्रोंमें कुत्तोंके लिए प्रयुक्त हुए  
हुए विशेषण हैं । इस खास खास विशेषणोंके आधार पर पाठ-  
कोंके उपर्युक्त कल्पनाका दिग्दर्शन करायेगे । यमके जानोंके  
लिए कहा है कि (जानां अवचरतः) अर्थात् वे मनुष्योंके  
पीछे पीछे प्राणापहरणके लिए लगे हुए विचरण कर रहे हैं ।  
ज्यों ज्यों रात व दिन गुजरते जाते हैं व्यों व्यों मनुष्यकी आयु  
हाल होती जाती है । और एक दिन व रात आती है जर  
मनुष्यका प्राणमृत हो जाता है । दिन व रात सारथी भी हैं,  
नर्वाँकि जगदीश्वर ही आकर चले जाते हैं । ये शमल सार्थी  
चित्तकरे भी हैं । दिन सफेद है, वे रात काली है इस प्रकार  
दोनों मिलकर शमल हैं । ये नृपक्ष अर्थात् मनुष्योंकी देखने  
वाले भी हैं । ये अनुपुन अर्थात् प्राणोंकी खाकर वृक्ष होनेवाले  
हैं । जबतक शरीरसे प्राण नहीं छूटता तबतक मनुष्यके साथ  
दिन रात लगे ही हुए हैं । प्राण छूटे कि दिन रात-उभयके लिए  
धमात हुए । उभयके प्राणोंके लिए ही मानो दिनों रात पीछे पीछे  
लगे हुए थे वे प्राण मिले कि उस मनुष्यकी 'दीन रातसे पीछा-  
छूटा । पक्षी पर एक और भी चंचल चट चकती है कि और  
बढ़ यह कि श्वान शब्दसे ही क्यों यमके दूत कुत्तोंका समझ  
जिया गया है कहां कुत्तेके वाक्पक आत्म शब्द नहीं हैं । परंतु  
पाठकोंकी वहाँ पर ध्यानमें रखना चाहिए कि यह श्वान शब्द  
हमारी उपरीक कल्पनाको विशेष हट करता है । श्वन शब्दके  
अर्थ पर विचार करनेसे उपरोक्त संकाका तो शरीर मिलही जाता  
है पर दिन रातका यमके श्वान होनेका रहस्यभी पूर्ण रूपसे  
खल जाता है । श्वनका अर्थ है—(श्वः = कल न-नदी)  
जो आनिवासी कलमें नदी रहेगा अर्थात् जो आज तो है पर  
कल न रहेगा । पाठक देख सकते हैं कि यह अर्थ पूर्ण रूपसे  
दिन व रात पर पड़ रहा है । जो दिन व रात आज है वे ही  
किर दुबारा जोड़कर कल नहीं आयेगे । इस प्रकार आलम्बारी-  
क वर्णनसे यमके दूत श्वान दिन और रात हैं ।

वहाँपर यमके दशनविषयक प्रमाण समझ होता है । अब  
आगेके तीन मंत्रोंमें अर्थात् १३ से १५ तकमें यमके लिए  
हवि देने, यज्ञ करने आदिका निर्देश है ।

यमाय सोमं सयुव यमाय जुहुता इति ।

यम इ यज्ञो गच्छत्यग्निवृत्तो अरद्धकृतः ॥

ऋ० १०।१४।१३॥

( यमाय सोमं सयुव ) यमके लिए यज्ञमें सोमको निबो-  
डो । ( यमाय इति : जुहुत ) यमके लिए इति प्रदान करो ।  
( अरद्धकृतः ) नाना प्रकारके इन्द्रके हातनेसे जो अरद्धकृत  
किया हुआ, ( अग्निवृत्तः ) अग्निको अपना दूत बना करके ( इ )  
नियमसे ( यज्ञः ) यज्ञ ( यमं गच्छति ) यमको प्राप्त होता है ।  
यमके लिए सोम, इति आदि यज्ञमें देने चाहिए । यज्ञ  
यमको विश्वरूपे प्राप्त होता है ।

यह मंत्र योद्धेसे पाठानन्दके साथ अथर्ववेद [ १८।११ ]  
में है ।

यमाय युतवक्ष्यिर्जुहोत प्र च तिष्ठत ।

स तो देवपुत्रा यमश्च दीर्घायुः प्रजोयते ॥

ऋ० १०।१४।१४॥

[ यमाय ] यमके लिए [ युतवत् इति : ] पीबामी इति  
[ जुहोत ] प्रदान करो । और इति देकर [ प्रतिष्ठत ] प्रति-  
ष्ठाको प्राप्त करो अथवा दीर्घे जीवनका लाभ करो । [ प्रः ]  
बह यम [ प्रजोयते ] अच्छी प्रकारसे जीनेके लिए [ देवेषु ]  
देवोंमें [ नः ] हमें [ दीर्घायुः ] लम्बी आयुष्य [ आ यमत् ]  
देवे ।

यमके लिए पीबे मिथित इति देकर प्रतिष्ठा या दीर्घ जीवन  
प्राप्त करो । यमको इति देनेके बह देवोंमें दीर्घायु देवा है ।  
यह मंत्र भी अथर्व० [ १८।११ ] में कुछ पाठानन्दके साथ  
आया है ।

[ टिप्पणी— ' प्रतिष्ठत ' — ऐसा प्रतीत होता है कि  
यमके लिए पीबामी इति देनेसे मनुष्यकी लौकिक व पार-  
लौकिक स्थिति समुद्र हो सकती है । ]

यमाय मधुमक्षसं राधे हव्यं जुहोत न ।

इदं नमः सावित्राय । पूजयेन्नमः पवित्रकर्म ॥

ऋ० १०।१४।१५॥

[ यमाय राधे ] यम राजाके लिए [ मधुमक्षसं हव्यं ]  
अमृत मधुह द्रव्य [ जुहोत न ] प्रदान करो । [ पवित्र-  
कर्म : ] ऐसा बलिदानके साथ प्रदत्त [ पूजयेन्नमः ] जो सब  
ये पूजे उत्तम मधु देव [ पूजयेन्नमः ] इससे पूजक दे देवे  
[ पूजयेन्नमः ] अथर्ववेदके लिए [ इदं नमः ] यह नमस्कार है ।  
इस मंत्रमें यम राजाके लिए मधुमक्षस इति द्रव्य व माचीन

अथर्ववेदके लिखनमहकार का विधान है। इस प्रकार इस प्रमाण-  
पद्धति का वर्णन करनेके बाद अन्तिम मंत्रमें उपदेश करते  
हैं । इस उपदेशके मंत्रमें उस यम [ सर्वनियन्ता परमात्मा ]  
का वर्णन है ।

त्रिकटुकेभिः पतति पृथुवारिकमिदं वृद्धत ।

त्रिपुण्याश्री छन्दोभिः सर्वा ता यम आहिता ॥

ऋ० १०।१४।१६॥

[ एक इत् वृद्धत् ] अनेका ही वृद्ध एवंनियन्ता महान्  
यम [ त्रिकटुकेभिः ] तीन कटुकोष्ठे [ पृथुवारिः ] छठी वर्षियों  
को [ पतति ] प्राप्त होता है अर्थात् व्याप्य करके स्थित है ।  
[ त्रिपुण्यश्री ] त्रिपुण्य गावत्री आदि [ ता सर्वा छन्दोभिः ]  
वे सब छन्द [ यमे ] उस नियन्ता परमात्मामें [ आहिता ]  
स्थित हैं ।

यत् सर्वा— युः, वृषिणी, आप, मीरुषी, दिन व रात ये छः  
वर्षियाँ हैं। सायणाचार्यने त्रिकटुका अर्थ यागविशेष कहे  
लिखा है। छठी वर्षियोंमें वृद्ध यम व्याप्त है, इसका अर्थ  
यमा चलाता है। त्रिपुण्य गावत्री आदि सब छन्द यम [ निगमन  
परमात्मामें ] स्थित हैं ।

संछारमें हम देख रहे हैं कि परमात्माकी भिन्न भिन्न छवि-  
या अवस्था स्वतंत्र सत्ता रखती हुई कार्य कर रही हैं। मूर्ध,  
चन्द्र, अग्नि, विष्णु आदि सत्तिकां यद्यपि अन्तर्गते परमात्मामें  
ही समाविष्ट होती हैं, तथापि इनकी अपनी स्वतंत्र सत्ता  
इनका नही किया जा सकता। अर्थात् ये परमात्माकी सत्ति-  
या होती हुई भी अपनी सत्तेन सत्ता रखती हुई संत रने  
कार्य कर रही हैं। ये सब परमात्माकी ही भिन्न छवियाँ हैं  
अर्थात् श्रवण वाग्य परमात्माकी ही सत्ता व महत्ता को  
होता है, ऐसा कि हमें ऋ० १०।१४ मंत्र १६ वर्यां १६ है

इन्द्रे मित्रे वरुणमीनमाहुषो दिव्याः स सुवर्णो गन्ध-  
श्मान् । कृकं सोमोपा बहुधा यदस्त्वग्निं यमं मारुता  
नमाहुः ॥

ऋ० १०।१४।१७॥

परन्तु इसका अभिप्राय यह कहाने नही कि इन्द्र मित्रा  
की सत्ता ही नहीं। इनकी स्वतंत्र सत्ता ये इनका करना  
परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्तामें इनका करना है। अनेक  
मंत्रमें मित है मारे परमात्माकी भिन्न भिन्न सत्तामें यम की  
पूज है। यमका सर्वत्र अर्थ पात्रु कर्मका यह मंत्र [ ताव  
करता है। इस प्रकार इस मंत्रमें जो यमाय द्रव्य देकर



परमात्मा की विनाशक शक्ति व मरनेके बाद जीवों की व्यवस्था करनेवाली शक्ति का वर्णन है । यह शक्ति अग्नि वायु आदिकी तरह अपनी स्वतंत्र सत्ता रखती है । जिस प्रकार वायु आदि की स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता, उन्हीं प्रकार यमकी भी स्वतंत्र सत्तासे इनकार नहीं किया जा सकता । परमात्मा की भिन्न शक्तियों में से एक यम नामक शक्ति है जिसका कि यम व पितरमें उल्लेख किया गया है । कोई यह न समझ ले कि यम परमात्मा की शक्तिवशसे भिन्न कोई अलग ही शक्ति है, अतः इस सूक्ते अंतमें इस शक्ति के निवारणार्थ इस मंत्रसे उपशेखार कहते हुए ऋ० १। १६४।४६ मंत्र के आशय को व्युत्थापित किया है । इस अंतिम मंत्रका यह प्रयोजन है कि अन्तिम यम तो बशः एक परमात्मा है, पर जो मूफमें यमका अर्थ है वह उसकी एकदेशीय शक्ति का वर्णन है । हमारे खयालमें इसी प्रकार इस मंत्रकी सूक्ते काय संगति है । यम यह एक स्वतंत्र सत्तावाली परमात्माकी शक्ति है, जो वायु अग्नि आदिसे भिन्न है, सूख पाठक इस विवेचन पर और भी अधिक विचार कर निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

सम्पूर्ण सूक्ता मंत्रवार सारांश ।

प्रथम मंत्र ।

- १ कर्मासुसार जन्ममरणका निर्णय यम करता है ।
- २ यम निर्वस्वायु ( सूँ ) का पुत्र है ।
- ३ यम को सब जन प्राप्त होते हैं ।

द्वितीय मंत्र ।

- ४ यम ने यमलोक में जाने के मार्ग को सबसे प्रथम जाना ।
- ५ यमलोक के मार्गसे कोई भी बच नहीं सकता । अर्थात् प्रलोक को यम लोक में अवश्य जाना पड़ता है ।
- ६ यमलोकमें हमारे पूर्व पितर गए हुए हैं ।

तृतीय मंत्र ।

- ७ यम अक्षिरस् पितरों से बचता है ।

चतुर्थ व पंचम मंत्र ।

- ८ यमको अक्षिरस् पितरोंके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है ।
- ९ अक्षिरस् पितर नाना स्वरूपवाले हैं ।

२० ( अ. द्र. भां. कं. १८ )

- १० यमके पिता विवस्वान् को भी यज्ञमें बुलाया जाता है ।

षष्ठ मंत्र ।

- ११ अक्षिरस् पितरोंके नाना रूप नवम्ब, अवर्बव, अगु आदि हैं ।

सप्तम मंत्र ।

- १२ प्रेत पितृलोक ( यमलोक ) में भेजा जाता है ।

- १३ यमलोकमें यम व वरुण राजा है ।

- १४ यम व वरुण स्वप्नासे आनन्दित होते हैं ।

अष्टम मंत्र ।

- १५ प्रेत को यम व पितर लेने आते हैं । वह अपने दृष्टापूर्व को खाय लेकर उर्ध्वतः साथ यमलोक में जाता है ।

- १६ प्रेत यमलोकसे पुनः वापिस लौटता है ।

नवम मंत्र ।

- १७ समशानभूमिसे विजृम्भकारियों को भगाया जाता है ।

- १८ यमलोकमें दिन रात नहीं होते ।

दशम मंत्र ।

- १९ यमके दो-कुत्ते हैं जिनकी चार आँखें हैं तथा वे स्वयं चितकचरे हैं ।

- २० मृत आत्मा पितरोंको प्राप्त होती है ।

- २१ पितर यमके साथ आनन्दित होते हैं ।

एकादश मंत्र ।

- २२ यमके श्वान यमलोकके मार्गकी रक्षा करते हैं ।

- २३ वे मनुष्योंको सर्वदा देखते रहते हैं ।

द्वादश मंत्र ।

- २४ यमके श्वान सन्ध्या नाकवाले हैं ।

- २५ प्राणोंको खाकर घृष्ट होनेवाले हैं ।

- २६ वे श्वान यमके दूत हैं ।

- २७ वे मनुष्योंके सर्वदा पीछे पीछे किरते रहते हैं ।

- २८ यमके दोनो श्वानोंमें एक काला व दूसरा चित-कचरा है ।

- २९ संभवतः ये यमके दोनो श्वान दिन व रात हैं ।

त्रयोदश मंत्र ।

- ३० यमके लिए यज्ञमें सोम निचोका जाता है व हवि दी जाती है ।

३१ अग्निको अपना दूत बनाकर यज्ञ यमके पास पहुंचता है ।

चतुर्दश मंत्र ।

३२ यमके लिए धीमिधित हवि हुं जाती है जिध से कि उत्कृष्ट स्मिति उपलब्ध होती है ।

३३ यम देवोंमें अनेके लिए हविर्दाता को दीधीयु देता है ।

पंचदश मंत्र ।

३४ यमराजाके लिए अतीव मधुरतम इव्य देना चाहिये ।

३५ पूर्वज्ञ सब ऋषियोंका सत्कार करना चाहिए ।

षोडश मंत्र ।

३६ छद्मों उर्विरीको अकेले ही उस महान् मन्त्रने ब्रह्म कर रखा है ।

३७ त्रिष्टुप् आदि सब छंद भी उसी यम ( सर्व नियामक-परमात्मा ) में स्थित हैं- यमके अन्तर्गत हैं ।

## २ ऋग्वेद मं० १० सू० १५

इस सूक्तमें जोखित तथा मृत दोनों पितरोंको यज्ञमें बुलाने आह्विका वर्णन है । किंस मन्त्रमें जोखित पितरोंके प्रति कथन है व किसमें मृत पितरोंके प्रति यह निर्दय प्रत्येक मन्त्र स्वय करता है ।

उदीरशामवर उपरास उन्मध्याना पितरः सोम्यास ।

मसु य ईयुरनुका पत्तना एवे नोऽशन्तु पितरो हवेयुः॥

मं० १०।१५।१॥

हे ( सोम्यासः ) योम संपादन करनेवाले ( अवरः ) निकृष्ट, ( उत् परासः ) और उत्कृष्ट ( उत् ) तथा ( मध्यमा ) मध्यम ( पितरः ) पितरों ! ( उदीरताः ) उन्नतिही प्राप्त होओ । [ ये अयुकाः ] जिन हिंसा न करनेवाले पितरोंमें [ अर्ध ईयु ] प्राण को प्राप्त किया है अर्थात् जो प्राणधारी पितर हैं [ ये ] वे [ पत्तनाः ] सत्य व यज्ञको जाननेवाले [ पितरः ] पितर [ हवेयु ] बुलाए जानेपर [ नः ] हमारी [ रक्षन्तु ] रक्षा करें ।

निरुक्त०

सोम्यास — सोम संपादन करनेवाले ।

अयुका — अनमित्रा — शत्रुग्राहि ।

उदीरताः — मृत ईरताम् । उद् उपसर्गपूर्वक ईर गतो धातु । ऊपर पति करना अर्थात् उन्नति करना ।

यस प्रकारके उत्तम, मध्यम तथा निम्न पितर अपनी उन्नति करें । हमारे सहायतायें युक्तानेपर आकर हमारा रक्षण करें ।

' अयु य ईयु ' यरुवे यह श्राव होता है कि रक्ष में जोखित पितरों ये प्राधान्य को गई है । यह मन्त्र अथर्ववेद ( १८।१।१५ )

में तथा वजुर्वेद ( १९।४९ ) में भी आया है ।

इष्ट पितृभ्यो ममो अस्त्यथ ये पुरांसो य उपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निपता ये वा मृत सुवृजः मं० १०।१५।१॥

नाम्न विष्टुः ॥

[ अय ] आज [ पितृभ्यः ] पितरोंके लिए [ इद ममः ] यह नमस्कार हो । किन पितरों के लिए ? [ ये ] जो कि [ पुरांस ] पूर्वकालीन पितर [ ईयुः ] स्वर्गको गए हुए हैं और [ ये ] जो कि [ अपरासः ] अयोनीन कालके पितर स्वर्गको गए हुए हैं और [ ये ] जो कि पितर [ पार्थिवे रजसि ] पार्थिव रजस् पर अर्थात् पृथिवीपर [ आ निपताः ] स्थित हैं [ वा ] अथवा [ ये ] जो कि [ मृत ] निधय से [ सुवृजनाः ] विष्टु उगत मृत वा धनयुक्त प्रजाओंमें स्थित हैं ।

पुरातन कालके, अयोनीन कालके जो पितर हैं और आ इय समय पृथिवीलोकपर विद्यमान हैं अथवा उत्तम धनधायक वरत प्रजाओंमें विद्यमान हैं, उन सब पितरोंके लिए नमस्कार है ।

विष्टुश्च न निष्पृष्टम् मनुष्यावाची मामामे पठित है । देवो निष्पृष्टः २।३ वृजना का अर्थ निष्पृष्टमें बल देना किया गया है । निष्पृष्टः ३ । १॥ इस मन्त्रमें सर्व प्रकारके पितरोंका अर्थात् प्राचीन, अर्वाचीन, जीवित, मृत सबके लिए नमस्कार का निर्दय प्रयोग है । पुरांस अर्थात् प्राचीन कालके पितर इस वचन मृत ही हैं । जो पार्थिव लोकपर विद्यमान हैं, वे ही जीवितोंमें मृत जा सकते हैं । अतः इसके सिवाय दोष दोनों अर्वाचीन व प्राचीन पितर निःसन्देह मृत पितर ही हैं । रक्षये यह स्पष्ट हुआ कि मृत पितरोंको भी नमस्कार करना चाहिए ।

यह मंत्र अथर्ववेद ( १८।१।४६ ) तथा यजुर्वेद ( १९।६८ ) में भी आया हुआ है ।

आहं पितृन्सुविदन्तौ अविरिष्य नपातं च विक्रमणं च विष्णोः । बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त-  
पिष्वस्त इहामिष्टाः ॥ ऋ० १०।१५।३॥

( सुविदन्तान् पितॄन् ) उत्तम धनसंपन्न पितरोंको ( आ-  
विरिष्य ) अच्छी प्रकार प्राप्त करता हूँ । ( विष्णोः नपातं  
विक्रमणं च ) और सर्वव्यापक परमात्माके न गिरानेवाले  
अर्थात् उन्नति करानेवाले शौर्यको प्राप्त करता हूँ । ( बर्हिषदः  
पितरः ) कुशासन पर बैठनेवाले पितर जो कि ( स्वधया )  
स्वधाके साथ ( सुतस्य पितरः ) उत्पादित अर्थात् तैयार किए हुए  
घनका ( भजन्त ) सेवन करते हैं यानि खाते हैं ( ते ) वे  
पितर ( इह ) इस यज्ञमें ( आगमिष्टाः ) आवें ।

धनधान्यसंपन्न पितरोंको व व्यापक परमात्माके शौर्यको मैं  
प्राप्त करता हूँ । स्वधाके साथ पञ्च अक्ष को खानेवाले पितरों।  
इस यज्ञमें आओ ।

सुविदन्तः—सुविदन्तः कल्याणविद्यः । नि० अ० ६।५।०  
२। ऋ० १५। सुविदन्तका अर्थ निराडुमें धन भी है । निच०  
५।१०। पिष्व = पितृ+अस् = पिष्वः = अन्नका । नपात = न  
पातयति = जो न गिरावे ।

‘आहं सुविदन्तान् पितॄन् अविरिष्य’ छे जीवित पितर  
‘प्रतीत होते हैं । क्योंकि सुविदन्त पितरोंको तभी प्राप्त किया  
जा सकता है, जब कि उनके यहाँ उनसे जन्म लिया जावे ।  
और जन्म जीवित पितरों से ही मिलता है । यह मंत्र अथर्व-  
वेद [ १८।१।४५ ] में तथा यजुर्वेद [ १९।५६ ] में आया  
है ।

बर्हिषदः पितर इत्यर्वागिमा वो इम्या चक्रमा उपपद्यम् ।  
त आ गतावसा शन्तमेनाऽया नः सं योरपि दयात ॥  
ऋ० १०।१५।३॥

( बर्हिषदः पितरः ) हे बर्हिषद पितरों । ( अवार्क ) हमारे  
प्रति ( ऊति ) रक्षणार्थ आओ । ( वः ) तुम्हारे लिए ( इम्या )  
हमों को ( चक्रमा ) घरोते हैं, उनका ( उपपद्यम् ) प्रीति-  
पूर्वक सेवन करो । ( ते ) वे तुम ( शन्तमेन अवसा ) कल्याण-  
कारी रक्षण के साथ ( आगत ) आओ । ( अथ ) और सब  
( नः ) हमें ( अरपः ) पापहित आचरण, ( चं ) कल्याण  
और ( योः ) दुष्कविशेष ( दयात ) दो ।

बर्हिषद पितर हमारा रक्षण करें और उसके बदलेमें हम  
उनका इम्यादि प्रदान द्वारा सत्कार करें । व हमारे रोग तथा  
भयोंको दूर करते हुए हमारा संरक्षण करें ।

बर्हिषदः— बर्हिष्व में अथवा बर्हिष्व पर बैठनेवाले । निघण्टु  
में बर्हिष्व शब्द अन्तरिक्ष एवं जलवाची है । अंतरिक्षमें जल  
रहता है अतः जलका भी नाम बर्हिष्व पड़ गया ऐसा प्रतीत  
होता है । बर्हिष्व = अंतरिक्ष । निघण्टु ॥३॥ बर्हिष्व = जल ।  
निघण्टु— १।१२॥ अंतरिक्ष में पितर रहते ऐसा हमें वेदमंत्रोंसे  
( जैसा कि हम पूर्वे दर्शा आए हैं ) पता चलता है । तदनुसार  
( बर्हिषदः ) का अर्थ हुआ अन्तरिक्षस्थ पितर । निघण्टु—३।३।  
में बर्हिषद, महत्वाची नामों में भी पड़ते हैं । तदनुसार  
महान् पितर ऐसा भी अर्थ किया जा सकता है । बर्हिष्व कुशा-  
पास का भी नाम है । तदनुसार इसका अर्थ कुशापास के  
आसनपर बैठनेवाले ऐसा भी हो सकता है । वेदमें बर्हिष्व यज्ञ  
के लिए भी प्रयुक्त हुआ हुआ है, अतः यज्ञ में बैठनेवाले ऐसा  
अर्थ भी हम कर सकते हैं । प्रसङ्गानुसार उचित अर्थ लेना  
चाहिए । बर्हिषद पितरोंके विषयमें विवाद विवरण हम अन्यत्र  
प्रकाशित करेंगे ।

शंयोः— शमनं च रोगाणां शान्तं च भयानाम् । निवृज०  
५।३।२५॥ अरपः—रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः॥ निवृज०  
५।३।२५॥ न रपः = अरपः— पापहित । यह मंत्र यजुर्वेद  
( १९।५५ ) में तथा अथर्ववेद ( १८।१।५१ ) में भी है ।

उपहृताः पितरः सोम्यासो बर्हिष्वेयु निधियु विषेयु ।  
त आ गमन्तु त इह ध्रुवस्त्वधिध्रुवन्तु त इह स्वस्त्वमात्र ॥  
ऋ० १०।१५।५॥

( ते ) वे ( सोम्यासः ) सोम संशारन करनेवाले ( पितरः ) पितर  
( विषेयु बर्हिष्वेयु ) प्रीतिकारक अश्वसंघर्षा निधियोंमें ( उपहृता )  
धुलाए गए हैं ( ते ) वे पितर ( इह ) इस यज्ञमें ( आगमन्तु )  
आवें । ( ते अधिध्रुवन्तु ) वे पितर हमारी प्रार्थनायें ध्यान  
देकर सुनें, ( अधिध्रुवन्तु ) हमें उपदेश करें तथा ( असन्तु ते  
अवन्तु ) हमारी च रक्षा करें ।

याज्ञिक कार्योंमें पितर हमारे धुलाए जानेपर आवें । आकर  
हमें उपदेश दें, हमारी प्रार्थनायें सुनें तथा हमारी रक्षा करें ।

बर्हिष्व— बर्हिष्व नाम यज्ञका है । उसमें होनेवाला बर्हिष्व  
अर्थात् यज्ञसंघर्षी । सोम्यासः— शस्त्रचापयुक्त निरुद्धम् । ‘सो-  
म्यासः’ का अर्थ ‘सोम का संग्रहण करनेवाले’ ऐसा हिदा

है । निधिः - निधिः देवधारिणि । निह० अ० ४ । पा० १ ।  
खं० ४ । अर्थात् सुख का भण्डार ।

यद् मन्त्र यजुर्वेद ( ११५७ ) में तथा अथर्ववेद ( १८१३४५ )  
में है ।

आच्यः जानु दक्षिणतो नियथेय यज्ञमभि गृणात  
त्रिधे । मा हिंसिष्ट पितरं येन चित्तो यद्वा आय  
पुरुषा कराम ॥ अ० १०१५६॥

( विधे ) तुम सब पितरों ! ( जानु आच्य ) दाया घुटना  
टेककर ( दक्षिणत नियथ ) दाई ओर बैठकर ( इम यज्ञ ) इस यज्ञ  
का ( अभि गृणीत ) स्वाकार करो । ( पितर ) हे पितरों !  
( यद् वा. आय ) जो घुटनारा अपराध ( पुरुषता कराम )  
पुरुषत्व के कारण अर्थात् मनुष्यत्व के कारण हम करते हैं ऐसे  
( कन चित् ) किसी भी अपराध के कारण ( मा हिंसिष्ट )  
हमारा हिंसा मत करो ।

ह पितरों ! दाई ओर दायाँ घुटना टेककर इस यज्ञमें बैठो ।  
यदि हम मनुष्यों से किसी प्रकारका अपराध अबजाने हो जाए  
तो उसके कारण हमारा विनाश मत करो ।

जानु आच्य- ब्रह्मवा अर्थ हमने ' दायाँ घुटना टेककर '  
ऐसा किया है, जिसका आधारभूत वाचस्पत्य ब्राह्मण का निम्न  
वचन है- ' अभैत पितरं प्राचानावातिमः सव्य वा-व-हो-  
पासादस्तानमवीत् .. ' इत्यादि । वातपथ २।४०२।३ ॥

इस मन्त्रमें जिन पितरों का उल्लेख है वे जावित पितर हैं  
ऐसा ' आच्यजानु ' से प्रतीत होता है । मृत पितर दहरिद्धेत  
होनेसे यज्ञमें घुटना टेककर नहीं बैठ सकते । देहधारी पितरोंके  
लिए ही यह करना अवश है और देहधारी पितर जावित पितर  
ही हो सकते हैं, मृत पितर नहीं । यह मन्त्र यजुर्वेद ( १५६२ )  
में तथा अथर्ववेद ( १८१५२ ) में है ।

आसीनास्तो अहनीनामुपस्थे रायं धनं दाम्पत्यं मत्वाय ।  
पुत्रस्य पितरस्तस्य बहवः प्र वच्छन्त त द्वौजैर्दुधात ॥

अ० १०१५७ ॥

( अहनीना उपस्थे आसीनाः ) यज्ञमें प्रदत्त की गई  
आमर्षी गन्धर्वज उवालाओंके समायमें बैठ हुए अर्थात् यज्ञमें  
उपस्थित हुए हुए पितरों ! ( दाम्पत्य मत्वाय ) दाम्पत्य मनुष्यके  
लिए ( रायं धनं ) धनको दा । ( तस्य ) उस दाम्पत्यके ( पुत्र-  
स्यः बन्धु प्रवच्छन् ) पुत्रोंके लिए धनका दान करो । ( त )  
वे पुत्र ( इह ) धर्मपर उस दानी व दानाके पुत्रोंके लिए

( ऊर्ज ) अन्नसे ( दुधात ) पुष्ट करो ।

हे पितर ! यज्ञमें बैठकर जो दान करनेवाला है उसके  
लिए तथा उसके पुत्रोंके लिए धन व अन्नका दान करके उन्हें  
पुष्ट करो ।

अहनी- यद्यपि निघण्टु १११५ में उवाकी वरिण ऐसा अर्थ  
है, तथापि यहाँपर प्रकृत प्रकरणमें यज्ञका वर्णन होनेसे यज्ञकी  
रक्षणार्थ उवालाओंसे ही अभिप्राय है । ऊर्ज- अन्न ।  
निघण्टु २।७ ॥

यद् मन्त्र अथर्ववेद ( १८१३१४३ ) में तथा यजुर्वेद  
( १५६२ ) में आया है ।

ये नः पूर्वे पितर सोम्यास्तोऽनुहिरे सोमवीथं वशिष्टा ।  
तेभिर्वयमः सरराणो हवींष्यु धा-मुदाहि प्रविकानमसु ॥  
अ० १०१५८ ॥

( ये ) जिन ( नः ) हमारे ( पूर्वे सोम्याः ) वशिष्ठा  
पितर ) पुरातन सोम संपादन करनेवाले वशिष्ठ अर्थात् उक्त  
धनवाले पितरों ने ( सोमवीथं ) सोमपान को यज्ञमें ( अनु-  
दहिरे ) प्राप्त किया था, ( तेभिः ) उन ( वसुभिः ) यमके  
साथ सोमपान करने वा इति खाने की कामना करते हुए वशिष्ठ  
पितरोंके साथ ( वसुन् ) सोमपान करने वा इति खाने की  
चामना करता हुआ, ( सरराण ) पितरोंके साथ रमण करता  
हुआ अर्थात् आनन्दित होता हुआ ( यम ) यम ( हवींषि )  
इवियोंके ( प्रविकाम ) इच्छासुखार ( अनु ) खावे ।

हमारे जिन पुरातन पितरोंने यज्ञमें बैठकर सोमपान किया  
था, उन पितरोंके साथ मिलकर यम हमारे द्वारा वा गई इति  
बोको खावे । हमें यम व पितरोंके लिए यज्ञमें यथापि साम्रामें  
इति देनी चाहिए ।

वशिष्ठके विषयमें विष्णु लिखित व्रतोंके वचन हैं-

( १ ) यद्दे नु अथ तन वशिष्ठो अपो यदस्मृतमो वसति तेनो  
एव वशिष्ठ ॥ अ० ८।१।१८ ( २ ) येन वे श्रेष्ठ तेन वशिष्ठ ॥  
गो. उ ३।१ ( ३ ) एष ( प्रजापति ) वे वशिष्ठ ॥ अ० १।  
४।३२ ( ४ ) प्राणो वे वशिष्ठ ऋषिः ॥ अ० ८।१।१९ ( ५ )  
वा इ वायुवाच ( हे प्राण ) । यद्वा अह वसिष्ठानि रव तद्विकि-  
श्रोऽस्मति ॥ अ० १०१५१।१४ ( ६ ) आमर्षे इव नो वशिष्ठ ॥  
ऐ० १।२८ यह वचन अ० २।१।१ पर है । ( ७ ) वारी  
वशिष्ठ ॥ अ० १।१।२।२ ॥

इन वचनासुधार वशिष्ठ का अर्थ उत्तम धाव करानेवाला अर्थात् उत्तम आश्रयदाता ऐसा अर्थमी किया जा सकता है । यक्ष नाम धनका भी है । तदनुसार उत्तम धनवाले ऐसा अर्थ भी हो सकता है ।

इस मंत्रके वर्णन से यहाँ मृत पितरोंका उल्लेख है । यम के साथ हवि खानेवाले पितर आवित नहीं हो सकते ।

इस मंत्रसे लेकर इस सूक्तकी समाप्तिपर्यन्त मृत पितरोंके संबंधमें निर्देश है । यह मंत्र यजुर्वेद ( १९ । ११ ) में व्याप्य है ।

निम्न दो मंत्रों ( १११२ ) में अग्निको पितरोंके साथ यज्ञ में बुलाया गया है—

ये सातपुत्र्यवज्रा जेहमाना होत्राविदः स्तोमवृष्टासो  
अर्कः । आग्ने याहि सुविद्वन्नभिराङ्ग सत्यैः कथ्यैः  
पितृभिर्धर्मसन्निः ॥ अ० १०१५१५ ॥

( वैवशा जेहमानाः ) देवोंको प्राप्त होते हुए अर्थात् देव बनते हुए ( होत्राविदः ) यज्ञोंके जाननेवाले ( स्तोमवृष्टासोः ) क्लेशोंके बनानेवाले ( ये ) जो पितर ( अर्कः ) अर्चनीय स्तोत्रोंके ( सातपुत्रः ) इस संसारसागरसे सर्वथा तर गए हैं ऐसे ( सुविद-  
नभिः सत्यैः कथ्यैः धर्मसन्निः पितृभिः ) उत्तम धनवाले अथवा कल्याणकारी विद्यावाले अर्थात् उत्तम ज्ञानी, ( सत्यैः सत्यवचनी [ कथ्यैः ] कथनमाना है पितरोंके उद्देश्यसे दी गई हविष्य, उषको खानेवाले तथा यज्ञमें आकर बैठनेवाले पितरोंके साथ ( अर्वाङ्ग ) हमारे प्रति ( अग्ने ) है अग्नि । त्व ( आवाहि ) यज्ञमें आ ।

देववक्त्रो प्राप्त हुए हुए पितरोंको अग्निके साथ यज्ञमें बुलाया जाता है व अग्नि उन पितरोंके साथ यज्ञमें आती है अर्थात् पितर अग्निके साथ हमारे यज्ञमें आते हैं ।

धर्म-यज्ञ । निषक ३११८ ॥

अर्क-यंश, स्तोत्र । अर्कके अनेक अर्थ हैं— ' अर्कें देवी भवति, यदेनमर्चति । अर्को मंत्रो भवति यदेनमर्चति । अर्क-यंश भवति, अर्चति भूतानि । अर्को रसो भवति, प्रोक्षत कटुदिम्ना । निषक ५११५ ॥ सुविद्वन्— सुविद्वन् कल्याणविशः । निषक ६१११४ ॥ इसका अर्थ धन भी है । निषक ५११९ ॥

इस मंत्रके ' देवता जेहमानाः ' के भावको जबल्य यंश विशेष रूपसे स्पष्ट करता है । उषमें भी अग्नि द्वारा देवयोनिमें गए हुए पितरोंकी ही आवाहन किया गया है ।

ये सत्यासो हविर्दो हविष्या इन्द्रेण देवैः सरपं  
दधानाः । आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः परैः पृथैः  
पितृभिर्धर्मसन्निः ॥ अ० १०१५१६ ॥

( ये ) जो पितर ( सत्यासः ) सत्यवचनो, ( हविर्दः ) हविके खातेवाले, ( हविष्याः ) हविषकी रक्षा करनेवाले तथा ( इन्द्रेण देवैः सहस्रं दधानाः ) जो इन्द्र व देवोंके साथ समान रथपर आसुव होते हैं, ऐसे ( सहस्रं देववन्दैः ) हजारों बार देवोंके स्तुति किए गए ( परैः पृथैः ) पुरातन तथा अर्वाचीन ( धर्मसन्निः पितृभिः ) यज्ञमें बैठनेवाले पितरोंके साथ ( अग्ने ) है अग्नि । त्व ( आवाहि ) आ ।

देवोंके साथ एकरासुव अर्थात् देवोंके साथ विचरण करनेवाले पितरोंकी यज्ञमें अग्नि आती है ।

यह मंत्र पूर्व मंत्रकेही आशय को स्पष्ट कर रहा है। प्राचीन पितर तथा देवोंमें विचरण करनेवाले पितर जीवित पितर नहीं हो सकते । इसके सिवाय यज्ञ एक और भी महत्वपूर्ण बातका पता चलता है और वह यह कि मरनेके बाद जीव एवम पुन-जन्म नहीं लेता, कमसे कम उसके सव जीव तो एकदम नहीं हो लेते । दूसरे शब्दोंमें इसे यूँ भी कह सकते हैं कि परलोक-वासी जीवोंका इस लोकवासी जीवसे संलग्न बना रहता है । वे इस लोकमें आकर वहाँके जीवोंके कार्योंमें हिंसा बटोरते हैं व समय समयपर रक्षा आदिके कार्य भी करते हैं । उनको हमारे समाचार पहुँचानेवाली अग्नि है । अतः जीवित पितरोंकी तरह उनका भी समय समयपर सकार करना चाहिये, ऐसा हवका उनका भी समय समयपर सकार करना चाहिये, ऐसा हवका अभिप्राय हुआ । इस विषयमें विशेष प्रकाश डालनेवाले मंत्रकी मूल लेखमें उद्धृत किया जा चुका है । उन मंत्रोंपर विशेष विचार करना जरूरी है ।

अग्निष्वाचाः पितर एव गच्छत सवःसदः सदव  
सुप्रणीतयः । अत्वा हवीषि प्रयतानि वारिष्यका रवि  
सर्वहीर दधानव ॥ अ० १०१५१७ ॥

हे [ सुप्रणीतयः ] उत्तम प्रकारके ले जानेवाले [ अग्निष्वाचाः पितर ] अग्निष्वाच पितरों ! [ सदः ] इस यज्ञमें [ आगच्छत ] आओ । [ सदः ] सदा सदत [ पर मर्मे दिवव होओ ] । [ जय ] और [ वारिषि प्रयतानि हवीषि अत ] यज्ञमें दी गई हविष्यको खाओ और धर्म [ सर्वतोर् रवि दधानव ] सर्व प्रकार की नीरतासे परिपूर्ण पुरुषों घन देकर पुष्ट करो । हे अग्निष्वाच पितरों ! पर मर्मे आओ । यज्ञमें प्रवेश

उद्देश्य से ही गई हवियोंको खाओ, तथा उसके बदलेमें वीर  
धैर्यता का प्रदान करो ।

सुगन्धी- जिह्वी नीति उत्तम है अर्थात् जो  
उत्तम पशुप्रदार्थक है । यह संज्ञा यजुर्वेद [ ११. ५५ ] में तथा  
अथर्ववेद [ १८।१४४ ] में भी आया हुआ है ।

त्वमग्न ईक्षितो जातवेदोऽथाह् इह्यानि सुरभीणि  
कृत्वा । प्राज्ञाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षरादि स्वे देव  
प्रयत्ना हवींषि ॥ ॥ १०।१५।१२ ॥

हे [ जातवेदः अग्ने ] जातवेदस् अग्नि । [ ईक्षिताः स्वं ]  
स्तुति किंवा यथा त् [ इह्यानि ] इह्योक्ते [ सुरभीणि कृत्वा ]  
सुरभीत बनाकर [ अवाह् ] वहन कर [ पितृभ्यः ] उन  
इह्योक्ते पितरोंके लिए [ प्राज्ञाः ] दे । [ ते ] वे पितर [ स्व-  
धया अक्षर ] उन इह्योक्ते स्वधायके साथ खावें । [ देव ] हे  
महात्माग्न अग्नि । [ स्वं ] तू भी [ प्रयत्ना हवींषि ] दी गई  
हवियोंको [ अग्नि ] खा ।

अग्नि को स्तुति करनेपर वह पितरोंके लिए हवियोंके सुगन्धित  
पशुकाह ले जाती है । और ले जाकर पितरोंको देती है ताकि वे  
खावें ।

इस मंत्रसे ऐसा पता चलता है कि इह्यस्व पितरोंके पास  
हवि पहुंचानेका साधन अग्नि है । अतः अग्निद्वारा इह्यस्व पित-  
रोंको हवि पहुंचाना चाहिये ।

अग्नि पितरोंको अग्निद्वारा हवि देनेसे स्तुति नहीं हो सकती,  
अतः अग्निद्वारा हवि मृत पितरोंको ही दी जा सकती है और  
सर्पिक द्वारा ये मृत हो सकते हैं । इह्यस्व रूपमें विद्यमान हवि  
जीवितोंके लिए उपयोगी है और अग्निद्वारा मृत स्तुति करनेमें भी गई  
हवि मृतोंके लिए उपयोगी है । इसमें हेतु यह है कि जीवित  
पितरोंका भौतिक देह उस अग्निद्वारा ही भई शून्य हो जानेसे  
मृत नहीं हो सकता, यह बात निर्विवाद ही है । इसके अति  
पुनः मृत पितरोंका भौतिक देह नहीं है अर्थात् उनके पास  
इह्यस्व हविके मरण करनेका एक मात्र साधन स्थूल शरीर नहीं  
है, अतः उनके लिए स्थूल हवि निरवयवी है, पर सूक्ष्म शरीर-  
के अशेषित होनेसे उनके संसारगते किए उन्हें सूक्ष्म रूपमें  
हवि चाहिए, जो कि अग्नि द्वारा उन्हें मिल सकती है और  
उपरोक्त वे मृत हो सकते हैं । अग्नि द्वारा स्थूल शरीर होते  
हुए भी सूक्ष्म शरीर विद्यमान रहता है व स्थूल शरीरके साथ  
पाप गुण योग रहता है । स्थूल शरीरको शरीरकर्मों से

शरीरको घेरा बहुत अंश मिलता रहता है, पर स्थूल देहके  
अन्तर्ग हो जानेपर सूक्ष्म देहको स्थूल शरीरके द्वारा जो शरीरक  
उपलब्ध होती थी, वह बंद हो जाती है । इसके विना देहकी  
स्थिति नहीं रह सकती, अतएव अग्निद्वारा सूक्ष्म देहको शरीरक  
पहुंचाई जाती है । और यही कारण प्रतीत होता है कि अग्नि  
को सर्वत्र कहा गया है कि वह मृत पितरोंके पास हवि ले  
आए उनको हवि खानेके लिये ले आए, इत्यादि । इसी  
समयमें अग्नि द्वारा मृत पितरोंको हवि पहुंचानेका कारण  
यही है कि उनके सूक्ष्म शरीरको अन्न मिलता रहे । मृत  
पितरोंकी स्वरूप देह संसारगर्भ हविके आवरणकता रहती है  
और अतएव वेदमें ऐसे मंत्र हमें उपलब्ध होते हैं । इसके  
अनुसार इस मंत्रमें मृत पितरोंके स्वरूपके हवि देनेका उद्देश्य  
है ऐसा हम मान सकते हैं । यह मंत्र अथर्ववेद  
( १८।१४२ ) में तथा यजुर्वेद ( ११।६५ ) में भी आया हुआ है ।

ये चेह पितरो दे व नेह वीक्ष विप्र यो व  
व न प्रविश । एवं वेद्य यति ते जातवेदः

स्वधामिभ्येष्टं सुहृत् उपपन्न ॥ ॥ १०।१५।१३ ॥

( ये व इह पितरः ) जो पितर यहापर विद्यमान हैं, ( ये  
व न इह ) और जो पितर यहापर विद्यमान नहीं हैं, ( वाव  
व विप्र ) और जिन्ह पितरोंको हम जानते हैं, ( जात व न  
प्रविश ) और जिन्ह पितरोंको हम नहीं जानते, इस प्रकारके  
( यति ते ) जितने भी वे पितर हैं उन सबको ( एवं ) व  
( वेद्य ) जानो है । ( स्वधामिः ) स्वधायोके साथ ( सुहृत्  
यष्टं ) उत्तम प्रकारसे किए हुए नष्टोक्त त् ( उपपन्न ) प्रीति-  
पूर्वक सेवन कर ।

जो पितर इस संसारमें विद्यमान हैं और जो नहीं हैं,  
तथा जिनको हम जानते हैं और जिनको हम नहीं जानते  
अर्थात् जो हमारे जन्मसे भी पहले इस कोसे जन्म गए हैं, उन  
सब पितरोंको अग्नि जानतो है ।

पूर्व मंत्रमें मृत पितरोंको हविके आवरणकता क्यों है यह  
दखति हुए हमसे यह भी दर्शाया जा कि अग्नि द्वारा गई  
हवि पहुंचाये से हेतु क्या है । इस मंत्रमें अग्नि द्वारा हवि  
पहुंचानेका उद्देश्य हेतु दर्शाया गया है और वह यह कि अग्नि  
सब प्रकारके पितरोंके विषयमें परिचय रखती है । अतएव  
वही एक ऐसा है कि जो पितरोंके पास पावे वे वही पर भी  
हो हवि पहुंचा सकती है । यह इसका हेतु है कि वे

कारण अग्नि द्वारा हवि पहुँचानेका वेदमंत्रोंमें निर्देश है। अग्निर्वसन्धाः विरोध विवेचन हम पाहिले अग्नि व पितरों कर आए हैं, वहाँसे पाठक देख सकते हैं। यह मंत्र यजुर्वेद (१९। ६७) में है।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः  
स्वधया मादयन्ते । तेभिः स्वराडमुनीतिमेतां  
यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ ऋ० १०।१५।१५॥

( ये ) जो पितर ( अग्निदग्धाः ) अग्नि द्वारा जलाए गए हैं, ( ये ) और जो ( अनग्निदग्धाः ) अग्नि द्वारा नहीं जलाए गए हैं, ऐसे जो दोनों प्रकार के पितर ( दिवः मध्ये स्वधया मादयन्ते ) धूलोके बीचमें स्वधासे आनन्दित हो रहे हैं, ( तेष्व- ) उन दोनों प्रकारके पितरोंके लिए ( स्व-राड् ) स्वयं प्रकाशमान अग्नि वा यम ( यथावश ) कामनाके अनुसार ( एतां अनुनीति तन्वं कल्पयस्व ) इस प्राणी द्वारा के जानेवाले शरीरकी बना ।

जिनका अंत्येष्टिचंस्कार अग्निद्वारा किया गया है व जिनका अग्निद्वारा नहीं किया गया, ऐसे धूलोकेमें रहनेवाले पितरों का पुनर्जन्म होता है ।

अनुनीति— जो प्राणीद्वारा ले जाया जावे। अर्थात् जिनका संचालन प्राणी द्वारा होता है। यह शरीर अनुनीति है, क्योंकि कि प्राण निकल जानेपर इसका संचालन बन्द हो जाता है।

### अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध ।

[ ' ये निरवाता ये परोताः ' इत्यादि अर्थ, १८।२।३४ में जो श्रेष्ठके अंत्येष्टिचंस्कारके चार प्रकार दर्शाए हैं तन्मेंसे दग्ध को छोड़कर शेष तीन संस्कार अर्थात् गावना, बहाना और हवामें धूला छोड़ना इन विधियोंसे जिन पितरोंका अंत्येष्टिचंस्कार हुआ है, वे अनग्निदग्ध हैं; तथा जिनकी अंत्येष्टि अग्निसे हुई है, वे अग्निदग्ध हैं ।

### अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्त ।

प्रसंगवश योधावा वहापर अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके विषयमें लिखना जरूरी है। उपरोक्त मंत्र ( ऋ० १०।१५।१५ ) और यजुर्वेद ( १९।६० ) में आया हुआ है। वहाँपर जो योधावा पाठभेद है वह अग्निष्वात्त व अनग्निष्वात्तके अर्थ-निर्णय को स्वयंसे कर देता है। अन्वेदका पाठ ऊपर हम दे आए हैं। यजुर्वेदका पाठ इस प्रकार है—

ये अग्निष्वात्ता ये अनग्निष्वात्ता मध्ये दिवः  
स्वधया मादयन्ते । तेष्वः स्वराडमुनीतिमेतां  
यथावशं तन्वं कल्पयस्व ॥ यजुः १९।६० ॥

इन दोनों मंत्रोंकी तुलना करनेसे पाठकोंको दोनों मंत्रोंमें कितना व कहां पाठभेद है यह बात सुगमतासे पता चल सकती है। आन्वेदका मंत्रमें जहाँ ' अग्निदग्धाः ' पद है वहाँ पर यजुर्वेदका मंत्र में ' अग्निष्वात्ताः ' ऐसा पद है। और इसी प्रकार आन्वेदके मंत्र में जहाँ ' अनग्निदग्धाः ' है, वहाँ-पर यजुर्वेदके मंत्रमें ' अनग्निष्वात्ताः ' ऐसा आया है। शेष भाग दोनों वेदोंके मंत्रमें सर्वथा समान है। योधावा ऊपर व पुरुषभेद अंतिम परम है और वह यह कि यजुर्वेदका मंत्रमें ' कल्पयस्व ' है और उसके स्थानमें आन्वेदमें ' कल्पयस्व ' है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि—

अग्निदग्धाः = अग्निष्वात्ताः और अनग्निदग्धाः = अनग्निष्वात्ताः अर्थात् जो अग्निदग्धका अर्थ है वही अग्निष्वात्तका अर्थ है और जो अनग्निदग्धका अर्थ है वही अनग्निष्वात्तका अर्थ है। अतः अग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे जला हुआ हो। अतः अग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे जला हुआ हो। इसी प्रकार अनग्निदग्धका अर्थ है कि जो अग्निसे न जला हुआ हो। अतः अनग्निष्वात्तका भी अर्थ हुआ कि जो अग्निसे न जला हुआ हो।

' अग्निष्वात्ता ' का विभेद इस प्रकार है— ' अग्निना स्वात्ताः स्वादिताः ते अग्निष्वात्ताः ' । अर्थात् जिनका अग्निने खाद किया है, जिनको अग्निने नखा है अर्थात् जिनको अग्निने अजलाया है। इस प्रकार ब्याकरणशास्त्र भी उपरोक्त कथन का ही पोषक है। अग्निष्वात्तके अर्थके विषयमें शतपथ का निम्न लिखित वचन है—

नागन्निरेव दहनस्वद्यति ते पितरो अग्निष्वात्ताः ।

श० २।१।३७ ॥

अर्थात् जिनको अग्नि ही जलाती हुई खाद लेती है वे पितर अग्निष्वात्त कहलाते हैं। इसका यह अभिप्राय हुआ कि जिनका अंत्येष्टिचंस्कार अग्निद्वारा होता है वे अग्निष्वात्त पितर हैं। अंत्येष्टिचंस्कार के बिना अग्नि को पितरों के जलाने का अर्थ कोई अवसर ही नहीं। इस प्रकार शतपथ ब्राह्मणद्वारा भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि होती है। अतः अग्निष्वात्तका अर्थ हुआ कि जिन्हें अंत्येष्टिचंस्कार अग्नि से हुआ है और

अग्निष्वात्ता अर्थ हुआ जिसका अत्येष्टिसंस्कार अग्निसे नहीं हुआ है। अग्निष्वात्त व अग्निदग्ध के इस विवेचनावधार चपरोफ मंत्रमें मृत पितरों का ही उल्लेख है, यह साबित होता है।

### संपूर्ण सूक्तका मंत्रचार सारांश।

मंत्र १

१ जीवित पितर संप्रामांमें अथवा रक्षार्थ बुलाए जानेपर हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र २

२ प्राचीन, अर्वाचीन, पृथिवीस्थ आदि पितरों के लिए नमस्कार करना चाहिए।

मंत्र ३

३ बर्हिषत् पितरों को यज्ञ में बुलाना चाहिए।

मंत्र ४

४ बर्हिषत् पितरों को हवि देनी चाहिए।

५ बर्हिषत् पितर हमारे रोग, भयदि को दूर करते हैं।

मंत्र ५

६ पितर यज्ञमें आकर हमारी प्रार्थनाओंको सुनते हैं, हमें ऋषदण देते हैं, तथा हमारी रक्षा करते हैं।

मंत्र ६

७ पितर यज्ञ में दायां घुटना टेककर बैठते हैं व यज्ञ का स्वीकार करते हैं।

मंत्र ७

८ पितर यज्ञ में बैठकर दानी मनुष्य को व उषके पुत्रोंको

घन देते हैं। उसे अन्नादि देकर पुष्ट करते हैं।

मंत्र ८

९ सोमपान करनेवाले पुरातन मृत पितरोंके साथ यम हविको खाता है।

मंत्र ९

१० अग्नि देवावको प्राप्त किए हुए गङ्गादि में बैठनेवाले पितरोंके साथ यज्ञमें आती है।

मंत्र १०

११ पितर इन्द्र तथा देवोंके साथ घमान रथपर आकर होकर विचरण करते हैं।

मंत्र ११

१२ अग्निष्वात्त पितर बुलानेपर घरघरमें आते हैं, हवियो खाते हैं व सर्ववीरगुणोपेत संतति देते हैं।

मंत्र १२

१३ अग्नि हवियोंको सुगंधित बनाकर ले जाती है व ले जाकर पितरोंको खानेके लिए देती है।

मंत्र १३

१४ जो पितर यज्ञ हैं व जो यज्ञ नहीं हैं, जिन पितरोंको हम जानते हैं व जिनको हम नहीं जानते शरीर सर्व प्रकारके पितरोंको अग्नि जानती है।

मंत्र १४

१५ बुलोकके मध्यमें स्वपाशे लुप्त होनेवाले पितर चाहे अग्निदग्ध हो चाहे अनग्निदग्ध हों, उनका पुनर्जन्म होता है।

## ३ ऋग्वेद मं० १० सू० १६

इय सृष्ट्ये विद्येवतः अत्येष्टि संस्कार संबन्धी मंत्रोक्त व्रमेष्टे। इय सृष्ट्यो देवता अग्नि है।

मैनममि वि दूहो माभि शोचो मायस स्वधं  
विश्वियो मा घरीरम्। यज्ञा गन्तं कृण्वो  
जायवेहोऽमेनेमं व दिशुषाष्ट दिशुषः॥

मन्त्र-१०१३६।१३

(अग्नि) हे अग्नि ! (एवं मा विदहः) इस व्रतको इस प्रकारसे मत जटा कि त्रिषष्टे इये विद्येय वय प्रतीत हो। (मा अभि शोच) इये शोचपुत्र मत बर। (अय स्वधं

मा चिष्टिषः) इसको स्वधा अर्थात् चमडोंको मत फेंक। इसके छतरीमें विद्यमान रहना माय आदि को इस प्रकारसे जला दे कि कोई भी माय अवशिष्ट न रहने पावे। (जायवेहो) हे जायवेहो अग्नि ! (यज्ञा गन्तं कृण्वः) जब तु इस व्रतको परिपक्व बना दे अर्थात् पूर्णतया जला दे (अय) तब (एवं) इस व्रतकी आत्माको (विश्व-माः प्रविशन्त) पितरोंके पाछे भ्रम दे अर्थात् विज्ञानमें इस व्रतकी अत्मा चली जावे।

व्रतपहलके समय अग्निसे विश्व प्रकारकी प्रायश्चा होती



वाहिए इस बातका इस मंत्रमें उल्लेख है। इस मंत्रके उत्तरार्धमें एक महत्त्वपूर्ण बातका निर्देश मिलता है और वह यह है कि जबकि देह संपूर्णतया जल नहीं जाती, अथवा संपूर्णतया नष्ट नहीं हो जाती, तबतक आत्मा उस देहकी छोड़कर स्थानान्तर में नहीं जाती। सत्र देहके आसपासही भंडालती रहती है। उस देहका मोह उसे खींचे रखता है। इस निर्देशानुसार आत्माको देहसे संपन्न मुक्त करानेके लिए व उसके लिए निर्धारित भावी स्थानपर शीघ्रतासे पहुँचानेके लिए शरीरका शीघ्र दहन करना ही अधिक उत्तम है, क्योंकि अग्निदहनके विनाय शरीरको संपूर्णतया शीघ्र नष्ट करनेका अन्य कोई सुयोग्य उपाय नहीं है।

मंत्रके चतुर्थ पादसे यह भी पता चक रहा है कि मृतत्मा शरीरसे दृक्क होकर पितृलोकमें जाती है। अग्नि आत्माको पितृलोकमें भेजती है। इस मंत्रसे जो महत्त्वपूर्ण निर्देश मिलते हैं, वे विशेष विचारणीय हैं। यह मंत्र अथर्ववेदमें थोड़ेसे पाठभेदके साथ है। ( अथर्व १८।१।४ )

मृतं यदा कासि जातवेदोऽपेमेनें परि दत्ताय पितृभ्यः।

यदा गच्छास्यसुनोतिनेतामया देवातां वशनीर्भवाति ॥

मन्त्र १०।१।६।१ ॥

( जातवेदः ) है जातवेदस्व अग्नि ! ( यदा मृतं कर-  
सि ) जब तू इस प्रेतको पूर्णतया नष्ट अर्थात् दग्ध कर दे,  
( अथ ) तब ( एतं पितृभ्यः परि दत्ताय ) इसके पितरोंके लिए  
छोप दे। ( यदा ) जब यह प्रेत ( एतां सुतुर्नाति गच्छाति ) इस  
प्राणीके लगनकी प्राप्त होता है अर्थात् जब इसके प्राण निष्कल  
जाते हैं ( अथ ) तब प्राणोंके निकल जानेपर प्रेत ( मृत-  
शरीर ), ( देवता वशनीः भवति ) देवोंके वश हो जाता  
है।

अग्नि शरीरको पूर्णतया दग्ध करके आत्माको पितृलोकमें  
भेज देती है। अग्निद्वारा दृक्क पृथक् दृक्क शरीरके तत्त्व  
अपने अपने स्थानमें चले जाते हैं।

यह मंत्र अथर्ववेद { १८।१।५ } में भी आया है। इस  
मंत्रका पूर्वार्ध प्रथम मंत्रके उत्तरार्धके समान है। अग्रायसे  
पुष्प शरीरके, जिम समय आत्मा शरीरसे दृक्क होती है  
जिसे कि हम लौकिक भाष में मरणा कहते हैं। शरीर व आत्मा  
इस प्रकार दो विभाग हो जाते हैं। उन दो विभागोंका आगे  
चलकर क्या होता है अर्थात् वे कहाँ कहाँ जाते हैं वह बात

इस मंत्रमें दर्शाई गई है। मंत्रके पूर्वार्धमें आत्माका क्या  
होता है, वह दर्शाया गया है तथा उत्तरार्धमें शरीरका क्या  
होता है वह दर्शाया गया है। पूर्वार्ध स्पष्ट है। उत्तरार्धमें  
कहीं कहीं वातका स्पष्टीकरण अगला तीसरा मंत्र स्वयं स्पष्ट  
कर रहा है। यदापर सिर्फ इतना ही कहा गया है कि जब  
प्राण निकल जाते हैं तब यह मृत देह देवोंके वश हो जाता  
है। यह मृत देह देवोंके वश किस प्रकार हो जाता है इसका  
स्पष्टीकरण इस प्रकारसे है—

सूर्यं चक्षुर्गच्छतु वातमात्रां सा च गच्छ दृष्टिर्वा

च धमणा । अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितभी-

यधीयु मति विष्टा शरीरैः ॥ मन्त्र १०।१।६।२ ॥

हे प्रेत ! तेरी ( चक्षुः सूर्यं गच्छतु ) आख सूर्य की जावे।  
( अहम् वातं ) तेरी आत्मा ( प्राण ) दृष्टु की जावे। और  
हे प्रेत ! ( धमणा ) धर्मसे अर्थात् धर्मफलजन्य धर्मसे अथवा  
पारिवर्तितत्त्वोंके धर्मसे अर्थात् जो पारिवर्तितत्त्व हैं वे  
पृथिवीमें जा मिलें, जो जलीय हैं वे जलमें जा मिलें इत्यादि  
प्रकारसे ( या च दृष्टिर्वा च ) शुभ पृथिवी लोकमें जा  
अर्थात् पारिवर्तित पृथिवीमें जा मिल और जो बुद्धीका  
अंश हो वह बुद्धीके जा मिले। जहाँ जहाँ जा जो  
अंश तेरे शरीरमें आया हो, वहाँ वहाँ वह वह अंश  
चला जावे। ( वा ) अथवा ( अपो गच्छ ) जहाँमें जलीय  
अंश जावे। ( यदि तत्र ते हितं ) यदि वहाँका कोई अंश  
तेरेमें विद्यमान हो। और दधीयु प्रकार ओपधिर्वा शरीर-  
शेष स्थित हो अर्थात् ओपधिर्वा अंश ओपधिमें चला जावे।

मरनेपर शरीरमें विद्यमान तत्त्व अपने अपने स्थानपर जाइये  
आए हुए होते हैं वहाँ चले जाते हैं। सूर्यादि देवोंके अंश उन  
उनमें वापिस चले जाते हैं। हरक देव अपना अपना अंश  
शरीरसे खींच लेता है। इस प्रकार इस मंत्रमें मृतार्थ मंत्रके  
चतुर्थ पाद “ अथ देवानां वशनीर्भवाति ” का स्पष्टीकरण  
जिना गया है। यह मंत्र अथर्ववेद ( १८।१।७ ) में भी आया  
हुआ है।

अजो नायस्तपसा र्धं तपस्व तं ते सोचिस्तपसु र्धं  
ते मायः। यास्ते भिवास्तन्वो जातवेदरातिर्भवेनं  
मुक्तासु लोकेषु ॥

मन्त्र १०।१।६।३

हे अग्नि ! इस प्रेतका जो ( अजः भाग ) अज अर्थात्

न जन्म लेनेवाला भाग ( आस्था ) है ( तं ) उसको तु ( तपसा तपस्व ) अपने तपसे तथा । ( तं ) उस अन्न भागको ( ते घोचिः ) तेरी दीप्यमान ज्वाला ( तपतु ) तपावे । ( तं ) उस अन्न भागको ( ते अर्धः ) भागमान तेरी ज्वाला ( तपतु ) तपावे । और फिर ( जातवेदः ) है जातवेदस्य अग्नि ! ( याः ते शिवाः तन्वः ) जो तेरे कल्याणकारी ज्वाला-यें रूपी तनू अर्थात् शरीर हैं ( ताभिः ) उन शरीरों द्वारा इस अन्न भागको ( सुकृतां लोकं ) सुकर्म करनेवालोंके लोकमें ( वह ) प्राप्त कर ।

हे अग्नि ! तू इस शरीरके अन्न भाग आत्माको अपने गानगुणविशिष्ट ज्वालाओंसे छुट्ट करके पुण्यलोकमें ले जा ।

जैसा कि हम उपर दशो आए हैं कि मरनेपर शरीर को शिवागोमें विभक्त हो जाता है, जिसमेंसे एक भाग तो मृत शरीर तथा दूसरा भाग अन्न आत्मा है । मृत शरीरको क्या करना चाहिए तथा अग्निदाहके अनन्तर वह किस किस रूपमें कहा कहा जाता है, वह तृतीय मंत्रमें स्पष्ट रूपसे दर्शाया जा चुका है । द्वितीय मंत्रमें छंदस्वरूपसे अन्न भाग आत्माके लिए भी निर्देश दिया जा चुका है । इस मंत्रमें उल्लिखित विषयस्वरूपसे वर्णन वा स्पष्टीकरण है । वस्तुतः तृतीय व चतुर्थ मंत्र द्वितीय मंत्रके ही स्पष्टीकरण है । इस मंत्रसे भी यही पता चलता है कि अग्नि ही मृतप्रायों को सुकृतोंके लोकमें ले जाती है । यह मंत्र भी अथर्ववेदमें ( १८।१।१८ ) में पाया जाता है ।

अथ राज पुनरग्ने विवृण्वो मृत आहुतयस्तस्मै स्वधाभिः ।  
आहुर्वेषाम उप वेदु तोष । सं गच्छतां तन्वा जातवेदः ॥

श्रु० १०।१।१५ ॥

( अग्नि ) हे अग्नि ! ( याः ) जो ( ते आहुतः ) तेरेसे अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ ( स्वधाभिः चरति ) स्वधासोप विचरण करता है उसको ( पुनः ) फिर ( विवृण्वो ) निवारोंके लिए लाकर छोड़ अर्थात् वह पुनर्जन्म ले । अथवा ( विवृण्वः ) को पंचमी मानकर भी अर्थ कर सकते हैं, और यह इस प्रकार कि फिर विवृण्वोमें विद्यमान पितरोंके कारण इस संघमें ठीक । दोनों प्रकारके अर्थोंका भाव एक ही है । दोनों प्रकारके अर्थोंमें विरोध नहीं है । इस प्रकार यह पुनर्जन्म निरा हुआ ( तोषः ) अपत्य संतान ( उपपत्ति ) वृद्धिबोधकी प्राप्त की । तथा ( जातवेदः ) हे जानेवेद अग्नि ! ( तन्वा पुनश्चक्षते ) यह अन्न शरीरके

मली भांति संगत होवे अर्थात् उत्तम शरीरसंपत्तिसे संवर्ध बने ।

अथवा इस मंत्रका अर्थ निम्न लिखित प्रकारसे भी किया जा सकता है ।

हे अग्नि ! जो मृत पुरुष तेरेमें अंत्येष्टिके समय आहुत किया हुआ स्वधाओंसे विचरण कर रहा है उसे पितरोंके लिए दे अर्थात् उसे पितृलोकमें विद्यमान पितरोंके पास लेजाकर छोड़ । क्योंकि इस भावके अन्य मंत्र मिलते हैं जिनमें कि अग्निदाह मृत को पितृलोकमें पहुँचानेका उल्लेख है, अतः यह अर्थ भी हो सकता है । यही शेष अर्थात् पीछे शेषरह गई मृतका संतान दीर्घायुको प्राप्त हुई हुई घरोंको वापिस जाए । वह संतान सुंदर शरीरको प्राप्त करे । इस अर्थात्-सुंदर मंत्रके पूर्वार्धमें मृत पुरुषके लिए प्रार्थना की गई है व उत्तरार्धमें उस पुरुषको जीवित संततिके लिए दीर्घायु आदि की प्रार्थनाका उल्लेख है । शेष नाम संतानदा है । ' शेष इत्यप-स्य नाम शिष्यते इति ' । निरुक्त ३।१॥ इस मंत्रसे अग्निके एक और विशेष कार्यका पता चलता है और वह यह कि पुनर्जन्मके लिए जीवात्माको पितरोंके पास पहुँचानेका कार्य भी अग्निचा ही है । यह मंत्र योद्धे पाठभेदके साथ अथर्ववेद ( १८।१।१८ ) में भी पाया हुआ है ।

यत्ते कृष्णः शक्रुः आनुतोद विचिरः सर्वं वव वा  
आपदः । अग्निष्टद्विषादग्ने ह्यभोत सोमस्य को  
माद्वर्षो अग्निर्वेषा ॥ श्रु० १०।१।१६ ॥

हे प्रेक्ष ! ( ते ) तेरे ( यत् ) जिस अंगको ( कृष्णः शक्रुः ) काले अनिष्टकारी पर्यायि ( आनुतोदः ) वंश पर्व-ज्याई है, ( सतं वा ) अथवा ( विचिरः, सर्वं आपदः ) कीरी को आतिरेक जन्मभोजन वा, छेने वा जंगली शिक पशुने मुझे पीडा पहुंचाई है तो ( अग्निः ) अग्नि ( विधातः ) इन वर-दोष सबको ( सत् ) उस तेरे अंगको ( अगद क्रुणो ) रोष-रहित करे । ( सोमः च ) और सोम भी तेरे उस संवर्धको जीरो करे । ( याः ) जो कि योग (माद्वर्षात् अग्निर्वेषा ) अर्थात् मैं प्रसिद्ध हुआ हुआ है ।

अग्ने अनिष्टकारी पशु वा कीरी मर्दोंके आदि वस्तु, धार्मिक विषयका प्राप्तिसे व जंगली जानवरोंके पशुपद पर पड़ने अग्नि व योग दूर करे । जिनको पापु वर्तित संकोच प्राप्तिबोध होता है उनको आंदोलने इस मंत्रका विनिर्वाण होता है देखा इस मंत्रका अभिप्राय सर्वोद होता है ।

मंत्रके शब्दार्थ स्पष्ट है । इन प्राणियोंके काटे गए अंगोंको अग्नि नोरोध करती है, इसका अभिप्राय यही प्रतीत होता है कि वह उन प्राणियोंके विषयहित उस अंगको ऐसा जला देती है कि फिरसे वह रोग औरोंमें नहीं जा सकता । उस शवकी अश्ममें इन प्राणियोंके विषयके जन्तु किसीभी अवस्थामें बचने नहीं पाते । इस मंत्रमें संपादि विरले प्राणी व अंगली हिंसक जानवरोंके आश्रित देव सोमसे भी नोरोध की जा सकती है ऐसा कहा गया है ।

अग्नेर्वमं परि तोमिर्व्यवस्त्र सं प्रोणुष्व पीवसा मेदसा च । जेषा घृणुर्हरसा जर्हपाणो दष्टा विंधश्यन् पयंवृक्षयति ॥

श्रु० १०।१६।७ ॥

हे प्रेत ! ( गोभिः ) पृतसे लापल हुई हुई ( अग्नेः यमं ) अग्नि की ज्वालाकृपी कवचसे ( परि व्यवस्त्र ) अपनेको चारों ओरसे ढक ले । अर्थात् अग्नि की ज्वालाओंके बीचमें तू हो जा जिससे कि तेरा पूर्ण रूपसे दहन हो सके । ( घः ) यह तू ( पीवसा मेदसा ) अपने अन्दर विद्यमान स्थूल चर्बीसे ( प्रोणुष्व ) अपने आपको आच्छादित कर । इस प्रकार करनेसे ( हरसा घृणुः ) अपने तेजसे भर्षण करनेवाला, ( दष्टा ) प्रगल्भ, ( जर्हपाणः ) अत्यन्त प्रसन्न हुआ हुआ अतएव ( विंधश्यन् ) बुद्ध मृतको विविधरूपसे जलाता हुआ अग्नि ( र्वा ) तुझे ( नेत् ) नहीं ( पयंवृक्षयति ) इधर उधर बखेरता अर्थात् पूर्णरूपसे जलाकर अश्मावशेष कर डालेगा ।

सुरदेको जलाते हुए भी पर्वत मातामें डालना चाहिए ताकि अग्नि खूब जोरसे प्रज्वलित होकर उसे जला डले । उसका कोई भी भाग जले बिना रहने न पावे ।

इस सूक्तके प्रथम मंत्रमें अग्निसे कहा गया है कि दे अग्नि ! तू मास एवं चिह्नितो मा शरीरम् अर्थात् इस मृतकी चमड़ी तथा शरीरको बिना जलाए हुए इधर उधर मत बखेर, संश्रुतया इसे जला दे । यहाँ पर उहाँ सर्वत्र दहनको कष्टमें रखते हुए सुरदेको कहा गया है कि तू अग्नि की ज्वालाकृपी कवचको पहिन ले व अपने अन्दर विद्यमान चर्बी अपने आपको लपेट ले, जिससे कि अग्नि उसे पूर्णतया जला दे । मंत्रका अभिप्राय यह है कि मृतका पूर्ण रूपसे दहन होना चाहिए व उसके लिए यथातः पृतका उपयोग करना चाहिए । गो = पी ।

वेदमें गोसे उत्पन्न पदार्थोंके नामभी गो शब्दसे कहे गये हैं । देखो, निरुद्धमें गो शब्दकी व्याख्या । नि० अ० २। पा. २॥

हममग्ने चमसं मा वि जिह्वाः प्रियो देवानामुत सोम्यागाम् । एष यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा असृता मादयन्ते ॥

श्रु० १०।१६।८ ॥

( अग्ने ) हे अग्नि ! ( हमं चमसं ) इस शरीरकृपी चमसको ( मा वि जिह्वाः ) मत विचलित कर । क्योंकि यह चमस ( देवानां उत सोम्यानां ) देवों और सोम सेपान करनेवालोंका ( प्रियो ) प्यारा है । ( एषः ) यह ( यः ) जो ( चमसः ) चमस है वह ( देवपानः ) देवपान है अर्थात् इसमें देवपान करने योग्य द्रव्यको पीते हैं । ( तस्मिन् ) उस चमसमें ( असृताः देवाः ) अमरगणोंके देव ( मादयन्ते ) पान करके प्रसन्न होते हैं ।

यह शरीर देवोंके पान करनेका चमस है । यह देवोंका प्रिय है । इसमें देव पान करते हैं अतः हे अग्नि ! इस शरीरकी इच्छा मत कर ।

चमस = चमसा । यज्ञमें जिस पात्रमें सोमरस डालकर पान किया जाता है उसका नाम चमस है ।

इन इसी सूक्तके दूसरे व तीसरे मंत्रमें देख जाए हैं कि इस शरीरका किस प्रकार देवोंसे संबंध है । इसके अतिरिक्त स्थान स्थानपर वेदोंमें ऐसा वर्णन है । अथर्ववेद १० काण्ड, सू० २ में भी ऐसा ही वर्णन है ।

अवतकके मंत्रोंमें अथेष्टिर्वर्धनी वर्णन किया गया है । अगले तीन मंत्रोंमें कम्पाद् अग्नि की उपलक्ष्य करके कहा गया है । इस अथेष्टि संस्कारमें प्रयुक्त अग्नि का नाम कम्पाद् अग्नि है । कम्पाद् अग्नि का अर्थ है मांसमक्षक अग्नि । और यह मांस-अक्षुण्ण अथेष्टिमें श्वदहनद्वारा अग्नि को करना पड़ता है । जैसा कि अवतकके मंत्रों द्वारा स्पष्ट है । इस प्रकार शवके खनिधे मांसमक्षक ( कम्पाद् अग्नि ) इस अग्नि का क्या करना चाहिए इस विषयमें अगले तीन मंत्र प्रत्यक्ष बाल रहे हैं ।

कम्पाद् अग्निं प्राहिणोमि दां यमराजो गच्छतु रिषयाहः ।

हृदेषामितरो जातवेदा देवेभ्यो हव्यं वहतु प्रमानम् ।

श्रु० १०।१६।९ ॥

( कम्पाद् अग्निं दां प्राहिणोमि ) मांसमक्षक अग्नि का दूरे भिजवाता हूँ । ( रिषयाहः ) पाप का दहन करनेवाली वह अग्नि ( यमराजो गच्छतु ) जहाँका यम राजा है, उन प्रदेश-

योको चलो जवि । (इह) बहोपर ( अथ इतरः आनवेदाः प्रज्ञानम् ) यह दूसरी कथात् अग्निसि भिन्न जातवेदस् अग्नि सर्व यज्ञोको यथावत् जाननी हुई ( देवेभ्यः हव्यं बहवुः ) देव के लिए हव्योका बहान करे अर्थात् उन्हें पहुंचावे ।

यह सब बहान करनेवाली अतएव माध्वयज्ञ ( कथात् ) अग्नि फिर लौटकर हमारे घरोंमें वापिस न आजावे, अतः मैं इसे दूर भेज देता हूँ, यह यमलोकमें चली जावे । बहाने कार्य संशयन करनेके लिए जातवेदस् अग्नि है । बहो- देवोंके लिए हव्योका बहान करती रहे ।

इस मंत्रमें कथात् अग्नि को यमराजके देशोंमें भेजनेका उल्लेख है । इसके ऐसा पता चलवा है कि अवधवृत्तान्तर यह कथात् नाम पारं हुई अग्नि पृथिवीलोकसे यमलोकमें जाती है । प्रथम, द्वितीय व चतुर्थे मंत्रोंके साथ इस मंत्रपर विचार करनेसे यह परिणाम निकलता है कि, शत्रुदाहके अनन्तर यह कथात् अग्नि आत्मको यमलोकस्थ पितृलोकमें ले जाती है । एकवार अग्नि अग्निसि शत्रुबहान किया जा चुका यह अग्नि फिर देवोंके लिए हव्यादिके बहानेके लिए अर्थात् यज्ञाह् कर्म के लिए उपयुक्त नहीं रहती यह बात भी इस मंत्रसे स्पष्ट होती है । कथात्-कथ=नाम, उसका भक्षक कथात् । निरुक्त अ. ६ । पा. ३ । खं. १२ ॥ रिचवाहः— रिचं पात्रं तस्य बोवा । निरुक्त अ० ४ । पा. ३ । खं. २१ ॥ यह मंत्र यज्ञवेत् ( ३५ । १९ ) से तथा उपवेदे ( १२ । २ । ८ ) से भी आया हुआ है ।

यो अग्निः कथात् प्रविशेत् यो गृहमिदं पश्यन्ति तां जातवेदम् । त्वं हरामि पितृवज्जाय देवे त्वं यममि-  
न्वात् परमे सधर्ये ॥ अ० १० । १९ । १० ॥

( या कथात् अग्निः ) जो वायव्यांश अग्नि ( इयं इतरं जातवेदम् पश्यन् ) इस दूसरी जातवेदस् नामक अग्नि को देखकर ( या शत्रुं प्रविशेत् ) गृहशर परमें शुभ गई है, ( तं ) उस ( देवे ) देवीयमान-अस्तित्व प्रकाशमान कथात् अग्नि-को ( पितृवज्जाय हरामि ) पितृयज्ञके लिए हरता हूँ, हटाता हूँ । ( सः ) वह कथात् अग्नि ( परमे सधर्ये ) परम सधर्यमें ( यमं ) यमको ( इन्वात् ) प्राप्त करे ।

गृहशर परमें जातवेदस् अग्निके रहते हुए भी जो कथात् अग्नि पुत्र गई रहे, उसे मैं दूर करता हूँ ताकि तुम पितृयज्ञ कर सको । यह अग्नि परम लोकमें यज्ञको प्रसाद करती रहे ।

इस मंत्रसे पूर्वके मंत्रमें कथात् अग्निको दूर भेजकर यमलोकमें भेजनेका निर्देश है । उस मंत्रके साथ इस मंत्रकी संगति लगानेके लिए व विरोध हटानेके लिए इस मंत्रके ' त्वं हरामि पितृवज्जाय देवे ' इस तुल्योपपादका अर्थ ऐसा करना चाहिए कि ' पितृयज्ञ करनेके लिए उस कथात् अग्निको हटाता हूँ ' । अर्थात् यह कथात् अग्नि पितृयज्ञके लिए अनु-पयुक्त है । वह तो परम सधर्य जो यमलोक है उसमें चली जावे और वहीं पर अपने आगको प्राप्त करती रहे । इस प्रकार इस मंत्रका अर्थ पूर्व मंत्रके भावको लक्ष्यमें रखते हुए करनेसे दोनों मंत्रोंकी संगति का सम्बन्ध होता है । कथात् अग्निका घरों-मेंसे निशान्तेन व उठे यमलोकमें भेजनेका अभिप्राय जनता-मेंसे शत्रु दूर करनेका अभिप्राय प्रतीत होता है । ' परम सधर्य ' — वह बड़ा स्थान जिसमें सब दृष्ट रहते हैं । यहाँ पर पूर्व मंत्रके वाह्यवर्षसे यमलोक ऐसा अर्थ है । वैसे तो यम-लोक भी परम सधर्य ही ही । यह मंत्र कुछ पाठभेदके साथ अथर्ववेद ( १२ । १९ ) में आया है ।

इस प्रकार यथापर कथात् अग्नि का विषय समस्त हो जाता है । अब आगेके मंत्रोंमें अग्निके प्रति वापस वरमका उल्लेख है ।

यो अग्निः कथावाहवः पितृन् पशरतावृषः ॥

मेतु हव्यानि वोचति देवेभ्यम् पितृभ्य आ ॥

अ० १० । १९ । ११ ॥

( या अग्निः ) जो अग्नि ( कथावाहनः ) कथका अर्थात् पितरोंकी शक्ति बहान करनेवाली है और जो ( पशरतावृषः ) वज्र वा सारथी बहनेवाले ( पितृन् ) पितरोंका यजन करती है, वह अग्नि, ( देवेभ्यः पितृभ्यः व हव्यानि प्रनोचति ) देवों और पितरोंके लिए हव्योका प्रवचन करे अर्थात् वह देवों व पितरोंको कहे कि ' मैं तुमसारे लिए यह हव्य ले आई हूँ ' ।

अग्नि पितरोंका कथसे सहाय करता है व उनके लिए तथा देवोंके लिए अनुष्यो द्वारा दी गई हव्योका बहान करती है । वृष्य—वृष हव्यका नाम है जो कि पितरोंके संरक्षण दिया जाता है । कथावृष्य—मंत्र नाम है वज्र व सारथी । जो वज्र व सारथी बहनेवाले जयया जो सार व यज्ञसे बहनेवाले हैं । यह मंत्र यज्ञवेद ( १९ । १९ ) में भी है ।

उत्तमस्तवा वि भीमस्तुभ्यः समिधीमहि ।

वज्रान्पुत्रव आ वह पितृन् हविषे भवते ॥

अ० १० । १९ । १२ ॥



मंत्र ६

६ काले पशुभिः, कीडोमकोढे आदि छोटे छोटे जन्तुओं से, सर्पादिषु तथा जंगली हिंसक जानवरों से पहुंचाए गए कष्टोंका अग्नि निवारण करती है ।

७ सोम भी यही कार्य करता है ।

मंत्र ७

८ शत्रुके पूर्ण दहनके लिए श्रुतकी पर्वात मात्रा डालनी चाहिए जिससे कि अग्नि की बली ज्वालाएं निकले व शत्रुको घाँघ्रा हो मरमात्रोप कर डाले ।

मंत्र ८

९ यह घरीर मूर्धादि देवोंका रक्षण करनेका चमस है । इधमें ये देव अपने अपने अंगोंके आचार करते हैं ।

मंत्र ९

१० ऋभ्यात् अग्नि पापका बहन करनेवाली है । उसका वासरक्षण यमलोक है ।

११ वह यज्ञादि कार्योंके लिए अनुपयुक्त है ।

मंत्र १०

१२ ऋभ्यात् अग्नि की घरमें प्रविष्ट नहीं होने देना चाहिये ।

सब घरोंमेंसे निकाल डालना चाहिये ।

मंत्र ११

१३ अग्नि पितरोंके निमित्तसे दी गई हविषा वहन करती है । वह देवों व पितरोंकी हविषा द्वारा पूजा करती है ।

मंत्र १२

१४ अग्नि पितरोंको हवि खानेके निमित्त ले आती है ।

मंत्र १३

१५ शत्रुके पूर्ण दहनके अनन्तर अग्नि को मुखा शान्तना चाहिये ।

१६ बर्षापर इतना अधिक पानी डालना चाहिए कि नाना-द्रव्याओंवाली वर्षापास उग आवे ।

१७ और इसके लिए जहाँपर एक घबका बहन किया गया हो वहाँपर दूधरेका गहो करना चाहिए, अन्यथा पानी डालनेसे अग्नि का प्रभाव दूर न हो सकेगा व उस रक्षण पर पास न उग सकेगी ।

मंत्र १४

१८ जमीन पानीसे इतनी तरबतर होनी चाहिए कि दूधके गर्भके अंदर मण्डूक निवास कर सके ।

— — —

## ४ ऋग्वेद मं० १० सू० १३५

इस छन्दसुं सूक्तकी देवता यम है । यमका अर्थ इस एकमें क्या है यह एक विचारणीय विषय है । शारदाचार्यने निरुक्तमें इस मंत्रमें आए हुए यमका अर्थ आदित्य दिया है । निरुक्त १३।२९ अ परन्तु इस रथायनाके अनुसार सम्पूर्ण सूक्त लगाना पर्वात ठठिन दे । यही आदित्याचार्यके मतानुसार अर्थ दिया है ।

यामिन् हृषे मुरकासे देवीः संविद्यते यमा ।

अथा नो विदरातिः विद्या पुत्राणां धनु र्वेनति ॥

अ० १०।१३५।१ अ

( पुरुष ) यम उन्धोयमाह । पृथिवी ताह ( भुवः ) धीमन् यमने पुत्र, अथवा पुत्रः पत्नीबाले पुरुषे । इय यमाके पृथग्यून त्रिष यमर मरयो आदिह हृद करनेसे पुत्रर कोय दे यम यकार गुणकर विष यमाने ( देवः )

परित्रजभूत देवोंके साथ ( यमः ) विपत्ता वैष्वत्त ( विवशदाय का पुत्र ) ( सं विद्यते ) पान करता है । ( विदरातिः ) यमाओंका अपिपति ( या विद्या ) सुषे नचिकेताया जनक राजभ-यम् ( अथ ) इस यमके रथानमें ( पुत्राणां ) बर्षापर नि-आलसे निवास करते हुए पितरोंके ( धनु ) समान यह नचिकेता यह इस यमर की धेरे लिए यमना करता है । 'या' यमा पर यमरबसे बहुयचन हुआ हुआ है । नचिकेता यमके पुत्रा रको राजभयम् पिताने यमलोक भेज दिया था । बर्षापर यह यमके प्रपथ करते फिर इस मोहमे यमिष मोह भरा था । यह बात इस संशयि प्रत्ययदान की जा रही है । अथवा पुत्रर यमयमासे नचिकेताये मित्र पुत्रा कोरे जाव था । अपने इस ( यमजनीति यमा अमरका ) अर्थात् आरिष की इस यम-माह द्रुति की—अथम पत्नीयने इडकी ताह पुत्रर यमा

( यम ) आदित्य ( देवैः संपिबते ) रश्मियोंके साथ घूमन करता है । उपसर्गके साथ आनेसे ' पिबति ' यदापर व्यर्थक है । अत्ययसे आरम्भमें पद हुआ हुआ है । ( अन्न ) इस स्थानमें स्थित [ विश्वसि ] प्रजाओंका प्रकाश वर्षा आदि दनसे पालक और प्राणरूपसे धनका जनक वह आदित्य ( पुराणां ) पुरातन स्तुति करनेवाले हम लोकोंकी ( अनुवसति ) अनुग्रहपूर्वक कामना करता है । अथवा इस स्थानमें स्थित हमारे पूर्व पुरुषोंकी [ अनुवसति ] अनुक्रमसे वासना करता है ।

पूष = अहापर कि श्रेष्ठ मृत आत्मायें कर्मोंकी थका-न्दछो ष्ट करनेके लिए विश्रान्ति लीं हैं ।

पिता = यम ।

पुराणी अनुवसन्त चरन्त पापयामुया ।

असुयस्त्रयवाक्य चरन्ति अष्टद्वय पुन ॥

मन् १०१३५१२ ॥

( पुराणां अनुवसन्त ) पुरातन पितरोंके प्रति मेरे अनुगमन करनेकी कामना करते हुए अर्थात् मैं पुरातन मृत पितरोंका अनुगमन वह यानि समलोकमें जाऊँ इस प्रकारकी इच्छा करता हूँ ( असुया पापया चरन्त ) इस पापपूर्ण निष्ठुष्ट बुद्धिके साथ वर्तमान पिता काजश्रवसकी ( सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करते हुए सुखकी विताने ' मृत्युके पास जा ' इस प्रकार कहा अतः ) ( अस्तूयन् ) मासिक द्वापदे बुद्धित हुए हुए मैं ( नचिच्छन्ते ) छवसे पहिले देखा । अर्थात् जब मैं सुखपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहा था देखी हान्त में अब वितने सुख यह कहा कि ' मृत्युके पास जा ' तो मैं बड़ी दुःखभरी निगाहसे सबकी आर देखा और फिर ( तस्मै अष्टद्वयम् ) विताने आशानुसार उस मृत्युको प्राप्त करनेकी इच्छा की । [ अदित्यके पथमें ] अथवा [ पुराणान् ] पुरातन स्तुति करने-

य कुमार नव रयमचक मनसाकृणो ।

एकेष विश्वत प्राचमपश्यदधि विष्ठसि ॥

मन् १०१३५१३ ॥

नचिकता नामवाले कुमार को यम इस ऋचासे व अगर्जी ऋचासे ललचानका प्रयत्न करता है— ह कुमार । [ नव ] बिलकुल नया जिसको कि इससे पहले तुने कभी नहीं देखा और जा [ अचक ] पहिलोंसे रहित व [ एकेष ] एकप दे तो भी [ विश्वत प्राच ] सर्वत्र प्रकट रूपसे गति करता है ऐसे [ य रय ] मेरे पास आनेके लिए अभ्यवसाय रूपी जिस रयकी तुने [ मनसा कृणो ] मन से बनाया और बनाकर [ अष्टद्वयम् ] कर्तव्य अकर्तव्य विषयोंकी न जानता हुआ उस रूपपर तु [ अधिविष्ठसि ] सवार हुआ हुआ है । आदित्यके पथमें अथवा स्तुति करनेवाले कुमार नामक ऋषिआ आदित्य मत्पश्य हुआ हुआ देह व आमा क विषयको बरखा रहा है ह कुमार ऋषि । चरुष रहित ( एकेष ) एक प्राय ईश्वरधामाय है जिसका ऐसे इस अभिनव, सर्व ओर गति करनेवाले शरीररूपी जिस रयकी अन्त करण द्वारा तुने किया है, उस शरीररूपी रयकी मेरा स्वस्व न जानने के कारण न जानता हुआ, भोगासक्त के स्वस्वमें स्वीकार करता है अर्थात् चारों से भाग भोगता है ।

मनद्वारा शरीर का निर्माण इस प्रकार से होता है धरणात्मक मनसे याम अर्थात् इच्छा उत्पन्न होती है । कामना उत्पन्न होनेपर पुण्यात्मक या अपुण्यात्मक कर्म किये जाता है । और उस कर्मद्वारा भोग देनेके लिए इस शरीरका आरम्भ होता है । इस प्रकार वीरवारुणव मन या शरीरनिर्माणक है ।

एकप-एक दे ईश जिसकी । ईश-पुत्र ।

इह मन्त्रमें पुनरावृत्ति प्राप्त यमकी उक्ति है एषा म० मित्रा का कथन है ।

प्रावर्तते) अनुगमन किया है। अर्थात् जब तू भूलोकसे संकल्प रूपी रथमें चढकर आया तब तेरी रक्षायें तेरा अनुकरण पिता की सान्त्वना किया ।

आदित्य के पक्षमें-अथवा हे कुमार ऋषि ! तूने जिस घोरारूपी रथ को उखर पधार होकर संसार में प्रवृत्त किया है, उस रथके पछि पछि मेधाविषों के बीचमें, याम अर्थात् ऋक् सामादि साध्य स्तोत्र व [ नत्वि ] नौका की तरह तारके वेदरूपी वाणोंमें स्थित कर्म इस लोकसे प्रवृत्त होते हैं, उसका अनुकरण करत हैं ।

क. कुमारमजनयद्रथं को निर्वर्तयत् ।

क. स्थितयत् नो म्यादनुदेवी यथाभवत् ॥

श्र० २०।१३।१५ ॥

[ क. कुमारं अजययत् ] जिस पुरुषने इस कुमार को उत्पन्न किया ! मित्रा अर्थमें कि शत्रु है । इस प्रकारके बालक को यमके पास भेजनेवाला पिता कैसे अच्छा हो सकता है ! अच्छा, यह बात जानें दो । [ क. ] जिस पुरुषने इस बालक को यमके पास जानेके लिए ( रथं ) रथका [ निर्वर्तयत् ], प्रवृत्त किया ! वह भी मूर्ख था, यह प्रश्नका अभिप्राय है । [ यथा ] जिस प्रकारसे यह कुमार [ अनुदेवी अभवत् ] अनुदेवी होता है [ तत् ] इस बातके कथन है । [ अथ ] इस कालमें [ न. ] हमें [ क. स्थितु म्यात् ] मला कौन कहेगा ? पहिले यमके पास जाकर फिर वहाँसे उससे छूटनेका उपाय बताता हुआ भी बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता, यह इसका अर्थ है । [ आदित्यके पक्षमें ] अथवा कुमार नामक ऋषि अपने सर्वान्वयभावको जानता हुआ अपने अतिरिक्त दूसरेकी सत्ताको अवमनता को निन्दावाची कि सन्देह दिखलाता है- मुझ कुमारको किस पिताने पैदा किया ? किसने भी नहीं । 'अज्ञो निराय साधतः' इति श्रुत्युत्तर म है । और किसने घोरारामक रथका संचालन किया ? मेरे शिवाय दूसरा संचालक नहीं है और वैसीही अन्वयविराग ( संचालन करने योग्य ) था होना भी अर्घमय है । इस समय सर्वव्याप्यनुभव दशामें उस प्रधारी कीन मला हमें कह सकता है, जिस प्रकार से कि अनुदान करने योग्य मेरेसे भिन्न अन्य पदार्थ की सत्ता होवे ! वह प्रधर भी गुणनीय है ऐसा इसका अर्थ है ।

यथा मयदनुदेवी यतोऽब्रमजायत । पुरतारदनुभ  
मातयः पश्चाद्विराण हवत् ॥ श्र० १०।१३।१६ ॥

( अनुदेवी ) पितृको पीछेसे पुनः वापिस देने योग्य ( तथा ) जिस प्रकारसे यह कुमार होवे ऐसा ( ततः ) उस वाजश्रवत् पितृसे [ अर्थ ] उसके पास जा इस प्रकारके वचनके आगे वर्तमान वचन कि नविकेताहो उसके साथ जानना चाहिए ' तं नै प्रवर्तते यन्तासीति होवाच ' इत्यादि [ तै० ब्रा० ३।१।१८ ] आश्रयमें कहा गया वचन उपनि हुआ । ( पुरस्तात् ) उससे पहिले ( पुनः ) उक्त अमका मूलभूत ' यमके घरको जा ' यह वचन अति विस्तृत हुआ हुआ था । अतः उसका परिहार नहीं हो सकता था, इस वास्ते पीछेसे कोपकी छोटकर ( निर-यणं कृतं ) उस यमसे बचकर निष्कल आनेके उपायको पिताने किया । ( आदित्यपक्षमें ) अथवा [ अनुदेवा ] अपनेको अनुदातव्यआत्मस्वरूपसे भिन्न अन्य पक्षमेंकी सत्ता जिस प्रकारसे है, उसके गुणानुसार ( ततः ) उस मायाविशिष्ट आत्माका [ अर्थ ] सङ्ख्याविकारका आद्य मनस्स्वरूप उत्पन्न करनेसे इच्छावा कारण उत्पन्न हुआ । [ पुरस्तात् ] पहिले पहिली अवस्थामें [ पुनः ] मूल अव्याकृत मायात्मक कारण ही विस्तृत था । [ यत् ] तमस् को उपासिके बाद [ विरमणं ] तत्रत कार्योंका उस कारणसे निर्धमन अर्थात् चरपटादिभेदसे स्वरूपका आलम्बन मग्नाने किया । अर्थात् कारण-जन्यसुखी कार्य जन्यके स्वरूपमें लाया । तथा मिथीका विकार घटदि मिथीसे भिन्न नहीं होता, उसी प्रकार आदित्यके अनुग्रहसे मग्नभावके प्राप्त मेरा विकार यह प्रपंच मेरेसे भिन्न नहीं है । इस प्रकारसे स्वतंत्रिक पितृदिक्षा एतोंका आक्षेप का समर्थन किया है ।

हृदं यमस्य सादरं देवमानं यदुच्यते ।

इयमस्य धम्मते नाळीरथं गीर्भिः परिष्कृता ॥

श्र० २०।१३।१७ ॥

यह [ यमस्य ] निधनता आदित्यका वा विवशताके पुनश्च [ सदनं ] स्थान दे । जो कि सदन [ देवमानं उच्यते ] देवों द्वारा बनाया गया है, ऐसा कहा जाता है । अथवा देव अर्थात् रदिमयो का निर्माण-स्थापन कहा जाता है । इस यमकी शीलरथ [ रथं नाळीरथं वायाविशेषं संश-नानाया जाता है । अथवा नाळी यह वाणीका नाम है । यह स्तुतिरूप वाणी इसकी शीलरथें उपकरण को आती है । इस प्रकार होनेपर यह यम स्तुतिरथोंसे परिष्कृत अर्थात् सोमावसान होता है । 'परिष्कृताः सवर्षयः' इत्यादि सुशायम होता है । 'परिनिविध्य' इत्यादिसे यत् हुआ है । 'यतिरन्तर' इत्यादिसे गतिदा मन्त्रसिखर ।



# ५ ऋग्वेद मं० १० सू० १५४

यह सूक्त अंत्येष्टि-संस्कार-विषयक है। इसमें प्रेत से कहा गया है कि तू जिन किनको प्राप्त हो, जैसा कि मंत्रोंको देखनेसे पठकोंको स्वयं स्पष्ट हो जायगा। इस सूक्तका ऋषि विवरवाण् भी बुद्धिमान् यमी है। प्रियमाण यजमानादियोंका वर्तन इसमें प्रतिपादित किया जायगा, अतः वे इस सूक्तके देवता हैं।

सोम एकेश्वरः पवते घृतमेक उप्रासते।

वेभ्यो मधु प्रधावति रौक्षिदैवापि गच्छताम्॥

सू० १०।१५४।१॥

[ एवेभ्यः ] कर्तव्योंके लिए [ सोमः पवते ] सोम रस बहता है। और [ एके ] कई [ घृतं उप्रासते ] आच्छादक उपभोग करते हैं। इनको व [ वेभ्यः मधु प्रधावति ] जिनके लिए मधु प्राधरूपसे बहता है, [ तान् चित् अणि ] हे प्रेत ! उनको भी तू [ गच्छताम् ] प्राप्त हो।

जिनके लिए सोमरस बहता रहता है व जैसा अन्नका उपभोग करते रहते हैं, तथा जिनके लिए मधुकी कुत्थायें बहती रहती हैं, ऐसे यज्ञकर्त्ताओंको हे प्रेत ! तू प्राप्त हो।

चवदहनादि अंत्येष्टिक्रिया प्रेतकी आत्माके प्रति इस सूक्तकी ऋचाओंके अनुसार उसके सर्वधी आदियोंका कथन है।

तपसा ये अनाधुन्यास्तपसा ये स्वययुः।

तयो ये चक्षिरे महस्तीभिर्देवापि गच्छताम्॥

सू० १०।१५४।२॥

( ये ) जो लोक ( तपसा ) श्रद्धापूर्वकप्रार्थनादि नानाविध तप करने कारणसे ( अनाधुन्याः ) किसी भी प्रकारसे कष्टोंकी चर्चा पहुंचाए जा सके, जिनको पाप नहीं छूटा छूटते, व ( ये ) जो लोक ( तपसा ) तपके कारणसे ( स्व-ययुः ) स्वयंको गए हुए हैं, और ( ये ) जिन्होंने ( मह-तपः ) महान् तप रखा है, हे प्रेत ! इन ( तान् चित् अणि गच्छताम् ) उप-रिक्तोंको भी तू आकर प्राप्त हो अर्थात् इनमें से तो स्थित हैं वे।

दिखलाकर तपस्विधर्मोंमें जानेका निर्देश किया गया है।

ये युष्मन्ते मधनेषु श्वांसो ये तन्वयजः।

ये वा सप्तसप्तद्विणास्ताभिर्देवापि गच्छताम्॥

सू० १०।१५४।३॥

हे प्रेत ! ( ये श्वांस ) जो शरीरों गण ( मधनेषु ) संश्रामोंमें ( युष्मन्ते ) युद्ध करते हैं, और ( ये ) जो उन श्रामोंमें ( तन्वयजः ) शरीरोंका त्याग करते हैं अर्थात् अपने प्राण दे देते हैं, ( वा ) अथवा ( ये ) जो लोक ( सप्तसप्तद्विणा ) हजारों दान करते हैं ( तान् चित् अणि ) उनको भी तू ( गच्छताम् ) प्राप्त हो।

जो शरीरों गण युद्धमें अपने प्राण देकर वीरगति को प्राप्त हुए हुए हैं, वा जो लोक नाना तरह के दानोंको देकर ज्ञान को संसारमें अमर कर गए हैं, ऐसे लोगों को हे प्रेत ! तू प्राप्त हो-तेरे लिये व्रतित होव।

इस मंत्रसे यह स्पष्ट होता है कि दानों व शरीरों गण भी मृत्युके पश्चात् व्रतित को प्राप्त करते हैं। गीतमें ' हतो वा प्राप्स्यसि स्वयं ' आदि युद्ध में मरनेसे व्रतित होती है, ऐसे छोटेक वाक्वचोंसे यह वेदमंत्र पुष्टि करता है। शरीरों व युद्धमें शरीर त्याग करनेवाले को परलोक में मुख मिलना है यह आर्य लोकोंका बड़ा पुत्राना दृष्ट विश्वास बन आता है, यह विश्वास के मूलभूत ऐसे ऐसे वेदमंत्र ही हैं।

ये चक्षिरे अस्तपान् ऋतावान् ऋतायुषः।

स्मिन्-तदस्तयो यम रौक्षिदैवापि गच्छताम्॥

सहस्रणीधाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।

ऋषिन्तपस्वतो यम उपोजौ अपि गच्छताम् ॥

अ० १०१५३५ ॥

( ये ) जो ( कवयः ) सातदशी शानी लोक (सहस्रणीधाः) हजारों प्रकारोंकी नीतियोंवाले हैं और जो ( सूर्य गोपायन्ति ) इस सूर्य रक्षण करते हैं, ऐसे (तपस्वतः ऋषिन्) तपसे युक्त ऋषियोंकी जो कि ( तपोजान् ) तपसे ही उत्पन्न हुए हुए हैं ऐसी की भी है नियममें स्थित प्रेतात्मा । तू बड़ासे जाकर प्राप्त हो ।

जो सातदशी ऋषिगण नाना प्रकारके विज्ञानोंसे परिपूर्ण हैं व जो तपस्वी तथा तपसे रक्षण हुए हुए हैं ऐसीकी है प्रेतात्मा । तू इस लोकसे जाकर प्राप्त हो, उनमें जाकर तू स्थित हो । निरुद्ध लोकोंमें मत जा ।

इस सूक्तके मणोर दृष्टिपात करनेसे साधारणतया हमें पता चलता है कि इस संसारमें रहकर कैसे अथवा किस प्रकारके कर्मोंको करनेसे मनुष्यके अनन्तर उत्तम गति, उत्तम लोक वा उत्तम स्थान रत्न प्राप्त होता है । इस सूक्तमें ५ मंत्र हैं । पाँचों मंत्रोंमें भिन्न भिन्न कर्म करनेवाले लोगोंको गिनाया गया है और प्रेतात्मसे बड़ा गया है कि इन इनको तू इस लोकसे जाकर प्राप्त कर । अर्थात् इन ५ प्रकारके जन्मोंमेंसे ही किसीकी तू जाकर प्राप्त हो । इनसे हीन इतरोंकी प्राप्त मत हो । ये पाँच प्रकारके जन इस लोकके नहीं, अपितु परलोकके हैं, ऐसा मंत्रों

से पता चलता है । अतः ' ताव चित् अपि गच्छत' का अर्थ यह नहीं किया जा सकता कि इन ५ प्रकारके इस लोकमें स्थित जनोंमें जाकरके तू पुनर्जन्म ले । सद्गतिकी प्राप्तिके लिए इस सूक्तमें दशदि करना, तप करना, लडाईमें पराक्रमके साग छरी-त्याग करना, नागविष दान करना, सलाचरण इत्यादि साधन बताए गए हैं । यह संपूर्ण सूक्त अथर्ववेद ( काण्ड १८ सूक्त १ मंत्र १४ से १८ ) में ऐसा का ऐसा है ।

सम्पूर्ण सूक्त मंत्रवार धारांतर ।

मंत्र १

१-दश करनेसे सद्गति, उत्तम लोक प्राप्त होता है ।

मंत्र २

२-तप करनेसे पराभव नहीं होता व तपस्वीकी स्वर्ग मिलता है ।

मंत्र ३

३-जो संश्रमोंमें युद्धकर छोरों छोड़ते हैं, उन्हें भी स्वर्ग उपलब्ध होता है ।

४-जो अत्यन्त दानी हैं वे भी स्वर्गको प्राप्त करते हैं ।

मंत्र ४

५-तपस्वी सत्वरक्षक उत्तम गतिकी काम करते हैं ।

मंत्र ५

६-हजारों प्रकारकी नीतियोंवाले व तपस्वी ऋषिगण स्वर्गको प्राप्त करते हैं ।

## उपसंहार ।

पितृलोक ।

इस प्रकारका आदिषे अन्ततक निरीक्षण करनेसे पता चलता है कि ५ पितृलोक हैं जिनमें कि वितर रहते हैं । उनके नाम इस प्रकार हैं- [ १ ] पृथिवी [ २ ] अंतरिक्ष [ ३ ] तुलोक [ ४ ] पिताका लोक वा घर [ ५ ] वितरोंका देश अर्थात् जिस देशमें प्राचीन कालसे हमारे पूर्व वितर रहते चल आए हैं वह देश । इन सब के कोंमें हमारे वितर निवास करते हैं ऐसा हमें इस प्रकारका सं स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है ।

पितृगण ।

गिर जिस मार्गसे जाने हैं उस मार्गका नाम पितृगण है । इस मार्गको एक तो भूमि जलगा है [ देखो अ० १०११० ] और एक वह समुद्र, जो कि अग्निषे आदिगोके वाहकमें

सर्वदा तत्पर रहता है । जो मनुष्य पितृलोक है वह भी जो पितृगणमार्गको प्राप्त नहीं करता । यह पितृगणमार्ग ' सुहृ-किरणे ' भी है ऐसा अ० १११०१० से पता चलता है । अर्थात् अन्तरिक्ष व तुलोकमें रहनेवाले वितर इस मार्गसे जाते हैं, ऐसा इच्छे जान पड़ता है । ऊपर जो ५ पितृलोक दशां आए हैं उनमेंसे इन दो अंतरिक्ष व तुलोक जनेका मार्ग सूर्यकिरणे कीनीति है । हमने ऊपर देखा है कि अग्नि भी पितृगणमार्गको अन्तरीक्ष रूपमें बहता है वह भी देखने कि अग्नि एवं प्रकाशके पितरोंकी चाहे वे हमारे सामने हों वा अदृश्य हों, किसीकी रूपमें कहीं पर भी हों, जानती है ; उनके लिए हमें पितृलोक है । इसका अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि पृथिवी अन्तरिक्ष व तुलोकमें वितरोंके पास जानेवा जो पितृगणमार्ग है, वह

शुचिबीकी इद तक तो जो अग्नि जानेका मार्ग है वह है और  
आये जो सूर्यकिरणों के जाने का है वह है ।

### पितरों के कार्य ।

पितरों के अनेक कार्य हैं जिनमें से मुख्य मुख्य कार्य ये  
हैं— [ १ ] मनुओंके, सर्पादि कुटिल जंतुओं से तथा अन्य  
आकस्मिक आशक्तियोंसे रक्षा करना, [ २ ] सूर्यप्रकाश देना,  
[ ३ ] वायुसे छुड़ाना, [ ४ ] सुख देना व कल्याण करना,  
[ ५ ] गर्भ धारण करना, [ ६ ] मनके प्रत्यावर्तन व पुनर्जन्ममें  
प्रक्षालना करना, [ ७ ] नाना प्रकारके स्तोत्र बताना, [ ८ ]  
दीर्घायु देना, [ ९ ] सूतका पुनरुज्जीवित करना, [ देखो  
अध्या० १८।२।२६ ] इत्यादि ।

### पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।

हमें पितरोंके लिए क्या करना चाहिए अर्थात् हमारे पितरों-  
के प्रति-जो कर्तव्य हैं वे इस प्रकार हैं— [ १ ] नित्य प्रति  
पितरोंको अन्नदानपूर्वक नमस्कार करना चाहिए । [ २ ] उनको  
स्वधा देनी चाहिए । [ ३ ] पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना  
चाहिए । किन्तु पितरोंका जलद्वारा तर्पण करना चाहिए, इस  
विषयमें अथर्ववेद काण्ड १८ सू. ४ मंत्र ५७ स्वयं निर्णय करता  
है । मंत्र इस प्रकार है—

ये च जीवा ये च मुदा ये जाता ये च यज्ञियाः ।

वेम्यो घृतस्य कुक्ष्यैतु मधुधारा शुश्रूवो ॥

अर्थ स्पष्ट है । यहापर सर्व प्रकारके पितरोंका जलद्वारा तर्पण  
करनेका उल्लेख है । [ ४ ] पितरोंके चर्म का विचार करना । हमें  
चाहिए कि हम हमारी जन्मभूमि के निक्षमप्रति विस्तार करने  
के कार्यमें लगे रहें । पठनीय होकर न रहें । इत्यादि और भी  
अनेक कार्य हैं ।

प्रकारके पितरोंके लिए यज्ञ करना चाहिए व उनके हविषे  
तृप्त करना चाहिए । इससे पिताय प्रत्येक माघमें पितरोंके लिए  
दान करना चाहिए जैसा कि अध्या० ८।१।२ व ४ से पता  
चलता है ।

### अग्नि और पितर ।

इस प्रकरणमें देखेंगे हमें निम्न बातोंका स्पष्ट पता चलता  
है— [ १ ] अग्नि यज्ञमें पितरोंको हविभक्षणार्थ ले आता है ।  
[ २ ] अग्नि पितरोंको हवि पहुंचाती है और अतः पृथ अग्नि का  
नाम कृष्यवाहन भी है । पितरोंके निमित्तवे दी गई हवि कृष्य  
कहलाती है । [ ३ ] अग्नि दूरगत छिपे हुए पितरोंको जानती है  
इतनाही नहीं अपितु जो यहाँ है व जो वहाँ नहीं है और जिनको  
हम जानते हैं वा नहीं जानते उन सबको अग्नि जानती है ।  
[ ४ ] अग्नि पितरोंको पितृलोकमें भिजवाती है । [ ५ ] अग्नि  
प्रेता मार्ग पितरोंके पास पहुंचाती है । [ देखो अ० १०।१।७।१  
और १०।१।११ ] [ ६ ] अग्नि उषा देती है, जीवितोंकी अन्न  
बढ़ती है और मेरे हुए पितरोंको लोकमें जाते हैं । [ अध्या०  
१२।१।४५ ] [ ७ ] अग्नि पितरोंमें प्रविष्ट ज्ञातिमुख दस्तुओंको  
यज्ञसे भगाली है । [ ८ ] अग्नि अपने द्वाराये पितरोंमें प्रवेश  
करती है ।

### कर्म्यात् अग्नि ।

संभवतः जिस अग्निका अंशेष्टिमें विभिन्न होता है उस  
अग्नि का नाम कर्म्यात् अग्नि है । इस प्रकार व निम्नलिखित  
बातोंका पता चलता है—

कर्म्यात् अग्नि को यमके राज्यमें भोज दिया जाता है, क्योंकि  
वह देवोंकी हविषे वदन करने के लिए अनुपयुक्त है । कर्म्यात्  
अग्नि का स्वयं दम-लोभ्ये है । उसका पदार्थन अथ यममें  
प्रयोग होता है । कर्म्यात् अग्नि का पावन करनेसे पितृलोकमें  
भाग मिलता है । पितर कर्म्यात् अग्नि के यथ दत्त दान  
जाते हैं । पितरोंके रहने की दक्षिण दिशा है ।

देश करते हैं । उनसे दूधों सोमपान करनेके लिए जुलाया जाता है ।

प्रेत य अंश्वेष्टि ।

इस प्रकारमें हमें निम्न बातें मिलती हैं— ( १ ) मरनेसे पूर्व मरणसमये दाँवें हाथमें सुवर्णका आभूषण अंगूठी आदि कुछ पहनाया जाता है । ( २ ) प्राण निकलनेपर शबको जल-रत्नन कराया जाता है । ( ३ ) रत्ननके बाद रमयानोचित कप पहनाया जाता है । ( ४ ) रमयान आभूषण पहिरा होना चाहिए । ( ५ ) शबको बैलगाड़ीसे लेवाया जाता है । ( ६ ) रमयान—भूमिसे विध्वन्-कारियोंके दूर भगाना चाहिए । ( ७ ) प्रेतको जलया जाता है । ( ८ ) प्रेतको जलमें बहाया जाता है । ( ९ ) प्रेतको जमीनमें गाढ़ा जाता है । ( १० ) हवामें पुनः छंका दिया जाता है । ( ११ ) अंश्वेष्टि को समक्षिपर प्रार्थनायें की जाती हैं ।

भिन्न भिन्न अर्थमें विवक्षित ।

उपराज करनेके अर्थके अतिरिक्त अथर्व निम्न लिखित अर्थोंमें भी बहुवचनान्त विगु शब्दका प्रयोग वेदमें पाया जाता है— ( १ ) दिवा अर्थमें, ( २ ) ज्ञानी अर्थमें, ( ३ ) राजपुत्राके सम्बन्धके अर्थमें, ( ४ ) शैलके अर्थमें, ( ५ ) प्राण अर्थमें, ( ६ ) गालक शब्द आदि अर्थोंमें, ( ७ ) शत्रु अर्थमें, ( ८ ) फल अर्थमें ।

प्रकारका कष्ट नहीं होता । ( ४ ) यमलोकस्थाने लिए शत्रु, तिलमिश्रित धान आदि देना चाहिए ऐसा अथर्व० १८।४।१ व १८।४।४ से पता चलता है । ( ५ ) यम अपने राजमें आए हुए को स्थान देता है । ( ६ ) पितरोंके तरह दमको भी दक्षिण दिशा है ।

पुत्रोक्तमें यमलोक ।

यमलोक कहाँपर है इस बातपर यह प्रकारण प्रधान कामला है । ( १ ) अथर्व० १।७।२० में जो यह कहा है कि दमको दक्षिण दिशा है उससे इतना पता चलता है कि दमलोक दक्षिण दिशामें है । ( २ ) यमलोक पुत्रोक्तमें दक्षिणकी ओर है । [ ३ ] पितर यमराजवमें रहते हैं अर्थात् यम पितरोक्ष पुत्रा है । ( ४ ) पितृलोक दमके राजवमें है । [ ५ ] यमलोक दक्षिणकी ओर पुत्रोक्तकी समान्यतःपर है ।

यमदूत ।

यमके अनेक दूत हैं, जिनमेंसे दो कुते अंश्वेष्टि हैं । वे दोनों कुते लम्बी लम्बी नाकवाले वे चार आँखवाले तथा लोके मार्गदर्शक हैं । इनमेंसे एक कुता चलता है व दूसरा पिटवकरा । वे दोनों निरन्तर मनुष्योंके पीछे जाते हुए हैं । वे मार्गके नुस्त होनेवाले हैं । संभवता इस प्रकारके वे दोनों कुते दिव व रात हैं । आन्तरिक वर्णनसे दिन व रातका यह वर्णन है । यमके कुतोंके प्रायः बहुतसे नियोगन दिन व रातमें वात जाते

( ऋ० १०।१४।१३ ) यमके लिए घृतवाली हवि देनेसे वह हमें देवोंमें जानेके लिए क्षीर्घातु प्रदान करता है। पंच मानव यमके लिए घर बनाते हैं और जो अपने घर बढानेकी इच्छा रखता हो उसे यमके लिए घर बंधवाने चाहिए। ( अथर्व० १८।५। ५५ ) इसके सिवाय यमके लिए स्वधा और वमः देने चाहिए।

### यम और स्वप्न ।

इस प्रकरणकी पढ़नेसे हमें यह पता चलता है कि यमका स्वप्नके साथ क्या सम्बन्ध है, स्वप्नकी उत्पत्ति कैसी होती है इत्यादि। इस प्रकरणकी निम्न लिखित बातें उल्लेखनीय हैं—

( १ ) स्वप्नका पिता यम है अर्थात् यमसे स्वप्नकी उत्पत्ति होनेसे वह यमका पुत्र है। अतएव भुरे भवानक स्वप्नोंसे मृत्यु हो जानेकी घमावना बनी रहती है।

( २ ) स्वप्न यमलोकमें उत्पन्न होकर वहासे इस लोकमें आकर मनुष्योंमें प्रविष्ट हो गया है।

( ३ ) स्वप्न यमका करण अर्थात् मारनेके कार्यका साधक है। ( अथर्व० ६।४६।१ )

( ४ ) स्वप्न प्राणान्त कर देनेवाला है, मार बालनेवाला है।

( ५ ) बुरी भावनासे व सर्वकार रोग जो कि निद्राको नहीं आने देते, ये सब स्वप्न की जननी क्य है।

### यम कौन है ?

मनुष्योंमेंसे सबसे प्रथम मनुष्य यम नामवाला जो कि विवरण का पुत्र था, वह इस लोकमें जन्म लेकर सबसे प्रथम मरा और फिर वहासे मृत्युलोकमें गया और वहाका राजा बन गया। ( देखो अथर्व० १८।३।१३ )

### यम व पितरोंका सम्बन्ध

हम पहिले भी इस विषय पर थोड़ीसी नजर डाल आए हैं। वहापर हमें जो कुछ मालूम हुआ है उसीकी इस प्रकरणमें विशेष रूपसे पुष्टि की गई है—

( १ ) यम पितरोंका अधिपति है। ( २ ) पितरोंपर यमका आधिपत्य राजाके रूपमें है। पितर यमकी प्रजा हैं व वह उनका राजा है।

यमके राज्यमें पितरोंका उच्च स्थान है ऐसा हमें यम व पितरोंके सहकार्ययुक्त मंत्र द्वाते हैं। उनसे हमें पता चलता है कि पितर यमके साथ हवि खाते हैं, उससे सापही यज्ञ तत्र विचरण करते हैं। यम पितरोंकी दृष्टमतिसे स्वर्ग भिक्षता है इत्यादि।

### भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम ।

उपरोक्त यमके अर्थकी छोड़कर निम्न—लिखित अन्य अर्थोंमें भी यम शब्द वेदोंमें प्रयुक्त हुआ हुआ है— [ १ ]

युगल अर्थमें। [ २ ] नियम अर्थमें। [ ३ ] जातिना

अर्थमें। [ ४ ] शान्तिनियोंके अर्थमें। [ ५ ] आचार्य अर्थमें।

[ ६ ] वायु अर्थमें और [ ७ ] सूर्य अर्थमें।

# अथर्ववेदका सुबोध भाष्य ।

## अष्टादश काण्डकी विषयसूची ।

१ तपासियों का लोक ।	२	पितरों के छिपे प्रत्येक मासमें दान ।	८९
२ ऋषि, देवता और छन्द ।	३	„ का आसन ।	९१
३ यम, पितर और अन्त्येष्टि ।	५	अग्नि और पितर ।	९२
४ अष्टादश काण्डका मनन ।	६९	यज्ञमें अग्निका पितरोंको लाता	९३
[ १ ] विवर ।	११	अग्निका पितरोंको इवि खाने के लिए के आना ।	९४
पितृलोक ।	११	अग्निका पितरोंको इवि पहुँचाता ।	९५
पितृलोक-पृथिवी ।	११	अग्निका दूरगत पितरोंको जानना ।	९६
पितृलोक-अंतरिक्ष ।	११	११ मृत्युको पितरोंके पास पहुँचाता ।	९७
११ पु ।	१३	मरनेपर पितृलोकमें जाना ।	९८
११ पिताका कुछ या वर ।	११	कथ्यात् अग्नि ।	९९
११ पितरोंका देव ।	११	अग्निने कारीरका पितरोंमें प्रवेश ।	१००
पितृदान ।	११	पितरोंकी रक्षार्थ अग्निही उत्पत्ति ।	१०१
[ २ ] पितरोंके कार्य ।	११	वैश्वानर अग्निका पितरोंको धारण करना ।	१०२
११ करना ।	११	अग्निप्राप्त पितर ।	१०३
११ प्रकाश देना ।	११	वर्हिषत् पितर ।	१०४
११ पापसे दूराना ।	११	श्रेत व अन्त्येष्टि ।	१०५
११ सुप्त व कल्पान करना ।	११	प्राण निकलनेके कुछ समय पूर्व ।	१०६
११ गर्भ धारण करना	११	प्राण निकलनेपर श्रेतका जलस्नान ।	१०७
११ संघवि बहाना आदि ।	११	स्नानके बाद वस्त्र पहिनाना ।	१०८
११ पुनर्जन्ममें सहायता ।	११	स्मशानश्रुति की तरफ प्रयाण । स्मशान का	१०९
११ पितरोंके स्तोत्र ।	११	आमसे बाहर होना ।	११०
११ पितरोंसे दीर्घायु ।	११	११ से विप्लकारियोंको भगाना ।	१११
११ पितरोंके प्रति हमारे कर्त्तव्य ।	११	श्रेत हो जाना, याचना आदि ।	११२
११ पितरोंके लिए नगरकार ।	११	अन्त्येष्टि—संस्कार ।	११३
११ ११ स्वधा ।	११	प्र.मर्त्यार्थ ।	११४
११ पितरोंको स्वधा देनेसे लाभ ।	११	भिन्न भिन्न अर्थमें पितृशब्द ।	११५
११ यजुर्वा पितृवर्षण ।	११	हिंसा अर्थमें ।	११६
११ पितरोंका भाग ।	११	शमी कोक पितर ।	११७
११ के समक विस्तार करना ।	११	राज समक सभासद पितर ।	११८
११ पितर और यज्ञ ।	११	सैनिक पितर ।	११९
११ पितरों का यज्ञमें धनदान ।	११	प्राण पितर ।	१२०
	११	पाकक शयक आदि अर्थमें	१२१

इष्ट पितर ।	१०७	पितरोंका देवत्व लाभ ।	१२०
जनक पितर ।	"	यज्ञका पितरोंमें जाना ।	"
पूर्वज पितर ।	"	जनक अर्थमें पितर ।	"
ऋतु पितर ।	"	विषाणका ओषधि व पितर ।	"
गो-संयामक पितर ।	१०८	स्वर्गवर्णन ।	१२१
सोम और पितर ।	"	पितरोंका धन आदि देना ।	"
पितृमान् सोम ।	"	ब्राह्म व पिता, पितामह आदि ।	"
अंगिरस् पितर ।	"	पितरोंका अल्पिके विषयमें अज्ञान ।	"
पितरोंकी उत्पत्ति ।	१११	नराशंस पितर ।	१२२
दक्षिणा व पितर ।	"	पिता, पितामह आदि पितर ।	"
मरनेपर पितरोंमें गणना ।	११२	( २ ) यम ।	१२३
अधिनौ तथा पितर ।	"	माणापहारी यम ।	"
सरस्वती और पितर ।	"	अधिनौ व यम ।	१२५
गौ व पितर ।	११३	बिष्टारी जोदन व यम ।	१२६
इंद्र व पितर ।	"	यमका कर्ता अग्नि ।	"
नवग पितर ।	११४	यमकी घेड़ी ।	१२७
काम और पितर ।	"	देवस्वत यम ।	"
मणि " "	"	यमलोक व यमराज्य ।	१२८
महोदहनपाचक पितर ।	११५	यमकी दक्षिण दिशा ।	१२९
महाचारी व पितर ।	"	पुत्रोक्तमें यमलोक ।	"
पितरोंकी शक्ति का नियंत्रण ।	"	यमके वृत्त ।	१३०
देवोंके पितर ।	"	यमवृत्त-धान ( कुले )	१३१
पितरों के ऊर्ज आदि के लिए नमस्कार	११६	यमका वृत्त—मृत्यु ।	१३४
पितरों का इष्टापूर्त ।	"	यमका पितृदान-सागं जानना ।	१३५
" से मिलकर ध्येष्ट होना ।	११७	यमकी स्वर्गमें पहुँचानेके क्रिये सहस्रति ।	"
" के लिये धन, बळ व आशु ।	"	यमका दीर्घायु देना ।	"
पितर व तृतीय ज्योति ।	"	यमकी मनुष्योंसे रक्षा ।	"
पितरोंमें सुखद रस्ता बनाना ।	"	यमकी मृत्युसे रक्षा ।	"
मृत पितरोंका अनुगमन निषेध ।	११८	यमके लिये हवि ।	१३६
यक्ष्मा दूर करनेकी प्रार्थना ।	"	यमके क्रिये अन्नही हवि ।	"
बभ्रुर्ष पितर ।	"	यमकी पूजा ।	१३७
कन्याका पितरोंमें रहना ।	११९	यमके लिये पार बनाना ।	"
पूषाकी पितरोंकी मेरणा ।	"	यमके लिये स्वर्गा नमः ।	"
ब्रह्मगीके वृष चीनेमें पाव ।	"	यम और स्वप्न ।	"
पाण्डव अर्थमें पितर ।	"	स्वप्नका पिता यम ।	"
मेधाके उपासक पितर ।	१२०	स्वप्न—यम का करन ।	१३८

यम कौन है ?	१३९	अग्निदग्ध और अनग्निदग्ध ।	१५९
यम व विचरवान् ।	१४०	अग्निष्वात् व अनग्निष्वात् ।	"
इदुमन्त्र यम ।	"	ऋग्वेद मं १० सू. १६	१६०
यम और श्रृण ।	"	" " १० " १३५	१६६
यमका अग्निहो स्थिर करना ।	१४१	" " १० " १५४	१६९
यमके भाग जल ।	"	( ४ ) उपसंहार ।	१७०
यम व पितरोंका संबंध ।	"	वितृलोक ।	"
यम—पितरोंका अधिपति ।	"	वितृषाण ।	"
यम—श्रेष्ठ पितर ।	१४२	वितरोंके कार्य ।	१७१
यम व पितरोंके सद्गुण ।	१४३	पितरोंके प्रति हमारे कर्तव्य ।	"
यम के साथ हवि खाना ।	"	पितर और यज्ञ ।	"
यम व पितरोंके साथ जाना ।	"	अग्नि और पितर ।	"
पितर व यमका मिलकर सुख देना ।	"	ऋग्यात् अग्नि ।	"
यम व पितरोंकी सहमतिसे स्वर्गप्राप्ति ।	"	अग्निष्वात् पितर ।	"
वितरोंका द्यूना भारण करना ।	१४४	मित्र व भृत्येष्टि ।	१७२
अंगिरस् पितर व यम ।	"	भिन्न भिन्न अर्थमें पितर ।	"
यमका अंगिरस् पितरोंके साथ आना	"	यम ।	"
नियमन अर्थमें यम ।	१४५	यमलोक व यमराज्य ।	"
जीवाना अर्थमें यम ।	"	सुलोकमें यमलोक ।	"
ज्ञानेन्द्रिया यम ।	"	यमदूत ।	"
आचार्य यम ।	१४६	यमके कार्य ।	"
पातु यम ।	"	यमके प्रति हमारे कार्य ।	"
सर्व—यम ।	"	यम और स्वप्न ।	१७३
( १ ) यम और पितरोंके ऋग्वेद—सूक्त ।	१४७	यम कौन है ?	"
ऋग्वेद मं. १० सूक्त. १४	"	यम व पितरोंका संबंध ।	"
" " १० " १५	१५४	भिन्न भिन्न अर्थमें प्रयुक्त यम ।	"

